

सिद्धचक्र पूजातिथय प्रारंभ

श्रीपाल चरित्र

(लेखक—श्री १०८ आचार्य सकलकीर्तिजी महाराज)

[ग्रन्थ - ८]

अनुवादिका

श्री १०५ गणिनी आर्यिकारत्न विदूषी सम्यग्ज्ञान शिरोमणी
सिद्धान्त विशारद धर्म प्रभाविका

श्री विजयामती माताजी

(श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्तिजी परम्पराय)

प्रबन्ध सम्पादक

नाथूलाल जैन “टोंकवाला”

सम्पादक

महेन्द्र कुमार जैन “बड़जात्या”

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति

कार्यालय

जैन भगवती भवन, ११४—शिल्प कॉलोनी

भोटवाड़ा, जयपुर—३०२०१२

मित शब्द

जिनवाणी का भवन चार स्तम्भों का मेल है। वे हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चर-
णानुयोग और द्रव्यानुयोग “प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं तमः।” इससे प्रकट है। इनमें प्रथम स्थान
प्रथमानुयोग को प्राप्त है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार पठनकला में निष्णात होने
के लिए ‘अ’ अक्षर (वर्ण) अनिवार्य है उसी प्रकार अतिगंभीर और विस्तृत सागर समान
श्रुतसागर का पारंगम होने के लिए प्रथमानुयोग का अध्ययन आवश्यक है। वस्तुतः
द्वादशाङ्ग में प्रविष्ट होने का यह मुख्य द्वार है या यों कहें कि तत्त्वस्वरूप के विश्लेषण द्वार
की कुञ्जी है। जिन लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि यह कोरा कथा—विन्यास है—कहानी है
या अतिशयोक्तियों का एकत्रित अखाड़ा है इत्यादि वे महान भ्रान्त हैं, अज्ञानतम के शिकार हैं
और अपनी ज्ञान लघिमा के परिचायक हैं। प्रथमानुयोग, कथारूपी चासनी से लिपटी वह परम
अचूक औषधि है जो सरलता से अल्प प्रयास से आवालवृद्ध के कण्ठ से उतर कर उदर में पहुँच
जाती है और उसके विषय-कषायों जन्म भीषण रोगों का सहज शमन कर स्वास्थ्य प्रदान करती
है। प्रज्ञा को सजग बनाती है। चिन्तनशक्ति को प्रदीप्त करती है। धारणाशक्ति को ठोस
बनाती है। ध्यान को बल प्रदान करती है। संयम त्याग और वैराग्य का मेल जमाती है।
मनुष्य को जिनमत्त बना सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी बना-विषयानुराग त्यागी और सम्यक् तपी या
चारित्रधारी बना ध्यानी बनाती हैं। जन्म, जरा, मरण के भ्रमेले को दर्शाती और मिटाती है।
परमागम के ये चारों अनुयोग एक दूसरे के पूरक हैं। तो भी प्रथमानुयोग देहली का प्रदीप है।
जैनसिद्धान्त और दर्शन की गहन तत्वाटवी में सुगमता से प्रवेश कराने का द्वार है या यों कहो
कि यह द्रव्यानुयोग तक पहुँचाने के लिए मार्गदर्शक है। प्रथमानुयोग का अर्थ है प्रथम अर्थात्
मिथ्यादृष्टि या अज्ञातिक अव्युत्पन्न श्रोता को लक्ष्य करके जो प्रव्रत हो। इसमें त्रैलोक्य सत्ताका
पुरुषों आदि का वर्णन किया जाता है। उसके अध्ययन से जीवन और मरण की कला हमें
प्राप्त होती है। कुमरण और कुजन्म से बचने का उपाय अवगत होता है। पुण्य-पाप अर्जन
रक्षण और उनके फल दृष्टिगत होते हैं जिससे संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति होता है। शुभा-
शुभ का भेद ज्ञात होता है, क्रमशः अशुभ से शुभ का और शुभ से शुद्ध का प्रादुर्भाव हो किस
प्रकार आत्मा परमात्मा बन जाता है यह हमें प्राप्त होता है प्रथमानुयोग से। हम यदि यह कहें
कि प्रथमानुयोग वह पुष्टबीज है जिसके पनपने पर फलने-फूलने पर अन्य अनुयोग भी विस्तार
प्राप्त करते हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रस्तुत शास्त्र प्रथमानुयोग सम्बन्धी है। इसमें श्रीपाल कोटिभट्ट का जीवन ही
अङ्कित नहीं, अपितु उभयधर्म (श्रावक और यति) एवं अनेकान्त सिद्धान्त का भी विशद
विश्लेषण है। जिनमक्ति और सिद्धभक्ति के मधुर फल का अप्रतिम उदाहरण है। संसारी
प्राणी विभिन्न आधि-व्याधियों का शिकार होता है आकुलित हो शिकारियों से पीड़ित असहाय

मृगीवत यत्र-तत्र शरण खोजता है, उन वस्तु मानकों को यह अद्वितीय शरण है। पाठक इसका अध्ययन कर चिरशान्ति प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। आचार्य श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज के परमशिष्य श्री १०८ आचार्य सकलकीर्ति जी महाराज ने बीसवें तीर्थक्षूर श्रीमुनि-सुव्रतनाथ भगवान के काल में उत्पन्न श्रीपाल-मैना का चरित्र वर्णन कर हमें अतीत की निर्मल-सुखद स्मृतियों का रसगान कराया है। यह ग्रन्थ अपने में अनोखा और सिद्धचक्रवर्त के स्वरूप का यथार्थ, अभ्रान्त, प्रामाणिक वर्णन करता है। अन्यत्र ऐसा सुस्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता। यह प्राचीन और आर्षपरम्परानुसार विधि-विधान का निरूपक है।

इस ग्रन्थ की प्राप्ति हमें पोन्नूरमलै (तमिलनाडू) में हुयी। वहाँ के श्री समन्तभद्र शास्त्री एवं श्री धीधर नैनार के सहयोग से इसकी लिपि (मणिप्रवाल व ग्रन्थलिपि) का वाचन करने का अभ्यास किया। इसकी भाषा संस्कृत है। लिपि ग्रन्थलिपि होने से पर्याप्त श्रम हुआ। परन्तु इसकी सूक्ष्म व्याख्या, पूजनविधि-विधान, राग का विराग से परास्त होना आदि विवरण बड़े ही रोचक, सबल, युक्तियुक्त और आर्षपरम्परा के पोषक हैं। हमारे अधिकांश भाई-बहनों को यह आस्था है कि मदनसुन्दरी ने केवल सिद्धचक्रग्रन्थ की पूजा-अभिषेक किया, जिनप्रतिमा का नहीं, उनकी इस संशयात्मक धारणा का निरसन इसके अध्येता को हुए बिना नहीं रहेगा। धर्म के क्षेत्र में सर्वत्र नारी सर्वक्रियाओं में अग्रसर रही हैं यह निश्चय इससे सिद्ध हो जाता है। अस्तु पाठक-पाठिकाएँ इससे लाभान्वित होंगे तो हमारे परिश्रम का यथार्थ फल होगा। अवश्य ही इसके अध्येता यथार्थ विधि-विधान, क्रिया-कलाप, जात कर जिनभक्ति सिद्ध-भक्तिकर सम्यक्त्व प्राप्तिकर प्रज्ञाचक्षु उन्मीलित करेंगे और संयमपथ के अनुगामी बन आत्म-शोधना कर सकेंगे। मेरा विश्वास है आज की अबला और पतिता नारी समाज मदनमञ्जूषा के जीवन परिचय से अपनी पाशविक प्रवृत्तियों की विषयतृषा की दाह को संयम जल के मधुर बिन्दुओं से अभिसिंचित कर शान्त करने में प्रयत्नशील होंगी। मैनासुन्दरी की पतिभक्ति, और जिनभक्ति हमें लौकिक जीवन का शृंगार और पारलोकी जीवन का अमर आनन्द प्राप्त कराने में समर्थ कारण बनेगी। जीवन की बीहड़-कटीली राहों में श्रीपाल का धर्म हमें सबल प्रदान करेगा। अस्तु, पाठक अवश्य एकाग्रचित्त से इसका स्वाध्याय, मनन और चिन्तन करेंगे यह पूर्ण आशा है।

ग्रन्थलिपि और संस्कृत भाषा होने से त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। इसके संशोधन में—अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों के सुधार में व्याकरणाचार्य श्री प्रभाकरजी शास्त्री श्रवण-वेलगोल से पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ। उन्हें हमारा आशीर्वाद है कि उनकी विद्याबुद्धि सच्चे आर्षग्रन्थों में प्रयुक्त हो। यद्यपि हमने शुद्धिकरण का पर्याप्त ध्यान रखा है तो भी अल्पज्ञता-वश कहीं न कहीं अक्षर पद मात्रादि का विपर्यया या न्युनाधिकता रह सकती है। अतः पूज्य गुरुजनों से विनम्र करबद्ध प्रार्थना है कि वे संशोधन करें और भविष्य के लिए मुझे मार्गदर्शन करावें। विद्वजनों से भी मेरा कहना है कि वे सुधार करें और हमें सूचना देकर सावधान होने का अवसर दें।

इस बृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन “श्री दि. जैन विज्ञानग्रन्थ प्रकाशन समिति, जयपुर” से हो रहा है यह परम संतोष का विषय है। इस समिति का वैशिष्ट्य यह है कि प्रूफ संशोधन विशेष सुन्दर

और सावधान ढंग से होता है। शीघ्र और अधिक साहित्य प्रकाशन की भूख यहाँ नहीं प्रतीत होती। "संतोष का फल मीठा होता है।" यह कहावत यथार्थ है शुद्धि के ध्यान रखने से इसके विषय और अर्थ का स्पष्टीकरण पूर्णतः हो सकेगा।

वर्तमान युगीन मुनि निन्दकों का यह दर्पण है। मुनियों का अविनय करने का कटुफल किस प्रकार मानव को सताता है, प्राणघातक होता है इसके अध्ययन को प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। साधु व साधुसंघ निन्दा भवभवान्तर में जीव को दुःखी बनाती है। इन बेचारे रूपों पर धर्म और आत्मसुख की बलि चढ़ाने वालों को सन्मार्ग दिखाने वाला दीपक है। गुरु ही विपत्ति में शरण होते हैं। आपत्ति के मंडराते मेघों को गुरुवाणीरूपी पवन क्षण भर में नितर-वितर कर देती है। आये हुए संकटों को सहन करने की क्षमता का सागर गुरु ही प्रदान करते हैं। वीतराग दिगम्बर साधु निरोहवृत्ति से सर्वोपकारी होते हैं। जो उदरपूर्ति के प्रलोभनों में पड़ गुरुभक्ति, विनय, श्रद्धा और दानादि से दूर हट रहे हैं, उन्हें यह शास्त्र उज्ज्वल प्रकाश और प्रेरणा प्रदान करेगा। गुरुभक्ति की धृष्टला में जोड़ देगा, आगम की राहों पर ला देगा, आर्षमार्ग पर खड़ा करेगा, सही दिशा में चलाकर अन्तिम लक्ष्य मुक्ति तक पहुँचने का पौष्टिक-शुद्ध पाथेय प्रदान करेगा ऐसा मेरा विश्वास है। मिथ्यादर्शनों का किला सत्य की तोपों से चूर-चूर हो जाता है यह देखना है जो श्रवण इसका आद्योपान्त आलोचन करें, अध्ययन करें।

नारी के गौरव गान का सुरीला नाद भरा है इसमें। शील, संयम, त्यागमूर्ति नारी किस प्रकार स्वयं दीपवत् तिल-तिल जलकर पर को प्रकाशित करती है, यह निस्वार्थ भाव नारी का इसमें चित्रित है। वह समयानुसार, विलासिनी, सन्यासिनी, वीराङ्गना धर्मध्वजा बनकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रीडा कर अन्त में आत्मसाधना कर परमात्मस्वरूप बन जाती है यह शिक्षा प्राप्त करना है तो इसे पढ़े बिना न रहें। मेरा विश्वास है कि संसार के वीहड़, कंटीले, दुर्गम, तमसाच्छन्न राहों को पार करने का पराक्रम अवश्य ही इससे प्राप्त होगा।

पराधीन जीवन मरण तुल्य है। स्वाभिमान की विपत्तियों की दल-दल में फँसकर भी स्वाभिमान रक्षण में सन्नद्ध रहता है। अपने स्वाधीन व्यक्ति से बुराईयाँ टकरा कर चली जाती हैं अचल से पवन भोको की भाँति। धर्म जीवन की ज्योति है। धर्मत्मा जीवन नैया के सेवटिया हैं। धर्म और धर्मत्मा में वात्सल्य है साधना की प्रथम सीढ़ी। मुक्तिरमा के प्रासाद के आरोहण का प्रथम चरण। अतः पाठकगण भक्ति रचि और अनुराग से पढ़ें और सीखें।

इस ग्रन्थ की टीका करने में संवत् १०५ क्षुल्लिका श्री जयप्रभाजी का सहयोग प्रशंसनीय है। सातवें व आठवें परिच्छेद का अनुवाद पूर्णतः इनका ही है। अन्यत्र भी यत्र-तत्र सहयोग करती रहीं। अतः उन्हें मेरा आशीर्वाद है कि वो जिनवाणी की परमभक्ता हो आर्ष-परम्परा का वर्द्धन करें। "क्षु० १०५ श्री विजयप्रभाजी ने प्रेस कापी करने में यथायोग्य सहायता दी है उन्हें भी हमारा आशीर्वाद है अपने सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करती रहे।

वि. जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति ने इसके प्रकाशन का भार स्वीकार कर आर्ष-परम्परा के संवर्द्धन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सम्पादक महोदय ने अपने पारिवारिक कार्यों में उलझे रह कर भी ज्ञानवर्द्धन, आत्मशोधक इस कार्य में अमूल्य समय अर्पण कर अपनी अटल

गुरुभक्ति और आर्षपरम्परा आस्था का परिचय दिया है । उन्हें अधिकाधिक आशीर्वाद है कि ज्ञान और विराग का सामञ्जस्य उन्हें प्राप्त हो । श्री नाथूलालजी प्रबन्धसम्पादक तथा अन्यान्य कार्यकर्ताओं को हमारा पूर्णतः आशीर्वाद है वे इसी प्रकार निर्भय हो आगम की सेवा में तन-मन अर्पण कर शीघ्र पूर्णज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हों । इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन जिन धर्मबन्धु श्रावक-श्राविकाओं ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर इस अप्रकाशित अमूल्य ग्रन्थ को प्रकाशित करा जन-जन के हितार्थ सुलभ बनाया है वे सतत इसी प्रकार नश्वर सम्पदा का सदुपयोग कर आत्मज्ञान साधक बनें यह मेरा आशीर्वाद है । सद्धर्मवृद्धिरस्तु ।

तमः श्री शान्तिनाथाय, ॐ शान्ति, परमशान्ति ॥

म० आ० १०५ विजयामति



टीका कर्त्री पूज्या गणिनी आर्यिकारत्न श्री १०५ विजयामती माताजी का प्रभावशाली साहित्य लेखन

किसी कवि ने कहा है—

साँची तो गङ्गा यह बीतराग वाणी,
अविच्छिन्न धारा निज धर्म की कहानी ।
जामें अति ही विमल अगाध ज्ञान पानी।
जहाँ नहीं संशयादि पङ्कु की निशानी ॥

अर्थात् पङ्कु रहित, स्वच्छ सधुर ज्ञान जल से भरी हुई जिनवाणी रूपी गङ्गा में स्नान करने से अज्ञानरूपी मल का प्रक्षालन होता है अतः मुमुक्षुगण उसमें मज्जन करें, अवगाहन करें ।

बन्धुगणों ! अगर सरोवर के दोनों तरफ सुन्दर तट हैं तो आबालवृद्ध सभी सरलता से उसमें प्रवेश कर स्नान कर सकते हैं, तट के बिना सरोवर में प्रवेश कठिन है, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर परमपूज्या आर्यिकारत्न श्री १०५ गणिनी विजयामती माताजी ने आचार्य परम्परा से प्राप्त एवं संस्कृत में निबद्ध प्रथमानुयोग की कथाओं को सरल सुबोध शैली में लिख कर वह सुन्दर तट तैयार किया है जिससे हम आबालवृद्ध सभी सरलता से 'ज्ञानगङ्गा' में प्रवेश कर सकते हैं आप ऐसी अनेक कथाएँ लिख चुकी हैं जैसे—पुनर्भिलन, सच्चा कवच, महीपाल चरित्र, जिनदत्त चरित्र इत्यादि । ये सभी कथाएँ इस प्रकार की हैं, जिससे पाठकगण पाप-पङ्कु से निकल कर धर्मपथ पर आरूढ़ हो सकें और तत्त्वज्ञान से स्वपर के अज्ञान तिमिर का नाश कर सकें ।

अभी, आपके सामने यह जो “श्रीसिद्धचक्रपूजातिशयप्रान्त श्रीपाल चरित्र” प्रस्तुत किया जा रहा है वह अनेक ऐसी विशेषताओं युक्त है जिससे १३ पंथ, २० पंथ आदि पंथ सम्बन्धी सभी झगड़ों का सहज निवारण हो जाता है । आवकधर्म और मुनिधर्म दोनों धर्मों की सुन्दर विवेचना इस ग्रन्थ में है । जिन लोगों के मन में यह भ्रान्ति जम गई है कि “पञ्चामृत अभिवेक नहीं करना चाहिए तथा स्त्रियों का शरीर अशुद्ध रहना है अतः स्त्रियों को अभिषेक नहीं करना चाहिए” वे इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें तथा प्राचीन आगम परम्परा को दूषित करने के लिए व्यर्थ का प्रयास आगे न करें । तमिलनाडु में प्राप्त, ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण प्राचीन ग्रन्थ को आधार बनाकर यह कथा आपके सामने उपस्थित की जा रही है, इसके रचयिता भट्टाचार्य श्री 108 सकलकीर्ति आचार्य हैं पुनः इस ग्रन्थ रचना प्रारम्भ में उन्होंने यह भी लिखा है कि मैं इस ग्रन्थ में जो कुछ लिख रहा हूँ यह प्रमाणिक है क्योंकि आचार्य परम्परा से प्राप्त कथानक को ही मैं यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ ।

समस्त पाठकगणों से मेरा विशेष अनुरोध है कि वे बहुत बारीकी से इस शास्त्र का अध्ययन करें और यथार्थता की तलहटी का स्पर्श कर अपनी ज्ञानदृष्टि को प्राञ्जल करें, पवित्र करें।

यह ग्रन्थ अमृतघट के तुल्य है, शब्दपरिमित है, सीमित है पर अतिगम्भीर है। सागर में सागर ही भरा है। समुद्र का जल तो खारा है पर इस प्रथमानुयोग की गगरी में मौजूद सागर का जल अति मधुर सरस और शीतल, उत्तम औषध के समान है। जन्म, जरा मृत्युरूपी असाध्य रोग का भी नितारण करने वाला है, परम सुखकारी है।

ध्यान रखें कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के साहित्य को शब्दमात्र से स्मरण कर लेने से काम नहीं चलता उसके वाच्यभूत पदार्थ का ज्ञान व प्रयोग भी अपेक्षणीय है, उसी प्रकार जिनवाणी के शब्दों को पढ़ने सुनने मात्र से काम नहीं चलता, जीवन सुखकर नहीं बन सकता है। जीवन में उसके उपयोग की आवश्यकता है। जिस प्रकार आप धन कमाने में सब कुछ भूल जाते हैं। उसी प्रकार इन शास्त्रों का स्वाध्याय करते समय सब कुछ भूल जायें, याद रखें एकमात्र चेतना। तभी यह डगमगाती हुई नैया पार हो सकती है।

जिनवाणी माता की गोद का आश्रय ही इस निकृष्ट काल में विकल्परूपी निशाचरों से हमें बचाने में समर्थ है।

कहा भी है—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण ।

इह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण ॥

इस 'श्रीपाल चरित्र' को पढ़ने से विपत्ति-में धैर्य धारण करने के प्रति हमारा मुकाब होता है तथा धर्म पुरुषार्थ ही हमारे जीवन विकास की कुञ्जी है यह बात समझ में आती है। अनन्य जिनभक्ति का मधुरफल देखकर मन के विचारों को एक नई दिशा प्राप्त होती है, सम्यग्दर्शन की पुष्टि होती है। शील, सदाचार ही जीवन का रस है, यह अनुभव में आता है। संसार, शरीर, भोगों में उदासीनता स्वतः होने लगती है। जिस प्रकार हवा के झोंकों से सधन बादल भी विघटित हो जाते हैं उसी प्रकार इस श्रीपाल चरित्र को पढ़ने से दुःख, शोक, संताप के बादल तत्काल विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व का उन्मूलन कर सम्यग्ज्ञान ज्योति को प्राप्त कराने वाला यह ग्रन्थ उपयोगी ही नहीं परमोपयोगी है।

फिर वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है। इस ग्रन्थ की टीका करने वाली पूज्या माताजी ने जिनवाणी का खूब मन्थन और आलोचन किया है, आपका ज्ञान बहुत गम्भीर और सूक्ष्म है। कठिन से कठिन प्रश्नों का समाधान विद्वज्जन आपके पास सहज प्राप्त कर लेते हैं। आपने समाधिसम्राट् आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज के पास रह कर चारों अनुयोगों का गहन अध्ययन किया था और आपको परम सुयोग्य शिष्या समझ कर आचार्य श्री ने अपनी समाधि के समय "गणिनी" पद प्रदान किया था। संघस्थ त्यागी वर्ग को पढ़ाने का काम मुख्यरूप से आप ही करती थीं और अभी भी वही क्रम है। आपके पास पड़े हुए बहुत से भुर्नि और आचार्य आज अपनी देशना स भव्यजीवों का कल्याण कर रहे हैं।

आपका चातुर्मास सन् १९७७ में आरा (विहार) में हुआ था। उस समय मैं चन्दा बाईजी के आश्रम में हाईस्कूल में संस्कृत शिक्षिका थी। मेरा उस समय आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत तो था ही। किन्तु अध्ययन-अध्यापन और समाज सेवा का लक्ष्य था, त्याग, वैराग्य वा संयम के प्रति झुकाव नहीं था। आपके चातुर्मास से मुझे बहुत लाभ हुआ, संयम ही जीवन का सार है। यह बात समझ में आई। आपके निर्मल ज्ञान, चरित्र, वात्सल्य एवं परमोपकार की भावना को देखकर मैंने यह निश्चय कर लिया कि अब अपना सम्पूर्ण जीवन आपके चरणों में ही व्यतीत करूँगी। बस, स्कूल में त्यागपत्र देकर मैं संघ में रहने लगी और विद्याध्ययन करती रही तथा आचार्य श्री कुन्दकुन्द की तपोभूमि पोन्नुरमलै (तमिलनाडू) में मैंने और संघस्थ ब्र. संध्याजी ने आप से ४-१०-८४ गुरुवार को क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण करली। रत्नत्रयरूपी महान् विभूति प्रदान करने वाली दीक्षा एवं शिक्षा गुरुपूज्या माताजी के गुणों का दर्शन हमारे लिए अशक्य है, क्योंकि आपके गुण सागर के समान गम्भीर और आकाश के समान विस्तृत हैं।

पारसमणि लोहे को सोना बनाता है पर पारस रूप नहीं बनाता है किन्तु पूज्या आर्यिका रत्न १०५ गणिनी विजयामती माताजी वह पारसमणि हैं जो लोहे को सोना ही नहीं किन्तु पारस बना देती हैं। मैंने १२ वर्षों के सांनिध्य से यह अनुभव किया कि पूज्या माताजी अपने शिष्यों की तथा दूसरों की उन्नति देखकर सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती हैं। दीपक जिस प्रकार स्व पर दोनों को प्रकाशित करता है, चन्दन विषधियों के द्वारा डँसे जाने पर भी सुगन्ध ही बिखेरता है उसी प्रकार पूज्या माताजी का जीवन है।

निवृत्ति मार्ग में रहकर आपने साहित्य सृजन का भी महान् कार्य किया है। आपकी लेखनी से निःसृत अनेक पुस्तकें हमारा ज्ञानवर्धन कर रही हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं— (१) आत्मवैभव (२) आत्मानुभव (३) आत्मचिन्तन (४) तजोमान करो ध्यान (५) पुनर्मिलन (६) शीतलनाथ पूजा विधान (७) सच्चा कवच (८) महीपाल चरित्र (९) तमिल तीर्थ दर्पण (१०) कुन्दकुन्द शतक (११) प्रथमानुयोग दीपिका (१२) अमृतवाणी (१३) तत्त्व दर्शन और १४ वाँ ग्रन्थ है यह “श्रीसिद्धचक्रपूजातिशयप्राप्त श्रीपाल चरित्र-” सभी ग्रन्थों में आगमानुकूल प्रतिपादन मिलता है, सर्वत्र प्रामाणिक युक्तियाँ भी मौजूद हैं जो हमारे अन्दर सम्यग्ज्ञान को जागृत करने में पूर्ण सहायक हैं। अधिक क्या लिखूँ आपका तपः पुनीत जीवन विलक्षण है, आप रत्नत्रय की साकारमूर्ति स्वरूप हैं—

कितना गौरव कितनी गरिमा सचि में ढला हो जीवन जैसे

चाहे जितनी सीख लो. आध्यात्म की खुली किताब हो तुम।

किस भाँति कहूँ मैं गुरु वन्दना शब्द परिमित और गुण अमित हैं।

तब पद मम हिय में रहे सदा बस यही चाहती हूँ निशदिन ॥

लेखिका—शु १०५ जयप्रभा

संघस्थ श्री १०५ गणिनी आर्यिकारत्न विजयामती माताजी।

“प्रस्तुत चरित्र का कथा परिचय”

द्रव्य या तत्त्व सनातन है। इनका स्वभाव, गुणधर्म सतत एकसा रहता है। कुछ तो अवि-
कृत ही रहते हैं यथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल। कुछ संयोगादि सम्बन्ध कर विकारी हो
जाते हैं। मानव मस्तिष्क ही इनकी जटिल गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ होता है। ये मैत्री करने
वाले द्रव्य हैं जीव और पुद्गल। इनका संयोगी व्यापार है संसार। संयोग का समाप्त हो जाना
मिट जाना अर्थात् दोनों का सर्वथा पृथक्करण हो जाना ही है मुक्ति या मोक्ष। इस मोक्ष होने
की कला सिखाने वाला है प्रथमानुयोग अर्थात् महापुरुषों का चरित्र। यद्यपि द्रव्यानुयोग ‘द्रव्य’
विश्लेषण का ठेकेदार है। किन्तु वह फिल्टर किये—शुद्ध किये गये द्रव्य को ही अपना विषय
बनाता है। वहाँ इस विषय की चर्चा नहीं करना, अपितु उस कलाकार का परिज्ञान करना है
जिससे आरम्भ—अगुद्ध पर्यायों से निकल शुद्धावस्था में आ जमके। प्रस्तुत चरित्र इस कला का
सफल निर्देशक है, स्वयं ही यह कला है। इसके नायक हैं श्री श्रीपालकोटीभट्ट महाराज। इसमें
तत्त्वार्थ सूत्र की भाँति दस (१०) परिच्छेद हैं। जिनमें क्रमशः जीवन विकास का मार्ग निर्दिष्ट
है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों का मणिकाञ्चन समन्वय है और अन्त में
मुक्ति का अखण्ड अविभक्त है साक्षात्। पाठक देखें कि नवरसों का प्रदर्शन किस प्रकार
शान्तरस में अवसान पाता है। आवश्यक असि, मस्ति, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा इन छह कर्मों
से उपाजित पापराशि को किस प्रकार—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान
द्वारा क्षणमात्र में भस्म कर डालता है। पढ़िये और स्वयं देखिये, जानिये और अनुभव करिये।
स्वयं भोजन किये बिना भूख नहीं मिटती। यहाँ संक्षिप्त कथा परिचय दिया जाता है।

यह कथा दस परिच्छेदों में निबद्ध है। प्रथम परिच्छेद में १६१ श्लोक हैं। जिनके
द्वारा जम्बूद्वीपस्थ मगधदेश एवं राजगृह नगरी की शोभा का सुन्दर विवरण करते हुए यह
दिखाया है कि वहाँ के सभी नरनारी धर्मात्मा शीलवन्त सदाचारी थे, षट् कर्मों को सतत रुचि-
पूर्वक करते थे, जिनपूजा प्रतिष्ठा आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना में सदा सत्पर रहते थे।
स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर उस राजगृह नगरी में विपुलाचल पर्वत पर श्री १००८ महावीर प्रभु
का समवर्णन आया और प्रभु की दिव्य ध्वनि से जीवतत्त्व को मुख्यकर समस्त तत्त्वों का
एवं गुणस्थान मार्गस्थान आदि का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया। पुनः श्रेणिक महाराज
ने अनेक प्रश्न किये, जिनमें सिद्धचक्र विधान का लक्षण एवं विधि विधान भी पूछा और उसके
उत्तर स्वरूप इस कथा का प्रारम्भ हुआ।

दूसरे परिच्छेद में १३७ श्लोक हैं, श्रीपाल चरित्र का प्रारम्भ इसी परिच्छेद से होता
है। इस परिच्छेद में अवन्ति देश एवं उज्जयिनी नगरी की विशिष्ट महिमा और राजा प्रजा-
पाल, रानी सौभाग्यसुन्दरी की प्रथम पुत्री सुरसुन्दरी और द्वितीय पुत्री मदनसुन्दरी (मैना-

सुन्दरी) का निर्देश है। सुरसुन्दरी ने किसी ब्राह्मण के पास विद्याध्ययन किया था अतः वह यज्ञ, याग, वेद, कोकशास्त्र—गोपुच्छ पूजादि विषयक मिथ्याशास्त्रों में, सोमपान, बलि, मांस-भक्षण, मन्त्र तन्त्रादि का विधान करने वाले ग्रन्थों में, मिथ्याप्रपञ्चों में भी श्रद्धान करने लगी। मदनसुन्दरी ने यमधर मुनिराज के पास धर्म श्रवण किया था, विद्याध्ययन किया था। जिनेन्द्रोक्त—काव्य, छन्द, व्याकरण, धर्मसिद्धान्त आदि का गहन अध्ययन किया था तथा अष्टमूल गुणधारण कर श्रेष्ठ रीति से श्रावकधर्म का पालन करती थी। दोनों पुत्री विवाह योग्य हो गई थीं। पिता के पूछने पर बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी ने कहा कि अहिक्षेत्र के अधिपति के पुत्र अरि-दमन के साथ मेरा विवाह करो। किन्तु मदनसुन्दरी ने कहा कि हमारे कर्मानुसार जैसा पति मुझे मिलेगा, वह मान्य है आप जिसे उचित समझें, वही मुझे स्वीकार है ऐसा कहकर जिनेन्द्र प्रभु का पञ्चामृत अभिषेक कर गन्धोदक लेकर आई हुई मदनसुन्दरी चली गई। स्वकर्मानुसार जीव को सुखसम्पदा प्राप्त होती है यह बात सुनकर पिता क्रुद्ध हो उठे क्योंकि पिता ने मेरा पालन पोषण कर मुझे सुयोग्य बनाया है ऐसा बात मैनासुन्दरी ने नहीं कही। राजा प्रजापाल वनविहार को गया और सात सौ कुण्डियों के साथ गलित कुण्ड से पीड़ित श्रीपाल को देखा और क्रोधावेश में उसी कुण्डी के साथ अपनी पुत्री मदनसुन्दरी का विवाह कर दिया। उस परिस्थिति में विलक्षण धैर्य को धारण करने वाली अपनी माता, बहन को धैर्य बँधाती है और कर्मानुसार ही सब कुछ होता है ऐसा कहकर संतोष धारण करती है। वह सदा पति की सेवा में तत्पर रहती है। विवाह के बाद नगरवासियों में लोकनिन्दा का पात्र हुआ राजा प्रजापाल भी पश्चात्ताप करने लगा तथा नगर के निकट ही सात मंजिल के महल की व्यवस्था करदो। वहीं पर वे दम्पति एवं सात सौ कुण्डी भी रहने लगे। पिता ने पुत्री को भरपूर धन सम्पदा भी दहेज में दी किन्तु अपनी भूल से अथवा अहंबुद्धि के कारण लोकनिन्दा का पात्र बन गया। इस प्रकार मदन सुन्दरी के विवाह का समुल्लेख करते हुए दूसरा परिच्छेद समाप्त होगया।

(तृतीय) परिच्छेद में यह बताया है कि मदनसुन्दरी एक आदर्श धर्मपत्नी के रूप में पति की उत्तम प्रकार सेवा करती है और पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति के बल से तथा श्री सिद्धचक्र पूजा विधान के बल से पतिदेव एवं समस्त कुण्डी वर्ग को निरोग कर देती है। वह मैनासुन्दरी पतिदेव को लेकर जिनालय में गई और जिनाभिषेक पूजा के अनन्तर वहाँ विराजमान सुगुप्ताचार्य मुनिराज को अपने अशुभकर्मोदय को बताकर दुःख से मुक्ति का उपाय पूछने लगी। तब मुनिराज ने कहा कि तुम सम्यक्त्व पूर्वक, श्री सिद्धचक्रव्रत का पालन करो, तुम्हारा संकट दूर होगा और पति निरोग होकर राज्य करेगा। पुनः मुनिराज ने श्रावक व्रत का उल्लेख किया। अष्टमूलगुण, पाँच अणव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, जलगालन विधि, रात्रि मुक्ति त्याग व्रत, दान विधि, दान का फल, देव का स्वरूप, पूज्य पूजक, पूजा एवं पूजा का फल, षट्कर्म पालन और अन्त में सल्लेखना आदि का एवं श्री सिद्धचक्र व्रत की महिमा, विधि, स्तुति, जाप, यन्त्र निर्माण विधि का भी उल्लेख किया। तथा कथित व्रत धारण कर और यथाविधि व्रत का पालन कर, प्रभावना के साथ श्री सिद्धचक्र पूजा विधान कर जितभक्ति परायणा मैनासुन्दरी ने उत्तम अभीष्ट फल को प्राप्त कर लिया अर्थात् आठवें दिन सब रोग रहित हो गये। इन्द्र वा कामदेव के समान पति को देखकर मैनासुन्दरी बहुत प्रसन्न हुई। पुत्र के रोग रहित हो जाने का समाचार पाकर श्रीपाल महाराज की माता

आती है पुत्र श्रीपाल माता का विशेष स्वागत करता है और सास ज्ञात कर मदनसुन्दरी भी स्वागत कर पतिदेव का परिचय पूछती है । तब माता कहती है कि हे पुत्री ! तुम श्रीपाल को चम्पापुरी के सिंहसेन राजा और कमलावती महिषि का पुत्र जानो । पिता सिंहसेन का स्वर्गवास हो जाने पर, बालक श्रीपाल को राजमंड़ी पर बैठा दिया गया किन्तु चाचा वीरदमन राज्य सम्हालता था, उसके मन में पाप आ गया और श्रीपाल को मारने का षड्यन्त्र रचने लगा, तब पुत्र की रक्षा के लिये मैं अपने बच्चे को लेकर वाराणसी भाई के घर में आ गई, वहाँ देवयोग से इसको कुष्ठ रोग हो गया और परिकरों सहित यह वन में आ गया इस उपाख्यान को सुनकर मदनसुन्दरी को बहुत संतोष हुआ । पुनः मदनसुन्दरी के पिता प्रजापाल जब पुत्री को कामदेव के समान सुन्दर रूपधारी पुरुष के साथ देखते हैं तब पुत्री के शील पर संदेह कर बैठते हैं तब मन्त्री ने यथार्थता बताकर संदेह दूर किया तदनन्तर पिता पुत्री मदनसुन्दरी एवं श्रीपाल की अनिशय प्रशंसा करते हैं और सिद्धचक्र की महिमा स्वीकार करते हैं तथा श्रीपाल को राज्य तनः चाहते हैं किन्तु वह अस्वीकार कर देता है तब वह प्रजापाल राजा संतोष रूप परिणाम से और अधिक प्रभावित होता है और प्रेम से अनेक देश, कोष पुर, ग्राम गजादि से सम्मानित कर घर चला जाता है तथा सिद्धचक्र का प्रभाव कर्पूर की गंध के समान सर्वत्र फैल जाता है । इस तृतीय परिच्छेद में १८२ श्लोक हैं ।

चतुर्थ परिच्छेद में श्रीपाल का व्यापार हेतु निकल जाना तथा सिद्धचक्र की शपथ पूर्वक पत्नी एवं माता से १२ वर्ष में लौटकर आने का वादा करना, भृगुकच्छ नगर में पहुँचना, धवल सेठ के जहाज अचल होना, ३२ लक्षणधारी श्रीपाल को ले जाना, सेठ द्वारा उस श्रीपाल का स्वागत, एवं श्रीपाल के स्पर्शमात्र से जहाज का चलना, पुनः सागर में बर्बरराज तस्करों का आक्रमण और श्रीपाल से उनका परास्त होना, उपहार में ७ जहाज पाना, रत्नद्वीप में यानों का पहुँचना एवं सहस्रकूट चैत्यालय का दरवाजा खोलना और विद्याधर कन्या मदनञ्जूषा से श्रीपाल का विवाह होने पर्यन्त कथा का उल्लेख है । इस चतुर्थ परिच्छेद में १६७ श्लोक हैं ।

पञ्चम परिच्छेद में—रत्नद्वीप में व्यापार कर सेठ का प्रस्थान करना और मदन-सञ्जूषा पर आसक्त होना, श्रीपाल को सागर में गिराना और देवों द्वारा सती के शील का रक्षण होना, सागर को हाथों से पार कर श्रीपाल का दलवर्तन पत्तन में पहुँचना, धनपाल राजा की पुत्री गुणमाला से विवाह होना एवं जहाजों का भी दलवर्तन पत्तन पहुँचना एवं राजदरबार में श्रीपाल को देखकर पुनः उसे मरवाने का षड्यन्त्र रचना, श्रीपाल को भाँड पुत्र सिद्ध करना किन्तु मदनमञ्जूषा के द्वारा भेद खोलना आदि का वर्णन है । तथा उत्तम क्षमा की धारण करने वाले श्रीपाल के द्वारा सबको क्षमा करना, धवल सेठ को निमन्त्रण देना, और श्रीपाल पंखा झूलना किन्तु भय से धवल सेठ का स्वयं मर जाना और श्रीपाल की आज्ञानुसार धवल सेठ के घर अपने ७ यान लेकर शेष वापिस भेजने पर्यन्त कथा का सम्यक् सम्मूलेख है । इस पञ्चम परिच्छेद में २०६ श्लोक हैं ।

छठे परिच्छेद में भिन्न भिन्न राज्यों में जाकर चित्रलेखा आदि हजारों कन्याओं से विवाह करना, इसी प्रकरण में गीत नृत्यादि करते हुए वाद्यवादन कर राजा का चितरञ्जन

करना, कुण्डनपुर, काञ्चनपुर, कङ्कणपुर में समस्या पूरित करना हजारों कन्याओं से विवाह होना, बारहवें वर्ष का लगभग पूर्ण होना, मार्ग में ऊर्जयन्तगिरि पर भक्तिपूर्वक सिद्धचक्र विधान व्रत करना, नाना देशों पर विजय सेना संग्रह, प्रभुत्व स्थापन, उज्जयिनी में प्रिया महल में एकाकी प्रवेश, गुप्तरूप में अपनी माता और प्रिया की वार्ता सुनना तथा मैना का दीक्षा का निर्णय सुनना में आगथा माँ कहकर किवाड़ खूलवाना, माता का दर्शन, प्रिया मिलन, अपना वैभव दिखाना, मदनसुन्दरी को आठ हजार रानियों में शिरोमणि पट्टरानी बनाना तदनन्तर उज्जयिनी पर आक्रमण करना, दूत भेजना, कम्बल धारण कर ब्रह्मसुर को आदेश देना तथा आदेश स्वीकृत होने पर पुनः उस कठोर आदेश को रद्द कर हाथी पर चढ़कर वैभव के साथ मिलने का आदेश देना तथा आठ हजार रानियों के साथ राज्य वैभव के सुख भोगना आदि का वर्णन सम्यक् प्रकार किया गया है। इस षष्ठम परिच्छेद में १८० श्लोक हैं।

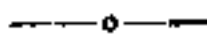
सप्तम परिच्छेद में—श्रीपाल महाराज के अन्तस्थल में पिता के वंश और नाम प्रकट करने की महत्वाकांक्षा का होना, चाचा को जीतने के लिए सैन्य रानियों के साथ चम्पापुर की ओर प्रस्थान करना, मार्ग में अनेक राजाओं को वश में करना, अरिदमन की चम्पानगरी को घेरना, अरिदमन का कोप से लाल होना और युद्ध के लिए सुभटों के साथ प्रस्थान करना, किन्तु मन्त्रियों के कथनानुसार दोनों का हानि हुई होना, श्रीपाल के द्वारा वीरदमन का बाँधना वीरदमन का लज्जित होना तथा श्रीपाल के द्वारा चाचा वीरदमन से क्षमा याचना करना तथा वैराग्य को प्राप्त हुए वीरदमन का श्री ज्ञानसागर मुनीन्द्र के समीप दीक्षा लेना तथा श्रीपाल के पुण्य महिमा का प्रदर्शन, पितृ राज्य की प्राप्ति एवं राज्याभिषेक पर्यन्त कथानक का उल्लेख है। इस सप्तम परिच्छेद में ६४ श्लोक हैं।

अष्टम परिच्छेद में—चम्पापुरी नगर के वन प्रदेश में अवधिज्ञान श्रुतसागर मुनिराज का आगमन, वनपाल के द्वारा समाचार प्राप्त कर श्रीपाल महाराज का प्रजा सहित मुनि वन्दना के लिये गमन, आनन्द भेरी बजना वहाँ जाकर गुरुवन्दना कर धर्म श्रवण करना। धर्म क्या है कितने प्रकार का है इत्यादि प्रश्नानुसार मुनिराज के द्वारा उभयधर्म का उपदेश १२ व्रत, ८ मूलगुण, कन्दमूल त्याग, रात्रि भोजन त्याग, आहार दान विधि, पात्र दाता के गुणों का विवेचन भगवान का पञ्चामृत अभिषेक विधान, स्त्री प्रक्षाल विधान का विशद सत्य विश्लेषण, सल्लेखना, म्यारह प्रतिमा का स्वरूप, भक्ष्याभक्ष्य विचार श्रावक व्रत पालन का फल अच्युत स्वर्ग तक की उपलब्धि एवं सम्यक्धर्म का माहात्म्य बताया है।

नवम सर्ग—धर्म श्रवण कर श्रीपाल महाराज के द्वारा अपने जीवन में उपस्थित विपत्तियों का कारण पूछना—कुण्ठो होना, वचपन में राज्य मिलना, फिर राज्य त्याग, मैना से विवाह, सागर में गिरना आदि का हेतु एवं सविस्तार पूर्वभाव पूछना पुनः गुरुदेव द्वारा यथार्थ सकारण हेतु निरूपण करना इत्यादि, वर्णन इस परिच्छेद में है। आचार्य श्री ने बताया कि तुम श्रीपाल पूर्व भव में श्रीकान्त राजा थे और पट्टरानी मैनासुन्दरी तुम्हारी श्रीमती रानी थी। सुगुप्ताचार्य से गृहीत व्रत को श्रीकान्त ने भी कुसंगति में पड़कर छोड़ दिया था उस व्रत भङ्ग का फल राज्य त्याग है। सात सौ सुभटों के साथ अवधिज्ञानी मुनि को कुण्ठो कहने

से कोढ़ हुआ अर्थात् तुम कुष्ठी हुए पुनः कुछ दिनों के बाद किसी तपस्वी मुनिराज को तालाब में डालकर फिर निकाल लेने से इस भव में तदनुसार तुम्हारा भी समुद्र में पतन हुआ तैरकर समुद्र पार कर गये, मुनिराज को चाण्डाल कहने से तुम चाण्डाल बनाये गये । पुनः वह श्रीकान्त राजा श्रीमती रानी के द्वारा सम्बोधित करने पर बहुत पश्चात्ताप को प्राप्त हुआ तथा गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण कर सिद्धचक्र व्रत स्वीकार कर विधिवत् व्रताचरण, कर उद्यापन कर, अन्त में समाधिमरणकर उत्तम शतारेन्द्र देव हुआ अर्थात् ११वे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और श्रीमती उसकी इन्द्राणी हुई । वहाँ से च्युत होकर तुम दोनों श्रीपाल और मदनसुन्दरी हुए । इस प्रकार मुनि निन्दा का दुष्परिणाम और व्रत पालने के महान् फल को भी इस परिच्छेद में दर्शाया है ।

दशम परिच्छेद में श्रीपाल महाराज के श्रेष्ठ राज्य शासन, राज्य वैभव, सिद्धचक्र पूजा विधान का वैशिष्ट्य तथा वन में सरोवर के तट पर पङ्कमग्न मृत गज को देखकर श्रीपाल का विरक्त होना—बारह भावनाओं का चिन्तन और महीपाल पुत्र को राज्य समर्पण, सुव्रताचार्य से दीक्षा ग्रहण, घोर तप, घातिया कर्मों का नाश कर केवली होना, गंधकुटी की रचना, दिव्यध्वनि कर्मनाश कर मोक्षप्राप्ति का सुन्दर विवेचन है । मदनसुन्दरी का भी दीक्षा लेकर तपकर, स्त्रीलिङ्ग का छेदन कर, बारहवें स्वर्ग में देवेन्द्र होना और एक भव धारण कर भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने का भी सम्मूलेख है ।



सम्पादकीय

श्री चन्द्र प्रभु जितेन्द्राय नमः

परमपूज्य समाधि सम्राट् चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज (अंकलीकर), समाधि सम्राट् बहुभाषी तीर्थभक्त शिरोमणि १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज, निमित्त ज्ञान शिरोमणि १०८ आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज, चारित्र चूड़ामणि अध्यात्म बालयोगी कठोर तपस्वी १०८ आचार्य श्री सन्मति सागरजी महाराज, वात्सल्य रत्नाकर बालब्रह्मचारी १०८ गणधराचार्य श्री कुन्धुसागरजी महाराज, धर्मप्रभाविका, विदूषी-रत्न सम्यग्ज्ञान शिरोमणि १०५ गङ्गानी आर्यिका श्री विजयामति माताजी एवं लोक के समस्त आचार्य, उपाध्याय, मूनि, आर्यिका, क्षुल्लक क्षुल्लिकाओं तथा तपस्वी सभी जैन साधुओं के चरण कमलों में भाव सहित नतभस्तक त्रिवार नमोस्तु, नमोस्तु करता हुआ समिति द्वारा प्रकाशित इस अष्टम ग्रन्थ श्री सिद्धचक्र पूजातिशय प्राप्त श्रीपाल चरित्र के प्रकाशन के विषय में दो शब्द पाठकों से निवेदन करता हूँ ।

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन समय पर नहीं हो सका था । ग्रन्थों में वर्णित कथाएँ जो कि प्रामाणिक हैं उनके अध्ययन से हिन्दीभाषी क्षेत्र के जैन धर्मविलम्बी अभी तक वंचित रहे हैं । ग्रन्थ ताड़पत्रों पर संस्कृत अथवा वहाँ की स्थानीय भाषा में लिखे होने के कारण उनके प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान अभी तक नहीं दिया गया था । परमपूज्य १०५ ग० आ० श्री विजयामती माताजी जो कई वर्षों से दक्षिण भारत के विभिन्न स्थलों पर विहार कर रही हैं ने कठिन परिश्रम कर इन अप्रकाशित ग्रन्थों में चयन कर कुछ ग्रन्थों की हिन्दी टीका की । उनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थ जैसे महिपाल चरित्र, जिनदत्त चरित्र को हिन्दी टीका हमारी श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति, भोटवाड़ा जयपुर से प्रकाशित की गई । परमपूज्य माताजी की प्रेरणा ने दानदाताओं से प्रकाशन कार्य को सुलभ बनाने में आर्थिक सहायता निरन्तर मिलती रही है ।

इन्हीं अप्रकाशित ग्रन्थों में से प्रस्तुत ग्रन्थ श्री सिद्धचक्र पूजातिशय प्राप्त श्रीपाल चरित्र है, इसके लेखक परमपूज्य १०८ आचार्य श्री सकलकीर्तिजी महाराज हैं । यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा हुआ था जिसका हिन्दी रूपान्तर परमपूज्य १०५ ग० आ० श्री विजयामति माताजी ने किया है । आपकी भाषा इतनी सरल एवं सुबोध है कि पढ़ने वाले के मन पर उसकी छाप छोड़े बिना नहीं रहती । यही कारण है कि पिछले ग्रन्थों की सर्वत्र अत्यधिक

प्रशंसा हुई तथा पूज्य आचार्यों, मुनियों एवं अनेक पाठकगणों से प्रशंसा पत्र हमारी समिति को प्राप्त होते रहे हैं। आपके द्वारा लिखित ग्रन्थों की इतनी मांग है कि सीमित आर्थिक साधनों के कारण हम मांग को पूर्ण नहीं कर पाते।

समिति से प्रकाशित यह "अष्टम ग्रन्थ" "श्री सिद्धचक्रविधान पूजातिथय प्राप्त श्रीपाल चरित्र" की कथा भी पाठकगणों को प्रथमानुयोग की ज्ञानवृद्धि में सफल होगा। इस चरित्र से नारी जीवन के शील, सदाचार, पतिभक्ति, सद्गृहिणी और उसके कर्तव्य परायणता के साथ साथ वह किस प्रकार धर्म की छाया में अपने ऊपर आये कष्टों के स्वेदबिन्दुओं को सुखा कर शान्ति प्राप्त करती है, का अनुभव हमें प्राप्त करायेगा। श्रीपाल महाराज द्वारा पूर्वभय में जैन मुनियों की निन्दा एवं उन्हें दिये कष्टों के दुष्परिणाम स्वरूप वर्तमान में भोगे कष्टों को पढ़ कर ऐसे मुनिनिन्दकों की आखें खोलने एवं उन्हें सद्मार्ग पर लाने में यह ग्रन्थ अति सफल होगा, जो अपने पूर्व दुष्कर्मों के कारण अपने मार्ग से भटक गये हैं, ऐसा मेरा विश्वास है जिस प्रकार इतिहास से भावी मार्ग बनाने में बुद्धिजनों को सहायता मिलती है उसी प्रकार इस कथा (इतिहास) से मुनिनिन्दक जो पाप की गठरी बांधने में अज्ञानतावश लगे हुए हैं उन्हें पुण्यमार्ग प्रशस्त करने के लिए यह ग्रन्थ अवश्य सार्थक होगा तथा वे इस निन्दनीय कुकृत्य को तिलांजलि देकर गुरुवाणी में विश्वास रखते हुए प्रायश्चित्त कर श्रीपाल महाराज की तरह मोक्ष मार्ग पर आरुढ़ होंगे। जो लोग बीते हुए काल के इतिहास से कुछ सीखना ही नहीं चाहते वे वास्तव में अपने मनुष्य जीवन का सफल उपयोग करने में समर्थ नहीं हो सकते।

इस बृहद् ग्रन्थ के प्रकाशन कराने में जिन दानवीरों ने आर्थिक सहायता कर अपनी नश्वर लक्ष्मी को अनश्वर बना लिया है, अथर पुण्य लाभ प्राप्त किया है उन सभी महानुभावों को मैं समिति की ओर से धन्यवाद करता हूँ।

ग्रन्थ के संस्कृत श्लोक के प्रूफ संशोधन में हमें डा० श्री शीतलप्रसादजी, प्राचार्य जैन संस्कृत महाविद्यालय जयपुर ने अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से समय निकाल कर जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ, आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी हमें इस प्रकार का सहयोग देकर जैनसाहित्य प्रकाशन के कठिन कार्य को सरल बनाते रहेंगे।

ग्रन्थ की विषय सामग्री मेरे अल्पज्ञान की तुलना में अत्यधिक ऊँची है, फिर भी मैंने गुरुओं के आशीर्वाद से बालप्रयास किया है, अतः साधुगण, विद्वज्जन व पाठकगणों से निवेदन है कि वे त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए उन्हें शुद्ध कर अध्ययन करने का कष्ट करें तथा अपने सुझावों से ग्रन्थ अनुवादिका परमपूज्य १०५ गणिनी आयिका श्री विजयामती माताजी को एवं समिति को अवगत करावें ताकि आगामी ग्रन्थों में और अधिक सुधार लाने में हमें आपका सहयोग भी प्राप्त होता रहे।

ग्रन्थ में प्रकाशित सभी चित्र एवम् मुखपृष्ठ कथा पर आधारित काल्पनिक हैं, इन चित्रों को कलात्मक रूप देने के लिए चित्रकार श्री बी. एन. शुक्ला का भी मैं धन्यवाद

करता हूँ । चित्र विलम्ब से तैयार होने के कारण कुछ चित्र यथास्थान नहीं दिये जा सके हैं, परन्तु चित्रों के नीचे दिये सन्दर्भ से पाठकगणों को श्रमुविधा नहीं होगी, फिर भी कोई विसंगति पाठकों के ध्यान में आये तो उससे प्रकाशन समिति को अवश्य अवगत करायें ।

ग्रन्थ प्रकाशन में समिति के सभी कार्यकर्त्ताओं विशेषकर श्री नाथूलालजी, श्री हनुमान सहाय शर्मा, कु. विजया जैन का आभारी हूँ जिन्होंने मेरी अनुपस्थिति में प्रूफ संशोधन का कार्य करते हुए छपाई कार्य निरन्तर चालू रखकर ग्रन्थ को समय पर प्रकाशन करने में भारी सहयोग दिया है ।

ग्रन्थ की छपाई के लिए प्रिंटिंग सेंटर जयपुर के संचालकों का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने छपाई के मध्य आयी बाधाओं का सामना करते हुए छपाई कार्य सुन्दर एवं रुचि लेकर पूर्ण किया है ।

मुझे एवं श्री दिगम्बर जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति के सभी कार्यकर्त्ताओं तथा जैन समाज भोटवाड़ा को अत्यन्त प्रसन्नता एवं गर्व है कि इस अप्रकाशित बृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन परम्पूज्य गणिनी आर्यिका, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि १०५ श्री विजयामती माताजी के दीक्षागुरु, कठोर तपस्वी सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि परम् पूज्य १०८ श्री विमलसामरजी महाराज की ७५वीं हीरक जन्म जयन्ती के उपलक्ष में प्रकाशित किया जा रहा है । हम सबका उनके चरण कमलों में बारम्बार श्रद्धा भक्ति सहित नमस्कार है तथा गुरुवर्य आचार्य श्री की शतायु होने की मंगल कामना करते हैं ।

पुनः लोक के समस्त पूज्य आचार्यों, साधुओं एवं साध्वीयों के कर्णधारिन्दों में शिवार नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु ।

गुरुभक्त
महेन्द्र कुमार जैन "बंड़जात्या"
सम्पादक

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ॐ एमो अरहन्तारणम्

श्री सरस्वतीदेव्यै नमः । श्री बाहुबलि स्वामिने नमः ।
श्री परमगुरवे नमः । श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ती गुरवे नमः ।
श्री १०८ आचार्य विमल सागरगुरवे नमः ।

होम्बुजक्षेत्रस्थ श्री १००८ पार्वतीर्थकरेभ्यो नमोनमः ।

श्री श्रीपालचरित्रस्य हिन्दीभाषानुवादं मया (श्री १०५ या० गणितनीतिज्ञ-
मत्या) आरभ्यते अस्मिन् होम्बुजक्षेत्रे ५-३-८६ विनाङ्के रविवासरे
मध्याह्नकाले २ घण्टे समये फाल्गुनकृष्णद्वादशीदिवसे ।

श्रीपाल चरित्र

प्रथम परिच्छेद

(ॐ) नत्वा श्रीमज्जिनाधीशं सुराधीशाचितक्रमम् ।
श्रीपालचरितं वक्ष्ये सिद्धचक्रार्चनोत्तमम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(सुराधीशाचितम्) इन्द्रों से पूजित (क्रमम्) चरण जिनके ऐसे
(श्रीमत्) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित (जिनाधीशम्) श्री जिनेन्द्र प्रभु को (नत्वा)
नमस्कार कर (सिद्धचक्रार्चनोत्तमम्) सर्वोत्तम सिद्धचक्र पूजा से सहित (श्रीपालचरितम्)
श्रीपालचरित नामक ग्रन्थ-पुराण को (अहं) मैं श्री सकलकीर्ति आचार्य (वक्ष्ये) कहूंगा—
वर्णन करूंगा ।

भावार्थ—इस श्लोक में श्री आचार्य सकलकीर्ति जी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ को
लिखने की प्रतिज्ञा की है । सर्वप्रथम पूर्वाचार्यपरम्परानुसार एवं आर्ष पद्धति के नियमानुसार
अपने कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये उन्होंने इष्ट देव श्री जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार
किया है । यहाँ किसी तीर्थंकर विशेष का नाम न लेने से विदित होता है कि लेखक ने समस्त
अर्हत् परमेष्ठियों को नमस्कार किया है तथा श्रीपाल चरित को लिखने का दृढ़ संकल्प किया
है । श्लोक के प्रारम्भ में लिखित 'ॐ' शब्द से पञ्च-परमेष्ठियों को नमस्कार किया है यह
सिद्ध होता है । आगे प्रत्येक तीर्थंकर का क्रमशः नाम लेकर स्तवन किया है जो आचार्य की
विशिष्ट अर्हद्भक्ति को दर्शाता है ॥ १ ॥

वन्दे श्री वृषभं देवं देवदेवैस्समर्चितम् ।

भुक्ति मुक्तिप्रदं नित्यं व्यक्तानन्त चतुष्टयम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(देवदेवैस्समर्चितम्) इन्द्रादि से सम्यक् प्रकार पूजित (भुक्ति मुक्ति-प्रदम्) सांसारिक सुख वैभव और चिरन्तन मुक्ति रूपी वैभव को देने वाले (नित्यं व्यक्तानन्त चतुष्टयम्) सदाकाल के लिये प्रकट हो चुके हैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य जिनके ऐसे (श्री वृषभं) मोक्षमार्ग प्रवर्तक आदि पुरुष प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ देव (देव) भगवान को (वन्दे) नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—आचार्य श्री सकलकोर्ति महाराज ने इस श्लोक में, इस लोक और परलोक सम्बन्धी समस्त वैभव को प्रदान करने वाले तथा परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति में कारण स्वरूप ऐसे आदि सृष्टा श्री प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान को नमस्कार किया है । जिनके अनन्त चतुष्टय रूप गुण सदा के लिये प्रकट हो चुके हैं और जो समवशरण की अनुपम विभूति के साथ गन्धकुटी में विराजमान हैं ऐसे श्री आदिनाथ भगवान की स्तुति की है ॥ २ ॥

अजितं जितकन्दर्पं शंभवं सम्भवोज्झितम् ।

वन्देऽभिनन्दन भक्त्या त्रैलोक्य प्राणिशर्मदम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जितकन्दर्पं) जीत लिया है काम विकार को जिन्होंने ऐसे श्री (अजितं) अजितनाथ भगवान को तथा (सम्भावोज्झितम्) उत्पत्ति-जन्म का जो नाश कर चुके हैं ऐसे (शंभवम्) श्री संभवननाथ तीर्थंकर को तथा (त्रैलोक्यप्राणिशर्मदम्) तीनों लोक के समस्त प्राणियों को शान्ति सुख प्रदान करने वाले (अभिनन्दनं) अभिनन्दननाथ भगवान को (भक्त्यावन्दे) मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य श्री ने अजितनाथ, संभवननाथ और अभिनन्दननाथ भगवान को नमस्कार किया है । जगत् विजयी काम विकार को भी जिन्होंने परास्त कर दिया है ऐसे श्री अजितनाथ भगवान हैं और जन्म तथा उससे सम्बद्ध वृद्धत्व और मरण के दुःखों से सदा के लिये जो मुक्त हो चुके हैं ऐसे श्री संभव नाथ भगवान हैं और तीन लोक के समस्त प्राणियों को हितकारी मार्गदर्शन करने वाले, जिनके पावन चरणकमलों में, मैं श्री सकल-कोर्ति मुनि, भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ इत्यादि वचनों से विशेष स्तुति की है ।

नमामि सुमतिं शान्तिं भव्यानां सुमतिप्रदम् ।

पद्मप्रभजिनं वन्दे, पद्माभं पद्मलाञ्छनम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भव्यानां) भव्य जीवों को (शान्तिं सुमतिप्रदम्) शान्ति एवं श्रेष्ठ बुद्धि देने वाले (सुमतिं) सुमतिनाथ भगवान को तथा (पद्माभम्) कमल के समान अरुण वर्ण की शान्ति के धारी (पद्मलाञ्छनम्) कमल के चिह्न से संयुक्त (पद्मप्रभजिनं) छठवें श्री पद्मप्रभु भगवान को (वन्दे) नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—सु का अर्थ है सुष्ठु श्रेष्ठ मति का अर्थ है बुद्धि अर्थात् जो ज्ञान से ही सुमति, सुश्रुत और सुश्रवण-तीन ज्ञान के धारी होते हैं ऐसे यथानाम तथा गुण श्री सुमतिनाथ भगवान् हैं। जो जिसके पास होता है वही वह अन्य को दे सकता है इस लोकोक्ति के अनुसार श्री सुमति नाथ प्रभु भी समस्त भव्य प्राणियों को श्रेष्ठ बुद्धि-सम्यक् ज्ञान प्रदान करते हैं। यहाँ आचार्य श्री सम्यक्ज्ञान को अभिलाषा से सुमति प्रभु को नमस्कार करते हैं पुनः जिनके शरीर की कान्ति अरुणोदय-सूर्य या कमल समान है उनको भी अपने कार्य के उदयार्थ नमस्कार करते हैं। अभिप्राय यह कि श्री जिनेन्द्र भगवान् की स्मरण, नमन करने से सद्बोध और निर्विघ्न कार्य की सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

श्री सुपार्श्व जिनाधीशं वन्देऽहं हरितप्रभम् ।

जितचन्द्रप्रभं चन्द्रप्रभं भक्त्या नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(हरितप्रभं) हरित वर्ण की कान्ति वाले (जिनाधीशं) जिनेन्द्र (श्री सुपार्श्वं) श्री सुपार्श्व प्रभु को (अहं वन्दे) मैं नमस्कार करता हूँ। (जितचन्द्रप्रभं) चन्द्रमा की कान्ति को जो जोत चुके हैं ऐसे (चन्द्रप्रभं) श्री चन्द्रप्रभु भगवान् को (अहम् भक्त्या नमामि) मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—सुपार्श्व तीर्थंकर का नाम गुणानुकूल है। 'सु' का अर्थ है सुकर, हितकर, कल्याणप्रद और 'पार्श्व' शब्द का अर्थ है सामीप्य साहचर्य अथवा सानिध्य। इस प्रकार जिनका सानिध्य समस्त जीवों के लिये सुखकारी है ऐसे श्री सुपार्श्वप्रभु को आत्मसुख-अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिये आचार्य श्री नमस्कार करते हैं। तदनन्तर अद्वितीय कान्ति के धारी श्री चन्द्रप्रभु भगवान् को आचार्य श्री नमस्कार करते हैं। श्री चन्द्रप्रभु चन्द्रमा से भी अधिक शीतल और सुखप्रद हैं। ज्योतिर्लोक का अधिपति जो चन्द्रमा है उसका विमान चन्द्रकान्त-मणिमय होने से यद्यपि तापनाशक और सुखकर है पर वह मात्र शरीरदाह का कथञ्चित् निवारण करता है, कर्मों से संतप्त जीवों के अन्तस्ताप वा दुःख का निवारण करने की क्षमता उसमें नहीं है और आप श्री चन्द्रप्रभु के दर्शन से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग समस्त प्रकार के संताप स्वतः दूर हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि उद्योत नामकर्म के उदय से चन्द्रविमान रूप पृथ्वीकायिक जीव की जो अल्प कान्ति है उसका आपको अनुपम दिव्य कान्ति के समक्ष कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार स्तुति करते हुए अद्वितीय कान्ति और गुणों के धारी श्री चन्द्रप्रभु तीर्थंकर को आचार्य श्री नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पदन्तं लसत्कुन्दपुष्पवत् कान्ति संयुतम् ।

शीतलं श्री जितं वन्दे शीतलोत्तम वाग्भरम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(कुन्दपुष्पवत्) कुन्दपुष्प के समान (कान्ति संयुतम्) कान्ति में संयुक्त (लसत्) शोभायमान (पुष्पदन्तं) श्री पुष्पदन्त तीर्थंकर को तथा (शीतलोत्तमवाग्भरम्)

शीतलोत्तम दिव्यध्वनि को धारण करने वाले (श्री शीतलं जिनं) श्री शीतलनाथ प्रभु को (वन्दे) मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—कुन्दपुष्प का वर्ण श्वेत-धवल होता है और श्री पुष्पदन्त भगवान भी उत्तम धवल कीर्ति और गुणों के धारी थे तथा शरीर का वर्ण भी श्वेत कान्ति से युक्त था अतः आचार्य श्री ने स्तुति करते समय आपको कुन्दपुष्पवत् बताया है । पुनः श्री शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं कि आपकी वाणी सर्वाधिक शीतलता और शान्ति प्रदान करने वाली है । यद्यपि लोक में बहुत से शीतल पदार्थ हैं लेकिन वे किसी निश्चित समय में और निश्चित पदार्थ को ही शीतल बनाते हैं और आपकी वाणी प्राणीमात्र को सुख शान्ति प्रदान करने वाली है अर्थात् सर्वभूतहितरिणी है । इस प्रकार स्तुति करते हुए उन गुणों की प्राप्ति के लिये आचार्य श्री नवें और दशवें तीर्थकर श्री पुष्पदन्त और श्री शीतलनाथ प्रभु को भी नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

श्रेयोजिनं जगच्छ्रेयस्कारणं भवतारणम् ।

वासुपूज्यं जगत्पूज्यं पद्मरागमणिप्रभम् ॥ ७ ॥

निर्मलं विमलाधीशं संस्तुवे शर्मदायकम् ।

अनन्तानन्त सज्जानमनन्तं ज्ञानमद्भुतम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जगच्छ्रेयस्कारणं) जगत् के लिये श्रेयभूत जो मोक्ष है उसकी प्राप्ति में समर्थ कारण स्वरूप तथा (भवतारणं कारणं) संसार समुद्र को पार करने में कारणभूत (श्रेयोजिनं) श्री श्रेयांसनाथ भगवान को तथा (पद्मरागमणिप्रभम्) पद्मरागमणि के समान कान्ति वाले (जगत्पूज्यं) तीम लोक के द्वारा पूज्य ऐसे (वासुपूज्यं) वासुपूज्य भगवान को तथा (निर्मलं) मोह रूपीमल से रहित (शर्मदायकम्) उत्तम सुख को देने वाले (विमलाधीशं) विमलनाथ भगवान को तथा (अनन्तानन्त सज्जानं) अनन्तानन्त पर्यायों सहित अनन्त पदार्थों को जानने वाले (अद्भुतम्) अलौकिक गुणों के धारी (अनन्तं) अनन्तनाथ भगवान को (संस्तुवे) स्तुत करता हूँ अर्थात् उनको मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—यहाँ आचार्य श्री श्रेयांस नाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ और अनन्तनाथ भगवान को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं । धातिया कर्मों को आगम में मल कहा है क्योंकि ये सभी पाप रूप हैं जीव के गुणों का घात करने वाले हैं । ऐसे धाति कर्म रूपीमल का जिन्होंने समूल नाश कर दिया है ऐसे श्री विमल नाथ भगवान हैं । पुनः अनन्त दोषों का स्थान जो मोह वा अज्ञान उसको मेद विज्ञान के बल से जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान हैं । जिनको आत्म अभ्युदय के लिये आचार्य श्री नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

धर्मं सद्धर्मतीर्थं सुक्तिदं संभजाम्यहम् ।

शान्तोशं शान्तिदं वन्दे शान्तदान्तैस्समाश्रितम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(सद्धर्म तीर्थेश) उत्तम धर्म तीर्थ के प्रवर्तक (मुक्तिदं) मुक्ति को देने वाले (धर्म) धर्मनाथ प्रभु को (अहम्) मैं (संभजामि) स्तुत करता हूँ अर्थात् उनका कीर्तन स्तवन करता हूँ । पुनः (शान्तदान्तैः) शान्त और दान्त पुरुषों के द्वारा (समाश्रितं) सेवित ऐसे (शान्तिदं) परमशान्ति को प्रदान करने वाले (शान्तीशं) शान्तिनाथ भगवान को (वन्दे) नमस्कार करता हूँ ।

भाषार्थ—जिनकी कथायें शान्त हो चुकी हैं वे शान्त हैं और जो इन्द्रियों का दमन कर चुके हैं वे दान्त हैं ऐसे शान्त और दान्त गणधरादि मुनि पुद्गलों के द्वारा भी जो सेवित हैं उन श्री शान्तिप्रभु की स्तुति यहाँ आचार्य परमेश्वरी अपनी आत्मशान्ति के लिये करते हैं ॥ ९ ॥

कुन्थुं कुन्ध्यादि जन्तूनां रक्षणे चतुरोत्तमम् ।

अरप्रभुं कृतानन्दं नमामि गुणनायकम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—जो (कुन्ध्यादिजन्तूनां) कुन्थु आदि जीवों का (रक्षणे) रक्षण करने में (चतुरोत्तमम्) परम कुशल हैं अर्थात् सावधान हैं ऐसे (कुन्थु) कुन्थुनाथ को तथा (कृतानन्दं) आनन्द अर्थात् अनन्त सुख को जो प्राप्त कर चुके हैं और (गुणनायकं) गुणों के अभिनेता अधिष्ठाता हैं ऐसे श्री (अरप्रभुं) अरनाथ भगवान को (नमामि) मैं नमस्कार करता हूँ ।

भाषार्थ—प्राणीमात्र का रक्षण और हितकरने वाले ऐसे श्री कुन्धुनाथ भगवान तथा रत्नत्रयादि गुणों के अधिष्ठाता अनन्त सुख के धारी श्री अरनाथ भगवान को आचार्य श्री अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

मल्लि सन्मल्लिकादामसुगन्धोत्तमविग्रहम् ।

इन्द्रनीलप्रभं वन्दे सुव्रतं मुनि सुव्रतम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(सन्मल्लिकादाम—) मल्लि पुष्प की माला के समान (सुगन्धोत्तम-विग्रहम्) सुगन्धित उत्तम शरीर के धारी (मल्लिं) श्री मल्लिनाथ भगवान को तथा (सुव्रतं) श्रेष्ठ अहिंसादि महाव्रतों के धारी (इन्द्रनीलप्रभं) इन्द्रनीलमणि के समान कान्ति के धारी [मुनिसुव्रतं] श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान को [वन्दे] मैं नमस्कार करता हूँ ।

भाषार्थ—निर्मल आत्म-परिणामों का प्रभाव जड़ शरीर पर भी पड़ता है । विशुद्ध आत्मपरिणामों से शरीर भी सुगन्धित और कान्तिमय हो जाता है । तीर्थंकरों का शरीर जन्म से ही सुगन्धित और कान्तियुक्त होता है क्योंकि षोडश कारण भावना तथा तीव्र परोपकार की भावना से वे युक्त होते हैं । बेला के फूलों की माला के समान सुगन्धित उत्तम शरीर को धारण करने वाले श्री मल्लिनाथ भगवान तथा अहिंसादि उत्तम व्रतों के अधिष्ठाता, इन्द्रनील मणि के समान कान्तिमान शरीर के धारी मुनिसुव्रत नाथ भगवान को आचार्य श्री उन गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करते हैं ॥ ११ ॥

नमि तीर्थेश्वरं वन्दे केवलज्ञानभासुरम् ।

लोकालोक स्वभावाद्युद्योतनैकदिवाकरम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(केवल ज्ञान भासुरम्) केवल ज्ञान रूपी ज्योति से प्रकाशमान (लोका-लोक स्वभावादि) लोक और अलोक के स्वरूप आदि को (उद्योतन) प्रकाशित करने में (एकदिवाकरम्) एकमात्र-अद्वितीय सूर्य स्वरूप ऐसे (नमितीर्थेश्वरं वन्दे) नमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—ज्ञानावरण कर्म का समूल नाश कर देने से निरावरण केवल ज्ञान जिनको प्राप्त हो चुका है तथा क्षाधिक केवल ज्ञान रूपी सूर्य के तेज से जो लोका-लोक को प्रकाशित करने में सक्षम हैं ऐसे श्री नमिनाथ भगवान को, निरावरण ज्ञान की प्राप्ति के लिये आचार्य श्री नमस्कार करते हैं ॥१२॥

नेमि धर्मरथेनेमि वन्दे प्रावृद्धनप्रभम् ।

पार्श्वनाथं नमाम्युच्चैः स्वकान्त्याकदलीनिभम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(प्रावृद्धनप्रभम्) वर्षाकालीन बादल के समान कान्तिवाले (धर्मरथे-नेमि) धर्मरूपी रथ के धरा समान ऐसे (नेमि) श्री नेमिनाथ भगवान को (वन्दे) मैं नमस्कार करता हूँ तथा (स्वकान्त्या) अपनी कान्ति से (कदली निभम्) केला के समान वर्ण वाले ऐसे (पार्श्वनाथं) श्री पार्श्व प्रभु को (उच्चैः) विशेष भक्ति से (नमामि) नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—वर्षाकालीन सघन बादल के समान गहरे नीलवर्ण के शरीर वाले तथा कदली पत्र के समान हरितवर्ण वाले शरीर के धारी श्री पार्श्व प्रभु को आचार्य श्री भक्ति-पूर्वक नमस्कार करते हैं ।

संस्तुवे सन्मतिं देवं भव्यानां सन्मतिप्रदम् ।

यं वदन्ति बुधा वीरं महावीरादिनामकम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(यं) जिनको (बुधा) बुधजन विद्वत् जन (वीरं महावीरादिनामकम्) वीर, अतिवीर, महावीर और वर्धमान आदि नाम से (वदन्ति) सम्बोधित करते हैं ऐसे (भव्यानां सन्मतिप्रदं) भव्य जीवों को तत्त्व का सम्यक् अवबोध कराने वाले, उत्तम बुद्धि को देने वाले (सन्मति देवं) अन्तिम तीर्थंकर सन्मति प्रभु का (संस्तुवे) संस्तवन करता हूँ अथवा नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—समस्त भव्य जीवों को तत्त्वों का सम्यक् अवबोध कराने वाले ऐसे केवल ज्ञानादि श्र ७४ विभूति के धारी वर्धमान भगवान को आचार्य श्री उन गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करते हैं ॥१४॥

एते तीर्थकराधीशास्सर्वदेवेन्द्र वन्दिताः ।

साद्धद्वीप द्वयोत्पन्नास्तन्तु मे शान्तये जिनाः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः) सम्पूर्ण देवेन्द्रों के द्वारा वन्दित (एते तीर्थकराधीशा) तीन लोक के अधिपति ये सभी तीर्थकर तथा (साद्धद्वीपद्वयोत्पन्नाः जिनाः) ढाई द्वीप में उत्पन्न जिन-अर्हन्तदेव (मे शान्तये) हमारी शान्ति के लिये (सन्तु) होंगे ।

भावार्थ—जिन भक्ति से आत्मशान्ति तथा अनन्त सुख की प्राप्ति होती है ऐसा उपर्युक्त श्लोक से विदित होता है । योग्य बाह्य निमित्त आत्मशुद्धि में सहकारी हैं, सहायक हैं तभी तो करणानुयोग में ऐसा उल्लेख है कि क्षायिक सम्पद्दर्शन की प्राप्ति केवली श्रुत केवली के पादमूल में ही कर्मभूमिज मनुष्य को होती है । इस तथ्य को दृष्टि में रखकर आचार्य प्रस्तुत श्लोक में कहते हैं कि ये सभी जिन या अर्हन्त प्रभु मेरी आत्मशान्ति के लिये होंगे ॥१५॥

इसके बाद आचार्य श्री सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं—

दुष्टाष्टकर्म विनिर्मुक्तान् सिद्धान् सिद्धिप्रदांश्चतान् ।

त्रैलोक्य शिखरारूढान् संस्तुये त्रिजगन्नुतान् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिजगन्नुतान्) तीनों लोकों के द्वारा वन्दित (त्रैलोक्यशिखरारूढान्) तीन लोक के शिखर पर विराजमान (दुष्टाष्टकर्म विनिर्मुक्तान्) दुःख कर अष्टकर्म बन्धन से मुक्त (सिद्धिप्रदान् च) और सिद्धि को देने वाले (तान् सिद्धान्) उन सिद्धों को (संस्तुये) संस्तुत करता हूँ अर्थात् मैं उनकी स्तुति करता हूँ ।

भावार्थ—जो अष्टकर्म रूपी दुष्ट शत्रुओं का निर्मूल विनाश कर चुके हैं और तनु-वातबलय में अर्थात् लोक के शिखर पर विराजमान हैं । चक्रवर्ती इन्द्रादि सभी के द्वारा सदा पूजित होते हैं जिनका ध्यान वा स्मरण करने से भव्य जीवों को शीघ्र मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठी को आचार्य श्री आत्मशक्ति की अभिव्यक्ति के लिये नमस्कार करते हैं ॥१६॥

आगे आचार्य श्री केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिनवाणी को नमस्कार करते हैं—

श्री सर्वजमुखाभोज समुत्पन्नां सरस्वतीम् ।

भुक्तिमुक्तिप्रदां वन्दे संदेहहरणे सतीम् ॥ १७ ॥

या सती सर्वजन्तूनां नेत्रप्रायो हि भारती ।

भानुनेव मनोध्वान्तनाशिनी तत्त्वभासिनी ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(भानुता इव) सूर्य के समान प्रकाशमान (मनोध्वान्तनाशिनी) चित्त में व्याप्त मोह वा अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली (तत्त्व भासिनी) तत्त्व का प्रकाशन

करने वाली (संदेह हरणे सतीम्) तत्त्व विभ्रम रूप संदेह का निवारण करने में समर्थ (भुक्ति-मुक्तिप्रदा) भुक्ति और मुक्ति को देने वाली (श्रीसर्वज्ञ मुखाम्भोजसमुत्पन्ना) श्री सर्वज्ञदेव के मुख कमल से समुत्पन्न (भारती-सरस्वती) भारती सरस्वती को (नेत्रप्रायो) जो तत्त्वदर्शन के लिये चक्षु के समान हैं (सतोम्) उन जिनवाणी माँ-सरस्वती को (वन्दे) नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र प्रभु के मुख कमल से समुत्पन्न जो सरस्वती भारती हैं वह माता के समान भव्य जीवों का पालन पोषण रक्षण करने वाली हैं । तत्त्व विभ्रम का निवारण कर, संदेह जन्य कष्ट को दूर कर, तत्त्व निश्चिति वा श्रद्धा को सुदृढ़ करने वाली, उस जिनवाणी माता की आज्ञानुसार चलने वाले भव्य जीवों का लौकिक और पारलौकिक जीवन सुखमय होता है । तथा शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मी को वह प्राप्त कर लेता है ऐसी जिनवाणी सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ । ॥१७॥१८॥

आगे गुरु वन्दना करते हुए आचार्य लिखते हैं—

जयन्तु गुरवो नित्यं सूरिपाठक साधवः ।

ये सदा भव्यजन्तूनां संसाराम्बुधि सेतवः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(सदा) सदाकाल-सर्वदा (ये) जो (भव्यजन्तूनां) भव्य जीवों को (संसाराम्बुधिसेतवः) संसार समुद्र को पार करने के लिए पुल के समान हैं ऐसे (सूरिपाठक-साधवः) आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी (नित्यं) सदा (जयन्तु) जयवन्त होंगे । यहां आशीर्वचन रूप स्तुति है ।

भावार्थ—निरन्तर ज्ञान, ध्यान तप में लीन रहने वाले जो सम्पूर्ण बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी दिगम्बर गुरु हैं अथवा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं, उनके वचन मोक्ष की प्राप्ति में उसी प्रकार साधक हैं जैसे समुद्र को पार करने में पुल-सेतु साधक होता है । गुरु के वचनानुसार प्रवृत्ति करने वाला निश्चय से मोक्ष को प्राप्त करता है । उस उत्तम मुक्ति की प्राप्ति के लिये आचार्य श्री “जयन्तु गुरवो” शब्दों में स्तुति करते हुए गुरु भक्ति को प्रकट करते हैं ॥ १९ ॥

अब अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिये विशेष रूप से गुरुजनों का स्मरण करते हैं—

कुन्दकुन्दाख्यविद्यादिनन्दिश्रीमल्लिभूषण ।

श्रुताविसागरादीनां गुरुणांसंस्मराम्यहम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(कुन्दकुन्दाख्य) श्री कुन्दकुन्दा नामक आचार्य तथा (विद्यानन्दि-श्रीमल्लिभूषण) विद्यानन्द और श्रीमल्लिभूषण का तथा (श्रुताविसागरादीनां गुरुणां) श्रुत-सागरादि गुरुओं का (अहम् संस्मरामि) मैं स्मरण करता हूँ ।

भावार्थ—गुरुभक्ति की पवित्र भावना से प्रेरित हुए आचार्य श्री, यहाँ पुनः श्री

कुन्दकुन्द स्वामी, श्री विद्यानन्द स्वामी, श्री मल्लिभूषण श्रीर श्रुतसागर आदि आचार्यों का स्मरण करते हैं जिससे ग्रन्थ रचना का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो सके ॥ २० ॥

पञ्चमगति मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रखते हुए आचार्य पुनः गुरुजनों का आशीर्वाद चाहते हुए लिखते हैं—

पञ्चते परमानन्ददायिनः परमेष्ठिनः ।

सन्तु नः भव्यजीवानां पञ्चमोगति दायकः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(परमानन्ददायिनः) परम् आनन्द को देने वाले (एते) ये (पञ्चपरमेष्ठिनः) पाँचों परमेष्ठी (नः भव्यजीवानां) हम भव्यजीवों को (पञ्चमोगतिदायकाः) पञ्चमगति मोक्ष को देने वाले (सन्तु) होंगे ।

भावार्थ—पुनः सामान्य रूप से पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि आप सभी निराकुल स्थाई सुख को प्रदान करने वाले हैं आपकी स्तुति करने से मुझे भी वह निराकुल स्थाई सुख प्राप्त होगा तथा श्रेष्ठतम जो पञ्चम मोक्षगति है वह भी परम्परा से प्राप्त हो सकेगी ॥ २१ ॥

अब पवित्र, मुखद, मनोहारी, श्रीपाल चरित्र को लिखने की प्रतिज्ञा करते हुए आचार्य कहते हैं—

ए तेषां शर्म हेतूनां चरणास्तुतिमङ्गलम् ।

कृत्वाहं तुच्छबुद्ध्यापि श्रीपाल चरितं ब्रूवे ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(शर्म हेतूनां) परमशान्ति कर मोक्ष की प्राप्ति में हेतुभूत (एतेषां) इन पञ्चपरमेष्ठियों के (मङ्गलं) मङ्गलमय (चरणास्तुतिं) चरण स्तुति को (कृत्वा) करके (तुच्छबुद्ध्यापि) तुच्छ बुद्धि वाला होने पर भी (श्रीपालचरितं) श्रीपाल चरित्र को (ब्रूवे) मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—यहाँ पञ्चपरमेष्ठी की स्तुति भक्ति पूर्वक आचार्य श्री 'श्रीपाल चरित्र' को लिखने का संकल्प करते हैं ॥ २२ ॥

चरित्रं सर्वदा सर्वरोग संतापनाशनम् ।

सिद्धचक्रवतोपेतं सिद्धयौषधिमिवोत्तमम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धि औषधिम् इव उत्तमम्) सिद्ध-सफल उत्तम औषध के समान (सिद्ध चक्रवतोपेतम्) सिद्धचक्रवत अर्थात् अष्टाह्निका व्रत है उससे युक्त (चरित्रं) श्रीपाल का यह चरित्र (सर्वदा) सदाकाल (सर्वरोगसंताप-नाशनम्) सर्वरोग और संताप को नाश करने वाला होवे ।

भावार्थ—समस्त जीवों के प्रति हित की पवित्र भावना से प्रेरित होकर आचार्य श्री यहाँ श्रीपाल चरित्र को लिखते हुए यह बता रहे हैं कि यह चरित्र उत्तम शीषध के समान है। लौकिक और आत्मिक दोनों प्रकार के सुख को प्रदान करने वाला है ॥ २३ ॥

पुनः ग्रन्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिये आचार्य कहते हैं कि आचार्य परम्परा से प्राप्त कथा को ही मैं लिख रहा हूँ यह कोई कल्पित मनगढ़न्त कथा नहीं है—

यत्पुरा चरितं पूर्वं सूरिभिः श्रुतसागरैः ।

तदहं चापि वक्ष्यामि किमाश्चर्यमतः परम् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(पूर्व) पहले (यत् पुराचरितं) जो श्रेष्ठ चरित्र (श्रुतसागर-सूरिभिः) श्रुतसागर आचार्य के द्वारा कहा गया था (तदहं चापि) उसको मैं भी (वक्ष्यामि) कहूँगा (अतः परम्) इससे बड़ा (आश्चर्य किम्) आश्चर्य क्या हो सकता है ?

भावार्थ—यह श्रीपाल चरित्र मन गढ़न्त कपोलकल्पित नहीं है, अपितु पूर्व आचार्य परम्परा से प्राप्त श्री श्रुतसागर आचार्य के द्वारा कथित यथार्थ और प्रामाणिक है, पवित्र और पाप नाशक है। पुनः आचार्य कहते हैं कि मैं अल्प बुद्धिवाला हूँ, मुझमें यद्यपि उस महान् चरित को लिखने की क्षमता नहीं है फिर भी मैंने उस कार्य को करने का जो साहस किया है वह सर्वाधिक आश्चर्यकारी है। इस प्रकार यहाँ आचार्य श्री के द्वारा ग्रन्थ की प्रामाण्यता और अपनी विनम्रता और निरहंकारता भी प्रकट की गई है ॥ २४ ॥

यस्य श्रवणमात्रेण चरितेन विशेषतः ।

पापराशि क्षयं याति भास्करेणैव दुस्तमः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(भास्करेण इव) सूर्य के समान भास्वरमय (यस्य चरितेन-श्रवण-मात्रेण) जिस चरित्र को सुननेमात्र से (दुस्तमः) गहरे अन्धकार रूप (पापराशि) पाप समूह (विशेषतः क्षयं याति) विशेषतः अर्थात् पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है (शेष वाक्य—ऐसे उस चरित्र को मैं कहूँगा)

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य के द्वारा रात्रि का गहरा अन्धकार भी तत्काल नष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार इस पवित्र चरित्र को सुनने मात्र से पाप समूह क्षय को प्राप्त हो जाता है।

यस्यप्रभावतो नूनं कुण्ठादि व्याधिसञ्चयः ।

प्रयाति विलयं सद्यो वायुनावा घनावलिः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(वायुना वा घनावलि) वायु वेग से जैसे मेघमाला (विलयं प्रयाति) निर्मूल नष्ट हो जाती है उसी प्रकार (यस्य) जिसके अर्थात् सिद्धचक्र व्रत से युक्त चरित्र के

(प्रभावतो) प्रभाव से (कुष्ठादि व्याधि) कुष्ठ आदि व्याधियों का (सञ्चयः) समूह (विलयं प्रयाति) विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—इस परम पुनीत श्रीपाल चरित्र के सुनने मात्र से भक्तजनों के कुष्ठ, लूती, क्षय आदि संक्रामक-असाध्य रोग भी क्षण भर में उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे वायु के वेग से सहन बादल निमेष मात्र में बिखर जाते हैं ॥ २६ ॥

(निर्धनाः स्वधनं यस्माद्राज्यभ्रष्टाः स्वराज्यकम् ।

स्थान भ्रष्टाश्च ये स्थानं प्राप्नुवन्ति विशेषतः ॥ २७ ॥

(इन्द्रनागेन्द्रचक्र्यादि पदं मुक्तिपदं स्थिरम् ।

सिद्धचक्रव्रतेनोच्चैः प्राप्यते नात्र संशयः ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

अन्वयार्थ—(सिद्धचक्रव्रतेन) सिद्धचक्रव्रत के पालन से (निर्धनाः) धन रहित दरिद्री (उच्चैः) विशेष रूप से (स्वधनं) अपने धन को (राज्यभ्रष्टा) राज्यहीन (स्व-राज्यकम्) अपने राज्य वैभव को (स्थान भ्रष्टाः च) और पदभ्रष्ट हैं वे (विशेषतः) विशेष रूप से (स्थानं) अपने स्थान को (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त कर लेते हैं ॥ २७ ॥ तथा (अत्र) इस लोक में (न संशयः) संदेह रहित निश्चित रूप से (इन्द्रनागेन्द्र चक्र्यादि) इन्द्र, धरणेन्द्र, बलभद्र, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि (पदं) पद को तथा (स्थिरं) अविनाशी (मुक्तिपदं) मोक्ष पद को (प्राप्यते) पा लेते हैं ।

भावार्थ—श्री सिद्धचक्रमहापूजा विधान का अद्वितीय प्रभाव है । इसके प्रसाद से श्रद्धालु भक्त भव्यजीव अपने नष्ट धन को, राज्यभ्रष्ट पुनः अपने राज्यपद को, स्थान च्युत अपने उस पद को अधिक प्रभुत्व के साथ प्राप्त कर लेते हैं । सिद्ध भगवान की भक्ति सर्व प्रकार सुख शान्ति और आत्मसिद्धि को देने वाली है । यही नहीं विधिवत् प्रतिवर्ष में तीनवार आषाढ़ कार्तिक और फाल्गुन मास के अष्टाह्निका पर्व में पूजा आराधना करने से उभय लोक की सम्पदा प्राप्त होती है । इस लोक में सर्वश्रेष्ठ इन्द्र, चक्री, बलदेव, तीर्थकरादि महान पद प्राप्त होते हैं और सर्व सुख सम्पदा भोग कर अन्त में अविनाशी नित्यनिरञ्जन मुक्तिपद भी प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततो भव्यैर्जगत्सारं संसाराम्बुधिपारदम् ।

सिद्धचक्रव्रतं पूतं समाराध्यं सुखार्थिभिः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(ततो) इसलिये (सुखार्थिभिः) सुख की अभिलाषा करने वाले (भव्यैः) भव्य जीवों के द्वारा (जगत्सारं) तीनों लोकों में सार भूत (संसाराम्बुधिपारदम्) संसार जलधि से पार करने वाले (पूतं) पवित्र (सिद्धचक्रव्रतं) सिद्धचक्रव्रत को (समाराध्यम्) सम्यक् प्रकार शुद्ध त्रियोगों से आराधन करना चाहिए ।

भावार्थ—यह सिद्ध चक्रव्रत भव्य जीवों को चिन्तामणि कामधेनु और कल्पवृक्ष से भी अधिक उत्तम फल को देता है, क्योंकि ये मात्र सांसारिक विषय भोगों को सामग्री दे सकते हैं, किन्तु सिद्धचक्र के माहात्म्य से ये तो आनुषङ्गिक रूप से अनायास प्राप्त हो ही जाते हैं किन्तु इससे भी अधिक अविनाशी अनन्त सुख रूप मुक्ति को भी प्रदान करता है। अतः तीनों लोकों का सारभूत शिरोमणि सर्वोत्तम यह व्रत है। अतः सुखेच्छाओं को इस परमोत्तम व्रत को अवश्य ही धारण और पालन करना चाहिये ॥ २६ ॥

इत्यादिकं हृदि ज्ञात्वा प्रभावं भुवनोत्तमम् ।

सिद्धचक्रव्रतस्योच्चैस्तच्चरित्रं समुच्यते ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकं) इत्यादि (भुवनोत्तमम्) लोकोत्तम (प्रभावं) प्रभाव को (हृदिज्ञात्वा) चित्त में जानकर (सिद्धचक्रव्रतस्य) सिद्धचक्रव्रत को करने वाले (तच्चरित्रं) उस श्रीपाल का चरित्र (उच्चैः) सम्यक् प्रकार (समुच्यते) कहते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में सिद्धचक्रव्रत की लोकोत्तर महिमा का निर्देश करते हुए आचार्य श्री श्रीपाल के उत्तम चरित्र को कहना प्रारम्भ करते हैं—

शृण्वन्तु सुधियो भव्याः जम्बू द्वीपेऽत्र सुन्दरे ।

पवित्रे भारते क्षेत्रे जिनजन्म महोत्सवैः ॥ ३१ ॥

तत्र देशो महानासीद् विशालो मगधाह्वयः ।

श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म निवेशो भुवनोत्तमः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(सुधियो भव्याः) हे विवेकशील भव्यपुरुषों। (शृण्वन्तु) सुने (अत्र सुन्दरे जम्बूद्वीपे) यहाँ सुन्दर जम्बूद्वीप में (जिनजन्ममहोत्सवैः) जिनेन्द्र प्रभु के जन्मोत्सवों से (पवित्रे) पवित्र (भारते क्षेत्रे) भरत क्षेत्र में (विशालो) विस्तृत (महान्) श्रेष्ठ (श्रीमज्जिनेन्द्र) श्री जिनेन्द्र प्रभु के (सद्धर्म) उत्तम धर्म का (निवेश) आलय रूप (भुवनोत्तम) लोकोत्तम (मगधाह्वयः) मगध नामक (देशो आसीत्) देश था।

भावार्थ—कथा का प्रारम्भ करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं कि इस सुन्दर जम्बूद्वीप में जिनेन्द्र प्रभु के जन्मोत्सवों से पवित्र भरत क्षेत्र में विस्तृत श्रेष्ठ श्री जिनेन्द्र प्रभु के उत्तम धर्म का आलयरूप लोकोत्तम मगध नामक देश था।

यत्र देशे वनादीनां प्रदेशेषु समन्ततः ।

शोभन्तेस्म ध्वजाद्यैश्च जिनसद्धमपरम्पराः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(यत्रदेशे) जहाँ अर्थात् जिस मगध देश में (वनादीनां प्रदेशेषु) वन प्रान्त के अन्दर (समन्ततः) चारों ओर बने हुए (जिनसद्धमपरम्पराः) जिन भवनों की पंक्तियाँ (ध्वजाद्यैश्च) ध्वजादिकों से (शोभन्तेस्म) शोभते थे।

भावार्थ—वह मगध देश सुन्दर वनप्रान्तों और बगीचों से शोभित था जहाँ चारों ओर जिन भवनों की पंक्तियाँ ध्वजादिकों से उत्तम शोभा को धारण कर रही थीं ।

यत्र भव्या वसन्त्युच्चैः धनैर्धान्यैर्जनैर्गुताः ।

पूर्वपुण्य प्रसादेन जयनादेन नित्यशः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (धनैर्धान्यैः) धन धान्यों से (जनेः गुताः) परिजन पुरजनों से युक्त (पूर्वपुण्यप्रसादेन युतः) पूर्व कृत पुण्य प्रसाद से सहित (नित्यशः जयनादेन युतः) निरन्तर जय नाद से युक्त (भव्याः वसन्ति) भव्य जीव रहते हैं ।

भावार्थ—उस मगध देश के निवासी सभी परिजन पुरजन सुन्दर रूप, गुण, धन धान्यादि से सम्पन्न थे । सब प्रकार से सुखी थे तथा निरन्तर धर्म प्रभावना में तत्पर रहते थे जो उनके पूर्व भव में उपार्जित विशिष्ट जिनभक्ति आदि सातिशय पुण्य का फल है । पुण्य के फलस्वरूप ही जीव को उत्तम कुल, जाति सुन्दर रूप, श्रेष्ठ जिनधर्म की प्राप्ति होती है ।

यो देशो राजते स्मोच्चैः पुरैर्ग्रामैर्मनोहरैः ।

खेटैस्संवाहनैश्चापि चक्रीव राजाभवुतः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो अर्थात् वह मगध देश (पुरैर्ग्रामैर्मनोहरैः) सुन्दर मनोहर ग्रामों और नगरों से (खेटैस्संवाहनैश्चापि) और भी सुन्दर खेट और संवाहनों के द्वारा तथा (चक्रीव राजभिः वृतः) चक्रवर्ती के समान वैभवशाली राजाओं से घिरा हुआ (राजतेस्म) शोभायमान था ।

भावार्थ—उस मगध देश में अनेकों मनोहर सुन्दर ग्राम, नगर, खेट, संवाहन थे जो अपनी शोभा से स्वर्ग को भी जीतने वाले थे तथा चक्रवर्ती के समान वैभवशाली राजाओं से सेवित वह मगध देश अनुपम शोभा का स्थान था ।

ग्राम—जिसके चारों ओर दीवाल-कोट बने रहते हैं उसे ग्राम कहते हैं । यह कोट, काँटों की झाड़ी, चूना मिट्टी आदि किसी का भी हो सकता है ।

पुर या नगर—जो चारों ओर से दीवाल और चार दरवाजों से संयुक्त होता है उसे नगर कहा जाता है ।

खेट—नदियों और पर्वतों से वेष्टित रहने वाले गाँव को खेट संज्ञा है ।

कर्बट—चारों ओर से पर्वतमालाओं से जो घिरा रहता है उसे कर्बट कहते हैं ।

मटम्ब या मडम्ब—५०० गाँवों से संयुक्त रहने वाले गाँव या बस्ती को मडम्ब कहा जाता है ।

पट्टन या पत्तन—जिस भूप्रदेश में नाना प्रकार के नवरत्नों की उत्पत्ति होती है उसे पत्तन कहते हैं ।

द्रोण—नदियों से परिवृत प्रदेश द्रोण कहलाता है ।

संवाहन—उपसमुद्रों के तट पर बसने वाले ग्रामों को संवाह या संवाहन कहते हैं ।

दुर्गादिवो—पहाड़ों पर बसने वाले ग्रामों को दुर्गादिवो कहते हैं । वह मगधदेश इन सभी से व्याप्त था । अर्थात् कहीं भोले सरल स्वभावो निर्मल बुद्धि ग्रामीण जन कृषि कर्म द्वारा अपना सुखी जीवनयापन करते थे, कहीं पर्वत वासी प्रजा “सादा जीवन उच्च विचार” कहावत को चरितार्थ करती थी । कहीं रत्नों के व्यापारी इस देश की अतुल विभूति का प्रदर्शन कर भोगभूमि को चुनौति देते थे । नाति उच्च पर्वत श्रेणियों पर निवास करने वाले अपने प्रसादों से अलकापुरी को भी जोतते थे । सुमधुर पय पूरित सरितायें अपने संगीतमय कर्ण प्रिय कल-कल निनाद से मानों इस देश के सुख सौभाग्य का मञ्जलगान ही कर रही थीं । सर्वत्र सुख शान्ति का वातावरण था । नर-नारियाँ कुटिलता रहित, धर्मध्यान परायण परस्पर ईर्ष्या द्वेष भाव रहित थे । सर्वत्र जयनाद मूँजता रहता था । यत्र तत्र, सर्वथा भोगों से विरक्त मुनि आर्यिकावृद्ध विचरण कर संसार शरीर भोगों की असारता का दिग्दर्शन कराकर भव्य जीवों को सन्मार्ग प्रदर्शन करते थे । कोई भी निरर्गल प्रवृत्ति आचरण नहीं करता था । इस प्रकार यह देश विश्व का अद्वितीय आदर्श था जो अपनी कला, कौशल, दाक्षिण्य और वैभव से चक्रवर्ती सदृश निरंकुश, निराबाध शत्रुविहीन निर्द्वन्द्व प्रतीत होता था । वहाँ के लोग प्रायः रोग शोकादि से विमुक्त थे । सभी अपने अपने कर्त्तव्यों में निष्ठ चारों पुरुषार्थों में समान रूप से प्रवृत्ति कर मानवोचित सुख सम्पदा का उपभोग करते थे । यहाँ के वनोद्यान आदि अद्वितीय सुषमा से परिब्याप्त हो भोगियों के चञ्चल मन को डीवाडोल करने वाले थे । सर्वत्र मधुर सुपक्वफलादि सुलभता से उपलब्ध होते थे । वस्तुतः यह चक्रवर्ती समान ही अनोखा देश था । नदियों को छोड़कर अन्यत्र कुटिलता नहीं थी ॥ ३५ ॥

नानाकारै विभातिस्म यो देशस्संपदां शतैः ।

भव्यानां पुण्यपाकेन निवेशो वा जगच्छ्रियः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(यो देशः) जो देश अर्थात् वह मगध नामक देश (नानाकारैः शतैः) नाना प्रकार के सैकड़ों आकारों वाली (सम्पदां शतैः) सैकड़ों सम्पदाओं के द्वारा (विभातिस्म) सुशोभित होता था । (वा) मानो (भव्यानां) भव्य जीवों के (पुण्यपाकेन) पुण्य के फलने से (जगच्छ्रियः) जगत् श्री का, संसार विभूति का (निवेशो) मूर्ति रूप आकार था ॥ ३६ ॥

भावार्थ—वह मगध देश सर्वप्रकार की सुख सामग्री से सम्पन्न था । पञ्चेन्द्रियों के विषयों की वीर्य सुलभता से हो जाती थी । ऐसा प्रतीत होता था मानों वहाँ के भव्य जीवों का पुण्यकर्म मूर्तिमान होकर ही फल रहा है, क्योंकि “भाग्यं फलति सर्वत्र” कहावत यहाँ प्रत्यक्ष प्रचलित थी ॥ ३६ ॥

यत्रमार्गेषु सत्तुङ्गास्सफलास्सर्वपादपाः ।

सच्छायातपिणो नित्यं पान्थानां सज्जना यथा ॥३७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ अर्थात् उस मगध देश के (मार्गेषु) मार्गों में (सत्तुङ्गा) विशाल, ऊँचे (सफलाः) सुस्वादु मधुर फलों से भरे हुए (नित्यं) सतत (पान्थानां) पथिकों को (यथा) जिस प्रकार (सज्जनाः) सत्पुरुष तृप्ति संतोष देने वाले होते हैं उसी प्रकार (सच्छायातपिणो) उत्तम सघन छाया से सन्तुष्ट करने वाले (पादपाः) वृक्ष थे ।

भावार्थ—उस मगध देश के मार्गों में दोनों तरफ सुन्दर फल फूलों से भरे हुए सघन वृक्ष थे जो सज्जन पुरुषों के समान पथिकों को छाया प्रदान कर उनके श्रम जन्य थकान को दूर कर उन्हें निरन्तर सुखी रखते थे ॥ ३६ ॥

नालिकेरास्र खज्जुरवृक्षास्सप्तच्छदादयः ।

यत्र नित्यं फलन्तिस्म भव्यानां वा मनोरथाः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(भव्यानां मनोरथा वा) भव्य जीवों के मनोरथों, अभिलाषाओं के समान (यत्र) जहाँ—उस मगध देश में (नालिकेरास्र) नारियल, आम (खज्जुरवृक्षाः) खजूर के वृक्ष (सप्तच्छदादयः) सप्तच्छदादि पुष्पपादप (नित्यं फलन्तिस्म) सदा फलीभूत-हरे भरे रहते थे ।

भावार्थ—जिस प्रकार पुण्यात्मा भव्य जीवों को उनकी इष्ट सामग्री अनायास प्राप्त हो जाती है उनकी मनोकामनायें नित्य फलीभूत होती रहती हैं, उसी प्रकार उस मगध देश के नारियल, आम, खजूर, सप्तच्छद आदि विविध प्रकार के उत्तमोत्तम वृक्ष फल फूलों से सदा भरे रहते थे । निरन्तर हरे भरे मनोज्ञ दीखते थे और सबके लिये उपयोगी एवं सुखकर थे । अभिप्राय यह है कि मात्र पुण्य ही जीव को सुख साता देने वाला है । उस मगध देशवासियों के पुण्य से वहाँ अकाल दुष्काल, सुखा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कभी नहीं होते थे । सभी वृक्ष, पेड़, पौधे, ऋतु के अनुसार उत्तम फलों फूलों से भरे हुए भव्य पुरुषों की सेवा में रत रहते थे ॥ ३८ ॥

स्वच्छतोयानि भान्तिस्म यत्र नित्यं जलाशयाः ।

पद्मान्विता विशालाश्च ते सतां भानसो यथा ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यथा सतां भानसो) सत्पुरुषों उदार हृदय के समान (विशालाः) विशाल, विस्तृत (पद्मान्वितास्वच्छतोयानि जलाशयाः) कमलपुष्पों से युक्त स्वच्छ जलवाले जलाशय—तालाब (यत्र) जहाँ अर्थात् उस मगध देश में (नित्यं भान्तिस्म) सदा सुशोभित रहते थे ।

भावार्थ—सत्पुरुषों का मन विषय विकारों से रहित निर्मल होता है । उसी प्रकार

उस मगध देश के सरोवर—जलाशय अति विस्तृत, निर्मल शीतल मधुर जल से भरे हुए थे । उनमें मनोहर विविध प्रकार के पुण्डरीक, पङ्कज, कमल प्रकुलित थे तथा अपनी सुगन्धि से भव्य जनों के मन को आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ थे ॥ ३६ ॥

यत्र भव्या जितेन्द्राणां तीर्थयात्रादिकर्मभिः ।

प्रतिष्ठाभिर्गण्डिष्ठानि सञ्चयन्ति सदा शुभम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (भव्या) भव्यजीव (सदा) निरन्तर (जितेन्द्राणां) जिन प्रतिमाओं की (गण्डिष्ठाभिः प्रतिष्ठाभिः) महान पञ्चकल्याण प्रतिष्ठाओं द्वारा (तीर्थयात्रा-दिकर्मभिः) निर्वाण भूमि आदि तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा, वन्दना आदि के द्वारा (शुभं) पुण्य कर्म को (सञ्चयन्ति) सञ्चित करते हैं ।

भावार्थ—उस मगध देश के श्रावक श्राविका सदैव धार्मिक क्रिया-अनुष्ठानों में संलग्न रहते थे । सभी अपने षट् कर्मों—जितेन्द्र पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दानादि कार्यों में दत्त चित्त रहते थे । पञ्चामृत अभिषेक कर अष्टद्रव्यों को क्रमशः मन्त्रों-च्चारण करते हुए भगवपूर्वक जिन भगवान को चढ़ाना जिनपूजा है ।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर, बीतरागी सच्चे साधुओं, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकादि की यथा योग्य, यथा शक्ति भक्ति, स्तुति, नमन सेवादि करना गुरुपास्ति है । यहाँ ध्यान रहे कि बाध्य अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही सद्गुरु कहलाते हैं । परिग्रहधारी कदापि सद्गुरु नहीं हो सकता है । पूर्वापर विरोध रहित, सर्वज्ञ कथित, परम्पराचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों का एकाग्रचित्त से त्रियोग शुद्धि पूर्वक विनय सहित अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

पाँचों इन्द्रियों और मन को विषयों से विरत करना अर्थात् वश में करना तथा षट् काय के जीवों को रक्षा करना संयम है ।

आत्म शोधन के लिये व्रत उपवासादि करना तप है ।

उत्तम मध्यम अधन्य पात्रों को यथा योग्य यथा विधि आहार दान, ज्ञान दान, औषधदान और अभयदान करना, दान कर्म है । दान पात्र को ही किया जाता है । मिथ्याहृष्टियों को देना दयादत्ति है । उस देश के नर नारी धर्मपरायण, अपने अपने कर्तव्य पालन में दक्ष-दत्तचित्त थे । सभी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का यथायोग्य सेवन करने वाले थे । इसलिये उनके आभि, व्याधि रोग संताप नहीं होते थे । सर्वजन सर्वतः सुखी और सम्पन्न थे । ठीक ही है धर्म ही एक मात्र जीव का कल्याण करने वाला है ॥ ४० ॥

वनेऽरण्ये तगेषूचैर्यत्र नित्यं मुनीश्वराः ।

साधयन्ति सदाचारैः सारं स्वर्गापवर्गकम् ॥४१॥

अन्वयार्थ — (यत्र) जहाँ—जिस मगध देश में (नित्यं) निरन्तर (वने) जंगल में (अरण्ये) सघन वन में (नगेषु) पर्वतों पर (मुनीश्वराः) वीतरागी दिगम्बर साधुगण (सारं स्वर्गापवर्गकम्) सारभूत स्वर्ग और मोक्ष को (उच्चैः सदाचारैः) श्रेष्ठ आचार-तपश्चरणादि रत्नत्रय साधना के द्वारा (साधयन्ति) सिद्ध करते हैं ।

भावार्थ — वह मगध देश अद्भुत था । वहाँ भव्यजन अनेकों—अपूर्व विभूतियों को पाकर भी विषयासक्त नहीं होते थे अपितु समयानुसार गृह त्याग, सम्यक् तप धारण कर आत्मसाधनार्थ कठोर तपश्चरण करते थे । संयम धारण महाव्रती हो जाते थे । आत्म शोधन में दत्तचित्त ध्यानारूढ़ हो कर्णकलङ्क का विनाश कर यथायोग्य स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि करते थे । अतः सर्वत्र मुनिदर्शन सुलभता से प्राप्त हो जाते थे । सतत सदाचार-सम्यक् चारित्र की वाटिका फलती फूलती रहती थी ॥ ४१ ॥

स्वर्गागतैर्जनैर्यत्र कृत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ।

दानपूजातपशीलं प्राप्यते सुखमुत्तमम् ॥४२॥

अन्वयार्थ — (यत्र) जहाँ पर (स्वर्गागतैर्जनैः) स्वर्ग से अवतरित हुए मनुष्य के द्वारा (जिनेशिनाम्) जिनेन्द्र प्रभु के अर्थात् जिन शासन में वर्णित (दान पूजातपशील धर्म) चतुर्विधदान, जिन पूजा तप और शील रूप धर्म को (कृत्वा) पालकर (उत्तमम्) श्रेष्ठतम (सुखं) सुख (प्राप्यते) प्राप्त कर लिया जाता है ।

भावार्थ — उस पुण्य रूप भूमि-क्षेत्र में स्वर्ग की आयु पूर्ण कर पुण्यात्मा जीव जन्म लेते हैं । पुण्य रूप धार्मिक संस्कारों के अनुसार वे श्रद्धापूर्वक जैनधर्म का ही आचरण करते तथा श्रावकधर्म का अर्थात् दान, पूजा, शील तप आदि का आचरण करने वाले थे । स्त्री पुरुष सभी सदाचारी, शीलवान् दयालु और धर्मज्ञ थे । नारियाँ पातिव्रतादि गुणों से मण्डित और पुरुष भी उसी प्रकार सत्कर्मी सज्जन थे । महिलायें अपने गृहाचार में दक्ष थीं । क्षमा, दया-शोलादि से मण्डित तत्त्वज्ञ और सम्यक्त्व गुण युक्त थीं । सभी आमोद प्रमोद से सात्विक सरल जीवन यापन करते थे । ॥४२॥

इत्यादि सम्पदोपेतः स देशो मगधाभिधः ।

वर्ण्यते केन यत्रोच्चैः प्रभावं जगद्भुतम् ॥४३॥

अन्वयार्थ — (मगधाभिधः देशो) मगध नामक देश, जो (इत्यादिसम्पदोपेतः) पूर्वोक्त-वर्णित वैभव से सहित था उसका (जगद्भुत प्रभावं) जगत-आश्चर्यकारी प्रभाव (उच्चैः) विशेषताओं के साथ (केन) किसके द्वारा (वर्ण्यते) वर्णित किया जा सकता है ?

भावार्थ — यहाँ आचार्य कहते हैं कि अनुपम वैभव से युक्त उस मगध देश की शोभा अनिवेचनीय एवं आश्चर्यकारी थी ॥४३॥

इन्द्रादयस्सदा यत्र सभागत्य निरन्तरम् ।

प्रत्यक्षं श्री जिनाधीशं पूजयन्तिस्म साङ्गना ॥४४॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष रूप में (इन्द्रादयः) स्वर्ग के इन्द्रादि देव (सदा तत्र सभागत्य) सदा जहाँ आकर (निरन्तरम्) निरन्तर (जिनाधीशं) जिनेन्द्रप्रभु का (पूजयन्ति-स्म) पूजते थे ।

भावार्थ—स्वर्गलोक के इन्द्रादि देव भी उस मगध देश की शोभा से आकृष्ट होकर आया करते हैं और अति विजाल भव्य जिनभवनों में विराजमान जिनेन्द्र प्रभु की पूजा करते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है उस मगध देश की शोभा कथञ्चित् स्वर्ग से भी अधिक मनोहर है ।

पुरं राजगृहं तत्र पुरन्दर पुरोपमम् ।

पञ्च सप्ततलोल्लङ्घ गृहा यत्र निरन्तरम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उस मगध देश में (पुरन्दरपुरोपमम्) इन्द्रपुरी के समान (राजगृहं पुरं) राजगृह नामक नगरी है (यत्र) जहाँ (निरन्तरम्) व्यवधान रहित अर्थात् पंक्तिबद्ध (उल्लङ्घ) ऊँचे (पञ्चसप्ततल) पाँच-सात मंजिल के (गृहा) मकान हैं ।

भावार्थ—उस मगध देश में इन्द्रपुरी के समान अति सुन्दर और वैभवशाली राज-गृह नामक नगरी है, जहाँ सामान्य नगर निवासियों के मकान भी ऊँचे ऊँचे पाँच सात मंजिल वाले हैं । पंक्ति बद्ध वे मकान अति मनोहर प्रतीत होते हैं ॥४५॥

नानावर्णध्वजाव्रतैर्मरुद्धूतैर्मनोहरैः ।

लसद्धाटककुम्भाद्यैः स्वर्गं वा हसतिस्मयत् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(नानावर्ण) अनेक प्रकार के वर्णवाले (मनोहरैः) मनोहर (मरुद्धूतैः) पवन से दोलायमान (ध्वजाव्रतैः) ध्वजाओं से और (धाटककुम्भाद्यैः) सुवर्णमय कलशों से (लसत्) शोभायमान वे प्रासाद ऐसे मालूम पड़ते हैं मानों (यत् स्वर्गं वाहसतिस्म) स्वर्ग परिहास कर रहा था । अर्थात् स्वर्गलोक के विमानों या भवनों के समान रमणीक हैं ।

भावार्थ—सभी प्रासादों के शिखर पर ध्वजारों फहरा रही हैं, और सुवर्ण मय कलश उनके शिखरों पर लगे हैं जिससे उनकी शोभा स्वर्ग के विमान के तुल्य दोखती है अथवा स्वर्गलोक ही उठकर यहाँ आ गया है ऐसा प्रतीत होता है ।

— यत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां रत्नतोरण संयुताः ।

स्वर्गापवर्ग मार्गा वा प्रासादाः प्रविरेजिरे ॥४७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (रत्नतोरण संयुताः) रत्नमय तोरण युक्त द्वारवाले (श्रीमज्जिनेन्द्राणां प्रासादाः) जिनालय (प्रविरेजिरे) सुशोभित हैं जो मानों (स्वर्गपवर्ग-मार्गा वा) स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग रूप हैं ।

भावार्थ—स्वर्गलोक, जिन भवन के समान अनुपम द्रवि को धारण करने वाले, ध्वजा, कलश, तोरण युक्त द्वारों से युक्त वे भवन ऐसे मालूम पड़ते हैं मानों स्वर्ग और मोक्ष में जाने के लिये श्रेष्ठ मार्ग निर्मित किये गये हैं । जिनायतन, जिनविम्ब, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में हेतु हैं अतः यहाँ भव्य जिनालयों को स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग स्वरूप कहा गया है ॥४७॥

यत्पुरं सर्वदा सर्वेधनैर्धान्यैर्जनोत्करैः ।

नानावस्तुशतैः पूर्णं मणिमुक्ताफलादिभिः ॥४८॥

अन्वयार्थ—(सर्वैः धनैः धान्यैः) सभी प्रकार के धन धान्यों से (जनोत्करैः) जन-समूहों से (नानावस्तुशतैः) अनेक प्रकार के सुन्दर सैकड़ों पदार्थों से (मणिमुक्ता फलादिभिः) मणिमुक्ता फलादि से (यत् पुरं) जो राजगृह नगरी (सर्वदा) सदाकाल (पूर्ण) भरी रहती है ।

भावार्थ—उस राज गृह नगर में रहने वाले नागरिक धन-धान्य, मणि-मुक्ता फलादि तथा श्रेष्ठ बन्धु बान्धवों से युक्त सर्वतः सुखी और सम्पन्न हैं ॥४८॥

भव्यानां पुण्यतो नित्यं चारुपञ्चेन्द्रियोचितैः ।

भोगोपभोगसन्दोहैः संजातं पुण्यपत्तनम् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(नित्यं पुण्यतो) निरन्तर पुण्य कार्य करते रहने से (चारु-पञ्चेन्द्रियो-चितैः) पञ्चेन्द्रियों के विषय भूत योग्य उत्तम पदार्थों और (भोगोपभोगसन्दोहैः) भोगोपभोग के समस्त पदार्थों से युक्त (पुण्यपत्तनं) पुण्यशाली नगर को (भव्यानां संजातम्) भव्य जीवों का जन्म होता है ।

भावार्थ—वह राजगृह नगरी भोगोपभोग के समस्त उत्तम वस्तुओं से भरी पूरी थी । उस पुण्यमय देश में जन्म की प्राप्ति का होना भी पुण्य का फल है (जैसा कि आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने लिखा है—

धर्मरामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थं सौख्यानि ।

संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनुयैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१६ आत्मानुशासन०॥

अर्थात् इन्द्रिय विषयों के रोवन से उत्पन्न होने वाले सब सुख इस धर्म रूपी उद्यान में स्थित वृक्षों के फल हैं । इसलिये हे भव्य जीव ! तू जिन किन्हीं उपायों से उन धर्म रूपी उद्यानों के वृक्षों की भले प्रकार रक्षा कर उनसे इन्द्रिय विषय जन्य सुख रूपी फलों का संचय कर ।

प्रकृत श्लोक में भी इसी अभिप्राय की पुष्टी है अर्थात् सांसारिक सुख सामग्री भी धर्म से या पुण्य से प्राप्त होती है ॥४६॥

यत्पुर्याश्च चतुर्दिक्षु वनादौ श्री जिनालयाः ।

रत्नादिप्रतिमोपेताः सुरेन्द्राद्यैस्समर्चिताः ॥५०॥

सर्वदा भव्य सन्दोहैः महास्तोत्रशतैश्शुभैः ।

गीतैर्नृत्यैश्च चादित्रैर्भान्तिस्मोर्जगद्धिताः ॥५१॥

अन्वयार्थ—(यत्पुर्याः च) और उस राजगृह नगरी के (चतुर्दिक्षु) चारों ओर (वनादौ) वन-उद्यानादि में (सुरेन्द्राद्यैः) देवेन्द्रों द्वारा (समर्चिताः) सम्यक् प्रकार पूजित (रत्नादिप्रतिमोपेताः) रत्नादि की उत्तम प्रतिमाओं से युक्त (श्री जिनालयाः) रत्नतोरणादि विभूतियों से सम्पन्न जिनालय हैं । (जगद्धिताः च) जगत का हित करने वाले वे जिनालय (सर्वदा) निरन्तर (भव्यसन्दोहैः) भव्य जनों से (महास्तोत्र शतैश्शुभैः) श्रेष्ठ मनोज्ञ भक्ति-रस से भरे महास्तोत्रों से (गीतैः नृत्यैः च) गीत और नृत्यों से (भान्तिस्म) शोभित थे ।

भावार्थ—वह राजगृह नगरी साक्षात् जिनधर्म की मूर्ति स्वरूप भाषती है । उसके चारों ओर रमणीय वन और उद्यान हैं । उनमें सर्वत्र विशाल-विशाल घंटा तोरण और ध्वजाओं से अलंकृत जिनालय हैं । उनमें अति मनोज्ञ, पापहारी, सौम्य जिनत्रिम्ब विराजमान हैं । यहां जिन पूजन के लिये आये हुए देव इन्द्र सुरेन्द्र, नागेन्द्र तथा नर-नारी नृत्य, गान स्तुति स्तोत्रों से सातिशय पुण्य का संचय करते हैं । जिन भक्ति अनन्त अशुभ कर्मों का संहार करने वाली और प्रभूत पुण्य की कारण है । पापनाशन और पुण्यवर्धन के साथ परिणाम शुद्धि और आत्मशुद्धि की भी कारण है तथा परम्परा से मोक्ष की साधक है । तभी सुरेन्द्र भी अपने स्वर्गीय वैभव भोग विलास का त्याग कर जिनेश्वर की पूजा भक्ति में लीन हो जाते हैं तथा अकृत्रिम चैत्यालयों में पर्व के दिनों में पूजा स्तुति कर पुण्यार्जन करते हैं ॥५०॥५१॥

अत्र जिनप्रतिमाओं के दर्शन का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं—

येषां दर्शनमात्रेण भव्यानां पश्यतान्तराम् ।

पापं प्रयाति तत्कालं भास्करेण यथा तमः ॥५२॥

अन्वयार्थ - (येषां) जिन प्रतिमाओं के (दर्शनमात्रेण) दर्शनमात्र से (भव्यानां पापं) भव्य जीवों का पाप (पश्यतान्तराम्) तत्क्षण (यथा भास्करेण तमः) सूर्य के द्वारा नष्ट किये गये अन्धकार के समान (तत्कालं) तत्क्षण (प्रयाति) नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—महा भयंकर सघन अन्धकार भी सूर्योदय के होते ही विनोद हो जाता है उसी प्रकार जिनत्रिम्ब का दर्शन करते ही भव्यजनों का पापकर्म रूपी अंधकार तत्काल

विलीन हो जाता है । अतः पाप पुञ्जरूपी सबन तम को दूर करने का तथा आत्मशोधन का श्रेष्ठ साधन जिनविम्ब दर्शन है ॥५२॥

चम्पकाभ्रादि वृक्षाद्यैस्सफलैस्सजलाशयैः ।

मोह्यन्तिस्म ते चित्तं सतां पुण्याकरायथा ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यथा पुण्याकरा) पुण्य के आकार—खजाने के समान (सफलैः) फलों से भरे हुए (चम्पकाभ्रादि वृक्षाद्यैः) चम्पक आभ्रादि वृक्षों से मंडित (ते) वे जिनालय (सतां चित्तं) सज्जनों के चित्त को (मोह्यन्तिस्म) मोहित करते रहते थे ।

भावार्थ—वन प्रान्तों में स्थित—निर्मित वे जिनालय पुण्य के खजाने के समान थे, प्रचुर पुण्यास्रव के कारण स्वरूप थे तथा फल पुष्पों से व्याप्त चम्पकादि वृक्षों से व्याप्त अति मनोज्ञ वे जिनालय सज्जनों के चित्त को हरण करने वाले थे ॥ ५३ ॥

तथा तत्र पुरोत्पन्न भव्यास्सद्धर्मशालिनः ।

रूप सौभाग्यसम्पन्ना जयन्तिस्म सदा सुरान् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(तथा तत्र पुरोत्पन्न) और वहाँ राजगृह नगरी में उत्पन्न (सद्धर्म-शालिनः) सद्धर्म—जिनधर्म के अनुयायी (रूप सौभाग्य सम्पन्ना) रूप और सौभाग्य सम्पन्न (भव्याः) भव्य जन (सुरान्) देवों को अर्थात् स्वर्गीय सुख सम्पत्ति को भी (सदा) हमेशा (जयन्ति स्म) जीतते थे, तिरस्कृत करते थे ।

भावार्थ—स्वर्गीय सुख सम्पत्ति से भी अधिक वैशिष्ट्य उस राजगृह नगरी का था । स्वर्ग में यद्यपि देवों को दिव्य भोग सामग्री प्राप्त है पर वहाँ भी एक दूसरे के वैभव को देख-कर वे मानसिक दुःखों से दुखी रहा करते हैं पर राजगृह नगरी में रहने वाले धर्मनिष्ठ नागरिकों का जीवन सर्वतः सुखी था अर्थात् शारीरिक, मानसिक आकस्मिक आदि किसी प्रकार का दुःख उनको नहीं था ॥५४॥

यत्र नार्यस्सुरूपाढ्यास्सम्यक्त्व व्रत मण्डिताः ।

दिव्या भरणवस्त्राद्यैर्लज्जयन्तिस्म देवताः ॥५५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ अर्थात् उस राजगृह नगरी में (सुरूपाढ्याः) सुन्दर रूपा-कृति वाली (सम्यक्त्व व्रतमण्डिताः) सम्यग्दर्शन और उत्तम व्रतादि आभूषणों से सुशोभित (नार्यः) नारियाँ (दिव्याभरणवस्त्राद्यैः) दिव्य आभूषण और वस्त्रादि से (देवताः) देवाङ्गनाओं को (जयन्तिस्म) जीतती थीं ।

भावार्थ—उस राजगृह नगरी में उत्पन्न स्त्रियों का पुण्य स्वर्ग की देवाङ्गनाओं से भी अधिक था, जिसके फलस्वरूप उनको ऐसे सुन्दर रूप की प्राप्ति हुई जो देवाङ्गनाओं में भी

अनुपलब्ध था अर्थात् वे अपने रूप से देवाङ्गनाओं के भी रूप को जीतने वाली थीं । कहा भी है—“भक्तेः सुन्दर रूपं” भक्ति से सुन्दर रूप की प्राप्ति होती है ॥१५॥

सन्तो यत्र जनास्सर्वे दानपूजा तपोव्रतैः ।

सम्यक्त्वशीलसम्पन्ना साधयन्तिस्म तत्सुखम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ अर्थात् उस राजगृह नगरी में (सम्यक्त्वशील सम्पन्ना) सम्यग्दर्शन और शील सदाचार से युक्त (सन्तो) होते हुए (सर्वजनाः) सब लोग (दानपूजा-तपोव्रतैः) दान, पूजा, तप और व्रतों के द्वारा (तत्सुखं साधयन्तिस्म) उत्तम मोक्ष सुख को साधते थे ।

भावार्थ—जिस प्रकार नौका विशाल नदी को भी पार कराने में साधक होती है उसी प्रकार दान पूजा तप व्रतादि शुभोपयोग की क्रियायें भी मोक्ष की प्राप्ति में कम से साधक होती हैं । “पुनाति आत्मानं पुण्य” ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी और अकलंकदेव स्वामी ने भी लिखा है । शुभोपयोग से पाप क्षय होता है अतः वह आत्म शुद्धि का साधक है । पाप रूप धातियाँ कर्म की प्रकृतियों को नष्ट करने से केंद्रस्थ की प्राप्ति होती है पुण्य रूप प्रकृतियों को नष्ट करने से नहीं अर्थात् अरहन्त पद की प्राप्ति में बाधक पाप रूप प्रकृतियाँ हैं । अरहन्त पद मिलने के बाद सिद्ध पद तो सहज स्वभाव से मिलेगा ही, उसमें कोई सन्देह नहीं । अतः उस नगरी के लोग निरन्तर सातिशय पुण्य रूप कार्यों में तत्पर रहते थे ॥१६॥

यत्र भव्यास्सदासर्वे महादान प्रवाहतः ।

कान्तालताः सुवस्त्राद्यैः रेजिरेवासुरद्रुमाः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(महादान प्रवाहतः) महादान के प्रवाह से अर्थात् निरन्तर चारों प्रकार का दान करते रहने से (यत्र सर्वे भव्याः) जहाँ सभी भव्य पुरुष तथा (सुवस्त्राद्यैः) सुन्दर वस्त्रादिकों से (कान्तालताः) कामिनी स्त्रियाँ (सुरद्रुमाः) कल्पवृक्ष के समान (रेजिरे) शोभित थीं ॥१७॥

एवं तत्र वसन्तिस्म सन्तस्स्वपुण्यपाकतः ।

धर्मार्थकामसम्पन्ना भाविमुक्तिवसुन्धराः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (तत्र) उस पुण्य नगरी में (स्वपुण्यपाकतः) अपने-अपने पुण्योदय से (धर्मार्थकाम सम्पन्नाः) धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों के साधक (भावि-मुक्तिवसुन्धराः) निकट भविष्य में मुक्ति पाने वाले (सन्तः) सज्जन पुरुष (वसन्तिस्म) निवास करते थे ॥१८॥

भावार्थ—उस नगरी के सभी लोग निकट भविष्य में मोक्ष को देने वाले चारों पुरुषार्थों की सिद्धि में यत्नशील थे । धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है, अर्थ से काम सिद्ध होता है तथा

तीनों के समानुपात सेवन से अन्ततः वैराग्य को प्राप्त हुए वे भव्य जीव निश्चय से मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥५८॥

यत्र पुत्रोत्सवैर्नित्यं जिनपूजा महोत्सवैः ।

विवाहमङ्गलैश्चापि पुरं वा तन्मयं बभौ ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ अर्थात् उस राजगृह नगरी में (नित्यं) निरन्तर होने वाले (पुत्रोत्सवैः) पुत्र जन्मोत्सवों से (जिनपूजा महोत्सवैः) जिनपूजा महोत्सवों से (चापि) और भी (विवाहमङ्गलैः) विवाहोत्सवों से (पुरं) वह नगरी (तन्मयं बभौ) उत्सव रूप ही हो गयी थी ।

भावार्थ— उस नगर में पुत्र जन्मोत्सव के समय धर्मात्मा भव्य जन उस निमित्त से जिनाभिषेक, पूजा विधानादि भी कराते थे । जिनालयों में नाना प्रकार के चन्द्रोपक, छत्र, चमर, घंटा, माला आदि उपकरण बढ़ाकर धर्म प्रभावना करते थे । ध्वजा तोरणादि से जिन भवनों को सुसज्जित करते थे । इसी प्रकार विवाह आदि माङ्गलिक कार्यों में भी जिनाभिषेक पूजादि करते कराते थे । पर्वकाल में व्रत, उपवास के उद्यापनादि के उपलक्ष में अनेकों उत्सवोत्सव द्रव्यों से जिनपूजादि कराते थे तथा स्वयं भी करते थे । इस प्रकार वहाँ प्रतिदिन कोई न कोई उत्सव होते ही रहते थे जिससे वह नगरी ही मङ्गलमयी प्रतीत होती थी ॥ ५९ ॥

एवं शोभाशतैर्युक्ते तस्मिन् राजगृहे पुरे ।

राजाऽभूच्छ्रेणिको नाम सम्यग्दृष्टि शिरोमणिः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (तस्मिन्) उस (राजगृहे पुरे) राजगृह नगर में (सम्यग्दृष्टि शिरोमणिः) सम्यग्दृष्टियों में अग्रगण्य (श्रेणिको नाम) श्रेणिक नामक (राजाऽभूत्) राजा हुआ ।

भावार्थ— उस राजगृह नगर में क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक नामक राजा था । वह जिनधर्म सेवी और तत्त्वों पर अटल विश्वास करने वाला था अर्थात् सम्यक् दृष्टियों में तिलक स्वरूप था ॥ ६० ॥

प्रतापनिजिताराति मण्डलो महिमास्पदः ।

भास्करो वा द्वितीयोऽयं कुमारगतिमिरापहः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(स) वह राजा (प्रतापनिजितारातिमण्डलो) जो अपने प्रभुत्वप्रताप से जङ्गलसमूह को जीत चुका था (महिमास्पदः) महिमा का स्थान ही हो गया था (वा) अथवा मानो (अयं) यह नृपति (कुमारगतिमिरापहः) छोटे मार्गरूपी अंधकार को नष्ट करने वाला (द्वितीयो) दूसरा (भास्करो) सूर्य ही था ।

भावार्थ—भास्कर देव के उदयाचल पर आते ही जिस प्रकार रात्रिजन्य सधन अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार महाराज श्रेणिक के न्यायनीति सदाचार द्वारा अन्याय और कुमार्ग रूपी अन्धेरा नष्ट हो गया था अर्थात् उसके प्रभुत्व से कोई भी सत्पथ का उल्लंघन नहीं करता था परस्पर कलह विसंवाद नहीं था । पारस्परिक प्रेम स्नेह बढ रहा था । आमोद प्रमोद से प्रजा रहती थी । सभी आज्ञाकारी विनयी दयालु, उत्साही धर्मपरायण और जिनभक्त थे । भूपति श्रेणिक के प्रताप से शत्रुगण अनायास मित्र हो गये । उसके सद्ब्यवहार से उसके आधीन हो जाते थे । विजित राजाओं के साथ वह दुर्व्यवहार नहीं करता था । आज्ञाधीन कर उनका राज्य वैभव उन्हें ही प्रदान कर देता था । इस प्रकार उदार मनोवृत्ति, त्याग भाव, वात्सल्य भावना से राजागण उसके सेवक बन गये थे । उसकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करते और अपने को धन्य समझते थे ॥ ६१ ॥

नित्यं सः शान्तभावेन स्वकान्त्या यशसाश्रिया ।

निर्दोषेण व्यजेष्टोच्चैश्चन्द्रबिम्बं सलाञ्छनम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(शान्तभावेन) कषायों की मन्दता या क्षमाभाव से (स्वकान्त्या यशसा) अपनी सुन्दर कान्ति और कीर्ति से (निर्दोषेणश्रिया) न्यायोपात्त लक्ष्मी से (स) उस राजा श्रेणिक ने (नित्यं) निश्चय ही (सलाञ्छनम्) कलङ्की (चन्द्रबिम्बं) चन्द्रबिम्ब को (व्यजेष्ट उच्चैः) निःशेष रूप से जीत लिया था ।

भावार्थ—चन्द्रमा की कान्ति क्रमशः मन्द अथवा तीव्र होती रहती है किन्तु इस श्रेणिक राजा की कान्ति सतत तेजोमय थी । चन्द्रमा की एक एक कला क्रमशः शुक्ल पक्ष में बढ़ती है और कृष्णपक्ष में हीन होती जाती है परन्तु उस राजा की यश रूपी कलायें निरन्तर वृद्धिगंत ही होती रहती थीं । चन्द्रमा का प्रताप दिन में सूर्य के प्रकाश में छिप जाता है किन्तु महाराजा श्रेणिक का प्रताप अपने प्रतिपक्षी शत्रु को पाकर और अधिक द्विगुणित हो उठता था । चन्द्र तो लाञ्छन युक्त है, संसार में कलङ्की कहलाता है लेकिन इस राजा का यश और न्यायोपात्त लक्ष्मीपूर्ण निर्दोष थी । अथवा कलङ्क रहित थी । इस प्रकार उस राजा ने अपने प्रभाव, शान्त व्यवहार, यश, लक्ष्मी और कान्ति से चन्द्रमा को भी तिरस्कृत कर दिया था । चन्द्रमा की उपमा उसे नहीं दी जा सकती है । वह महागुणज्ञ और नीतिज्ञ था । उसके समक्ष चन्द्रमण्डल क्षीण प्रताप और तुच्छ था ॥ ६२ ॥

कल्पवृक्षो जडश्चिन्तामणिः पाषाण एव च ।

कामधेनुः पशुः किं तैस्समोऽयं क्रियते नृपः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(कल्पवृक्षः) इस प्रकार के कल्पवृक्ष (जडः) अचेतन पृथ्वीकाय है (च) और (चिन्तामणिः) चिन्तामणि रत्न (पाषाण एव) एक प्रकार का पत्थर ही है (कामधेनुः पशुः) कामधेनु पशु है (किं अयम् नृपः) क्या यह राजा (तैः समो) उनके समान (क्रियते) किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता है ॥ ६३ ॥

भावार्थ—संसार में कल्पवृक्ष चिन्तामणि और कामधेनु सर्वत्र उपमार्थ प्रख्यात हैं पर ये उपमार्थें राजा श्रेणिक को नहीं दी जा सकती हैं, क्योंकि वह इनसे अधिक प्रभावशाली है । कल्प वृक्ष 10 प्रकार के हैं—१ भोजनाङ्ग २ वस्त्राङ्ग ३ पानाङ्ग ४ भाजनाङ्ग ५ गृहाङ्ग ६ ज्योतिराङ्ग ७ मालाङ्ग ८ दीपाङ्ग ९ वादित्राङ्ग और १० आभूषणाङ्ग । इनसे क्रमशः मनुष्य इच्छानुसार भोजन वस्त्र, पान (पीने की वस्तु) पात्र, घर, प्रकाश, मालाये, दीपक, बाजे और आभूषणादि माँग लेते हैं । चिन्तामणि से चिन्तित वस्तु मिल जाती है । कामधेनु भी कामना पूर्ण करने में समर्थ कही जाती है, पर क्या उस श्रेणिक राजा को इनकी उपमा दी जा सकती है ? नहीं । क्योंकि कल्पवृक्ष सभी पृथ्वीकाय हैं, चिन्तामणि रत्न भी जड़ है—पाषाण विशेष है और कामधेनु तोच गोशृङ्ग पशु जाति है परन्तु महाराजाधिराज श्रेणिक, पञ्चेन्द्रिय मनुष्योत्तम हैं, उच्च कुल, गोत्र, शुद्ध जाति वंश परम्परा सम्पन्न हैं । अतएव कल्प-वृक्ष चिन्तामणि और कामधेनु से भी बढ़कर वे महाराज बिना याचना बिना विचारे जनता की मनोकामना पूर्ण करते थे । मनमाना दान देते थे । उनके राज्य में न कोई याचक था न दीन दरिद्री, न रोगी न शोकी । सब सानन्द, धर्म प्रेमी, कर्तव्यनिष्ठ, सत्यवादी, संयमानुरागी और संतोषी थे । वे भोगोपभोग के प्राचुर्य में भी विवेक और संयम का उपयोग करते थे । उनके कान जिन वचन—मुनि वचन, धर्मोपदेश सुनने में रत रहते थे । नेत्र जिनमुखावलोकन, गुरु दर्शन, तीर्थक्षेत्र दर्शन को आतुर रहते थे, रसना जिन स्तवनादि में, घ्राण, जिनचरणाम्बुजों में चञ्चित गंध केशर की सुवास में और शरीर जिनपूजन, भक्ति, नृत्य, गान, संगीत में रत रहता था । सभी इन्द्रियों के भोग सीमित और आनुपातिक थे । अतः वह श्रेणिक राजा आदर्शिय, उपमातोत और महान् था ॥ ६३ ॥

यो विज्ञानी सुधी ज्ञाता दाता वाञ्छालुरेकतः ।

गम्भीरस्सागरश्चापि महिम्ना मेरुतो महान् ॥६४॥

ग्रन्थवार्थ—(यो) जो अर्थात् वह श्रेणिक राजा (सुधी) ज्ञानी विवेकशील (वाञ्छालुरेकतः दाता) वाञ्छालु भव्य जीवों को सन्तुष्ट करने में अकेले ही समर्थ दाता था । (गम्भीरः सागरश्च) और सागर जैसा गम्भीर (महिम्ना) महिमा की अपेक्षा (मेरुतोर्ध्व महान्) मेरु से अधिक महान् था ।

भावार्थ—राज्य संचालन के साथ-साथ, राजा श्रेणिक धर्म कार्यों में भी सतत सावधान और प्रयत्नशील थे । तत्त्वचिन्तन, स्वाध्याय, ध्यान, दान पूजा आदि में सौत्साह तत्पर रहते थे । जिस प्रकार गङ्गा नदी का प्रवाह तथा उसका पवित्र जल आरोग्यकारी, मधुर शीतल और प्यास को बुझाने वाला होता है उसी प्रकार राजा श्रेणिक याचकों को उसके लिये समस्त इष्ट सामग्री को देने में अकेले ही पूर्ण समर्थ थे । समुद्र के समान गम्भीर राजा श्रेणिक अनेक असंख्य गुणों की खान थे । यथा समुद्र में सब तरफ से गन्दे नालों का जल तथा कूड़े कचरों के साथ बहती नदियों का जल मिलता रहता है पर उससे समुद्र की स्वच्छता निर्मलता का अभिघात नहीं होता है, उसी प्रकार श्रेणिक महाराज नाना उपद्रवों के होने पर भी क्षुब्ध

नहीं होते थे । सामाजिक राजकीय, नगर ग्रामकृत तथा शत्रुकृत उपद्रवों से उनका चित्त दूषित नहीं होता था । अपूर्व धृतिश्रल आदि की अपेक्षा से वे समुद्र के समान गम्भीर थे ॥६४॥

जिनेन्द्रचरणाम्भोजसेवनैकमधुव्रतः ।

यो भवन्मुनिपादाब्जरजो रञ्जितमस्तकः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(यो) जो अर्थात् वह श्रेणिक (मुनिपादाब्जरजो रञ्जितमस्तकः) मुनि-गणों के चरण कमलों की रज से रञ्जित मस्तक वाला (जिनेन्द्रचरणाम्भोज सेवन) जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमलों की सेवा में (भवन्) रहता हुआ (एक) एक अर्थात् अपूर्व अद्वितीय जिनभक्त था (मधुव्रतः) अथवा वह मधुकरों के समूह तुल्य था ।

भावार्थ—जिस प्रकार मधुकर पुष्प का प्रेमी होता है । पुष्प की सुगन्धी को पाकर वह आनन्द विभोर हो जाता है, उसी प्रकार राजा श्रेणिक महाराज जिनदर्शन के अभिलाषी प्रेमी थे । उन्हें जिनचरणाम्बुजों को पाकर अतुल्य सुख आनन्द का अनुभव होता था । उनकी दृष्टि में धर्मानुष्ठान से प्राप्त सुख, पञ्चेन्द्रिय विषय सुख से अनन्तगुणा अधिक था । पञ्चेन्द्रिय विषयों का सुख तो क्षणिक और दुःखोत्पादक है पर धर्माचरण से प्राप्त सुख, दुःख का विधा-तक और स्थाई सुख की स्थापना करने वाला है । अस्तु श्रेणिक महाराज देव शास्त्र गुरु की भक्ति में अपने को निरन्तर रञ्जायमान रखते थे । यद्यपि वे राज्य की सुरक्षा, देखरेख भी करते थे पर उनका चित्त उसमें रञ्जित नहीं होता था ॥६५॥

लसत्किरीटमाणिक्यैर्दिव्यवस्त्रैरलंकृतः ।

पर्यटन् कल्पवृक्षो वा यो बभौ तोषिताखिलः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(किरीटमाणिक्यैः लसत्) मणिमुक्ताओं से जड़ित मुकुट से शोभायमान (दिव्यवस्त्रैरलंकृतः) दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत तथा (तोषिताखिलः) सम्पूर्ण याचकों को सन्तुष्ट करने वाले (पर्यटन् कल्पवृक्षो वा) चलते फिरते कल्पवृक्ष के समान (यो बभौ) जो अर्थात् वे श्रेणिक महाराज शोभते थे ।

भावार्थ—जिस प्रकार भोग भूमि में अवस्थित रत्नभय कल्पवृक्षों की प्रभा सूर्य से भी अधिक होती है उसी प्रकार मुकुट दिव्यवस्त्रादि से अलंकृत राजा श्रेणिक का तेज वा प्रभाव भी अधिक था ।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष इच्छित वस्तु को प्रदान कर याचकों को सन्तुष्ट कर देता है उसी प्रकार श्रेणिक महाराज भी वाञ्छालु को उसकी इष्ट वस्तु देकर सन्तुष्ट कर देते थे । अतः वे वस्तुतः चलते फिरते कल्पवृक्ष के समान दीखते थे ॥६६॥

हस्त्यश्वरथपादाति छत्रसिंहासनादिभिः ।

महामण्डलनाथोऽसौ यो भाश्चक्रधरो यथा ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यो) जो अर्थात् वे श्रेणिक (हस्त्यश्वरथ पादाति) हस्ति, अश्वरथ, पादाति तथा (छत्रसिंहासनादिभिः) छत्र सिंहासनादिकों से (महामण्डलनाथोऽसौ) महामण्डलेश्वर पद के धारो (यथा चक्रधरो) चक्रवर्ती के समान ही (भास्) सुशोभित थे ।

भावार्थ—राजा श्रेणिक महाराज महामण्डलेश्वर राजा था तथा उनका प्रभुत्व चक्रवर्ती के समान था । आठ हजार राजा उनकी सेवा में रत रहते थे । निरन्तर आठ चमर उनके ऊपर ढोले जाते थे तथा देवाङ्गनाओं के समान सुन्दर गुणवती आठ हजार उनकी रानियाँ थीं ॥६७॥

नानारत्नसुवर्णाद्यैस्सम्पूर्णो निधिवत्तराम् ।

भाण्डारो वर्ण्यते केन नित्यदानैश्च तस्य यः ॥६८॥

अन्वयार्थ—(नानारत्नसुवर्णाद्यैः सम्पूर्णो) विविध प्रकार के रत्न और सुवर्णादि से भरे पूरे (निधिवत्तराम्) श्रेष्ठ खजाने के समान (तस्य यः भाण्डारो) उस श्रेणिक राजा का जो भण्डार है वह (नित्यदानैः) निरन्तर दान होते रहने से महिम्ना को प्रकाश (केन वर्ण्यते) किससे वर्णित हो सकता है ? अर्थात् वचनों से उसका वर्णन अशक्य है ।

भावार्थ—धनवन्त श्रीमन्त होना कथञ्चित् सुलभ भी है पर धनवन्त होकर दानी होना अति दुर्लभ है । राजा श्रेणिक से पूर्व भी अनेकों राजा मण्डलेश्वर अर्धचक्री आदि हुए किन्तु उनकी चर्चा हम नहीं करते, उनकी गौरव गाथा को कोई नहीं गाता है । आप पूछें कि ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यही है कि वे दानी नहीं थे, उनमें त्याग वृत्ति का अभाव था । श्रेणिक महाराज के खजाने से किमिच्छक दान निरन्तर होता रहता था । वे सप्त क्षेत्रों में अपनी धनराशि को खर्च करते थे । आगम में सप्त क्षेत्रों में दिये गये दान को मुक्ति का कारण कहा है । उन सप्तक्षेत्रों के नाम इस प्रकार हैं -

“जिन बिम्बं जिनागारं जिन यात्रा प्रतिष्ठितम् ।”

दान पूजा च सिद्धान्त लेखनं क्षेत्र सप्तकम् ॥

(१) जिन बिम्ब स्थापन (२) पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (३) जिनालय निर्माण (४) तीर्थ क्षेत्र की यात्रा (५) पात्र को चारों प्रकार का दान करना (६) जिनपूजा (७) सिद्धान्त लेखन ।

त्याग उत्तम किस्म का साबुन है जैसे साबुन लगाकर कपड़ा धोने से उसका पूरा मल निकल जाता है उसी प्रकार सत्पात्र को दान करने से आरम्भ आदि पञ्च सूना से उपार्जित पाप मल धुल जाता है । इसलिये श्रेणिक महाराज दान में अपने धन का सदुपयोग करते थे ।

पञ्चसूना कौन कौन हैं—प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन चककी पीसना चूल्हा—

सिमड़ी जलाना, ओखली में धान्यादि कूटना, घर को झाड़ना और पानी भरना ये पाँच अनिवार्य रूप से करने ही पड़ते हैं अतः इनसे उत्पन्न आरम्भ जनित पापार्जन स्वाभाविक हैं। इन्हें ही पञ्चसूता कहते हैं। वर्तमान युग मशीनी युग है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य को निष्क्रिय प्रमादी कठपुतला बना दिया है। सारे कार्य मशीन से हो जाते हैं और इस प्रकार कुछ लोग असत्प्रलाप भी करते हैं कि हमें तो पञ्चसूता पाप लगता ही नहीं है। क्योंकि आज आटा पीसने की हाथ से जरूरत नहीं पड़ती। मशीन चक्की पर आटा तैयार हो जाता है। चक्की तो बिजली से चलती है हम हाथ से पीसते नहीं फिर हमें क्यों पापास्रव होगा? तत्जन्य पापास्रव से हम बच गये। चूल्हा फूँकने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि गैस स्टोव आदि साधन हैं और जल के लिये तो कुएँ ही नहीं हैं, पाइप नल लग गये हैं। झाड़ना ब्रुहारना, चटनी पीसना सब कुछ बिजली मशीन से होता है फिर हमें पाप क्यों लगेगा? और पाप ही नहीं आया तो फिर उसे धोने की देवपूजादि षट्कर्म करने की क्या आवश्यकता है? पुण्य रूप साधुन को क्यों संचित किया जाये? इत्यादि। इस प्रकार की धारणा पूर्णतः गलत है, विपरीत है। विद्युत् से तो कई गुणो अधिक हिंसा होती है। जहाँ जहाँ बिजली का संचार होता है वहाँ तक के असंख्यात जीव मरण को प्राप्त हो जाते हैं अतः पञ्चसूता दोष से बचाव नहीं हुआ अपितु प्रमाद अधिक होने से अधिक हिंसा हुई। अतः श्रेणिक महाराज के राज्य में भी दयालु भव्य जीव हिंसात्मक वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते थे। राजा श्रेणिक स्वयं भी शुद्ध विधि से तैयार की गई वस्तुओं का सत्पात्रों को दान करने थे तथा परम विवेकशील थे। हिंसा से भयभीत थे।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतीति नाम भाक् ।

राजविद्याश्चतस्रोऽपि तस्याभवन् फलप्रदाः ॥६६॥

श्रन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार राज्य संचालन में कुशल (तस्य) उस श्रेणिक महाराज की आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नाम वाली चारों ही राजविद्याएँ सफल-उत्तम फल को देने वाली थीं।

भावार्थ—राज संचालन एक बृहद् कला है। राजा अपनी प्रजा का रक्षक पोषक और उत्थान करने वाला होता है। जिस प्रकार माता पिता अपनी संतान का भरण पोषण और सर्वाङ्गीण विकास करते हैं, योग्य बनाते हैं उसी प्रकार योग्य राजा भी अपनी समस्त प्रजा को दुर्गुणों से रक्षित कर सद्गुणों योग्य चारों पुरुषार्थों का साधक बनाता है। शिष्टों का पालन और दुष्टों का निग्रह करता है। जिस प्रकार माता पिता पुत्र के प्रति वात्सल्य के साथ समयानुसार ताड़ना, दण्डादि का प्रयोग भी करते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजा के प्रति समयानुसार साम, दाम, दण्ड भेद का प्रयोग किया करते हैं।

राजाओं की चार प्रकार की नीतियाँ प्रसिद्ध हैं—

(1) आन्वीक्षिकी—शब्दानुसार इसका अर्थ भी है। अर्थात् सूक्ष्म निरीक्षण करना,

अपने बलाबल की पहिचान करना, हिताहित का ज्ञान करना, अच्छा बुरा समझना, सच्चे झूठे का परिज्ञान करना आदि अर्थ आन्वीक्षिकी नीति से परिलक्षित होने हैं । जिस प्रकार रत्नपरीक्षक रत्न की परीक्षा करता है उसी प्रकार राजा, न्याय के लिये सूक्ष्म बुद्धि के प्रयोग रूप ऐसी आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोग करता है ।

(2) त्रयी विद्या—शास्त्रानुसार धर्म अधर्म समझकर उसके सुफल कुफल की विवेचना करना, धर्म को स्वीकार करना और अधर्म का परिहार करना यह त्रयी विद्या है ।

(3) वार्ता—अर्थ अनर्थ को समझकर प्रजाजनों का रक्षण करना पालन करना वार्ता है ।

(4) दण्डनीति दुष्टों का दमन करना, अन्याय को रोकना पापी अपराधी को इस प्रकार दण्ड देना कि वे अपराध त्याग दें और अन्य जनों को उस प्रकार के दोषों से भय हो जाय ताकि वे अपराध ही न करें । इस प्रकार इन चारों विद्याओं का यह संक्षिप्त लक्षण है । (विशेष जानकारी के लिये देखिये महापुराण पर्व नं. ४) भूपति श्रेणिक इन सभी विद्याओं में निष्णात थे इसलिये राज्य में अमन चैन था ॥ ६६ ॥

स बभौ भूपतिनित्यं परैरजि शतैर्वृतः ।

यथा स्वर्गे सुधीशक्रस्संयुतस्सुरसत्तमैः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (स्वर्गे) स्वर्गलोक में (सुधीः) श्रेष्ठबुद्धि वाला (शक्रः) इन्द्र (सुरसन्तमैः) उत्तम अनेक देवों के द्वारा (संयुतः) परिवृत हुआ (वसति) रहता है (तथा) उसी प्रकार (सः भूपतिः) वह राजा श्रेणिक (नित्यं) सतत (परैरजि-शतैर्वृतः) श्रेष्ठ अनेक राजाओं से घिरा हुआ (बभौ) शोभता था ।

भावार्थ—महाराज श्रेणिक के सद्गुणों उदार वृत्ति और स्नेहपूर्ण मित्रवत् व्यवहार से अनेकों श्रेष्ठ राजा उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे । उन सुयोग्य वीर शक्तिशाली राजाओं से परिमण्डित श्रेणिक महाराज इस प्रकार शोभायमान होते थे मानो श्रेष्ठ देवताओं से सेवित बुद्धिमान इन्द्र ही स्वर्ग लोक से आकर यहाँ मर्त्यलोक में राजसिंहासन पर आ दिराजा है । यहाँ श्रेणिक को कवि ने अर्थात् आचार्य श्री ने इन्द्र की तुलना दी है ॥ ७० ॥

तथा स राजितो राजा राज्याङ्गैस्सप्तभिस्तराम् ।

जीवादिसप्तभिस्तत्त्वैर्यथा लोकोऽयमुन्नतः ॥७१॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (जीवादिसप्तभिः तत्त्वैः) जीवादि सात तत्त्वों से (समुन्नतः लोकोऽयम्) समुन्नत यह लोक (राजितो) शोभित है (तथा) उसी प्रकार (राजा)

राजा श्रेणिक (सप्तभिस्तराम्) श्रेष्ठ सप्ताङ्ग (राज्याङ्गैः) राज्यों से (राजितो) शोभित था ।

भावार्थ—जोवादि सप्त तत्त्वों से शोभित लोक के समान सप्ताङ्ग राज्यों से मंडित राजा श्रेणिक शोभते थे । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सप्त तत्त्व हैं । जो ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है वह जीव है और जिनमें ज्ञान दर्शन गुण नहीं पाये जाते हैं वे अजीव हैं । जिन शुभाशुभ परिणामों से कर्म आते हैं वह अथवा कर्मों का आना आस्रव है । कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ संश्लेष संबन्ध को प्राप्त होता है अथवा जिन शुभाशुभ परिणामों से कर्म, दूध और पानी के समान आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वह बन्ध है । आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है अथवा जिन पञ्च महाव्रत आदि समिति, गुप्ति तपादि के धारण करने रूप परिणामों से आते हुए कर्म रुक जाते हैं वह संवर है । तप के बल से बिना फल दिये ही कर्मों का भड़ जाना अथवा कर्मों का यथाकाल फल देकर जाना निर्जरा है अथवा जिन परिणामों से कर्मों का एक देश क्षय होता है वह निर्जरा है । कर्मों को आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष है अथवा आठ कर्मों का, जिन व्युपरत क्रिया निवृत्ति रूप शुक्लध्यान के बल से क्षय होता है वह मोक्ष है । इन सप्त तत्त्वों का योग ही संसार या लोक है । अर्थात् जैसे सप्त तत्त्वों के बिना लोक का समुल्लेख नहीं हो सकता है उसी प्रकार सप्त अङ्गों के बिना राज्य भी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है, समुन्नत नहीं कहा जा सकता है । राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, किला और सेना से सहित राज्य को सप्ताङ्ग राज्य कहते हैं । ऐसे सप्ताङ्ग राज्य के अधिपति श्रेणिक की शोभा सप्त तत्त्वों से शोभित लोक के समान थी ॥७१॥

उक्त सप्ताङ्ग राज्य का निर्देश करते हुए आचार्य लिखते हैं—

स्वाम्यमात्यसुहृदकोष दुर्गदेशबलानि च ।

सप्ताङ्गराज्यमित्याहुर्नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(नीतिशास्त्र विचक्षणाः) नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ पुरुषों ने (स्वाम्यमात्य) स्वामी, मन्त्री, (सुहृद् कोषदुर्गदेशबलानि च) मित्र, कोष, दुर्ग, देश और सेना को (सप्ताङ्ग राज्य) सप्ताङ्ग राज्य (ति आहुः) ऐसा कहा है ॥ ७२ ॥

भावार्थ—सप्ताङ्ग राज्यों का नाम निर्देश प्रस्तुत श्लोक में किया गया है जिनका लक्षण इस प्रकार है ।

(1) राजा—राजा, भूपति, नृपति ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं । शब्द व्युत्पत्ति की अपेक्षा उनका लक्षण इस प्रकार है—जो समस्त प्रजाजनों को राजी रखने वाला हो वह राजा है । समस्त पृथ्वी का जो रक्षक होता है वह भूपति कहलाता है । समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षण करने वाला नृपति कहलाता है ।

(2) मंत्री—जो राजा को राज्य कार्य में योग्य मन्त्रणा या सलाह देने वाला हो तथा समस्त राज्य कार्यों का अधिकारी हो उसे मन्त्री कहते हैं । कहा भी है—

मेधावी प्रतिभाषतो गुणपरो श्रीमान् शीलं पटः ।
भावज्ञो गुणदोषे निपुणता संगीत वाद्यादिषु ।
मध्यस्थो मृदुवाक्य धीर हृदयाः तत्पण्डितो सत्त्विका ।
भाषा भेद सुलक्षणा सुकाविभिः प्रोक्ता श्रुते मंत्रिणा ॥

अर्थात् श्रेष्ठ मंत्री में निम्नलिखित गुणों का सन्निवेश होना चाहिये (1) मेधावी विवेकवान् विद्वान् होना, (2) गुणवान् होना (3) सभी भाषाओं का जानकार होना (4) श्रीमान्—ऐश्वर्यवान् शीलव्रतधारी, सदाचारी होना (५) गुण दोषों की पहचान में निपुण होना (६) संगीत वाद्य आदि कलाओं का भी जानकार होना (७) मध्यस्थ साम्यभावी होना (८) मृदुभाषी धैर्यशील और पण्डित होना चाहिये ।

सप्ताङ्ग राज्य में तीसरा भेद सुहृद् है । सुहृद् का अर्थ मित्र है । जो उत्तम पवित्र हृदय वाला हो वह सुहृद् कहलाता है । कहा भी है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूह्यति गुणान् प्रकटी करोति ।
आपद्गतं न जहाति ददाति काले, सम्मित्र लक्षणाभिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

अर्थ—जो पाप से छड़ाकर आत्महित में लगाने वाला हो तथा गुप्त बातों को या दोष आदि को छिपाकर गुणों को प्रकट करने वाला हो, विपत्तिकाल में साथ नहीं छोड़ता है वही सच्चा मित्र है ।

कोष—राज्य की विशिष्ट धन सम्पत्ति जहाँ रखी जाती है वह कोष है ।

दुर्ग—शत्रु की सुरक्षा के लिये जो ऊँचे कोट युक्त दीवारों से घिरा हुआ स्थान हो उसे दुर्ग कहते हैं । यह सप्ताङ्ग राज्य का पाँचवा भेद है ।

देश—जनपदों का वह निवासस्थान जो अनेक ग्रामों और नगरों से सहित है उसे देश कहते हैं । यह छठा भेद है ।

बल या सेना—जिसके बल से राजा शत्रुओं को जीतता है वह सेना कहलाती है यह सातवाँ भेद है । राजा श्रेणिक का सप्ताङ्ग राज्य भी इसी प्रकार का था ।

सन्धिविग्रहयानाख्यमासनं संश्रयस्तथा ।

द्वैधीभावः षडेते च प्रोक्ता राज्याङ्गता बुधैः ॥७३॥

अन्वयार्थ—(बुधैः) विद्वानों के द्वारा (सन्धिविग्रहयान) सन्धि करना, विग्रह करना, यान रखना (आसनं) आसन—योग्य स्थान (संश्रयः) आश्रयप्रदान (च) और (तथा) उसी प्रकार से (द्वैधी भावः) द्वैधी भाव—दो के बीच विरोध करना (एते) ये (षड्) छः (राज्याङ्गता) राज्य के अङ्ग (प्रोक्ता) कहे गये हैं ।

भावार्थ—राजागण अपने राज्य की स्थिति, वृद्धि और समृद्धि के लिये छः प्रकार के प्रयोग करते हैं । ये ही राज्य के षडाङ्ग कहे जाते हैं । इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) सन्धि—जिस समय राजा अपने शत्रु को अपने से अधिक बलवान् ज्ञात कर लेता है। युद्ध में विजय की अपेक्षा सैनिकों के संहार और असफलता का आभास मिल जाता है तो सुभटों और स्वयं की तथा राज्य की क्षति का विचार कर उसके साथ प्रीति-मेल स्थापित कर लेता है, इस समझौते का नाम सन्धि है।

(२) विग्रह—परस्पर विरोध करना विग्रह है। कोई भी राजा अहंकारवश अपने प्रभुत्व से अन्य राजा पर आक्रमण करता है। उसे अपने आधीन करना चाहता है। युद्ध के लिये उसे आमन्त्रित करता है इस विग्रह कहते हैं।

(३) यान—सवारी को यान कहते हैं। रथ, हस्ती, अश्व, सिंहादि यान कहलाते हैं। वाहन के अभाव में राजा अपनी वा अपने राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकता राज्य रक्षण के लिये योग्य सवारी साधन रहना परमावश्यक है।

(४) आसन—राज सभा आदि स्थानों पर बैठने के लिये विशेष-स्थान विशेष आसन कहलाते हैं। अर्थात् योग्य सम्मान प्रदान के साधन को आसन कहते हैं। किसी भी व्यक्ति के आने जाने पर उचित-योग्य आसन प्रदान करने से प्रीति और न देने से द्वेष विदित होता है। यह भी एक दूसरे के अभिप्राय को अवगत करने का साधन होता है अतः राज्य का विशेष अङ्ग माना जाता है।

(५) आश्रय—आश्रय प्रदान करना। राजाओं के लिये यह महान् उपाय है। जिस समय कोई विरोधी राजा शत्रु दल का आकर अपने में मिलना चाहे तो बुद्धिमान राजा गण उसे अपने दल में आश्रय देकर अपनी शक्ति को बड़ा लेते हैं और सरलता से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। यथा रामचन्द्र महाराज ने शरणागत विभीषण, सुग्रीवादि को आश्रय देकर अपना सैन्यदल विशाल और सुदृढ़ बना लिया और सरलता से लङ्काधिपति रावण को पराजित कर अपना कार्य सिद्ध कर लिया।

(६) द्वैधीभाव—विरोध डालकर-फूट पैदाकर शत्रु को कमजोर बना देना शक्ति विहीन कर उस पर विजय प्राप्त करना, द्वैधी भाव है। कोई राजा बलिष्ठ है तो उसके अनुयायियों में किसी प्रकार विरोध कर फोड़ कर देना, लोभादि से वश करना और शत्रुदल को क्षीण कर देना द्वैधी भाव है।

राजनीति एक पेचीदा राग है। इसमें समयानुसार दावपेच चलाने पड़ते हैं। न्याय अग्याय, प्रेमविरोध, सन्धि विग्रह आदि नाना प्रकार के प्रयत्नों से अपने राज्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः संक्षेप में उपर्युक्त छह धर्मों का ज्ञान और ध्यान राजाओं को रखना चाहिए। महामण्डलेश्वर महाराज श्रेणिक में ये छहों नीतियाँ विद्यमान थीं ॥७३॥

तैश्चराजगूरौः षड्भिः, राजा राजीवलोचनः ।

स रेजे मुनिनाथो वा षडावश्यक-कर्मभिः ॥७४॥

अन्वयार्थ—(राजीव लोचनः) कमल सदृश नेत्रों वाला (स राजा) वह श्रेणिक नृपति (तैः) उन (षड्भिः राजगुरुः) छः राजाओं के गुणों द्वारा (तथा रेजे) उस प्रकार शोभायमान हुआ (यथा) जिस प्रकार (मुनिनाथे) मुनिपुङ्गव—आचार्य (षडावश्यक कर्मभिः) छः आवश्यक कर्मों का पालन कर (रेजे) शोभते हैं ।

० **भावार्थ**—मनुष्य की योग्यता, प्रभुता का आधार—उसकी कर्तव्यनिष्ठता है । जो अपने पदानुसार अपने अधिकारों के रक्षक कर्तव्यों का जितनी कठोरता से पालन करता है उसका जीवन उतना ही प्राञ्जल होकर महान बन जाता है । जैनागम में दिगम्बर साधुओं के अवश्य ही पालन करने योग्य षड् कर्म कहे हैं । जिनका पालन करना यतिधर्म में अनिवार्य है उन्हें आवश्यक कर्म कहते हैं । ये कर्म ६ हैं—१ समता, २ वन्दना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण ५ स्वाध्याय और ६ कायोत्सर्ग ।

(१) **समता**—राग द्वेष का परिहार कर प्राणी मात्र के प्रति समान भाव रखना अथवा सुख दुःख, जीवन मरण, कांच काञ्चन, लाभ अलाभ आदि में साम्य भाव का होना, हर्ष विषाद नहीं करना "समता" है ।

(२) **वन्दना**—२४ तीर्थंकरों या पञ्चपरमेष्ठियों में से किसी एक का गुणगान करना स्तोत्र पढ़ना, वन्दना कहलाती है ।

(३) **स्तुति**—सामूहिक रूप से सभी तीर्थंकरों का स्तोत्र पढ़ना स्तुति कहलाती है ।

(४) **प्रतिक्रमण**—प्रमाद व कषायादि से अपने व्रतों में लगे दोषों का परिहार करते हुए पाठ करना प्रतिक्रमण कहलाता है । प्रति का अर्थ है प्रत्येक और क्रम का अर्थ है चरण अर्थात् प्रत्येक क्रिया के आचरण के प्रति सावधान रहने का उपाय प्रतिक्रमण है ।

(५) **स्वाध्याय**—सर्वज्ञ प्रणीत आगम का आठ प्रकार की शुद्धियों सहित अध्ययन करना, तत्त्वों का अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है ।

(६) **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व त्यागकर खड़े होकर निष्कल ध्यान करना कायोत्सर्ग है । आत्मध्यान के अभ्यास के लिए बैठकर शरीर ममत्व का त्याग भी कायोत्सर्ग है । इस प्रकार ये साधु के छह आवश्यक कर्म हैं । निष्प्रमाद और जागरूक रहकर जो इनका निरतिचार पालन करता है वह उतना ही महान होता है, आत्मीय गुणों से अनंकुत होकर देदीप्यमान होता है । इसी प्रकार राजाओं में जो राजा-राज्य के षड्गुणों का प्रयोग करता है उसका राज्य और वह दोनों ही विशेष यशस्वी, कीर्तिमान और समृद्ध कहलाता है । इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि राजा इस लोक सम्बन्धी राज्य का भोक्ता है और साधु पारलौकिक सुख के भोक्ता होते हैं । दोनों ही को अपने अपने कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है । अतः कर्तव्यपरायणता ही सफलता की कुञ्जी है ॥७४॥

यथा पञ्चाङ्ग मन्त्रेण स प्रभुः प्रधिराजत

तथा पञ्चनमस्कार महामन्त्रेण शुद्धधीः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (स प्रभुः) वह महामण्डलेश्वर श्रेणिक राजा (पञ्चाङ्गमन्त्रेण) सहायक, साधन, कोषादि पञ्चमंत्रों से (प्रविराजते) सुशोभित होता है (तथा) उसी प्रकार (पञ्चनमस्कार महामन्त्रेण) अनादि अनिघन महामन्त्र के द्वारा (शुद्ध धीः) शुद्ध बुद्धिवाला (अध्यात्म क्षेत्र में) शोभता है।

भावार्थ—राज्य की सफलता के लिये राजनीतिज्ञों ने पञ्च अङ्ग रूप मन्त्र कहा है। ये पञ्च अङ्ग हैं—सहायक, साधनोपाय, देश की स्थिति खजाना और बलाबल। इनका प्रयोग करने वाला राजा, राज्य को समृद्धि करने में उसी प्रकार सफल होता है जिस प्रकार पञ्चनमस्कार मन्त्र से शुद्ध बुद्धि वाला, आध्यात्मिक-धार्मिक क्षेत्र में सम्यक् विकास को प्राप्त हुआ शोभता है।

पनोकार मन्त्र सर्वोत्तम है, इसके द्वारा उभय लोक की सिद्धि होती है। मन वचन काय पवित्र होते हैं। विघ्न, उपद्रव, संकट टल जाते हैं। उपसर्ग परोषह आदि नष्ट हो जाते हैं। परिणाम शुद्धि होती है। भयङ्कर विषादि का परिहार होता है। डाकिनी, शाकिनी, भूत व्यंतर आदि बाधाये आती नहीं। आई हुई दूर हो जाती है। परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। परम्परा से मोक्ष को प्राप्ति होती है। इसी प्रकार राजाओं को राज्य संचालन के लिये भी पाँच अङ्ग कहे गये हैं। उनका प्रयोक्ता राजा स्वचक्र परचक्र आदि उपद्रवों से रक्षित होकर राज्यकार्य में सफल होता है। ॥७५॥

**सहायं साधनोपायो दैश्यं कोषं बलाबलम् ।
विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्ग मन्त्रमाश्रयेत् ॥७६॥**

अन्वयार्थ—(विपत्तेः) आपत्ति या संकट के (प्रतीकारः) प्रतीकार स्वरूप (सहायं) अनुकूल सहयोगी, (साधनोपाय) कार्यसिद्धि में कारण भूत उपाय-प्रयत्न, (दैश्यं) देश सम्बन्धी स्थितियों का ज्ञान, (कोषं) खजाना, (च) और (बलाबलम्) बल और अवल रूप (पञ्चाङ्ग) पञ्चाङ्ग (मन्त्रं) मन्त्र को (आश्रयेत्) आश्रय करें।

भावार्थ—राजा अपने राज्य को स्थायी दृढ़ और विकसित करने के लिये सर्व प्रथम अपने सहायक तैयार करता है अर्थात् स्नेह बन्धन में बाँधकर अपने अनुयायियों को सदा अनुकूल बनाये रखता है। वह अपने कार्य की सिद्धि के लिये ग्यायोचित उपाय करते रहना तथा धर्मक्रिया, मन्त्र आदि का संचय, सन्धि विग्रह आदि की जांच पड़ताल आदि साधनोपाय में संलग्न रहता है। इसी प्रकार दैश्य, खजाना और बलाबल का भी आश्रय लेता है। देश में—राज्य में कहां क्या हो रहा है। लोग राज्यानुसार चलते या नहीं। राजकीय नियमों का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है? कौन दुःखी है कौन सुखी है किसे क्या चाहिये क्या नहीं, इसका ध्यान रखना दैश्य है।

खजाने में कितना धन है? बढ़ रहा है या घट रहा है इसका ध्यान रखना। कम हुआ तो क्यों? उसकी वृद्धि किस प्रकार करना आदि का ऊहापोह करते रहना क्योंकि खजाना भरपूर रखने पर युद्ध ईति भीति अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि उपद्रव टल सकते हैं।

बलाबल की पहिचान न कर संग्रामादि में विजय पाना दुर्लभ हो सकता है अथवा परिणाम विपरीत भी हो सकता है अतः इसका बराबर ध्यान रखना परमावश्यक है । इस प्रकार ये पाँचों उपाय मन्त्र को भाँति गुप्त रखना चाहिए । यहाँ आचार्य श्री जी ने इन्हें पञ्च-नमस्कार सङ्ग कहा है । इसका अभिप्राय इतना ही है कि जिस प्रकार गुप्त मन्त्र सर्व कार्य सिद्धिकर होता है उसी प्रकार उपर्युक्त उपायों से गुप्त, राजा अपने जीवन में सदैव सफलता प्राप्त करता है । ॥७६॥

यथागुप्तित्रयेणोच्चैः शोभते मुनि सत्तमः ।

मन्त्रोत्साहप्रभुष्यातशक्तिभिस्सप्रभुवर्मा ॥७७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (गुप्तित्रयेण) उत्तम तीन गुप्तियों के द्वारा (मुनिसत्तमः) श्रेष्ठ मुनिजन (उच्चैः) विशेष रूप से (शोभते) शोभा को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार (मन्त्रोत्साहप्रभुष्यात) मन्त्रणा-सलाह देने वाली और उत्साह को बढ़ाने वाली ऐसी निर्दिष्ट शक्तियों से युक्त (स) वह श्रेणिक (प्रभु) राजा (वर्मा) शोभित था ।

भावार्थ—तीन गुप्तियाँ मुनिजनों के लिये श्रेष्ठ आभूषण हैं इसी प्रकार योग्य मन्त्रणा देने वाली और उत्साह को बढ़ाने वाली राजशक्तियों की प्राप्ति राजा के लिये श्रेष्ठ आभूषण स्वरूप है इससे राजा की शोभा बढ़ती है । गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, काय-गुप्ति । यहाँ हम व्यवहार और निश्चय नय की अपेक्षा गुप्तियों के स्वरूप का विचार भी करेंगे । व्यवहार नय की अपेक्षा मनोगुप्ति का स्वरूप नियमसार में इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है—

“कालुस्समोहं सण्णारागदोसाह असुहं भावाणम् ।

परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकल्पिम् ॥”

मानसिक कालुष्य राग, द्वेष, मोह, आहार, भय, मेथुन और परिग्रह की वाञ्छा है, ये सभी अशुभ परिणाम हैं, इनको छोड़ना, इनसे अपने मन को पराङ्मुख रखना व्यवहार से मनोगुप्ति है ।

निश्चय से—“जा रायादिणिर्यत्ति मणस्य जाणाहि तं मणोगुत्ती” रागादि की निवृत्ति मनोगुप्ति है अर्थात् अशुभ और शुभ दोनों से निवृत्त होकर शुद्धात्म स्वरूप में अपने उपयोग को लगाना मनोगुप्ति है । इसी प्रकार वचन गुप्ति के विषय में भी श्रीकुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं—

“थी राजचोर भक्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।

परिहारो वयगुत्ती अलियादिणिर्यत्ति वयणं वा ॥”

पापास्रव की कारण जो स्त्रीकथा, राजकथा, भक्तकथा, चोर कथादि हैं उनको छोड़ना मिथ्या भाषण नहीं करना वचन गुप्ति है ।

निश्चय से “मोरां वा वयगुप्ति” मौन से रहना, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के वचनों से निवृत्त होना वचन गुप्ति है ।

आगे कायगुप्ति का स्वरूप नियमसार में इस प्रकार बताया गया है—

बन्धनछेदन मारण आकुञ्चण तह प्रसारणादीया ।
कायकिरिया णियत्ति णिहिट्ठा कायगुप्ति त्ति ॥

शरीर में हिंसात्मक कार्यों का न करना, बन्धन छेदन मारणादि कार्य तथा व्यर्थ में आकुञ्चन प्रसारणादि कार्य का न करना कायगुप्ति है । अथवा शुभ अशुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं से निवृत्त होकर शरीर को निष्क्रिय रखना कायगुप्ति है ।

ये तीनों ही गुप्तियाँ अति दुर्लभ हैं । विशिष्ट तपस्वी मुनियों में ही पायी जाती हैं तथा मुनिजनों के लिये ये गुप्तियाँ ही आभूषण हैं उनकी शोभा को बढ़ाने वाली हैं इसी प्रकार योग्य मन्त्रणा देने वाले मन्त्री, अनुकूल आचरण करने वाले उत्साहशील राजाओं और उत्तम सैन्य बल आदि की प्राप्ति होना राजा के लिये आभूषण है । इनसे राजा की शोभा बढ़ती है ॥७७॥

न केवलं बहिः शत्रून् जयतिस्म महीपतिः ।

अन्तरङ्गोरुशत्रूँश्च सङ्विधान् संव्यजेष्ट सः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(महीपतिः) राजा श्रेणिक (न केवलं) न केवल (बहिः शत्रून्) बाह्य शत्रुओं को (जयतिस्म) जीतता था अपितु (षट् विधान्) छः प्रकार के (डर अन्तरङ्ग शत्रून्) बलिष्ठ अन्तरङ्ग शत्रुओं को भी (संव्यजेष्ट जीतता था ।

भावार्थ— राजा श्रेणिक महाराज अपने विशिष्ट शौर्य, वीर्य, पराक्रम के द्वारा तथा निज सैन्य बल से बाह्य में विपरीत आचरण करने वाले जो शत्रुगण हैं उनको जीतने में तो कुशल था ही, साथ में जो क्रोध, मान, माया लोभ हर्ष और मद रूप शत्रु हैं उन पर भी विजय प्राप्त करने वाला था । अर्थात् राजा श्रेणिक महाराज अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों प्रकार से बलिष्ठ थे । माया मिथ्यात्व अज्ञानादि अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने की कला में भी निपुण थे, इन्हीं अन्तरङ्ग शत्रुओं का निर्देश करते हुए आचार्य लिखते हैं— ॥७८॥

कामक्रोधश्चमानश्च लोभोर्हर्षस्तथामदः ।

अन्तरङ्गारिषड्वर्गाः क्षितीशानां भवन्त्यमी ॥७९॥

अन्वयार्थ—(कामक्रोधश्चमानश्च) काम, क्रोध और मान (लोभोर्हर्षस्तथामदः) लोभ हर्ष तथा मद (अमीषड्वर्गाः) ये छः प्रकार के (क्षितीशानां) राजाओं के (अन्तरङ्गारि) अन्तरङ्ग शत्रु हैं ।

भावार्थ— अन्तरङ्ग शत्रु छः प्रकार के हैं—

• (१) काम—पञ्चेन्द्रिय विषयों की इच्छा वाञ्छा को काम कहते हैं ।

(२) क्रोध—‘क्रुध’ धातु से क्रोध शब्द बना है जो क्षमा गुण का घात करने वाले कषाय विशेष का बोधक है । यह आत्मा को सर्वतः कष्ट देने वाला परिणाम है जैसा कि कहा भी है—कषति हिनस्ति आत्मानं कुगति प्रापणात् इति कषायः” जो हर प्रकार से जीव को कष्ट देता है दुर्गति का कारण है उसे कषाय कहते हैं और कषायों में क्रोध का प्रथम स्थान है ।

शक्ति की अपेक्षा क्रोध चार प्रकार का है—(१) पत्थर पर खींची गई रेखा के समान अधिक काल तक रहने वाला (२) पृथ्वी पर खींची गई रेखा के समान । जिसकी वासना छः महीने तक बनी रह सकती है ऐसी क्रोधाग्नि । (३) धूलि रेखा के समान—जिसकी वासना १५ दिनों तक बनी रह सकती है ऐसी क्रोधाग्नि । (४) जल रेखा के समान—जिसकी वासना अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकती है ऐसी क्रोधाग्नि । ये चारों प्रकार के क्रोध क्रम से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव गति के कारण हैं ।

मान कषाय—मृदुता या विमय गुण का घात करने वाले परिणाम विशेष को मान कहते हैं । शक्ति के तरतम स्थानों की अपेक्षा मान के भी ४ भेद हैं— (१) पत्थर के समान (२) हड्डी के समान (३) काठ के समान (४) बेंत के समान । इनकी वासना का काल क्रम से क्रोध के समान ही जान लेना चाहिए । इनमें पत्थर के समान मान नरक शक्ति का कारण है हड्डी के समान जो मान है वह तिर्यञ्च गति का कारण है । काठ के समान मान मनुष्य गति का और बेंत के समान मान देव गति का कारण है ।

(३) माया कषाय—आत्मा के ऋजुता या सरलता गुण का घात करने वाले कषाय विशेष का नाम माया है । इनके भी शक्ति की अपेक्षा ४ भेद हैं— (१) बाँस की जड़ के समान (२) मेढी के सींग के समान (३) गोमूत्र के समान (४) खुरपे के समान । शेष कथन पूर्ववत् जानना चाहिये ।

(४) लोभ कषाय शुचिता निर्लोभता या आकिञ्चन्य गुण का घात करने वाले कषाय विशेष का नाम लोभ है । इनके भी शक्ति की अपेक्षा ४ भेद हैं— (१) किमीराग के समान—किमिची का रङ्ग अत्यंत गाढ़ होता है और बड़ी मुश्किल से छूटता है (२) चक्रमल के समान अर्थात् रथ आदि के पहियों के भीतर की आँगन के समान (३) शरीर के मल के समान (४) हल्दी के रङ्ग के समान । शेष कथन पूर्ववत् जानना चाहिये ।

इन कषाय रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये बाह्य अस्त्र, शस्त्र, तलवार भाला आदि की आवश्यकता नहीं होती है इनको आत्म विशुद्धि के बल से जीता जा सकता है ।

(५) हर्ष—इन्द्रिय सुख की सामग्री के मिलने पर उसमें विशेष आनन्द भानना और शरीर सुख से अपने को सुखी मानना-इत्यादि रूप जो हर्ष है वह भी आत्म गुणों का घातक शत्रु है ।

(६) मद—अहंकार भाव को मद कहते हैं । मद आठ प्रकार का है— (१) ज्ञान

मद—मैं बहुत बड़ा विद्वान हूँ जानी हूँ मेरे समान दूसरा नहीं है ऐसा विचार करना ज्ञानमद है ।

(२) पूजा का मद—सब लोग हमारी पूजा अर्चना वा सम्मान करते हैं मेरे समान अन्य को पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है इस प्रकार अहंकार करना पूजा मद है ।

(३) जाति मद—मैं उत्तम जाति वाला हूँ इस प्रकार अहंकार करना जाति मद है ।

(४) बल का मद—मेरे समान बलिष्ठ कोई भी नहीं है इस प्रकार अहंकार करना बल मद है ।

(५) क्रुद्धि मद—मुझे अनेक प्रकार की क्रुद्धियाँ प्राप्त हैं अतः मेरे समान महान दूसरा नहीं है इस प्रकार अहंकार करना क्रुद्धि मद है ।

(६) तप मद—मैं अनशनादि उत्कृष्ट तप को करने वाला हूँ इस प्रकार तप का मद करना तपोमद है ।

(७) कुल का मद—मैं उच्च कुल वाला हूँ अतः मुझसे बड़ा दूसरा यहाँ कोई भी नहीं है ऐसा अहंकार करना कुल का मद है ।

(८) वपु-शरीर का मद—मेरे समान रूपवान् कान्तिमान् शरीर दूसरे का नहीं है इस प्रकार अपने सुन्दर शरीर का अहंकार करना वपुमद है ।

महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक महाराज, भेद प्रभेद सहित इन अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये निरन्तर सावधान वा प्रयत्नशील रहते थे ॥७६॥

तस्य श्रेणिक भूपस्य दिव्यरूपस्य संबभौ ।

चेलिनी नामतो राज्ञी रतिर्वा काम-भूपतेः ॥८०॥

अन्वयार्थ—(दिव्यरूपस्य) दिव्य रूप के धारी (तस्य श्रेणिक भूपस्य) उस श्रेणिक राजा की (चेलिनी नाम तो राज्ञी) चेलिनी नामक रानी थी जो (कामभूपतेः रतिः वा) काम-देव की पत्नी रति के समान (संबभौ) शोभती थी ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में राजा श्रेणिक और रानी चेलिनी के अतिशय रूप लावण्य का संकेत करते हुए आचार्य लिखते हैं कि श्रेणिक महाराज कामदेव के समान सुन्दर थे और चेलिनी भी अति रूपवती, जिनघर्म परायणा, शीलवन्ती थी तथा कामदेव की पत्नी रति के समान शोभती थी ॥८०॥

रूपलावण्य सौभाग्य भाग्यरत्नाकरक्षितिः ।

सा रेजे निजपुण्येन सुव्रता वा मुनेर्मतिः ॥८१॥

अन्वयार्थ—(रूपलावण्य सौभाग्य) सुन्दर रूप कान्ति और उत्तम भाग्यवाली (रत्नाकर क्षितिः) गुण रूपी रत्नों युक्त अथवा रत्नों से परिपूर्ण भूमि के समान (सुव्रता सा) श्रावकोचित श्रेष्ठ व्रतों को धारण करने वाली वह (निजपुण्येन) अपने पुण्य से (मुनेर्मतिः वा) वीतरागी मुनि की पवित्र बुद्धि के समान (रेजे) शोभती थी ।

भावार्थ—महारानी चेलना की रूप राशि अद्वितीय थी । उसे अपने रूप का तनिक भी मद नहीं था, वह लावण्य की प्रतिमा, सहज सौभाग्य की खान पुण्यरूपी रत्नों से भरपूर श्रेष्ठभूमि के समान अथवा रत्नाकर समुद्र के समान थी । समुद्र में अनेकों रत्न छिपे रहते हैं, इस रानी में भी दया दान, वात्सल्य, त्याग भाव, कला, विज्ञान, पातिव्रत, शीलाचारादि रत्न-राशि अन्तर्निहित थी । रत्नगर्भा भूमि में जैसे हीरा, माणिक पन्ना, पुखराज, नीलम आदि अनेक प्रकार के रत्न होते हैं उसी प्रकार यह चेलनी भी गुण रूपी रत्नों से मण्डित थी तथा मद रहित अहंकार से रक्त थी अतः उसकी शोभा मुनिजनों की पवित्र बुद्धि के समान श्रेष्ठ वा अनुपम थी । जिस प्रकार साधुजन निर्मल चारित्र और तप को धारण करते हुए तथा तलस्पर्शी आगमज होने पर भी उसका गर्व नहीं करते हैं उसी प्रकार चेलना रानी गुणों की खान थी पर उसे उनगुण रूपादि का अहंकार नहीं था ॥८१॥

पात्रदानेन पूतात्मा या सदा शर्मकारिणी ।

अभूत् त्रिविष्टपेख्याता कीर्ति वा श्रेयसः प्रभोः ॥८२॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानेन पूतात्मा) पात्रदान से पवित्रात्मा (सदा शर्मकारिणी) सदा सुखशान्ति के कार्यों को करने वाली (या) जो अर्थात् चेलनी महारानी (श्रेयसः) हितकर उत्तम कार्यों को करने वाले (प्रभोः) राजा श्रेणिक की (त्रिविष्टपे) विश्व में विख्यात (कीर्ति वा अभूत्) कीर्ति स्वरूप थी ।

भावार्थ—यद्यपि चेलना कला, कौशल, रूप विद्या शिल्पादि अनेक गुणों से सम्पन्न थी किन्तु उसकी महती कीर्ति का कारण पात्र दान था । सदा सबका हित चाहने वाली परस्परप्रेमग्रह की उत्तम भावना से पवित्र चेलना उत्तम मध्यम और जघन्य पात्रों को निरन्तर यथाविध दान देते रहने से विश्व में विख्यात हो गई थी जिस प्रकार महाराजा श्रेणिक सबके लिये सदा श्रेयकारी थे उसी प्रकार उत्तमोत्तम गुणों से युक्त महारानी चेलना भी श्रेयकारिणी थी । वे निरन्तर पात्रों को ही दान करती थी कुपात्र अपात्र को नहीं । क्योंकि पात्र को दिया गया दान ही परम्परा से मुक्ति का कारण है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि पात्र, कुपात्र और अपात्र में क्या भेद है ? और पात्र दान से किस प्रकार आत्मशुद्धि होती है ?

समाधान—जो मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुणों से युक्त हैं, वे पात्र हैं । सकल चारित्र और सम्यक्त्व सहित महामुनि उत्तम पात्र हैं । देश

चारित्र्य और सम्यक्त्व सहित श्रावक मध्यम पात्र हैं । व्रत रहित और सम्यक्त्व सहित श्रावक जघन्य पात्र हैं ।

कुपात्र किसे कहते हैं ? उसका समाधान भाव संग्रह में इस प्रकार है—

जो रयणस्तय रहियं मिच्छिमय कह्य धम्म अणालगं ।

जह विहु तवइ सुधोरं तहा वि तं कुच्छियं पत्तम् ॥श्लोक नं ५३०॥

जो पुरुष रत्नत्रय से रहित हैं और मिथ्यामत में कहे हुए धर्म में लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना धीर तपश्चरण करे तथापि वह कुपात्र ही कहलाता है । आगे अपात्र को कहते हैं—

जस्स ण तवो ण चरणां ण न्नादि गहसत्थि वर पुणो कोई ।

तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥५३१॥

जो न तो तपश्चरण करता है न किसी प्रकार का चारित्र्य पालता है और न उसमें कोई श्रेष्ठ गुण है ऐसा पुरुष अपात्र कहलाता है । ऐसे अपात्र को दान देना सर्वथा व्यर्थ है ।

(जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र में वर्षा का जल सीप में गिरकर मोती बन जाता है, कदली पत्र पर गिरने से कपूर बन जाता है । सर्प के मुख में गिरकर वही जल विष बन जाता है । इसी प्रकार पात्र के अनुसार दिया गया हमारा द्रव्य भी भिन्न भिन्न फलों को देता है । एक ही कूएँ का पानी गन्ने के पेड़ की जड़ में पहुँच कर मधुर रस रूप परिणत हो जाता है, नीम के पेड़ में पहुँच कर कड़वा हो जाता है । इसी प्रकार पात्र कुपात्र अपात्र को दिया दान भी भिन्न-भिन्न फलों को देने वाला होता है ।)

श्री चेलना महारानी निरन्तर पात्र को ही दान देने में निरत थीं । जिसके फलस्वरूप उन्होंने मुक्ति को देने वाले सातिशय पुण्य का बंध किया था तभी आचार्य श्री ने चेलना को “पात्र दानेन पूतात्मा” ऐसा श्लोक में कहा है ॥८२॥

जिनेन्द्र चरणाम्भोज सेवने भ्रमरी यथा ।

सर्वतत्त्वार्थ संदोह विज्ञाना वा सरस्वती ॥८३॥

दिव्याभरण सद्बस्त्रमंडिता सासती बभौ ।

नित्यं दानप्रवाहेन कल्पवल्लीव कोमला ॥८४॥

अन्वयार्थ—(यथा भ्रमरी) भ्रमरी के समान (जिनेन्द्र चरणाम्भोज सेवने) जिनेन्द्र प्रभु के चरणकमलों की सेवा में निरत एवं (सर्वतत्त्वार्थसंदोह विज्ञाना) सम्पूर्ण तत्त्वार्थ समूह को जानने वाली वह चेलना (सरस्वती वा) मानों सरस्वती ही थी ।

(दिव्याभरण सद्बस्त्र मंडिता) दिव्य आभूषण और उत्तम वस्त्रों से अलंकृत (सा सती) वह साध्वी-शीलवन्ती चेलना (नित्यं दान प्रवाहेण) निरन्तर दान क्रिया के प्रवाह से

अर्थात् दान करते रहने से (कोमला) मृदु सुकोमल (कल्पवल्ली इव) कल्पलता के समान (वर्भा) शोभित थी ।

भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमर, पुष्प की सुगन्ध को पाकर अतिशय आनन्द को अनुभव करता है उसी प्रकार चेलना महारानी श्री जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमलों को पाकर अतिशय आनन्द का अनुभव करती थीं । उत्कृष्ट भक्ति के साथ-साथ वह विशिष्ट क्षयोपशम रूप शक्ति से भी समन्वित थी । सम्पूर्ण तत्त्वार्थ को आगमानुसार जानने वाली वह चेलना साक्षात् सरस्वती के समान प्रतिभासित होती थी । जिस प्रकार हीरे को सोने के बीच में जड़ दिया जाय तो उसकी शोभा द्वि-गुणित हो जाती है उसी प्रकार उत्तम रूप और गुणों से सम्पन्न दिव्य आभूषणों से अलंकृत चेलना महारानी विशेष रूप से शोभित हुई । श्रावकोचित गुणों के उल्लेख में दान और पूजा को आगम में सर्वत्र विशेष महत्व दिया गया है । षट् कर्मों में तत्पर कोमलाङ्ग रानी चेलना भी कल्पवृक्ष के समान याचकों को योग्य द्रष्टु वस्तु देकर तथा ऋषि मुनि आर्यिकादिकों को नवधा भक्ति पूर्वक दाता के सप्त गुणों का आचरण करती हुई आहार दानादि देकर सुशोभित हुई, प्रख्यात हुई ।

यहाँ प्रकरण के अनुसार दाता के सात गुणों का परिज्ञान आवश्यक है । पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में दाता के सात गुण इस प्रकार बताये गये हैं—

‘ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिनिष्कपटतानसूयत्वम्
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः’ ॥श्लोक नं० १६६॥

- (१) इस लोक सम्बन्धी फल की अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय सुख की इच्छा न करना
- (२) क्षमा—दान देते समय क्रोध नहीं करना, शान्ति से निर्मल भाव से दान देना ।
- (३) निष्कपटता—बाहर में भक्ति करे और अन्तरङ्ग में परिणाम खराब रखे ऐसा नहीं करना ।
- (४) अनसूयत्व—दूसरे दातार के प्रति ईर्ष्या भाव दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर मुनिराज का आहार न हो और दूसरे के घर हो जाये तो दूसरे के प्रति बुरा भाव न करना ।

(५) अविषादित्व—विषाद न करना अर्थात् हमारे घर अच्छी वस्तु थी वह हमने उनको यों ही दे दी अथवा हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी वह हम नहीं दे सके, ऐसा खिन्न परिणाम न करें ।

(६) मुदित्व—दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे ।

(७) निरहङ्कारित्व—अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं ऐसा मन में अभिमान न करना ।

इस प्रकार ये सात गुण दाता के हैं । रानी चेलना में ये सातों गुण मौजूद थे । तत्त्वार्थ-सूत्र में कहा है—“विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः” विधि विशेष, द्रव्यविशेष और पात्र विशेष से दान में विशेषता आती है ।

शंङ्का—विधि विशेष क्या है ? समाधान—प्रतिग्रह (पड़गाहन) आदि करने का जो क्रम है वह विधि है और प्रतिग्रह आदि में आदर और अनादर होने से जो भेद होता है वह विधिविशेष है । आदर और विनय के साथ भक्ति पूर्वक दान करना चाहिये । शंका—द्रव्य विशेष क्या है ? समाधान—जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है । शंका—दातृ विशेष क्या है ? समाधान—अनसूया और अविषादित्व आदि ७ गुणों का होना दाता की विशेषता है । शंङ्का—पात्र विशेष क्या है ? समाधान मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय आदि गुणों से युक्त रहना पात्र की विशेषता है । जैसे पृथ्वी आदि में विशेषता होने से उसमें उत्पन्न हुए धान्य में विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदि की विशेषता से दान से प्राप्त होने वाले गुण्य में विशेषता आ जाती है । चेलना महारानी का दान इन सभी विशेषताओं से युक्त था जिससे उसके द्वारा दिया गया दान लौकिक सम्पत्तियों के साथ-साथ आत्म शुद्धि में भी साधक था ।

“क्षत्र चूडामणि” में कहा है—नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यन्ति मानसं”

सज्जन पुरुष त्यागकर—दान देकर आनन्दित होते हैं लेकर नहीं उसी प्रकार चेलना महारानी भी दान देकर विशेष सुख का अनुभव करती थीं ॥८३॥८४॥

तथा चेलनया सार्धं भूपः पञ्चेन्द्रियोचितान् ।

भुञ्जन् भोगान्मनोमिष्टान् सर्वजीवदयावहान् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(भूपः) वह श्रेणिक राजा (सर्वजीवदयावहान्) सर्व जीव दयापूर्वक (पञ्चेन्द्रियोचितान्) योग्य पञ्चेन्द्रियविषयों को (चेलनयासार्धं) चेलना के साथ (भुञ्जन्) भोगता हुआ एवं—

तथा राज्ञीशतोपेतान् भूरिपुत्रैरलंकृतः ।

नाम्नाभयकुमाराद्यैः पूर्णचन्द्रोयथोद्भुभिः ॥८६॥

अन्वयार्थ—(यथाउद्भुभिः पूर्णचन्द्रो) जैसे नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा शोभता है (तथा) उसी प्रकार (राज्ञीशतोपेतान्) सैकड़ों रानियों से सहित तथा (नाम्नाभय-कुमाराद्यैः) अभयकुमार आदि नाम वाले (भूरिपुत्रैः) बहुत पुत्रों से (अलंकृतः) शोभित था ॥८६॥

संतस्थौ पालयन्प्रीत्या स्वप्रजाः पुत्रवत् सदा ।

चन्द्रकान्तिलसत्कीर्तिर्जित भक्तिपरायणः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(चन्द्रकान्तिलसत्कीर्ति) चन्द्रमा की कान्ति के समान धवल कीर्ति से शोभायमान (जिनभक्ति परायणः) जिनभक्ति में तत्पर वह श्रेणिक राजा (स्वप्रजाः) अपनी प्रजा को (सदा पुत्रवत्) सदाकाल पुत्र के समान (प्रीत्यापालयन्) प्रीति से पालते हुए (संतस्थी) सम्यक् प्रकार विराजमान था ।

भावार्थ—श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महारानी चेलना के साथ महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक दयाभाव पूर्वक पञ्चेन्द्रिय विषयों का, न्यायपूर्वक यथोचित भोग करते हुए रानी एवं अभयकुमार आदि अनेक श्रेष्ठ पुत्रों से सहित उसी प्रकार शोभित होते थे जैसे नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभता है । चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति वाले श्रेणिक महाराज जिन भक्ति में सदा तत्पर रहते थे तथा स्व-पुत्र के समान प्रजाजनों का भी प्रीतिपूर्वक पालन और रक्षण करते थे । उसके राज्य में सभी लोग सुखशान्ति से अमन चेत से निवास करते थे । कहीं भी किसी को किसी प्रकार का अभाव या दुःख नहीं था । चोर मारी आदि किसी भी प्रकार का उपद्रव स्थान में भी नहीं था । इस प्रकार समस्त लौकिक सुखों का अनुभव करते हुए श्रेणिक महाराज ने अपनी धवलकीर्ति से समस्त आकाश मण्डल को व्याप्त कर रखा था । दिग्-दिगन्तरमें उनके गुणों की गाथा गाई जाती थी । सभी सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते थे ॥८७॥

तस्य चारुगुणग्रामो निर्मलो मणिवत्तराम् ।

वर्ण्यते केन ये भूयो भावितोर्थकरः परः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस राजा श्रेणिक के (मणिवत्तराम्) मणि के समान अत्यन्त (निर्मलः) उज्ज्वल (चारु) सुन्दर (गुणग्रामः) गुणसमूह (केन) किसके द्वारा (वर्ण्यते) वर्णित हो सकते हैं (यो) जो (भूयो) पुनः-अगले मनुष्य भव में (परः) उत्कृष्ट (भावितोर्थकरः) भविष्यत् कालीन तीर्थकर होने वाला है ।

भावार्थ—संसार में सर्वोत्कृष्ट पुण्य तीर्थकर का होता है । तीर्थकर प्रकृति पुण्य रूप है, वह षोडशकारण भावना के निमित्त से बंधती है । इन १६ भावनाओं में भी प्रथम दर्शन-विशुद्धि भावना प्रधान है । इसके बिना अन्य १५ भावनाएँ तीर्थकर प्रकृति का बन्धन करने में समर्थ नहीं हो सकतीं किन्तु इनके बिना भी अकेली दर्शनविशुद्धि भावना उस अपूर्व पुण्य रूप तीर्थकर प्रकृति का बन्धन करने में समर्थ है । पचोस दोषों से रहित और अष्ट अङ्गों से सहित शुद्ध निर्दोष सम्यग्दर्शन की उपलब्धि का नाम दर्शनविशुद्धि है । जो जीव अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के द्वारा दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व का खण्डन कर तीन टुकड़े कर देता है तथा उसमें उत्पन्न आत्मविशुद्धि के बल पर पुनः उन तीन भागों के साथ चार अनन्तानुबन्धी कषायों का भी क्षय, उपशम या क्षयोपशम करता है उसे क्षायिक, उपशम या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है । तीनों में से किसी भी सम्यक्त्व का धारी भव्य, विशेष विशुद्धि से सम्पन्न होता है और संसार के प्राणोमात्र का कल्याण करने की तीव्रतम उत्कृष्ट भावना से तीर्थकर प्रकृति का आश्रय करता है । दया की चरम सीमा पर पहुँचा जीव-भव्यात्मा हो इस पद के योग्य पुण्यार्जन कर सकता है इसीलिये राजा श्रेणिक के

भोगोपभोग सम्पदा के साथ—“सर्वजीवदयावहान्” विशेषण श्लोक न० ८५ में दिया है । साम्य-भावी ही दयानिष्ठ होता है । अतः निरतिचार सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनविशुद्धि है । इसी की पोषक अन्य पन्द्रह भावनायें हैं—चित्तसम्पन्नता, शीलव्रत्तेषु अनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैद्यावृत्ति अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत भक्ति, आवश्यकपरिहाणि मार्ग प्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व ये १५ भावनायें और दर्शनविशुद्धि सहित १६ भावनायें तीर्थंकर पद की प्राप्ति में निमित्त हैं । इनका विशेष लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में देखें ॥८८॥

अथैकदा महीनाथस्सभायामासने स्थितः ।

गङ्गा तरङ्ग सङ्काशर्वोज्यमानस्सुचामरैः ॥८९॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद, यहाँ अथ शब्द कथा प्रारम्भ के अर्थ में है । (एकदा) एक समय (गङ्गातरङ्गसङ्काशैः) गंगा नदी की लहरों की भाँति (वोज्यमानैः) ढोरे जाते हुए (सुचामरैः) श्रेष्ठ चमरों से युक्त (महीनाथः) वह पृथ्वीपती (सभायां) सभा में (आसने) आसन पर (स्थितः) विराजमान हुआ ।

भावार्थ—एक समय वह पृथ्वीधर महाराजा श्रेणिक अपनी सभा में श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान हुए । उन पर आठ चमर दुराये जा रहे थे । वे कान्तिमान दुरते हुए चमर ऐसे प्रतीत होते थे मानों गङ्गानदी की चञ्चल तरङ्गों ही उछल रही हों । क्योंकि गङ्गा का जल दूध समान सफेद दीखता है और चमर भी फेन के समान प्रतीत होते थे ॥८९॥

अनेकभूमौलिधर-रञ्जितपदपङ्कजः ।

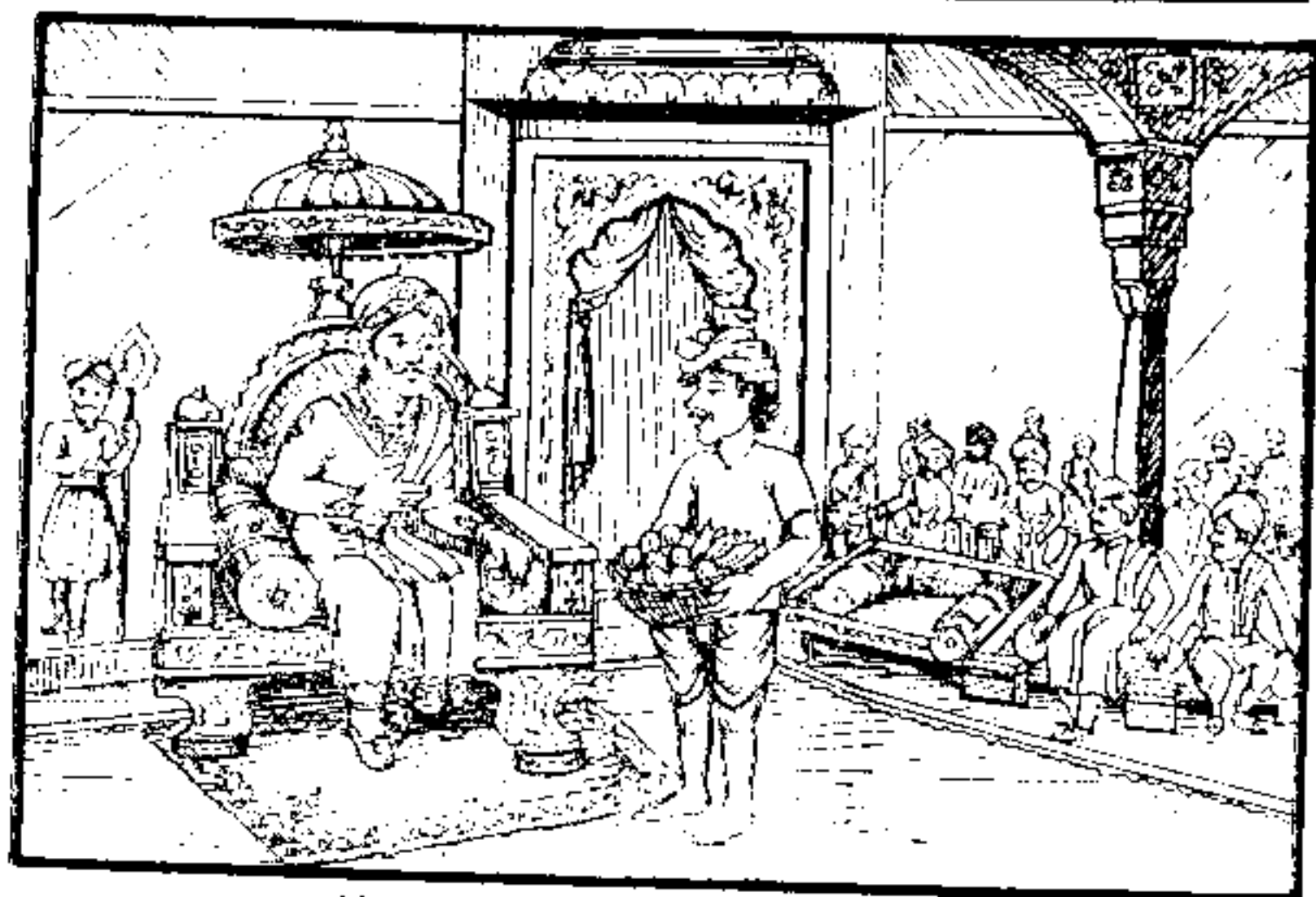
चक्रादिभिस्समायुक्तो देवेन्द्रो वा सुरैर्वृतः ॥९०॥

अन्वयार्थ—(तथा) और (अनेक भूमौलिधर रञ्जितपादपङ्कजः) अनेकों मुकुटबद्ध राजाओं के नमस्कार करने से जिसके चरणकमल रञ्जित हैं—शोभित हैं ऐसा वह श्रेणिक राजा (चक्रादिभिःसमायुक्तो) चक्रवर्ती समान प्रभुत्वशाली राजाओं से युक्त, ऐसा प्रतीत होता था मानों (सुरैर्वृतः देवेन्द्रो) देवों से घिरा हुआ इन्द्र ही हो ।

भावार्थ—सिंहासनारूढ़ श्रेणिकमहाराज के चारों ओर अनेकों राजागण एकत्रित होकर उन्हें नमस्कार कर रहे थे उस समय उनके मुकुटों की कान्ति से उन श्रेणिक महाराज के चरण रञ्जित थे और वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों देवों से घिरा हुआ इन्द्र ही यहाँ स्थित है । चक्रवर्ती के समान प्रतापवान, पुण्यवान, वैभवशाली राजा भी सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे । इस प्रकार स्वर्ग के इन्द्र के समान वैभवशाली उस श्रेणिक की शोभा अनुपम ही थी ॥९०॥

यावदास्ते सुखं तावद् वनपालेन सावरम् ।

नानापुष्पफलान्युच्चरन्ने धृत्वा प्रणम्यतम् ॥९१॥



ऊपर--महाराज श्रेणिक एवं-रानी-येलना-द्वारा जमहार वान ।
नीचे--महाराज श्रेणिक की राजसभा में माली फलों की टोकरी लेकर
१००८ श्री महावीर भगवान के आठमन की सूचना देने आया ।

विज्ञप्तो देवदेवेन्द्र वन्दितो जिनपुङ्गवः ।

वर्द्धमानस्समायातो विस्तीर्णो विपुलाचले ॥६२॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जिस समय इस प्रकार (सुखं आस्ते) सुखपूर्वक विराजमान (तावत्) उसी समय (सादरम्) आदर पूर्वक (तम् प्रणम्य) उस राजा को प्रणाम कर (नानापुष्पफलानि) अनेक प्रकार के पुष्प और सुपक्व फलों को (उच्चैः अग्रे धृत्वा) भक्तिपूर्वक आगे रखकर-अर्पणकर (विज्ञप्तो) सूचना दी कि (विस्तीर्णो) विशाल (विपुला चले) विपुलाचल नामक पर्वत पर (देव देवेन्द्रवन्दितः) देव और इन्द्रों से वन्दित नमस्कृत (पुङ्गव) श्रेष्ठ (जिन) जिनेन्द्र प्रभु (वर्द्धमान) श्री महावीर प्रभु (समायातः) पधारे हैं ।

भावार्थ—नाना वैभव से समन्वित महाराज श्रेणिक सभा में विराजे । उसी समय वनपाल-उद्यान का रक्षक माली आया । व्रित्तपूर्वक राजा को हाथ जोड़कर, शिर झुकाकर नमस्कार कर उसने सब ऋतुओं के फल फूलों को राजा के समक्ष भेंट कर कहा—हे प्रभो ! विपुलाचल पर्वत पर देव, इन्द्र नागेन्द्रादि से पूजनीय, वन्दनीय जगदीश्वर श्री महावीर स्वामी का समवशरण आया है । वे प्रभु महान हैं, सुरासुर नराधीशों से अर्चनीय हैं । चारों ओर आनन्द और जय जय नाद गूँज रहा है । समस्त उद्यान मानों हर्ष से रोमान्वित हो गया है ॥६२॥

यस्य प्रभावतो राजन् सर्वजातिवनस्पतिः ।

सर्वतु फलपुष्पौद्यः विरेजे वनिता यथा ॥६३॥

अन्वयार्थ—(राजन्) हे नराधीश ! (यस्य प्रभावतः) जिन वीरप्रभु के प्रभाव से (सर्वजातिवनस्पतिः) सर्व जाति के पेड़ पौधे (सर्वतु फलपुष्पौद्यः) सर्वकालीन फल फूलों से (विरेजे) शोभायमान हैं (यथा) जो ऐसे मालूम होते हैं मानो (वनिता) सुन्दर नवोद्गा, अलंकृता कोई रमणी ही हो ।

भावार्थ—विपुलाचल पर्वत पर श्री महावीर भगवान के पदार्पण से सूखे मुरझाये हुए पेड़ पौधे भी हरे भरे और फल फूलों से भर गये हैं । सब में मानो नव जीवन और नव जीवन का संचार हो गया हो । यद्यपि वनस्पतियों के फलने फूलने का अपना अपना निश्चित काल है । योग्य काल वा ऋतुओं में ही वे फलते हैं किन्तु सर्वज्ञ प्रभु श्री १००८ वीर जिन के सानिध्य से काल का अतिक्रमण कर एक ही साथ फल गये हैं । नाना रङ्गों के अनेक प्रकार के कुसुम स्तवक-गुच्छे हवा के झकोरों से नृत्य कर रहे हैं । सुमधुर सुपक्व फलों की बहार आयाल वृद्धों का मन मोहने लगी है । ऐसा लगता है कि आपका पुण्यांकुर, अपने पूर्ण वैभव से फलित हुआ है । हे नृपाल ! उस उपवन की शोभा अवर्णनीय है । इस प्रकार कहते हुए वनरक्षक ने अनुपम आश्चर्यकारी अतोखे फल फूल श्री श्रेणिक महाराज को भेंट किये । कर-बद्ध नम्रीभूत वह वनपाल पुनः कहने लगा ॥६३॥

कूरसिंहादयो जीवा मुक्तवैराः परस्परम् ।

एकत्र संवसन्त्युच्चैः परमानन्दनिर्भराः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कूरसिंहादयो जीवा) हिंसक प्राणी सिंह व्याघ्रादि प्राणी (मुक्तवैराः) वैर विरोध से रहित (परस्पर) आपस में (एकत्र) एक साथ मिल कर (उच्चैः) अत्यन्त (परमानन्द निर्भराः) परम आनन्द से भरे हुए प्रसन्न चित्त (संवसन्ति) निवास कर रहे हैं ।

भावार्थ—हे जनपालक ! महाकूर, जाति विरोधी एक दूसरे के घातक प्राणी भी प्रीति से निवास कर रहे हैं । सिंह और गाय, सर्प-नेवला, चूहा बिडाल, मयूर-सर्प, कुत्ता-बिल्ली आदि बड़े प्रेम से हिलमिल कर क्रीडा कर रहे हैं । नाचना-कूदना, खाना पीना सब निर्भय होकर कर रहे हैं मानों कोई विशेष उत्सव ही मना रहे हैं ॥६४॥

नानादेवविमानाद्यैर्जयनादैस्समन्ततः ।

दिव्यदेवाङ्गना वृन्दैर्गिरि स्वर्गायते प्रभो ॥६५॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभो ! (समन्ततः) चारों ओर नभ और भूमण्डल पर (नानादेव विमानाद्यैर्जयनादैः) अनेकों देव विमानों के आगमन और उनमें स्थित देवों द्वारा किये जाने वाले जय जय ध्वनि से (दिव्य देवाङ्गना वृन्दैः) उत्तम श्रेष्ठ देवाङ्गानाओं के समूह से परिव्याप्त होकर (गिरिः) वह विपुलाचल पर्वत (स्वर्गायते) मानों स्वर्ग रूप ही हो गया है ।

भावार्थ—हे नराधिप ! नाना प्रकार के वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत देव और देवियाँ नभोभूमण्डल से जय जय घोष करते आ रहे हैं । ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त स्वर्ग का वैभव यहीं भूमण्डल पर आ गया है । वह विपुलाचल स्वर्ग लोक सङ्ग हो गया है । सर्वत्र जिनेन्द्र प्रभु श्री वीर भगवान का ही यशोगान गूँज रहा है । देव-देवियाँ नाना प्रकार के दिव्य द्रव्यों से वीतराग प्रभु की पूजा, भक्ति, स्तुति कर रहे हैं । दिव्य भोगों को तजकर यहाँ आकर सब नृत्य गान कर जिन महिमा प्रकट करने में तल्लीन हैं । वस्तुतः जिनभक्ति कर्म कलङ्क प्रक्षालन में समर्थ है ॥६५॥

इतिश्रवणमात्रेण श्रेणिको मगधेश्वरः ।

सिंहासनात्समुत्थाय गत्वा सप्तपदानि च ॥६६॥

जय त्वं वीरनाथेति संब्रुवन् हर्षनिर्भरः ।

दत्त्वा तस्मै महादानं तां दिशं सम्प्रणम्य च ॥६७॥

आनन्द दायिनीं भेरीं दापयामास स त्वरम् ।

तन्निनादेन भव्यौघाः प्रोल्लसन्मुखपंकजाः ॥६८॥

अन्वयार्थ—(इति) ऐसा (श्रवण मात्रेण) सुनते ही (मगधेश्वर) मगधाधिपति (सिंहासनात् समुत्थाय) सिंहासन से उठकर (सप्तपदानि) सात पद (गत्वा) आगे जाकर

(हर्ष निर्भरः) हर्ष से भरे हुए (वीर नाथ !) हे वीर प्रभु ! (त्वं जय) तुम जयवन्त होओ (इति संब्रुवन्) ऐसा बोलते हुए (ऽस्मै) उस वनपाल को (महादानं दत्त्वा) उत्तम वस्तुओं को देकर (तां दिशं) उस दिशा की तरफ (सम्प्रणम्य) प्रणाम कर ।

(सत्वरं) शीघ्र (आनन्ददायिनीं भेरीं) आनन्ददायिनी भेरी को (दापयामास) बजवा दिया (ऽऽतिनादेन) उस भेरी के स्वर से (भव्यैश्वाः) भव्य जीवों के समूह (प्रोत्ख-सन्मुख पंकजाः) प्रफुल्लित मुख कमल वाले हो गये ।

भावार्थ—वनपाल की उक्त प्रमोदकारी बातों को सुनकर श्रेणिक महाराज को निश्चय हो गया कि अन्तिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर भगवान का समवशरण आया हुआ है । जिन भक्तशिरोमणि उस श्रेणिक महाराज के आनन्द की सीमा न रही । हर्ष से भरे वे जय जयकार करने लगे—हे वीर प्रभु ! आप जयवन्त होवें अर्थात् आपके हितकर पवित्र शासन से यह भूमि चिरकाल तक शोभित रहे, आपकी पवित्र वाणी रूपी अमृत का पानकर भव्यजीव अक्षय अविनाशी निराकुल सुख को प्राप्त करें । मिथ्यात्व और अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश होवे, रत्नत्रय की दिव्य ज्योति से यह मगध प्रदेश दीप्तिमान होवे । इत्यादि रूप से स्तवन करते हुए अन्तः स्थल में छिपी हुई जिनभक्ति को वचन स्तुति द्वारा परोक्ष रूप से प्रकट करते हुए अति आनन्द को प्राप्त हुए तथा शीघ्र ही आनन्द भेरी बजवा दी ।

उस आनन्द भेरी की ध्वनि को सुनकर नगर निवासी भी परमानन्द को प्राप्त हुए । श्री १००८ महावीर प्रभु के दर्शन के लिये समस्त प्रजाजनों के साथ चलने का निश्चय करने वाले श्रेणिक महाराज ने क्या क्या तैयारियाँ की सो बताते हैं ॥६८॥

वन्दितुं श्रीमहावीरं केवलज्ञान भास्करम् ।

विशिष्टाष्ट महाद्रव्यैः सामग्रीं चक्रिरे मुदा ॥६९॥

अन्वयार्थ—(केवलज्ञान भास्करम्) केवल ज्ञान दिवाकर (श्री महावीरं वन्दितुं) श्री महावीर प्रभु की वन्दना के लिये [समस्त नर नारियों ने] (विशिष्ट अष्ट महाद्रव्यैः) विशिष्ट दिव्य जल, चन्दन, अक्षत एवं सुगन्धित नाना प्रकार के पुष्प, विविध प्रकार के सुस्वाद्य मिष्टान्न पकवानों का नैवेद्य, रत्नमय दीप, सुगन्धित धूप, सुपक्व मधुर उत्तमोत्तम फल और अर्घ्यादि से शोभायमान ऐसी (सामग्रीं) सामग्री को (मुदा) हर्ष के साथ (चक्रिरे) तैयार करली ।

भावार्थ—लोक अलोक के समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाले केवल ज्ञान के धारी श्री महावीर भगवान की वन्दना के लिये नगर निवासी समस्त नरनारियों ने श्रेष्ठ, सुगन्धित, दिव्य मनोज्ञ अष्टद्रव्य जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य तैयार कर लिये ॥६९॥

भव्यास्ते परमानन्दैर्दिव्यवस्त्रैर्विरेजिरे ।

पूजा द्रव्यशतोपेताः पवित्रा वा सुरोत्तमाः ॥१००॥

अन्वयार्थ—(पूजा द्रव्यशतोपेताः) सैकड़ों प्रकार के उत्तम पूजा द्रव्यों से सहित (सुरोत्तमाः वा) सुरो में उत्तम देवेन्द्रों के समान (परमानन्दैः दिव्य वस्त्रैः) परमानन्द और दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत (पवित्रा) पवित्र-मन वचन और वाय शुद्धि को धारण करने वाले (ते भव्याः) वे भव्य जन नर नारी (विरेजिरे) दिशिष्ट शोभा को धारण कर रहे थे ।

भावार्थ—श्री १००८ महावीर प्रभु को वन्दना पूजा के लिये नाना प्रकार के एक एक द्रव्य सैकड़ों तरह के तैयार किये गये । अपनी अपनी शक्ति के अनुसार सुवर्ण चाँदी आदि श्रेष्ठ पात्रों में दिव्य, मनोज्ञ तथा अपने हाथ से तैयार किये गये शुद्ध अष्ट द्रव्य सजा लिये गये । चित्त में अतुल आनन्द को धारण करने वाले सुन्दर वस्त्र आभूषणों में सुसज्जित वे नर नारी ऐसे प्रतीत होते थे मानों स्वर्ग के देवी देवता ही धरा पर उतर आये हैं । सुरो में उत्तम देवेन्द्रों के समान उनका वैभव था । श्रेष्ठ अष्ट द्रव्यों को लेकर पूजा के लिये जाने वाले उन नर नारियों का समुल्लेख करते हुए आचार्य श्री ने यह संकेत-निर्देश किया है कि श्रावकों को खाली हाथ कभी भी देव शास्त्र गुरु के समक्ष नहीं जाना चाहिये । श्रेष्ठ, उत्तम, शुद्ध अष्ट द्रव्यों को भक्तिपूर्वक चढ़ाकर भगवान का दर्शन करना चाहिये ।

कहा भी है —“रिक्तहस्तं न पश्येत् राजानं देवतां गुरुम् ।
नैमित्तिक विशेषेण फलेनफलमादिशेत् ॥”

अर्थात् राजा, गुरु और देव के समक्ष खाली हाथ कभी भी नहीं जाना चाहिये । निमित्त नैमित्तिक की विशेषता से तथा द्रव्य की विशेषता से फल में भी विशेषता आती है । जिसका दर्शन करने के लिये हम जाते हैं वह तो निमित्त विशेष है और श्रेष्ठ पवित्र द्रव्य, क्षत्र काल भाव आदि सामग्री नैमित्तिक विशेष है । इन दोनों की विशेषता से फल में विशेषता आती है । इत्यादि कथन से यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि श्रावकों को द्रव्य पूर्वक ही देव शास्त्र गुरु की पूजा करनी चाहिये । जो लोग यह कहते हैं कि अष्ट द्रव्य को तैयार करने में आरम्भजन्य हिंसा होती है अतः द्रव्य पूजा न करके भावपूजा करना ही श्रेष्ठ है उनके निराकरण के लिये कहते हैं—

त्रिकाल क्रियते भव्यैः पूजापुण्य विधयिनी ।

या कृता पापसंघातं हत्याजन्मसमजितम् ॥१००॥ (उमास्वामी श्रावकाचार)

जो भव्य जीव सातिशय पुण्य की कारणभूत जिनपूजा को त्रिकाल-तीनों काल में करते हैं वे जन्म जन्मान्तर में अजित पापसंघात-पाप कुञ्जर को उस जिनपूजा के द्वारा नष्ट कर देते हैं ।

“तथा कुटुम्ब भोगार्थमारम्भः पापकृद् भवेत् ।

धर्मकृद्दानपूजादौ हिसालेशोमतः सदा ॥१४४॥ उ० श्रा. ॥

अर्थ—जो आरम्भ कुटुम्ब पालन वा भोग के लिये किया जाता है वह पाप उपार्जन के लिये होता है, किन्तु दान पूजा आदि में किया गया आरम्भ तो सदा धर्म का करने वाला होता है। हाँ उसमें हिंसा का लेश अवश्य माना है ॥१४४॥ वह अल्प हिंसा समुद्र में डाले गये विष के एक कण के समान तुच्छ है, फल देने में असमर्थ होता है।

(त्रिकाल पूजा का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं—

पूर्वाह्णे हरते पापं मध्याह्णे कुरुते श्रियम् ।

ददाति मोक्षं सन्ध्यायां जिनपूजा निरन्तरम् ॥१८१॥ ३० आ. ॥)

पूर्वाह्नकाल—प्रातःकाल की गई जिन पूजा पाप को हरती है। मध्याह्न में की गई जिनपूजा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी को प्रदान करती है और सायंकाल की जिनपूजा मोक्ष को प्रदान करती है।

ऐसी महत्वपूर्ण जिनपूजा वन्दना के लिये जाते हुए श्रेणिक महाराज अपनी प्रजा-जनों के साथ, देवेन्द्र के समान शोभित थे।)

नायोंऽपि निर्ययुः काश्चित् सुगन्धजलसंभृतम् ।

स्वर्णभृङ्गारमादाय मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(सुगन्धजलसंभृतम्) सुगन्धित जल से भरे हुए (मेरुशृङ्गमिवोन्नतम्) मेरु की शिखर के समान उन्नत-उत्तुङ्ग (स्वर्णभृङ्गारं) सुवर्णमयी भारी-कलश को (आदाय) लेकर (काश्चित्) कुछ (नायोंऽपि) और भी स्त्रियाँ (निर्ययुः) निकलीं।

भावार्थ—जिस प्रकार सांसारिक विवाहादि माङ्गलिक कार्यों में मङ्गल कलशादि स्थापन किये जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी परम मङ्गलमय केवल-ज्ञान के धारी श्री महावीर प्रभु के दर्शन को जाते समय उत्तम अष्ट द्रव्यों के साथ-साथ माङ्गलिक सुवर्णमय दिव्य कलशों को सिर पर रखकर समुदाय के साथ स्त्रियाँ निकलीं।

जल से भरे हुए वे कलश मानों यह कह रहे थे कि तुम भी श्री जिनेन्द्रदेव की पवित्र अमृतमय जिनवाणी रूपी गङ्गा के जल से अपने चित्त रूपी कलश को भर लो।

काश्चित्चन्दनकाशमीरं समुद्धृत्य प्रमोदिता ।

शौत्तलं पापसंतापनाशनं वा जिनोदितम् ॥१०२॥

काश्चित्छुभाक्षतान्युच्चैः पुण्यांकुरवदुत्तमान् ।

काश्चित्प्रानाप्रसूनानि सुगन्धानि विशेषतः ॥१०३॥

काश्चित्चरुत्करैर्दोषैर्धूपैस्सारफलोत्करैः ।

सायुः प्रचेलुरत्यन्तजिनभक्ति परायणाः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(प्रमुदिता) प्रमोद से भरी हुई (काश्चित्) कुछ स्त्रियाँ (जिनोदितम्) जिनागम में कथित (पापसंतापनाशनं) पापरूपी संतापदाह का निवारण करने वाले (शीतलं) शीतल (चन्दनकाशमीरं) काशमीरी चन्दन को (समुद्घृत्य) लेकर ।

(उच्चैः) हर्षोत्कर्ष से सहित (काश्चित्) कुछ स्त्रियाँ (पुण्यांकुरवत्) पुण्यरूपी वृक्ष को उत्पत्ति में अंकुर के समान (उत्तमान्) श्रेष्ठ-अखण्ड (शुभाक्षतान्) शुभवर्ण वाले सुन्दर सुगंधित अक्षतों को और (काश्चित्) कुछ स्त्रियाँ (विशेषतः) विशेष उल्लास के साथ (सुगन्धानि) उत्तम सुगन्धवाले (नानाप्रसूनानि) नानाविध पुष्पों को लेकर ।

(काश्चित्) कुछ स्त्रियाँ (चरुकरैः) उत्तम नैवेद्यों से (दीपैः धूपैः) उत्तम दीप और धूपों से (सार फलोत्करैः) सारभूत उत्तमफलों से (सार्द्धं) सहित (प्रचेलुः) चलीं ।

भावार्थ—परम उल्लास से भरी सौभाग्यवती नारियाँ उत्तम अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलादि लेकर श्री जिनेन्द्रप्रभु की पूजा के लिये चल पड़ी । जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में अर्पित किया गया पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप कभी भी पाप बन्ध का कारण नहीं हो सकता । अपितु अभी कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि पुष्प चढ़ाने में दोष है, दीप, धूप चढ़ाने से भी हिंसा होती है अतः नहीं चढ़ाना चाहिये, फल वनस्पतिकाय हैं, सचित्त हैं अतः अप्राप्त्युक्त है अतः फल नहीं चढ़ाना चाहिये ? किन्तु किसी भी श्रावकाचार ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा है । अष्ट द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्यों के चढ़ाने का विधान है और उनका विशेष महत्व भी दर्शाया है । वसुनन्दि श्रावकाचार में पुष्पपूजा का फल बताते हुए आचार्य लिखते हैं—

कुसुमेहि कुसेसयवयण तरुणोजणप्रणकुसुमवरमाला ।
बलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चैव ॥”

अर्थ—पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाली, तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समचित्त देह वाला कामदेव होता है ।

नैवेद्य पूजा का फल बताते हुए आचार्य लिखते हैं—

“जायइ णिविज्जदारणेण सत्तिगोकंतितेय संपण्णे ।
लायणजलहिवेलातरङ्ग संपाविय सरीरो ॥”

अर्थ—नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य शक्तिमान, कान्ति और तेज से सम्पन्न और सौन्दर्य-रूपी समुद्र की वेला (तट) बर्तों तरङ्गों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात् अति सुन्दर होता है ।

दीप पूजा का फल भी इस प्रकार बताया है—

“दीवेहि दीवियासेसजीवदब्बाइतच्च सब्भावो ।
सब्भावजणियकेवलपईवतेण होइ णरो ॥”

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवल ज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीव द्रव्यादितत्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला अर्थात् केवल ज्ञानी होता है । इसी प्रकार धूप और फल पूजा का भी विशेष फल है—

“धूवेण मिमिरदरधवल कित्तिधवलिय जयत्तओ पुरिसो ।
जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाण सौखफलो ।”

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवलकीर्ति से जगत्त्रय को धवल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है तथा फलों से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्वाण का सुख रूप फल पाने वाला होता है ।

अन्यत्र भी ऐसा कथन मिलता है । अतः जल, चन्दन वा अक्षत के समान ही अन्य द्रव्य भी अपना उसी प्रकार विशेष महत्व रखते हैं सभी द्रव्य उत्तमोत्तम होने चाहिये । यथा-शक्ति उत्तम द्रव्यों से पूजा करने वाला श्रावक सातिशय पुण्य का उपार्जन करता हुआ मिथ्यात्वादि संसार के बन्धनों का छेदन कर अल्पभवों में ही मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है ।

एवं नार्यो जिनेन्द्रोक्त धर्मकर्मसुतत्पराः ।

सारभृंगार संभारा निर्ययुर्वा सुराङ्गनाः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (जिनेन्द्रोक्त) जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित (धर्म-कर्मसुतत्परा) धर्मकर्म में सुतत्पर रहने वाली अर्थात् क्षमादि आत्म धर्म से अलंकृत और षट्कर्मों में निरत रहने वाली वे (सारभृंगार संभारा) षोडशा भरण रूप सारभूत भृङ्गार के भार से संभृत (सुराङ्गना) देवाङ्गना के समान (नार्यो) नारियां (निर्ययुः) निकलीं ।

भावार्थ—अष्ट द्रव्य रूप पूजा की सामग्री लेकर नगर की नारियां अपने-अपने घर से बाहर निकलीं । जिन दर्शन के चाव से उनका मन प्रफुल्लित था । जिन धर्म परायण महिलाएँ नाना प्रकार के रत्नजटित आभूषणों एवं सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत थीं । जिन धर्म में सदा तत्पर रहने वाली, भक्तिभाव से भरी हुई रूपवती वे नारियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों स्वर्ग की देवाङ्गना ही हों अथवा साक्षात् शचि-इन्द्राणी ही अनेक रूप धारण कर आई हों । हार आदि आभूषणों से लदी हुई उनका कान्तिमान रूप इन्द्राणी के समान था ।

इत्येवं सर्वभग्यौघसंयुतो श्रेणिको नृपः ।

चेलनादि प्रियोपेतः परैः पुत्रादिभिर्युतः ॥१०६॥

योग्ययानं समारूढो विलसच्छत्रचामरः ।

ध्वनद्वादित्र संदोहैर्जयकोलाहलध्वनैः ॥१०७॥

चारणमागधाद्यंश्च स्तूयमानो यशोधनः ।

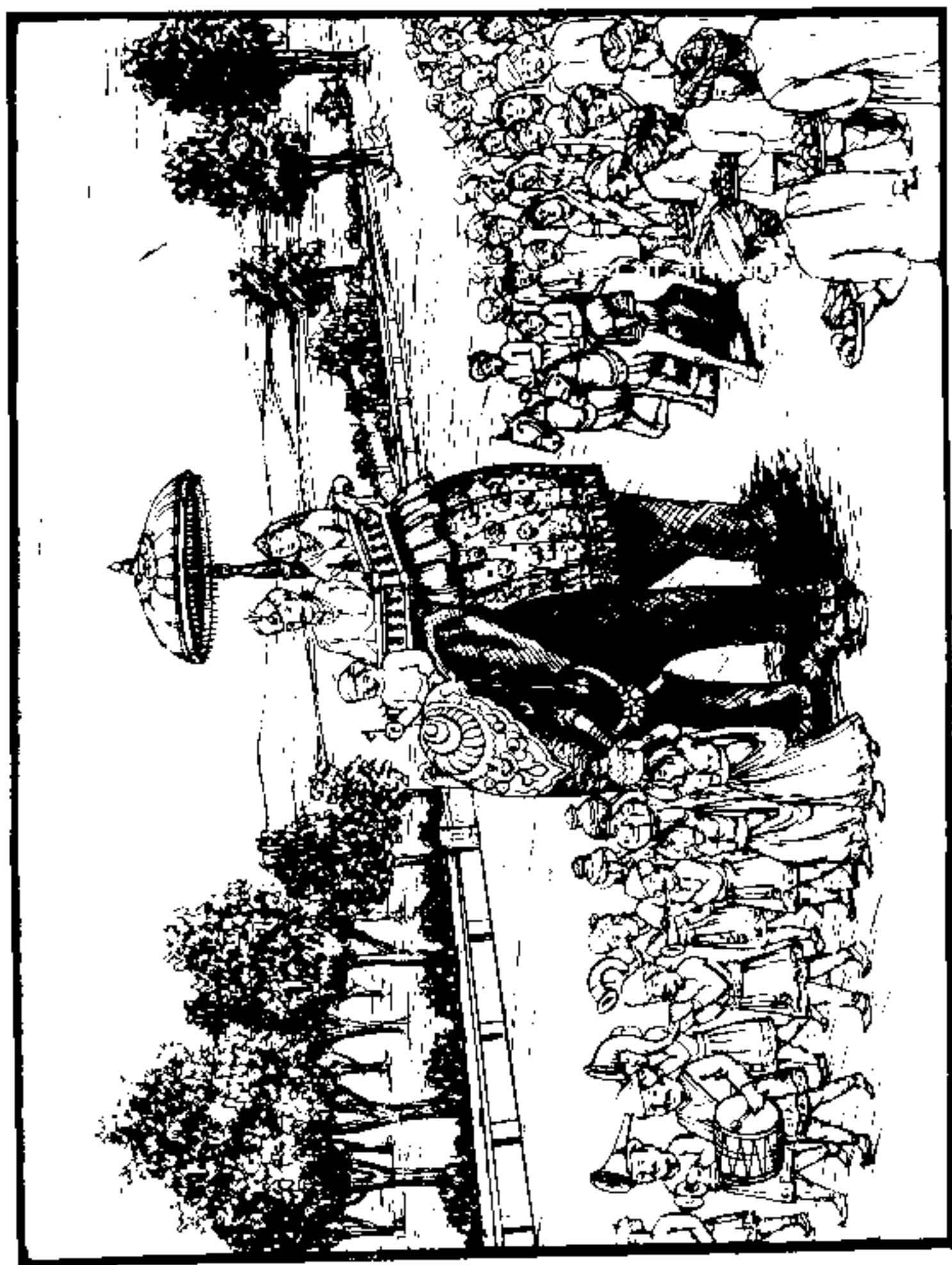
देवेन्द्रो बालसन्मूर्तिनिर्ययौ जिनभक्तिभाक् ॥१०८॥

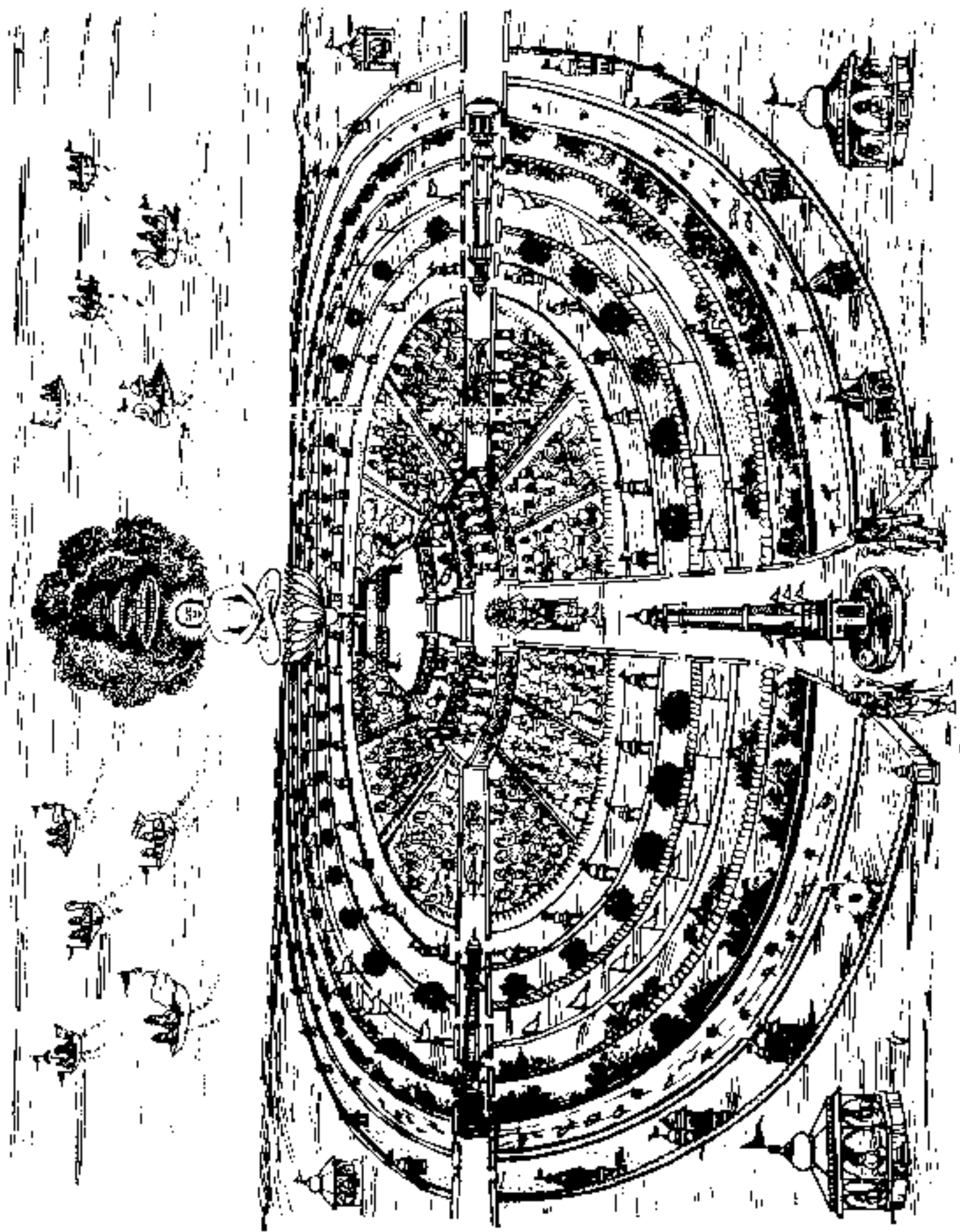
अन्वयार्थ—(इत्येवं) इस प्रकार (श्रेणिको नृपः) श्रेणिक राजा (भव्यौघः) भव्य-जनों से (संश्रुतो) सहित (चेलनादि प्रियोपेतः) पट्टमहिषी चेलना देवी आदि प्रियाओं सहित (पुत्रादिभिर्युतः) पुत्र आदि बन्धु बान्धवों के साथ ।

(योग्ययानं समारूढो) योग्य वाहन पर आरूढ़ हुआ (विलसच्छत्रचामरः) सुन्दर विलास करते हुए चमर जिस पर ढूलाये जा रहे हैं ऐसे (ध्वनद्वारदत्तसंदोहैः) तथा बजते हुए बाजों के साथ (जयकोलाहलध्वनैः) जय जय के कोलाहल रूप ध्वनि के साथ ।

(यशोधनः) यश ही है धन जिनका ऐसे वे राजा श्रेणिक महाराज (चारणमागधा-द्यंश्च) मागध आदि चारण भाटों द्वारा (स्तूयमानः) स्तुत होता हुआ (च) और (लसन्मूर्ति देवेन्द्रो वा) शोभायमान देवेन्द्र का ही मूर्तिमान रूप ही इस प्रकार (जिनभक्तिभाक्) जिन-भक्ति से भरा हुआ (निर्ययौ) नगरी से निकला ।

भावार्थ—राजा प्रजा पालक होता है । प्रजा उसके सुयश कुयश की प्रतीक होती है । संसार में कहावत प्रसिद्ध है “यथा राजा तथा प्रजा” अर्थात् जैसा योग्य या अयोग्य राजा होता है उसी प्रकार की उसकी प्रजा भी होती है । “राजा धर्मे धर्मिष्ठः” राजा यदि धर्मनिष्ठ होता है तो प्रजा भी स्वभाव से धर्मानुरागिनी होती है । महाराजा श्रेणिक सम्यक्त्व गुण से मण्डित महामण्डलेश्वर था । उसी प्रकार उसकी प्रजा भी धर्मानुरागिनी थी । सभी भक्ति से भरे हुए जयजयकार करते हुए श्री महावीर प्रभु के दर्शन के लिये चले । रत्नवास की समस्त रानियाँ, पुत्र पौत्र अपने-अपने उचित वाहनों पर सवार हुए । पालकी, हाथी, घोड़े, रथादि सजे-धजे चलने लगे । राजा रानी वा राजकुमारों पर यथायोग्य छत्र चमर लगाये गये थे । दूरते हुए चामरों की शोभा देखते ही बनती थी । विविध प्रकार के बाजे बज रहे थे । भौंभ मजीरा डोलक, नगाड़े, बीन, बाँसुरी आदि बाजों की ध्वनि कान और मन को हरण करने वाली थी । जयनाद के साथ घुँघुराओं की भँकार बड़ी ही सुहावनी प्रतीत हो रही थी । चामरों का उत्थान पतन, सागर की लहरों का स्मरण दिला रहा था । कोई समव-शरण की शोभा और रचना का बखान कर रहे थे तो कोई राजा का यशोगान करने में मस्त थे । इस प्रकार वह महाराजा श्रेणिक बड़े आनन्द से दल बल के साथ समवशरण में श्री वीतराग प्रभु की भक्ति, दर्शन, पूजन, स्तवन करने को निकला । ऐसा प्रतीत होता था मानों देवेन्द्र अपने समस्त स्वर्गीय वैभव के साथ ही भूलोक में विचरण करने आया हो । नरनारियाँ सर्वजन एक लक्ष्य को लिये थे “जिन भगवान का दर्शन ।” वस्तुतः जिनेश्वर का दर्शन संसार बंधन काटने की तीक्ष्ण कुठार है । सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने का अमोघ निमित्त है । मानस्थम्भ को देखते ही मान गलित हो जाता है, परिणाम विशुद्धि से सम्यग्दर्शन की जागृति हो जाती है । सम्यग्दृष्टि ही गंधकुटी में जाने की योग्यता रखता है । ऐसा ही यतिवृषभाभार्य ने अपने महानग्रन्थ तिलोय-पण्णत्ति में उल्लेख किया है । जिनभक्त परायण मण्डलेश्वर राजा श्रेणिक आनन्द विभोर





श्री 1008 भगवान महावीर का समभरण

होकर बड़े उत्साह से समवशरण में क्यों नहीं जाता ? अवश्य ही उनका प्रयाण सार्थक और शुभ फलप्रद था ।

गत्त्वानन्दभरेणशु तं गिरिं विपुलाचलम् ।

समारुह्य सुधोस्तुङ्गं कैलाशं वादिचक्रभृत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(आनन्दभरेणाशुगत्वा) आनन्दपूर्वक शीघ्र जाकर (तं) उस (विपुलाचलं गिरिं समारुह्य) विपुलाचल पर्वत पर चढ़कर (सुधी) वह बुद्धिमान श्रेणिक राजा (आदिचक्रभृत् कैलाशं वा) ऐसे प्रतीत होते थे मानो कैलाश पर्वत पर प्रथम चक्रवर्ती भरत ही चढ़ा हो ।

भावार्थ—पर्वत को देखते ही राजा श्रेणिक महाराज वाहन से उतर कर नङ्गों पर राजचिन्हों का त्यागकर उस विपुलाचल पर्वत पर चढ़ने लगे । आचार्य श्री कहते हैं कि उस समय वे श्रेणिक महाराज ऐसे प्रतीत होते थे मानो कैलाश पर्वत पर परिजन पुरजन सहित छह खण्ड के अधिपति प्रथम चक्रवर्ती आये हुए हैं ।

समवादिसृतिं वीक्ष्य नानाध्वजशतान्विताम् ।

संतुष्टः श्रेणिको राजा सुकेकीव घनावलिम् ॥११०॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ विपुलाचल पर्वत पर (नानाध्वजशतान्विताम्) अनेकों प्रकार की सैकड़ों ध्वजाओं से युक्त (समवादिसृतिं) समवशरण मण्डप को (घनावलिम् वीक्ष्य सुकेकी इव) घनघोर मेघमाला को देखकर मयूर के समान (श्रेणिको राजा) श्रेणिक महाराज (संतुष्टः) सन्तोष को प्राप्त हुए ।

भावार्थ—वहाँ विपुलाचल पर इन्द्र की आज्ञा से कुवेर द्वारा निर्मित अलंकृत आश्चर्यकारी सभामण्डप को श्रेणिक महाराज ने देखा । जिसमें अनेकों शिखर थे और शिखरों पर चित्र विचित्र अनुपम सुन्दर सैकड़ों ध्वजायें—पताकायें फहरा रही थीं । हिलती हुई ध्वजायें मानों भव्य जीवों की वीर प्रभु का उपदेश सुनने के लिये बुला रही थीं । उस अद्भुत समवशरण रचना का अवलोकन कर श्रेणिक महाराज को इतना हर्ष हुआ जितना हर्ष गरजती हुई मेघ घटाओं को देखकर मयूर को होता है । इस समय श्रेणिक महाराज का मन मयूर भी थिरकियाँ ले रहा था, शरीर हर्षाकुरों से व्याप्त हो गया था । वह गद्गदकण्ठ हो उठा, अपूर्व आनन्द हो रहा था उन्हें । आनन्दरस पूरित उस राजा ने तीन प्रदक्षिणा देकर सभामण्डप में प्रवेश किया ॥११०॥

त्रिःपरीत्य ततो भक्त्या तां प्रविश्य प्रभो सभाम् ।

मानस्तम्भादिभिर्नित्यं पवित्री कृत भूतले ॥१११॥

तं विलोक्य जिनं वीरं केवलज्ञान भास्करम् ।
 सुरासुरनराधीशस्सर्माचित पदद्वयम् ॥११२॥
 दिव्यरत्नसुवर्णोरुपीठत्रयसमन्वितम् ।
 मेरोःशृङ्गमिधोत्तुङ्गं सिंहासनमधिष्ठितम् ॥११३॥
 सेवागत त्रिधाचन्द्राकारछत्रत्रयान्वितम् ।
 बीज्यमान चतुष्पष्ठीचामरैः निर्भरोपमैः ॥११४॥
 सर्वसन्देह विध्यंसीदिव्यध्वनिविराजितम् ।
 हतशौकमहाशोकतरुसंश्रित विग्रहम् ॥११५॥
 कोटिसूर्यप्रभास्पद्धि लसत् भामण्डलादिकम् ।
 यत्र भव्याः प्रपश्यन्ति स्वकीयं भव सप्तकम् ॥११६॥
 नन्ददेव ! जयेत्युच्चैः पुष्पवृष्टि समन्वितम् ।
 मोहारि विजयोत्पन्न देवदुन्दुभि कोटिभिः ॥११७॥
 समुत्पन्नमहानादैर्गजिताखिल भूतलम् ।
 चतुस्त्रिंशमहाश्चर्यैः प्रसिद्धैरज्जिताखिलम् ॥११८॥
 गरौर्द्वादशभिर्नित्यं निर्ग्रन्थादिभिरावृतम् ।
 ज्ञानदर्शनवीर्यादि व्यक्तानन्त चतुष्टयम् ॥११९॥
 इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कखेचराद्यैः समर्चितम् ।
 नानानरेन्द्रसंदोहसमाराधित पङ्कजम् ॥१२०॥
 विशिष्टाष्ट महाद्रव्यैः समभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।
 चकारसंस्तुति राजा महाभक्तिपरायसाः ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(ततो) इसके अनन्तर (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (त्रिःपरीत्य) तीनप्रदक्षिणा
 देकर (नित्यं) नित्य ही (मानस्तम्भादिभिः) मानस्तंभ आदि के द्वारा जिसने (भूतले)
 पृथ्वी पर (पवित्रीकृत) पावनता का प्रसार किया है ऐसी (प्रभोः) भगवान की (तां सभां
 प्रविश्य) उस सभा में प्रवेश कर ।

(सुरासुरनराधीशः) देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती राजाओं से (समर्चित) संपूजित
 हैं (पदद्वयम्) चरणकमल जिनके (दिव्यरत्नसुवर्णोरुपीठत्रयसमन्वितम्) दिव्य रत्नमय सुवर्ण-
 मय उन्नत तीन पीठों से समन्वित (मेरोः शृङ्गमिव) सुमेरु पर्वत के शिखर के समान

(उत्तुंगसिंहासनम्) ऊँचे सिंहासन पर (अधिष्ठितम्) विराजमान (सेवागत) सेवाभक्ति से लगाये गये (त्रिधाचन्द्राकार छत्रत्रय) तीनप्रकार के चन्द्राकार तीन छत्रों से (अन्वितम्) सहित (वीज्यमाननिर्भरोपमैः) दुलते हुए निर्मल भरने के समान (चतुष्पष्ठी चामरैः अन्वितम्) चौसठ चामरों से सहित (सर्वसंदेह विध्वंसी दिव्यध्वनि विराजितम्) सर्व संदेह का निवारण करने वाली दिव्यध्वनि से शोभायमान (हतशोक-महाशोकतरुसंश्रित) भव्य जीवों के सम्पूर्ण शोका को नष्ट कर दिया है जिसने ऐसे महा अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान (विग्रहम्) उत्तम परम आदारीक शरीरवाले तथा (यत्र भव्याः स्वकीयं सप्तभवं प्रपश्यन्ति) जहाँ भव्य जीव अपने सात भवों को देखते हैं ऐसे (लसत्) शोभायमान (कोटिसूर्यप्रभास्पर्द्धि) करोड़ों सूर्य की प्रभा से स्पर्द्धा करने वाले अर्थात् उससे भी अधिक प्रभा को धारण करने वाले (भामण्डलादिकम्) भामण्डल आदि जहाँ मौजूद हैं तथा (गुणवृष्टिसमन्वितम्) जो दिव्यगुण वृष्टि से समन्वित हैं (मोहार्विजयोत्पन्न) मोह रूप शत्रु को जीतने से उत्पन्न महाविजय को घोषित करने वाले हैं तथा (नन्ददेव ! जयेत्) हे परमानन्दकारी प्रभु ! आपका शासन जयवन्त रहे ऐसा (उच्चैः) उच्च स्वर से कहने वाले उन (कोटिभिः देवदुन्दुभिसमुत्पन्नमहानादैः) करोड़ों देव दुन्दुभि बाजों से उत्पन्न महानाद गम्भीर निनाद से (गञ्जिताखिलभूतलम्) गुञ्जित है अखिल भूमण्डल जहाँ और (प्रसिद्धैः) प्रसिद्ध (चतुस्त्रिंशमहाश्चर्यैः) चौतीस अतिशयों रूप आश्चर्यों से (रञ्जित) पूजित है—अतिशयता को प्राप्त हैं तथा (गणैर्द्वादशभिः) द्वादश सभाओं से (निर्ग्रन्थाभिः) निर्ग्रन्थ मुनिजनों से (आवृतम्) घिरे रहते हैं (ज्ञानदर्शनवीर्यादि) अन्नत ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य आदि रूप (व्यक्तानन्तचतुष्टयम्) अनन्त चतुष्टय रूप शक्ति जिनकी व्यक्त हो चुकी है ऐसे तथा (इन्द्रनागेन्द्र चन्द्रार्कखेचराद्यैः) देवेन्द्र, नागेन्द्र, ज्योतिषेन्द्र सूर्य चन्द्र और विद्याधरों से (समर्चितम्) संपूजित (नानानरेन्द्रसंदोह समाराधित) अनेक चक्रवर्तियों के समूह से समाराधित हैं (पङ्कजम्) चरणकमल जिनके ऐसे श्री (केवल ज्ञान-भास्करम्) केवल ज्ञान दिवाकर (तं वीरजितं विलोक्य) उम वीर प्रभु को देखकर (विशिष्टाष्टमहाद्रव्यैः) उत्तम अष्टमहाद्रव्यों से (जिनेश्वरं समर्च्य) जिनेन्द्रप्रभु की पूजाकर (महा-भक्तिपरायणः) जिनभक्ति में अतिप्रवीण (राजा) राजा श्रेणिक महाराज ने (संस्तुति) [भगवान की] उत्तम स्तुति (चकार) की ।

भावार्थ—प्रजा सहित श्रेणिक महाराज प्रथम भगवान की तीन परिक्रमा करते हैं फिर मानस्थम्भ आदि से पवित्रीकृत भूतल पर स्थित श्री वीर प्रभु के समवशरण में प्रवेश करते हैं । अथानन्तर अरहन्त प्रभु के ४६ मूल गुणों का समुल्लेख करते हुए श्री वीर प्रभु की स्तुति करते हैं । ३४ अतिशयों, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्त चतुष्टय इन ४६ गुणों से समन्वित श्री अरहन्त देव ही सच्चे देव हैं तथा भव्य जीवों को उत्तम अक्षय सुख को प्राप्त कराने में समर्थ हैं । यहाँ ४६ मूलगुणों का संक्षिप्त परिज्ञान आवश्यक है अतः उनका निर्देश संक्षेप में यहाँ करते हैं । सर्व प्रथम ३४ अतिशयों को बताते हैं—१० जन्म के अतिशय, १० केवलज्ञान के अतिशय और १४ देवकृत अतिशय हैं ।

जन्म के १० अतिशय निम्नलिखित हैं—(१) कभी शरीर में पसीना न आना (२) मलमूत्र नहीं होना (३) दूध के समान सफेद रुधिर का होना (४) समचतुरस्र संस्थान का

होना (५) वज्रवृण्म नाराच संहनन का होना (६) अत्यन्त सुन्दर शरीर होना (७) सुगन्ध-मय शरीर होना (८) शरीर पर उत्तम लक्षणों का होना (९) अनन्तवीर्य होना (१०) हित-कारी और मधुर वचनों का निकलना ।

अब केवलज्ञान के १० अतिशय बताते हैं—

(१) ४०० कोस तक अर्थात् १०० योजन तक सुभिक्षता का होना—दुष्काल नहीं पड़ना । (२) आकाश में गमन करना । (३) किसी जीव को बाधा न पहुँचाना । (४) कवलाहार ग्रहण न करना । (५) किसी प्रकार का उपसर्ग न होना । (६) चारों दिशाओं में चार मुख का दिखाई देना । (७) समस्त विद्याओं का ईश्वरपना होना । (८) शरीर की छाया न पड़ना । (९) नैशों का टिमकारा न लगना । (१०) मख केशों का न बढ़ना ।

१४ देवकृत अतिशय इस प्रकार हैं—

केवल ज्ञान होने के बाद समवशरण में विराजमान अरहन्त प्रभु की सेवा में तत्पर देवों द्वारा किये गये १४ प्रकार के अतिशय होते हैं—

(१) समस्त जीवों का कल्याण करने वाली भगवान की दिव्यध्वनि का अर्धमागधी भाषा रूप होना ।

(२) समवशरण में आने वाले समस्त प्राणियों का अपना जन्म से होने वाला वैर विरोध छोड़कर मैत्री भाव से रहना ।

(३) वहाँ की पृथ्वी के वृक्षों का जहाँ ऋतुओं में होने वाले फल फूलों पत्तों से सुशोभित होना ।

(४) वहाँ की पृथ्वी का रत्नमयी होना ।

(५) पृथ्वी का दर्पण समान अत्यन्त निर्मल होना ।

(६) भगवान जिस दिशा की ओर विहार करते हैं वायु का उसी दिशा की ओर बहना ।

(७) वहाँ पर आने वाले समस्त जीवों को महाआनन्द का होना ।

(८) जहाँ भगवान विहार करते हैं वहाँ पर सुगन्ध से मिली हुई वायु के द्वारा एक योजन तक की भूमि को धूल कांटे, तृण, कीट, बालू, रेत, पत्थर आदि को हटाकर स्वच्छ कर देना ।

(९) सुगन्धित गन्धोदक की वृष्टि होना ।

(१०) भगवान के चरणों के नीचे कमलों की रचना करना ।

भगवान तीर्थंकर परमदेव जब विहार करते हैं तब देव उन चरणकमल के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते हैं । एक कमल चरणकमल के नीचे रहता है, सात आगे होते

हैं, सात पीछे होते हैं। इस प्रकार १५ कमल होते हैं किन्तु समस्त कमलों की संख्या २२५ होती है जो इस प्रकार हैं—एक कमल भगवान के चरणों के नीचे रहता है। सात-सात कमल आठों दिशाओं में होते हैं तथा उन आठ दिशाओं के मध्यवर्ती आठ अन्तरालों में भी सात-सात कमल होते हैं इस प्रकार एक सौ तेरह कमल हुए पुनः उपर्युक्त १६ पंक्तियों के मध्यवर्ती अन्तरालों में भी सात-सात कमलों की पंक्ति होती है इस प्रकार ११२ कमल ये और हुए। सब मिलाकर २२५ कमल हुए।

(११) पृथ्वी फलों के भार से नम्रित और जालि आदि समस्त धान्य के निमित्त से रोमाञ्चन हुई के समान दिखती है।

(१२) आकाश स्वच्छ वा निर्मल हो जाता है, दशों दिशाएँ घुलि और अन्धकार से रहित हो जाती हैं।

(१३) ज्योतिषि देव, व्यन्तर देव, कल्पवासी देव और भवनवासी देव इन्द्र की आज्ञा से चारों ओर परस्पर "आओ आओ" इस प्रकार शोभता से बुलाते हैं।

(१४) जो दंदीप्यमान एक हजार आरों से शोभित हैं और चारों ओर अत्यन्त निर्मल महारत्नों की किरणों के समूह से शोभायमान हैं जो अपनी कान्ति से सूर्य की कान्ति को भी हँसता है—तिरस्कृत करता है ऐसा धर्मचक्र भगवान के विहार करते समय सबके आगे आगे चलता है। इस प्रकार ये १४ अतिशय हुए।

प्रातिहार्ये आठ होते हैं—(१) अशोक वृक्ष का होना—जिसका विस्तार वैडूर्यमणि की कान्ति के समान अत्यन्त सुन्दर है जिसकी शाखायें नवीन अंकुरों से और कोमल पत्तों से सुशोभित हैं, उत्तम मरकतमणि के समान जिसके हरे पत्तों हैं। पत्तों के अधिक होने से जिसकी छाया बहुत घनी है ऐसी अनेक प्रकार की शोभा से शोभित श्री जिनेन्द्रदेव के पास होने वाला शोभनीय अशोक वृक्ष होता है।

(२) पुष्पवृष्टि का होना—जिसके चारों ओर मदोन्मत्त भ्रमर फिर रहे हैं ऐसे मन्दार, कुन्द, रात्रि विकासी कमल, नीलकमल, श्वेतकमल, भालती वकुल आदि मिले हुए पुष्पों की आकाश से सदा वृष्टि होती रहती है।

(३) चामरों का ढुलना—६४ चमरों को यक्ष जाति के देव, भगवान के ऊपर ढोलते हैं।

(४) दुन्दुभि बाजों का बजना—प्रबल वायु के बात से शोभित हुए समुद्र के गम्भीर शब्द के समान जिनके मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसे घोणा, बंशी आदि सुन्दर बाजों के साथ दुन्दुभि बाजे ताल के साथ मनोहर ध्वनि से बजते हैं।

(५) तीन छत्र का होना—अनेक मोतियों की झालरें जिसमें लग रही हैं जो चन्द्रमा

से भी अधिक धवल तथा शुभ्र हैं, वैदूर्यमणिमय जिसके दण्ड हैं ऐसे मनोज्ञ तीन छत्र भगवान के ऊपर सुशोभित होते रहे हैं ।

(६) दिव्य ध्वनि—पानी से भरे हुए बादलों की गर्जना के समान, समस्त दिशाओं के समूह में व्याप्त, कानों को तथा मन को अत्यन्त सुख देने वाली ऐसी भगवान की दिव्यध्वनि एक योजन तक पहुँचती है ।

(७) सिंहासन—जिनकी किरणों चारों ओर फैल रही हैं ऐसे रत्नों की किरणों से इन्द्र धनुष के समान छटा को धारण करने वाला ऐसा अनुपम स्फटिक पाषाण का बनाया हुआ अत्यन्त उत्कृष्ट सिंहासन स्फटिकमय सिंहों के द्वारा धारण किया जाता है । उस सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अधर आकाश में ही भगवान विराजते हैं ।

(८) भगवान के पीछे भामण्डल का होना—इस भामण्डल में भव्यजीव अपने ७ भव देखते हैं तथा सूर्यचन्द्र से भी अधिक दीप्ति को धारण करने वाला परम सुखकर होता है ।

इस प्रकार ये ८ प्रातिहार्यों से सहित भगवान होते हैं ।

अब अनन्त चतुष्टय को बताते हैं—

अनन्त ज्ञान—लोकालोक के समस्त पदार्थ अनन्त पर्यायों सहित जिनके ज्ञान में स्पष्ट एक साथ भलकते हैं ऐसे केवलज्ञान के धारी श्री अरहन्त देव होते हैं । ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से श्री अरहन्तदेव को लोकालोक के सभी पदार्थों को एक साथ जानने की क्षमता रखने वाला केवलज्ञान प्रकट हो जाता है ।

अनन्त दर्शन—दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से श्री अरहन्त देव को लोकालोक का युगपत् अवलोकन सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन होता है ।

अनन्त सुख—मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से जिनके निराकुल मुख प्रगट हो गया है ऐसे अनन्त सुख के धारी श्री अरहन्तदेव होते हैं ।

अनन्त वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से जिनके आत्मस्थ अनन्त वीर्य गुण प्रकट हो गया है ऐसे अनन्त वीर्य के धारी श्री अरहन्त देव होते हैं ।

इस प्रकार ४६ मूलगुणों के कथन पूर्वक श्रेणिक महाराज श्री वीर प्रभु की अनेक प्रकार स्तुति करते हैं । और भी स्तुति रूप वचन कहते हैं ।

जयत्वं श्री जगद्देव जय चिन्तामणे प्रभो ।

जय त्वं परमानन्दकारणं भव्यदेहिनाम् ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(श्री जगद्देव) हे विश्ववंश (त्वं) आप (जय) जयशील होइये (चिन्तामणे प्रभो) हे चिन्तामणि समान फलप्रदाता भगवन् आप (जय) जयशील होवें

(भव्यदेहिनाम्) भव्यजीवों के (परमानन्दकारणों) परम आनन्द उत्पन्न करने में निमित्त कारण स्वरूप (त्वं) आप (जय) सदैव जयवन्त होंगे ।

जय त्वं श्री जगद्वन्धो जयसर्वज्ञ सर्ववित् ।

जय जन्मजरातङ्कनिवारण भिषग्वरः ॥१२३॥

अन्वयार्थ — (श्री जगद्वन्धो) उभय लक्ष्मी के अधिष्ठाता हे संसार के बन्धु ! मित्र ! (सर्वज्ञ) हे सर्वतत्त्व ज्ञाता (सर्ववित्) समस्त लोकालोक को युगपत् जानने वाले केवलज्ञान के धारी प्रभो (त्वं) आप (जय) जयवन्त हो (जन्मजरातङ्कनिवारण भिषग्वर) जन्म, बुढ़ापा और मरण रूपी रोग को नाश करने वाले हे श्रेष्ठतम वैद्य (जय) आप जयवन्त होइये ।

जय त्वं सर्वजन्तूनां करुणाकरसागर ।

वीतराग जगज्ज्योतिर्योतिताखिलभूतले ॥१२४॥

अन्वयार्थ — (सर्वजन्तूनां करुणाकरसागर) संसारताप से पीडित सर्वप्राणियों को दुःख-निवारक आप करुणा के सागर सिन्धु हैं (जगज्ज्योतिर्योतिताखिलभूतले) जगत् के प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान ज्योति स्वरूप (त्वं) आप (जय) सदैव जयवन्त होंगे ।

जयवीर महावीर सन्मते वर्द्धमान भाक् ।

महत्यादिमहावीर जय त्वं धर्मनायक ॥१२५॥

अन्वयार्थ — (वीर महावीरसन्मतेवर्द्धमानः) हे वीर, हे महावीर, हे सन्मति हे, वर्द्धमान (महत्यादिमहावीर) हे अतिवीर (भाक्) पाँच नामों से विख्यात (धर्मनायक) हे धर्म के अधिपति नेता (त्वं) आप (जय) जयवन्त होंगे ।

स्वामिस्तावत्तमस्तोमो यावन्नोदयते रविः ।

तावज्जनो जडो दुःखी यावत् त्वां नाश्रितस्त्रिधा ॥१२६॥

अन्वयार्थ — (स्वामिन् !) हे स्वामी ! (तमस्तोमो) घनघोर सघन अन्धकार (तावत्) तब तक ही रहता है (यावत्) जब तक कि (रविः) सूर्य (नोदयते) उदय को प्राप्त नहीं होता है । (तथा) उसी प्रकार (जनो) संसारी भव्य जीव (तावत्) तब तक ही (जडो दुःखी) मिथ्यात्व अन्धकार से दुःखी रहता है (यावत्) जब तक कि वह (त्रिधा) त्रियोग—मन वचन काय से (त्वां) आपको (नाश्रित) आश्रय नहीं किया अर्थात् आपकी शरण में नहीं आया ।

प्रभो कल्पलतेषोर्ध्वभक्तिस्तेसोऽह्यदायिनी ।

आसंसारं सुधीर्भूयादाधिध्याधिबिनाशिनी ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (ते भक्तिः) आपकी भक्ति (कल्पलता इव) कल्पलता के समान (उर्ध्वः) महान् (सौख्यदायिनी) स्वर्गमोक्षादि के सुख को देने वाली है (आधिभ्याधिविनाशिनी) मानसिक और शारीरिक कष्टों को नष्ट करने वाली है । (आसंसारं) संसार का नाश होने पर्यन्त (सुधीः भूयात्) सम्यक् प्रकार वह सुज्ञान प्रकाशक भक्ति हमारे हृदय में स्थिर होवे ।

इत्यादि स्तुति वाक्यौघैः संस्तुव्य जिननायकम् ।

भूमौ न्यस्त शिरोदेशो ननाम चरणद्वयम् ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(इत्यादि) उपर्युक्त प्रकार से श्रेणिक महाराज (स्तुतिवाक्यौघैः) अनेक प्रकार के स्तुति के वाक्य समूह से (जिननायकम्) अर्जुन जितेन्द्र भगवान् महावीर स्वामी की (संस्तुव्य) स्तुति करके (शिरोदेशो) मस्तक (भूमौन्यस्त) पृथ्वी पर टेक कर (चरणद्वयम्) चरणकमलों को (ननाम) नमस्कार किया ।

भावार्थ—भक्ति, आनन्द और उन्साह से विभोर वह श्रेणिक महाराज महागद्गद स्वर में, समवर्णन में सिंहासन से चतुरंगुल अधर विराजित छत्रत्रय सहित, अष्टमहाप्रातिहार्य मण्डित तथा चौसठ चामर जिन पर दुर रहे हैं ऐसे महावीर प्रभु की स्तुति करने लगा-हे प्रभो ! आप ही संसार में सच्चे देव हैं क्योंकि अन्य हरिहरादि आरम्भ परिग्रह और कषायमल से लिप्त हैं, वे यथार्थ देव नहीं हो सकते हैं । हे प्रभो ! आप चिन्तामणि रत्न के समान भक्तों को चिन्तित फल प्रदान करने में समर्थ हैं क्योंकि आप बीतरागी हैं, रागद्वेष विहीन हैं । जो समताभावी होता है, वही सबको समान रूप से सुखी तृप्त कर सकता है । हे भगवन् ! मुमुक्षु भव्य प्राणियों को आप परमानन्दमुक्ति श्री का अक्षय सुख प्रदान करने में समर्थ निमित्त कारण हैं । हे जगत के अकारण बन्धु आप की जय हो । सांसारिक बन्धु वह होता है जो जीव को, स्वार्थवश, विषय भोगों में फँसाने का प्रयत्न करता है विवाह आदि कार्यों में समन्वित होकर प्रेम प्रदर्शित करता है किन्तु आप निष्कारण भवदुःखनाशक परम बन्धु हैं । आपका उपदेश अमृत सदन जग संताप को दूर करना है अतः आप ही सर्व हितैषी बन्धु हैं । आप सर्वज्ञ हैं "सर्व जानातोति सर्वज्ञः" जो त्रैलोक्यवर्ती सकल पदार्थों को उनकी अनन्त पर्यायों से सहित युगपत् जानने में समर्थ है वही सर्वज्ञ कहलाता है । हे भगवन् आपके केवलज्ञान रूपी दर्पण में चराचर समस्त पदार्थ एक साथ अपने अनन्तपर्यायों सहित झलकते रहने हैं । अतः आप सर्वज्ञ हैं आपकी जय हो जय हो, सदा जयशील हो । संसारी प्राणियों के शरीर जन्य रोगों बीमारियों को कुशल वैद्य अपनी योग्य अनुकूल औषधि से दूर कर देता है पर आप तो संसार जन्य रोग के कारणीभूत जन्म, जरा (बुढ़ापा) और मरण को ही नाश करने वाले हो अतः सर्वोत्तम कुशल वैद्य आप ही हो । हे जगत्पालक, संकट हारक, भव्यजनोद्धारक आप जयवन्त रहें यह आपका जिन धर्म संसार में वर्तता रहे ।

हे जिनाधिप ! आप करुणा के अगाध सिन्धु हैं, प्राणीमात्र के रक्षक परम दयालु

हैं । मोहान्धकार को नाश करने वाले हैं । विमल सम्यग्ज्ञान ज्योति का प्रकाश कर भव्यों को सद्बोध प्रदान करने वाले हैं आपकी ज्ञान गरिमा से विश्व ज्योतिर्भव हो रहा है । हे ज्योति पुञ्ज ! आप सदैव जयवन्त रहें । हे वीतरागी जिन ! आप किसी के द्वारा की गई निन्दा स्तुति से छुट तुष्ट नहीं होते हैं । स्तुति करने वाले से प्रसन्न और निन्दा करने वाले से अप्रसन्न नहीं होते । प्रभो ! आप राग द्वेष विहीन हैं अतः सच्चे वीतरागी आप ही हैं । विषय कषायों के जाल में फँसे हरिहर आदि वीतरागी नहीं हैं तथा वीतरागता के बिना हितोपदेशी और सर्वज्ञ भी नहीं हो सकते हैं । हे वीर प्रभो ! संसार में आपके पाँच नाम विख्यात हैं । प्रथम आप वर्द्धमान कहलाये क्योंकि गर्भावतरण के पूर्ण ही माता-पिता, देश, समाज तथा प्रजागणों में धन, जन, सुख, शान्ति, धर्म आदि की वृद्धि हुई । अतः वर्द्धनशील आपका वर्द्धमान नाम सार्थक है । आपने बाल्यकाल में ही 'संवर' देव को बालमुलभ श्रीडा में परास्त किया, अतः महावीर कहलाये । विजय और संजय नामक दो चरण ऋद्धिधारी दो मुनियों को किसी तत्त्वार्थ के विषय में संदेह उत्पन्न हुआ अकस्मात् उन्हें आपका दर्शन हो गया, हे प्रभो ! गृहस्थ अवस्था में स्थित भी आपके दर्शन मात्र से वे निःसन्देह हो गये और आपका 'सन्मति' यह नाम स्थापित कर वन विहार कर गये । जन्माभिषेक के समय शचिपति को शङ्का हुई कि कलश तो विशाल है और भगवान् बालक हैं, लघुकाय वाले हैं अतः अभिषेक किस प्रकार करूँ ? कहीं इन्हें कष्ट न हो जाय । तत्क्षण आपने अपने अवधिज्ञान से इन्द्र के संदेह को जात कर अपने दाहिने चरण के अंगूठे से समेर पर्वत को कम्पित कर क्षणमात्र में उसका संदेह निवारण कर दिया और अतिवीर नाम पाया । इस प्रकार आप पाँच नामों से विश्रुत जयशील रहें । हे नाथ ! आपकी जय हो ! जय हो जय हो ! आप धर्म के अधिनायक हैं, धुरा हैं, आप सतत् जयवन्त हों ।

आप मोहान्धकार को नष्ट करने के लिये ज्ञान भानु हैं । जिस प्रकार सूर्योदय होते ही भूतल पर व्याप्त सघन अन्धकार क्षणमात्र में विलीन हो जाता है । उसी प्रकार आपने दर्शनमात्र से भव्य जीवों के अनादि मिथ्यात्व-मोहरूपी अन्धकार पटल क्षणमात्र में आपके दर्शन से विलीन हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है । संसारी जीव तभी तक दुःखी रहते हैं जब तक आपके चरण कमलों की रज उन्हें प्राप्त नहीं होती है अर्थात् जो भव्य प्राणी गुड मन, वचन, काय से आपके चरणारविन्द का आश्रय लेते हैं उनके समस्त संकट विलीन हो जाते हैं । वह अपने अभीप्सित फल को अनायास प्राप्त कर लेता है । जिन भक्ति में आधि व्याधि आदि समस्त विपत्तियों को दूर करने की शक्ति विद्यमान है । गुजरात में कहावत है—“भक्ति थी मुक्ति सहूल छैः” हे भाई बहनो ! भक्ति से मुक्ति सरलता से प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार महाराज श्रेणिक ने अनेकों शुभ स्तोत्रों से श्री वीर प्रभु की स्तुती कर भूमि पर मस्तक टेक कर भगवान् के चरण कमलद्वय को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार किया । अपलक नयनों से जिनेश्वर की अनुपम छवि को निहार-निहार कर श्रेणिक महाराज ने अपने को धन्य धन्य अनुभव किया तथा बारम्बार नमस्कार किया ॥१२१ से १२८॥

ततः श्रीगौतमस्वामीप्रमुख्यान्मुनिपुङ्गवान् ।

नत्वा स्तुत्वा स्थितो भूयो नरकोष्ठेति भक्तिमान् ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (गौतमस्वामीप्रमुख्यान् मुनिपुङ्गवान्) श्री गौतम स्वामी जिसमें प्रमुख थे ऐसे समस्त मुनिपुङ्गवों को (नत्वा) नमस्कार कर (स्तुत्वा) स्तुति कर (अतिभक्तिमान्) अत्यन्त भक्ति से भरा हुआ राजा श्रेणिक (नरकोष्ठे स्थितो) मनुष्य के कोठे में बैठ गया ।

भावार्थ—श्रेणिक महाराज उपर्युक्त प्रकार प्रगाढ़ भक्ति के साथ श्री वीर प्रभु की स्तुति कर नमस्कार कर मनुष्य के कोठे में जाकर बैठ गये । जहाँ गौतम स्वामी को प्रमुखकर ११ गणधर परमेष्ठी भी विराजमान थे । सभी गणधर मुनि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय-इन चार ज्ञान के धारी होने हैं । गणधर स्वामी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक मुनिपुङ्गव वहाँ विराजमान थे उनमें अवधिज्ञानी मुनिराज १२७६०० थे । पूर्वधारी मुनिराजों की संख्या ३६६४० थी । विपुलमती मनः पर्ययज्ञान के धारी १५४६०५ थे । विख्या ऋद्धि के धारी २२५६०० थे । शिक्षक अर्थात् उपाध्यायमुनि २०००५५५ थे । इस तरह और भी अनेक मुनिराज वहाँ विराजमान थे । उन सबकी स्तुति वन्दना नमस्कारादि करके श्रेणिक राजा मनुष्य के कोठे में बैठ गया ।

श्री गौतम स्वामी ने आषाढ मास की गुरुपूर्णिमा को दीक्षा धारण कर श्री वीर प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया था और उसी समय उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों के बल से उनके मनःपर्यय भी प्रकट हो गया था अगले दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के ब्राह्ममुहूर्त में भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि आरम्भ हुई इस प्रकार इस दिन धर्म तीर्थ को उत्पत्ति हुई थी । तदनन्तर अन्य भी गणधर हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रथम गणधर तो गौतम स्वामी थे ऐसा बता चुके हैं (२) अग्निभूत (३) वायुभूति (४) शुचिदत्त (५) सुधर्मा (६) मण्डिक (७) मौर्यपुत्र (८) अकम्पित (९) अवल (१०) मेदार्य (११) प्रभास ।

तदा तीर्थकराधीश वीर श्रीमुखपंकजात्

वक्तुमिच्छां बिना चापि ताल्वोष्ठस्पन्दवर्जितः ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तीर्थकराधीश) तीन लोक अधिपति धर्म तीर्थ के कर्ता अन्तिम तीर्थकर (वीर श्रीमुखपंकजात्) महावीर भगवान् के मुखारविन्द से (वक्तुमिच्छां बिना चापि) बोलने की इच्छा न होने पर भी (ताल्वोष्ठस्पन्द वर्जितः) तालु ओष्ठ आदि के स्पन्दन के बिना ही (स्पष्टाक्षर कदम्बका) स्पष्टाक्षरों के समूह रूप (दिव्यध्वनिसमुत्पन्ना) दिव्यध्वनि उत्पन्न हुई जो (नानादेशात्) विभिन्न देशों से (आगत-प्राणिचित्त) आये हुए प्राणियों के चित्त को (संग्रीणन क्षमा) प्रफुल्लित प्रसन्न करने में समर्थ थी ।

सार्थार्थ—भगवान् की प्रथम देशना का स्थल राजगृह नगरी का विपुलाचल पर्वत था । मिथ्यात्व और अज्ञान का भेदन करने वाली, भव्य जीवों को दुःख से मुक्त करने वाली भगवान् की वाणी अमृत के समान उपादेय थी ।

दिव्यध्वनि को दिव्य विशेषण क्यों दिया ? इस विषय में ऐसा आगम में कथन

मिलता है कि भगवान की वाणी असाधारण होती है इसलिये उसे दिव्य कहते हैं । जैसे मेघ का पानी एक रूप है तो भी वह नाना वृक्ष और वनस्पतियों में जाकर नाना रूप परिणत हो जाती है उसी प्रकार दौत, ताजु, ओष्ठ और कण्ठ आदि के हलन् चलन से रहित वह वाणी १८ महाभाषा और ७०० क्षुद्रभाषाओं में परिणत होकर युगपत् समस्त भव्यों को आनन्द प्रदान करती है अतः दिव्य है ।

भगवान की वाणी अर्धमागधी भाषा रूप है ऐसा ग्रन्थों में कहा है सो यह प्राकृत भाषा का ही एक भेद है । सात प्रकार की प्राकृत भाषा होती है—(१) मागधी (२) आवन्तिका (३) प्राच्या (४) शौरशीनी (५) अर्धमागधी (६) वाही की (७) दाक्षिणात्य ।

आज ब्रह्मा की वाणी को ध्वनि वाहक यन्त्र के द्वारा दूरवर्ती श्रोताओं के कानों के पास पहुँचाया जाता है किन्तु उस यंत्र की सहायता से वाणी समीप में अधिक उच्च स्वर वाली और दूर में मन्द स्वर वाली होती है पर जिनेन्द्र भगवान की वाणी समीप और दूरवर्ती सभी को समरूप से पूर्ण स्पष्ट और श्रुति मधुर सुनाई देती है । तथा भगध नामक व्यन्तर देव के निमित्त से विभिन्न भाषाओं में परिणत हो जाती है और सर्वजीवों को अपनी-अपनी भाषा में स्पष्ट सुनाई देती है ।

ध्वनिनातेनपञ्चास्तिकायलक्षण विस्तरम् ।

प्रोवाच सप्त तत्त्वार्थ पदार्थान् स जिनेश्वरः ॥

ग्रन्थार्थ—(स जिनेश्वरः) उन श्री महावीर स्वामी ने (ध्वनिना) दिव्य ध्वनि के द्वारा (पञ्चास्तिकायलक्षण) पाँच अस्तिकाय का लक्षण (सप्ततत्त्वार्थपदार्थान्) सप्त तत्त्व और नव पदार्थों को (विस्तरम्) विस्तार से (प्रोवाच) कहा ।

भारवार्थ—भगवान ने अपनी दिव्यध्वनि में पाँच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व और नव पदार्थों का वर्णन किया । जिनका स्वरूप आगम में इस प्रकार है—

अस्तिकाय किसे कहते हैं—

संति जदो तेरोदे अत्थीति भणन्ति जिणवरा जम्हा ।

काया इव बहुदेणा तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥द्रव्य संग्रह॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँचो द्रव्य सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये इन्हें अस्ति कहते हैं और बहुप्रदेशी होने से कायवान कहते हैं । धर्म अधर्म और लोकाकाश तथा एक जीव द्रव्य ये सभी असंख्यात प्रदेशी हैं । पुद्गल द्रव्य संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले हैं । यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी भी है पर वह पुनः स्कन्ध पर्याय रूप परिणत हो जाता है इसलिये कायवान ही है ।

तत्त्व—तत्त्व सात है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । पदार्थ—पदार्थ ६ है । उक्त सप्त तत्त्वों में पुण्य और पाप इन दोनों के मिलाने से ६ पदार्थ होते हैं ।

षट्द्रव्यों में काल द्रव्य को कायवान नहीं कहा है क्योंकि उसमें प्रदेश प्रचय का अभाव है । अर्थात् कालाण रत्नों को राशि के समान आकाश के एक-एक प्रदेश पर पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं अतः उनको कायवान नहीं माना है किन्तु अस्ति रूप हैं । जितने भी द्रव्य हैं वे सभी सत् रूप होते हैं “सत् द्रव्य लक्षणं” ऐसा कहा है ।

निश्चयो जीवितः पूर्वं जीवतीह पुमानयम् ।

जीविष्यति मुजोवोऽसौ प्रोच्यते मुनिपुङ्गवैः ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(निश्चयः) निश्चय से (अयम् पुमान्) यह आत्मा (पूर्व जीवितः) पहले जीवित था (इह जीवति) इस समय जी रहा है और (जीविष्यति) आगे जीवित रहेगा (असौ मुजोवः) वह जीव है ऐसा (मुनिपुङ्गवैः प्रोच्यते) मुनियों में श्रेष्ठ गणधर देवों के द्वारा कहा जाता है ।

अर्थ—जो पहले जीता था, इस समय जीवित है और आगे भी जीवित रहेगा उसे गणधर देवादि द्वारा जीव कहा गया है ।

भावार्थ—व्यवहार नय से जो दश प्राणों से युक्त था, है और आगे रहेगा वह जीव है । पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल—मनोबल, वचनबल और कायबल तथा आयु और श्वांसोच्छवास ये १० प्राण कहलाते हैं । इनमें से एकेन्द्रिय जीव के १ स्पर्शान् इन्द्रिय २ कायबल ३ आयु और ४ श्वांसोच्छवास ये चार प्राण होते हैं दो इन्द्रिय के स्पर्शान् और रसना ये २ इन्द्रियाँ कायबल वचनबल आयु एवं श्वांसोच्छवास ये ६ प्राण होते हैं । इन्हीं ६ प्राणों में एक प्राण इन्द्रिय अधिक हो जाने से त्रीन्द्रिय जीवों के ७ प्राण होते हैं । इन ७ प्राणों में एक चक्षु इन्द्रिय बढ़ जाने से चतुरिन्द्रिय जीवों के ८ प्राण होते हैं । असंजी पञ्चेन्द्रिय के एक कर्ण इन्द्रिय और बढ़ने से ९ प्राण होते हैं तथा मनोबल और अधिक हो जाने से संजी पञ्चेन्द्रिय के १० प्राण होते हैं । संसार अवस्था में ये जीव के सदा ही विद्यमान रहते हैं अतः इन्हीं के द्वारा जीव की पहिचान होती है ।

चेतना लक्षणो जीवास्सोपयोगद्वयोऽनिशम् ।

प्रोक्तस्सोऽपि द्विधा जीवस्संसारो मुक्त एव च ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(जीव) जीव (चेतना लक्षणः) चेतना लक्षण वाला है (स) वह चेतना (उपयोगो) उपयोग रूप है (सोऽपि) वह उपयोग भी (द्वयो) दो प्रकार का है—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग । (सोऽपि जीवः) वह जीव भी (अनिशम् द्विधा प्रोक्तः) निरन्तर दो प्रकार का कहा जाता है (संसारो मुक्त एव च) संसारो और मुक्त रूप ही ।

अर्थ—चेतना गुण से युक्त जो हो उसे जीव कहते हैं । यह चेतना त्रिकालावच्छिन्न रूप से जीव में पाई जाती है । उसके दो भेद हैं—दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना । इन दोनों भेदों को उपयोग कहते हैं । इसलिये दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग से उपयोग दो प्रकार का है

यही जीव का लक्षण है जैसा श्री उमास्वामी आचार्य ने लिखा भी है—“उपयोगो लक्षणं” जीव का लक्षण उपयोग है ।

भावार्थ—जो चेतना गुण से सहित हो वह जीव है । चेतना के तीन भेद भी हैं— (१) ज्ञान चेतना (२) कर्म चेतना (३) कर्मफल चेतना । सम्यग्दृष्टि के जब आत्मानुभूति के साथ उपयोग का परिणाम होता है तब उसे ज्ञान चेतना कहते हैं । यह चतुर्थ गुरुस्थान से सिद्ध अवस्था पर्यन्त तारतम्य रूप से शुद्ध होती हुई पूर्ण शुद्धता को प्राप्त होती जाती है और सिद्धावस्था में परमशुद्ध हो जाती है । मुख्यतः कर्म चेतना मिथ्यादृष्टि के होती है अंशांश रूप में सम्यग्दृष्टि के भी होती है तथा कर्मफल चेतना मुख्यतः एकेन्द्रिय जीव के तथा अंशांश रूप में द्वीन्द्रियादि के भी पायी जाती है । इस भेद को अवगत कर अशुद्ध कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का परिहार कर शुद्ध ज्ञान चेतना की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये ।

संसारे संसरन्नित्यं अष्टकर्मारिवेष्टितः ।

कर्त्ता भोक्ता स संसारी कर्मणां भवकारिणाम् ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(अष्टकर्मारिवेष्टितः) जो अष्ट कर्मों से वेष्टित वा बद्ध है (स) वह (नित्यं संसारे संसरन्) निरन्तर संसार में गत्यन्तर रूप भ्रमण करता हुआ (भवकारिणाम् कर्मणां) भव अर्थात् संसार जनक कर्मों का (कर्त्ता भोक्ता) कर्त्ता और भोक्ता (संसारी) संसारी जीव कहलाता है ।

अर्थ—जो अष्ट दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओं से आक्रान्त है । भव बीज रूप कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता है उन्हें संसारी जीव कहते हैं ।

भावार्थ—“संसरणं संसारः” चतुर्गति में परिभ्रमण होना संसार है । जो ५ प्रकार का है (१) द्रव्य संसार (२) क्षेत्र संसार (३) काल संसार (४) भाव संसार (५) भव-संसार क्योंकि इनके आश्रय से यह जीव निरन्तर संसार में परिभ्रमण करता है । नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये ४ गतियाँ हैं जिनमें यह जीव जन्म वा मरण करता रहता है । उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा ८४ लाख योनियों हैं और शरीर की विविधता के कारण भूत नो कर्मवर्गणाओं के भेद से १६६ कोटिकुल हैं । शरीर भेद के कारण भूत नो कर्मवर्गणाओं के भेद को कुल कहते हैं जिनका विस्तार से वर्णन अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों से जान लेना चाहिये । संसारी जीव इनके माध्यम से अष्टकर्मों का उपार्जन करते हैं और स्वयं ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगते हैं सुखी दुःखी होते हैं ।

सोऽपि संसारिको द्वेषा भव्याभव्यप्रभेदतः ।

रत्नत्रयोचितो भव्यस्तद्विपक्षपरोमतः ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(सोऽपि संसारिकः) वह संसारी जीव भी (भव्याभव्य प्रभेदतः) भव्य और अभव्य के भेद से (द्वेषा) दो प्रकार का है (रत्नत्रयोचितो) रत्नत्रय को प्रकट करने की

योग्यता रखने वाला (भव्यः) भव्य है (तद्विपक्षः) उससे विपरीत-रत्नत्रय की अभिव्यक्ति में अयोग्य (परोमतः) अभव्य माना गया है ।

अर्थ—संसारी जीव दो प्रकार के हैं—(१) भव्य (२) अभव्य । जिनमें रत्नत्रय को प्रकट करने की योग्यता है वे भव्य जीव हैं और जो कारण मिलने पर भी रत्नत्रय को प्रकट नहीं कर पाते हैं उन्हें अभव्य जीव समझना चाहिये ।

साधार्थ—जिस प्रकार अणुादि अणु से खान में पड़ा, किट्टकालिमा से सहित सुवर्ण योग्य निमित्त कारणों के मिलने पर शुद्ध कुन्दन बन जाता है उसी प्रकार भव्य जीव पाँच लब्धियों का आलम्बन निमित्त मिलने पर सम्यग्दर्शन को प्रकट कर लेता है । तथा जिस प्रकार अन्धसुवर्ण पाषाण किसी भी उपाय से शुद्ध सुवर्णरूप परिणत नहीं होता है उसी प्रकार अभव्यजीव शक्ति रूप में रत्नत्रय होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति में असमर्थ होते हैं अर्थात् कभी भी किसी भी उपाय से रत्नत्रय का प्रकटीकरण उनके नहीं होता है ।

गत्यादिमार्गणाभेदेर्गुणस्थानैस्संभूतकः ।

नानाविधो जिनेन्द्रेण प्रोक्तोऽसौ भुवनेशना ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(भुवनेशना जिनेन्द्रेण) तीन लोक के ईश्वर श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा (असौ) वह संसारी जीव (गत्यादिमार्गणाभेदः) गति आदि १४ मार्गणाओं के भेद से (गुण-स्थानैस्संभूतकः) गुणस्थानों और जीवसमासों की अपेक्षा से (नानाविधो प्रोक्तो) अनेक प्रकार का कहा गया है ।

साधार्थ—संसारी जीव अनेक प्रकार के हैं । जिनेन्द्र प्रभु ने अपने चराचर व्यापी ज्ञान के द्वारा जात कर १४ मार्गणाओं, १४ गुणस्थान और जीव समासों की अपेक्षा से संसारी जीवों के अनेक भेदों का यथावस्थित सम्यक् वर्णन किया है ।

मार्गणाएँ चौदह हैं । जिनमें या जिनके द्वारा नाना अवस्थाओं में स्थित जीवों का अन्वेषण किया जाय, खोज की जाय उन्हें मार्गणा कहते हैं । मार्गणा शब्द का अर्थ है खोजना-ढूँढना ।

“मृग्यतेऽनेन जीवादयरिति मार्गणा” जिनके द्वारा जीवादि तत्वों का अन्वेषण किया जावे वे मार्गणाएँ हैं जिनके १४ भेद इस प्रकार हैं १ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेख्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञी और १४ आहार ।

(१) गति—भव से भवान्तर को प्राप्त होना गति है । जो ४ हैं—नरकगति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्यगति और देवगति ।

(२) इन्द्रिय—संसारी आत्मा के लिङ्ग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं जिनके ५ भेद हैं १-स्पर्शन, २-रसना, ३-घ्राण, ४-चक्षु और ५-कर्ण ।

(३) काय—जाति नामकर्म के अविनाभावो त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं । यद्यपि काय शब्द का निरुक्ति अर्थ शरीर है किन्तु यहाँ मार्गणा के प्रकरण में यह—शरीर अर्थ उपचरित है गौण है ।

(४) योग—पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण भूत शक्ति है उसको योग कहते हैं ।

(५) वेद—स्त्री का पुरुष के साथ और नपुंसक के स्त्री पुरुष दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा विशेष का होना वेद है ।

(६) कषाय—जो आत्मा को कषे—दुःख देवे वह कषाय है ।

(७) ज्ञान—पदार्थों को जानने की शक्ति रूप धर्मवाला ज्ञान गुण है जो जीव का लक्षण भी है ।

(८) संयम—षट्काय जीवों की रक्षा करना और पञ्चेन्द्रिय तथा मन को दश में करना संयम है ।

(९) दर्शन—जीव में जो सामान्य अवलोकन रूप देखने की शक्ति विशेष है उसे दर्शन कहते हैं अर्थात् सामान्य प्रतिभास रूप धर्मवाला दर्शन होता है ।

(१०) लेख्या—“कषायानुरञ्जित योग प्रवृत्ति लेख्या” कषायों से लिप्त योगों की प्रवृत्ति को लेख्या कहते हैं ।

(११) भव्यत्व—रत्नत्रय को प्रकट करने की शक्ति विशेष का नाम भव्यत्व है और रत्नत्रय को प्राप्त करने की योग्यता सहित जीव भव्य कहलाता है इसके विपरीत लक्षण वाला अभव्य है ।

(१२) सम्यक्त्व—“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं” तत्वों के यथार्थ श्रद्धान का होना सम्यक्त्व है ।

(१३) संज्ञी—मन सहित वा मन रहित जीवों का कथन करने वाली संज्ञी मार्गणा है ।

(१४) आहार—तीन शरीर और ६ पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना आहार है तथा इनसे युक्त जीव आहारक कहलाता है ।

अब गुणस्थान का स्वरूप और भेद बताते हैं—

मोह और योग के मिश्रण से होने वाले जीव के परिणाम विशेष को गुणस्थान कहते हैं । जिनके १४ भेद हैं—१—मिथ्यात्व, २—सासादन, ३—मिश्र, ४—सम्यक्त्व सहित अविरत जीव-अविरत सम्यग्दृष्टि ५—देशविरत, ६—प्रमत्तविरत, ७—अप्रमत्त, ८—अपूर्वकरण, ९—सुप्रनिवृत्ति

करणा, १०—सूक्ष्मसाम्पराय, ११—उपशान्त मोह, १२—क्षीणमोह, १३—सयोग केवली और १४—अयोगकेवली और १४—अयोग के वली

अब जीव समासों को बताते हैं—

“जीवाः समस्पन्ते संक्षिप्यन्ते-संगृह्यन्ते यैः धर्मैस्ते जीवसमासाः” जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनको अनेक प्रकार की जाति जानी जाय उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाला होने से जीवसमास कहते हैं। जो स्थूल रूप से १४ भेद वाले हैं तथा अवान्तर भेद ६८ हैं पुनः प्रभेद करने से ४०६ तथा संख्यात असंख्यात भेद भी हैं।

१४ भेद इस प्रकार हैं (१) एकेन्द्रिय बाह्य (२) एकेन्द्रिय सूक्ष्म (३) द्वन्द्वीय (४) त्रिन्द्रिय (५) चतुरिन्द्रिय (६) असंजीवञ्चेन्द्रिय (७) संजीवञ्चेन्द्रिय। ये सातों ही पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद वाले हैं अतः $7 \times 2 = 14$ भेद होते हैं। इनके अन्य प्रकार भेदों को जीवकाण्ड गोमट्टसार से जानिये।

मुक्तो जीवो भवेत्सिद्धो निराबाधो निरञ्जनः ।

दुष्टाष्टकर्म निमुक्तस्त्रैलोक्यशिखरे स्थितः ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(दुष्टाष्टकर्म निमुक्तः) दुष्ट-दुःखदायी आठ द्रव्य कर्मों से रहित (निरञ्जनः) भावकर्म रूपी रज से रहित (निराबाध) बाधारहित अव्याबाध मुख (त्रैलोक्य-शिखरस्थितः) तीन लोक के शिखर पर अनुवातबलय में स्थित (मुक्तः) मुक्त (जीवः भवेत्) जीव होते हैं।

भावार्थ—जो द्रव्यकर्म, भोक्तृकर्म, भावकर्म से रहित है, अष्ट कर्मों से रहित होने से अव्याबाध मुख का अनुभव करने वाले हैं और लोक के शिखर पर अनुवातबलय में सिद्ध शिला पर विराजमान हैं वे सिद्ध या मुक्त जीव हैं।

अजीवः पुद्गलः प्रोक्तः षट्प्रकार स्वभावतः ।

तद् भेदाश्च परे स्पर्शरसगन्धसुवर्णाकाः ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(अजीवः पुद्गलः) अजीवरूप पुद्गल द्रव्य (स्वभावतः) स्वभाव से (षट् प्रकार प्रोक्तः) छः भेदवाला कहा गया है (स्पर्शरसगन्ध सुवर्णाकाः) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं गुण जिनके ऐसे (तद्भेदाः) पुद्गल के भेद (परे च) और भी हैं।

भावार्थ—जीव के बिना शेष पाँच द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीव रूप हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य वर्ण, गन्ध, स्पर्श और रस गुणवाला है तथा उस पुद्गल के ६ भेद हैं जिनका नाम आगे के श्लोकों में बताया गया है। उनमें भी प्रभेद करने से अनेकशः बहुत भेद हो सकते हैं।

पृथ्वी जलं तथा छाया चतुः ख विषयस्तथा ।

कर्माणुः परमाणुश्च षड्भेदापुद्गले स्थिताः ॥१४०॥

अन्वयार्थ - (पृथ्वी जलं तथा छाया) पृथ्वी, जल और छाया (चतुः ख) चौथा चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के विषय (कर्माणुः परमाणुश्च) कर्माणु और परमाणु ये (षड्भेदा) छः भेद (पुद्गले स्थिताः) पुद्गल में स्थित हैं अर्थात् पुद्गल में पाये जाते हैं ।

भावार्थ—पुद्गल के छ भेद हैं—(१) पृथ्वी—वह बादर बादर है । (२) जल—यह बादर है (३) छाया—यह बादर सूक्ष्म है (४) चक्षु को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों के विषय ये सूक्ष्म बादर हैं (५) कर्म परमाणु—यह सूक्ष्म है (६) परमाणु—यह सूक्ष्म सूक्ष्म है । इसी का विशेष स्पष्टीकरण आगे के श्लोकों में है—

गाथाद्वयमुक्तं

अद्वयूल थूलथूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।

सहुमं अद्व सुहुमं इदि धरादियं होदि छठमेयं ॥१४१॥

पुढवी जलं च छाया चतुरिदिय विसय कम्मपरमाणु ।

छव्विहमेयं भणियं पुगलदब्बं जिणवरेहिं ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(अद्वयूल थूल) बादर-बादर (थूल) बादर (थूलसुहुमं) बादर सूक्ष्म (सुहुम-थूल) सूक्ष्मबादर (सुहुमं) सूक्ष्म (अद्वसुहुमं) सूक्ष्म-सूक्ष्म (इदि) इस प्रकार ये (धरादियं) पृथ्वी आदि (छठमेयं) छ भेद (होदि) पुद्गल के होते हैं ।

उन्हीं के नाम—

(पुढवी) पृथ्वी (जलं) जल—पानी (च) और (छाया) छाया (चतुरिदियविसय) नेत्र को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय (कम्म) कर्म (च) और (परमाणु) परमाणु (छव्विह मेयं) छह प्रकार के भेद (पुगलदब्बं) पुद्गलद्रव्य के (जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवान् द्वारा (भणियं) कहे गये हैं ।

सामान्यार्थ—पुद्गल के छ भेद हैं—१. बादर-बादर २. बादर ३. बादर सूक्ष्म ४. सूक्ष्म बादर ५. सूक्ष्म और ६. सूक्ष्म सूक्ष्म । इनके क्रमशः उदाहरण हैं—१. पृथ्वी २. जल ३. छाया ४. नेत्र को छोड़कर शेष ४ इन्द्रियों के विषय ५ कर्मवर्गणाँ और छ परमाणु ।

बादर बादरः—जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्राप्ति हो उस स्कन्ध को बादर बादर कहते हैं । यथा—पृथ्वी, काष्ठ, पाषाणादि ।

बादर—जिसका छेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्राप्ति हो सके उस स्कन्ध को बादर कहते हैं जैसे जल, घी, ।

सूक्ष्म-स्थूल—नेत्र को छोड़कर शेष इन्द्रियों के विषय भूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं यथा—गंध रस, शब्द आदि ।

बादर सूक्ष्मः—जिसका छेदन-भेदन अन्यत्र प्रापण कुछ भी न हो सके उस नेत्र से देखने योग्य स्कन्ध को बादर सूक्ष्म कहते हैं । यथा—छाया धूप (आतप) चांदनी आदि ।

सूक्ष्मः—जिसका किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसको सूक्ष्म कहते हैं यथा कर्म ।

सूक्ष्म-सूक्ष्मः—जो स्कन्ध रूप नहीं हैं ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओं को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं । ॥१४१ १४२॥

धर्मद्रव्यं तयोर्नूनं गति कारण लक्षणम् ।

हठान्न प्रेरकं लोके मत्स्यानां च जलं यथा ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(तयोः) उन जीव और पुद्गल द्रव्य के (गति कारण लक्षणम्) गमन करने में कारणरूप लक्षण वाला है (नूनं) निश्चय से वह (धर्मद्रव्यं) धर्मद्रव्य है (यथा) जिस प्रकार (लोके) संसार में (मत्स्यानां) मछलियों के चलने में (जलं) जल (कारणं) सहकारी कारण होता है, किन्तु (हठात्) बलात्कार-जबरदस्ती से (प्रेरकं) प्रेरणा देने वाला (न) नहीं होता है ।

सामान्यार्थ—जिस प्रकार जल मछलियों को चलने में सहायक होता है, उसी प्रकार जो जीव और पुद्गलों को गमन में निमित्त कारण होता है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं । किन्तु यह प्रेरणा देकर उन्हें नहीं चलाता ।

भावार्थ—जल मछली आदि को “चलो” इस प्रकार नहीं प्रेरणा देता है परन्तु जब वे चलती हैं तो उदासीन रूप से उनकी सहायता कर देता है । इसी प्रकार धर्मद्रव्य वह द्रव्य है जो जीव पुद्गलों को पकड़ कर नहीं चलाता न चलने को बाध्य करता है, परन्तु स्वभाव से जब वे चलते हैं तो उनकी गमन क्रिया में सहायता देता है । यह उदासीन रूप से सर्वव्यापी है अर्थात् लोक में सर्वत्र पाया जाता है । ॥१४३॥

अधर्मस्तु स्थितेहेतुर्जीव पुद्गलयोर्मतः ।

तरुच्छायेव पान्थानां न तयोः स्थायिकः हठात् ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(जीव पुद्गलयोः) जीव और पुद्गल के (स्थिते) ठहरने में (हेतुः) कारण होने वाला—सहाय देने वाला (अधर्मः) अधर्मद्रव्य (तु) निश्चय से (मतः) माना गया है (पान्थानां) पथिकों को (तरुच्छाया इव) वृक्ष की छाया के समान (तयोः) उन जीव पुद्गल को (हठात्) बलात् जबरदस्ती (न) नहीं (स्थायिकाः) रोकता-ठहराता ।

सामान्यार्थ—जिस प्रकार मार्ग में जाने वाले राहगीरों को वृक्ष की छाया ठहरने में सहकारी होती है किन्तु उन्हें बुलाकर नहीं ठहराती उसी प्रकार जो जीव और पुद्गलों को उदासीन भाव से ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं ॥१४४॥

भावार्थ—धर्म द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है यह जीव पुद्गलों को ठहरने में निमित्त कारण है परन्तु उन्हें प्रेरणा देकर नहीं ठहराता वे ठहरते हैं तो सहाय कर देता है । जिस प्रकार गर्मी से पीड़ित पशुओं को वृक्ष की छाया बुलाती नहीं है पर वे आकर बैठते हैं तो उनकी मदद-सहाय कर देती है । अतः उदासीन रूप से जो जीव पुद्गल को ठहरने में सहायता करता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । अधर्म और धर्म द्रव्य ये दोनों ही तिल में तैल की भांति सर्वलोक में व्यापकर रहते हैं परन्तु अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते ।

कालाणवोमताः नित्यं नवजीर्णस्यकारकाः ।

रत्नराशिरिव प्रौच्चैः पृथक् भूता जगत्त्रये ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(नवजीर्णस्य) नवीन पुराने के (कारकाः) करने वाले (कालाणवः) काल द्रव्य के अणु (मताः) माने जाते हैं (जगत्त्रये) तीनों लोकों में ये (पृथक् भूताः) अलग-अलग (रत्नराशिः) रत्नों की राशि के (इव) समान (प्रौच्चैः) कहे गये हैं ।

अर्थ—समस्त लोक में समस्त पदार्थों में नये और पुराने का ज्ञान कराने वाले कालाणु भरे हैं । ये कालाणु पृथक्-पृथक्-अलग-अलग हैं । रत्न राशि समान हैं, उसी प्रकार काल एक है परन्तु कालाणु असंख्यात हैं ।

भावार्थ—छहों द्रव्यों के परिणमन में जो सहायता देता है उसे काल द्रव्य कहते हैं । इसके अणु असंख्यात हैं । जिस प्रकार कुम्हार के चाक की घुमाने में उसकी मध्य की कोली सहायक होती है, उसी प्रकार कालद्रव्य समस्त द्रव्य और पर्यायों इसी काल द्रव्य के निमित्त से ही परिणमित होती हैं, निश्चय से प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से स्वतः परिणमन करते हैं तो भी कालद्रव्य उदासीन रूप से उन्हें परिणमाने में सहायक होता है । निश्चय और व्यवहार के भेद से कालद्रव्य दो प्रकार का है ।

आकाशोप्यवकाशस्य दाता तेषां प्रकीर्तितः ।

स्व स्वभावेन पञ्चानां जीवादीनां निरन्तरम् ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(तेषां) उन (पञ्चानां) पाँचों (जीवादीनां) जीवादि द्रव्यों को (स्व-स्वभावेन) अपने स्वभाव से (निरन्तरम्) सतत (अवकाशस्य) स्थान का (दाता) देने वाला (आकाशः) आकाश द्रव्य (प्रकीर्तितः) कहा गया है ।

अर्थ—जीवादि पाँचों द्रव्यों के निवास को जो स्थान देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं ॥१४६॥

मूर्तिमान पुद्गलस्तेषु परेमूर्ति विवजिताः ।

धर्माधर्म नभः कालास्तज्जीवा जिनभाषिताः ॥१४७॥

अन्वयार्थ—(तेषु) उन द्रव्यों में (पुद्गलः) पुद्गल द्रव्य (मूर्तिमान) मूर्तिक-रूप रस, गन्ध, शब्द से युक्त है (परे) शेष बाकी के (धर्माधर्मनभः कालः) धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल, और (जीवाः) शुद्ध जीवद्रव्य (मूर्ति विवजिताः) मूर्तिमान से रहित अर्थात् अमूर्तिक है, ऐसा (जिनभाषिताः) जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।

अर्थ—छ द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष पाँचों द्रव्य अमूर्तिक हैं । इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥१४७॥

जीव पुद्गलकौ प्रौक्तौ प्रकुर्वन्तौ विपरिणतिम् ।

धर्माधर्म नभः कालस्तिष्ठन्त्येव स्वभावतः ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(जीव पुद्गलकौ) जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य (विपरिणतिम्) विपरिणमन करने वाले (प्रौक्तौ) कहे गये हैं (धर्माधर्मनभः कालः) धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये (स्वभावतः) अपने निज स्वरूप में ही (तिष्ठन्त्येव) स्थिर रहते हैं ।

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य पर निमित्त से विभाव रूप परिणमन करते हैं, किन्तु शेष धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अपने स्वभाव रूप में ही रहते हैं । ये विकारी नहीं होते ॥१४८॥

इत्यादिकं जगत्स्वामी विस्तरेण तदा, जिनः ।

भव्यानां भाषयामास प्रोच्येष्वङ्द्रव्य संग्रहम् ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(तदा) जब (जगत्स्वामी जिनः) जगत के स्वामी जिनेन्द्रप्रभु ने (इत्यादिकं) उपर्युक्त प्रकार से (विस्तरेण) विस्तार पूर्वक (षड्द्रव्य संग्रहम्) षड् द्रव्यों के समूह का (भव्यानां) भव्यजीवों को (प्रोच्येः) युक्ति पूर्वक स्पष्ट रूप से (भाषयामास) निरूपण किया अर्थात् कथन किया ।

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार से त्रिष्व पितामह भगवान् श्री जिनेन्द्र प्रभु ने षड्द्रव्यों का स्वरूप विशद रूप से वर्णन किया । भव्य जीवों का हित करने वाला यह वर्णन सुस्पष्ट और विस्तार रूप से किया गया ।

भावार्थ—भगवान् महावीर प्रभु की देशना विपुलाचल पर्वत पर हुयी । त्रैलोक्य-पति भगवान् ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छहों द्रव्यों का स्वरूप स्पष्ट रूप से बताया, आपकी दिव्यध्वनि से समस्त भव्य जीवों ने सुना और समझा एवं धारण किया ॥१४९॥

तथा त्रैलोक्यसारञ्च षड्लेश्यास्तत्त्व सप्तकम् ।

गुणस्थानादिकं सर्वं प्रस्पष्टं सञ्जगाद सः ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(च) और (तथा) उसी प्रकार (त्रैलोक्यसारतत्त्वसप्तकम्) तीन लोक के सारभूत सात तत्त्वों को (षड्लेश्या) छः लेश्याओं को (गुणस्थानादिकं) गुणस्थान मार्गणा आदि (सर्वं) सभी को (सः) उन जिनेन्द्र प्रभु ने (प्रस्पष्टं) पूर्ण स्पष्ट रूप से (सञ्जगाद) निरूपण किया ।

अर्थ—पुनः उन वीर भगवान् ने छह लेश्या सात तत्त्व, गुणस्थान आदि का लक्षण विस्तार पूर्वक स्पष्ट बतलाया ।

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि में छह लेश्याएँ १ कृष्ण, २ नील, ३ कपोत, ४ पीत, ५ पद्म, ६ शुक्ल, इसी प्रकार सात तत्त्व १ जीव, २ अजीव, ३ आस्त्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और मोक्ष एवं पूर्वोक्त १४ गुणस्थान, १४ मार्गणाएँ आदि का उपदेश किया । इनका स्वरूप ज्ञात कर भव्य जीव संसार सागर से पार होने में समर्थ होते हैं । क्योंकि "बिन जाने तें दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये" ।

१. जिसमें चेतना पायी जाय वह जीव है ।

२. ज्ञान दर्शन रहित जड़ पदार्थ अजीव कहलाता है ।

३. आत्मा और कर्मों के संयोग से जीव के शुभा-शुभ भावों से कर्मों का आना आस्रव है ।

४. कषायों का निमित्त पाकर आये हुए कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ दूध पानी के समान मिल जाना, संश्लेष होकर ठहरना बंध कहलाता है ।

५. व्रत ५ समीति, ३ गुप्ति, दण्डधर्मादि द्वारा आते हुए कर्मों का निरोध करना रोकना संवर कहलाता है ।

६. पूर्ववृद्ध कर्मों का आत्मा से एक देश क्षय होना अलग होना निर्जरा कहलाती है ।

— ७. सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से विश्लेष-गृथक् हो जाना मोक्ष है । इस प्रकार ये सात तत्त्व हैं ।

पहले लिखा जा चुका है कि "कषायों से अनुरञ्जित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । कषायों की तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्रता एवं भन्द, मन्दतर और मन्दतम परिणामन के अनुसार लेश्याएँ छ भागों में विभक्त हो जाती हैं, इनमें प्रथम तीन कृष्ण नील और कपोत अशुभ लेश्याएँ हैं तथा पीत, पद्म, और शुक्ल ये ३ शुभ लेश्याएँ हैं । अशुभ सर्वथा त्याज्य हैं शुभ भी क्रमशः परिणाम विशुद्धि के अनुसार गुणस्थान वृद्धि होते हुए निवृत्त होती जाती हैं । १३वें गुणस्थान में उपचार मात्र से रह जाती हैं, और १४वें गुणस्थान में सर्वथा लेश्या का

अभाव हो जाता है। गुणस्थानातीत हो जाना ही मुक्ति है। अतः आत्मार्षी भव्य प्राणियों का कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, कर परिणाम शुद्धि करना चाहिए। शमित कषायों का क्षयकर आत्म विगुद्धि करने जाने से यथार्थ आत्मानुभूति प्राप्त होती है। आत्मदर्शन होता है। आत्मानुभव का यही मार्ग है। जब तक चित्त रूपी दर्पण पर कषायों का रङ्ग कालिमा रहेगी आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं भलक सकता। उस कल्मष को दूर करने पर ही आत्मा स्वयं स्फटिक रत्न सम भलकने लगेगा। इसे पाने का उपाय क्या है। आचार्य कहते हैं।

अष्टाङ्गं दर्शनं पूतं ज्ञानञ्चाष्टविधं तथा ।

त्रयोदश प्रकारञ्च चास्त्रिं मुनिसेवितम् ॥१५१॥

दशलाक्षणिकं धर्मं सर्वजीव हितङ्कुरम् ।

एतेषां रुचि संयुक्तं गृहीणां धर्मं माजगौ ॥१५२॥

अन्वयार्थ—(पूत) पवित्र (अष्टाङ्गं दर्शनम्) आठ अङ्गसहित पवित्र सम्यग्दर्शन को (अष्टविधं ज्ञानं च) आठ अङ्ग भेद सहित सम्यग्ज्ञान को (त्रिं मुनि सेवितम्) और मुनियों के द्वारा सेवित (त्रयोदशविधं चास्त्रिं) तेरह प्रकार के चारित्र्य को (सर्वजीवहितङ्कुरम्) सर्व जीवों का हित करने वाले (दशलाक्षणिकी धर्मं) दश लक्षण रूप धर्म को (तथा) और (एतेषां रुचि संयुक्तं गृहीणां धर्मं) इन मुनि धर्मों में रुचि रखने वाले गृहस्थों के धर्म को (माजगौ) जिनेन्द्र प्रभु ने कहा।

अर्थ—भगवान् ने बतलाया कि मुनिराजों को आठ अङ्गों सहित सम्यग्दर्शन आठ भेद वाला सम्यग्ज्ञान और तेरह प्रकार का चारित्र्य पालन करना चाहिए।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

१. निःशङ्कित अङ्ग—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित तत्त्वों का ज्यों का त्यों श्रद्धान करना। अर्थात् तत्त्व ऐसा ही है, इतने ही हैं, इसी प्रकार आगम में वर्णित है ऐसा श्रद्धान करना निःशङ्कित अङ्ग है। इसमें अञ्जन चोर प्रसिद्ध हुआ था।

२. निःकाक्षित अङ्ग—धर्मादि पुण्यवर्द्धक कार्यों, तपादि करने पर आगामी भोगों की वाञ्छा नहीं करना। ये विषय भोग नश्वर हैं। अन्त में दुख देने वाले हैं, परबश हैं पाप के बीज हैं इसकी इच्छा दुख का मूल है इस प्रकार भोगों की आकांक्षा का त्याग करना निःकाक्षित अङ्ग है। इसमें अनन्तमती प्रसिद्ध हुयी।

३. निर्विचिकित्साङ्ग—शरीर स्वभाव से अपवित्र है परन्तु रत्नत्रय धारण करने से यह पवित्र हो जाता है। इस प्रकार विचार कर साधु संतों मुनीन्द्रों के मलिन रत्न शरीर में घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है। इसमें उद्धायन राजा प्रसिद्ध हुआ।

४. अमूढदृष्टि अङ्ग—मिथ्यादृष्टि देवी देवताओं के चमत्कारों से प्रभावित नहीं होना। सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति अकाट्य श्रद्धा रखना। छोटे-एकान्तवादी (सोनगढ़ी-

पन्थ) को नहीं मानना अमूढ़ दृष्टित्व है । इस अङ्ग में रेवती रानी प्रसिद्ध हुयी । इसी प्रकार बड़ श्रद्धान रखना कि ६५वों तीर्थकार, सग्रन्थ-कण्डा वाला सद्गुरु और छद्मस्थ कांजी भाई लिखित पुस्तकें कभी भी देव गुरु शास्त्र का स्थान नहीं ले सकते । इसको मानना मिथ्यात्व है । इस प्रकार निश्चय करना अमूढ़ दृष्टित्व है ।

५. उपगूहनाङ्ग—धर्म और धर्महिंसा किंभी कारण व कर्मवश अपने स्वरूप से विपरीत चलें तो उसे सुधारना उनका प्रचार नहीं करना । अज्ञानी जनों द्वारा धर्म व धर्महिंसाओं या स्वयं अपना अपलाप किया जाता हो तो उसका निवारण करना दोषों को प्रकट नहीं करना उपगूहन अङ्ग है । इसमें जिनेन्द्र भक्त श्रेष्ठो प्रसिद्ध हुआ ।

६. स्थिति करण अङ्ग—सम्यग्दर्शन व चारित्र्य से यदि कोई विचलित होता हो या स्वयं में शैथिल्य आया हो तो उसे धर्मावात्सल्यभाव से पुनः दर्शन व चारित्र्य में स्थिर करना स्थितिकरण अङ्ग कहा जाता है । यथा वारिवेण मुनि ।

७. वात्सल्य अङ्ग—अपने साधर्मों जनों के प्रति निष्कपट भाव से गो-वत्सवत् निस्वार्थ वात्सल्यभाव रखना प्रीति करना वात्सल्य अङ्ग है । जैसे विष्णुकुमार मुनिराज ।

८. प्रभावना अङ्ग—अज्ञान तिमिर से व्याप्तजनों का अज्ञान भाव नष्ट हो जाय इस प्रकार अपनी आत्मा और धर्म का प्रकाशन करना प्रभावना अङ्ग है । जिनविम्ब जिनालय निर्माण करना, पञ्चकल्याणादिक प्रतिष्ठाएँ अति वैभव से करना कराना, वीतरागी, साधु-साध्वियों का उत्साह पूर्वक विशेष उत्सव से नगरादि प्रवेश कराना तीर्थयात्रा को संघ ले जाना आदि प्रभावना अङ्ग है । इस अङ्ग में वज्र कुमार मुनि प्रसिद्ध हुए हैं । इन सभी अङ्गों में प्रसिद्धों की कथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार से जानना चाहिए । तथा ज्ञातकर अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन को पुष्टि करना चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान के भी ८ भेद हैं ।

१. अर्थ या अर्थाचार—ज्ञात किये गये अर्थ या पदार्थ को सम्यक् प्रकार धारण करना ।

२. व्यञ्जनाचार—शब्दों, अक्षरों का निर्दोष शुद्ध उच्चारण करना ।

३. तदुभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों की पूर्णता का होना ।

४. कालाचार—योग्य समय में ज्ञान का आराधन करना । प्रातः काल, मध्याह्न-काल, सायंकाल, सुकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात वज्रपात, आदि के समय ज्ञान का आराधन नहीं करना चाहिए । इन सबको छोड़कर योग्य समय में पठन पाठन मनन स्वाध्याय करना कालाचार है ।

५. उपधानाचार—एकाग्रचित्त से ध्यानपूर्वक अध्ययन करना ।

६. विनयाचार—शास्त्रों का उच्चासन पर विराजमान करना, नमस्कारादि कर विनय पूर्वक पढ़ना ।

७. अतिह्वय—अपने गुरु आचार्यादि का नाम नहीं छिपाना ।

८. बहुमान - आचार्य व उपाध्याय गणितों आदि का विनय करते हुए अध्ययन करना ।

इस प्रकार ये ज्ञान के ८ भेद हैं । इसी प्रकार चारित्र के १३ भेद हैं । ५ महाव्रत ५ समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ।

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी अव्रह्म और परिग्रह मूर्च्छा का सर्वथा नवकोटि से त्याग करना पञ्च महाव्रत हैं । पाँचों पापों का क्रमशः पूर्ण त्याग करने से पाँच महाव्रत—

१. अहिंसा महाव्रत—वसुधावत जीवों का पूर्ण रक्षण । २. सत्य महाव्रत—भूठ बोलने का सर्वथा त्याग । ३. अचौर्य महाव्रत—खिल-तुष मात्र भी वस्तु बिना दी हुयी नहीं लेना । ४. पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रत—स्त्री मात्र का सर्वथा पूर्ण त्याग करना । ५. अपरिग्रह—तिनका मात्र भी परिग्रह नहीं रखना । अर्थात् बाह्याभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा त्याग करना ।

५ समितियाँ—

१. ईर्या समिति - चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ।

२. भाषा समिति—हितमित और प्रिय भाषण करना परन्तु धर्म विरुद्ध आगम विरुद्ध नहीं बोलना ।

३. एषणा समिति—विधवा विवाह, विजातीय विवाह करने वालों के घरों को छोड़कर शुद्ध कुल वंश परम्परा वालों के यहाँ ४६ दोषों को टालकर शुद्ध निर्दोष आहार दिन में एक बार ग्रहण करना । ३२ अन्तराय टालकर आहार लेना ।

४. आदान-निक्षेपण—जीव जन्तु देखकर पीछी से प्रमार्जन कर पुस्तक चौकी पाटा कमण्डलु आदि का उठाना व धरना ।

५. उत्सर्ग या व्युसर्ग समिति—शरीर से ममत्व छोड़कर सड़े होकर ध्यान करना । मन वचन काय को वंश में करना गुप्ति है ये तीन है :—

१. मनोगुप्ति मन को रक्षित करना, वंश में रखना ।

२. वचन गुप्ति—वचन को वंश करना, मौन रहना ।

३. काय गुप्ति शरीर को वंश करना एक ही आसन से स्थिर हो आत्म साधना ध्यान करना आदि । इस प्रकार यह १३ प्रकार का चारित्र है । यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया है विशेष जिज्ञासुओं को मूलाचारादि ग्रन्थ देखना चाहिए ।

दश धर्म निम्न प्रकार हैं—

(१) उत्तम क्षमा - क्रोध के कारण उपस्थित हूँ भी क्रोध नहीं करना उत्तम-क्षमा है । अर्थात् अपराधी के प्रति प्रतिशोध या बदले का भाव नहीं आना उत्तम क्षमा है ।

(२) उत्तम मार्दव - “मृदोर्भाविः मार्दवः” परिणामों में मान अहंकार नहीं आने देने को उत्तम मार्दव कहते हैं ।

३. उत्तम आर्जवः—छल कपट का सर्वथा त्याग करना उत्तम आर्जव धर्म है । बालकवत् सरल परिणामी होना उत्तम आर्जव धर्म है ।

४. उत्तम शौचः—लोभ का त्याग करना उत्तम शौच है । लोभ लालच पर वस्तु के ग्रहण का भाव आदि सब लोभ के पर्यायवाची हैं । अतः सर्वथा मूर्च्छा भाव का त्याग करना उत्तम शौच धर्म है ।

५. उत्तम सत्यः—सम्पूर्ण रूप से नवकोटि से असत्य भाषण का त्याग करना उत्तम सत्य धर्म है ।

६. उत्तम संयमः—पाँचों इन्द्रियों और मन का पूर्णतः दमन करना अर्थात् इनको अपने आत्मधर्म के अनुकूल प्रवर्तन करने को बाध्य करना षट्काय जीवों की विराधता का सर्वथा त्याग करना उत्तम संयम धर्म है ।

७. उत्तम तपः—आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से तप दो प्रकार का है । आभ्यन्तर तप के छ भेद हैं । “प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम्” (त० सू० अ० ६) ये छ अन्तरङ्ग तप हैं । अर्थात् लगे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए गुरुदेव से दण्ड लेना प्रायश्चित्त है ।

१. विनयः—देव शास्त्र गुरु और रतन्त्रय में विनय करना ।

२. वैयावृत्तिः—बाल, बृद्ध, रोगी, साधुओं की बिना म्लानि के उत्साह पूर्वक सेवा सुश्रुषा करना ।

४. स्वाध्यायः—अनेकान्त सिद्धान्तानुसार आगमग्रन्थों का तत्वों का पठन-पाठन स्वाध्याय है ।

५. व्युत्सर्गः - शरीर से ममता भाव त्याग करना ।

६. ध्यानः - सम्पूर्ण मन और इन्द्रियों को बश में कर एकाग्र रूप से आत्मस्वरूप में लीन होना ।

“अनश्ननावमौदर्यं वृत्ति परि संख्यान रस परित्याग विविक्त शय्यासन कायबलेण बाह्य तपः” ॥१६॥ त० सू० अ० ६ ।

(१) उपवास करना - चारों प्रकार के अन्न जल आहार का त्याग करना अनशन है ।

(२) अल्प आहार करना अवमौदर्य तप है ।

(३) वृत्ति परिसंख्यानः - आहार को जाले समय अवग्रह विशेष नियम लेकर आना तदनुसार विधि मिलने पर ही आहार लेना अन्यथा उपवास करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है ।

(४) रस परित्यागः - छहों (दूध, दही, मीठा, घी, तेल, नमक रसों का अथवा दो चार का त्याग करना रसपरित्याग तप है ।

(५) त्रिविक्त-शैयासनः - तप ध्यान, स्वाध्याय की सिद्धि वृद्धि के लिए एकान्त स्थान में सोना बंठना ।

(६) कायक्लेशः - नाना प्रकार के आसन मुद्रा आदि का प्रयोग करना आत्म-शक्ति और निर्भयता को बढ़ाना कायक्लेश है । इस प्रकार ६ बाह्य तप हैं । इन दोनों प्रकार के तपों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव तथा निज शक्ति अनुसार धारण पालन और वर्द्धन करना उत्तम तप है ।

(८) उत्तम त्यागः - त्याग का अर्थ है दान । ज्ञानदान, अभयदान, औषधि और आहार दान देना । वाञ्छा रहित अर्थात् फल की इच्छा न रखकर दान देना उत्तम दान धर्म है ।

(९) उत्तम आकिञ्चन्यः - बाह्यभ्यन्तर सकल परिग्रह के सर्वथा त्याग उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है ।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्यः - स्त्री मात्र का नवकोटि से सर्वथा त्याग करना उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत धर्म है । इस प्रकार दश धर्मों का धारण करना यति धर्म में प्रधान है । तथा -

पात्रदानं गुणाधानं पूजनं परमेष्ठिताम् ।

शीलं पर्वोपवासं च, परोपकृतिं मुत्तमाम् ॥१५३॥

अन्वयार्थ - (पात्रदानम्) उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को दान देना (परमेष्ठिताम्) पञ्चपरमेष्ठियों के (गुणाधानं) गुणों का चिन्तन करना उनकी भक्ति करना तथा (पूजनं) पूजा करना (शीलम्) शीलव्रत पालन (पर्वोपवास) श्रष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में उपवास करना (च) और (उत्तमाम्) श्रेष्ठ रूप (परोपकृतिम्) परोपकार करना यह श्रेष्ठ आवश्यक धर्म हैं ।

सरलार्थ - तीन प्रकार के पात्रों को यथा समय यथा शक्ति, यथा योग्य चतुर्विध दान देना, अरुह्य, सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु दिगम्बर मुनि इन पञ्चपरमेष्ठियों में गुणा-नुराग, भक्ति श्रद्धा रखना, पातिव्रत धर्म व एक पतिव्रत धारण करना शीलव्रत है, पर्व के दिनों में उपवासादि करना, दयाभाव रखना, सतत परोपकार करने में प्रवृत्त रहना यह आवश्यक धर्म हैं ।

भावार्थ — श्रावक धर्म में प्रधानतः दो बातों की मुख्यता दी है दान और पूजा । किन्तु इनका करने वाला शीलान्वित, त्यागभावी, सदाचारी करुणावान ही हो सकता है । अतः आचार्य श्री ने यहाँ इसी बात का संकेत किया है साधुओं को पात्रों को दान दाता व्यभिचारी, विधवा विवाह या विजाति विवाह करने वाला अथवा अधम नीचवृत्ति कठोर निर्दयी भी नहीं होना चाहिए यह स्पष्ट ध्वनित होता है ।

पात्र तीन प्रकार के हैं — (१) निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज उत्तम पात्र हैं, आर्यिका माता जी भी उपचार भूषावती होने से उत्तम पात्र ही हैं । २. क्षुल्लक-क्षुल्लिका, व्रती श्रावक श्राविका मध्यम पात्र हैं और ३. जघन्य पात्र अव्रती श्रावक हैं । इनको यथा योग्य चारों प्रकार का दान देना श्रावक धर्म है । पात्रों परमेष्ठियों की अष्ट द्रव्य से अभिषेक पूर्वक पूजन करना श्रावक धर्म है । यथा शक्ति शील धर्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अर्थात् पर पुरुष और पर स्त्री का सर्वथा आजन्म त्याग करना । स्वदार-संतोष व्रत पालना । अष्टमी, चतुर्दशी, दश-लक्षण-पर्येषण आष्टान्हिकादि पर्वों में यथा शक्ति उपवासादि करना, दया भाव रखना, पर के उपकार की भावना रखना यह सब श्रावक धर्म है ।

इत्येवं सर्ववित्सर्वं लोकालोक स्वरूपकम् ।

द्योतया मास भव्यानां स्वामी सर्वहितङ्कुर ॥१५४॥

अन्वयार्थ — (इति) इस प्रकार (सर्ववित्) सर्वज्ञ सर्वहितङ्कुरः प्राणीमात्र के हितैषी (स्वामी) महावीर भगवान् ने (एवं) उपर्युक्त प्रकार धर्मादि (लोकालोक का स्वरूप सर्वम्) सम्पूर्ण रूप से (भव्यानाम्) भव्य जीवों को (द्योतयामास) प्रकट किया - दर्शाया ।

सरलार्थ — संसार का हित करने वाले सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी ने उभय धर्म का स्वरूप संसार के भव्य जीवों को स्पष्ट रूप से समझाया । तथा लोकालोक स्वरूप भी निरूपित किया ।

श्रुत्वा वीर जिनेन्द्रस्य ध्वनिं स्वर्गापवर्गदम् ।

द्वादशोऽसु सभा भव्याः विकसन्मुखपङ्कजाः ॥१५५॥

प्रापुस्ते परमानन्दं कविवाचामगोचरम् ।

सत्यं जिनोदितं वाक्यं कस्य सौख्यं करोति न ॥१५६॥

अन्वयार्थ — (वीर जिनेन्द्रस्य) वीर प्रभु की (स्वर्गापवर्गदम्) स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली (ध्वनिं श्रुत्वा) ध्वनि को सुनकर (विकसन्मुखपङ्कजाः) खिलते हुए मुख कमल वाले (उरु) विशाल (द्वादश सभा भव्याः) बारह सभा के भव्यजीव (कविवाचामगोचरम् परमानन्दं) कवियों के वचन के अगोचर परमानन्द को (प्रापुः) प्राप्त हुए (सत्यं) सत्य ही है कि (जिनोदितं वाक्यं) जिनेन्द्र भगवान् के वचनमृत (कस्य) किसके (सौख्यं) सुख को (करोति न) नहीं करते ? अर्थात् करते ही हैं ।

सरलार्थ— १२ कोठों में उपस्थित देव मनुष्य और तिर्यञ्चों को भगवान् की दिव्य ध्वनि सुनकर परमानन्द हुआ। ठीक ही है भगवान् की वचनावली किसको हर्षित नहीं करती ? सबको सुख उपजाती ही है।

भावार्थ— भगवान् की दिव्य-ध्वनि निरक्षर होती है, समस्त श्रोताओं के कर्णपुट में पहुँचकर तद्-तद् भाषा में परिणत हो जाती है। यह अतिशय विशेष है इसलिए जिनवाणी सर्वोपकारिणी कही है। वह प्राणी मात्र को सुख की कारण क्यों नहीं होगी ? होती है। अस्तु वर्द्धमान प्रभु की सभा में उपस्थित सर्वजीव परमानन्द प्राप्त कर अत्यन्त सुखी हुए।

अथ श्री श्रेणिकाभूपः समुत्थाय कृताञ्जलिः ।

वर्द्धमान जिनाधीशं पृच्छ विनयानतः ॥१५७॥

अन्वयार्थ— (अथ) इसके बाद (भूपः) राजा (श्री श्रेणिकः) लक्ष्मीपति श्रेणिक महाराज (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़कर (समुत्थाय) उठकर (विनयावनतः) विनय से नम्री-भूत हो (जिनाधीशं) जिनेन्द्र भगवान् (वर्द्धमान) महावीर भगवान् को (पृच्छ) पूछा— प्रश्न किया।

सरलार्थ— श्री प्रभु के उपदेश हो जाने पर महाराज श्रेणिक ने विनय पूर्वक हाथ जोड़कर खड़े होकर, नम्रीभूत हो पूछा। क्या ?

विधाय प्रणतिं भक्त्या सर्वभृत्य हिताय च ।

सिद्ध चक्र व्रतं स्वामिन् सार्चनं भुवनर्चितम् ॥१५८॥

केन वा विहितं देव कथं वा क्रियते च तत् ।

किं फलं तस्य तत्सर्वं स्वामिस्त्वं वक्तुमर्हसि ॥१५९॥

अन्वयार्थ— (भक्त्या) भक्ति से (प्रणतिं) नमस्कार (विधाय) करके पूछा (स्वामिन्) हे स्वामी (सर्वभृत्यहिताय च) और समस्त भव्य जीवों के हित करने के लिए (भुवनर्चितम्) त्रैलोक्यपूज्य (सिद्धचक्रव्रतं) सिद्ध चक्रव्रत को (सार्चनम्) और उसकी पूजा (वा) तथा (तस्य) उसका (फलं) फल (किं) क्या है ? (तत्) वह (सर्वं) सर्व चारित्र (त्वं) आप (वक्तुम्) वर्णन करने में (अर्हसि) समर्थ हैं।

सरलार्थ— श्रेणिक नृप ने वीर प्रभु से प्रश्न किया कि हे भगवान् ! सिद्ध चक्रव्रत को किसने किया, यह किस प्रकार किया जाता है और इसका फल क्या होता है ? कृपाकर आप सब वर्णन करिये क्योंकि आप सर्व कथन में समर्थ हैं यह लोक पूजित व्रत महान है और महा-फल देने वाला है। आप ही इसे निरूपण करने में समर्थ हैं ॥१५९॥

श्रोतुमिच्छामि भो नाथ ! श्रीमतां मुखपङ्कजात् ।

अमृतास्वादने देव कस्सुधीः स्यात्पराङ्मुख ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(भो नाथ) हे नाथ (श्रीमतां) अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मी सम्पन्न भगवन् (मुखपङ्कजात्) आपके मुखारविन्द से (श्रोतुम्) सुनने की (इच्छामि) इच्छा करता हूँ । (देव) हे देव ! (अमृतास्वादने) अमृत रस का स्वाद लेने में (कः) कौन (सुधीः) बुद्धिमान (पराङ्मुख) विमुख (स्यात्) होगा ?

सरलार्थ—हे नाथ आप अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और समवशरणादि बाह्य लक्ष्मी के अधिपति हैं । मैं आपके मुखरूपी कमल से सिद्धचक्रव्रत का विधि-विधान सुनना चाहता हूँ । हे प्रभो अमृतपान करने में कौन आलसी होगा । आपका साक्षात् दर्शन मिला है अतः अमृत स्वरूप यह व्रत अवश्य ही मुझे सुनना चाहिए ।

भावार्थ—लोकोक्ति है “शुभस्यं शीघ्रम्” श्रेष्ठ कार्य को शीघ्र ही अवसर मिलते ही कर लेना चाहिए । क्योंकि गया समय पुनः हाथ में नहीं आता राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि भला क्यों समय खोता ? महावीर प्रभु की सन्निधि मिलते ही मनत्र प्रार्थना की कि हे भगवन् मैं सिद्धचक्रव्रत विधान सुनना चाहता हूँ । यह व्रत किसने किस प्रकार किया और उसका फल क्या हुआ यह सर्व वृत्तान्त आप ही निरूपण करने में समर्थ हैं । क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं । यह व्रत सर्वजीव हितकारी है । आप कृपाकर मुझे (श्रेणिकराजा को) कृतार्थ करें ।

इत्येवं नृ सुरासुरौ धविलसन्माणिक्य मौलिप्रभा ।

पानीय प्रविधौतपूत विकसत्पादाब्जयुग्मस्तदा ।

श्री मद्भीरु जिनेश्वरो भयहरो भव्यौधनिस्तारकः ।

श्री मच्छ्रेणिक भूपति गुणवरं श्रीपालवृत्तं जगौ ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (इत्येवं) इस प्रकार प्रश्न करने पर (विलसन्) हँसित होते हुए (सुरासुरौ धाणिक्य मौलिप्रभा) सुर असुरों के मुकुटों में लगी हुई मणियों की प्रभा रूपी (पानीय प्रविधौत) जल से प्रक्षालित (पूत) पवित्र (विकसत् पादाब्जयुग्मः) खिलते हुए कमल युगल के समान है । चरण युगल जिनके ऐसे (भयहरो) भय को हरने वाले तथा (भव्यौध निस्तारकः) भव्य समूह को संसार समुद्र से पार करने वाले (श्रीमद्) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी के धारी (वीर जिनेश्वरो) वीर प्रभु ने (श्रीमद्) लक्ष्मीवन्त (गुणवरं) श्रेष्ठ गुणों के धारी (श्रेणिक भूपति) श्रेणिक महाराज को (श्री पालवृत्तं) श्रीपाल चरित्र को (जगौ) कहा ।

सरलार्थ—श्रेणिक महाराज के प्रश्न करने पर भगवान् महावीर स्वामी श्रीपाल चरित्र वर्णन करने लगे । उस समय (सुर-देव) असुर मनुष्य आदि के नृपति गण उन प्रभु के

चरणों में विनयावनत नमस्कार कर रहे थे । भगवान् के दोनों चरण विकसित कमलवत् दीख रहे थे आचार्य श्री कल्पना करते हैं कि मानों उन मुरासुर और नृपतियों के मुकुटों में जटित माणिक्य रत्नों की कान्ति रूपी जल से ही ये प्रक्षालित हैं । वे भगवान् जगत के वाता भय निवारक और संसार समुद्र से तारने वाले थे ।

इति श्री सिद्धचक्र पूजाविषय समन्वित श्रीपाल महाराज चरिते भट्टारक श्री सकल कीर्ति विरचिते पीठिका व्यावर्णनो नाम प्रथम परिच्छेदः



“श्री मत्परम गुरुभ्यो नमः”

“अथ द्वितीय परिच्छेद”

अथ जम्बूमति द्वीपे सर्वसम्पन्मनोहरे ।

मेरोर्दक्षिण दिग्भागे क्षेत्रे भरतसंज्ञके ॥१॥

पवित्र श्री जिनाधीश ! सार जन्म महोत्सवैः ।

त्रैलोक्य जगतावृन्द परमानन्द दायकैः ॥२॥

तत्क्षेत्रे मध्यभागे भादवन्ति विषयो महान् ।

सज्जनों वा गुणैर्युक्तो मनोनयन बल्लभः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब कथा प्रारम्भ होती है (जम्बूमति द्वीपे) जम्बू वृक्ष वाले जम्बूद्वीप में (त्रैलोक्य जनता वृन्द) तीनों लोकों के प्राणीसमूह को (परमानन्द दायकैः) परमानन्द को देने वाले (श्री जिनाधीशसारजन्म महोत्सवैः) श्री तीर्थंकर प्रभु के सारभूत जन्म कल्याण महोत्सवों के द्वारा शोभायमान (भरत संज्ञके पवित्र क्षेत्रे) भरत नामक पवित्र क्षेत्र में (तन्मध्य भागे) उसके बीचों-बीच में (महान अवन्ति देश) महान अवन्ति नामक देश (भात्) सुशोभित था जो (गुणैः सज्जनों व) गुणों से सत्पुरुष ही हो ऐसा (मनोनयन बल्लभः) मन और नेत्रों को प्रिय था ।

सरलार्थ—भगवान् महावीर स्वामी कहने लगे कि जम्बू वृक्ष से शोभित जम्बूद्वीप नामक सुन्दर द्वीप है जिनके मध्य में सुमेरु पर्वत है । उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में धन, जन, विद्या वैभव से सम्पन्न भरत क्षेत्र नाम का क्षेत्र है । उस क्षेत्र में निरन्तर तीर्थंकरों का जन्मोत्सव होता रहता है । अतः महा महोत्सवों से वह परम पावन है, ये जन्म महोत्सव तीनों लोकों के जीवों को आनन्द देने वाले होते हैं । इस अत्तम भरत क्षेत्र के ठीक मध्य में अवन्ति देश शोभायमान है । तथा जन, धन, वैभव, गुण, ज्ञान, विज्ञान की सम्पन्नता होने से यह देश सत्पुरुष के समान शोभायमान था ।

भावार्थ—मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं । इनके बीचों-बीच “जम्बूद्वीप” नाम वाला द्वीप है । इसमें ‘जम्बू वृक्ष है ।’ यह पृथ्वीकाय है और एक लक्ष परिवार वृक्षों से वेष्टित है । इनकी पूर्व शाखा पर ‘अन्तावृत’ देव जो १० लक्ष व्यन्तरो का अधिपति है निवास करता है । इस वृक्ष के निमित्त से ही यह द्वीप जम्बूद्वीप नाम से प्रसिद्ध है । इसके बीच मध्य में सुमेरु पर्वत १ लक्ष ४० योजन उन्नत स्थित है । इस मेरु की दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र

नामक क्षेत्र हैं । भरत क्षेत्र में तीर्थंकरों का जन्म होता है स्वर्ग से आकर देव देवियाँ सहित इन्द्र भगवान् का जन्मोत्सव मनाते हैं । भगवान् के जन्म समय तीनों लोकों के चारों गतियों में स्थित जीवों को नियम से एक निमिष मात्र को शान्ति प्राप्त होती है—सुख मिलता है । यहाँ की जनता धन, जन, ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्यादि से सम्पन्न है । अतः यह अवन्ति देश ही मानों सज्जन-सत्पुरुष हो ऐसा प्रतिभाषित होता है । वह जन-जन के मन और नयनों को महानन्द का प्रदाता था ।

यो देशः पतनैर्ग्रामैः पुरैः खेटैर्मडम्बकैः ।

संवाहनादिभिर्नित्यं वभौ चक्रीव राजभिः ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (देशः) देश (नित्यं) सतत् (पतनैः) रत्नदीपों (ग्रामैः) गाँवों (पुरैः) नगरों (खेटैर्मडम्बकैः) खेट, मडम्ब (संवाहनादिभिः) संवाहन (समुद्र तट पर बसा नगर) आदि द्वारा परिवेष्टित (राजभिः) अनेक राजाओं से वेष्टित घिरा हुआ (चक्री) चक्रवर्ती राजा के (इव) समान (वभौ) मुशोभित था ।

सरलार्थ—वह अवन्ति देश, रत्नद्वीप, गाँव, नगर, खेट, मडम्ब संवाहनादि से परिवेष्टित था अतः ३२ हजार मुकुटवद्ध राजाओं से घिरे हुए चक्रवर्ती राजा के समान वह प्रतीत होता था ।

भावार्थ—पतन, ग्रामादि का लक्षण पहले ही लिखा जा चुका है । उस अवन्ति देश में अनेक पतन, ग्राम खेट, कडम्ब और संवाहन थे । जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के अधीन अनेकों छोटे-मोटे राजा रहते हैं । उसी प्रकार इस देश के आश्रय में रहने वाले अनेकों ग्रामादि थे । अतः यह चक्री-वद् खण्डाधिपति के समान प्रतिभासित होता था । वह अपने सौन्दर्य से सबका मन मोहित कर लेता था । धन-धान्य सम्पन्न था । अर्थात् इस देश में कोई दीन, दरिद्री दुखी, भिखारी नजर नहीं आता था ।

उक्तं च

ग्रामो प्रकृत्या वृत्तिस्स्यान्नगरं मुरु

चतुर्गोपुरोद्भासि सालं खेटं नद्यद्वि

वेष्टयं परिवृत अभितः खर्वटं पर्वतेन

ग्रामैर्मुक्तं मडम्बं बलितदशशतैः

पतनं रत्न योनिद्रोणाख्यं सिन्धु बेला

बलय बलयितुं संवाहनं चाद्रिरुढम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(प्रकृत्यावृत्तिः) स्वभाव से जो वृक्ष कांटों आदि से घिरा हो (ग्रामः) वह ग्राम है । (उरु) विशाल (चतुर्गोपुरोद्भासि) चार गोपुर द्वारों से मण्डित बह (नगरम्)

नगर (नदी) सरीता (अद्रि) पहाड़ (सालं) पंक्ति से (वेष्टयं) घिरा (खेटम्) खेट (अभितः) चारों ओर (पर्वतेन) पहाड़ से (परिवृतः) घिरा हो वह (खर्वटः) खर्वट (दणशतः) एक हजार ग्रामों से (वलित युवतं) चारों ओर सहित है । वह (मडम्ब) मडम्ब (रत्नयोनि) रत्नों की खान वाला (पत्तनं) पत्तन (सिन्धु बेला बलय-बलियितुं) सागर की लहरों को चारों ओर घेर कर रहने वाले (द्रोणः) द्रोण (च) और (आद्रिखटम्) पहाड़ पर बसने वाला (संवाहनं) संवाहन (आख्यम्) कहा जाता है ।

सरलार्थ- जो चारों ओर वृक्षादि की बाड़ में वेष्टित रहता है उसे गाँव कहते हैं । जिसकी चारों दिशाओं में एक-एक गोपुर विशाल द्वार रहता है उसे नगर कहा है जो नदी पर्वत और कोट से घिरा रहता है उसे "खेट" कहते हैं । जो चारों ओर पर्वत मालाओं से परिवृत घिरा रहता है उसे "खर्वट" कहा जाता है । जिसके आधीन चारों ओर एक हजार गाँव शोभित होते हैं । उसे "मडम्ब" कहा गया है । जहाँ नाना रत्नों की खाने रहती हैं उसे "पत्तन" संज्ञा दी जाती है । जो समुद्र की लहरों से शोभित हो वह "द्रोण" कहा जाता है । तथा पर्वतों पर बसे हुए प्रदेश को संवाहन कहा जाता है । इनका विशेष स्वरूप प्रथम परिच्छेद में आ चुका है ॥५॥

यत्रवापीतटाकादि स्वच्छतोया जलाशयाः ।

रेजिरे चाति गम्भीरा मुनीनां मनसोपमाः ॥६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) उस देश में (वापी) बाबड़ी-कूप (तटाकादि) सरोवरदि (स्वच्छतोया) निर्मल जल भरे (जलाशयाः) (च) और तडागादि, नदी वगैरह (अति) बहुत (गम्भीरा) गहरे-गहरे (मुनीनां) वीतरागी साधुओं के (मनसोपमाः) निर्दोष मन के सदृश (रेजिरे) सुशोभित थे ।

सरलार्थ दिगम्बर साधुओं के मन के समान उस अवन्ति देश के जलाशय-नद-नदी कूप, सरोवर, आदि निर्मल जल से मनोहर हो रहे थे ।

भावार्थ—मुनिराजों का पावन मन विषय-कसायों रागद्वेष की पङ्क से रहित कैसा है, आशा तृष्णा की शैवाल विहीन होता है । अतः विकार रहित स्वच्छ रहता है । इसी प्रकार उस अवन्ति देश के जलाशयों नदी सरोवर आदि का जल कीचड़ शैवाल, काई आदि से रहित था, स्वच्छ पवित्र, मधुर और आनन्द देने वाला था । इसलिए यहाँ आचार्य श्री ने उस जल की निर्मलता की तुलना मुनिराज के पवित्र मन से की है । सद्गुरुओं का मन समतारस से आव्याधित जगत हित कर्त्ता होता है । सर्वोदय की भावना से भरा रहता है । जल तो शरीर और वस्त्रों का मल धोने में समर्थ होता है किन्तु मुनिमन आत्मा की अनादिवास नोद्भूत कर्म कल्मष का प्रक्षालन करने में समर्थ होता है । "साधु" का दर्शन मात्र ही पाप कालिमा को स्वच्छ कर देता है कहा भी है "साधुनां दर्शनं पुण्यं" साधुओं का दर्शन पुण्य रूपी वारनिस कर आत्मा को चमका देता है ॥६॥

गोमहिष्यादयो यत्र भुक्त्वास्वादुरसांस्तृणान् ।

सुखं स्थिताः विभान्तिस्म महीर्वा नन्दनाभुवाः ॥७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ उस देश में (गोमहिष्यादयो) गाय-भैंसों (स्वादुरसांस्तृणान्) स्वादिष्ट घास को (भुक्त्वा) खाकर (सुखं) सुख पूर्वक (स्थिताः) बैठी हैं (वा) ऐसा प्रतीत होता है, मानों (मही) पृथ्वी (आनन्दनाभुवाः) आनन्द के अङ्कुरों से उल्लसित रोमाचों से (विभान्तिस्म) शोभायमान हो रही थी ।

सरलार्थ—उस अवन्ति देश में गायें, भैंस आदि सुस्वादु घास चरकर सुख से आसोन थीं । बैठी थीं । चारों ओर भूमि तृणांकुरों से हरी हो रही थी । वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों हर्ष के रोमान्च ही निकल रहे थे । आनन्द के अङ्कुरों से ही मानों पुलकित शोभ रही थी ।

भावार्थ—उस अवन्ति देश में निरन्तर हराभरा वातावरण रहता था । जंगल में चारों ओर हरियाली लहराती थी मानों आनन्दाङ्कुरों को ही भूमि ने धारण किया है । उस सुस्वादु घास को चर कर गाएँ-भैंसों आदि सुखानुभव कर रही थीं । आनन्द से खाकर सुख पूर्वक बैठी थीं । चारों ओर आनन्दाना से भूमि शोभायमान प्रतीत होती थी ।

धनैर्धान्यैर्भवेन्नित्यं संभूतो यो वभौ सदा ।

भव्यानां सर्वं सौख्याना माकरो वा जगद्धितः ॥८॥

अन्वयार्थ—(यो) जो अवन्ति देश (सदा) हमेशा-सदा (धनैर्धान्यैः) धन-पशुओं और गेहूँ आदि धान्यों के द्वारा (नित्यं) निरन्तर (संभूतः) भरा हुआ (वभौ) शोभित था (वा) मानों (जगद्धितः) संसार का हित करने वाले (भव्यानां) भव्यजीवों का (सर्वं) सर्व प्रकार (सौख्यानां) सुखों का (आकर वा) खजाना ही हो ।

सरलार्थ—उस देश में (अवन्ति में) धन चौपाये और धान्य-नव धान्य की प्रभूत उत्पत्ति होती थी । वह निरन्तर धन-धान्य से परिपूर्ण रहता था । सतत भव्य जीव सुख पूर्वक निवास करते थे । उस धन धान्य सम्पदा से ऐसा प्रतीत होता था, मानों संसार का हित करने वाला सुख यहीं आ बसा है । अभिप्राय यह है कि वहाँ पुण्यात्मा भव्य जीव ही उत्पन्न होते थे । उन्होंने अपने पुण्य से भूमि देश को भी पुण्यरूप बना दिया था । समस्त सुखों इन्द्रियों को प्रिय उत्तम भोगों को सामग्री का वह खजाना स्वरूप था ।

यत्र क्षेत्रेषु निष्पन्नास्सर्वधान्येषु गोपिकाः ।

रूपेण मोहयन्तिस्म पान्थानन्यासु का कथा ॥९॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (निष्पन्ना) पके हुए (सर्वधान्येषु) सर्व प्रकार के धान्यों से भरे (क्षेत्रेषु) खेतों में (गोपिकाः) कार्यरत ग्वालिन-कृषक पत्नियाँ (रूपेण) सौन्दर्य प्रदर्शन

से (पान्थान्) पथिकों को (मोहयन्तिस्म) मुग्ध कर लेती थीं । (अन्यासु) वहाँ अन्य उच्च कुलीन रमणियों को (का कथा) कथा ही क्या ।

सरलार्थ—उस अवन्ति देश में कृषक ललनाएँ भी अद्वितीय सम्पन्न थीं जिस समय वे अपने धान्य के पके हुए खेतों की रक्षा या काटने आदि कार्यों में संलग्न रहती थीं उस समय उनके रूप लावण्य से आकर्षित हो पथिक जन आश्चर्य चकित हो जाते, क्षण भर को गमन रोक उन्हें देखने लगते । जहाँ गोभिकाएँ इतने सुन्दर रूप लावण्य से मण्डित हैं तो अन्य कुलीन महिलाओं की अपराधि की भला क्या कथा करनी ? अतिसूत्र यह कि वहाँ की समस्त नारियाँ सर्वाङ्ग सुन्दरियाँ थीं । कोई भी भद्दी या विकलाङ्ग नहीं थीं ॥६॥

यत्र पुण्य प्रसादेन संवसन्तिस्म सज्जनाः ।

सम्पदा सार सम्पूर्णा जिनधर्म परायणाः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ पर (पुण्य प्रसादेन) पुण्य के निमित्त से (सम्पदा सार सम्पूर्णा) सारभूत सम्पदा से सम्पन्न (जिनधर्म परायणाः) जिनधर्म के सेवन करने वाले (सज्जनाः) सत्पुरुष (संवसन्तिस्म) निवास करते थे ।

सरलार्थ—वह देश धर्ममय था । वहाँ सभी जिनधर्म पालन करने वाले थे । जिन भक्ति में लीन सम्यग्दृष्टि थे, पुण्य-योग्य सभी सम्पदाओं के भोक्ता, पुण्यानुबन्धी पुण्य सम्पादन करने वाले थे । अपने-अपने पुण्योदय से नाना प्रकार के सुखों को भोगते थे ।

नार्योयत्र जगत्सार रूप सौभाग्यमण्डिताः ।

सम्यक्त्वव्रत सम्पन्ना जयन्तिस्म सुराङ्गनाः ॥११॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस अवन्ति देश में (नार्याः) नारियाँ (जगत्सार) विश्व के साररूप (रूप सौभाग्य मण्डिताः) सौन्दर्य सौभाग्य से विभूषिता (सम्यक्त्वव्रत) सम्यग्दर्शन व्रतों से (सम्पन्ना) सहिता (सुराङ्गनाः) सुराङ्गनाओं को (जयन्तिस्मः) जीतती थीं ।

सरलार्थ—उस धर्म स्वरूप अवन्ति देश में पुण्य की खान स्वरूप शील-सदाचार सम्पन्न गृहणियाँ थीं । वे अपने रूप सौभाग्य एवं सम्यक्त्व गुण एवं व्रतों से देवाङ्गनाओं को भी परास्त तिरस्कृत करती थीं । अर्थात् वे प्रत्यक्ष अप्सराओं से भी अधिक रूप लावण्यमयी थीं । तथा —

वस्त्राभरण संयुक्तास्तासु-पुत्र फलान्विताः ।

शोभन्तेस्म यथा कल्पवल्लर्यः सुमनोहराः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(ताः) वे महिलाएँ (वस्त्राभरण संयुक्ता) वस्त्र और आभूषणों से सजी-धजी (सुपुत्र फलान्विताः) श्रेष्ठ पुण्यवन्त पुत्र रूपी फलों से फलित (कल्पवल्लर्यः) कल्प-लताओं सदृश (सुमनोहराः) मन को हरण करने वाली (शोभन्तेस्म) शोभायमान होती थीं ।

भावार्थ—उस देश की नारियाँ साज शृंगार युक्त नवीन रङ्ग विरङ्गों वस्त्र एवं नाना रत्नों से जड़ित आभूषण धारण किये हुए थीं । उनके सौभाग्य और पुण्य से मण्डित गुण विद्या कला सम्पन्न पुत्र थे । मानों वे पुष्प और फल ही थे । इस प्रकार वे चनती-फिरती-पल्लवित-पुष्पित कल्पलता के समान प्रतिभाषित हो रही थीं ॥१२॥

मार्गेषु यत्र सर्वत्र सुपुष्पफल संयुताः ।

सर्व संतर्पिनोरेजुः पादपास्सज्जना-यथा ॥१३॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (मार्गेषु) मार्गों में (सर्वत्र) हर एक जगह (सर्व) सबको (संतर्पिनाः) संतुष्ट करने वाले (सुपुष्पफला संयुताः) सुस्वादु पक्व फलों से भरे हुए (पादपाः) वृक्ष समूह (यथा) जिस प्रकार (सज्जनाः) सत्पुरुष हों ऐसे (रेजुः) शोभित थे ।

भावार्थ—वहाँ सज्जन पुरुष यथेच्छ दान करते थे । सर्व याचकों को संतुष्ट करने वाले थे । सभी को आनन्द के कर्ता और संतोष के प्रदाता थे । इसी प्रकार प्रत्येक मार्ग-रोड पर दोनों ओर हरे-भरे फल फूलों से लदे वृक्ष समूह थे । मार्ग श्रम से श्रमिष्ठ पथिकों को सुपक्व मधुर शीतल फल प्रदान कर संतुष्ट करने वाले वे वृक्ष भी सज्जनों के समान ही उदार और निस्पृही परोपकारी थे ॥१३॥

इक्षुवाटेषु यत्रौच्चैर्वसन्तिस्म मनोहरम् ।

सौरस्यं सूचयन्तिस्म तद्यन्त्राणीव देशजम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (उच्चैः) बहुत से विशाल (यन्त्राणि) यन्त्र इक्षुरस बिकालने वाली मशीनें (वसन्तिस्म) निवास करते थे अर्थात् लगे थे । (देशजम्) वे उस देश में उत्पन्न (इक्षु सौरस्यं) इक्षु गन्नों के मधुर रस की सूचना (इव) के समान (सूचयन्तिस्म) सूचना दे रहे हैं ।

भावार्थ—उस देश में रास्तों, गलियों, सड़कों पर सर्वत्र ईक्षुरस के यन्त्र लगे हुये थे । वे मानों मधुर रस के साथ उस देश में उत्पन्न जनों के मधुर-स्नेह भरे व्यवहार की सूचना दे रहे थे ।

वनादौ यत्र भान्तिस्म प्रोत्तुङ्गश्च नगे नगे ।

जिनेन्द्र प्रतिमोपेताः प्रसादा शर्म दायिनः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (वनादौ) वन प्रदेशों में (नगे नगे) प्रत्येक पर्वत पर (जिनेन्द्र प्रतिमोपेताः) जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं से सहित (च) और (प्रोत्तुङ्गः) विशाल ऊँचे (शर्मदायिनः) शान्ति प्रदान करने वाले (प्रसादाः) जिनालय (भान्तिस्म) शोभायमान हो रहे थे ।

भावार्थ—उस देश में स्थित वन प्रदेशों में यत्र तत्र रमणीय पहाडियाँ थीं । उन पर्वत श्रेणियों पर विशाल गगनचुम्बी जिनालय थे । शिखर ध्वजादि से सज्जित उन मन्दिरों में वीतराग छत्रियुक्त मनोज्ञ जिन विम्ब-प्रतिमाएँ अतिशय रूप से शोभित हो रही थीं वे जिन भवन शान्ति के निकेतन थे । आनन्द प्रदाता और संतापहर्ता थे । उनके दर्शन मात्र से भव-भव के पातक नष्ट हो जाते थे ।

स्वर्णकुम्भध्वजाव्रतैर्नानावादित्र मङ्गलैः ।

कूर्जयन्तिस्म देवास्ते जिनेन्द्र स्नपनेरताः ॥१६॥

अन्वयार्थ—उन जिन भवनों में (देवाः) देव-देवियाँ (स्वर्णकुम्भध्वजाव्रतैः) सुवर्ण के कलशों नाना ध्वजाओं के समूह (नानावादित्र मङ्गलैः) नाना प्रकार के बाजे और मंगल गानों द्वारा (जिनेन्द्रस्नपनेरताः) जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं का अभिषेक करने में तल्लीन (ते) वे देवगण (कूर्जयन्तिस्म) कल-कल नाद कर रहे थे—सुरीलेस्वर में कूज रहे थे ।

भावार्थ—वहाँ जिनालयों में देव-देवियाँ विशाल रमणीय सुवर्ण के कुम्भ लेकर ध्वजा-पताकाएँ फहराते हुए तरह-तरह के बाजे-ताल, मृदंग वांसुरी, ढोलक, तबला, हारमोनियम आदि बजाते हुए, नृत्य करते, अनेक प्रकार के मङ्गलगानों द्वारा उत्सव करते हुए श्री जिन भगवान् की प्रतिमाओं का अभिषेक करते थे । जिससे वे जिनालय कूज रहे थे । कोकिलानाद समान मधुर ध्वनि से वे जिन मन्दिर गुंजायमान हो रहे थे ।

ईतद्योयत्रपुण्येन तैवजाताः कदाचनः ।

सर्वेऽपि धर्मिणो यस्मात् परोपकृतिः तत्पराः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ-उस देश में (सर्वे) सभी जनता (अपि) भी (धर्मिणः) धर्मात्मा [परोपकृति] पर का उपकार करने में [तत्पराः] तैयार थी [यस्मात्] इसी कारण से [पुण्येन] उनके पुण्य से [कदाचन] कभी भी [ईतयः] सात प्रकार की ईतियाँ [तैव] नहीं ही [जाताः] होती थीं ।

भावार्थ—पुण्य, सुख सम्पदा का हेतु है । उस देश में सर्वत्र धर्म की वर्षा होती थी । नर-नारी सभी धर्मात्मा थे । दान, पूजा, और परोपकार में सदा तत्पर रहते थे । निरन्तर पुण्य सञ्चय करने वाले थे इसीलिए उनके पुण्य से उस देश में कभी भी सात प्रकार की ईतियाँ नहीं होती थी । वे ईतियाँ निम्न प्रकार हैं ।

अतिवृष्टिरनावृष्टि मूषिकाश्शलभाशुकाः ।

स्वचक्रं परचक्रञ्च सप्तैतैर्नाईतयः स्मृताः ॥१८॥

अर्थ—(१) अतिवृष्टि—आवश्यकता से अधिक वर्षा होना ।

- (२) अनावृष्टि—आवश्यकता से कम वर्षा होना ।
- (३) मूषिका—चूहों द्वारा फसल की बरबादी होना ।
- (४) शलभा—टिड्डी दल द्वारा खेती का नाश ।
- (५) श्रुका—तोते आदि द्वारा उपद्रव होना ।
- (६) स्वचक्र—अपने ही राजकर्मचारियों द्वारा षड्यंत्र ।
- (७) परचक्र—अन्य राज्यों द्वारा षड्यंत्र, अढ़ाई आदि इस प्रकार के सात ईतियाँ (स्मृताः) मानी गई हैं ।

यत्र भोगोपभोगादि सम्पत्त्याः सज्जनास्सदा ।

कुर्वन्तिस्म जिनेन्द्राणां यात्रां यान्तुं स्पृहांमुदा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ जिस देश में (सदा) हमेशा (सज्जनाः) सज्जन पुरुष (भोगोपभोगादि सम्पत्त्या) भोग और उपभोग की सम्पदाओं के साथ (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्र भगवान् की (यात्रां) यात्रा करने की (यान्तुं) जाने के लिए (मुदा) हर्ष से आनन्द (स्पृहां) स्पर्धा (कुर्वन्तिस्म) करते थे ।

भावार्थ—उस देश के पुण्यात्मा भव्यजन भोगोपभोग में लीन थे । उनके पास भोग और उपभोग की सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी तो भी धर्मानुराग इतना प्रगाढ़ था कि जिन यात्रा, दर्शन, जिन पूजनादि शुभ कार्यों के लिए होड़ प्रतिस्पर्धा करते थे । हर एक भव्य सोचता मैं पहले जाऊँ प्रथम मैं पूजा भक्ति करूँ आदि ।

यत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां भव्याः सम्यक्त्वपूर्वकम् ।

पात्रदानं जिनेन्द्रार्चां शीलं पर्वोपवासकम् ॥२०॥

धर्मकृत्वासुखंभुक्त्वा दीर्घकालं मनोहरम् ।

साधयन्तिस्म ते प्रान्ते नित्यंस्वर्गादिकमुत्तमम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (सम्यक्त्वपूर्वकम्) सम्यग्दर्शन सहित (भव्याः) भव्यजीव (श्रीमज्जिनेन्द्राणां) श्रीमत् भगवान् अरहंत प्रभु की (अर्चाम्) पूजा (पात्रदानं) सत्पात्रों को दान देना तथा (शीलं) शीलधर्म-ब्रह्मचर्य (पर्वोपवासकम्) पर्व के दिनों में उपवास आदि करना—तथा उपर्युक्त प्रकार (धर्मं) धर्म को (कृत्वा) करके (दीर्घकालं) बहुत काल तक (मनोहरम्) सुन्दर रूप (सुखं) सुख सम्पदा (भुक्त्वा) भोगकर (प्रान्ते) अन्त समय में (ते) वे भव्यात्मा (उत्तमम्) श्रेष्ठतम (स्वर्गादिकम्) स्वर्ग आदि के सुख को (साधयन्तिस्म) सिद्ध करते थे ।

भावार्थ—उस अकस्मिन् देश में सर्वत्र पुण्यात्मा भव्यजीव निवास करते थे । सभी सम्यक्त्व गुण से मण्डित थे । प्रतिदिन श्री जिन भगवान् की अष्टविध पूजा करते थे । सत्तत्

उत्तम, मध्यम, जघन्य सत्पात्रों को आहारादि चारों प्रकार के दान देते थे । नारियाँ पतिव्रत-धर्म से विभूषित थीं । पुत्र भी शील मण्डित थे । सभी पर्वों के दिनों में उपवास, एकाग्रन, रस परित्यागादि नाना प्रकार के तप करते थे । स्नान-पूजादि से प्रभूत पुण्यार्जन करते हुए बहुत काल तक अर्थात् आयुष्यपर्यन्त नाना प्रकार पञ्चेन्द्रियों के विषय-भोगों से उत्पन्न सुखों का अनुभव करते थे । आयु के अन्त में यथा योग्य समाधि सिद्ध कर उत्तम स्वर्गादि को प्राप्त कर पुनः मनुष्यभव प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करते थे ॥२१॥

निर्ग्रन्था मुनयो यत्र स्वस्थचित्ता निरन्तरम् ।

शुद्ध रत्नत्रयेणोच्चैर्यान्ति स्वर्गपथवर्गकम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(यत्र) उस अवन्ति देश में (निरन्तर) सतत हमेशा (स्वस्थचित्ता) एकाग्रध्यानी-वशी (शुद्ध) निर्मल २५ दोषादि रहित (रत्नत्रयेणोच्चैः) रत्नत्रय से उन्नत (निर्ग्रन्थामुनयः) दिगम्बर मुनि (स्वर्गपथवर्गकम्) स्वर्ग व भोक्ष को (यान्ति) जाते हैं ।

भावार्थ—वह अवन्ति देशधर्म का शिरोमणिस्वरूप था । वहाँ सदा ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु विहार करते थे । मन इन्द्रियों को वश करने वाले एकाग्र चित्त से ध्यान करते थे । शुद्ध निर्वोष सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले थे । सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले २५ दोष हैं—८—शङ्कादि दोष, ८—मद, ६—प्रनायतन और ३—मूढ़ताएँ ये २५ दोष हैं ।

आठ दोष—

१. शङ्का—तत्त्व के विषय में संदेह रखना ।
२. कांक्षा—धार्मिक क्रियाएँ करते हुए परभव सम्बन्धी भोग की वाञ्छा रखना ।
३. विचिकित्सा—धर्म और धर्मत्माओं में ग्लानि करना ।
४. मूढ़ दृष्टित्व—मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसादि करना ।
५. अस्थितिकरण—स्वयं अथवा अन्य के धर्मभाव से विचलित होने पर स्थिर नहीं करना ।
६. अवात्सल्य—धर्म और धर्मत्माओं के प्रति प्रेम नहीं रखना उनसे द्वेषादि करना ।
७. अनुपगूहन—अपनी प्रशंसा और अन्य की निन्दा करना अथवा धर्म और धार्मिकों में कारणवश दोष लग जाने पर उन्हें प्रकट करना बढ़ा-बढ़ाकर कहना ।
८. अप्रभावना—धर्म और धर्ममार्ग की हानि करना निन्दा करना विघ्न डालना आदि ।

आठ मद—मद का अर्थ है अहंकार-अभिमान ये निम्न हैं ।

१. ज्ञानमद—ज्ञानीपने का अहंकार होना ।

२. पूजा—प्रतिष्ठादि पाकर अभिमान से फूल जाना ।
३. कुलमद—मैं श्रेष्ठ कुलोत्पन्न हूँ, मेरे समान अन्य नहीं है ।
४. जातिमद—जाति का अहंकार करना ।
५. बलमद—शारीरिक बल-शक्ति का धमण्ड करना
६. ऋद्धिमद—तप के प्रभाव से ऋद्धि हो जाने पर उसका अहंकार करना ।
७. तपमद—उपवासादि की शक्ति विशेष का अहंकार होना ।
८. रुम (बहु) मद—शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना ।

इसी प्रकार ६ अनायतन हैं । १. मिथ्यादेव २. मिथ्या देवपूजक ३. खोटा मिथ्यागुरु ४. मिथ्या गुरु सेवक ५. मिथ्या शास्त्र और ६. कुशास्त्र के अनुयायी इनको मान्यता देने से सम्यक्त्व में दोष लगता है । ये ६ अनायतन कहलाते हैं ।

तीन मूढता १. देव मूढता २. गुरु मूढता और ३. समय मूढता ।

इस प्रकार २५ मल दोष सम्यग्दर्शन को दूषित करते हैं ।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सम्यग्ज्ञान होता है । इसी प्रकार अतिचार रहित चारित्र्य पालन करते थे । वे मुनिराज शुद्ध रत्नत्रय से सम्पन्न होकर यथा योग्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते थे ॥२२॥

एवं वर्णाश्रमा यत्र स्वस्वधर्मेषु तत्पराः ।

तिष्ठन्ति स्म सदाप्युच्चैः परमानन्दनिर्भराः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (यत्र) जहाँ पर (वर्णाश्रमा) प्रत्येक वर्णाश्रमी (सदा) सर्वदा (उच्चैः) विशेष रूप से (परमानन्दनिर्भराः) परम आनन्द से भरे (स्वस्व-धर्मेषु) अपने अपने धर्म में (तत्पराः) लीन हुए-सन्नद्ध (तिष्ठन्तिस्म) रहते थे ।

भावार्थ—वहाँ क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण एवं शूद्र चारों वर्ण अपने अपने कर्त्तव्य पालन में सन्नद्ध रहते थे । अपने-अपने कर्त्तव्य में प्रसन्न और उत्साही थे । सदैव धर्म नीति के अनु-सार सत्यरूप से अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे । इसी प्रकार गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम और ऋषि आश्रम निवासी भी अपने अपने योग्य क्रिया काण्डों को यथोचित समयानुसार भक्ति और लगन से करते थे । तात्पर्य यह है कि वहाँ सभी ज्ञानी, जागरूक और कर्त्तव्य निष्ठ थे । ॥२३॥

इत्येवं सम्पदोपेतोऽवन्तिदेशे सुखास्पदे ।

अभूदुज्जयनी नाम्ना नगरी तु गरीयसी ॥२४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (एवं) इस प्रकार की (सम्पदोपेतः) नाना सम्पत्तियों

से भरे हुए (सुखास्पदे) विभिन्न इन्द्रिय सुखों का स्थान स्वरूप (अवन्तिदेशे तु) निश्चय से उस अवन्ति देश में (गरोयसी) महत्त्वशाली (उज्जयनी नाम्ना) उज्जयनी नाम की (नगरी) पुरी (अभूत) थी ।

भावार्थ—उपर्युक्त वर्णन से सुख सम्पदा ऐश्वर्यशाली उस अवन्ति देश में उज्जयनी नाम की नगरी थी । यह पुरी भी अपने कला कौशल, गुण धर्म से महत्त्वपूर्ण थी । तथा सभी इन्द्रियज सुखों की खान स्वरूपा थी ।

या विशुद्धमहातुङ्ग प्रकारेण परिष्कृता ।

सारेजे स्व यशोराशिरिवोच्चैः परिवेष्टिता ॥२५॥

अन्वयार्थ—(या) जो अर्थात् उज्जयनीपुरी (विशुद्धमहातुङ्ग प्रकारेण) उत्तम और उन्नत परकोटा द्वारा (परिवेष्टितो) घिरी हुयी थी (स्व) अपनी (यशोराशिस्त्रि) यशकीर्ति की राशि के समान (उच्चैः) विशेषरूप से (परिष्कृता) उज्ज्वल (सा) वह पुरी (रेजे) शोभित थी । ॥२५॥

महाद्वाराणि चत्वारि रेजिरेरत्न तोरणैः ।

तत्पुरी वनितायाश्च वदनानीवदिक्षुर्व ॥२६॥

अन्वयार्थ—(वनितायाः वदनानि इव) सुन्दर स्त्रियों के मुख के समान (रत्न-तोरणैः) रत्नमय तोरण द्वारों से युक्त (महाद्वाराणि चत्वारि) चार महा द्वारों से (तत्पुरी) वह उज्जयनी नगरी (वै) निश्चय से (दिक्षु) सभी दिशाओं में (रेजिरे) सुशोभित थी ।

भावार्थ—उस उज्जयनी के चतुर्दिक्षु चारों दिशाओं में चार गोपुर द्वार थे, इनमें रत्नों के तोरण लटक रहे थे । ये गोपुर द्वार ऐसे प्रतीत होते थे मानों इस उज्जयनी रूपी नारी के मुख पङ्कज ही हैं । इन द्वारों से युक्त यह नगरी महाशोभा को धारण करने वाली थी ।

स्वच्छतोयभृताखाता विकसत्पद्मराजिता ।

सा विशाला विशालायास्ततस्यास्सा इव संवभौ ॥२७॥

अन्वयार्थ—(तस्या) उस (विशालायाः) विशाल उज्जयनी पुरी की (विशाला) विस्तृत (स्वच्छतोयभृता) निर्मल जल से भरी (विकसत् पद्मराजिता) खिले हुए कमलों से सुसज्जित (सा) वह (खाता) खाई (दिवि) दिन में अति शोभायमान थी ।

भावार्थ—स्वयं उज्जयनी विशाल नगरी थी उसके चारों ओर विस्तृत खाई थी । वह खातिका स्वच्छ निर्मल जल से परिपूरित थी । उसमें सुन्दर राजीव (कमल) खिले हुए थे । दिन में उस खाई की शोभा अद्वितीय हो जाती थी । क्योंकि सरोवर स्वभाव से सूर्योदय

होने पर ही खिलते हैं। संध्याकाल सूर्यास्त के साथ जलज (कमल) भी कुन्द हो जाते हैं। अतः पक्षों के विकसित होने से दिन में वह खातिका अद्वितीय रूपराशी दृष्टिगत होती थी। यहाँ “दिवस” द्वितीयान्त शब्द है। किन्तु निरन्तर के अर्थ में यह प्रयोग ‘सप्तमी’ के अर्थ में हुआ है यथा—“मासे मघोते” मघिने भर पड़ा, परन्तु लगातार नहीं पड़ा “मास मघोते” एक महा पड़ा अर्थात् बिना रुके लगातार मघोने भर पड़ा इसी प्रकार यहाँ भी वह खातिका सतत् रोज ही दिन में शोभित रहती थी।

पञ्चसप्ततलास्तुङ्गा रत्नस्वर्णादि निर्मिताः ।

सद्गृहा वा हसन्तिस्म ध्वजाद्यैः स्वर्गजांश्चियम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—उस नगरी के (रत्नस्वर्णादि निर्मिताः) स्वर्ण से बने रत्नों से खचित (पञ्चसप्ततलाः) पाँच तल्ले, सात खने (तुङ्गा) ऊँचे (सद्गृहाः) श्रेष्ठ घर-मकान (वा) मानों (ध्वजाद्यैः) ध्वजा-पताकादि द्वारा (स्वर्गजांश्चियम्) स्वर्ग से उत्पन्न लक्ष्मी-वैभव को (हसन्तिस्म) ही हंस रहे थे। अर्थात् उपहास कर रहे थे।

भावार्थ—उस उज्जयनी नगरी में पाँच-पाँच, सात-सात खन मंजिल के विस्मय घर-मकान थे। उन प्रासादों पर ध्वजाएँ फहराती थीं। घंटियाँ बंधी थीं तोरण द्वार लटकते थे जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानों स्वर्ग में उत्पन्न लक्ष्मी का ये उपहास ही कर रहे हैं। क्योंकि ये महल सुवर्णनिर्मित थे। रंग-विरङ्गे, नाना रत्नों से खचित थे ज्योतिर्मय थे। जगमगाते ये प्रासाद अपनी कागति से स्वर्ग विभूति को मानों हंस रहे थे ॥२८॥

या पुरीसर्वदासर्वसाखस्तु समुच्चयैः ।

संभृता सजनारेजे श्रीर्वा तद्रूपशालिनी ॥२९॥

अन्वयार्थ—(सारवस्तु समुच्चयैः) सारभूत उत्तम वस्तुओं के सहस्र से (संभृता) भरी हुई (सजना) श्रेष्ठ जनों से सहित (तद्रूपशालिनी) श्रेष्ठ रूप की धारण करने वाली (यापुरी) जो नगरी अर्थात् वह उज्जयनी नगरी (श्रीर्वा) मानों साक्षात् लक्ष्मी ही है। इस प्रकार (रेजे) सुशोभित थी।

भावार्थ—वह उज्जयनी नगरी अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम वस्तुओं से भरी थी। अनेक सारभूत वस्तुओं से भरी हुई तथा वैभवशाली सम्पन्न सुन्दर श्रेष्ठ पुरुषों से सहित वह नगरी ऐसी भावूम होती थी मानों साक्षात् लक्ष्मी ही हो।

यत्र भव्यजना सौख्यं संवसन्तिस्म पुण्यतः ।

धनैर्धान्यैर्मनोरम्यैस्साज्जनैः परिवारिताः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ उस नगर में (भव्यजनाः) भव्यजीव (पुण्यतः) अपने पुण्योदय से (मनोरम्यैः) मन को प्रियकारी (धनैः धान्यैः) धन धान्य (साज्जनैः) सत्पुरुष,

(परिवारताः) कृदुम्ब सहित (मौख्यम्) सुख पूर्वक (संवसन्तिस्म) निवास करते हैं ।

भावार्थ—उस उज्जयनी के भव्यजन श्रावक श्राविकाएँ पुण्योदय से प्राप्त धन धान्य, मनमोहक आजाकारी कृदुम्ब सहित सुखपूर्वक जीवन यापन करते थे । सर्व प्रकार पारिवारिक सुख उन्हें प्राप्त था । अर्थात् आजाकारी पुत्र पातिव्रत धर्मशील सम्पन्न पत्नी, वासल्यमयी जननी विश्वस्त मित्र आदि अनुकूल होने से सभी सुख शान्ति में निवास करते थे ॥३०॥

यदा पणेषु सर्वत्र मणि मुक्ता फलादयः ।

नाना सुवर्ण वस्त्रोरुपट्ट कूलादि सम्पदा ॥३१॥

चन्दनागुरुकपूर काश्मीरैला लवङ्गकैः ।

अन्यैरष्टादशप्रायैर्धान्यैः स्नेहादिभिस्सनम् ॥३२॥

सदैव सज्जनैर्भुक्त्वादत्त्वा नीताश्च वारिजैः ।

तथापि वृद्धितां प्राप्नुमन्तीनामृद्धयो यथा ॥३३॥ त्रिमि कुलिकम्

अन्वयार्थ—(आपणेषु) दूकानों में (सर्वत्र) प्रत्येक जगह (मणिमुक्ताफलादयः) मणि मोती, मणिकय नीलम, वैडूर्य आदि रत्न (यथा) जिस प्रकार थे उसी प्रकार (नाना) अनेक प्रकार के (सुवर्णवस्त्र) सोने की जरी आदि के वस्त्र (उरु) विशाल (पट्टकूल) रेशमी वस्त्र (आदि) इत्यादि (सम्पदाः) सम्पत्तियाँ (चन्दनागुरुकपूर काश्मीर) चन्दन अगर-तगर कपूर मलयागिर चन्दन (ऐला) [इलायची (लवङ्गकै) लोंग आदि द्रव्य भी थे । तथा (स्नेहा-दिसम्) तैलादि के साथ (अन्यैरष्टादशप्रायैः) अठारह प्रकार के (धान्यैः) धान्यों से (भृता) भी बाजार भरा हुआ था । (सज्जनैः) वहाँ के निवासी सत्पुरुषों द्वारा (सदैव) सतत (भुक्त्वा-दत्त्वा) भोगकर, दान देकर (वारिजैः) वारिकों से (नीताः) खरीद कर ले जाये गये (तथापि) तो भी (यथा) जिस प्रकार (मुनीनां) मुनियों की (ऋद्धयः) ऋद्धियाँ वृद्धिगत होती हैं (तथा) उसी प्रकार (वृद्धितां) वे वृद्धि को [प्राप्नुः] प्राप्त हुयीं ।

भावार्थ—उस उज्जयनी का बाजार हीरा मोती माणिक, पन्ना, नीलम, पुखराज वज्र-हीरा, स्फटिक मणि रत्न आदि से भरा था । प्रत्येक दूकान पर नवरत्नों के ढेर पाये जाते थे । जीहरी बाजार जिस प्रकार वैडूर्यादि मणियों की खान जैसा प्रतीत होता था उसी प्रकार बजाजा अनेक प्रकार के जरी गोटा, किनारी, सुनहले रूपहले वस्त्रों का भण्डार था । सुवर्ण के वस्त्र रेशमी वस्त्र रंग विरङ्गे भरे पड़े थे । दूसरी ओर रक्ताञ्जन, अगुरु, तगर, कर्पूर केशर, काश्मीर इलायची लवङ्ग आदि सुगन्धित द्रव्यों से भरी दूकानें थीं । अठारह प्रकार के धान्य — गेहूँ, जौ, चना, मटर, ज्वार, बाजरा, अरहर, मूँग मोठ, उडद, ग्वार, तिल, मसूर, आदि धान्य भरे पड़े थे । तथा साथ ही घी, तैल, हींग आदि भी प्रभूत थे । वारिकजन-निरन्तर विक्री करते उपभोक्ता सदा खरीदते, दान करते, परन्तु ये समस्त सामग्री उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहती थीं । आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार तपस्वी ऋषिजनों की

ऋद्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार यहाँ को जनता के त्याग-संतोषमय जीवन के प्रभाव से पुण्यवृद्धि के साथ ये सभी सम्पत्तियाँ बढ़ती जाती थीं [३१ ३२ ३३]

रूपादिसार सम्पत्त्यानरा व सुरसत्तमाः ।

नार्यो निरन्तरं भोगैः जयन्तिस्म सुराङ्गनाः ॥३४॥

अन्वयार्थ—उस नगरी में (नरा) भव्यपुण्डरीक पुरुष (रूपादिसार सम्पत्त्या) रूप लावण्य, विद्या, गुण कलादि द्वारा (व) तथा (नार्यो) नारियाँ (निरन्तरं) सतत (भोगैः) उत्तमोत्तम भोगों द्वारा (सुरसत्तमाः) श्रेष्ठ देवों को तथा (सुराङ्गनाः) देवाङ्गनाओं को (जयन्तिस्म) जीतती थीं ।

भावार्थ—उस उज्जयिनी पुरी में पुरुष क्या और शीलवन्ती नारियाँ क्या सभी रूप लावण्य से मण्डित थे । और उसी प्रकार शीलादि गुणों से भी विभूषित थे । पुरुषजन अपने सौन्दर्यादि से उत्तम देवों को भी निरस्क्रुल करते थे और नारियों का तो कहना ही क्या वे अपने मनोरम स्वाभाविक सुधमा से सुराङ्गनाओं एवं अप्सराओं को भी पराजित करने वाली थीं ॥ ३४॥

यत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां सुप्रासादाबनादिषु ।

लसत्काञ्चन सद्दर्शन निर्मिताः प्रतिमान्विताः ॥३५॥

अन्वयार्थ—[यत्र] जहाँ पर कि [बनादिषु] वन उपवनों में सर्वत्र [लसत्काञ्चन] तपाये हुए सुवर्ण का कान्तिवाले (सद्दर्शननिर्मिताः) श्रेष्ठ उत्तम रत्नों से निर्मित (प्रतिमान्विताः) उत्तमोत्तम प्रतिमाओं से युक्त (श्री मज्जिनेन्द्राणां) श्री जिनेन्द्र भगवान के (सुप्रासादाः) श्रेष्ठ मन्दिर थे तथा—

कनक काञ्चन कुम्भैश्च ध्वजाद्यैः परिशोभिताः ।

नित्यं वादित्रनादौघैर्घण्टावृन्दरलंकृताः ॥३६॥

येषां दर्शनमात्रेण पापं यान्तीति तत्क्षणात् ।

भास्करेणोद्यमव्यानां तत्कालं सन्निजन्तमः ॥३७॥

अन्वयार्थ—वे जिनेन्द्र मन्दिर (कनककाञ्चन कुम्भैः) सुवर्ण के चमकते हुए कलशों से (च) और (ध्वजाद्यैः) नाना प्रकार गताकाओं से (नित्यं) निरन्तर (परिशोभिताः) सुशोभित तथा (घण्टावृन्दैः) घण्टा नादों एवं (वादित्रनादौघैः) नाना प्रकार के वाजों की सुमधुर, ललित ध्वनियों से (रलंकृताः) शोभायमान थे । (येषाम्) जिनके (दर्शन मात्रेण) दर्शन मात्र से (इव) जिस प्रकार (भास्करेण) सूर्य के (सन्निजम्) रात्रिध्य से उत्पन्न प्रकाश से (तमः) अन्यकार (तत्कालं) शीघ्र ही (यान्ति) नष्ट हो जाते हैं (तथा) उसी प्रकार

(भव्यानाम्) भव्य जीवों का (पापम्) पाप समूह (तत्क्षणात्) उसी समय (वान्ते) नष्ट हो जाते हैं । (इति) यह माहात्म्य है उन बिम्बों और मन्दिरों के दर्शन का ।

भावार्थ—वह नगरी भव्य पुण्यात्माओं से भरी थी । साथ ही वहाँ के वन-उपवनों में न केवल श्रीडा निवास थे अपितु विजाल सुवर्णमय जिनालय थे । उनमें रत्न निमित्त जिन बिम्ब शोभायमान थे । गगनचुम्बी शिखर स्वर्ण निमित्त रत्न जटित कलशों से मण्डित थे चारों ओर नानारङ्गों से रचित सैकड़ों ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं । उत्तम घण्टानाद से भञ्जित थे । अनेकों प्रकार के वाजों की ध्वनि गूँजती थी । जिनका दर्शनमात्र सुख कारक था । भव्य मनोज्ञ बिम्बों का दर्शन मात्र करने से भव्य जीवों का पाप कल्मष उसी समय नष्ट हो जाता था जिस प्रकार सूर्योदय होते ही रात्रि जन्य तिमिर विलीन हो जाता है । यहाँ विचारणीय है कि निमित्त कितना प्रबल कार्य करता है । जिनका अभिप्राय है कि निमित्त सर्वथा हेय है कुछ भी कार्यकारी नहीं हो सकता मात्र उपादान ही ग्राह्य है, उन्हें यह सम्यक् प्रकार अध्ययन करने योग्य है कि जिन भगवान् का सान्निध्यमात्र हेतु मिथ्यात्व तिमिर का प्रणाशक है, स्वानुभूति का उद्बोधक आत्मानुभव कराने में समर्थ निमित्त कारण है । साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् ही नहीं अपितु उनके प्रतिबिम्ब-प्रतिमाएँ भी उसी कार्य की साधक हैं । अतः निमित्त अत्यन्त आवश्यक है ।

मुनयोयेषुकुर्वन्ति जनानां श्रुतिसंकयाम् ।

अनेकैर्भव्यसंदोहैस्सार्धं शर्मशतप्रदाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(येषु) उन जिनालयों में (जनानां) जनता के (श्रुति) सुनने योग्य (शर्मशतप्रदाम्) सैकड़ों प्रकार से शान्ति प्रदान करने वाली (संकयाम्) श्रेष्ठ कथा को (अनेकैर्भव्यसंदोहैस्सार्धम्) अनेकों भव्यजनों के साथ (मुनयः) मुनिजन (कुर्वन्ति) करते हैं ।

भावार्थ—उन जिनालयों में मुनिराज निवास करते थे । वे सतत भव्यजनों के योग्य कथाएँ करते थे । अनेकों भव्यजनों के योग्य कथाएँ करते थे । अनेकों भव्यजनों के साथ नाना प्रकार तत्त्व चर्चाएँ करते थे । उनके योग्य उपदेश देते थे । धर्म कथाएँ सुनाते थे । सदुपदेश से भव्यरूपी कमलों को प्रसन्न करते थे ॥३८॥

श्रावकाः श्राविकायत्र नित्यं स्नपन पूर्विकाम् ।

जिनार्चा रचयन्तिस्म लोकद्वय शुभावहाम् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ पर उस उज्जयनीपुरी में (श्रावकाः) श्रावक (श्राविकाः) श्राविकाएँ (नित्यम्) प्रतिदिन (लोकद्वय शुभावहाम्) उभय लोक में कल्याण करने वाली (स्नपनपूर्विकाम्) अभिषेक पूर्वक (जिनार्चा) जिनेन्द्र भगवान् की पूजा को (रचयन्तिस्म) करते थे ।

भावार्थ—उस उज्जयिनी नगरी में श्रावक और श्राविकाएँ सभी पञ्चामृतादि अभिषेक करते थे अष्ट द्रव्यों से पूजा करते थे । यह जिनपूजा दोनों लोकों में कल्याण करने वाली है । इस भव में सुख शान्ति और परभव में भी हर प्रकार की सुख सुविधा की सामग्री प्राप्त होती है । तथा परस्परा से स्वर्ग और मुक्ति देने वाली है । अतः वे भव्यात्मा प्रतिदिन शर्मदायिनी पूजा करते थे । इससे स्पष्ट है कि श्रावक और श्राविकाओं को समान रूप से अभिषेक पूर्वक पूजा करने का अधिकार है । इससे पूर्व श्लोक में मुनि जन जिनालयों में निवास करते थे यह स्पष्ट होता है । जो लोग कहते हैं कि साधुओं को जङ्गल में ही रहना चाहिए या चतुर्थ काल में सभी साधु वनों में ही रहते थे यह निर्मूल हो जाता है । उस समय भी अपने-अपने संहतन के अनुसार वनों और मन्दिरों, पर्वतों, गुफाओं आदि स्थानों में निवास व चातुर्मासादि करते थे ॥३६॥

सदा जैनेश्वरीवाणीं सर्वसन्देह हरिणीम् ।

शृण्वन्तिस्म सुखं भव्या मुनीनांमुखपङ्कजात् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(भव्या) सुमुखज (हरी) सदा (मुनीनांमुखपङ्कजात्) मुनि पङ्कजों के मुखरूपी कमलों से (सर्वसन्देह) सम्पूर्ण संदेहों को (हरिणीम्) नाश करने वाली (जैनेश्वरी वाणीम्) जिनवाणी को (सुखं) सुख से (शृण्वन्तिस्म) सुनते थे ।

भावार्थ—उस नगरी के भव्य जीव प्रतिदिन श्रेष्ठ मुनिजनों के मुख पङ्कज से जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का श्रवण करते थे । वह जिनवाणी सर्व प्रकार के संदेहों को नाश करने वाली थी सुख देने वाली थी । अर्थात् तत्त्वों के विषयों में उत्पन्न शंका का समाधान करने वाली भगवान् सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र आगमानुसार वे ऋषिवर उपदेश करते थे । जिसका श्रवण कर भव्यजन तत्त्वज्ञ और ज्ञानी बन जाते थे ॥४०॥

नित्यं सुपात्रदानेन भूरिमानेन सज्जनाः ।

कुर्वन्तिस्मव्रतैः शीलैः सफलं जन्मपावनम् ॥४१॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) प्रतिदिन (भूरिमानेन) अत्यन्त सम्मान से (सुपात्रदानेन) सत्पात्र दान देकर (व्रतैः शीलैः) व्रत और शीलपालन कर (सज्जनाः) सत्पुरुष (जन्म) अपने जन्म को (पावनं सफलं) पवित्र और सफल (कुर्वन्तिस्म) करते थे ।

भावार्थ—श्रावक श्राविका सत्पुरुष सज्जन थे । वे प्रतिदिन शील, व्रत आदि से युक्त रहते थे । नित्यप्रति, अत्यन्त विनय एवं भक्ति से सत्पात्र दान करते थे । सदाचारी श्रेष्ठ एवं शुद्ध कुल वंश वाले श्रावक श्राविकाएँ ही जिनपूजा और सत्पात्र दान देने के योग्य हैं, उन्हें ही आचार्यों ने अधिकार दिया है । यहाँ शील और व्रत दोनों विशेषण इसी बात के द्योतक हैं ।

यत्र नार्यो जिनेन्द्राणां धर्मकर्मणितत्पराः ।

सार शृंगार संवेहास्सुपुत्राः कुलदीपिकाः ॥४२॥

एवं धर्मार्थं कामोरुमोक्षार्थाञ्चचतुरस्सदा ।

साधयन्तिस्म भव्यौघाः पदार्थान् जिनधर्मिणाः ॥४३॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (नार्यो) स्त्रियाँ (जिनेन्द्राणाम्) जिनेन्द्र भगवान् के (धर्म-कर्मणि) धर्मकार्यों में (तत्पराः) संलग्न सावधान थीं (सारभृंगार संदोहा) उत्तम वस्त्रालङ्कारों के समूहों से सुसज्जित (कुलदीपिकाः) कुल को समुज्ज्वल-प्रकाशित करने वाले (सुपुत्राः) श्रेष्ठ पुत्रों से सहित थी (एवं) इस प्रकार धर्म कर्मरत (भव्यौघाः) भव्यजन समुदाय (उरु) विशाल (धर्मार्थं काम) धर्म, अर्थ, काम (च) और (मोक्ष) मुक्ति (चतुरः) चारों (पदार्थान्) पुरुषार्थों को (सदा) हमेशा (साधयन्तिस्म) सिद्ध करते थे ।

भावार्थ—उस नगरी में नारियाँ सदैव धर्मकार्यों में लगी रहती थी । अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की पूजा सामग्री आदि तैयार करने में ही उनका समय व्यतीत होता था । यही नहीं उनके पुत्र भी धर्मार्थ कार्यों से सम्पादन योग्य साज सज्जा से अपने को सजाते थे । भोग विलास के नहीं । अर्थात् मुख्य उद्देश्य जिनपूजन का रहता था । प्रथम धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि का प्रयत्न करते थे । इस प्रकार चारों पुरुषार्थों को वे भव्यात्मा समान रूप से सिद्ध करते थे । ॥४२-४३॥

तत्रपुर्यां प्रजापालो राजा सप्ताङ्गः राज्यभाक् ।

चतुरङ्गः बलोपेतः प्रजापालन तत्परः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (पुर्याम्) उज्जयनी नगरी में (सप्ताङ्गः) सात अङ्गयुक्त (राज्यभाक्) राज्य का भोक्ता (चतुरङ्गः बलोपेतः) चार प्रकार बलों से सहित (प्रजापालन तत्परः) प्रजा का उचित पालन करने में तत्परः (प्रजापातुः) प्रजापाल नाम वाला (राजा) नृपति था ।

भावार्थ—उस उज्जयनी नगरी का राजा प्रजापाल हुआ । उसके राज्य के सप्त अङ्ग थे (इनका वर्णन प्रथम परिच्छेद में आ चुका है ।) चतुरङ्ग चार प्रकार का बल हाथी घोड़े रथ और पयादे इनसे सम्पन्न था तथा प्रजा का पालन करने में निरन्तर तत्पर रहता था । वस्तुतः वह यथा नाम तथा गुण था ॥४४॥

सौभाग्य सुन्दरी नामराज्ञी तस्यमनः प्रिया ।

रूप सौभाग्य सम्पन्ना सा सतीव सतां क्रिया ॥४५॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस प्रजापाल राजा की (मनःप्रिया) मन को प्रिय लगने वाली (रूपसौभाग्यसम्पन्ना) रूप और सौभाग्य से सम्पन्न (सौभाग्य सुन्दरी) सौभाग्य सुन्दरी (नाम) नामवाली (राज्ञी) रानी (सतांक्रियाश्च) सज्जनों की क्रिया समान (सा) वह (सती) हुयी ।

भावार्थ—उस प्रजापाल राजा की सौभाग्य सुन्दरी नाम की रानी थी। यह अत्यन्त मनोहर रूप सौभाग्य से मण्डित राजा को अतीव प्रिय थी। वस्तुतः अपने गुणों से सज्जनों की किरारूप ही थी।

तयोः प्राक्समभूतपुत्री सुरुषासुरसुन्दरी ।

जाता द्वितीया सत्पुत्री नाम्ना मदन सुन्दरी ॥४६॥

अन्वयार्थ—(तयोः) उस दम्पति के (प्राक्) पहले (सुरुषा सुरसुन्दरी) उत्तम रूप वाली सुर सुन्दरी नाम की (पुत्री) कन्या (समभूत) उत्पन्न हुयी (द्वितीया) दूसरी (सत्पुत्री) श्रेष्ठ पुत्री (मदन सुन्दरी) मदन सुन्दरी (नाम्ना) नाम वाली (जाता) जन्मी हुयी।

भावार्थ—उन राजा रानी के प्रथम सुरसुन्दरी नाम की कन्या ने जन्म लिया। यह अतीव सुन्दर थी। रूपलावण्य से देवाङ्गना समान थी। दूसरी कन्या मदन सुन्दरी नाम की हुयी। यह सद्गुणों की आकर थी।

सुरादि सुन्दरीपुत्री पित्रा पाठयितुं ददौ ।

शिवशर्माभि धानस्य द्विजस्य ज्ञान वृद्धये ॥४७॥

अन्वयार्थ—(पित्रा) पिता प्रजापाल द्वारा (सुरादि सुन्दरीपुत्रीं) सुर सुन्दरी नाम की पुत्री को (ज्ञानवृद्धये) ज्ञान वृद्धि के लिए शिवशर्मा नाम के (द्विजस्य) ब्राह्मण के पास (पाठयितुम्) पढ़ाने के लिए (ददौ) दे दिया।

भावार्थ—महाराजा प्रजापाल ने अपनी बड़ी पुत्री को पढ़ाने योग्य देखकर शिव शर्मा ब्राह्मण को बुलाया। सुर सुन्दरी को उस ब्राह्मण के पास पढ़ाने को रख दिया। अर्थात् सौंप दिया ॥४७॥

वेदस्मृतिपुराणानि नाटकानि विशेषतः ।

तथाधीतानि गीतानि सन्नृत्यानि पराण्यपि ॥४८॥

अन्वयार्थ—उस सुन्दरी कन्या ने (विशेषतः) विशेष रूप से (वेद) चारों वेद (स्मृति) ऋचाएँ (पुराणानि) १८ पुराण (नाटकानि) नाटक काव्यादि (गीतानि) गायण कला (सन्नृत्यानि) सुन्दर श्रेष्ठ मर्यादित नृत्यकला (तथा) और (पराण्यपि) अन्य-अन्य भी विद्याएँ (अधीतानि) पढ़ीं सीखीं।

भावार्थ—ब्राह्मण गुरु होने के कारण उस सुर सुन्दरी कन्या ने वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद ये चारों वेद पढ़े। माध्यपुराण, मार्कण्डेय पुराण, आदि १८ पुराणों को पढ़ा। उसी प्रकार स्मृति, नाटक, नृत्य संगीत, कला के शास्त्रों का सम्यक् प्रकार पठन किया ॥४८॥

कोकशास्त्राणि चित्राणि काम-कारिणि कामिनी ।
प्राणीनां प्राण हारीणि नरमेधादिकानि च ॥४६॥

अन्वयार्थ—(कोक शास्त्राणि) कोक शास्त्र (चित्राणि) चित्रकला (काम कारिणि कामिनी) काम कथाओं की पुस्तकें (त्र) और (प्राणिनां प्राणहारीणि) जीवों के प्राण नाश करने वाले (नरमेधादिकानि) नर मेध यज्ञ आदि तथा—

अश्वमेधममेध्यं वा गजमेधमयोगतेः ।
कारणं पाप-शास्त्राणि पठितानि तथा तथा ॥५०॥
गौयोनि-स्पर्शनं पुण्यं यज्ञगो छागर्हिसनम् ।
तच्छेष भक्षणं यज्ञे मद्यपानं च पापकृत् ॥५१॥
राजसूयादिकं कर्म घृतयोन्यादिकं तथा ।
सोमपानं जल स्नानं केवलं धर्म हेतवे ॥५२॥
एणखङ्गिमहिष्याणां मांसनैव विशेषतः ।
श्राद्धे च पितृवर्गस्य तर्पणं प्राणिमारणम् ॥५३॥
मन्त्र तन्त्रादिकं कर्म सर्वं कर्मनिबन्धनम् ।
मिथ्यादृष्टि कुविप्रेण पाठिता सा मदोद्धता ॥५४॥

अन्वयार्थ—(सा) वह सुर सुन्दरी (मदोद्धता) मद ज्ञानमद से उद्धत थी (मिथ्या दृष्टि कुविप्रेण) उस मिथ्या दृष्टि छोटे ब्राह्मण (अश्वमेधममेध्यं वा गज मेधमयोगतेः कारणं पाप शास्त्राणि) अश्वमेध यज्ञ, अमेध्ययज्ञ, गजयज्ञ, बकरादि यज्ञ, पाप के कारण भूत शास्त्र, (तथा) उस कन्या के द्वारा (पठितानि) पढ़े गये । (तथा) और भी (गौयोनि स्पर्शनं पुण्यं) गाय की योनि का स्पर्श करना पुण्य है (गो छागर्हिसनम्) गाय बकरा की हिंसा कर यज्ञ करना (यज्ञे) यज्ञ में (तच्छेष) बाकी बचे (पापकृत्) पाप के कारण भूत (मद्यपानं) सुरापान करना (राजसूयादिकं कर्म) राजसूय यज्ञ (घृतयोन्यादिकं) योनि पूजादि (तथा) और (सोमपानम्) शराब पीना (धर्म हेतवे) धर्म के लिए (जलस्नानम्) जलस्नान, नदी सागर, में नहाना (केवलम्) मात्र (एणखङ्गिमहिष्याणाम्) भैंसादि की बलि चढ़ाना (विशेषतः) विशेषकर (मांसनैक) मांस ही से (श्राद्धे) श्राद्ध में भोजन देना (च) और (पितृवर्गस्य तर्पणं) पितृवर्ग के तर्पण को (प्राणिमारणम्) जीवों का घात-पात करना (मन्त्र-तन्त्रादिकं कर्म) मन्त्र, तन्त्र आदि कर्म जो (कर्मबन्ध निबन्धनं) दुष्ट कर्म बन्धन के कारण हैं, सब पढ़े ।

भावार्थ—सुर सुन्दरी तीव्र बुद्धिमती थी । किन्तु दुर्भाग्य से उसे गुरु मिथ्यादृष्टि, पापी, अधर्मी ब्राह्मण मिला । उस दुष्ट ने उस भोली कन्या को समस्त कुशास्त्रों का अध्ययन

कराया । वैदिक मत में निष्णात क्रिया । यज्ञ यागादि में प्राणिबध करने से पाप नहीं होता । ये धर्म के अङ्ग हैं यज्ञ में बचे मांस, शरात्र को सेवन करने से पुण्य होता है । गाय की योनि में ३२ कोटि देवता वास करते हैं उसकी पूजा अवश्य करनी चाहिए यज्ञ में घोड़ों को होमने से अश्वमेध यज्ञ होता है । इसी प्रकार मनुष्यों का हवन नरमेध यज्ञ है । गज-हाथी भैंसा बकरा आदि से भी यज्ञ करना चाहिए । यज्ञ में हने गये पशु व मनुष्यों को कष्ट नहीं होता क्योंकि मन्त्र पूर्वक उन्हें होमा जाता है वे सीधे स्वर्ग जाते हैं । राज सूर्यादि यज्ञों के करने से सुख शान्ति होती है । नदी स्नान सागर की लहरे कासी, कन-वट आदि पुण्य के हेतु हैं धर्म के अङ्ग हैं । महिषादि की बलि चढ़ाने से देवी देवता प्रसन्न होते हैं । मन्त्र तन्त्रादि से जीवों का श्रात करने से पितरों को तृप्ति और शान्ति मिलती है । इसी प्रकार अन्य भी हिंसा मार्ग का पोषण करने वाले शास्त्र पुराणों का उस राजकन्या सूर सुन्दरी ने अध्ययन किया जिससे वह ज्ञानमद से उन्मत्त सी हो गई । ये समस्त विधि-विधान घोर पापकर्म बन्ध के कारण थे । किन्तु उस पापी ब्राह्मण ने धर्म के हेतु बताये ॥५१-५४॥

मिथ्याशास्त्रवशात्तत्र कुगुरोस्सेवनेन च ।

सुरादिसुन्दरीसात्र जाता धर्मपराङ्मुखा ॥५५॥

अन्वयार्थ—(सा) वह (सुरादि सुन्दरी) सूर सुन्दरी (मिथ्या शास्त्र वशात्) छोटे मिथ्या शास्त्रों के पढ़ने से (च) और (तत्र) उसी प्रकार (कुगुरोस्सेवनेन) छोटे गुरु के सेवन करने से (अत्र) इस समय (धर्मपराङ्मुखा) धर्म से विमुख (जाता) हो गई ।

भावार्थ—सूर सुन्दरी ने मिथ्यादृष्टि गुरु पाया उसके सान्निध्य में मिथ्या शास्त्रों का ही अध्ययन किया । फलतः वह कुगुरु की सेवा के प्रसाद से धर्म से विमुख हो गई अर्थात् मिथ्या धर्मपोषक बन गई ॥५५॥

उन्मत्ता सा स्ववर्गेण राजपुत्री विशेषतः ।

कुशास्त्रेण तरामासीन्मर्कटीववलाशया ॥५६॥

अन्वयार्थ—(विशेषतः) प्रायः करके (सा) वह सूर सुन्दरी (राजपुत्री) राज कन्या (स्ववर्गेण) अपने परिवार से (उन्मत्ता) विमुख (जाता) हो गई । (कुशास्त्रेणतराम्) छोटे शास्त्रों के पढ़ने से नितान्त (वलाशया) बलवन्त हठग्राही (मर्कटीव) बंदरी के समान (आसीत्) थी ।

भावार्थ—वह राजकुमारी अपने छोटे मिथ्या विचारों से समस्त परिवार से विरुद्ध हो गई । दुराग्रह से नितान्त चपल वानरी के समान थी । अर्थात् बुद्धिविहीन चापल्य से वह तीव्र हठाग्रह वाली बन गई । वानरी स्वभाव से चपल होती है, फिर हाथ में दर्पण आ जाय तो कहना ही क्या ? इसी प्रकार—वह राजकन्या थी ॥५६॥

कुसंगतिवशात्पापात् सा कन्यासुरसुन्दरी ।

नष्टबुद्धिस्तदा जाताहाकष्टं दुष्ट सङ्गतिः ॥५७॥

अन्वयार्थ—(पापात्) पाप से (कुसङ्गतिवशात्) खोटी संगति से (सा) वह (कन्या-सुर सुन्दरी) सुर सुन्दरी राजकुमारी (तदा) तब (नष्टबुद्धि) बुद्धि विहीन (जाता) हो गई (हा) खेद है (दुष्ट) दुर्जन का (सङ्गति) सहवास (कष्टं) दुख रूप ही होता है ।

भावार्थ—पाप और कुसङ्गति के कारण वह राजकुमारी सुर सुन्दरी बुद्धि विवेक विहीन हो गई । आचार्य खेद प्रकट करते हैं कि दुर्जन की सङ्गति कितनी बुरी होती है ?

द्वितीया सा विशुद्धात्मासतीमदनसुन्दरी ।

निर्जिता निजरूपेण यथा मदनसुन्दरी ॥५८॥

अन्वयार्थ—(द्वितीया) दूसरी कन्या (विशुद्धात्मा) विशुद्ध पवित्रात्मा (सती) शीलवती (मदनसुन्दरी) मदनसुन्दरी कुमारी थी उसने (निजरूपेण) अपने सौन्दर्य से (यथा) जैसे मानों (मदन सुन्दरी) कामदेव की पत्नी रति को (निर्जिता) जीत लिया था ।

भावार्थ—प्रजापाल राजा की द्वितीय कन्या का नाम मदन सुन्दरी (मैनासुन्दरी) था । वह अत्यन्त पवित्रात्मा थी स्वच्छ मन वाली थी । रूप सौन्दर्य में अद्वितीय सुन्दरी थी । अपने लावण्य से रति को भी उसने लज्जित कर दिया था । सौन्दर्य का उपयोग विद्या से है । मदनसुन्दरी रूप और गुण दोनों से ही अनुपम थी ।

स्वयम्भुतिलकं नामधामिणां तिलकोपमम् ।

गत्वा जिनालयंभक्त्या सा पापविलयमुदा ॥५९॥

अन्वयार्थ—(सा) वह मदनसुन्दरी (पापविलयम्) पापों को नाश करने वाले (स्वयम्भुतिलकं नाम) स्वयम्भु तिलक नाम के (धामिणां तिलकोपमम्) धर्मात्माओं के तिलक स्वरूप (जिनालयं) जिन मन्दिर को (मुदा) आनन्द से (भक्त्या) परमभक्ति से (गत्वा) जाकर ।

धौतवस्त्रादिकंघृत्वा जलगन्धाक्षतादिभिः ।

नानापुष्पशताद्यैश्च समभ्यर्च्य जिनाधिपम् ॥६०॥

स्तुत्वानत्वापुनर्वाला मुनियमधराह्यम् ।

नमस्कृत्ययमधरा पार्श्वं धर्मं सुश्राव शर्मदम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(धौतवस्त्रादिकं) सफेद जरी के वस्त्र एवं सुन्दर आभूषण (घृत्वा) धारण कर (जलगन्धाक्षतादिभिः नानापुष्पशताद्यैः च) जल चन्दन अक्षत, आदि और अनेक

प्रकार के सैकड़ों पुष्पों से (जिनाधिपम्) जिनेन्द्र भगवान् की (समभ्यर्च्य) सम्यक् प्रकार पूजा करके (नत्वा) नमस्कार कर (स्तुत्वा) स्तुति करके (पुनः) फिर (वाला) उस मदन सुन्दरी बालिका ने (यमराह्वयम्) यमधर नाम के (मुनि) मुनिराज को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (यमधरपाश्व) उन यमधर मुनि महाराज के पास (शर्मदम्) शान्ति प्रदायक (धम्मम्) धर्म को (सुश्राव) सुना ।



भावार्थ—धर्मलंकार अलंकृत वह लघु कन्या मदनसुन्दरी प्रातःक्रिया कर जिन-दर्शन को गयी । वह स्वभूतिलक नामक जिनालय पहुँची । वह जिनमन्दिर धर्मात्माओं का तिलक स्वरूप था । वह आनन्द से पूरित भक्तिभाव से भरी उस जिनालय में जाकर जिन पूजा में तत्पर हुयी । उसने सुन्दर शुभ्र वस्त्र एवं कीमती सुन्दर आभरण धारण किये । जल चन्दन अक्षत चरु दीप, धूप फलादि के साथ नाना प्रकार के सैकड़ों सुगन्धित प्रफुल्ल पुष्पों से जिनेश्वर की पूजा की । अर्चाकर नमस्कार किया पुनः मधुर स्वर से स्तोत्र पाठ किया । तदनन्तर जिनालय में विराजे यमधर नाम के मुनिराज को नमस्कार किया उनके चरण सानिध्य में बैठ कर शान्ति सुखदायक जिनधर्म के स्वरूप को श्रवण किया ॥५६, ६०, ६१॥

अहिंसालक्षणम् जैनमसत्यं परिवर्जनम् ।

अचौर्यं ब्रह्मचर्यं च परिमाणं परिग्रहम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(अहिंसालक्षणां) जीवबध रहित लक्षण वाले (असत्यं परिवर्जनम्) असत्य भाषण का परित्याग करना (अचौर्यं) चोरी नहीं करना (ब्रह्मचर्यं) एक देश ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना (च) और (परिग्रह परिमाणम्) परिग्रह को सीमा करना (जैनम्) जैनधर्म है ।

भावार्थ—हिंसा भूँठ चोरी, कुशील और परिग्रह वे पाँच पाप हैं । इनका एक देश-स्थूल रूप से त्याग करना पाँच अणुव्रत कहलाते हैं । प्राणियों के बध का त्याग करना उनका रक्षण करना अहिंसाणु व्रत कहलाता है । असत्य भाषण का त्याग करना अर्थात् बध, बन्धन दण्ड प्राप्त हो इस प्रकार का असत्य भाषण नहीं करना सत्याणुव्रत है । मालिक की आज्ञा

लिए बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना अन्नौर्याणुव्रत कहा जाता है । स्वपत्नी सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों को माता बहिन व पुत्री समान समझना तथा इसी प्रकार महिलाओं को अपने विवाहित पुरुष, पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता भाई व पुत्र तुल्य देखना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है । क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण धन धान्य, दास दासी, कुव्य, (वस्त्र) भाण्ड ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं । इनकी सीमा करना अर्थात् प्रमाण करना कि इससे अधिक स्वीकार नहीं करेंगे वह परिग्रह परिमाण अणुव्रत कहलाता है । गार्हस्थ्य धर्म में इनका पालन करना अनिवार्य है ॥६२॥ तथा ओर भी—

रात्रिभुक्तिपरित्यागसंघौ मूलगुणान् शुभान् ।

कन्दमूलादिकं त्याज्यं, चर्मवारिघृतौज्झनम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(रात्रिभुक्ति परित्यागम्) रात्रि भोजन का सतत त्याग करना (शुभान्) श्रेष्ठ (अष्टौमूलगुणान्) मूल गुणों—आठ मूलगुणों को धारण करना (कन्दमूलादिकम्) आलू गाजर मूली आदि कन्दमूल (न्याज्यम्) त्यागने योग्य हैं । (चर्मवारिघृतं) चमड़े के चरश बैग आदि में रखे हुए जल धो, तैल होंग आदि का (उज्झनम्) त्याग करना चाहिए ।

भावार्थ—श्रावक-श्राविकाओं को सदैव रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग करना



चाहिए । आठ मूलगुणों को धारण करना अनिवार्य है । मूल का अर्थ जड़ है जिस प्रकार जड़ के अभाव में वृक्ष की स्थिति-उत्पत्ति वृद्धि कुछ भी नहीं हो सकती उसी प्रकार मूलगुणों के बिना श्रावक, श्राविका ही नहीं बन सकता । पाँच अणुव्रतों का धारण करना, ६. रात्रि भोजन त्याग ७. कन्द मूल त्याग और ८. चमड़े में रखे हुए धो तैल, पानी, होंग नमक आदि का त्याग । इस प्रकार ये आठ मूल गुण यहाँ आचार्य श्री सकलकीर्ति महाराज ने कहे हैं । श्री समन्तभद्र स्वामी ने पाँच अणुव्रतों के साथ १. मद्य त्याग २. मांस त्याग ३. मधु त्याग इन तीन को मिलाकर ८ मूलगुण कहे हैं ।

श्री रोमदेव आचार्य के मतानुसार पाँच उदुम्बर १. बड़ २. पीपल ३. ऊमर ४. कटुम्बर और ५. पाकर इन पाँच प्रकार के फलों का त्याग तथा ६. मद्य ७. मांस और ८. मधु का त्याग करना आठ मूलगुण कहे हैं । आचार्य जिनसेन स्वामी ने ५ अणुद्रव्यों के साथ ६. द्यूत (जुग्रा खेल्ने) का त्याग ७. मद्य पीने का त्याग और ८. मांस खाने का त्याग इस प्रकार ८ मूलगुण कहे हैं ।

श्री पं० आशाधरजी ने (१) मद्य-शराब का त्याग (२) मांस भक्षण त्याग (३) गह्वर का त्याग (४) मांस भक्षण त्याग (५) पाँचों उदुम्बरो का त्याग (६) पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करना (७) जीव दया पालन करना (८) जल छान के पीना । इस प्रकार ये श्रावक के ८ मूलगुण हैं । ॥६३॥

इति श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं धर्ममुनिमुखाम्बुजात् ।

शास्त्राभ्यासं चकारोच्चैरतत् समीपे जगद्धितम् ॥६४॥

अन्वयार्थ — (इति) इस प्रकार (जिनेन्द्रोक्तं) जिन भगवान् प्रणीत (धर्म) धर्म को (मुनिमुखाम्बुजात्) मुनिराज के मुख से (श्रुत्वा) श्रवण कर (तत्समीपे) उन मुनिराज के समीप (जगद्धितम्) संसार का हित करने वाले (उच्चैः) विशेष रूप से (शास्त्राभ्यासं) विशिष्ट शास्त्रों का अध्ययन (चकारः) किया ।

भावार्थ — उपर्युक्त प्रकार श्रावक धर्म श्रवणकर मदनसुन्दरी को परमानन्द हुआ । श्रीगुरु मुखाम्बोज से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को मुनिराज के पास पढ़ा विशेष-विशेष आध्यात्मिक, तत्त्वानिरूपक आर्षग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया ॥६४॥

सर्वशास्त्रमुखप्रायं पूर्वं व्याकरणं शुभम् ।

छन्दोऽलङ्कारमप्युच्चैरभिधानं निधानवत् ॥६५॥

नाना काव्यानि भव्यानिपठतिस्मनिराकुला ।

षट्द्रव्यसंग्रहं सप्ततत्त्वानां विस्तरं तथा ॥६६॥

अन्वयार्थ — (निराकुला) शान्तचित्ता उस कन्या ने (पूर्वम्) सर्वप्रथम (सर्वशास्त्र मुखप्रायम्) समस्त जिनवाणी व आगम के मुख प्रवेश द्वार रूप (शुभम्) श्रेष्ठ (व्याकरणम्) व्याकरण ग्रन्थ को (उच्चैः) अत्यन्त (अभिधानं) ध्यान पूर्वक (निधानवत्) निधि के समान पुनः (छन्दः अलङ्कारम्) छन्द शास्त्र, अलङ्कार, शास्त्रों को (अपि) भी (तथा) एवं (नाना) बहुत से (भव्यानि) श्रेष्ठ (काव्यानि) काव्य ग्रन्थों को (सप्ततत्त्वानां विस्तरम्) सातों तत्त्वों का विस्तार पूर्वक (पठतिस्म) अध्ययन किया था ।

भावार्थ — (उसने सर्वप्रथम श्रेष्ठ व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया । व्याकरण शब्द वाङ्मय में प्रवेश करने के लिए मुख द्वार के समान है । व्याकरण ज्ञान होने पर समस्त

द्वादशाङ्ग के समस्त विषयों में प्रविष्ट होने की योग्यता आ जाती है । तदनन्तर उसने छन्द शास्त्र अलङ्कार शास्त्रों का भी विशेष लगन—एकाग्रता से अध्ययन किया । इसके बाद तत्त्व प्रतिपादक काव्य शास्त्रों को पढ़ा । पुनः षड्द्रव्य पञ्चास्तिकाय, सप्त तत्त्वों का वर्णन करने वाले शास्त्रों का एकाग्रचित्त से मनन-चिन्तन किया । तत्त्वपरिज्ञान कर लेने से उसकी धर्मनिष्ठा विशेष प्रगाढ़ हो गई थी ॥६५-६६॥

पञ्चास्तिकायषड्भेदान् पदार्थन्नवनिर्मलान् ।

अष्टाङ्गसार सम्यक्त्वं वेत्तिस्मज्ञानमष्टधा ॥६७॥

अन्वयार्थ—(सः) उस मदनसुन्दरी ने (पञ्चास्तिकायषड्भेदान्) पञ्चअस्तिकाय के भेदों को (निर्मलान्) निर्मल (नवपदार्थान्) नव पदार्थों को (सम्यक्त्वसारं) सम्यग्दर्शन के सारभूत (अष्टाङ्गम्) आठ अङ्गों को (अष्टधा) आठ प्रकार के (ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान को (वेत्तिस्म) ज्ञात किया ।

भावार्थ—इसके बाद उस मदनसुन्दरी ने पञ्चास्तिकाय एवं षड्द्रव्यों के भेदों को तथा नव पदार्थों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया । अर्थात् भले प्रकार से अध्ययन किया । सम्यग्दर्शन के निशंकित आदि अङ्गों को अच्छी तरह से समझा, ज्ञान मार्गणा के आठ भेद १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्यय ५. केवलज्ञान, ६. कुमति, ७. कुयुत और ८. विभंगावधि का भले प्रकार से अध्ययन किया । आठ अङ्गों का स्वरूप प्रथम परिच्छेद में लिखा जा चुका है । इस प्रकार सकल शास्त्रों का अध्ययन किया ॥६७॥

श्रावकाचारमप्युच्चैरभिधानं निधानवत् ।

कर्मणां प्रकृतयस्सर्वाः जानातिस्मगुणोज्ज्वला ॥६८॥

अन्वयार्थ—पुनः (गुणोज्ज्वला) उत्तम गुणों से युक्त वह कन्या (श्रावकाचारम्) श्रावकाचार को (उच्चैरभिधानम्) विशेष सावधानी से (निधानवत्) खजाने के समान (सर्वाःकर्मणांप्रकृतयः) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियों को (अपि) भी (जानातिस्म) जानती थी ।

भावार्थ—इसके अतिरिक्त उक्त गुणों से मण्डित कन्या ने पवित्र भावों से श्रावकाचार ग्रन्थों का भी विशेष रुचि से अध्ययन किया । समस्तकर्म प्रकृतियों का भी अवबोध किया अर्थात् कर्म प्रकृति प्राभूत ग्रन्थों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया ॥६८॥

चतुर्गतिमहाभेदान् गुणस्थानानिनिस्तुषम् ।

पात्रदानं जिनस्नानं पूजनं परमेष्ठिनाम् ॥६९॥

अन्वयार्थ—(चतुर्गति महाभेदान्) चारों गतियों के विशेष भेद प्रभेदों को (निस्तुषम्) पूर्ण रूप से (गुणस्थानानि) गुणस्थानों के भेद लक्षणादि को (पात्रदानम्) विविध पात्रों के

लिये चतुर्विध दानादि को (परमेष्ठिनाम्) पञ्चपरमेष्ठियों के (जिनस्नानम्) अभिषेक (पूजनम्) पूजा के विधानों को एवं—

शृणोतिस्म सती तत्र द्वादशैव शुभावहाः ।

अनुप्रेक्षास्तपोभेदान्तर्बाह्यद्विषड्विधान् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(सती) वह साध्वी कुमारी (तत्र) उन गुरुदेव के यहाँ (शुभावहाः) सुखप्रदायक (द्वादशैव) बारह भावनाओं एवं (तपोभेदान्) तप के भेद (अन्तर्बाह्य द्विषड्विधान्) अन्तरङ्ग और बाह्य के भेद वाले १२ तपों को (शृणोतिस्म) सुनती थी ।

भावार्थ—उस सुशील कन्या मदनमुन्दरी ने उन गुरुराज के पास सुखदायक १२ भावनाओं का श्रवण किया । बारह भावनाएँ १. अनित्य २. अशरण ३. संसार ४. एकत्व ५. अन्यत्व ६. अशुचि ७. आस्त्रव ८. संवर ९. निर्जरा १०. लोक ११. बोधि दुर्लभ और १२. धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं ।

१. अनित्य संसार क्षणभुंगुर है । धन यौवन रूपादि सब बिजली की भाँति क्षणभर में विलीन हो जाने वाले हैं । कोई भी वस्तु स्थिर एक रूप नहीं है । इस प्रकार विचार करना अनित्य भावना है ।

२. अशरण भावना—संसार में कोई शरण नहीं है । मृत्यु से बचाने वाला कोई भी नहीं है । जिस प्रकार सिंह के मुख में पड़े हरिण को कोई नहीं बचा सकता उसी प्रकार विचार करना अशरण भावना है ।

३. संसार भावना—चतुर्गति रूप संसार में जीव ८४ लाख योनियों में भटकता है । सर्वत्र दुःख ही दुःख भरा है कहीं भी शान्ति नहीं मिलती । यह संसार की असारता का चिन्तन करना संसार भावना है ।

४. एकत्व भावना—जीव अकेला ही शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता है और स्वयं ही उनके सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता है । अन्य कोई भी बटा नहीं सकता । इस प्रकार विचार कर स्वयं में स्वयं को स्थिर करना ।

५. अन्यत्व भावना—ऐसा विचार करना कि मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है, सब से मैं पृथक् निराला हूँ और संसार के सर्व पदार्थ मुझ से भिन्न हैं । मैं एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ।

६. अशुचि भावना—शरीर का स्वभाव गलन पूरन है, यह मल मूत्र, रक्त, मांस का आगार है । चमड़े से लिपटा सोहता है भीतर महानिघ्न पदार्थों से भरा है । यह कभी भी शुचि नहीं हो सकता है । इसमें प्रीति करना व्यर्थ है ।

७. आस्त्रव भावना - ऐसा विचार करना कि मन वचन काय के निमित्त से आत्म

प्रदेशों के चलायमान होने से शुभाशुभ कर्म आते हैं । इनका आत्मा से सम्बन्ध होता है यही दुःख का कारण है । ये अशुचिकर दुःख के कारण हैं । इनका आना ही संसार है । ये आत्म-स्वभाव से विपरीत हैं ।

८. संवर भावना—संवर आत्मस्वभाव की प्राप्ति का उपाय है । आते हुए कर्मों का रुकना ही संवर है । नवीन कर्म न आने से आत्मा का कर्मभार हलका होगा । इस संवर के कारण उपाय पाँच महाव्रत, ५ समिती, ३ गुप्तियाँ, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षाएँ, एवं २२ परीषद्, जय हैं । इनके स्वरूप का चिन्तन करना ।

९. निर्जरा भावना—आत्मा के साथ पूर्व रांचित कर्मों का धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा निकलना भड़ जाना निर्जरा है । संवर पूर्वक निर्जरा होने पर आत्मा हलका होकर ऊपर उठता है । यथा किसी नाव में छिद्र होने से पानी आने लगा (यह आस्रव) पानी न आवे इसके लिए उस छिद्र को बन्द कर दिया (यह हुआ संवर) पुनः आचुके पानी को शनैः शनैः निकाल फेंकना यह है निर्जरा । अर्थात् पूर्वोपाजित कर्मों का एक देश क्षय होना निर्जरा है इस प्रकार विचार करना ।

१०. लोक भावना—लोक स्वरूप का चिन्तन करना । लोक, ऊर्ध्व, मध्य और अधो के भाग से ३ भागों में विभक्त है । इसका आकार कोई पुरुष दोनों पैरों को आजू-बाजू पसार कर कमर पर दोनों हाथों को रखकर खड़ा हो उसका जैसा आकार है । वैसा ही लोक का है । इसमें जीव अनादि से भटकता फिरता है, यहीं से पुरुषार्थी भव्य जीव घोर तपकर कर्म-काट मुक्ति पाता है । वस्तुतः जीव के बंधन मुक्ति की रङ्गभूमि यह लोक ही है ।

११. बोधि दुर्लभ भावना— इस प्रकार विचार करना कि संसार में बोधि रत्नत्रय का पाना महान कठिन है । उस दुर्लभतम बोधि विना मुक्ति हो नहीं सकती इसलिए उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

१२. धर्मभावना—धर्म आत्मा का स्वभाव है । यही सुख की खान है । धर्म अमोल रत्न है, धर्म ही सार है, धर्म ही संसार का पार है, धर्म ही मुक्ति का द्वार है, इत्यादि विचार करना । इस प्रकार श्री गुरु मुख से १२ भावनाओं का स्वरूप सुना, तथा अनशनादि ६ बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि ६ आभ्यन्तर तप का वर्णन भी सुना ॥७०॥

इति श्री जिननाथोक्तं स्वागमं भुवनोत्तमम् ।

मुनेर्यमधराख्यस्य पादमूले जगद्धिते ॥७१॥

कन्दर्प सुन्दरी सा च राजपुत्री शुभोदयात् ।

ज्ञान विज्ञान सम्पन्ना सदाचार विराजिता ॥७२॥

विद्यया शोभते स्मोच्चर्मुनेर्वामतिरुज्ज्वला ।

कुलस्य दीपिके वासौ बभूवाति मनोहरा ॥७३॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (शुभोदयात्) पुण्यकर्म के उदय से (सा) वह (राजपुत्री) राजकुमारी (कंदर्पसुन्दरी) मदनसुन्दरी (श्रीजिननाथोक्तं) श्री जिनेन्द्र भगवान् कथित (भुवनोत्तमम्) तीनों लोकों में सर्वोत्तम (स्वागमम्) अपने जिनागम को (यमधरा-ख्यस्य) यमधर नाम के मुनिराज के (जगद्धिते) जगत का कल्याण करने वाले (पादमूले) चरणारविन्द के सान्निध्य में (पठित्वा) पढ़कर (ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्ना) ज्ञान विज्ञान की खान-रूप (सदाचार विराजिता) सम्यक्त्वाचार रूप शोभित हुयी (च) और (सा) वह बाला (विद्यया) विद्या से (वा) मानों (मुनेः) मुनि की (उज्ज्वलामतिः) निर्मल बुद्धि विशेष रूप से (शोभतेस्म) सुशोभित होती थी। (वा) अथवा (असी) वह (अतिमनोहरा) अत्यन्त सुन्दर (कुलस्य दीपिका इव) अपने कुल को प्रकाशित करने वाली दीपिका समान (वभूव) हुयी।

भावार्थ—पूर्वोक्त विधि से मदनसुन्दरी ने समस्त शास्त्रों का सर्वाङ्गीण गहन अध्ययन किया। मुनि पुद्गल यमधर मुनिराज के रूप में अपने ज्ञान चरणों को रखकर उसे ज्ञान-विज्ञान में निपुण कर दिया। उसकी प्रतिभा इतनी विकसित हुयी मानों मुनिराज की निर्मल समुज्ज्वल मति ही मूर्तिमान रूप धारण कर प्रकटी है। वह शील सम्यक्त्व मण्डित अपने सदाचार से अत्यन्त शोभित हुयी ऐसा लगता था मानों विनय आदि गुणों से विभूषित वह अपने कुल की दीपक ही थी। संसार में कहावत है “बेटी नाम काढ़े या रोटी” अर्थात् यश और अयश का विस्तार करने वाली या तो बेटी होती है या भोजन। यदि पुत्री विनय शील, नम्र, विदूषी ज्ञान विज्ञान, विवेक सहित होती है तो वह अपने गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश कर उभय-कुल माता-पिता और सास-ससुर का यश विस्तारने वाली होती है स्वयं भी प्रशंसनीय होती है और कुल वंश को भी कीर्ति फैलाती है यथा महासती सीता, राजकुल, अनन्तमती चन्दना आदि। यदि कुलटा अनपढ़, कुरूप, हुयी तो निन्दा की कारण होती है यथा कनकमाला, चन्द्राभा आदि। अतः यह मदन सुन्दरी उसी प्रकार निदोष सम्पन्नान को कलिका सदृश ज्ञान विज्ञान कला गुण विभूषिता भी हो गई ॥७१—७२—७३॥

साधूनां सङ्गतिस्सत्यं फलत्युच्चैस्सदा सुखम् ।

भव्यानां कल्पवल्लीव परमानन्ददायिनी ॥७४॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) यथार्थ रूप से (भव्यानाम्) भव्यात्माओं के (साधूनांसङ्गतिः) साधु-सन्त समागम (सदा) निरन्तर (परमानन्ददायिनी) उत्कृष्ट आत्मानन्द को देने वाली (कल्पवल्ली इव) कल्पलता के समान (उच्चैः) महान (सुखम्) सुखरूपो फल को (फलति) देती है —फलती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य श्री सङ्गति का निमित्त क्या करता है ? यह बता रहे हैं। साधु-सन्तों की सङ्गति जीव का कल्याण करने वाली होती है। परमपूज्य संयमी निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु के पादमूल का मिलना ही महान पुण्य का हेतु है क्योंकि “साधूनां दर्शनं पुण्यम्” साधुओं का दर्शन ही पुण्यरूप होता है। जिन्हें उन दिगम्बर ज्ञान ध्यानी महामुनियों

के सानिध्य में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, उनका तो कहना ही क्या है ? वस्तुतः कल्पलता के समान सत्सङ्गति महान उत्तम सुखरूपी फलों को प्रदान करती है । निरन्तर रहने वाले स्थायी सुख को देती है । भव्य प्राणियों को सतत साधुसन्तों के समागम में ही रहना चाहिए । आत्महितेच्छुओं को साधुओं के मुखारविन्द से प्राप्त सदुपदेश संजीवनी बूटी या अमृत है । जिसे पाते ही संसार रोग-जन्म मरण बुढ़ापे के दुःखों का सर्वथा नाश होता है और अशरत्त्व की लक्ष्मि हो जाती है ॥ ७४ ॥ कहते हैं कि—

जाडधियो हरति सिंचति यातिसत्यम्

मानोन्नति दिशति पापमपा करोति ।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्

सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—सत्सङ्गतिः क्या करती है (जाडधियो) जड़ बुद्धि को (हरति) नष्ट करती है । (सत्यम्) सत्यगुण को (सिंचति) सींचती है, बृद्धिगत करती है (याति च) और प्राप्त कराती है (मानोन्नति) आत्माभिमान को (दिशति) प्रकट करती है (पापम्) पाप को दुष्कर्मों को (अपा करोति) दूर करती है (चेतः) चित्त को (प्रसादयति) प्रसन्न करती है (दिक्षु) सर्व दिशाओं में (कीर्तिम्) यज्ञ को (तनोति) विस्तृत करती हैं (कथय) कहिये या क्या कहें (पुंसाम्) पुरुषों को (सत्सङ्गति) सज्जन जन समागम (किं न करोति) क्या नहीं करता ? अर्थात् सब कुछ अच्छा ही करता है ।

भावार्थ—जो साधु-सन्तों की सङ्गति में रहता है उसे सर्व प्रकार से जीवन विकास का अवसर प्राप्त होता है । उभय लोक की सिद्धि सरलता से हो जाती है । आत्मसिद्धि सदाचार और शिष्टाचार का साधन मूलतः सत्सङ्गति ही है ॥ ७५ ॥

एकदा यौवनप्राप्तां ज्येष्ठकन्यां विलोक्य च ।

राजा जगाद भो पुत्रि वरं प्रार्थय वाञ्छितम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(एकदा) एक समय (यौवनप्राप्ताम्) यौवन अवस्था को प्राप्त हुयी (ज्येष्ठकन्यां) बड़ी पुत्री को (च) और (विलोक्य) देखकर (राजा) राजा प्रजापाल (जगाद) बोला (भोपुत्रि) हे बेटी (वाञ्छितम्) इच्छित (वरं) वर (प्रार्थय) प्रार्थना करो । याचो ।

भावार्थ—राजा प्रजापाल ने अपनी बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी को देखा । वह विचारने लगा मेरी कन्या युवती हो गई है । यह विवाह के योग्य हो चुकी है । इसका योग्य वर से विवाह करना चाहिए । किसके साथ विवाह किया जाय ? यह प्रश्न आते ही सोचा कन्या की इच्छानुसार वर खोजना उचित होगा । वस क्या था ? एक दिन उस सुन्दरी को देख कर

पिता ने कहा बेटी ! तुम अपनी इच्छानुसार जिस राजकुमार के साथ विवाह करना चाहती हो ? बता लाओ इच्छा पूर्ण करूँगा ॥७६॥

सुरादि सुन्दरी प्राह भो राजन् देहि मां त्वकम् ।

अहिच्छत्र पुराधीश पुत्राय गुणशालिने ॥७७॥

अर्यादिदमनायोच्चैः कामभोग सुखार्थिने ।

तत्समाकर्ण्य भूपोऽपि शुभलग्ने शुभेदिने ॥७८॥

विवाह विधिना तस्मै ताददौ सुरसुन्दरीम् ।

विभूत्या सोऽपि तां लात्वा गतोऽरिदमनोगृहम् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(सुरादि सुन्दरी) सुरसुन्दरी राजपुत्री (प्राह) बोली (भो राजन्) हे राजन-पितृवर (मां) मुझको (त्वम्) तुम (गुणशालिने) गुणवान (कामभोगसुखार्थिने) काम भोग सुख के अभिलाषी (अहिच्छत्रपुराधीशपुत्राय) अहिच्छत्र के राजपुत्र (अर्यादि-दमनाय) अरिदमन के लिये (उच्चैः) विशेष आनन्द से (देहि) प्रदान करो । (तत् समा-कर्ण्य) उस कथन को सुनकर (भूपोऽपि) राजा ने भी (शुभेदिने) शुभ दिन में (शुभलग्ने) शुभलग्न में (ताम्) उस कन्या को (लात्वा) लाकर (विवाह विधिना) विवाह की पद्धति के विधि-विधान पूर्वक (विभूत्या) अति वैभव के साथ (सुरसुन्दरीम्) सुर सुन्दरी को (तस्मै) उस अरिदमन को (ददौ) प्रदान कर दिया । (सोऽपि) वह अरिदमन भी उसके साथ (गृहगतः) अपने घर चला गया ।

भावार्थ—सुरसुन्दरी ने कहा अरिदमन अत्यन्त कामेच्छू है भोगाभिलाषी है अतः उसके साथ मनवाञ्छित विषय भोग प्राप्त हो सकेंगे यह सब ध्वज कर उस प्रजापाल ने यथायोग्य यथोचित पुरोहितों से शुभ दिन और शुभ-लग्न निश्चित की तथा अपार वैभव विभूति और मङ्गलोपचार पूर्वक उसके साथ वादित्रादि पूर्वक विवाह कर दिया । वह अरिदमन भी आनन्द पाणिग्रहण कर अपने घर चला गया । यद्यपि सुर सुन्दरी वस्तुतः देवाङ्गना सद्गुण रूप सौन्दर्य की खान थी परन्तु उसकी शिक्षा कुगुरु के सान्निध्य में होने से विवेक विहीन थी । कुलीन कन्याएँ माता पिता के आदेशानुसार गार्हस्थ्य जीवन में प्रविष्ट होती हैं, परन्तु उसने स्वयं ही पति निर्वाचन किया । यह भारतीय संस्कृति के विपरीत प्रतीत होता है । इसका कारण कुसङ्गति है । कुविद्या का परिणाम भयङ्कर ही होता है । मिथ्यावेदादि का अध्ययन करने से वह ज्ञानमद से उन्मत्त तो थी ही अविवेक और यौवन भी आ मिला फिर क्यों न विपरीत होता ? होता ही ॥७७, ७८, ७९॥

अन्वयार्थ—सुरसुन्दरी के विवाह के पश्चात् राजा प्रजापाल सुख से राज्य करने लगा । एक दिन आनन्द से सभा में सिंहासन पर आरूढ़ राजा विराजमान था उसी समय—

अथैकदा सुता सा च सुधीर्मदनसुन्दरी ।

कृत्वा पञ्चामृतैःस्नानं जिनानां सुखकोटिदम् ॥८०॥

पूजां विधाय सहस्तु संदोहैस्सुजलादिभिः ।

तत्सदगन्धोदकं पित्रे ददौ परम पावनम् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(अथैकदा) इसके बाद एक समय (सा) वह (सुधी) बुद्धिमती (मदन-सुन्दरी सुता) मदन सुन्दरी लघु राजपुत्री (सुख कोटिदम्) करोड़ों सुखों को देने वाले (जिनानाम्) जिनबिम्बों का (पञ्चामृतों द्वारा स्नानं) अभिषेक (कृत्वा) करके (च) और (सुजलादिभिः) पवित्र जल, चन्दन, अक्षतादि अष्ट द्रव्यों से (सहस्तुसंदोहै) अनेक उत्तम पूजा योग्य द्रव्यों से (पूजाम्) जिनपूजा (विधाय) करके (परम पावन) महान पवित्र (तत्) उस सद्गन्धोदकम्) उत्तम गन्धोदक को (पित्रे) पिता जी के लिए (ददौ) प्रदान किया ।

भावार्थ—मुरसुन्दरी के विवाह पश्चात् राजा निराकुल था । एक दिन लघु पुत्री बुद्धिमती मदनसुन्दरी जिनालय में गई । वहाँ उसने बड़ी भक्ति से प्रथम । श्री जिनेन्द्र भगवान् का द्रव्य शुद्ध पञ्चामृतों-दूध, दही, घृत, इक्षुग्ग और सर्वोषधि से क्रमशः अभिषेक किया, चन्दनलेपन, पुष्पवृष्टिकर आरती उतारी । पुनः शुद्ध गन्ध से अभिषेक किया । तदनन्तर श्री जिनेन्द्र भगवान् की नाना प्रकार के शुभ, सुन्दर द्रव्यों से अष्टविधि अर्चना की । भक्ति और आनन्द से भरी वह वाला गन्धोदक लेकर आई और अपने पूज्य पिता जी को लगाने के लिए ले गई । कन्या मदनसुन्दरी ने स्वयं अभिषेक किया । पञ्चामृतों से किया और विधिवत् जिन पूजा की इससे स्पष्ट है कि नारियों को भी पुरुषों के समान ही अभिषेक पूजा करने का अधिकार है, उनका भी जिन शासन में समान रूप से श्राविका धर्म विधान है । हाँ शरीर, वस्त्र, द्रव्य, और भाव शुद्धि होना अनिवार्य है । जिस समय विदुषी रत्न वह मदनसुन्दरी गन्धोदक लेकर आयी उस समय राज दरवार में राजा थे । अतः वहीं राजसभा में ही लेकर आई थी । देखिये ॥८१॥

प्रजापालप्रभुस्तत्र सभायां परमादरात् ।

वन्दित्वा तत्समादाय चकार निजमस्तके ॥८२॥

अन्वयार्थ—(तत्रसभायाम्) उस सभा में (प्रजापाल प्रभुः) महाराजा प्रजापाल ने (तत्समादाय) उस कन्या प्रदत्त गन्धोदक को (परमादरात्) परम आदर विनय भाव से (वन्दित्वा) नमस्कार कर (निजमस्तके) अपने शिर पर (चकार) चढ़ाया । अर्थात् लगाया ।

विशेषार्थ—मदनसुन्दरी ने गन्धोदक लाकर अपने पिता को दिया । राजा प्रजापाल उस समय सभा में विराजमान थे । राजा ने परमभक्ति से उसे लिया और नमस्कार कर उस परम पवित्र गन्धोदक को अपने उत्तमाङ्गः मस्तक पर क्षेपण किया ॥८२॥

तां विलोषयसुतां शान्तां नवयौवनमाश्रिताम् ।

कोमलाङ्गी सुरपाद्यां, करपल्लव शोभिताम् ॥८३॥

नेत्रपुष्पोज्ज्वलां पुण्यतरुवल्लीमिवोत्तमाम् ।

कल्याणकारिणीमत्वा कल्याणोचित विग्रहाम् ॥८४॥

पिताप्राणसुतेत्वं च भगिनीव वरंवद ।

यस्तुभ्यं रोचते भद्रे तस्मै त्वां संददाम्यहम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(नवनीतवपुःश्रिताम्) नवीन यौवन को पाने वाली (शान्ताम्) काम-विकार रहित (कामलाङ्गीम्) पुष्पवत् कोमल आङ्ग वाली (सुखाद्यां) उत्तम रूप राशि सहित (करपल्लवशोभिताम्) हाथ रूप पत्रों से सुभाजित (नेत्रपुष्पोज्ज्वलाम्) कमल के समान उज्ज्वल नयन वाली (पुण्यतरुवल्लीव) पुण्यरूप वृक्ष की लता समान (उत्तमाम्) उत्तम (कल्याणकारिणीम्) कल्याण करने वाली (उचित) योग्य (कल्याण विग्रहाम्) सुखकारी शरीर वाली (ताम्) उस (भुताम्) पुत्र को (विशोक्य) देखकर (पिता) पिता प्रजापाल ने कहा (प्राणसुते) हे प्राणप्रिय पुत्रिः (त्वम्) तुम (भगिनीव) अपनी बड़ी बहिन के समान (वरं) वर (वद) कहो (भद्रे) हे कुलीन (यः) जो (तुभ्यम्) तुमको (रोचते) अच्छा लगे (तस्मै) उसी के लिए (त्वाम्) तुमको (अहम्) मैं (संददामि) विधिवत् सम्यक् रूप से देता हूँ ।

भावार्थ—महाराज प्रजापाल ने गन्धोदक लेने के उपरान्त उस कन्या की ओर दृष्टि डाली । वह पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हो चुकी है तो भी शान्त है अर्थात् निर्विकार थी । उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त कोमल-सुकुमार थे । उसके अङ्ग अङ्ग से सौन्दर्य फूट रहा था । शिरीष तुसुमवत् समस्त शरीर सुकुमार था । उसके हाथ कोमल पत्रों के समान अरुण थे । दोनों नयन कमल पुष्प सदृश थे । वह देखने में उत्तम कल्पवल्ली के समान ही प्रसीत होती थी । उसका दर्शनमात्र कल्याणकारक था । गुण और रूप का मणि काञ्चनवत् संयोग फल कर बैठा था । इस प्रकार अपनी पुत्री को विवाह योग्य देखकर पिता ने उससे कहा, बेटी तुम भी अपनी बड़ी बहिन सुरसुन्दरी के समान अपना वर चुनकर लेताओं । तुम जिसे चाहोगी उसी के साथ मैं तुम्हारा विधिपूर्वक विवाह कर दूंगा । इच्छानुसार वर पाकर तुम्हें सुखी देखना चाहता हूँ । तुम कल्याणरूपा हो । इसी प्रकार का गुणरूप वर भी मांगो ॥८३ से ८५॥

तन्निशम्यपितुर्वचिं तदा मदनसुन्दरी ।

धर्मयुक्तिविचारज्ञा शास्त्रसिन्धुमहातरी ॥८६॥

अहोतातः कुलोत्पन्ना कन्यातो नैवयोग्यता ।

यद्वरोयाच्यते देवः स्वेच्छयाभोमहीपते ॥८७॥

अन्वयार्थ—उस विषय को (पितुर्वचिम्) पिता के वचन को (निशम्य) सुनकर (तदा) तब (धर्मयुक्तिविचारज्ञा) धर्म और युक्ति के विचार में निपुण (शास्त्रसिन्धु महातरी) शास्त्र समुद्र को पार करने वाली महानौका रूप (मदन सुन्दरी) मदन सुन्दरी ने कहा (देवः) हे देव (भोमहीपतेः) हे नृपति (कुलोत्पन्ना कन्यातो) श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न कन्या को (नैव-

योग्यता) यह योग्य नहीं है कि (यत्) कि (स्वेच्छया) इच्छानुसार (वरे) वर (याच्यते) याचना करे ।

भावार्थ - पिताजी की आज्ञा सुनकर मदनसुन्दरी आश्चर्यचकित हो गई । वह युक्ति और धर्म की विशेषज्ञा थी । लोक मर्यादा क्या है ? धर्म की मर्यादा क्या है ? यह सब उसे सम्यक् प्रकार ज्ञात था । शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया था । शास्त्र समुद्र के लिए वह विशाल सुदृढ निश्छिद्र नौका थी । शास्त्र रत्नाकर की पारंगामी थी । अतः महीपति-पिता के वचन सुनकर सुयुक्तियुक्त वचन कहने लगी । वह नम्रता से बोली हे देव आप यह क्या कह रहे हैं ? उच्च मर्यादित श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होने वाली कन्याओं की यह रीति नहीं है कि स्वेच्छा से स्वयं अपना वर चुने । शीलवती कन्या के लिए यह विरुद्ध है ॥८६-८७॥ क्योंकि-

यस्मैपिताददातीह स्वपुत्रींगुणशालिनीम् ।

भर्ता सएव लोकेस्मिन् न्यायोऽयं कुलयोषिताम् ॥८८॥

अतः पूर्वं प्रमाणं मे त्वमेवात्र विचक्षणः ।

पश्चान्मे कर्मपाकेन यद् भावीह भविष्यति ॥८९॥

अन्वयार्थ - (गुण शालिनीम्) नाना गुण सज्जिता (स्वपुत्रीम्) अपनी कन्या को (इह) इस लोक में (यस्मै) जिसको (पिताः) पिता (ददाति) देता है (सएव) वही (लोके-स्मिन्) इस लोक में (भर्ता) उसका पति होता है (कुलयोषिताम्) कुलोत्पन्न कन्याओं का (अयं) यही (न्यायः) न्याय है (अतः) इसलिए (पूर्वम्) प्रथम (मे) मेरे लिए (त्वमेवात्र) यहाँ आप ही (विचक्षणः) बुद्धिमान् (प्रमाणम्) प्रमाणभूत हैं । (पश्चात्) इसके बाद (मे) मेरे (कर्मपाकेन) कर्मोदय से (यद्) जो (इह) इस लोक में (भावी) भवितव्य, होनहार होगा वह (भविष्यति) हो जायेगा ।

भावार्थ—मदनसुन्दरी ने कहा, हे पिता जी : लोक मर्यादा के अनुसार पिता का ही यह कर्तव्य है । पिता स्वयं अपनी गुणवती पुत्री को योग्य वर देता है । वही उस सुशील कन्या को प्रमाणभूत होता है । अतः प्रथम मुझे भी आप ही प्रमाण हैं । आप जिसे योग्य समझे उसे ही दे । क्योंकि पिता प्रदत्त वर ही लोक में कुलाङ्गना कन्या का पति होता है । पुनः उसका शुभाशुभ कर्म है इसी प्रकार आगे मेरे कर्मानुसार जैसा होना होगा वही हो जायेगा । अर्थात् प्रथम माना पिता योग्य वर चुनकर अपनी कन्या का विवाह कर देते हैं पुनः उसके भाग्यानुसार अच्छा बुरा फल उसे प्राप्त होता है ॥८८-८९॥

पुत्रि वाक्यं सुयोगं स समाकर्ण्य महीपतिः ।

मूढात्मा मानसश्चित्ते कुपिते चिन्तयत्तदा ॥९०॥

अन्वयार्थ—(सुयोगम्) युक्ति पूर्ण (पुत्रिवाक्यम्) पुत्री के वचन सुनकर (समा-

कर्ण्य) सुनकर वह (महीपतिः) भूपति (मूढात्मा) दुष्ट बुद्धि (मानतः) अहंकार से (चित्ते) मन में (कुपिते) कुपित हुआ (तदा) उस समय (चिन्तयत्) विचारने लगा ।

भावार्थ—राजा युक्ति भरे पुत्री के वचन सुनकर मूर्खानन्द मन में कुपित हुआ । अहंकार से वह दुष्टात्मा विचार करने लगा ॥६०॥

पश्यपुण्यजनयः प्रोक्तं प्राधान्यं निजकर्मणः ।

अहं वृथा कृतोगाढं मूढया च महीपतिः ॥६१॥

अन्वयार्थ—राजा मन में कहता है कि (पश्य) देखो (अनया) इस (पुत्र्या) पुत्री के द्वारा (निजकर्मणः) अपने भाग्य-कर्मों की (प्राधान्यम्) प्रधानता (प्रोक्तम्) कही गयी है (मूढया) इस मूर्ख के द्वारा मैं (महीपतिः) राजा (गाढम् वृथाकृतः) अत्यन्त वृथा कर दिया गया अर्थात् तुच्छ समझा गया हूँ ।

भावार्थ—राजा अहंकार में डूब गया । कर्म सिद्धान्त को भूल गया । कोरे अहंकार में डूबकर मन ही मन में कहता है, देखो इस मूर्ख कन्या को । अपने भाग्य की महत्ता बता रही है । मुझ नृपति ने व्यर्थ ही इतना गाढ़ श्रम किया । अर्थात् व्यर्थ ही मैंने इसके लिए कितना कष्ट उठाया है ? अच्छा, मैं राजा हूँ । मुझे कुछ नहीं समझती । मात्र भाग्य के गीत गاتی है । ॥६१॥ इसे अवश्य ही—

कस्मैचिद्विश्वनिन्दायदत्त्वेयांपुत्रिकांघ्रुवम् ।

पश्याम्यस्याः स्व पुण्यस्य महात्म्यंचेतिदुष्टधीः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(दुष्टधीः) दुर्बुद्धि (इमां) इस (पुत्रिकाम्) पुत्री को (घ्रुवम्) निश्चय से (कस्मैचिद्विश्वनिन्दाय) किसी संसार निन्दित पुरुष के लिए (दत्त्वा) देकर (अस्याः) इसके (पुण्यस्य) पुण्य के (महात्म्यं) महात्म्य को (पश्यामि) देखता हूँ (इति) ऐसा निश्चय किया ।

भावार्थ—राजा प्रजापाल ने मन ही मन निर्णय किया कि इस दुष्ट बुद्धि पुत्री को किसी विश्वनिन्द्य पुरुष को दूँगा । फिर देखता हूँ । उस पापी के साथ इसका पुण्य क्या चमत्कार दिखाता है । मैं तो राजा हूँ मेरे यहाँ सब सामग्री है और यह समझती है कि मेरा पुण्य है । कितनी मक्कार है यह लड़की, अवश्य ही इसे किसी निन्द्य पुरुष को दे परीक्षा करूँगा ॥६२॥

चित्तेविचार्यतांभूचेयाहि पुत्रिगृहं तदा ।

सापिमत्वा पितुश्चित्तं विनम्रा मन्दिरंययौ ॥६३॥

अन्वयार्थ—इस प्रकार राजा (चित्ते) मन में (विचार्य) विचार कर (ताम्) उस पुत्री से (ऊंचे) बोले (पुत्री) हे बेटी (गृहम्) घर को (याहि) जाओ (तदा) तब (सा) वह



ऊपर--मदन सुन्दरी [मैना सुन्दरी] श्री जिन मन्दिर से लायी गन्धोटक
पिताजी को लगाने को देते हुए ।

नीचे--वन कीड़ा को जाते हुए राजा ने कोड़ी श्रीपाल को देखा तथा मैना सुन्दरी
का ब्याह उसके साथ करने का विचार किया ।

मदन सुन्दरी (अपि) भी (पितुः) पिता के (चितम्) अभिप्राय को (भत्वा) मानकर (वितम्ना) विनययुत (मन्दिरम्) घर को (ययौ) चली गयी ।

भावार्थ—उद्युक्त निर्णय कर राजा ने कन्या से घर जाने को कहा । वह भी पिता के अभिप्राय को समझकर नम्रता पूर्वक पिता को नमन कर अपने महल में चली गयी । ठीक ही है चतुर और बुद्धिमन्त को संकेत ही पर्याप्त होता है । वह विदूषी पिता के मनोभाव को ताड़ गयी थी । अतः शान्त भाव से विनय पूर्वक जाना ही उचित समझा ॥६३॥

युक्तदुष्टजनस्यैवं साधूक्तं न सुखायते ।

तथा पित्तज्वरस्येह शर्करा न विराजिता ॥६४॥

अन्वयार्थ—(युक्तं) ठीक ही है (एवं) जिस प्रकार (इह) लोक में (पित्तज्वरस्य) पित्त ज्वर वाले के (शर्करा) शक्कर (राजिता) प्रिय (नवि) नहीं होती (तथा) उसी प्रकार दुष्टजनस्य) दुर्जन के (साधूक्तं) सत्य कही उक्ति (न सुखायते) सुख के लिए नहीं होती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित मानव को मधुर शक्कर भी विपरीत कड़वी प्रतीत होती है उसी प्रकार दुर्बुद्धिजन को भी सत्य कथन सुखकारी नहीं होता अपितु दुःखदायि ही लगता है ॥६४॥

अथैकदा प्रजापालो राजायानादिसंयुतः ।

वनक्रीडां व्रजन्नुच्चैश्चामरादि विराजितः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (एकदा) एक समय (राजा) नृपति (प्रजापालः) प्रजापाल ने (यानादिसंयुतः) वाहन सवारी आदि सहित (उच्चैः) उछलते (चामरादि) चमरों के ढुलाये जाते हुए (विराजितः) विराजित (वन् क्रीडाम् व्रजन्) वन क्रीडा को जाते हुए—निम्न प्रकार देखा ।

भावार्थ—मन में विद्वेष और प्रतिशोध की भावना वाला वह राजा समय की प्रतीक्षा में था कि एक समय वह अपने हाथी आदि सवारी पर आरुढ़ हुआ । सुन्दर चमर दुर रहे थे, और मन्त्री आदि साथ थे, आमोद-प्रमोद के सभी साधनों के साथ वनक्रीडा के लिए निकला । ॥६५॥ उस समय मार्ग में जाते हुए अचानक देखता है कि—

तदा कर्मवशात्तत्र श्रीपालं सन्मुखागतम् ।

द्विशरीरं समारुढं पलास छत्रिकान्वितम् ॥६६॥

कुष्ठीनां सप्तशत्या च वेष्टितं मक्षिकाशतैः ।

स्वयंचोदुम्बराकार कुष्ठेन परिपीडितम् ॥६७॥

सर्वेषां कुण्ठितां तेषां राजत्वेन विराजितम् ।

गर्वभादिकसामग्रयासमेतं काहलान्वितम् ॥६८॥

गोपुच्छं चमरं द्वन्द्वे कुण्ठितस्तस्यपार्श्वयोः ।

छत्रस्यधारकः कुण्ठी जलधारी च कुण्ठिकः ॥६९॥

ताम्बूलदायकः कुण्ठी कुण्ठिनोऽप्यङ्गरक्षकाः ।

सामन्ताः कुण्ठिनो घण्टावादित्रेषु च कुण्ठिनः ॥७०॥

मन्त्रिणः कुण्ठितस्तस्य सेवकाः कुण्ठितस्तथा ।

तोयकर्म विपाकेन भाण्डागारी च तादृशः ॥७१॥

इत्यादि कुण्ठिभिर्युक्तं तं समालोक्यदूरतः ।

साश्चर्यं मन्त्रिणं प्राह भो मन्त्रिन्कोऽयमद्भुतः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ वन में (तदा) उस समय (कर्मवशात्) कर्मानुसार (सन्मुखमागतम्) सामने आये हुए (द्विशरीरसमारूढं) दूसरे ही शरीर को धारण किये हुए (पलाश छत्रिकान्वितम्) पलाश के पत्रों का छत्र जिस पर था ऐसे (च) और (सप्तशत्या) सात सौ (कुण्ठीनां) कुण्ठियों के साथ (यतः) सैकड़ों (मक्षिकाः) मक्खियों से (वेष्टितम्) घिरा हुआ (च) और (स्वप्नं) अपने भी (उदुम्बराकारकुण्ठेन) उदुम्बर फल के आकार वाले कुष्ठरोग से (परिपीडितम्) अत्यन्त दुखी (तेषां सर्वेषां कुण्ठीनाम्) उन सभी कोढ़ियों के (राजत्वेन) शासक पने से (विराजितम्) शोभित (काहलान्वितम्) भ्राम्भमजीरादिद्युत (गर्वभादिकसामग्रया) गर्व आदि सामग्रियों से (समेतम्) सहित तथा (तस्यपार्श्वयोः) उसके दोनों और बगल में (कुण्ठिनः) कुण्ठी (गोपुच्छं चमरं द्वन्द्वे) चमरी गाय की पूंछ के बाणों से निर्मित दो चमर ढोरने वाले (सेवकाः) सेवक जन थे (छत्रस्यधारकः) छत्र धारण करने वाला (कुण्ठी) कोढ़ी (च) और (जलधारी कुण्ठिकः) जल पिलाने वाला कोढ़ी (ताम्बूल-दायकः) पान देने वाला (कुण्ठी) कोढ़ी (अङ्गरक्षकाः) अङ्ग रक्षक भी (कुण्ठिनः) कोढ़ी (सामन्तः) सामन्त भी (कुण्ठिनः) कोढ़ी (घण्टावादित्रेषु) घण्टा बजाने वाले भी (कुण्ठिनः) कोढ़ी ही (मन्त्रिणः) मंत्री भी (कुण्ठिनः) कोढ़ी ही हैं (कुण्ठिभिः) कोढ़ियों से (युक्तं) सहित (तं) उस श्रीपाल को (दूरतः) दूर ही से (समालोक्य) देखकर (साश्चर्यं) आश्चर्य से (मन्त्रिणं) मंत्री को (प्राह) बोला (भोमन्त्रिन) हे मन्त्रिन् (अयम्) यह (अद्भुतम्) अनोखा व्यक्ति (कः) कौन है ।

भावार्थ—वनक्रीडा करने की इच्छा से प्रजापाल राजा सपरिवार ससैन्य वन में गया । आमोद-प्रमोद की समस्त सामग्री साथ थी । रणवास भी साथ था वह नाना प्रकार के मनोरञ्जन के विचारों से प्रसन्न था । ज्यों ही वन में प्रविष्ट होता है त्यों ही उसे एक विचित्र पुरुष के रूप में श्रीपाल महाराजा दृष्टिगत हुआ । उसका शरीर विपरीत द्वितीय अवस्था को

ही प्राप्त हो चुका था। उस पर पलाश के पत्रों का छत्र लगा था। सात सौ कोढ़ियों से सहित था। सभी का शरीर सैकड़ों मक्खियों से घिरा। अनेकों मक्खियाँ भिनभिना रहीं थीं। स्वयं उदुम्बर कोढ़ से पीड़ित था, अर्थात् गलित दुर्गन्धमय कुष्ठ व्याधि से भरा शरीर था। अत्यन्त पीड़ित था, समस्त अन्य सात सौ कोढ़ी उसे राजा घोषित कर रहे थे। बाजे, ताजे, भांभ, मंजीरा, आदि सामग्रियाँ गधों पर लदी थीं। चमरी गाय की पूछ के बालों से बने दोनों और चामर दूर रहे थे परन्तु डोरने वाले भी कुष्ठी ही थे। छत्रधारक भी कोढ़ी, जल-वाहक या दायक कोढ़ी, पान सुपारी देने वाला कोढ़ी अङ्ग रक्षक भी कोढ़ से पीड़ित, सामन्त कुष्ठी जन, घण्टा बजाने वाला भी सब कोढ़ पीड़ित मन्त्री कोढ़ी, सेवक कोढ़ी, जिधर देखो उधर कोढ़ी ही कोढ़ी। उसी प्रकार समस्त कार्यकर्त्ता समान व्याधि से पीड़ित थे। इस विचित्र दृश्य को देखकर राजा के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने अपने मन्त्री से पूछा हे मन्त्रिन् 'देखो' यह अद्भुत अक्ति कौन है? साज-सज्जा से राजा समान परन्तु भयङ्कर गलित कुष्ठ पीड़ित सारा परिकर। भला यह कौन हो सकता है ॥६६ से १०२॥

मन्त्री जगौ प्रभो कुष्ठिराजोऽयं क्षत्रियान्वयः ।

श्रीपालो नामतश्चापि निवासं याचते ध्रुवम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(मन्त्री जगौ) राजा के पूछने पर मन्त्री कहने लगा (प्रभो) हे राजन् (अयम्) यह (क्षत्रियान्वयः) क्षत्रियवंशी (कुष्ठिराजा) कोढ़ रोग वाला राजा (नामतः) नाम से (श्रीपालः) श्री पाल है (च) और (ध्रुवम्) निश्चय से (निवासंअपि) निवास भी (याचते) मांगता है।

भावार्थ—राजा प्रजापाल के पूछने पर मन्त्री ने कहा हे राजन् यह क्षत्रिय कुलोत्पन्न है, राजा है। इसका नाम श्रीपाल है। कमोदय से कुष्ठरोग से पीड़ित हो गया है। यहाँ इस वन में रहना चाहता है। आपसे निवास स्थान पाने की इच्छा करता है। निश्चय ही यहाँ डेरा डालने को तैयार है ॥१०३॥

मन्त्रिवाक्यं समाकर्ण्य प्रजापालः स्वमानसे ।

पुत्र्याद्वेषं बहन्मूढः स्वाहंकारं कदथितः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(मन्त्रिवाक्यं) मन्त्री के वचन को (समाकर्ण्य) सुनकर (प्रजापालः) प्रजापाल राजा (पुत्र्याद्वेषं) पुत्री के द्वेषभाव को (स्वमानसे) अपने मन में (बहन्) ढोता हुआ (मूढः) मूर्ख (स्वाहंकारं) अपने अहंकार से (कदथितः) पीड़ित हुआ।

पुत्र्यायोग्यो वरोऽयं हि समायातो विचार्यसः ।

पुर बाह्ये गृहं तस्मै दापयामास सत्वरम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(अयं) यह (पुत्र्यायोग्यम्) पुत्री के योग्य (वरः) वर(हि) निश्चय

से (समायातो) आ गया है (विचार्य) यह सोचकर (सः) उसने (सत्त्वरम्) जोध ही (तस्मै) उस श्रीपाल को (पुरवाहये) नगर के बाहर वन में (गृह) घर (दापयामास) दे दिया ।

भावार्थ—मन्त्रि के वचन सुनकर राजा का अहंकार साकार हो उठा । उसे मदन सुन्दरी की बात याद आ गई 'भाग्यानुसार' सुख दुख होता है । वह पुत्री के प्रति द्वेष भाव रखे ही था । मन में प्रतिशोध जाग्रत हुआ । वह मूर्ख अज्ञानी विचारने लगा, अच्छा है मेरा मनोरथ फल गया । इस दुष्ट कन्या के योग्य यह वर आ गया । इससे लाभ लेना चाहिए । इस प्रकार मन में विचार कर उसने अत्यन्त शीघ्र अपने पुर के निकर वन में उसे निवास स्थान-घर दे दिया । धूर्त जन अपनी धूर्तता से बाज नहीं आते । अवसर पाते ही अपनी मूर्खता का प्रदर्शन कर ही डालते हैं ॥१०४-१०५॥

स्वयंस्वगृहमागत्य जगौमदनसुन्दरीम् ।

भो सुते तव भाग्येन वरः कुण्ठी समागतः ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(स्वयम्) वह प्रजापाल भूपाल स्वयं (स्वगृहमागत्य) अपने राजमन्दिर में आकर (मदन सुन्दरीम्) मदन सुन्दरी को (जगौ) बोला (भोसुते) हे पुत्रि (तव) तुम्हारे (भाग्येन) भाग्य से (कुण्ठी) कोठी (वरः) पति (समागतः) आ गया है ।

भावार्थ—श्रीपाल को घर देकर वह राजा स्वयं अपने महल में आ गया । यहाँ मदन सुन्दरी पुत्री से कहने लगा हे बेटो ! तुम्हारे पुण्य से तेरा पति-वर आया है । तुम्हारे भाग्य से वह कोठी है तुम्हारा उसी कोठी से पाणिग्रहण होगा उसे ही वर समझो ॥१०६॥

तन्निशम्य सुता प्राह भोपितः शृणुतावरात् ।

यस्तुभ्यंरोचते देवः स मे गाढं मनोम्बुजः ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(तन्निशम्य) उस पिता के वचन को सुनकर (सुता) पुत्री (प्राह) बोली (भोपितः) हे पिताजी (तुभ्यम्) आपके लिए (यः) जो (रोचते) अच्छा लगता है (देव) हे राजन् (स) वह (मे) मेरे लिए (गाढं) अत्यन्त (मनोम्बुजः) कामदेव स्वरूप है ।

भावार्थ—पिता के वचन सुनकर सुज्ञानी, धीर वीर कन्या मदनसुन्दरी ने विनय पूर्वक पिताजी को उत्तर दिया । सम्यक्त्व शालिनी को भय नहीं होता है । यतः बोली हे ! पिताजी, आपको जो रुचिकर है वही मुझे योग्य वर है वह जैसा भी हो मेरे लिए अम्बुन कमल फूल-कामदेव स्वरूप है ॥१०७॥

पुनर्जन्मतेदक्षा जगौ मदनसुन्दरी ।

जन्तूनां कर्मणा सर्वं भवेदेव शुभाशुभम् ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(पुनः) फिर (जैनमते दक्षा) जैनमत में चतुर (मदन सुन्दरी) मदन-सुन्दरी (जगौ) बोली (जन्तूनाम) प्राणियों के (कर्मणा) कर्म के द्वारा (एव) ही (सर्व शुभा-शुभम्) सर्व शुभ और अशुभ (भवेत्) होता है ।

भावार्थ—आगे विशेष स्पष्ट करते हुए कहा कि प्राणियों के शुभाशुभ कर्मानुसार ही होता है । वह जैनमत की पारङ्गत थी । अतः सिद्धान्तानुसार प्रत्येक जीव अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है ॥१०८॥

विलोक्य कन्यकां राजा केवलं कर्मवादिनीम् ।

मन्त्रिणं प्राह भो पश्य मन्त्रिन्नद्याऽपि गर्विणी ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(राजा) भूपति (केवलं) मात्र (कर्मवादिनीम्) कर्म सिद्धान्तवादिनी (कन्यकाम्) कन्या को (विलोक्य) देखकर (मन्त्रिणम्) मन्त्री को (प्राह) बोला (भो मन्त्रिन्) हे मन्त्रिन् (पश्य) देखो (अद्याऽपि) अभी भी (गर्विणी) गर्विणी है ॥१०९॥

नैव मुञ्चति कन्येयं स्वमतं मतिवर्जिता ।

अतोऽहं तत् करिष्यामि कार्यं चित्तेविचारितम् ॥११०॥

प्रत्ययार्थ—(मतिवर्जिता) बुद्धि विहीन (इह) यह (कन्या) पुत्री (स्वमतम्) अपने मत को (नैव) नहीं ही (मुञ्चति) छोड़ती है, (अतः) इसलिए (अहं) मैं (चित्ते) मन में (विचारितम्) सोचे हुए (कार्यं) कार्य को (करिष्यामि) करूँगा ।

भावार्थ—राजा कहता है, देखो मन्त्रिन्, यह कन्या कितनी अहंकारिणी है ? कुष्ठी के साथ विवाह भुनकर भी अपनी हठ नहीं छोड़ती है । मात्र कर्म की ही रट लगाये है, कर्म सिद्धान्त का ही राग आलापती है । यह बुद्धिविहीन कर्मसिद्धान्त के हठ को नहीं छोड़ती । अब तो निश्चय से मैं वही करूँगा जो मन में निर्धारित किया है, अर्थात् सुनिश्चित कुष्ठी के साथ ही इसका पाणिग्रहण करूँगा ॥११०॥

जगौ मन्त्रोनराधीश! लोकेतेऽवभविष्यति ।

अपकीर्ति यशोहानिः पश्चात्तापोऽपि चेतसि ॥१११॥

अन्वयार्थ—(मन्त्री) सचिव (जगौ) कहने लगा (नराधीश!) हे नृपति ! (अत्रलोके) इस संसार में (ते) आपका (अपकीर्तिः) कुवश (यशोहानिः) सुयश का नाश होगा (चेतसि) चित्त में (अपि) भी (पश्चात्तापः) पश्चात्ताप (भविष्यति) होगा ।

भावार्थ—मन्त्री राजा को समझाता है, हे सज्जन, हे नृपति ! यह कार्य उचित नहीं है । कन्या को कुष्ठी के लिए व्याहृते से आपका अपयश लोक में फैल जायेगा । सुयश नष्ट हो जायेगा । चित्त में भयङ्कर पश्चात्ताप होगा । समस्त कार्य विपरीत हो जायेगा, इस विचार को स्थगित करना ही उचित है ॥१११॥

जितदेवाङ्गना कन्या कुष्ठिने किं प्रदीयते ।

चिन्तामणिः कथं देवक्षिप्यते कर्दमे त्वया ॥११२॥

अन्वयार्थ—(किं) क्या (जितदेवाङ्गना कन्या) देवाङ्गनाओं को भी जीतने वाली कन्या (कुष्ठिने) कुष्ठि के लिए (प्रदीयते) दी जाय ? (देव!) हे राजन् (त्वया) आपके द्वारा (चिन्तामणिः) चिन्तामणि रत्न (कर्दमे) कीचड़ में (कथं) किस प्रकार (क्षिप्यते) फेंका जा रहा है ?

भावार्थ—राजा को मन्त्री समझाता है । राजन् यह राजकुमारी महान् मुकुमारी, सौन्दर्य की पुतली है । अपने सौन्दर्य और लावण्य से मुखनिताओं को भी तिरस्कार करने वाली है । आपसगएँ भी इसके समक्ष परास्त हो जाते हैं । इतनी सुन्दर रत्ति समान कन्या क्या कुष्ठि को दी जाय ? नहीं, कदापि नहीं । भला चिन्तामणि रत्न क्या कभी कीचड़ में फेंका जाता है ? हे भूपति ! आप यही कर रहे हो । पर तनिक विचार करो आप जैसा विवेको चिन्तामणि सरण अपनी कन्या को कुष्ठि को देगा ? क्या रत्न भी कोई पङ्क्त में फेंकने की वस्तु है । आप हठ छोड़ें । क्यों इस हीरारत्न स्वरूप कन्या के प्रति घोर अन्याय कर रहे हो ? पर सुने कौन ? “भैंस के आगे बीन बजाये भैंस खड़ी पगुराय” वाली युक्ति थी ॥११२॥ अतः राजा ने उत्तर दिया—

दुराग्रही नृपश्चाह भो मन्त्रिन् श्रूयतां वचः ।

अयं चाऽपि न सामान्यो दृश्यतेऽत्र महीतले ॥११३॥

अन्वयार्थ—(च) और भी (दुराग्रही) हठग्राही (नृपः) राजा (आह) बोला (भो) हे (मन्त्रिन्) सचिव (भम) मेरे (वचः) वचन (श्रूयताम्) सुनिये, (अत्र) यहाँ (महीतले) पृथ्वीपर (अयंचाऽपि) यह श्रीपाल भी (सामान्य) साधारण पुरुष (न दृश्यते) नहीं देखता है ।

भावार्थ—मन्त्रि द्वारा विरोध किये जाने पर राजा ने ध्यान नहीं दिया । समझाने पर भी नहीं समझा अपितु मन्त्रियों को ही समझाने लगा । हे मन्त्रिन्, यह श्रीपाल भले ही कुष्ठि है किन्तु तो भी कोई सामान्य मनुष्य नहीं है । यह विश्वप्रसिद्ध कोई महान् सत्पुरुष होना चाहिए । अतः मैना को इसे देने में कोई हानि नहीं ॥११३॥ क्योंकि—

छत्र चामर घण्टाघँजभल्लरीनादसुन्दरैः ।

राजचिन्हैः समायुक्तो, राजाप्येष भवत्यहो ॥११४॥

अन्वयार्थ—यह (सुन्दरैः) मनोहर (छत्र, चामर, घण्टाघः) छत्र, चमर घण्टा आदि से तथा (भल्लरीनादसुन्दरैः) कर्ण प्रिय भाँक, मंजीरा आदि की मधुरध्वनि से (अहो) हो मन्त्रिन् (एषः) यह (अपि) भी (राजचिन्हैः) राज्य चिन्हों से (समायुक्तः) सहित (राजा) नृप (भवति) है, होना चाहिए ।

भावार्थ—भो मन्त्रिन् ! इसके साथ छत्र, चमर, घण्टा, सिंहासन आदि समस्त राजचिन्ह हैं । काह्ला, भांफ, मंजीरा, डोल-डमाका सभी प्रकार के सुन्दर मनोहर वाजे भी हैं । अन्य भी अनेक राजकीय सामग्री से सम्पन्न है । अतः यह निश्चित ही कोई राजा होना चाहिए या राजकुमार हो । अवश्य ही यह कोई विशेष पुरुष है ॥११४॥ अतएव -

स्थातव्यञ्चभवद्भिर्भो माध्यस्थं मन्त्रि सत्तमः ।

एवमुत्वा क्रुधाभूपो वजितोऽपि बुधैर्जनैः ॥११५॥

कारयामास कन्यायाविवाहं शुभवासरे ।

स तेन कुष्ठिना साद्धं स्वहस्ताल्लोक निन्दितः ॥११६॥

अन्वयार्थ—(भो) हे (मन्त्रि सत्तमः) सचिवोत्तम ! (भवद्भिः) आप को (माध्य-स्थम्) मध्यस्थभाव से (स्थातव्यम्) रहना चाहिए (एवं) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर (बुधैर्जनैः) विद्वानजनों के द्वारा (वजितोऽपि) रोके जाने पर भी (क्रुधा) क्रोधित (भूपः) भूपति ने मन्त्रियों को चुप कर दिया पुनः (शुभवासरे) शुभ दिन में (लोकनिन्दितः) लोक निन्दित (स) उस राजा ने (कुष्ठिना साद्धं) कोढ़ी के साथ (स्वहस्तात्) अपने हाथों से (कन्यायाः) पुत्री-कन्या का विवाह (कारयामास) कर दिया ।

भावार्थ—तब राजा ने अपने मन्त्रियों को यह कह कर चुप करा दिया कि आपको मध्यस्थ भाव से रहना चाहिए । क्रोधित राजा ने शुभ दिन अपनी पुत्री का लोक निन्दित विवाह उस कोढ़ी के साथ अपने हाथों से कर दिया ॥११५, ११६॥

धिकत्वाधिकं तवमूढत्वं धिग्वर्धं पापकारणम् ।

अस्थानेऽपि महीनाथो येन जातो दुराग्रही ॥११७॥

तद्विलोक्य तदा माता तस्यास्सौभाग्य सुन्दरी ।

शोकञ्चकार हा कष्टं किं कृतं कर्म भूभुजा ॥११८॥

अन्वयार्थ—(तदा) विवाह के पश्चात् (तद्विलोक्य) उस कार्य को देखकर (तस्याः) मदनसुन्दरी की (माता) माँ (सौभाग्यसुन्दरी) सौभाग्यसुन्दरी राजा के प्रति (धिकत्वाम्) हे राजन् तुम्हारे लिए धिक्कार है (तव) तुम्हारी (मूढत्वं) मूर्खता को धिक्कार है (पाप-कारणम्) इस पाप के कारणोद्भूत (तव) तुम्हारे (गर्वम्) अहंकार को (धिक्) धिक्कार है (येन) जिस घमण्ड के कारण से (महीनाथो) राजा होकर भी (अस्थाने) अनावश्यक स्थान में (अपि) भी (दुराग्रही) कदाग्रही (जातः) हुए (हा) हाय-हाय (कष्टं) महादुःख है (भूभुजा) राजा के द्वारा (किं) क्या (कर्म) दुष्कर्म (कृतम्) किया गया इस प्रकार (शोकम्) शोक (चकार) करने लगी ।

भावार्थ—प्राणियों को शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है । कहीं देवाङ्गना

सदृश सुकुमारी राजकन्या और कहाँ यह कुण्डी पति ? जिस समय मदनसुन्दरी की माता सौभाग्यसुन्दरी ने इन विपरीत वर-वधु को देखा तो उसके शोक की सीमा न रही । राजा के प्रति उसका कोप प्रज्वलित हो उठा । पति के अविवेक ने उसका धैर्यबांध तोड़ दिया । वह अपने को मौन रखने में सर्वथा असमर्थ हो गई । नृपति के प्रति बोली हे नाथ ! आपने यह अयोग्य कार्य क्यों किया ? आपके इस अयोग्य कार्य को धिक्कार है, आपको भी धिक्कार है और अकारण इस कोप को एवं अयोग्य स्थान में किये घमण्ड अहंकार को भी धिक्कार है । आप महीपति कहलाते हैं । पुत्री का रक्षण नहीं कर सके फिर क्या प्रजापालन कर सकोगे ? हे राजन् आपने दुराग्रही बन कर यह अयोग्य, पापरूप, दुःखकारी कार्य किया है ॥११७, ११८॥

तदा स्व मातरं प्राह पुत्री मदनसुन्दरी ।

भो मातः क्रियते शोकः कथं संतापकारकः ॥११९॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब, माता को शोकाकुल, विलखती देखकर (पुत्री) कन्या (मदनसुन्दरी) मदनसुन्दरी (स्व) अपनी (मातरम्) माता को (प्राह) कहने लगी (भो-मातः) भो माँ ! (संतापकारकः) पीडा उत्पादक (शोकः) शोक (कथं) कैसे (क्रियते) करती हो

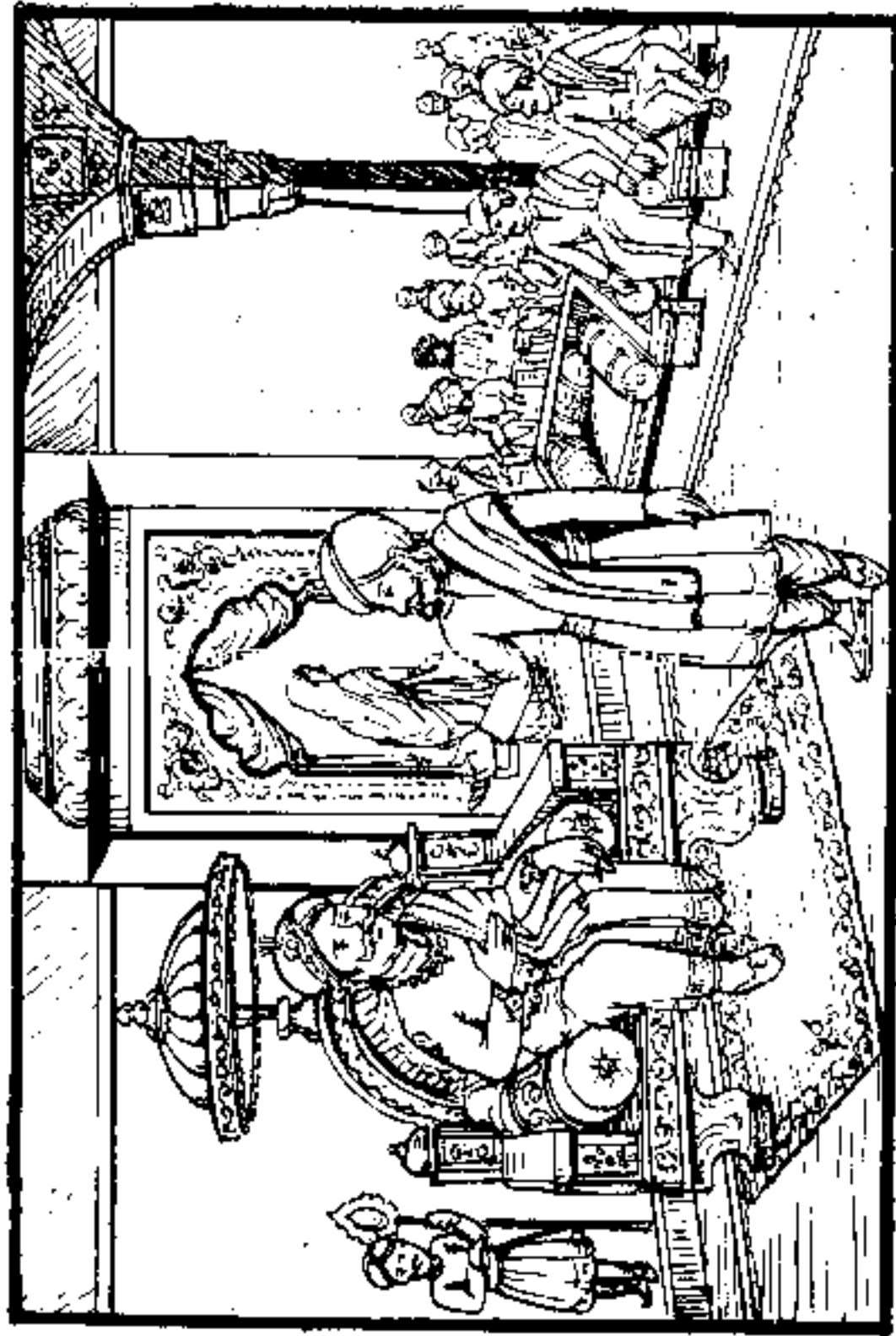
भावार्थ—माता को शोकाकुल, विलखती देखकर पुत्री मदनसुन्दरी ने बड़े शांत भाव से समझाते हुए कहा, हे माता तुम क्यों इतना संताप करती हो क्योंकि—॥११९॥

शुभाशुभं फलत्युच्चैर्भोमातः कर्मणा कृतम् ।

जन्तोस्तस्मात् समंवात्र शरण्यं जिनशासनम् ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(भो मातः) हे माता (जन्तोः) प्राणी का (कृतम्) किया गया (कर्मणा) कर्म के अनुसार (शुभाशुभं) शुभ और अशुभ (उच्चैः) विशेष रूप से (फलति) फलता है (तस्मात्) इसलिए (अत्र) अब यहाँ (जिनशासनम्) जिनेन्द्रभगवान का शासन (एव) ही (मम) मेरे लिए (शरण्यं) शरण है । अर्थात् शरण योग्य है ।

भावार्थ—हे मातेश्वरो, आप जन्मदात्री हैं, पालन-पोषण कर मुझे योग्य बनाया किन्तु यह सब सुख-दुःख का मूल हेतु जीव का अपना निज उपार्जित कर्म-निमित्त ही है । स्वयं जीव शुभ और अशुभ अच्छा-बुरा कर्म करता है उससे पुण्य और पाप कर्म अर्जित करता है । उसकी स्थिति पूर्ण होने पर वही बद्धकर्म जीव को सुख या दुःख देता है । मेरा अशुभकर्म उदय में आने से सबका विचार ऐसा हुआ है । इस अशुभपापकर्म को दूर करने का समर्थ निमित्त कारण जिनशासन है । वही मुझे शरण देने वाला है । उसी की अर्चना से यह कष्ट अवश्य निवृत्त होगा । अतः हे मात, तुम शोक मत करो । मैं जिनशासन की शरण में जाती हूँ ॥१२०॥



कोठी के साथ शादी नहीं करने के लिए मन्त्री राजा को समझाते हैं ।



ऊपर—मैना सुन्दरी की कोखी भीपाल के साथ शादी करती ।

नीचे—मैना सुन्दरी की शादी के बाद उसके पिता-माता पश्चात्ताप के आंसू बहाते हुए ।

इत्येवं जिनधर्मज्ञा निश्चला सा गुणोज्ज्वला ।

मातरं बोधयामास सती संतोषशालिनी ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(इत्येवम्) इस प्रकार नाना युक्ति प्रमाण वाक्यों से (सा) उस मदन सुन्दरी (गुणोज्ज्वला) जो अपने गुणों से प्रकाशमान (जिनधर्मज्ञा) जिनधर्म की मर्मज्ञ (निश्चला) सुदृढ सम्पन्न सम्पन्न (संतोषशालिनी) संतोष की पूर्ण (सती) शीलवती ने (मातरम्) अपनी जननी को (बोधयामास) समझाया ।

भावार्थ— यद्यपि मैना के समक्ष विषम परिस्थिति थी, किन्तु वह तनिक भी उससे धक्का नहीं । विवेक इसी का नाम है । भयंकर विपत्ति आने पर भी विवेक न छोड़े, कर्त्तव्यच्युत न हो । वह शील, संयम, धैर्य, आदि गुणों की खान थी । सुवर्ण अग्नि में तपकर, हीरा शान पर चढ़कर, मेहदी पिसकर चमकते हैं, रंग देते हैं उसी प्रकार इस भाग्य परीक्षा की वेदी पर बलि चढ़ाई गई मैना सुन्दरी के गुण समूह चमक उठे । वह जिनधर्म के मर्म को भलिभांति जानने वाली और शील सम्यक्त्व से विभूषित थी । पूर्ण विवेक से उसने अपनी विलखती माता को आश्वासन दिया । भले प्रकार समझाया । स्वयं आनन्द से अपने सतीत्व और संतोष के बल पर पिता द्वारा किये कार्य को स्वीकार किया । साम्यभाव की पुतली ही उस समय प्रतीत हो रही थी । परन्तु जनता में सभी एक समान तो होते नहीं । कौन किसका मुँह बन्द करे । चारों ओर नाना आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी ॥१२१॥

निन्दन्तिस्म तदा केचिद्राजानं युक्तिवर्जितम् ।

केचिद्राज्ञीश्च केचिच्च विधातारं परेजनाः ॥१२२॥

अन्वयार्थ (तदा) विवाह हो जाने पर (केचिद्) कोई (युक्तिवर्जितम्) युक्ति विहीन (राजानम्) राजा को (निन्दन्तिस्म) निन्दनीय कहते थे तो (केचिद्) कुछ लोग (राज्ञीम्) रानी को (च) और (परेजनाः) दूसरे जन (विधातारम्) भाग्य की निन्दा करते थे ।

भावार्थ—इस अयोग्य पाणिग्रहण संस्कार के होने पर कुछ लोग राजा की निन्दा करते थे तो कुछ लोग रानी की निन्दा में जुट गये । माँ की ममता विशेष होती है । इसने राजा को क्यों नहीं रोका । क्या इसकी (रानी की) अनुमति बिना विवाह होता ? कोई कहता, माता-पिता दोनों ही अन्धे हो गये ? ऐसा तो कोई सामान्य मनुष्य भी नहीं करता ? भला कौन अपनी दुलारी को जानकर कुएँ में डालेगा ? अन्य कुछ लोग कहते माता-पिता क्या करें ? यह भाग्य की विडम्बना है । भाग्य बलवान है । पाप कर्म तीव्ररूप में उदय आता है तो सबकी मति फिर जाती है । कन्या का कहना ही सत्य है जीव अपने किये कर्मों का फल स्वयं ही भोगता है । “अब पछताये होत क्या जब चिडिया चुग गई खेत ।” इस प्रकार नाना-प्रकार की बाबालता फैल गई ॥१२२॥

विवाहानन्तरं तत्र भर्तुः पाणिविमोचने ।

प्रणामं कुर्वती पुत्री सती कल्पलतामिव ॥१२३॥

पश्यन् राजास्वचित्ते च पश्चात्तापेन तापितः ।

हा मया किं कृतं कर्मसुतायाः कष्टकारणम् ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(विवाहानन्तरम्) विवाह विधि सम्पन्न होने पर (भर्तुः) पति का (पाणिविमोचने) कर विमोचन हो जाने पर (कल्पलताम्) कल्पवल्ली (इव) समान (सती) शीलवती (पुत्री) बेटी (प्रणामं) पिता को प्रणाम (कुर्वतीम्) करती हुयी को (पश्यन्) देखता हुआ (राजा) भूपति (स्वचित्ते) अपने हृदय में (पश्चात्तापेन) पश्चात्ताप की ज्वाला से (तापितः) जलने लगा (च) और विचारने लगा (हा, कष्ट) महादुःख है (सुतायाः) पुत्री के (कष्टकारणम्) पीडा के कारण भूत (कर्म) यह कार्य (मया) मेरे द्वारा (किं) क्या (कृतम्) कर दिया गया ।

भावार्थ—राजा की आज्ञानुसार, विद्वान् पंडितों ने विवाह की सकल विधिविधान विधिवत् सम्पन्न कर दिये । अन्त में पति की कर विमोचन विधि भी हो गई । इसके बाद मदनसुन्दरी ने विनयपूर्वक पिता को नमस्कार किया । निर्विकार-निर्दोष पुत्री के सरलमुख-पङ्कज की ओर दृष्टि पड़ते ही राजा का हृदय कांप गया । वह कि कर्तव्य विमूढ सा रह गया । उसके द्वारा किया गया अनर्थ मानों उसे करनी का फल चखाने आ खड़ा हुआ । भूपाल का चित्त पश्चात्ताप की ज्वाला से झूलसने लगा । दुराग्रह की विडम्बना उसके सामने नाचने लगी । उसको प्रतीत हुआ कि उसने कितनी भयङ्कर भूल की है । वह स्वयं को कोसने लगा, धिक्कारने लगा । मन ही मन सोचने लगा, हाय-हाय यह भयङ्कर दुष्कर्म मेरे द्वारा कैसे किया गया ? इसका परिणाम मेरी दुलारी सुकुमारी को कितना भयप्रद, दुःखद, पीडाकारक होगा । मैंने स्वयं अपने हाथों से अपनी लयन दुलारी को यह कष्टकारक कार्य उत्पन्न कर दिया अब क्या होगा ? कैसे सहेगी यह बाला ? क्या करूँ ? कहाँ मैं और कहाँ मेरा यह दुष्कर्म ? ॥१२३॥१२४॥

क्वेयं कन्या स्वरूपेण बिडम्बित सुराङ्गना ।

क्वायंवरो गलत्कुष्टमण्डितो निज कर्मणा ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(स्वरूपेण) अपने सौन्दर्य से (बिडम्बित, सुराङ्गना) देवाङ्गना को भी तिरस्कृत करने वाली (इयं) यह (कन्या) कन्या (क्व) कहाँ ? और (निजकर्मणा) अपने पापकर्म द्वारा (गलत्कुष्टमण्डितः) गलित कुष्ठ से सहित (अयं) यह (वरः) वर (क्व) कहाँ ?

भावार्थ—राजा प्रजापाल विलाप करता हुआ कहने लगा, हे भगवन् ! मैंने क्या किया ? अपने अनिष्ट सौन्दर्य से अप्सरा, रति को भी पराभूत करने वाली कन्या कहाँ और अपने दुष्कर्म के उदय से गलित कुष्ठ से लत-पथ यह वर कहाँ ? अर्थात् यह मदनसुन्दरी तो

रति से भी अधिक लावण्यमयी है और इसका पति श्रीपाल गलित कोढ़ से पीड़ित है । यह मिलन सर्वथा अयोग्य ही नहीं निध भी है । कष्टकारक है ॥१२५॥

कोमलां मालतीमालां रसालां चित्तहारिणीम् ।

कारोषाग्नी क्षिपत्यज्ञस्तथा च मयकाकृतम् ॥१२६॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार कोई (अज्ञ) अज्ञानी (कोमलां) कोमल (च) और (रसालाम्) आनन्ददायिनी (चित्तहारिणीम्) मन को हरने वाली (मालती मालां) मालती पुष्पों से गुम्फित माला को (कारोषाग्नी) कण्डे की जलती आग में भोंक दे (तथा) उसी प्रकार यह (मयका) मेरे द्वारा (कृतम्) किया गया है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मूर्ख अज्ञानी सुन्दर, कोमल, दार्ढ्यक मालतीमाला को कण्डे (उपले) की धधकती अग्नि में डाल देता है उसी मूर्ख के समान किया गया यह मेरा कार्य है । मैंने मेरी अत्यन्त कोमलाङ्गी, मधुरभाषिणी, सर्वप्रिय कन्या को कुण्ठी के साथ व्याहा है । यह दुखाग्नि की ज्वाला में डालने के सदृश कार्य है ॥१२६॥ और भी—

चिन्तारत्नं यथा कोऽपिमूढः क्षिपतिकर्दमे ।

कन्यारत्नं तथा दिव्यं महास्थाने नियोजितम् ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (कोऽपि) कोई भी (मूढः) मूर्ख व्यक्ति (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणिरत्न को (कर्दमे) कीचड़ में (क्षिपति) फेंक देता है (तथा) उसी प्रकार (दिव्यं) अनुगम (कन्यारत्नम्) कन्यारत्न को (महास्थाने) भयंकर अयोग्य स्थान में (नियोजितम्) नियुक्त किया है ।

भावार्थ भूपाल सोच रहा है, जिस प्रकार कोई मूर्ख अज्ञानी मनुष्य चिन्तामणि को पाकर उसे पंक (कीचड़) में डाल देता है उसी प्रकार मैंने चिन्तामणि सदृश अपने कन्यारत्न को अयोग्य व्यक्ति के हाथ में सौंप दिया है । विवेकी योग्य वस्तुओं का संयोग कराता है परन्तु अविवेकी, मूर्ख पुरुष योग्यायोग्य का विचार नहीं करता । मेरी भी यही दशा है ॥१२७॥

सन्तिदुष्टानराः केचित् स्वार्थिनश्शत्रुकादिषु ।

मां विहाय न कोप्यस्ति पुत्रीसंतापकारकाः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(केचित्) कुछ (स्वार्थिनः) स्वार्थी (नराः) मनुष्य (शत्रुकादिषु) शत्रुओं, विरोधियों में (संतापकारकाः) कष्ट देने वाले (सन्ति) हैं किन्तु (पुत्रीसंतापकारकाः) पुत्री को संताप देने वाला तो (मां) मुझको (विहाय) छोड़कर (कोऽपि) कोई भी (न) नहीं (अस्ति) है ।

भावार्थ संसार में शत्रुओं को त्रास देने वाले बहुत हैं । अपने प्रतिकूल चलने वालों

को भी कष्ट देने वाले हैं। विरोधियों का दमन करने वाले भी हैं। अपराधी को दण्डदाता भी हैं। परन्तु अपनी ही निर्दोष-निरपराध पुत्री को भीषण ताप देने वाला मुझको छोड़कर अन्य कोई नहीं है। मैं ही एकमात्र पापी हूँ जो अपनी पुत्री को जानकर कष्ट में डाला है ॥१२८॥ पुनः सोचता है—

भूताविष्टो नरश्चापि वेत्ति किञ्चिद्विताहितम् ।

अहं किञ्चिन् न जानामि मूढात्मा पाप कर्मणा ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(च) और भी (भूताविष्टो) भूत-प्रेत को बाधा वाला (अपि) भी (नरः) मनुष्य (किञ्चित्) कुछ (विताहितम्) हित और अहित को (वेत्ति) जानता है, किन्तु (मूढात्मा) मूर्ख बुद्धिहीन (अहं) मैं (पापकर्मणा) पापकर्म से (किञ्चिन्) कुछ भी (न) नहीं (जानामि) जानता हूँ।

भावार्थ—लोक में देखा जाता है, जिस किसी मनुष्य को भूत, प्रेत, पिशाच की बाधा होती है, वह बेहोश हो जाता है, तो भी थोड़ा-बहुत विवेक रहता है। अर्थात् कभी सही और कभी भलत जानता है। राजा सोच रहा है कि मैं तो उस पिशाचग्रस्त से भी अधिक मूढ़ हूँ—पागल हो रहा हूँ। मेरे शिर पर पापकर्म का भूत चढ़ा है। मैं उसी के वशवर्ती हो रहा हूँ। पापकर्म पिशाचों का भी पिशाच है। इसी से मेरी बुद्धि सर्वथा नष्ट हो गई है। परन्तु अब क्या करूँ? मात्र पश्चात्ताप ही शेष है—ठीक ही है - ॥१२९॥

यो विचारं विना कार्यं करोति मतिवर्जितः ।

पश्चात्तापेन पापेन तप्यते स यथाहकम् ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिवर्जितः) बुद्धिहीन (विचारं) सोचे (विना) बिना (कार्यं) काम (करोति) करता है (स) वह (पश्चात्तापेन) पश्चात्तापरूप (पापेन) पाप से (तप्यते) तापित होता है (यथा) जिस प्रकार (अहकम्) मैं हूँ।

भावार्थ—मैंने इतना परिथम किया। धन खर्च किया। फल क्या मिला? हाथ मलना और शिर धुनना। भ्रष्ट सोचता है ठीक ही है “विना विचारे जो करे सो पाछे पछ-ताय” बिना-सोचे-विचारे जो काम करता है वह अन्त में पश्चात्ताप की ज्वाला में जलता ही है। यही दशा मेरी है। मेरे जैसा और कौन होगा? मैं पश्चात्ताप से मृत समान हो रहा हूँ। वास्तव में कर्मवली के सामने किसी का वश नहीं चलता ॥१३०॥ कहा भी है—

शुभाशुभं भवेन्नित्यं जन्तूनां कर्मयाकतः ।

किं करोत्यथवा लोके पिता-माता सु बान्धवाः ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) सदैव (जन्तूनां) प्राणियों के (कर्मयाकतः) कर्मोदय से

(शुभाशुभम्) अच्छा व बुरा (भवेत्) होता है (लोके) संसार में (माता-पिता) माँ, बाप (अथवा) अथवा (बांधवाः) पारिवारिकजन (किं) क्या (करोति) करता है ?

भावार्थ—“विनाश काले विपरीत बुद्धि” युक्ति को चरितार्थ करने वाले राजा को अनर्थ करने के बाद बुद्धि आई। अब विचार रहा है कि वस्तुतः भाग्य ही बलवान है। प्राणियों का अच्छा-बुरा भाग्यानुसार ही होता है। शुभकर्म सुखदाता और अशुभकर्म दुःख का हेतु है। संसार में माता-पिता वरुण वरिष्ठादि संसार के सुख-दुःख के कर्त्ता हैं, वे ही हैं। कोई कुछ भी नहीं कर सकता है। निज अजित कर्म को छोड़ कर कोई भी किसी का कर्त्ता धर्त्ता नहीं है।

इत्यादिकंविधायोच्चैः पश्चात्तापं नराधिपः ।

ददौ तस्मै तदा सप्तभूमि, प्रासादमुत्तमम् ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार (उच्चैः) नाना प्रकार से (पश्चात्ताप) पश्चात्ताप-शोक (विधाय) करके (नराधिपः) नृपति (तस्मै) कन्या के लिए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (सप्तभूमि) सतखना (प्रासादम्) महल (ददौ) दहेज में दिया।

भावार्थ—अनेकों प्रकार से ऊहा-पोहा, तर्क-वितर्क कर राजा पछता कर दुखी हुआ। उसने निर्णय किया अब तो पाणिग्रहण संस्कार हो ही गया। कुलजाश्रों का एक ही वर होता है। कन्या का ही विवाह आगम विहित है। अतः इसमें तिलभर भी परिवर्तन नहीं हो सकता। कुलीन, सती कन्या अपने एकमात्र अग्नि की साक्षी पूर्वक प्राप्त वर को पाकर ही संतुष्ट रहती है वह योग्य-अयोग्य कैसा भी क्यों न हो। अतः अब मुझे एक ही कार्य करना चाहिए कि कन्या के रहने निवासादि की पूर्ण व्यवस्था की जाय। इस प्रकार विचार कर उस राजा ने अपनी पुत्री को सात मञ्जिल का महल प्रदान किया। इस प्रत्यक्ष उदाहरण से विधवा विवाह के समर्थकों को अपना दुराग्रह छोड़ना चाहिए। पापकर्म में अबलाश्रों को फँसाकर उनके प्रति अत्याचार करने का त्याग करना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि विवाह कन्या का ही होता है। कन्या तभी तक नारी रहती है जब तक कि किसी भी पुरुष को माता-पिता बन्धु वर्ग द्वारा अग्नि की साक्षी पूर्वक प्रदान न की जाय। विवाह होते ही वह पत्नी हो जाती है। पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के लिए वह परस्त्री हो जाती है, अतः असेव्य हो जाती है। पत्नी होने पर उसके लिए भी पति के अतिरिक्त अन्य समस्त पुरुष पिता, भाई और पुत्र सन्त हो जाते हैं भला उनका सेवन कैसे योग्य होगा? कभी नहीं, सर्वथा हेय है, अयोग्य है। अतः न्यायपथ पर आये हुए राजा ने अपनी पुत्री को अन्य सर्व सामग्री निम्न प्रकार प्रदान की—

दिव्याभरणवस्त्राणि स्वर्णमाणिक्यसंचयम् ।

दासीदासशतामुच्चैश्चामरादि विभूतिभिः ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(चामरादि) चमर, छत्र, सिंहासनादि (विभूतिभिः) वैभव के साथ (दिव्याभरणा) सुन्दर आभरणा (वस्त्राणि) अनेक प्रकार के वस्त्र (स्वर्णं माणिक्यं) सुवर्ण, माणिकादि नवरत्नों का (संचयम्) समूह (उच्चैः) अनेकों वैभव (च) और (शताम्) सैकड़ों (दास-दासी) सेवक सेविकाएँ । तथा—

ददातिस्म तदा राजा राजचिन्हानि भूरिशः ।

श्रीपालाय महोत्तुङ्ग मातङ्गतुरगादिभिः ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (राजा) राजा ने (महा) बहुत (उत्तुङ्ग) ऊँचे (मातङ्ग) हाथी (तुरंग) घोड़े (आदिभिः) आदि के साथ-साथ (भूरिशः) बहुत से (राजचिन्हानि) राजचिन्ह (श्रीपालाय) श्रीपाल जंवाई के लिए (ददाति स्म) दिये ।

भावार्थ—राजाने अर्थात् मैनासुन्दरी के पिता ने श्रीपाल जंवाई के लिए समस्त राजचिन्ह भेंट किये । विशाल-विशाल अनेकों गज दिये । तीव्र वेगशाली अश्व प्रदान किये । और भी जो जो सामग्री व्यावहारिक जीवन में आवश्यक होती हैं वे सभी पदार्थ दहेज में दिये ॥१३४॥

श्रीपालोऽपि तदा प्राप्त सम्पदासार सञ्चयः ।

स्व प्रासादे तथा सार्द्धं संस्थितस्सपरिच्छदः ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(सम्पदासार) सारभूत सम्पत्ति का (सञ्चयः) समूह (प्राप्तः) प्राप्त करने वाला (श्रीपालोऽपि) श्रीपाल कोटीभर भी (तदा) तब (तथा) उस मदन सुन्दरी राजकुमारी के (सार्द्धम्) साथ (सपरिच्छदः) परिकर सहित (स्व) अपने (प्रासादे) महल में (संस्थितः) रहने लगा ।

भावार्थ—विवाह उत्साह-अनुत्साह के मध्य हो गया । श्रीपाल को वर दक्षिणा में अनेकों सम्पदाएँ प्राप्त हुईं । सभी सम्पत्तियों का सार वह अनुपम सुन्दरी, गुणागार, पतिभक्ता पत्नि थी । उसके साथ सुख से समुद्र से प्राप्त अपने राजभवन में स्थित हुआ । सभी परिकर भी यथायोग्य, यथास्थान उसकी सेवा में रत हुए । सात सो मित्र उसी के अनुरूप थे अतः उसका राजत्व स्वीकार कर सेवा में तत्पर हुए ।

कुष्ठिनोऽपि पृथक् सर्वेपरे भूरिगृहेषु च ।

श्रीपालं तं समाश्रित्य तस्थुस्सेवा विधायिनः ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(परे) अन्य (सर्वे) सभी (कुष्ठिनः) कोढ़ी जन (अपि) भी (भूरि-गृहेषु) अनेकों गृहों में (तं) उस (श्रीपालम्) श्रीपाल को (समाश्रित्य) आश्रय करके (च) और (सेवाविधायिनः) सेवा तत्पर हो (तस्थुः) रहने लगे ।

भावार्थ—मैना के पिता राजा ने सभी साथी कुष्ठियों को यथायोग्य पृथक्-पृथक् धर बनवा दिये । सभी बेचारे कर्म के सताये श्रीपाल को अपना आश्रयदाता मानकर उसकी सेवा में तत्पर हुए । अभिप्राय यह है कि शरीर पीड़ा से पीड़ित महाराज श्रीपाल इस अवस्था में भी राज्यत्व भाव से संयुक्त था । अर्थात् उसके सभी साथी प्रजा के रूप में वहाँ बस गये और श्रीपाल को अपना नेता राजा बनाया । ठीक ही है तरासने पर भी हीरा की चमक कम नहीं होती, अपितु और अधिक हो जाती है । इसी प्रकार महापुरुषों का जीवन आपत्तियों से अभिभूत नहीं होता, अपितु विशेष समुज्ज्वल होता जाता है ॥१३६॥

इत्थंविवाहविधिना स नरेन्द्र पुत्रीम् ।

सम्प्राप्य पावनमतिं जिनधर्मरक्ताम् ॥

यावत्स्थितो विधिवशादयभाविभूतिः ।

श्रीपालनाम नृपतिश्च तदा प्रसङ्गः ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(इत्थं) इस प्रकार (पावनमतिम्) निर्मलबुद्धि वाली (जिनधर्मरक्ताम्) जिनधर्म में लीन रहने वाली (नरेन्द्रपुत्रीम्) राजा की पुत्री को (विवाहविधिना) विधिवत् विवाह करके (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (स) वह (श्रीपालनामनृपतिः) श्रीपालनाम का राजा (यावत्) जब तक (स्थितः) स्थिर हुआ कि (विधिवशात्) भाग्यवश (तदा) तभी (नव) नवीन (भाविभूतिः) भविष्य की विभूति का (प्रसङ्गः) प्रसङ्ग आया ।

भावार्थ—इस प्रकार महाराज श्रीपाल ने अद्भुत सुन्दरी, अद्वितीय विदुषीरत्न, जिनधर्मरता, सिद्धान्तशास्त्रज्ञा, तथा अनेकान्त सिद्धान्त की वेत्ता उस राजकुमारी मैनासुन्दरी को विवाहविधि के अनुसार पत्निरूप में प्राप्त किया । उसके साथ वह सुख पूर्वक स्थिर हुआ मानों भाविभूति की सूचना का यह प्रसङ्ग था । अर्थात् विवाह क्या था श्रीपाल के भविष्य जीवन के विकास की सूचना थी । वस्तुतः भाविबलवान होती है । भाग्योदय की सूचना पाकर वे नवदम्पति आशान्वित हुये ॥१३७॥

इति श्री सिद्धचक्रपूजातिशयसमन्वित श्रीपाल महाराज चरिते भट्टारक श्री सकल-
कीर्ति विरचिते मदनसुन्दरी विवाह वर्णनो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥

दूरण्डवासर्ग समाप्तम्-शुभमस्तु॥



“अथ तृतीय सर्गमारभ्यते”

“तीसरा सर्ग आरम्भ होता है”

अथैकदा तथा तत्र स नीतो जिनमन्दिरम् ।
भार्यया च संतापनाशनं शर्ममन्दिरम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) दोनों दम्पति मुक्त से रहने लगे । तब (एकदा) एकदिन—एक समय (तथा) उस (भार्यया) पत्नी मदनसुन्दरी द्वारा (स) वह श्रीपाल राजा (संतापनाशनम्) संतापनाशक (शर्ममन्दिरम्) शान्तिदायक (च) और (तत्र) उस पापनाशक (जिनमन्दिरम्) जिनभगवान के मन्दिर में (नीतः) लाया गया ।

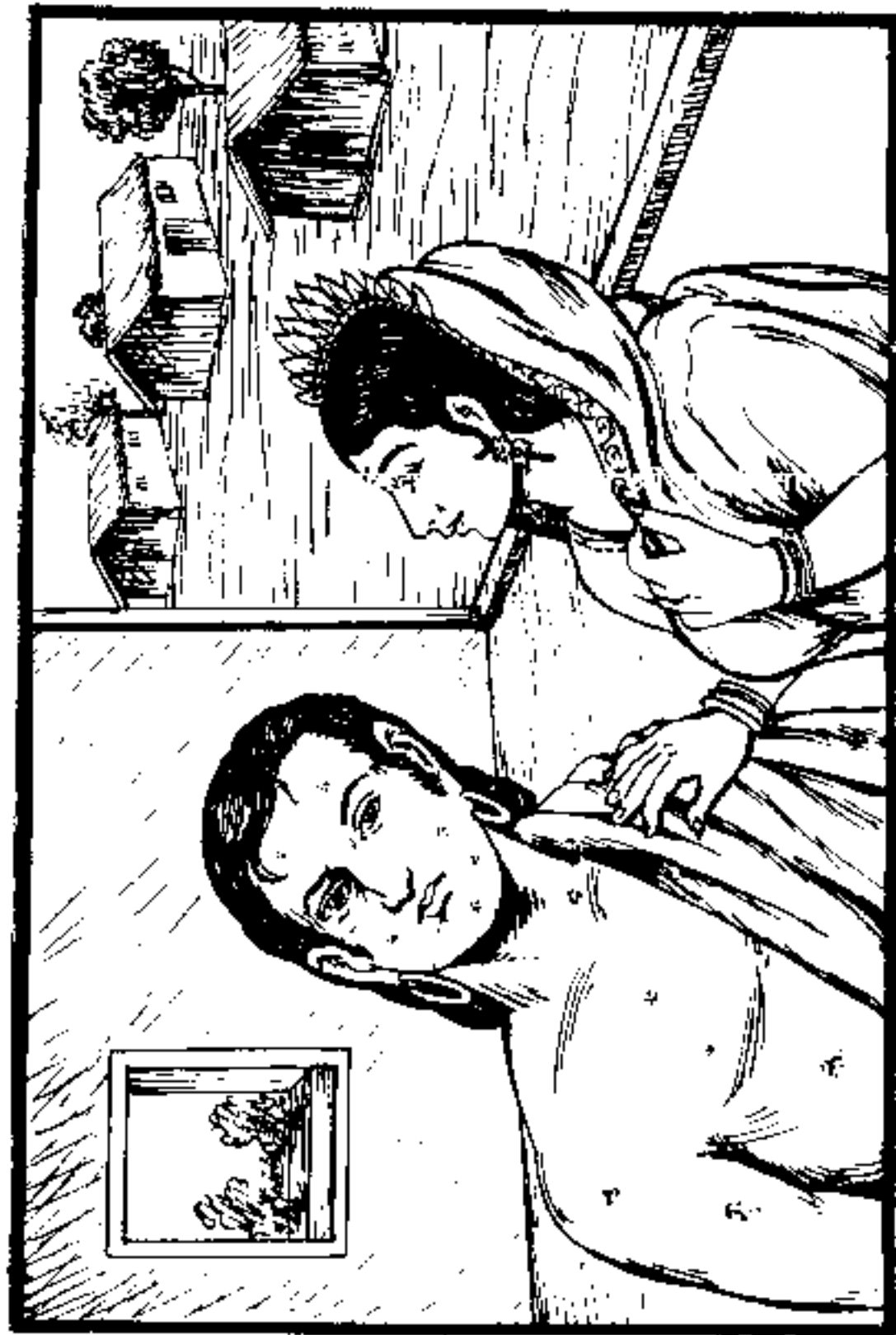
भावार्थ—मदनसुन्दरी भक्तिपरायण थी । जिनभक्ति उसकी रग-रग में समायी थी । उसने अपने शील, मौजन्य, पतिभक्ति, सेवापरायणता से श्रीपाल का मन अपने में पूर्ण अनुरक्त कर दिया था । श्रीपाल उस अमरसुन्दरी गुणभूषणा को पत्नी रूप में हर्षोत्फुल्ल तो था ही उसका पूर्ण सम्मान भी करता था और उसके विचारानुकूल कार्य भी करता था । अतः किसी एकदिन अवसर पाकर विनयपूर्वक श्रीपाल को श्रीजिन भगवान के दर्शन करने के लिए जिन मन्दिर में पधारन की प्रार्थना की । श्रीपाल ने भी इसे सहर्ष स्वीकार किया । अतः पति को लेकर, संताप को नाश करने वाले, शान्ति के निलय, सुखदायक जिनालय में आयी ॥१॥

समभ्यर्च्य जिनाधीशान् सुरासुरसमचितान् ।
स्तुतिं संवक्रतुस्तत्र दम्पती तौ सुखप्रदान् ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ जिनालय में जाकर (तौ) वे दोनों (दम्पती) पति-पत्नि (सुरासुरसमचितान्) सुर और असुरों से पूजनीय (सुखप्रदान्) नाना सुखों के देने वाले (जिनाधीशान्) जिनेन्द्रभगवान की प्रतिमाओं को (समभ्यर्च्य) सम्यग्रूपकार विधिवत् पूजकर (स्तुतिं) स्तुति (संवक्रतुः) करने लगे ।

भावार्थ—मैना सुन्दरी एक दिन अपने पूज्य पतिदेव श्रीपाल को लेकर जिनदर्शन को जिनालय में आयी । वह जिनालय परमपावन, शान्तिप्रदायक था । उसमें अनेकों रत्नमय जिनप्रतिमाएँ विराजमान थी । सुर-असुरादि आकर वहाँ जिनबिम्बां को पूजा भक्ति करते थे । उन दोनों ने भी यथायोग्य उनकी अष्टद्वय से विधिवत् पूजा की । अर्चना करके पुनः दोनों जिनभगवान की स्तुति करने लगे ॥२॥

जय त्वं श्रीजिनाधीश सर्वदेवेन्द्रवन्दितः ।
जय त्वं गुणमाणिक्यरज्जिताखिल भूतलः ॥३॥



भैनामुन्दरी अपने कोही पनि आगाल स जिनमन्दिर में पधारने की प्रार्थना करने हुए ।

अन्वयार्थ—(श्रीजिनाधीश !) हे श्री जिनाधीश ! (सर्वदेवेन्द्रवन्दितः) आप सम्पूर्ण-इन्द्रों-सौ (१००) इन्द्रों से वन्दनीय हैं (जयत्वम्) जयवन्त हों आप । (अखिलभूतलः) सम्पूर्णभूमितल-तीनलोक (गुणमाणिक्यरञ्जितः) आपके गुण रूपी माणिक्यरत्न से अनुरञ्जित हैं ऐसे (त्वं) आप (जय) जयशील हों ।

भावार्थ—हे श्री जिनाधीश ! आपकी १०० इन्द्र नित्य वन्दना करते हैं । भवन-वासियों के ४० इन्द्र, व्यस्तरो के ३२ इन्द्र, कल्पवासियों के २४ इन्द्र, ज्योतिषियों के २ मनुष्यों का १ चक्रवर्ती और तिर्यङ्चों का १ सिंह । इस प्रकार सब ४० + ३२ + २४ + २ + १ + १ = १०० इन्द्र होते हैं । आप अनेक गुणरूपी माणिक्य रत्नों के भण्डार हैं । इन गुण मणियों से तीनों लोक अनुरञ्जित हैं । माणिक्यरत्न अरुण वर्ण का होता है उससे लाल ही किरणें निकल-कर भूमितल को अरुणवर्ण कर देती हैं किन्तु रत्न की प्रभा सीमित होती है, सीमित स्थल को ही लाली से व्याप्त करती है । परन्तु आपके गुण रूपी अनन्त माणिक्यरत्नों की अनन्त प्रभा समस्त भूमण्डल को अभिव्याप्त कर लेती है । अर्थात् आपके गुणों से संसार का प्राणि-मात्र आनन्दित होते हैं । तीनों लोक आपकी गुणगरिमा से अनुप्राणित हैं । हे सर्वेश आपकी गुणगरिमा से अनुप्राणीत हैं । हे सर्वेश आपकी जय हो ॥३॥

जय त्वं भव्यसंदोहकमलाकरभास्करः ।

दुष्टदारिद्र्यरोगाग्नि शमनैक घनाघनः ॥४॥

अन्वयार्थ—[त्वं] आप हे भगवन् [भव्यसंदोहकमलाकरभास्करः] भव्य-जनसमूह-रूपी कमलों के आकर को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, [दुष्टदारिद्र्य-रोगरूप अग्नि के लिए शमन-शान्त करने के लिए आप महा घनघोर वर्षा करने वाले मेघ हैं] दुष्टदारिद्र्य-रोगाग्नि) भयंकर दरिद्रता, रोगरूपी अग्नि को (शमनैक) बुझाने के लिए एकमात्र (घना-घनः) महाघनघोर मेघ हैं हे प्रभो (जय) आपकी जय हो ।

भावार्थ—सूर्योदय से कमलसमूह विकसित हो जाते हैं । सरोवर विहंसने लगता है । उसी प्रकार हे भगवन ! आप भव्यपुण्डरीकों को विकसित करने वाले जानरवि हैं । संसारी प्राणियों को दुष्टदारिद्र्य, रोगादि अग्निवत् जलाते हैं उस दाह से संतप्तप्राणियों को दाहसंताप से रक्षा करने वाले आप घनघोर मेघ हैं । आप की सदा जय हो ॥४॥

जय सर्वेश तीर्थेश वीतराग जगद्धित ।

जय देव दयासिन्धो भव्यबन्धोऽप्यबन्धनः ॥५॥

अन्वयार्थ—(सर्वेश) हे सर्व ईश्वर (वीतरागः) हे वीतरागी (जगद्धितः) हे जगत के हितकर्ता ! (दयासिन्धो) हे कृपासागर (भव्यबन्धः) कर्मबन्ध रहित (अपि) भी आप (भव्यबन्धुः) भव्य जीवों के हितकर्ता बन्धु हैं । (देव) हे देव (जय) आप जयशील हों ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप प्राणीमात्र के ईश-रक्षक हैं । आपने राग-द्वेष को नष्ट

कर दिया आप वीतराग हैं । आप संसार का हित करने वाले हैं । आप दया के सागर हैं । स्वयं बन्धनमुक्त हैं तो भी भव्यों के बन्धु हैं । हे देव आपकी जय हो । आप सदैव जयशील हों ॥५॥

जन्ममृत्युजरातङ्कनाशनैक भिषावर ।

जय तेजोनिधे देवलोकालोक प्रकाशकः ॥६॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो आप (जन्ममृत्युजरातङ्कनाशन) जनम, मरण और बुढ़ापा रूपी रोग का सर्वनाश करने के लिए (एक) एकमात्र (भिषावर) वैद्य हैं (तेजोनिधे) तेज के निधान हैं । हे तेज के घाम ! (लोकालोक प्रकाशक !) हे लोक और अलोक के प्रकाश करने वाले (हे देव) हे देव (जय) आपको जय हो । आप जयवन्त रहें ॥६॥

जय त्वं जिनराजोच्चैस्सप्ततत्त्वार्थ दीपक ।

जय सर्वज्ञ संसिद्ध स्वयंसिद्ध विशुद्धिभाक् ॥७॥

अन्वयार्थ—(सप्ततत्त्वार्थ दीपकः) सात तत्त्वों के स्वरूप प्रकाशक प्रदीप (जिनराजः) हे जिनेन्द्र प्रभो (त्वं) आप (उच्चैः) विशेष रूप से (जय) जयशील हों, (सर्वज्ञ) हे सर्वज्ञ (संसिद्ध) हे सिद्धोपासक (स्वयंसिद्ध) हे स्वयंबोध (विशुद्धिभाक्) हे विशुद्धात्मा (जय) आपकी जय हो, जय हो ।

भावार्थ—हे सर्वज्ञाता ! हे स्वयंबुद्ध ! हे स्वयंसिद्ध ! हे विशुद्धि प्राप्त कर्ता ? आप सप्ततत्त्वों के अर्थ का सम्यक् प्रकाश करने वाले हैं । आपकी जय हो । जय हो ॥७॥

अहो स्वामिन् जिनेन्द्र त्वं शुद्धरत्नत्रयान्वित ।

पोतस्त्वमेव भो देव ! संसाराम्बुधितारणे ॥८॥

अन्वयार्थ—(अहो) भो (स्वामिन्) स्वामिन् (जिनेन्द्र) हे जिनदेव ! (शुद्धरत्नत्रयान्वित !) आप शुद्ध रत्नत्रय सम्पन्न, हे विभो (त्वं) आप (संसाराम्बुधितारणे) संसार सागर से तारणे को (भो देव) हे देव (त्वमेव) आप ही (पोतः) जहाज हो ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! हे जिनेन्द्र ! आप शुद्धपरमावगाढसम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और पूर्णसम्यक्चारित्र्य स्वरूप रत्नत्रय से समन्वित हैं । भव्यजीवों को संसार रूपी सागर से पार करने के लिए आप सुदृढ़ नौका हैं ।

इत्यादिकं महाभक्त्या स्तुत्वा श्रीमज्जिनेश्वरान् ।

नत्वा पुनर्पुनर्गहिं परमानन्द ॥९॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त नाना प्रकार से (महाभक्त्या) महानभक्ति से

(श्रीमज्जिनेश्वरान्) श्रीमान् श्री जिनेन्द्रों को (स्तुत्वा) स्तवन करके (परमानन्ददायकान्) उन परमोत्तम आनन्द के देने वाले भगवन्तों को (पुनः पुनः) बार-बार (गाढं) विशेष भक्ति से [नत्वा] नमस्कार करा ॥९॥

ततस्तत्रावलोक्योच्चैस्सुगुप्ताचार्यमुत्तमम् ।

नत्वा तत्पादयोर्मूले संस्थितौ शर्मदायिनि ॥१०॥

अन्वयार्थ—[ततः] तब [तत्रा] वहाँ जिनालय में [उत्तमम्] श्रेष्ठतम [सुगुप्ता-
चार्यम्] सुगुप्ताचार्य नामक आचार्य को [उच्चैः] विशेषरूप से [अवलोक्य] देखकर [शर्मदा-
यिनि] शान्तिप्रदायक [तत्पादयोर्मूले] उनके चरण द्वय के सांनिध्य में [संस्थितौ] दोनों बैठ
गये ।

भावार्थ—नाना प्रकार से भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र प्रभु का गुणगान किया । सुमधुर स्वर
से ललित पद्यों से स्तुति की । परमानन्द को प्राप्त उन दोनों ने उन्हें बार-बार नमस्कार किया ।
पुनः वहाँ जिनालय में विराजे श्री सुगुप्ति नामक आचार्य परमेष्ठी भगवान को देखा । हर्षाति-
रेक से भरित वे उन आचार्य श्री के कल्याणकारी चरणद्वय के समीप नमस्कार कर बैठ
गये ॥१०॥

तन्मुनेर्धर्मवृद्धौ तौ संतुष्टौ मानसेतराम् ।

पीयूषधारया सिक्तौ यथा रोमाञ्चित्ताङ्गकौ ॥११॥

अन्वयार्थ—[तन्मुनेः] उन मुनिराज से [धर्मवृद्धौ] धर्मवृद्धि आशीर्वाद प्राप्त
करने पर [तौ] वे दोनों [मानसे] मन में [तराम्] आतिशायि रूप से [संतुष्टौ] संतुष्ट हुए
[यथा] जिस प्रकार मानों [पीयूषधारया] अमृत की धारा में [सिक्तौ] स्नानकर [रोमा-
ञ्चित्ताङ्गकौ] पुलकितमात्र हो गये ।

भावार्थ—उन दोनों ने [मौनासुन्दरी और श्रीपाल ने] आचार्य श्री को नमस्कार
किया । गुरुराज ने उन्हें वात्सल्यमयी धर्मवृद्धि आशीर्वाद दिया । मुनिराज से आशीर्वचन प्राप्त
कर उन्हें परमानन्द हुआ । दोनों आनन्दरूपी हर्षाङ्कुरों से पुलकित हो गये । मानों अमृत की
धारा में स्नान किया हो ॥११॥

पुनर्नत्वामुनि प्राह तदा मदनसुन्दरी ।

भो स्वामिन् भव्य जन्तूनां मज्जतां भवसागरे ॥१२॥

हस्तावलम्बनं देव त्वया वत्तं महामुने

दर्शनज्ञानचारित्र्य रत्नत्रय विराजत ॥१३॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (मदनसुन्दरी) मौनासुन्दरी (पुनः) फिर से (नत्वा)

नमस्कार करके (मुनिं) मुनिराज को (प्राह) बोली (भो स्वामिन्) हे स्वामिन् (भवसागरे) भवसमुद्र में (मज्जताम्) डूबते हुए (भव्यजन्तुनाम्) भव्यप्राणियों को (महामुने) हे महामुनिराज (देव) हे देव (दर्शनज्ञानचारित्रविराजत) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र समन्विते ! (त्वया) आप द्वारा (हस्तावलम्बनम्) सहारा (दत्तम्) दिया गया है । अर्थात् संसार जलधि में डूबने वालों को हस्तावलम्बन देते हैं ।

भावार्थ—आचार्य श्री से धर्मवृद्धि प्राप्त कर मदनसुन्दरी ने पुनः नमस्कार किया तथा गुरुस्तवन करने लगी हे स्वामिन् ! हे रत्नत्रयमण्डिते, हे देव ! आप परमोपकारी हैं । अनेकों भव्यात्माओं को संसार सागर से पार उतारा है । दुःख समुद्र में डूबते अनेकों को आप द्वारा हस्तावलम्बन दिया गया है ।

श्रूयतां भो कृपांकृत्वा वचो मे ज्ञानलोचन !

मया संस्थापितं कर्म पिता मे कुपितस्तराम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—मदनसुन्दरी श्रीगुरु मुनिराज से अपनी व्यथा निवेदन करती है (भो) हे (ज्ञानलोचन !) ज्ञानरूपी नेत्र के धारक ! (कृपाम्) दया (कृत्वा) करके (मे) मेरे (वचः) वचन (श्रूयताम्) सुनिये, (मया) मेरे द्वारा (संस्थापितं कर्म) उपाजित किये कर्म से (मे) मेरा (पिता) पिता (तराम्) अत्यन्त (कुपितः) क्रोधित हुआ ।

भावार्थ—मदनसुन्दरी मुनिराज के समक्ष निवेदन करती है । हे ज्ञानलोचन, आगम चक्षु मुनीन्द्र ! मैंने पूर्वभव में कौनसा दुष्कर्म किया था ? मेरे पिता मुझसे अत्यन्त क्रुद्ध हुए ? हे प्रभो ! आप सर्वज्ञाता हैं । कृपाकर मेरा संदेह दूर करें ॥१४॥

मुनिर्जगाद भो पुत्री यत्त्वया सुखदुःखयोः ॥

कर्मबीजंकृतं तच्च सम्यक् त्वं स्थापितं त्वया ॥१५॥

अन्वयार्थ—उत्तर में मुनीश्वर कहने लगे (मुनिर्जगादः) मुनिवर बोले (भो पुत्री) हे बेटी (यत्) जो (त्वया) तुम्हारे द्वारा (सुखदुःखयोः) सुख दुःख का (बीजम्) बीज रूप (कर्म) शुभाशुभ कर्म (कृतम्) किया गया है (तत् च) और वह (सम्यक्) भले प्रकार से (त्वया) तुम्हारे ही द्वारा (त्वं) तुमने (स्थापितम्) अर्जित किया है ।

भावार्थ—स्याद्वाद सिद्धान्त के ज्ञाता, अनेकान्त के अध्येता वे मुनिराज गम्भीर ललित वाणी में यथार्थ प्रतिपादक वचन कहने लगे । हे पुत्री ! जीव अपने द्वारा स्वयं उपाजित कर्मबीज के फल-सुख-दुःख को स्वयं ही भोगता है । तुमने पूर्व भव में सुख-दुःख का कारणीभूत कर्म अपने द्वारा ही स्वयं संचय किया था । उसी बीजभूत कर्म आज तुम्हें सुख-दुःख रूप में उदय आकर फल दे रहा है । अर्थात् प्रथम सुख-पुण्य कर्म का फल भोगा राजपुत्री हुयी । हर प्रकार से सुखसुविधा पूर्वक सद्गुरु के सान्निध्य में अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ ।

तदनन्तर यह दुःख कर्मवृक्ष का फल भी कटु प्राप्त हुआ है । तो भी शान्ति से यह भी पार होगा । संसार में चक्रवत् सुख दुःख भ्रमण करते हैं ॥१५॥

चिन्तां मा कुरु भो पुत्रि भर्तृतेऽयं भविष्यति ।

दिव्यरूपी च निर्व्याधी राज्यं प्राप्स्यति च ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—पुनः मुनिराज कहने लगे—(भो पुत्रि !) हे पुत्रि ! (चिन्ताम्) चिन्ता (मा) मत (कुरु) करो (अयम्) यह (ते) तुम्हारा (भर्तुं) पति (दिव्यरूपी) अलौकिक-सौन्दर्यशाली (भविष्यति) हो जायेगा (च) और (निर्व्याधि) रोग रहित भी होगा तथा (च) और (ध्रुवम्) निश्चय से (राज्यम्) राज्य (प्राप्स्यति) प्राप्त करेगा ।

भावार्थ—अमृत समान मधुर वाणी में मुनिराज कहते हैं हे बेटी ! तुम चिन्ता मत करो, शोक तजो, प्रफुल्ल होओ । कुछ ही समय में तुम्हारे पति का कुष्ठरोग सर्वथा नष्ट होगा । कामदेव सदाश इसका रूप-लावण्य निखरेगा । यही नहीं निकट भविष्य में नियम से अपना राज्य प्राप्त करेगा ॥१६॥

सा चोवाच सती तत्र पुनर्मदनसुन्दरी ।

भो स्वामिन् भवताप्रोक्तं तत्सत्यं संभविष्यति ॥१७॥

अन्वयार्थ—हर्ष से गद्गद् हुयी मैनासुन्दरी कहने लगी—(सा) वह मैना (सती) शीलवती (उवाच) बोलो (पुनः) फिर (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी (भोस्वामिन्) हे स्वामिन् (भवता) आपके द्वारा (प्रोक्तम्) कहा हुआ जो है (तत्) वह (सत्यं) यथार्थ (संभविष्यति) ही होगा ।

भावार्थ—हे बीतराग ! हे गुरुदेव आप सत्यवादी हैं । आपके निर्मलजान में यथावता ही प्रतिभासित होती है । हे परमपूज्य आपकी भविष्यवाणी अवश्य ही तदनु रूप फलित होगी । इस प्रकार उस सम्यक्त्वभूषिता मदनसुन्दरी ने गुरुवचन स्वीकृत किये । वह सम्यग्दर्शन मण्डित थी । देव, शास्त्र, गुरु वाणी पर उसका अकाट्य विश्वास-श्रद्धान था । अतः जैसा मुनिराज ने बताया है वैसा ही होगा इस प्रकार निश्चय कर परम हर्ष को प्राप्त हुयी ॥१७॥ पुनः सुन्दरी पूछती है -

तत्रोपायं कृपासिन्धो बाढं त्वं वक्तुमर्हसि ।

रात्रेर्ध्वान्तं निराकर्तुं कः क्षमो भास्करं बिना ॥१८॥

अन्वयार्थ—पुनः (कृपासिन्धो) हे कृपासागर (तत्र) उस व्याधी के नाश का (उपायम्) उपाय (वक्तुम्) कहने में (अर्हसि) समर्थ हैं (बाढं) निश्चय ही (रात्रेः) रात्रि के (ध्वान्तम्) अन्धकार को (निराकर्तुम्) दूर करने को (भास्करं बिना) सूर्य के सिवाय अन्य (कः) कौन (क्षमः) समर्थ है ।

भावार्थ—मदन सुन्दरी मुनिराज जी से पूछने लगी । हे कृपासागर आपने इस व्याधी का कारण कर्म कहा, सो सत्य है । अब इस अशुभ-पाप रूप कर्म के नाश का उपाय भी आपही कहने में समर्थ हैं । हे प्रभो इस रोग मुक्ति का उपाय बताने की दया करें । आपके अतिरिक्त और कौन इलाज कर सकता है ? रात्रि में व्याप्त तुमुल-सघन अंधकार का नाश सूर्य-को छोड़कर भला और कौन कर सकता है ? कोई नहीं ॥१८॥

तन्निशम्य मुनीन्द्रोऽपि जगौ संज्ञानलोचनः ।

शृणुत्वा सावधानेन चेतसा ते गदाम्यहम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(तन्निशम्य) मदनसुन्दरी की प्रार्थना को सुनकर (संज्ञानलोचनः) सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रधारी (मुनीन्द्रः) मुनीश्वर (अपि) भी (जगौ) बोले हे पुत्रि ! (त्वम्) तुम (चेतसा) चित्त (सावधानेन) सावधान करके (शृणु) सुनो (अहम्) मैं (ते) तुम्हारे लिए उपाय (गदामि) कहता हूँ ॥१९॥

भावार्थ—धर्मरता मैना के दुःख से द्रवित आचार्य श्री उसकी प्रार्थना सुनकर कहने लगे । हे बेटी तुम एकाग्र मन से सुनो । मदनसुन्दरी ने कहा, प्रभुवर ! आप सम्यग्ज्ञान रूप नेत्रों के धारी हैं । अर्थात् आराम ही आपके नेत्र हैं । मुनिराज कहने लगे—

सम्यक्त्व पूर्वकं पुत्रि ! जिनधर्म प्रपालनम् ।

पूजनं सिद्धचक्रस्य सर्वरोग निवारणम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(पुत्रिः) हे पुत्रिके (सम्यक्त्वपूर्वकम्) सम्यग्दर्शन सहित (जिनधर्म) जैनधर्म (प्रपालनम्) पालन करना तथा (सर्वरोगनिवारणम्) सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाले (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (पूजनम्) पूजा करना तथा और भी—

भो सुते सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्ति जिनधर्मतः ।

स्वर्गोमोक्षश्च धर्मेण का वार्ता परवस्तुषु ॥२१॥

अन्वयार्थ—(भो) हे (सुते) पुत्रि ! (जिनधर्मतः) जिनधर्म प्रसाद से (सर्वकार्याणि) सर्व कार्यों की (सिद्ध्यन्ति) सिद्धि होती है—सिद्ध होते हैं (स्वर्गः) स्वर्ग (च) और (मोक्षः) मोक्ष भी (धर्मेण) धर्म द्वारा मिलते हैं (परवस्तुषु) अन्य वस्तुओं की (का) क्या (वार्ता) बात है ।

भावार्थ—हे बाले ! तुम सम्यक्त्व सहित जैनधर्म का पालन करो । इह श्रद्धा और असीम भक्ति से सिद्धचक्र की पूजा करो । यह सिद्धचक्र पूजा समस्त रोगों के उपशमाने को रामबाण औषधि है । जिनधर्म महान है । इसके द्वारा समस्त कार्यों की सिद्धि अनायास ही हो जाती है । धर्म से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है यही नहीं मोक्ष की प्राप्ति भी धर्म से ही होती है ।

फिर अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है ! अन्य सब सांसारिक सुख-साधन तो घास-फूस के समान यों ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२१॥ और भी—

धर्मःचिन्तामणिलोके धर्मः कल्पतरुर्महान् ।

धर्मः कामदुहाधेनुधर्मो बन्धूर्जगत्रये ॥२२॥

अन्वयार्थ (लोके) संसार में (धर्मः) धर्म (चिन्तामणिः) चिन्तामणिरत्न है, (धर्मः) धर्म (महान्) विजाल (कल्पतरुः) कल्पवृक्ष है (धर्मः) धर्म (कामदुहाधेनुः) काम-धेनु है (जगत्रये) तीनोंलोकों में (धर्मः) धर्म ही (बन्धु) बन्धु-मित्र है, रक्षक है ।

भावार्थ—हे पुत्र ! संसार में धर्म ही चिन्तामणिरत्न है । अर्थात् चिन्तामणिरत्न के समान चिन्तित कार्य की सिद्धि करने वाला है महान् कल्पवृक्ष के समान वाञ्छित पदार्थों को धर्म स्वयं देता है । कामधेनु के समान यथायोग्य, मनोऽभिलाष पदार्थ देने वाला है । संक्षेप में धर्म उभयलोक की सिद्धि करने वाला है ॥२२॥

धर्मः संसारवाराशौ पोतोऽयं भव्यदेहिनाम् ।

धर्मो माता-पिता मित्रं धर्मो निधिरनुत्तरः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(संसारवाराशौ) संसार रूपी समुद्र में (अयं) यह (धर्मः) धर्म (पोतः) जहाज है (भव्यदेहिनाम्) भव्य जीवों को (धर्मः) धर्म (अनुत्तरम्) अलौकिक (निधिः) निधि है तथा (धर्मः) धर्म ही भव्यों को (माता-पिता मित्रम्) माता, पिता और मित्र है ।

तल्लक्षणं प्रवक्ष्यामि शृणु श्रीपाल, भूपते ? ।

भो सुतेः त्वमपिव्यक्तं सावधाना शृणु ध्रुवम् ॥२४॥ शुभम् ॥

अन्वयार्थ—(भूपते श्रीपाल !) हे राजन् श्रीपाल ! (तत्) उस धर्म का (लक्षणं) लक्षण (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा (त्वं) तुम (शृणु) सुनो (भो सुते !) हे पुत्री मदनसुन्दरी ! (त्वमपि) तुम भी (सावधाना) एकाग्रचित्त से (शृणु) सुनो (अहम्) मैं (आचार्य) (व्यक्तं) स्पष्टरूप से उस धर्म के लक्षण को (ध्रुवम्) निश्चय से (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ।

भावार्थ—आचार्य श्री कहते हैं, संसार सागर में भव्यप्राणियों को धर्म सुदृढ़ पोत-जहाज है । धर्म ही खजाना है । धर्म ही माता समान रक्षक है । धर्म ही पालनहारा पिता है । संकट-विपत्ति में सहायक सच्चा मित्र धर्म ही है । सांसारिक माता पिता भाई मित्रों के साथ स्वार्थ लगा है । अपने मतलब से प्रीति, रक्षा, सहाय करते हैं । परन्तु धर्म ही एकमात्र निःस्वार्थ सतत रक्षण करने वाला और सदैव साथ ही रहने वाला है । सम्पत्ति—विपत्ति सर्व एक है धर्म की दृष्टि में ।

वह धर्म क्या है ? हे भूपाल ! श्रीपाल ! हे पुत्रि मैनासुन्दरी ! मैं उस सर्वोपकारी, परमोत्तम धर्म का लक्षण स्पष्ट रूप से कहूँगा । आप दोनों एकाग्रचित्त होकर सुनिये । निश्चय

से धर्म सर्व रक्षक और पालक है। उसका स्पष्ट-धर्मलक्षण क्या है ? किस प्रकार पालन करना चाहिए सर्व आप को विस्तार से समझाता हूँ आप सावधान होकर सुनें ॥२४॥

/ सम्यक्त्वज्ञानवृत्तानि धर्मं प्राहुर्गुणाधिपाः ।

/ योऽत्र भव्यान् समुद्धृत्य धरत्युच्चैः पदे सुखम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(यो) जो (अत्र) संसार में (भव्यान्) भव्य जीवों को (समुद्धृत्य) निकालकर संसार सागर से पारकर (उच्चैः सुखम् पदे) महानसुखरूप पद-मोक्ष में (धरति) पहुँचाता है उस (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तानि) रत्नत्रय को (गुणाधिपाः) गुणों के आगार गणधरादि ने (धर्म) धर्म (प्राहु) कहा है।

भावार्थ—संसार दुःखसागर है। इसमें सर्वत्र विपदाओं का निवास है। इस दुःख सागर से जो पार कर सके वही धर्म है। वह धर्म 'रत्नत्रय' है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होना बोधि है, आत्मस्वरूपोपलब्धि है, यही मुक्ति है। यही परम सुख है। इस सुख के पाने पर पुनः दुःख आ ही नहीं सकता है। सर्वोत्तम सुख जो प्राप्त करावे वही धर्म है ॥२५॥

तत्रादौ पालनीयं हि सम्यक्त्वं भव्यदेहिभिः ।

भूरि संसारवाराशितारणैकक्षमं मतम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (तत्र) उस रत्नत्रय में (आदौ) सर्वप्रथम (भव्यदेहिभिः) भव्यात्माओं द्वारा (सम्यक्त्वम्) सम्यग्दर्शन (पालनीयम्) पालन करना चाहिए क्योंकि (भूरिसंसारवाराशि) बहुत विनाश संसार सागर से (तारणैकक्षमं मतम्) पार करने के लिए एकमात्र वही समर्थ कहा है। अर्थात् सम्यग्दर्शन ही संसार पार उतारने को आधार है ॥२६॥

/ अधिष्ठानं यथाशुद्धं प्रासादस्थितिकारणम् ।

/ तथा तपः क्रियाकाण्डं शृंगारं दर्शनं प्रभो ! ॥२७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (प्रासादस्थितिकारणम्) महल को स्थिति की कारण (अधिष्ठानं) नींव (फाउन्डेशन) है (तथा) उसी प्रकार (प्रभो) हे राजन् (तपः क्रियाकाण्डं-शृङ्गारम्) तप तथा समस्त क्रियाकाण्डों का शृंगार स्वरूप नींव-जड (शुद्धम्) निर्दोष-अती-चार रहित (दर्शनम्) सम्यग्दर्शन (मतम्) माना है ॥२७॥

तत्सम्यक्त्वं भवेत्पुत्रि निश्चयश्चेति मानसे ।

कालेकल्पशतैश्चापि नान्यथा जिनभाषितम् ॥२८॥ युग्मम् ॥

अन्वयार्थ—(पुत्रि) हे पुत्रिके ! (मैंना) (तत्) वह (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (चेति) ही (शृङ्गार) मुख्य है ऐसा (मानसे) मन में (निश्चय) निश्चय करो क्योंकि (कालेकल्पशतैः)

सैकड़ों कल्पकाल बीतने (चापि) पर भी (जिनभाषितम्) जिनेन्द्रभगवान का कथन (अन्यथा) अन्यरूप-असत्य (न) नहीं (भवेत्) होता है ॥२८॥

भावार्थ—मुनिराज ने कहा, हे नृप ! श्रीपाल यह सम्यग्दर्शन रत्नत्रय की नींव है । सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र्य की स्थिति नहीं हो सकती । जिस प्रकार नींव के नहीं डालने पर महल नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का अस्तित्व नहीं रह सकता । हे बेटी ! तुम अपने मन में दृढ़ निश्चय करो कि सम्यग्दर्शन ही मुख्य है । जीवन का शृङ्गार है । रत्नत्रय अमूल्य है और उसमें भी निरतिचार सम्यग्दर्शन अर्थात् पूर्वोक्त २५ दोषों से रहित सम्यक्त्व ही प्रधान है । यह जिनेश्वर की वाणी है । सैकड़ों कल्पकाल बीतने पर भी जिनवाणी कभी भी अन्यथा हो । नहीं सकती । ऐसा तुम अपने मन में दृढ़ श्रद्धान करो । और भी कृपासिन्धु मुनिराज कह रहे हैं ।

पुनस्ते तस्य सद्भेदान् सम्यक्त्वस्य गदाम्यहम् ।

श्रूयतां वत्स भो पुत्रि सुखकोटिविधायकान् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(वत्स !) हे वत्सल राजन् (भो पुत्रि) हे पुत्रि (पुनः) और भी (ते) आपके लिए (तस्य) उस (सम्यक्त्वस्य) सम्यग्दर्शन के (सुखकोटिविधायकान्) करोड़ों सुखों को प्रदान करने वाले (सद्भेदान्) उत्तम-वास्तविक (भेदान्) भेदों को (अहम्) मैं (गदामि) कहता हूँ ।

भावार्थ—राजा-रानी (श्रीपाल-मैना) को सम्बोधित करते हुए आकस्मिक वैद्य स्वरूप मुनीश्वर पुनः कह रहे हैं कि हे वात्सल्यमयी पुत्र-पुत्री ! इस सम्यग्दर्शन के अनेक भेद हैं । सभी करोड़ों सुख देने वाले हैं । मैं उन भेदों का निरूपण करता हूँ । आप दोनों ध्यान से सुनिये ॥२९॥

देवोऽर्हन्द्दोषनिर्मुक्तो धर्मोऽयं दशधा स्मृतः ।

निर्ग्रन्थोऽसौ गुरुश्चेति श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥३०॥

अन्वयार्थ—(दोषनिर्मुक्तः) अठारहदोष रहित (अर्हन्) चारवातिया कर्मों का नाश करने वाले अर्हन्त भगवान (देवः) देव हैं (दशधा) उत्तमक्षमादिरूप दश प्रकार का (अयम्) यह (धर्मः) धर्म (स्मृतः) माननीय है (तथा च) और (निर्ग्रन्थो) बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार परिग्रह रहित दिगम्बर मुनि (असौ) ये ही (गुरुः) गुरु हैं (इति) इस प्रकार (श्रद्धा) अटल विश्वास (सम्यक्त्वम्) सम्यग्दर्शन (उच्यते) कहा है ।

भावार्थ—प्रथम परिच्छेद में वर्णित १८ दोषों से रहित, चारवातियाकर्मों के उच्छेदक ४६ गुणगणमण्डित अर्हन्त भगवान ही सत्यार्थ देव हैं, दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्गा इस प्रकार चौबीस परिग्रहों से रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज ही सच्चे गुरु हैं, उत्तम क्षम, मार्दव, आज्ञा, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये

दस धर्म हैं । इस प्रकार इनका एकद्वय श्रद्धा ज्ञान सम्यग्दर्शन कहलाता है यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप है । यह सम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व का हेतु है—कारण है ॥३०॥

जिनोक्तसप्ततत्त्वानां ज्ञातुमिच्छाभवेद्रुचिः ।

या सा श्रद्धा तदेव स्यात्सम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(या) जो (जिनोक्त) जिनभगवान से कथित (सप्ततत्त्वानां) जीवादि सात तत्त्वों की (ज्ञातुम्) जानकारी की (इच्छा) इच्छा (रुचिः) प्रीति (भवेत्) होती है । (सा) वह (श्रद्धा) श्रद्धा है (तदेव) वह श्रद्धा ही (भव्यदेहिनाम्) भव्यप्राणियों का (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (भवेत्) होता है ।

भाषार्थ—द्रव्यानुयोग की दृष्टि में जिनेन्द्र कथितजीवादी सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा रुचि है । उन तत्त्वों में श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है । यह सम्यक्त्व भव्य जीवों के ही होता है । अभव्यों के सम्यग्दर्शन प्रकट होने की योग्यता ही नहीं होती है ॥३१॥

निशङ्कितादिभिर्गुप्तं सम्यक्त्वं चाष्टभिर्गुणैः ।

पापं निहन्ति भव्यानां सन्मन्त्रो वा विषं ध्रुवम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वा) जिस प्रकार (सन्मन्त्रः) श्रेष्ठ मन्त्र (ध्रुवम्) निश्चय से (विषम्) विष को नष्ट कर देता है (वा) तथा उसी प्रकार (निशङ्कितादिभिः) निःशङ्कितादि (अष्टभिर्गुणैः) आठ गुणों से (युक्तम्) सहित (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन भी (भव्यानाम्) भव्य जीवों के (पापम्) पापकर्म (च) और (विषम्) कटु कर्मफल को (निहन्ति) नष्ट कर देता है ।

भाषार्थ—भव्य प्राणियों को सम्यग्दर्शन अच्छी औषधि है । जिस प्रकार वास्तविक मन्त्र से भयङ्कर से भयङ्कर भी दुष्कर्म-पापकर्म से उत्पन्न विष नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार अष्ट अङ्गों से परिपूर्ण सम्यग्दर्शन भी भव्यजनों के पापङ्कुरों को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है । वर्षों से संचित की रई को एक हल्की सी अग्नि क्षणमात्र में भस्म कर देती है । ठीक इसी प्रकार भव्य-भवान्तरों में सञ्चित पापकर्म समूह अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन द्वारा क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है ॥३२॥

सम्यक्त्वेन युतो जीवस्त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ।

तद्विना व्रतयुक्तोऽपि संसारो नात्र संशयः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वेन युतो) सम्यग्दर्शन से सहित (जीवः) जीव (त्रैलोक्याधिपतिः) तीन लोक का नाथ है (भवेत्) हो जाता है (तद्विना) सम्यक्त्व रहित (व्रतयुक्तोऽपि) व्रतों से सहित होने पर भी (संसारो) संसारी ही रहता है (अत्र) इसमें (न संशयः) संदेह नहीं ।

भावार्थ—कोई मनुष्य कितने ही व्रत पालन करे, जप करता रहे, उपवासादि कर कायक्लेश भी करे, अनेकों उपसर्ग भी सह ले, किन्तु यदि उसके सम्यक्त्व नहीं है तो ये समस्त क्रियायें, संसारवर्द्धक ही हैं । अर्थात् कर्मनाश करने और सुख देने की साधक नहीं हो सकती हैं । सम्यग्दर्शन सहित थोड़े भी व्रत, जप तपादि अनुष्ठान आत्मसिद्धि के कारण होते हैं । सम्यक्त्वी जीव ही मुक्ति पाता है । तीन लोक का नाथ बन सकता है ॥३३॥

सदृष्टिबन्धनिर्मुक्तः स्त्रीनपुंसकतां तथा ।

दुर्गत्यादीनि दुःखानि नैव प्राप्नोति संसृता ॥३४॥

अन्वयार्थ—(सदृष्टिः) सम्यग्दृष्टि प्राणी (बन्धनिर्मुक्तः) कर्मबन्ध रहित हुआ (तथा) तथा—उसी प्रकार (दुर्गति) नरक, तिर्यञ्च (आदीनि) इत्यादि के (दुःखानि) दुःखों को (संसृतां) संसार में (नैव) नहीं ही (प्राप्नोति) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनयुक्त जीव नरकगति और तिर्यञ्च गति में नहीं जाता । पूर्ववद्ध आयुष्क है तो प्रथम नरक के नीचे नहीं जाता । तिर्यञ्चों में जाना होगा तो भोग भूमि का पुरुषतिर्यञ्च ही होगा । वद्धायुष्क का अर्थ है कि किसी मनुष्यादि ने पहले नरक या तिर्यञ्च आयु का बन्ध कर लिया और पुनः उसने शुभभावों-शुभकार्यों से सम्यग्दर्शन ग्रहण किया तो प्रथम नरक के नीचे नहीं जायेगा और कर्म भूमि का तिर्यञ्च भी नहीं होगा ॥३४॥

किन्तुच्चैर्देवमानुष्यभयैः कश्चित्सुखावहैः ।

भुक्त्वा सुखं जगत्सारं संप्राप्नोति शिवास्पदम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—(किन्तु) नरक, तिर्यक् गति रहित (कश्चित्) कुछ (सुखावहैः) सुख को देने वाले (देवमानुष्यभयैः) देव और मनुष्यभयों द्वारा (जगत्सारम्) संसार में सारभूत (सुखम्) सुख को (भुक्त्वा) भोगकर (शिवास्पदम्) मोक्षपद को (संप्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—जो प्राणी निर्मल सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है वह दुर्गति का पात्र नहीं होता । देव और मनुष्यभय के कुछ भयों को धारण करता है । उनमें भी संसार जन्य-सारभूत विषय सुखों को पुण्य की बलवत्ता से भोगकर शीघ्र ही अमरपद-मोक्षपद प्राप्त कर लेता है । ॥३५॥

इति सूक्तं महाभयैस्सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ।

पालनीयं जिनेन्द्रोक्तं संसाराम्भोधि तारणम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (सूक्तम्) सम्यक् प्रकार कथन है कि (मुक्तिकारणम्) मोक्ष का कारण (संसाराम्भोधि) संसार सागर को (तारणम्) तारने वाले (जिनेन्द्रोक्तम्)

जिनभगवान द्वारा कथित (सम्यक्त्वम्) सम्यग्दर्शन (महाभव्येः) उत्तम भव्यों द्वारा (पालनीयम्) पालने योग्य है ।

भावार्थ—साश्वत सुख के इच्छक महापुरुषों को सम्यग्दर्शन पालने योग्य है क्योंकि यह सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण है, संसार सागर को पार कराने वाला है श्री सर्वज्ञदेव स्वामी द्वारा कहा गया है ॥३६॥

ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरांसम्यक्त्वरत्नंहृदि ।

श्रीमज्जैनपदाब्ज चिन्तनरता निःशङ्किताद्यैर्गुणैः ॥

दुर्गत्यादि समस्तदोषहरणं सत्सम्पदा कारणम् ।

तेषां सङ्गममाश्रयन्ति मुदिताः स्वर्गापवर्गश्चियः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(श्रीमज्जैनपदाब्जचिन्तनरता-परा) श्रीमज्जिनेन्द्रभगवान के चरणकमलों के ध्यान में लीन रहने वाले (ये) जो (भव्याः) भव्य जीव(नितराम्) पूर्णरूप से (दुर्गत्यादि-समस्त दोष हरणम्) दुर्गतियों के सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने वाले (सत्सम्पदा) उत्तम सम्पत्ति के (कारणम्) कारण स्वरूप (सम्यक्त्वरत्नम्) सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को (हृदि) हृदय में (निःशङ्किताद्यैर्गुणैः) निःशङ्कित आदि आठ अंगों और संवेगादि आठगुणों सहित (प्रतिपालयन्ति) सम्यक् प्रकार पालन करते हैं (तेषां) उनके (सङ्गमम्) सङ्गम को (मुदिताः) आनन्दित हुयी (स्वर्गापवर्गश्चियः) स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी (आश्रयन्ति) आश्रय करती हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन अमूल्यरत्न है । आत्मा का स्वभाव है । आत्मा में ही आत्मा द्वारा इसका उदय होता है । यद्यपि बाह्य निमित्त भी परमावश्यक हैं । एक बार भी इसकी प्राप्ति हो जाय तो जीव अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार में नहीं रह सकता । निरतिचार सम्यक्त्व पूर्वक समाधिमरण करने वाला भव्यात्मा ७-८ भव से अधिक भव धारण नहीं करता । क्षायिक सम्यग्दर्शित तो अधिक से अधिक चौथे भव में मुक्ति प्राप्त करता ही है । उसी भव से भी मुक्त हो सकता है । इसके माहात्म्य से दुर्गतियों नरक तिर्यञ्च का नाश हो जाता है । दुःखों का अन्त होता है । स्वर्ग और मुक्ति श्री वरमाला लिए लालायित रहती है । अतएव भव्य जीवों को सम्यक्त्व की कारणभूत जिनचरणपद्म भक्ति निरन्तर करते रहना चाहिए । एकमात्र जिनभक्ति ही, जिनदर्शन को जो निशङ्कितादि आठ अङ्ग और संवेगादि आठ गुणों से सहित तथा २५ दोष रहित पालन करता है उसके सर्व सङ्कट कटते हैं, सांसारिक वैभव भोगकर निःश्रेयश पद प्राप्त होता है ।

॥इति दर्शनाधिकारः ॥शुभमस्तु॥

अथ ज्ञानाधिकारः कथ्यते—

यज्ज्ञानं श्रीजिनेन्द्रोक्तं विरोधपरिवर्जितम् ।

तज्ज्ञानं शर्मदं नित्यं संसाराब्धि तरण्डकम् ॥१॥

सञ्ज्ञानं लोचनं प्रायं सततं सर्वदेहिनाम् ।

तत्प्रमादं समुत्सृज्य संश्रयन्तु सुखार्थिनः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यज्ज्ञानम्) जो ज्ञान (विरोधपरिवर्जितम्) पूर्वापरविरोध से रहित (शर्मदम्) शान्तिदायक (नित्यं) सतत (संसारान्वितरण्डकम्) संसार सागर तिरने को नौका है (तद्) वही (क्षीजिनेन्द्रोक्तम्) श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ (ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान है, (तत्) वह (सञ्ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान (प्रायम्) प्राय करके (सर्वदेहिनाम्) समस्त शरीर धारियों का (सततम्) सदाकाल (लोचनम्) नेत्र है (सुखार्थिनः) सुखेच्छाओं को (प्रमादम्) आलस्य (उत्सृज्य) छोड़कर (तत्) उस ज्ञान का (संश्रयन्तु) सम्यक्प्रकार आश्रय करना चाहिए ।

भावार्थ—जो ज्ञान संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय से रहित है, जिसमें पूर्वापर-आगे-पीछे विरोध उत्पन्न नहीं होता उसे जिनेन्द्र प्रभु ने सम्यक्ज्ञान कहा है । जो ज्ञान अनेक कोटियों का स्पर्श करे वह संशय है यथा सफेद वस्तु में यह चाँदी है या सीप है इत्यादि संदेह रूप ज्ञान होना । विपरीत वस्तुज्ञान को विपर्यय कहते हैं यथा चाँदी को सीप, दूध को मट्ठा आदि जानना । कोई भी निर्णय न हो उस ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं यथा चलते समय तिनके आदि का स्पर्श होने पर कुछ है ऐसा आभास होना । ये तीनों ज्ञान दोष हैं । इनमें से कोई भी दोष न हो वही सम्यग्ज्ञान है ऐसा आर्हत मत में कहा है । यह ज्ञान स्वपर प्रकाशक होता है । मोहान्धकार का नाश करता है, अन्तरङ्ग विवेक-हेयोपादेय बुद्धि को प्रकट करता है । अतः इसे "नेत्र" कहा है । बाह्य चर्म चक्षुओं से पदार्थ का यथार्थ ज्ञान सतत नहीं होता और सम्पूर्णरूप से भी नहीं होता । परन्तु सम्यग्ज्ञान नित्य, सदैव, वरन्तु तत्त्व का निर्णायक होता है । अतः सर्वज्ञ प्रणीत आगम में इसे तीसरा नेत्र कहा है । यही सम्यक्-सच्चा ज्ञान है । ॥१-२॥

यत्र काव्यपुराणेषु चरित्रेषु विशेषतः ।

अहिंसा परमोधर्मस्तत्संज्ञानं बुधोत्तमम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिन (काव्यपुराणेषु) काव्य पुराणों में (विशेषतः) विशेषरूप से (चरित्रेषु) चरित्रवर्णित शास्त्रों में (अहिंसा परमोधर्मः) अहिंसा परम धर्म निरूपण है (तत्) वही (संज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान है (बुधोत्तमम्) विद्वानों में श्रेष्ठ भव्यों को (आश्रयन्तु) आश्रय करना योग्य है ।

भावार्थ—काव्य ग्रन्थ हो, पुराण हो अथवा चरित्र-वैसठणलाका पुरुषों का चरित्र निरूपण करने वाले शास्त्र हों, जिनमें अहिंसा को परमधर्म कहा है वे ही सम्यक् काव्य, पुराण, चरित्र । ये ही हैं सम्यग्ज्ञान के हेतू हैं । स्वयं सम्यग्ज्ञान ही है । कारण में कार्य का उपचार कर, ज्ञान के कारण आगम को भी सम्यग्ज्ञान कहा है यथा "अन्नं यं प्राणः" प्राण-धारण का कारण अन्न को भी प्राण कहा जाता है ॥३॥

मन्त्र तन्त्रादिभिर्वत्र पशूनां हिंसनं मतम् ।

तत्कुज्ञानं सदा त्याज्यं नरकादिगति प्रदम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ जिनग्रन्थों में (मन्त्रतन्त्रादिभिः) मन्त्र, तन्त्रों के द्वारा (पशूनां) पशुओं का (हिंसनम्) वध करना (मतम्) धर्म माना है (तत्) वह (कुज्ञानम्) मिथ्याज्ञान (नरकादिगति) नरकादि दुर्गतियों को (प्रदम्) देने वाला (सदा) हमेशा, सर्वथा (त्याज्यम्) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ जो वेद पुराण प्राणि वध का निरूपण करते हैं । हिंसा को धर्म कहते हैं । मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग कर पशुयज्ञ में होमे जाने वाले जीवों को कष्ट नहीं होता, वे स्वर्ग में जाते हैं इत्यादि असत् कथन करते हैं वे सब मिथ्याशास्त्र हैं । दुःख के कारण हैं । प्रत्यक्ष जीवों को दुःख उत्पन्न होता देखा जाता है, उसका लोप कर मिथ्या प्रचार करने वाले दुर्गतियों के कारण हैं । घोर नरक में ढकेलने वाले हैं । उभय लोक में महादुःख देने वाले हैं । इस प्रकार विधिमियों के द्वारा कथित शास्त्र मिथ्या हैं, मिथ्याज्ञान के हेतु-कारण हैं, वृद्धि भ्रष्ट करने वाले, अधर्म के पोषक हैं । इन का सर्वथा सर्वदा त्याग करना चाहिए । अर्थात् हिंसा लोचक पुस्तकों को कभी भी पढ़ना नहीं चाहिए ॥४॥

किं बहुनोक्तेन भो भव्यास्सद्ज्ञानं शर्मकोटिदम् ।

स्वदेशे परदेशे च सुज्ञानं पूज्यते यतः ॥५॥

अन्वयार्थ—(भो भव्यः) हे भव्य ! (बहुनोक्तेन) अधिक कहने से (किं) क्या ? (सद्ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान (शर्मकोटिदम्) करोड़ों सुखों को देने वाला (च) और (स्वदेशे) अपने देश में (परदेशे) अन्य दूसरे देश में (यतः) क्योंकि (सुज्ञानम्) सम्यग्ज्ञान (पूज्यते) पूज्य होता है । मान्य होता है ।

भावार्थ—आचार्य श्री कहते हैं, हे भव्यात्मन् राजन्, हम अधिक क्या कहें ? यह सम्यग्ज्ञान करोड़ों सुखों का देने वाला है । यही नहीं अपने देश में और परदेश में सर्वत्र पूज्य माना जाता है । यथार्थ वस्तुस्वरूप निरूपण में विवाद नहीं होता, सत्य सर्वमान्य होता है । सम्यग्ज्ञान सतत् वस्तुयाथात्म्य का निष्पाक होता है, अतः सर्वत्र मान्यता प्राप्त करता है यथा दो और दो मिलकर चार होते हैं यह विश्वमान्य है क्योंकि सत्य है । अतः सम्यग्ज्ञान सदैव सर्वत्र पूज्य होता है ॥५॥

सद्ज्ञानशून्यैर्बहुभिस्तपोभिः संक्लेशलाक्ष्यैर्बहुभिर्भवंश्च ।

यत्पापमाहंतुमशक्यमज्ञैस्तद्धन्यते चैकभवेन सद्ज्ञैः ॥६॥

अन्वयार्थ—(सद्ज्ञानशून्यैः) सम्यग्ज्ञानरहित (अज्ञैः) अज्ञानियों द्वारा (यत्) जो (पापम्) पाप (बहुभिर्भवं) अनेकों भवों के (संक्लेशलाक्ष्यैः) लाखों कष्टों द्वारा (च) और

(बहुभिर्जनोभिः) अनेकों तपो द्वारा (आहन्तुम्) नष्ट करना (अशक्यम्) अशक्य (सद्) वह पाप (सद्ज्ञैः) सम्यग्ज्ञानियों द्वारा (एकभवेन) एक ही भवद्वारा (हस्यते) नष्ट कर दिया जाता है ।

भावार्थ—जिस पापकर्म को अज्ञानी करोड़ों भवों में, लाखों क्लेश उठाकर, अनेक प्रकार मिथ्यतप कर नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकते, उस कर्म को ज्ञानी जीव एक ही भव में नष्ट कर देता है । सम्यग्ज्ञान की अचिन्त्य महिमा है और अपरिमित शक्ति है ॥६॥

वाचनापृच्छनाप्रायैः स्वाध्यायैः पञ्चभिस्सदा ।

जैनज्ञानं दयाध्यानं समाराध्यं विचक्षणैः ॥७॥

अन्वयार्थ—(प्रायैः विचक्षणैः) प्रायःकरके बुद्धिमानों के द्वारा (वाचना, पृच्छना) वाचना, प्रश्न पूछना आदि (पञ्चभिः) पाँच प्रकार की (स्वाध्यायैः) स्वाध्यायों द्वारा (सदा) हमेशा (जैनं) जिनधर्म (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (दया) दयाधर्म (ध्यानं) ध्यान (समाराध्यम्) आराधन करने योग्य है ।

भावार्थ—जैनागम में स्वाध्याय के ५ भेद कहे हैं—१. वाचना—सर्वज्ञ-प्रणीत शास्त्रों का पढ़ना २. पृच्छना—तत्त्वों के परिज्ञानार्थ विशेषज्ञों से प्रश्न पूछना ३. अनुप्रेक्षा—ज्ञात तत्त्वों या प्रश्नों का बार-बार चिन्तन करना, ४. आम्नाय—घोखना या कण्ठ करना और ५. धर्मोपदेश—भव्यों को धर्म का उपदेश करना । इन पाँचों प्रकार के स्वाध्यायों से अपने धर्म, ज्ञान, दान, ध्यान, दया के स्वस्व को समझना चाहिए । विचक्षण पुरुषों का कर्त्तव्य है पाँचों प्रकार के स्वाध्यायों का सतत् यथायोग्य अभ्यास कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करे ॥८॥

ज्ञानं निर्वृत्तिसाधनं जिनमते ज्ञानं जगद्योतकम् ।

ज्ञानं संशय मोहविभ्रमहरं संसेव्यतां सज्जनाः ॥९॥

अन्वयार्थ—(जिनमते) जैनमत में (ज्ञानं) ज्ञान (निर्वृत्तिसाधनम्) वैराग्य का साधन (ज्ञानम्) ज्ञान (जगद्योतकम्) जगत का प्रकाशक और (ज्ञानम्) ज्ञान ही (संशय, मोह, विभ्रम्) संदेह, अज्ञान, अनध्यवसाय (हरम्) नाशक है अतः (सज्जनाः) सत्पुरुषों को (संसेव्यताम्) भले प्रकार सेवन करना चाहिए ।

भावार्थ—जिनशासन में सम्यग्ज्ञान वैराग्य का साधन कहा है । सम्यग्ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो—केवल ज्ञान तीनों लोकों का प्राप्त को युगपत्-एकसाथ प्रकाशक होता है । संशय सन्देह, अज्ञान और विभ्रम का नाश करने वाला होता है । सुमुक्षुओं को इसी प्रकार का ज्ञान आराधन करने योग्य है । यही सेवनीय है । अर्थात् जिनागम में वही सम्यग्ज्ञान है जिसकी प्राप्ति से संसार शरीर भोगों से विरक्ति हो, सम्यक् चरित्र धारण, पालन और वर्द्धन की योग्यता प्राप्त

हो । जानी यदि चारित्र शून्य हो तो वह कोरा ज्ञान पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता । चारित्र की परिपक्वता ज्ञान की पूर्णता का समर्थ कारण है । अतः चारित्र अत्यावश्यक है ॥८॥

॥ इति ज्ञानाधिकारः ॥

अथ सम्यक् चारित्र का स्वरूप कहने हैं —

चारित्रं च द्विधा प्रोक्तं मुनि श्रावकगोचरम् ।

मुनीनां महदित्युच्चैः श्रावकाणामणूच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ—(मुनि श्रावक गोचरम्) दिगम्बर साधु और श्रावक की अपेक्षा (चारित्रम्) सम्यक् चारित्र (द्विधा) दो प्रकार का (प्रोक्तम्) कहा है (मुनीनाम्) मुनियों का चारित्र (महत्) महाव्रत रूप (च) और (श्रावकाणाम्) श्रावकों का (अणुः) अनुव्रतरूप (इति) इस प्रकार (उच्चैः) विशेषज्ञों द्वारा (उच्यते) कहा गया है ॥१॥

भावार्थ—चारित्र के दो भेद हैं । १. महाव्रत रूप और २. अणुव्रत रूप । मुनियों का चारित्र महाव्रत रूप है और श्रावकों का अणुव्रत रूप । अर्थात् सकल संयम और देशसंयम के भेद से चारित्र दो प्रकार है । छठवें गुण स्थान से सकल संयम चारित्र होता है और पाँचवें गुणस्थान में देशसंयम-अणुव्रतरूप चारित्र होता है ॥१॥

हिंसादिषञ्चपापानां सर्वथा त्यागतो महत् ।

मुनीनां शुद्धचारित्रमुत्कृष्टं मुक्तिसाधनम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(हिंसादिषञ्चपापानाम्) हिंसादि पाँच पापों का (सर्वथा) पूर्णरूप से (त्यागतः) त्याग करने से (मुनीनाम्) मुनियों के (महत्) महाव्रतरूप (मुक्तिसाधनम्) साक्षात् मुक्ति का साधक (शुद्ध) निर्मल, निरतिचार (उत्कृष्टम्) पूर्ण (चारित्रम्) चारित्र (भवति) होता है ।

भावार्थ—हिंसा, भूँड, चोरी, अब्रह्म और मूर्च्छा-परिग्रह ये पाँच पाप हैं । इन पाँचों पापों का नवकोटि (मन, वचन, काय कृत कारित, अनुमोदना = $3 \times 3 = 9$) से पूर्ण रूप से त्याग करना महाव्रत कहलाता है । मुनिराज ही महाव्रतधारी होते हैं । निर्ग्रन्थ वेषधारी हुए बिना सकल चारित्र पालन हो नहीं सकता । शुद्ध निश्चय चारित्र ही साक्षात् मुक्ति का साधक है । व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का साधक है । मुमुक्षु को सकलसंयम शुद्ध चारित्र धारण करना ही होगा अन्यथा न आत्मशुद्धि हो सकती है और न मुक्ति ही । आजकल जो एकमात्र ज्ञान का महत्त्व बतलाकर चारित्र से स्वयं विमुख हो रहे हैं और भोली समाज को भी चारित्र विहीन बनाने की असफल चेष्टा करते हैं यह उनकी नितान्त भूल है । समाज को भी सावधान रहना चाहिए सोनगढी और जयपुर ट्रस्ट के लोगों से । ये दोनों एक ही हैं एकान्तवाद सांख्य मत के प्रचारक । ये अमेकान्त के नाम पर चार्वाक सिद्धान्त का पोषण करना चाहते हैं जो निश्चयात् है और अनन्त संसार का कारण है ॥२॥

एकदेशेन हिंसादि त्यागादणुसमाहृतम् ।

श्रावकानां व्रतं पूतं स्वर्गादि सुखदायकम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(हिंसादि) हिंसादि पाँच पापों का (एकदेशेन) एक देशरूप से (त्यागात्) त्याग करने से (स्वर्गादि सुखदायकम्) स्वर्गादिक के सुखों को देने वाला (श्रावकानाम्) श्रावकों गृहस्थों का (पूतं) पवित्र (अणु) अणु (व्रतम्) व्रत (समाहृतम्) कहा गया है ।

भावार्थ—उपर्युक्त हिंसादि पाँच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है । इनका पालन श्रावक करते हैं । गृहस्थ सर्वथा आरम्भ परिग्रह के त्यागी हो नहीं सकते । अतः वे इनका अंश रूप से त्याग कर सकते हैं । इसीलिए ये अणुव्रत कहलाते हैं । ये व्रत प्रत्यक्ष-साक्षात् स्वर्गादि वैभव, सुख, सामग्री के दाता हैं तथा परम्परा से मोक्ष के हेतु हैं । इन पवित्र व्रतों का पालन करना प्रत्येक श्रावक श्राविका का अनिवार्य कर्तव्य है ॥३॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि संक्षेपेण सुखप्रदम् ।

चारित्र्यं श्रावकाणां हि लोकद्वय हितावहम् ॥४॥

अन्वयार्थ—आगे श्री गुरु मुनिराज कहने लगे—(लोकद्वयहितावहम्) उभयलोक इहलोक और परलोक दोनों में हित करने वाले (सुखप्रदम्) सुख को देने वाले (श्रावकाणाम्) गृहस्थों के (चारित्र्यम्) चारित्र्य को (हि) निश्चय से (अहं) मैं आचार्य श्री (संक्षेपेण) संक्षेप में थोड़े रूप में (तत्) उसे (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ।

भावार्थ—आचार्य श्री श्रावक धर्म का उपदेश करने की प्रतिज्ञा करते हैं । श्रीपाल और मैनासुन्दरी से कहते हैं कि इस समय मैं आप लोगों को श्रावकाचार का उपदेश देता हूँ । यह उभयलोक में आपका जीवों का कल्याण करने वाला है । संक्षेप में उसका स्वरूप समझा-ऊँगा । यह सुख का बीज है । क्रमशः मुक्तिरूपी फल को देने वाला है ॥४॥

इन्द्र नागेन्द्रचक्रयादिपदं यस्मात्समाप्यते ।

तच्चारित्र्यं जिनैः प्रोक्तं जयतात्सर्वं देहिनाम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिससे (इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्त्यादिपदम्) इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि पद (सर्वदेहिनाम्) समस्त भव्यजीवों को (समाप्यते) भले-प्रकार प्राप्त होने हैं (तत्) वह (जिनैः) जितेन्द्रभगवान (प्रोक्तम्) कथित (चारित्र्यम्) सम्यक्चारित्र्य (जयतात्) जयवन्त होवे ।

भावार्थ—यह श्रावकाचार अणुरूप सम्यक् चारित्र्य गृहस्थ-श्रावकों को इन्द्र, धरणेन्द्र षट्खण्डाधिपतित्व (चक्रवर्ती) त्रिखण्डाधिपति (नारायण) बलदेव, कामदेव, यहाँ तक कि तीर्थकरपद भी प्रदान करने में समर्थ है । इसके निरूपक श्री सर्वज्ञ जितेन्द्र प्रभु हैं । अतः यह कथन पूर्णतः प्रमाणित और सत्य है । इस प्रकार का यह सम्यक् चारित्र्य निरन्तर जयशील

हो अब इस आवकाचार चारित्र की विधि सुनों में यथायोग्य संक्षिप्त रूप में वर्णन करता हूँ ॥१५॥

मकारत्रय संत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।

आवकाणां पुरा प्राहुस्सन्तो मूलगुणाष्टकम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(उदुम्बरपञ्चकैः) पाँच उदुम्बरफलों के (सह) साथ (मकारत्रय) तीकमकारों का (संत्यागः) पूरातः त्याग करना (आवकाणाम्) आवकों के (अष्टकम्) आठ (मूलगुणः) मूलगुण (पुरा) पहले (सन्तः) साधुजन या आचार्य (प्राहुः) कहते हैं ।

भावार्थ—पाँच उदुम्बर फल —बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर के साथ तीन मकार—मद्य, मांस और मधु का त्याग करना आवकों के आठ मूलगुण हैं इनका स्वरूप प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है । फिर भी यहाँ इनके दोषों का विशेष निरूपण आचार्य कर रहे हैं ॥१६॥ वह निम्न प्रकार है

नामतोऽपि पलं त्याज्यं सद्भिः पापशतप्रदम् ।

यत्कुले तत्कुलं पूज्यं पवित्रीकृत भूतलम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(यत्कुले) जिस कुल में (पापशतप्रदम्) सैकड़ों पापों का उत्पादक (पलम्) मांस (नामतोऽपि) नाममात्र से भी (सद्भिः) विद्वानों द्वारा (त्याज्यम्) त्याग्य होता है (तत्कुलं) वह कुल (भूतलम्) पृथ्वीतल को (पवित्रीकृतम्) पवित्र करने वाला (पूज्यम्) पूज्य है ।

भावार्थ—जिस कुल-वंश में मांस का नाम भी उच्चारण नहीं होता, पाप समझा जाता है वह कुल महान् पवित्र होता है । यही नहीं वह अपनी पावनता से समस्त पृथ्वी भण्डल को भी पवित्र बना देता है । वस्तुतः वह कुल पूज्य होता है ॥१७॥

वारुणीवर्जिनीया हि कुलादिक्षयकारिणी ।

या च दुःखप्रदा प्रोक्ता सद्भिवैतरणी यथा ॥१८॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (कुलादिक्षयकारिणी) कुल, वंश, जाति का नाश करने वाली (च) और (या) जो मदिरा (सद्भिः) सज्जनों द्वारा (यथा वैतरणी) जिस प्रकार वैतरणी नदी है उस प्रकार (दुःखप्रदा) दुःखदायी (प्रोक्ता) कही गई है (सा) वह शराव (वर्जिनीया) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—जिस प्रकार लोक में व आगम में नरकों में वैतरणी नदी को अनेक दुःखों का कारण माना जाता है उसी प्रकार सत्पुरुषों द्वारा मदिरापान महाभयङ्कर दुःखों की कारण बतायी गयी है । यह कुल का संहार करने वाली है । कुल को कलङ्कित करती है और जीवन

को भ्रष्ट करती है। विवेक को नष्ट कर जीव का कुगति का पात्र बनाती है। इसी भव में मद्यपायी को महा दुर्दशा प्रत्यक्ष देखी जाती है। गन्दे नालों में, गलियों में नष्ट में उन्मत्त बेहोश पड़े रहते हैं। उनके मुँह में कुत्ते भी भूत्र कर जाते हैं। मदभ्रम में उस वे अमृत समझ पान करते हैं। अतः इस प्रकार की निकृष्ट वस्तु सज्जनों को सर्वथा त्याज्य है। सर्व दुखों की खान शराव का सेवन कभी नहीं करना चाहिए ॥८॥

मक्षिका-वमनं नित्यं मधुत्याज्यं विचक्षणैः ।

जन्तुकोटिभिराकीर्णं प्रत्यक्षं कलिकाकृतिम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षम्) स्पष्ट (मक्षिकावमनम्) मक्खियों का वमन (कोटिभिः) करोड़ों (जन्तु) जीवों से (आकीर्णम्) भरा हुआ (कलिका) अण्डों से (आकृतिम्) व्याप्त (मधु) शहद (विचक्षणैः) विद्वानों द्वारा (नित्यम्) सदा (त्याज्यम्) त्यागने योग्य है।

भावार्थ—मधु मधुमक्खियों का वमन है। मक्खियाँ पुष्पों का पराग ला लाकर इकट्ठा करती हैं। उस रस में करोड़ों जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उन मक्खियों को बच्चे और अण्डों से वह भरा रहता है। वे सभी जीव जन्तु उस मधु के दूध से मधु निकालने पर मर जाते हैं। अतः प्रत्यक्षरूप में वह मधु अनन्त जीवों का कलेवर है। विचारशीलों द्वारा सतत सर्वथा त्यागने योग्य है। महा हिंसा का कारण है ॥९॥

वटादिपञ्चकंपापं वित्वादीनां हि भक्षणम् ।

जन्तवो यत्र विद्यन्ते तत्त्याज्यं दुःखकारणम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(वटादिपञ्चकंपापम्) वड, पीपलादि पञ्चउदम्बर पापरूप (वित्वा-दीनाम्) विल्व, कन्दमूलादि (हि) निश्चय से (यत्र) जिन २ पदार्थों में (जन्तवः) प्राणीसमूह (विद्यन्ते) रहते हैं (तत्) वह (दुःखकारणम्) दुःख के कारण भूत (भक्षणम्) खाने वाले पदार्थ (त्याज्यम्) त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ—वडफल, पीपलफल, आलू, गाजर, मूली, बेलगिरि आदि अन्य भी फलादि पदार्थ त्यागने योग्य हैं क्योंकि ये अनन्त जीवों के घात के कारण हैं। अर्थात् ये अनन्तकाय जीवों से भरे होते हैं उनके भक्षण से वे जीव मर जाते हैं जिससे घोर पाप होता है। अतः प्राणिवध के कारणभूत समस्त पदार्थ धर्मात्माओं द्वारा त्याज्य हैं ॥१०॥

तथा चर्माश्रितं तोयं तैलं हिंगु घृतं त्यजेत् ।

सुधीर्जनमते दक्षो नित्यं मांसं विशुद्धये ॥११॥

अन्वयार्थ—(तथा) और भी उसी प्रकार के (चर्माश्रितम्) चर्म में रखे हुए (तोयम्) जल (तैलम्) तैल (हिंगु) हींग, (घृतम्) घी आदि को (मांसविशुद्धये) मांस त्यागव्रत की

शुद्ध के लिए (जैनामतदक्षः) जैनमत में चतुर—(सुधीः) बुद्धिमानों को (नित्यम्) सदैव (त्याज्यम्) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—जैनशासन के वेत्ता, बुद्धिमानों को चर्म के डब्बे, कुम्पो आदि में स्थापित-
रखे हुए घी, तैल, हींग, जलादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए । चरश, मशक आदि में भरे
पानी का पान नहीं करना चाहिए । क्योंकि इनका सेवन करने से मांस भक्षण का दोष-पाप
होता है । ये पदार्थ मांस त्याग व्रत के अतिचार हैं । निर्दोषव्रत की सिद्धि के लिए इनका सर्वथा
त्याग करना चाहिए । अर्थात् चर्म से स्पर्शित कोई भी वस्तु नहीं खाना चाहिए ॥११॥

शौचायकर्मणो नेष्टं कथं स्नानाविहेतवे ।

चर्मवारि पिवन्नेष व्रती न जिनशासने ॥१२॥

अन्वयार्थ—चर्मवारि (शौचाय) मलमूत्र विसर्जन (कर्मणो) कार्य के लिए (न इष्टम्)
इष्ट नहीं, योग्य नहीं पुनः (स्नानादि) स्नान आदि क्रिया (हेतवे) के लिए (कथम्) किस
प्रकार योग्य है ? (चर्मवारि) चरश-मशक का चमड़े का पानी (पिवन्) पीता हुआ (एषः)
यह पुरुष (जिनशासने) जिनागम में (व्रती) व्रती (न) नहीं होता ।

भावार्थ—चर्म निमित्त चरश या मशक आदि में स्थापित जल मल-मूत्र शुद्धि के लिए
भी योग्य नहीं कहा, फिर स्नान आदि कार्यों में उसका उपयोग कैसे किया जा सकता है ?
अर्थात् नहीं किया जा सकता जो मनुष्य चर्मजल पीता है वह व्रती नहीं हो सकता है, यह
जिनागम का नियम है । अभिप्राय यह है कि व्रती थावक को चमड़े से स्पर्शित जल का किसी
भी कार्य में उपयोग नहीं करना चाहिए । पीना तो पूर्ण निषिद्ध है ही ॥१२॥

तथा सुश्रावकैस्त्याज्या जिनवाक्यपरायणैः ।

हिंसा सांकल्पिकी नित्यं त्रसानां भयकारिणी ॥१३॥

अन्वयार्थ—(तथा) उसी प्रकार (जिनवाक्यपरायणैः) जिनशासन के ज्ञाता (सु-
श्रावकैः) श्रेष्ठ श्रावकों द्वारा (भयकारिणी) भय उत्पन्न करने वाली (त्रसानां) त्रस जीवों की
(सांकल्पिकी) संकल्पी (हिंसा) हिंसा (नित्यं) नित्य-सदा (त्याज्या) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—हिंसा के चार भेद हैं—१. आरम्भी २. उद्योगी ३. विरोधी और ४.
सांकल्पी । इनमें से श्रावक सांकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है । अर्थात् इरादा करके त्रस
जीवों का घात करना सांकल्पी हिंसा है । इसका त्याग गृहस्थ जीवन में हो सकता है अतः
त्यागना चाहिए । जीवघात से स्वयं का घात करने वाला कर्म बंध होता है । हिंसक स्वयं भय
से अस्त रहता है । अतएव त्रस हिंसा भय करने वाली है ॥१३॥

देवतामन्त्रतन्त्रार्थं सर्वथा त्रसदेहिनाम् ॥

हिंसा सांकल्पिकी त्याज्या जैनापक्षोऽयमुत्तमः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देवतामन्त्रतन्त्रार्थम्) देवता, मन्त्र, तन्त्र आदि के निमित्त से भी (वसदेहिनाम) वस जीवों की (सांकल्पिकी) संकल्पी (हिंसा) हिंसा (सर्वथा) पूर्णरूप से (त्याज्या) त्यागने योग्य है (अथम्) यह (जैनपक्षः) जैनमत (उत्तमः) उत्तम है ।

भावार्थ—जैनमत में देवताओं की पूजा बलि आदि के निमित्त से, मन्त्रसिद्धि या तन्त्रादि सिद्धि के लिए भी वस जीवों की हिंसा वर्जित है । क्योंकि पाप सर्वत्र पाप और दुःख का कारण है । इसलिए संकल्पपूर्वक वस घात का सर्वत्र निषेध है । भव्यात्मा श्रावकों को नित्य ही त्यागने का उपदेश दिया है । “मैं इस जीव का घात करूँगा” इस प्रकार का अभिप्राय रखकर जो जो हिंसा कर्म है वह सर्वत्र ही भय और दुःख का हेतु होने से सर्वथा त्यागना चाहिए ।

दयावल्ली सदा सेव्या सतां सद्गतिदायिनी ।

स्वर्गमोक्षफलान्युच्चैर् या ददात्युपकारिणी ॥१५॥

अन्वयार्थ—(या) जो (दयावल्ली) दयारूपी लता (उच्चैः) महान (स्वर्गमोक्ष-फलानि) स्वर्ग और मोक्ष रूप फल को (ददाति) देती है (सा) वह (उपकारिणी) उपकार करने वाली (सद्गतिदायिनी) श्रेष्ठ गति को देने वाली (सताम्) सज्जनों को (सदा) निरन्तर (सेव्या) सेवनीय है ।

भावार्थ—दया वल्ली के समान है । लता में सुन्दर सुखद फूल और फल लगते हैं । दयारूपी लता में स्वर्ग मोक्ष रूपी फल फलते हैं । जो दया का पालन करता है उसे ही स्वर्गादि की विभूति और निश्चयेण भुख प्राप्त होता है । अतः यह परोपकारिणी है, सद्गति देने वाली है । इस प्रकार की दयावल्लरी सज्जनों को निरन्तर सेवन करना चाहिए । अर्थात् दया-भावना हमेशा वृद्धिगत करते रहना चाहिए । जो दयाभाव का निरन्तर सिंचन करता है वही भव्य शीघ्र अजर-अमर पद प्राप्त कर लेता है । जीव रक्षण महान धर्म है ॥१५॥

सत्सम्पद्प्रमदाप्रमोदजननी, विघ्नौघनिर्नाशिनी ।

शान्तिक्षान्तिविशुद्धकीर्ति कमला, सत्सङ्ग संभाषिनी ॥

नित्यं जीवदया जगत्रयहिता, श्रीमज्जिनेन्द्रोदिता ।

भो भव्या भवतां भवाब्धितरणिः कुर्यात्सदामङ्गलम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(सत्सम्पद्प्रमदाप्रमोदजननी) उत्तम सम्पत्ति रूपी कामनी के आनन्द की माता, (विघ्नौघनिर्नाशिनी) विघ्नसमूहों का नाश करने वाली, (शान्ति) शान्त (क्षान्ति) क्षमा (विशुद्धकीर्ति) निर्मलश (विशुद्धकमला) नीतिपूर्वक अर्जित विभूति-लक्ष्मी (सत्सङ्ग) सत्सङ्गति की (संभाषिनी) उत्पन्न करने वाली (जगत्रयहिता) तीनों लोक का हित करने वाली (श्रीमज्जिनेन्द्रोदिता) श्रीजिनेन्द्रभगवान से उदित-कथित (भवाब्धितरणिः) संसार

सागरतिरने को नौकारूप (जीवदया) अहिंसा (भो भव्या) हे भव्य प्राणियों (भवतां) आपका (नित्यं) निरन्तर (सदा) सदैव (मङ्गलम्) मङ्गल-कल्याण (कुर्यात्) करे ।

भावार्थ—यहाँ दयाधर्म का लक्षण कथन समाप्त करते हुए भव्यजनों को आचार्य श्री आशीर्वाद प्रदान करते हैं । जिस प्रकार शीलवती नारी प्रमोद करने वाली होती है, उसी प्रकार दयारूपी प्रमदा उत्तम आनन्द की जननी है । यह दया आगत विघ्नसमूह को नाश करने वाली है । शान्ति को देने वाली है । क्षमा गुण की विधायिका है । विशुद्धकीर्तिलता को फैलाने वाली है । विशुद्ध-निर्मललक्ष्मी की प्रदात्री है । सत्समागम कराने वाली है । दयालु के पास सज्जनों का समागम हो ही जाता है । यह दया तीनों लोकों के प्राणियों का हित करने वाली है । जिनेन्द्रभगवान के मुखारविन्द से निकली है । संसार समुद्र के पार करने को सुदृढ़ जहाज है । नित्य ही कल्याणकारिणी है । इस प्रकार की दया हे भव्यात्मन् प्राणियो आप सबका सदैव कल्याण करे, मङ्गल करे ॥१६॥

सत्यस्वरूप वर्णन:-

सत्यं हितं मितं पथ्यं विरोध परिवर्जितम् ।

वाच्यं कर्णमृतं वाक्यं, विवेकविशदः नरैः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(विवेकविशदः) हेय और उपादेय का विचार करने में चतुर (नरैः) पुरुषों द्वारा (सत्यम्) सच्चे, (हितम्) हितकारक, (मितम्) सीमित, (पथ्यम्) गुणोत्पन्न करने वाले, (विरोध) कलह (परिवर्जितम्) नहीं करने वाले, (कर्णमृतम्) कानों में अमृत-सींचने वाले-मधुर (वाक्यम्) वचन (वाच्यम्) बोलना चाहिए । यही सत्य व्रत है ।

भावार्थ—सत्याणुव्रत का लक्षण समझ आचार्य श्री कहते हैं कि विवेकी, चतुर पुरुषों को सदा हित, मित, प्रिय वाणी बोलना चाहिए । सत्याणुव्रती को कभी भी कलह विसम्बाद होने वाले वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । सबके साथ प्रिय-मधुरवाणी बोलना चाहिए । सत्यभाषण करने से विरोध समाप्त हो जाता है । सत्याणुव्रती अहितकारी असत्यभाषण का त्याग करे ॥१७॥

सत्येन विमलाकीर्तिरसत्येन कमलामला ।

सत्येन परमोधर्मस्सत्येन सुखमुत्तमम् ॥१८॥

{ सत्येन शीतलायाति वन्हिश्चापि भयानकः ।

समुद्रस्थलतामेति शत्रुमिधायते सुते ? ॥१९॥ •

सत्येन परमानन्दो विश्वासः सर्वदेहिताम् ।

तस्मात्सर्वप्रकारेण, सत्यं वाच्यं हितार्थिभिः ॥२०॥ त्रिकुलम्॥

अन्वयार्थ—(सुते !) हे पुत्रि-मदनसुन्दरी ! (सत्येन) सत्य के द्वारा (विमला-कीर्तिः) निर्मलयश (सत्येन) सत्य से (अमला) निर्मल (कमला) लक्ष्मी, (सत्येन) सत्य से

(परमः) उत्तम (धर्मः) धर्म, (सत्येन) सत्यद्वारा (उत्तमम्) उत्तम (सुखम्) सुख, (च) और (सत्येन) सत्यधर्मद्वारा (भयानकः) प्रज्वलित हुयी (बन्धिः) अग्नि (अपि) भी शीतताम्) शीतल (याति) हो जाती है । (समुद्रः) सागर (स्थलताम्) भूमिरूपता को (ऐति) प्राप्त हो जाता है (शत्रुः) अरि (मित्रायते) मित्र बन जाता है । (सर्वदेहिनाम्) सर्व प्राणियों में (विश्वासः) विश्वास (सत्येन) सत्यद्वारा होता है (परमानन्दश्च) और परमानन्द भी (तस्मात्) इसलिए (हितार्थिभिः) हित चाहने वालों को (सर्वप्रकारेण) सर्व-प्रकार से (सत्यम्) सत्य (वाच्यम्) बोलना चाहिए ।

भावार्थ—आचार्यश्री मदनमुन्दरी को सम्बोधन कर सत्यभाषण का माहात्म्य सम-भाते हैं । हे पुत्रि ! सत्याणुव्रत या सत्य से उज्ज्वल कीर्ति होती है, निर्मल यश चारों ओर व्याप्त हो जाता है । सत्य से निष्पाप लक्ष्मी प्राप्त होती है । सत्य से परमोत्कृष्ट धर्म मिलता है । सत्य से उत्तम सुख पाता है । सत्य से भयानक जलती आग भी पानी समान शीतल हो जाती है । सागर स्थल जैसा हो जाता है अर्थात् सागर का पानी भी सत्यजल से सूख जाता है शत्रु भी मित्र हो जाते हैं । सत्य से सबका विश्वासपात्र हो जाता है । सत्य से परमानन्द मिलता है । इसलिए सुख चाहने वालों को सदा सत्य बोलना चाहिए । सत्य धर्म सर्व हित-कारी होता है ॥१८-१९-२०॥

सत्यं शर्मशतप्रदं शुभकरं सत्यां सुकीर्तिप्रदम् ।

सत्यं जीवदयाद्रुमौघविलसत्पानीयमाहुर्बुधाः ॥

सत्यं सर्वजन प्रतीतिजनकं, सत्यं सुसम्पत्प्रदम् ।

सत्यं दुर्गतिनाशनं गुणकरं, सत्यं श्रयन्तुत्तमाः ॥२१॥

अन्वयार्थ—सत्यव्रत का उपसंहार करते हुए आचार्य श्री कहते हैं—(सत्यं) सत्य (शर्मशतम्) सैकड़ों सुख (प्रदम्) देनेवाला, (शुभकरम्) शुभ करने वाला (सत्यं) सत्य (सुकीर्तिप्रदम्) उज्ज्वलकीर्ति देनेवाला, तथा (जीवदयाद्रुमौघ) जीवदयारूपी वृक्षों के समूह को (विलसत्पानीयम्) सींचने वाला-प्रफुल्ल करने वाला पानी है ऐसा (बुधाः) विद्वज्जन (प्राहुः) कहते हैं । (सत्यं) सत्य (सर्वजन प्रतीतिजनकम्) सर्व प्राणियों में प्रतीति विश्वास उत्पन्न करने वाले (सत्यं) सत्य (सुसम्पत्प्रदम्) उत्तम-सम्पदा देने वाला (दुर्गतिनाशनम्) दुर्गति का नाश करने वाला (सत्यं) सत्य (गुणकरम्) गुणों को करने वाला (सत्यम्) सत्यव्रत (उत्तमाः) उत्तमजन (श्रयन्तुः) आश्रय करें अर्थात् धारण करें ।

भावार्थ—आचार्य श्री कहते हैं कि—विद्वानों का कथन है कि सत्य सैकड़ों सुखों को देने वाला है । शुभ-पुण्य का करने वाला है । उज्ज्वल यश का विकास करने वाला सत्य ही है । सत्य जीवदयारूपी वृक्षों के समूह को हराभरा रखने वाला जल है । सत्य प्रतीति-विश्वास के कारण है । सत्य बोलने वाले का सर्वजन विश्वास करते हैं । उत्तम सम्पत्ति देने वाला सत्य है । सत्य ही दुर्गति का नाश करने वाला है । सत्य सर्वगुणों का कारण है । अतः उत्तम पुरुषों को सत्य का सदा आश्रय लेना चाहिए ॥२१॥

॥इति सत्य धर्म निरूपणम्॥

अथ अचौर्यव्रत निरूपणम्

स्तेयं पापप्रदं ज्ञेयं, हेयं सद्भिः सुखार्थिभिः ।

यतो भव्या भवन्त्युच्चैर्निधीनां पतयः क्रमात् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(सुखार्थिभिः) सुख चाहने वाले (सद्भिः) सज्जनों द्वारा (स्तेयम्) चोरी (हेयं) त्याज्य (पापप्रदम्) पापदायिनी (ज्ञेयम्) जानना चाहिए (यतः) इस प्रकार जानने से (भव्याः) भव्यजन (क्रमात्) क्रमशः (उच्चैः) महान (निधीनाम्) निधियों का (पतयः) स्वामी (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—जो भव्यात्मा परधन गृहण को हेय समझते हैं अर्थात् विना दी हुयी वस्तु को जो ग्रहण नहीं करते । चोरी समझते हैं । पाप का कारण मानते हैं । वे भव्यप्राणी अनुक्रम से नवनिधियों, चौदहहस्तों के अधिपति होते हैं ॥२२॥

स्थापितं पतितं चापि परद्रव्यं सुविस्मृतम् ।

अदत्तं चाप्यग्राह्यं प्रहृतोऽप्यमण्डितम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (परद्रव्यम्) दूसरे का द्रव्य (स्थापितम्) रक्खा हुआ (पतितम्) गिरा हुआ (च) और (सुविस्मृतम्) भूला हुआ (अपि) भी है वह (अदत्तं) नहीं दिया (अग्राह्यम्) लेने योग्य नहीं है (न लेना) (तृतीयम्) तीसरा (अणुव्रतम्) अणुव्रत है ।

भावार्थ—किसी की रक्खी हुयी वस्तु, गिरा हुआ पदार्थ अथवा भूला हुआ परद्रव्य है उसे बिना दिये नहीं लेना तीसरा (अदत्तग्रहण नहीं करना) अस्तेय व्रत है । यही अचौर्यव्रत है । श्रावक का अचौर्याणुव्रत कहलाता है ॥२३॥

वाह्यप्राणा धनान्युच्चैर्जनानामिति निश्चयात् ।

ततो दयापरैर्नित्यं तत्त्याज्यं धर्महेतवे ॥२४॥

अन्वयार्थ—(धनानि) धन-सम्पत्ति (उच्चैः) विशेष रूप से (जनानाम्) प्राणियों के (वाह्यप्राणा) बाहरी प्राण हैं (इति) इस प्रकार के (निश्चयात्) निश्चय से (दयापरैः) दयालुओं द्वारा (ततः) इसलिए (तत्) वह परधन (नित्यम्) निरन्तर (धर्महेतवे) धर्म के लिए (त्याज्यम्) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—संसार में धन को ११ वाँ वाह्य प्राण कहा है । आगम में जीव के १० प्राण हैं जिनके द्वारा वह “जीता है” यह व्यवहार होता है । परन्तु धन-वैभव को ११ वाँ प्राण माना है क्योंकि धन के वियोग में कितनों की प्राण हानि देखी जाती है । जिसका धन चोरी जाता है उसके प्राणनाश होने के समान पाप होता है । इसलिए दयालुजनों को परधन सर्वथा त्यागने योग्य है । दूसरे के प्राणों का रक्षण करना धर्म है । अतः पर धन की रक्षा भी धर्म है । अस्तु धर्म रक्षार्थ परधन का त्याग करना चाहिए ॥२४॥

ये हरन्ति परद्रव्यं लोभग्रहवशीकृताः ।

तैर्हृताश्च परप्राणा, परंपुत्रि किमुच्यते ॥२५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (लोभग्रह) लोभरूपी पिशाच से (वशीकृता) वशीभूत हुए (परद्रव्यं) दूसरे के द्रव्य को (हरन्ति) हरण करते हैं (पुत्रि) हे पुत्रि ! (तैः) उनके द्वारा (परप्राणा) दूसरों के प्राण ही (हृताः) हरे गये (च) और (परम्) इससे अधिक (किम्) क्या (उच्येते) कहा जाय ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जो मनुष्य लोभरूपी ग्रह के वश होकर दूसरे धन अपहरण करते हैं वे नियम से उनके प्राणों का संहार करते हैं । आचार्य कहते हैं हे पुत्रि मदनसुन्दरि ! हम अधिक क्या कहें ? चोरी करने वाला हत्यारा है ॥२५॥

स्तेयं पापचयः प्रबन्धनहरं, लज्जाकरं दुःकरम् ।

कीर्ति स्फीतिहरं कुलक्षयकरं, निर्वाणसम्पद्हरम् ॥

ये भव्याः परिवर्जयन्ति नितरां, संतोषलक्ष्मीयुताः ।

ते प्राप्यत्रिदशादि सौख्यमतुलं, नित्यं लभन्ते सुखम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(स्तेयं) चोरी (पापचयः) पापसंचय करने वाली, (प्रबन्धनहरम्) (दुःकरम्) अत्यन्त (लज्जाकरम्) लज्जा करने वाली (कीर्ति स्फीति) यश के विस्तार को (हरम्) हरने वाली, (कुलक्षयकरम्) कुल की नाशक, (निर्वाणसम्पद्) मोक्ष लक्ष्मी को (हरम्) चुराने वाली है ऐसी चोरी पाप को (ये) जो (भव्याः) भव्यजन (संतोषलक्ष्मीयुताः) संतोष रूप लक्ष्मीधारी (नितराम्) पूर्णतः (त्यजन्ति) त्याग देने हैं (ते) वे भव्यप्राणी (नित्यं) नित्य ही (त्रिदशादि) देवादिके (सौख्यम्) सुख को (प्राप्य) प्राप्तकर (अतुलम्) अपरिमित-मोक्ष (सुखम्) सुख को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—चोरी करना महापाप है । इससे पाप का ही संचय होता है, योग्यता का नाश होता है, लज्जा की उत्पत्ति होती है, दुष्कर्म प्राप्त होता है, यश का विस्तार संकुचित हो जाता है । कुल का क्षय होता है । निर्वाण रूपी लक्ष्मी दूर भागती है । जो भव्यजीव इस महापाप का परित्याग करते हैं, संतोषधन धारण करते हैं, लोभ का परिहार करते हैं वे नियम से स्वर्गादि की प्रभूत लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं । पुनः क्रमशः अपरिमित निर्वाण लक्ष्मी के अनन्तकाल तक भोक्ता होते हैं । इस प्रकार अदत्त द्रव्य कभी भी किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करना चाहिए । चोरी का त्याग धर्म है और सुख का निमित्त कारण है ।

“इति अर्चयानुव्रत वर्णनम्” ।

अथ ब्रह्मचर्याणुव्रत का वर्णन करते हैं —

यत्परस्त्री परित्यागो, मनोवाककाय शुद्धितः ।

संतोषो निजभार्यायां स्यात्तुर्थ तदणुव्रतम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (मनोवाक्काय) मन, वचन, काय (शुद्धितः) शुद्धि पूर्वक (परस्त्री) अन्य की स्त्री का (परित्याग) त्याग करना तथा (निजभार्यायाम्) अपनी विवाहित स्त्री में (संतोषः) संतोष करना (तत्) वह (तुर्यं) चौथा (अणुव्रतम्) अणुव्रत है।

भावार्थ—पर स्त्री—अपनी समाज व अग्नि साक्षी पूर्वक जिस कन्या के साथ विवाह होता है वह धर्मपत्नी अपनी निजपत्नी कहलाती है। इसके अतिरिक्त शेष-सधवा, कन्या, विधवा आदि सभी स्त्रियाँ परस्त्री कहलाती हैं। इनका मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक त्याग करना अर्थात् मन से, वचन से अथवा काय से उनके प्रति रागभाव से प्रवर्तन नहीं करना तथा अपनी स्त्री में संतुष्ट रहना। अर्थात् उसका भी मर्यादित रूप में भोग करना यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। इस व्रत का स्त्री सभोग करता हुआ भी उससे विरक्त भाव रखता है। आसक्ति पूर्वक अपनी पत्नी के साथ भी भोग नहीं करता। मात्र कर्म की बलवत्ता का प्रतीकार करता है ॥२७॥

ये परस्त्री रताः पापाः विवेकपरिवर्जिताः ।

तेषां दुःखानि जायन्ते, लोकेऽत्रैव परत्र च ॥२८॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (विवेक) हेयोपादेयज्ञान से (परिवर्जिताः) हीन हैं, (पर-स्त्रीरताः) पर स्त्री में आसक्त हैं (पापाः) वे पापी हैं (तेषाम्) उनके (अत्रैव) इस ही (लोके) लोक में (च) और (परत्र) परलोक में भी (दुःखानि) अनेक दुःख (जायन्ते) होते हैं ॥२८॥

भावार्थ—जो पुरुष पर स्त्री में आसक्त होते हैं। वे लोक में महापापी हैं। विवेक से शून्य होते हैं। उनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नहीं रहता। सतत विषयाभिलाषा के आश्रय रह असत्य, चोरी आदि पापों में भी लगे रहते हैं। लोक में निन्द्य माने जाते हैं, दुर्जन कहे जाते हैं। बध बन्धनादि दुःखों को पाते हैं। परलोक में दुर्गति-नरक तिर्यञ्च में उत्पन्न होते हैं वहाँ च्छेदन-भेदन, ताड़न-मारण, शूलीरोहण, बध-बन्धन आदि अनेकों कष्टों से उत्पन्न वेदना को भोगते हैं। इस प्रकार उभयलोक में दुःखों के ही पात्र बने रहते हैं ॥२८॥

परस्त्री स्वयमाधाता, साऽपि सन्त्यज्यते बुधैः ।

सर्पिणीवसदाराजन्, शीललीला समुन्नतः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(राजन्) हे राजन् श्रीपाल ! (स्वयम्) अपने आप (आधाता) आयी हुयी (अपि) भी (परस्त्री) परस्त्री (शीललीलासमुन्नतैः) शील-आचार में प्रवर्तन करने वाले (बुधैः) विद्वानों द्वारा (सा) वह परनारी (सदा) हमेशा (सर्पिणी) सांपिन (इव) समान (सन्त्यज्यते) दूर ही से त्याग दी जाती है ॥

भावार्थ—आचार्य श्री उपदेश कर रहे हैं, हे राजन् श्रीपाल ! सुनिये, जो पुरुष, शीलव्रत के रसिक हैं, ब्रह्मचर्यव्रत में ही विलास करने वाले हैं वे विवेकी हैं, विद्वान हैं, सज्जन

हैं। परनारी उनकी दृष्टि में भयङ्कर विष से भरी सर्पिणी समान होती है। जिस प्रकार सर्पिणी को देखते ही दूर से उसका परिहार कर दिया जाता है, उपाय पूर्वक उससे बचने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार शीलव्रती सदाचारी, परनारी का त्याग कर उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। पुरुषों को हो नहीं महिलाओं को भी इसी प्रकार पर पुरुष का विषधर सर्पवत् दूर से ही परिहार करना चाहिए ॥२९॥ इसी भाव का निम्न श्लोक है—

कुलस्त्रीभिस्तथालोक्य, कामदेवाकृतिसदा ।

परो नराः परित्याज्या, आता तातोऽयमित्यलम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(तथा) उसी प्रकार (कुलस्त्रीभिः) कुलीन नारियों द्वारा (कामदेवा-कृति) कामदेव सहस्र रूपलावण्य वाला भी (परो नराः) पर पुरुष (सदा) निरन्तर (अयं) यह (आता) भाई है (ताता) पिता है (इति) इस प्रकार (आलोक्य) देखकर-जानकर (परित्याज्याः) त्यागने योग्य है (इत्यलम्) अधिक क्या कहें ?

भावार्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रती पुरुष को जिस प्रकार परस्त्री सेवन दुःख ताप एवं पाप होता है उसी प्रकार पर पुरुष अभिलाषिणी कुलटा नारियाँ महापापिनी उभयलोक में नाना दुःख भोगती हैं। इस लोक में बध-बन्धन आधि, व्याधियों की शिकार बनती हैं, परलोक में दुर्गतियों में पड़कर छेदन-भेदनादि कष्ट भोगती हैं। नरकों की वेदना सहती हैं, गरम-गरम जलती हुयी पुरुषाकार लोहे के गोलों से चिपकायी जाती हैं। इस प्रकार नाना यातनाओं की पात्र होती हैं। अतः कामदेव के समान भी पर पुरुष को भाई, पिता समान मानना चाहिए। कैसा भी सुन्दराकृति क्यों न हो पर पुरुष भयङ्कर विषधर (सर्प) समान त्यागने योग्य है ॥३०॥

शीलं सौख्यकरं प्रमोदजनकं शीलं कुलोद्योतकम् ।

शीलं सार विभूषणं, गुणकरं, शीलं च लक्ष्मीकरम् ॥

शीलं सुव्रतरक्षणं, शुभकरं, शीलं यशः कारणम् ।

तस्मात्पुत्रि बुधा जिनेन्द्र कथितं शीलं श्रयन्ति त्रिधा ॥३१॥

अन्वयार्थ—आचार्य शीलधर्म की महिमा निरूपण कर रहे हैं (शीलम्) (प्रमोद जनकम्) आनन्द उत्पन्न करने वाला, (सौख्यकरं) सुखी करने वाला, (कुलोद्योत-करम्) कुल को प्रकाशित करने वाला (शीलम्) शीलव्रत है। (शीलम्) शील ही (गुण-करम्) श्रेष्ठ मानवोचित गुणों को प्रकट करने वाला (सार विभूषणम्) वास्तविक आभूषण है, (शीलं) शील ही (लक्ष्मीकरम्) नानाप्रकार सुख साधक लक्ष्मी प्राप्त कराने वाला (च) और (शीलं) शील ही (सुव्रतरक्षणम्) श्रेष्ठ व्रतों का रक्षण करने वाला (शुभकरम्) पुण्योत्पादक, है तथा (यशः) कीर्ति का (कारणम्) कारण (शीलम्) शील ही है, (तस्मात्) इसलिए (पुत्रि) हे बेटी मैना ! (बुधाः) विद्वान लोग (जिनेन्द्र कथितम्) जिनदेव कथित (शीलम्) ब्रह्मचर्यव्रत को (त्रिधा) मन, वचन, काय से (श्रयन्ति) आश्रय करते हैं।

भावार्थ—इस शीलव्रत का माहात्म्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । उसका वर्णन साधारणतः हो नहीं सकता । तो भी यहाँ कुछ वर्णन किया है । आचार्य कहते हैं हे पुत्रि ! यह शीलव्रत या ब्रह्मचर्याणुव्रत समस्त आनन्द, सुखों का प्रदाता है । स्वर्ग-मोक्ष के सुख इसी से प्राप्त होते हैं । यह मानव का शृंगार है, नारियों का आभूषण है, सत्यादि अनेक गुणों का उत्पादक है । सभी व्रतों की स्थिति इसी व्रत के रहते होती है । पुण्यानुबन्धी पुण्य का यह निमित्त है । यशोपताका पहनने वाला है । दुःष्कार्यों को भी सरल बनाने वाला है अग्नि का जल भी बनाने की इसमें सामर्थ्य है । लौकिक-आलौकिक लक्ष्मी का यह प्रदाता है । जिनेन्द्र भगवान् श्री सर्वज्ञ द्वारा कथित है अतः इसमें संदेह नहीं है । इसीलिए चतुर विद्वान् सज्जन-जन इस शीलव्रत को अमूल्य कण्ठहार समान धारण करते हैं । हे पुत्रि ! तुम भी इसे धारण-करो । तुम्हारे सर्वकार्य अनायास सिद्ध होंगे । समस्त दुःख-तापादि नष्ट होंगे । तुम सुख सौभाग्य की अधिष्ठात्री बनोगी ॥३१॥ इति

अब परिग्रह परिमाण पाँचवे अणुव्रत का लक्षण कहते हैं—

अष्टप्रशास्यं अद्वैद्विष्यं, श्रावकानां परिग्रहे ।

तदणुव्रतमाप्नातं, पञ्चमं पूर्वसूरिभिः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (परिग्रहे) परिग्रह के विषय में (श्रावकानां) श्रावकों का (नित्यम्) हमेशा (प्रमाणम्) प्रमाण (भवेत्) होवे-होता है (तद्) उसे (पूर्वसूरिभिः) पूर्वाचार्यों द्वारा (आप्नातम्) आगमपरम्परा से (पञ्चमम्) पाँचवां (अणुव्रतम्) अणुव्रत (उक्तम्) कहा है ।

भावार्थ—तृष्णा एवं लोभ का संवरण करने के लिए अतीश्रावक, परिग्रह के विषय कुछ मर्यादा या सीमा करता है । “मैं अमुक प्रमाण में धन-धान्यादि अपने पास रखूँगा” इस प्रकार का व्रत लेना परिग्रहप्रमाण अणुव्रत कहा जाता है । ऐसा परम ऋषियों का कथन है । आगमानुसार इस व्रत का धारी सीमा से बाहर के परिग्रह का सर्वथा त्यागी हो जाता है अतः उससे उत्पन्न पाप से वह बच जाता है ॥३२॥

संख्यां विना न संतोषो जायते भुवि देहिनाम् ।

तस्माद् भव्यैः प्रकर्त्तव्याः सा संख्या सर्ववस्तुषु ॥३३॥

अन्वयार्थ—(भुवि) संसार में (देहिनाम्) मनुष्यों को (संख्याम्) संख्या प्रमाण किये (विना) बिना (संतोषः) संतोष (न) नहीं (जायते) होता है (तस्मात्) इसलिए (भव्यैः) भव्यजीवों को (सर्ववस्तुषु) समस्त पदार्थों में (सा) वह (संख्या) गिनती-प्रमाण (प्रकर्त्तव्याः) करना चाहिए ।

भावार्थ—पदार्थों का प्रमाण किये बिना शरीरधारियों-मनुष्यों को संतोष प्राप्त नहीं होता । संतोष बिना सुख नहीं मिलता । अतः सुखार्थियों को संतोष करना चाहिए । संतोष

की प्राप्ति के लिए परिग्रह का प्रमाण अनिवार्य रूप से करना चाहिए ॥३३॥

सन्तोषेण भवेन्नित्यं सत्सुखं भव्यदेहिनाम् ।

युक्तं पद्माकराणां हि प्रकाशं कुरुते रविः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(भव्यदेहिनाम्) भव्य जीवों को (सन्तोषेण) से (नित्यम्) सतत (सत्सुखम्) उत्तमसुख (भवेत्) होता है (युक्तम्) ठीक ही है (हि) निश्चय से (पद्माकराणाम्) कमलों को (रविः) सूर्य ही (प्रकाशम्) प्रकाशित-प्रफुल्ल (कुरुते) करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार पद्मसमूहों को सूर्य का प्रकाश ही प्रफुल्ल करता है उसी प्रकार सन्तोष ही भव्य जीवों को सच्चा सुख दे सकता है ।

मत्वेवं धनधान्यादि चतुष्पदपरिग्रहे ।

परिमाणं प्रकर्तव्यं सदा सद्भिः सुखार्थिभिः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (मत्वा) मानकर (सुखार्थिभिः) सुख चाहने वाले (सद्भिः) सत्पुरुषों को (सदा) हमेशा (धन धान्यादि) धन, धान्य आदि का (चतुष्पद) गाय, भैंस, हाथी घोड़ा आदि (परिग्रहे) परिग्रह के सम्बन्ध में (परिमाणं) सीमा (प्रकर्तव्यम्) करना चाहिए ।

भावार्थ—उपर्युक्त नियमानुसार सुखेच्छुओं को दश प्रकार के—धन, धान्य, गाय, भैंस, गज, अश्वादि के विषय में प्रमाण करना चाहिए ॥३५॥

एतान्यणुव्रतान्युच्चैः श्रावकानां भवन्त्यलम् ।

पञ्चप्राहुबुधा रात्र्यभुक्तिं षष्ठमणुव्रतम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(श्रावकानां) श्रावकों के (एतानि) ये (पञ्च) पाँच (अणुव्रतानि) अणुव्रत (भवन्ति) होते हैं (इति) इस प्रकार (अलम्) यह पर्याप्त है (बुधाः) विद्वान् (षष्ठम्) छठवाँ (अणुव्रतम्) अणुव्रत (रात्रि अभुक्तिं) रात में भोजन नहीं करना (प्राहु) कहा है ।

भावार्थ—श्रावकों के उपर्युक्त पाँच अणुव्रत हैं । छठव रात्रिभोजन त्याग भी अणुव्रत है ॥३६॥

पतत्-कीट पतङ्गाद्यैर्भक्षणान्निशिभोजनम् ।

त्याज्यं पापप्रदं नित्यं मांसव्रतं विशुद्धये ॥३७॥

अन्वयार्थ—(निशिभोजनम्) रात्रि भोजन (भक्षणात्) करने से (कीट पतङ्गाद्यैः-पतत्) सूक्ष्म जन्तु, पतङ्गादिपड़ने से मांसभक्षण दोष होता है अतः (मांसत्यागव्रतविशुद्धये) मांस

त्याग व्रत की शुद्धि के लिए (नित्यं) नित्य ही (पापप्रदं) पापदायि (रात्रिभोजनम्) रात्रि-भोजन (त्याज्यम्) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—रात्रि में सूक्ष्म जन्तुओं का अधिक संचार होता है । मच्छर, पतङ्ग आदि दिन में सूर्य के प्रकाश में बाहर नहीं निकलते । सूर्यास्त के बाद इनका संचार होने लगता है । भोजन में गिर कर मर जाते हैं । उसके भोजन करने से मांस भोजन का पाप लगता है । इस-लिए मांसत्याग मूलगुण की शुद्धि के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए ॥३७॥

{ रात्रिभुक्ति परित्यागात् सम्पदो विविधा भवेत् ।
रूप लावण्यसौभाग्य सम्प्राप्तिश्च दिने-दिने ॥३८॥

अन्वयार्थ—(रात्रिभुक्ति) रात्रि भोजन (परित्यागात्) परित्याग करने से (विविधा) नानाप्रकार की (सम्पदा) सम्पत्ति (भवेत्) होती है । (च) और (दिने दिने) प्रतिदिन (रूप) सौन्दर्य (लावण्य) आकर्षण (सौभाग्य) सुख-सम्पत्ति (सम्प्राप्तिः) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—रात्रिभोजन का त्याग करने वाले को अनेकों सम्पत्तियाँ-धन वैभवादि प्राप्त होते हैं । प्रतिदिन सौन्दर्य बढ़ता है । रूप लावण्य की, सुख और शान्ति प्राप्त होती है ॥३८॥

{ रात्रौ भूरि पतङ्गकोटपतनात्, तद्भक्षणात् प्राणिनाम् ।
पापं पार विवर्जितं भवति भो भव्या भवोत्पादकम् ॥
तस्मात् साधुजनैः विचारचतुरैः त्याज्यं निशाभोजनम् ।
येन स्यात् सुखकोटिरत्नपरतः कीर्ति प्रमोदः परः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(रात्रौ) रात्रि में (भूरि) बहुत से (कोट पतङ्ग) जन्तुओं के (पतनात्) गिरने से युक्त (तद्) उस भोजन को (भक्षणात्) खाने से (प्राणिनाम्) प्राणियों के (पार-विवर्जितम्) असीम् (पापम्) पाप (भवति) होता है (भो भव्याः) हे भव्यजनों ! (तस्मात्) इस कारण से (विचारचतुरैः) विवेकीजनों, (साधुजनैः) सज्जनों को (भवोत्पादकम्) संसार जनक (निशाभोजनम्) रात्रिभोजन (त्याज्यम्) त्यागना चाहिए । (येन) जिससे (कोटि-रत्नपरतः सुख) करोड़ों रत्नों से उत्पन्न सुख से भी अधिक सुख (कीर्ति) यश (प्रमोदः) आनन्द (परः) उत्तम (सुखम्) सुख (स्यात्) होगा । होता है ।

भावार्थ—रात्रिभोजन त्याग की महिमा अपार है । इस व्रत का धारी असंख्य जीवों को अभयदान देता है । क्योंकि रात्रि में भोजन बनाने से अथवा दिन में भी बनाकर रखने पर भी उसमें असंख्यात जीव पड़-पड़ कर मर जाते हैं । इससे अपरिमित पाप होता है । आचार्य श्री कहते हैं हे भव्यात्मन् भक्तजन हो, आप विवेकी हो, विचार चतुर हो, तनिक सोचो, विचारो इस रात्रिभोजन त्याग से महासुख प्राप्त होता है । करोड़ों रत्नों का संचय करने पर

भी जो आनन्द मिलता है उससे भी कोटिगुणा आनन्द और सुख इस व्रत से प्राप्त होता है । इसलिए धर्मात्माओं को इस भव-संसार उत्पादक निशाभोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥३६॥

अब जल छानने का विधान वर्णन करते हैं—

(जलानां गालनं पुण्यं, प्रसिद्धं भुवनत्रये ।

तस्मादगालितं तोयं, वर्जनीयं विवेकिभिः ॥४०॥)

अन्वयार्थ—(भुवनत्रये) तीनों लोकों में (जलानाम्) पानी का (गालनम्) छानना (प्रसिद्धम्) प्रसिद्ध (पुण्यम्) पुण्य है (तस्मात्) इसलिए (अगालितं) बिना छाना (तोयम्) पानी (विवेकिभिः) विवेकीजनों द्वारा (वर्जनीयम्) त्यागना चाहिए ।

भावार्थ—तीनों लोकों में पानी का छानना पुण्य कारण है यह सुप्रसिद्ध है । इसलिए विचारजनों को बिना छाना जल त्यागना चाहिए । अर्थात् छाने बिना जल को किसी भी कार्य में नहीं लाना चाहिए ॥४०॥

जल किस प्रकार छानना चाहिए—छाना कैसा हो—

षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशति विस्तृतम् ।

तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्यतोयं तेन तु गालयेत् ॥४१॥

अन्वयार्थ—(षट्त्रिंशदंगुलं) ३६—छत्तीस अंगुल का (वस्त्रं) कपड़ा (चतुर्विंशति) चौबीस अंगुल (विस्तृतम्) चौड़ा है (तद्वस्त्रम्) उस कपड़े को (द्विगुणी) दुहरा—दोपत्ता (कृत्य) करके (तु) और (तेन) उससे (तोयं) जल को (गालयेत्) छाने ।

भावार्थ—छत्तीस अंगुल लम्बा और २४—चौबीस अंगुल चौड़ा वस्त्र लेकर उसे दोहरा करे । इस प्रकार दुहरे कपड़े से पानी को छानना चाहिए । अव्यवा जितना वर्तन हो उसके अनुसार रखें ।

यस्मात् तोयं समानीतं गालयित्वाति यत्नतः ।

तज्जीवसंयुतं तोयं पुनः तत्रैव मुच्यते ॥४२॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इसलिये (तोयम्) जल को (यत्नतः) सावधानी से (गालयित्वा) छानकर (समानीतम्) लाना चाहिए (पुनः) फिर (तत्) उस (जीवसंयुततोयम्) जीवानी को—छानने पर बचे—जल को (तत्रैव) उसी जलाशय में (मुच्यते) डालना चाहिए ।

भावार्थ—भव्य दयालु श्रावकों को यत्न पूर्वक पानी छानकर लाना चाहिए । ऊपर कहे हुए प्रमाण वाला छाना कुआँ या तालाब आदि पर लेकर जाना चाहिए । वहीं पर पानी छानकर भरे । तदनन्तर छाने में आयी जीवराशि को थोड़ा पानी डालकर धड़े या खाली

वाली में लेकर उन जीवों को—जिवानी को उसी जलाशय में विसर्जन करें। घर में लाने के बाद भी प्रत्येक ४८ मिनिट में पुनः—पुनः छानकर काम लाना चाहिए। हर समय जिवानी को एक पात्र में संचित करते जाना चाहिए। पुनः जब पानी भरने जावें तो उस एकत्रित जिवानी को साथ लेजाकर उसी जलाशय में डाल देना चाहिए। अन्य पानी के जीवों को अन्य—दूसरे पानी में मिलाने से उनकी विराधना होगी। अस्तु जिस जलाशय का पानी लावे उसी में जिवानी डाले ॥४२॥

गालितं तोयमप्युच्चैः सम्मूर्च्छति मुहूर्ततः ।

प्रासुकं याम युग्मं च, सदुष्णं प्रहराष्टकम् ॥४३॥

अन्वयार्थ—(गालितम्) छाना हुआ (अपि) भी (तोयम्) जल (उच्चैः) विशेषतः (मुहूर्ततः) एक मुहूर्त में (सम्मूर्च्छति) जीवसहित हो जाता है, (प्रासुकं) कपूर, लवङ्ग, इलायची आदि डालकर प्रासुक किये जल की मर्यादा (युग्मं) दो (याम) प्रहर (च) और (सदुष्णं) गर्म जल की (अष्टकम्) आठ (प्रहरः) प्रहर है।

भावार्थ—एक बार छानने के बाद ४८ मिनिट तक ही पानी की मर्यादा है। इसके बाद पुनः छानकर काम में लेना चाहिए। लवङ्गादि से प्रासुक किये जल की मर्यादा २ प्रहर अर्थात् ६ घण्टे की है तथा उबाले जल की मर्यादा ८ प्रहर अर्थात् २४ घण्टे है। इस सीमा के बाहर होने पर उस जल को अशुद्ध समझना चाहिए ॥४३॥

जल को प्रासुक करने की विधिः—

कर्पूरैलालवङ्गाद्यैस्सुगन्धैस्सार वस्तुभिः ।

प्रासुकं क्रियते तोयं, कषायैर्द्रव्यैस्तथा ॥४४॥

अन्वयार्थ—(कर्पूर) कपूर (ऐला) इलायची (लवङ्गादि) लवंग आदि (सुगन्धैः) सुवासित (वस्तुभिः) वस्तुओं द्वारा (तथा) तथा (कषायैः) हरड़, आंवला आदि कषायले (द्रव्यैः) द्रव्यों द्वारा (तोयम्) जल को (प्रासुकं) प्रासुक (क्रियते) किया जाता है।

भावार्थ—जल को प्रासुक करने के लिए उसमें कपूर, इलायची, दालचीनी, सौंफ, लींग आदि पदार्थ डालना चाहिए। इन्हें पीस कर डालना चाहिए जिससे पानी का रूप, रस गंधादि परिवर्तित हो सके। इनके अतिरिक्त हरड़, आंवला, बहेडा आदि कषायले द्रव्यों से भी प्रासुक किया जा सकता है। इस जल की मर्यादा छः घण्टे की हो जाती है ॥४४॥

अब अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन करते हैं—

कन्दमूलञ्च सन्धानं, काञ्जिकं गूञ्जनं तथा ।

नवनीतं पुष्पशाकं, बिल्वञ्चफलकं त्यजेत् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(कन्दमूलम्) आलू, गाजर, मूली आदि (च) और (सन्धानं) अचार, मुरब्बा (काञ्जिकम्) काञ्जी (गृञ्जनं) गाजर (तथा) और (नवनीतं) मक्खन (पुष्प) फूल (शाकम्) पत्ती की भाजी (च) और (विल्वम्) बेलगिरि (फलकम्) फलों को (त्वजेत्) छोड़े । अर्थात् भक्षण नहीं करे ।

भावार्थ—आलू, गाजर, मूली आदि कन्दमूल, आचार, मुरब्बा काञ्जीफल, गृञ्जन-गाजर मक्खन, पुष्प (केशर, नागकेशर, लवंग, जावित्री और मिलावा के फूलों को छोड़कर अन्य) पत्ती के शाक, विल्वफल ये अभक्ष्य हैं इनको नहीं खाना चाहिए ॥४५॥

तथा मौनव्रताद्युच्चैर्गदुक्तं जिनपुङ्गवैः ।

तत्सर्वं पालनीयं हि श्रावकाणां जगद्धितम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(तथा) और (मौनव्रतादि) मौन व्रत आदि (यद्) जो (जिनपुङ्गवैः) जिनभगवान् द्वारा (उक्तम्) कहे गये हैं (तत्) वे (सर्वं) सर्वव्रत (जगद्धितम्) जगत के हितकारीव्रत (श्रावकाणां) श्रावकों को (उच्चैः) प्रयत्न पूर्वक (हि) निश्चय से (पालनीयम्) पालन करना चाहिए ।

भावार्थ—श्रावकों को सात स्थानों में मौन रखना चाहिए १. भोजन करते समय २. वाप्ति होने पर ३. मल-मूत्र विसर्जन करते समय, ४. स्नान करते समय ५. सैधुन सेवन करते समय ६. जिनेन्द्रपूजा करते समय और ७. स्वाध्याय काल में और भी व्रत नियम जो जो जिनागम में वर्णित हैं उन समस्त व्रतों को यथायोग्य पालन करना चाहिए । ये व्रत संसार के हित कर्ता हैं । अर्थात् व्रतों के पालक सभी जीवों का कल्याण होता है ॥४६॥

दिग्देशानर्थदण्डोच्चैर्नामान्येतानि धीधनैः ।

गुणव्रतानि त्रीण्येव पालनीयानि शर्मणो ॥४७॥

अन्वयार्थ—(दिग्देशानर्थदण्डः) दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत (नामानि) नाम के (एतानि) ये (गुणव्रतानि) गुणव्रत (त्रीणि) तीनों (एव) ही (धीधनैः) विद्वानों द्वारा (शर्मणो) सुख के लिए (पालनीयानि) पालने योग्य हैं ।

भावार्थ—श्रावकों के तीन गुणव्रत होते हैं १. दिग्व्रत २. देशव्रत ३. अनर्थदण्डव्रत । इन तीनों का पालन करना प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है । ये सुख के देने वाला और शांति करने वाले हैं । इसलिए प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिए ॥४७॥
अब आचार्य श्री इनका लक्षण क्रमशः बतलाते हैं—

दिग्व्रतंकथ्यते तच्च सर्वदिक्षुव्यापरेः ।

योजनैः क्रियते संख्या जन्मपर्यन्तकं हि यत् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(दयापरैः) दयालु श्रावकों द्वारा (सर्वदिक्षु) दसों दिशाओं में (जन्म-पर्यन्तकम्) जीवनपर्यन्त के लिए (यत्) जो (योजनैः) योजनों द्वारा (संख्या) गिनती प्रमाण (क्रियते) किया जाता है (हि) निश्चय से (तत्) वह (दिश्व्रतम्) दिश्व्रत (कथ्यते) कहा जाता है ।

भावार्थ—जीवनभर के लिए दशों दिशाओं में आने-जाने की दूरी का प्रमाण करना दिश्व्रत है । “मैं अमुक-अमुक दिशा में १००-१०० योजन या अधिक कम जाऊँगा” की हुयी सीमा के बाहर कभी भी नहीं जाना दिश्व्रत है । अन्य भी पर्वत, नदी, ग्राम, देशतक का भी प्रमाण किया जा सकता है । यथा उत्तर में हिमालय, पूर्व में बर्मा, दक्षिण में लङ्का, पश्चिम में अरबसागर तक हो जाऊँगा, इसी प्रकार विदिशाओं और ऊपर-नीचे जाने आने का प्रमाण कर लेना दिश्व्रत है अर्थात् दिशाओं में द्रत धारण करना ॥४८॥

देशव्रत का स्वरूप—

तन्मध्ये नित्यशः स्तोकसंख्या संक्रियते बुधैः ।

देशव्रतं तदाख्यातं भो सुते ! पूर्वसूरिभिः ॥४९॥

अन्वयार्थ—(तन्मध्ये) जन्मभर के लिए की, मर्यादा में (नित्यशः) प्रतिदिन (बुधैः) विद्वानों द्वारा (स्तोकसंख्या) कम-कम संख्या (संक्रियते) की जाती है (तद्) वह (भो सुते !) हे पुत्रि ! (पूर्वसूरिभिः) पूर्वाचार्यों द्वारा (देशव्रतम्) देशव्रत (आख्यातम्) कहा गया है ।

भावार्थ—जन्मपर्यन्त के लिए की गई दशों दिशा की मर्यादा में से प्रतिदिन इच्छा-नुसार गली, घर, मुहल्ला, गांव, शहर, क्षेत्र आदि की मर्यादा लेकर क्षेत्र को कम करना देशव्रत है । आचार्य कहते हैं हे पुत्रि ! मदनसुन्दरी ! पूर्वाचार्यों ने जैसा देशव्रत का स्वरूप कहा है वही मैंने तुम्हें बतलाया है ॥४९॥

अनर्थदण्डव्रत का लक्षणः—

त्यज्यते विफलारम्भो, यत्सदाधर्मवेदभिः ।

पृथिवी जलादिवातोऽखनस्पति विराधकः ॥५०॥

कुक्कुरमार्जारकीरमर्कटादयः ।

दुष्ट जीवान्नपोषन्ते तं तृतीयं गुणव्रतम् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (धर्मवेदभिः) धर्म के ज्ञाता जन (सदा) सतत (पृथिवीजल-वात) भूमि, जल, वायु (उरु) बहुत सी (वनस्पति) वनस्पतिकाय पेड़ पौधे (आदि) अग्नि-काय जीवों की (विफलारम्भः) व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन आरम्भ कर (विराधकः) छेदन, भेद-नादि का (त्यज्यते) त्याग करते हैं (तथा) (एवं) इसी प्रकार (कुक्कुर) कुत्ता (मार्जारः) बिल्ली (कीरः) तोता (मर्कटादयः) बन्दर आदि (दुष्टजीवान्) मांसाहारी जीवों को (न) नहीं (पोषन्ते) पोषते हैं (तं) वह (तृतीयं) तीसरा अनर्थदण्डव्रत (गुणव्रतम्) गुणव्रत (भवति) होता है ॥५०-५१॥

पापोपदेश हिंसादानापध्यानदुःश्रुतिपञ्च ।

प्राहुप्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥५२॥२०श्रा०॥

अन्वयार्थ—(अदण्डधराः) मन, वचन, काय का अशुभपरिणामरूप दण्ड से रहित गणधरादि ने (पापोपदेश) पाँच पापों का उपदेश, (हिंसादान) छुरी आदि हिंसा के उपकरणों का दान, (अपध्यान) दुर्ध्यान (दुःश्रुतिः) कथाय, कलहादि बर्द्धक शास्त्रों या चर्चादि का सुनना तथा (प्रमादचर्या) प्रमाद पूर्वक प्रवृत्ति ये (पञ्च) पाँच (अनर्थदण्डान्) अनर्थदण्ड (प्राहु) कहा है ।

भावार्थ—गणधरादि ने अनर्थदण्ड के ५ भेद कहे हैं—१. पापोपदेश २. हिंसादान ३. अपध्यान ४. दुःश्रुति और ५. प्रमादचर्या ।

१. पापोपदेश—बलि चढ़ाने से पुण्य होता है, यज्ञ में की गई हिंसा हिंसा नहीं, पितर पिण्डदान से संतुष्ट होते हैं इत्यादि पापकर्मों का उपदेश देना पापोपदेश है ।

२. हिंसादान—छुरी, कटारी, बन्दूक, तलवार, चूहादानी आदि हिंसा के कारणभूत द्रव्यों का दान देना हिंसादान है ।

३. अपध्यान—मन में अशुभविचार रना, किसी का अनिष्ट सोचनाआदि । अथवा अपने लिए खोटा विचार करना अपध्यान है ।

४. दुःश्रुति—जिनके सुनने से कलह, वैर, द्वेष, लड़ाई भगड़े होने की संभावना हो इस प्रकार के पोथी, पुराण, चर्चा-वार्तादि सुनना दुःश्रुति है ।

५. प्रमादचर्या बिना प्रयोजन के इधर-उधर आना-जाना, गप्प गोष्ठी करना, पानो फैलाना, पृथ्वी खोदना आदि प्रमादचर्या है । इन पाँचों अनर्थदण्डों का त्याग करना अनर्थदण्ड-व्रत है ॥५२॥

सामायिकव्रतं, पर्वोपवासोपभोगयुग्मकम् ।

संविभागोऽतिथीनां च, शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(सामायिकम्) तीनों संध्याओं में सावद्य का त्याग करना (पर्वोपवास) अष्टमी और चतुर्दशी पर्वों में उपवासादि करना पर्वोपवास (व्रतम्) व्रत है (उपभोगयुग्मकम्) उपभोग परिभोग (च) और (अतिथीनाम्) व्रती एवं महाव्रतीयों को (संविभागः) चारों प्रकार दान देना (ये) ये (चतुष्टयम्) चारों (शिक्षाव्रतम्) शिक्षाव्रत हैं ।

भावार्थ—आवकों के चार शिक्षाव्रत हैं । जिनसे मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं । ये चार हैं—१. सामायिक, २. प्रोषधोपवास ३. भोगोप-भोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग ।

१. सामायिक—चारों दिशाओं में क्रमशः ६-६ बारणमोकार मन्त्र पढ़ कर तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति नमस्कार करे । तत्पश्चात् यथाशक्ति समय की मर्यादाकर सर्वपापों से निवृत्त हो एकाग्रचित्त से ध्यान या किसी भी मन्त्र का जाप करे । यह सामायिक शिक्षाव्रत है ।

२. प्रोषधोपवास—महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी आती हैं । इन पर्वकालों में यथाशक्ति प्रोषध-एकाशन, उपवास अथवा प्रोषधोपवास १६ पहर का उपवास करना । यथा अष्टमी का प्रोषधोपवास करना है तो ७ मी और नवमी को एकभुक्ति और अष्टमी को उपवास करना यह प्रोषधपूर्वक उपवास प्रोषधोपवास कहलाता है ।

३. भोगोपभोगपरिमाण जो पदार्थ एकवार भोगने में आते हैं वे भोग हैं यथाभोजन, तैल, पानादि । जिन पदार्थों का बार-बार भोग किया जा सके उन्हें उपभोग कहते हैं । इन भोग और उपभोग के पदार्थों की सीमा मर्यादा करना भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत है ।

४. अतिथिसंविभाग—उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को आहारादि दान देना अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रत है ॥५३॥

सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण—सामायिक करते समय क्या करना चाहिए—

समता सर्वजीवेषु संयमे शुभभावना ।

हिसारम्भपरित्यागस्तावत्कालं जगद्धितः ॥५४॥

चैत्यभक्तिस्तथा पञ्चगुरुभक्ति विशेषतः ।

वैराग्यभावनाचित्ते तथा दुर्ध्यानवर्जनम् ॥५५॥

द्वित्रिसन्ध्यं सुतेभव्यैस्सामायिकविधिर्महान् ।

स्वर्गमोक्षसुखप्राप्त्यै कर्त्तव्यो निश्चलाशयैः ॥५६॥

अन्वयार्थ—(तावत्कालम्) जितने समय सामायिक करे तब तक (सर्वजीवेषु) प्राणीमात्र में (समता) साम्यभाव-राग-द्वेष परित्याग (संयमे) संयम में (शुभभावना) शुभभाव, (हिसारम्भ) हिंसा और आरम्भ का (त्यागः) त्याग (जगद्धितः) विश्वहित की भावना (विशेषतः) विशेषरूप से (चैत्यभक्तिः) चैत्यभक्तिः चैत्यभक्ति पढ़ना (तथा) और (पञ्चगुरुभक्तिः) पञ्चगुरुभक्ति पाठ (चित्ते) मन में (वैराग्यभावना) संसार शरीर भोगों से विरक्ति (तथा) और (दुर्ध्यान) आर्तरीद्वध्यान (वर्जनम्) त्याग करते हुए (हे सुते) हे पुत्रि (द्वित्रिसन्ध्यम्) प्रातः व सायंकाल, अथवा प्रातः मध्याह्न और सायंकाल (स्वर्गमोक्षसुखप्राप्त्यै) स्वर्ग और मोक्षसुख पाने के लिए (निश्चलाशयैः) स्थिरचित्त से (भव्यैः) भव्यों द्वारा (महान्सामायिकविधिः) महान सामायिक विधि (कर्त्तव्यः) करना चाहिए ।

भावार्थ—हे पुत्रि ! भव्य श्रावक श्राविकाओं को प्रातः और सन्ध्या समय सामायिक

अवश्य करना चाहिए । सामायिक प्रतिमाधारी को दोनों सन्ध्याओं में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सामायिक विधि करना अनिवार्य है । जघन्य ४८ मिनिट से ७२ मिनिट अथवा २१ सवादो घण्टे यथाशक्ति सामायिक करना चाहिए । अथवा हर क्षण सामायिक हो सकती है । सामायिक के लिए प्रथम समय की मर्यादा करे, समस्त जीवों में समताभाव धारण करे, संयम में शुभभावना बिचारे, हिंसा और सारभ्य का त्याग करे, चैत्यभक्ति और पञ्चगुरुभक्ति का पाठ करे, चित्त में वैराग्य भावना चिन्तवन करे, आर्त्त-रौद्रध्यान का परित्याग करे । धर्मध्यान-पूर्वक द्वादशानुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करे । इस प्रकार सामायिक क्रिया करे । यही सामायिक शिक्षा व्रत है ॥५६॥

अब द्वितीय शिक्षाव्रत का लक्षण कहते हैं -

अष्टम्यां चतुर्दश्यां चतुराहारव्रजितम् ।

सशीलं सद्बोधितं तद् द्वितीयं व्रतं मतम् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(सशीलम्) शीलव्रत सहित (सद्बोधितम्) सम्यक् दया सहित (अष्टम्यां) अष्टमी (चतुर्दश्याम्) चतुर्दशी के दिन में (चतुराहार) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहारों को (व्रजितम्) छोड़ना (तद्) वह (द्वितीय) दूसरा प्रोषधोपवास (व्रतम्) व्रत (मतम्) माना है ॥५७॥

भावार्थ—अष्टमी और चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का त्याग करना । खाद्य-लाडू, रोटी, भात, पकीड़ी, मठरी, पेड़ा आदि खाद्य है । स्वाद्य-लवङ्ग इलायची पान-सुपारी सौंफ आदि स्वाद्य भोजन है । लेह्य-रबड़ी, राबड़ी, मलाई आदि चाटने वाली चटनी आदि लेह्य हैं । तथा पेय-दूध, पानी, शर्बत, मट्ठा वगैरह पीने के पदार्थ पेय हैं । इन चारों प्रकार के पदार्थों को इन्द्रियदमन के उद्देश्य से त्याग करना प्रोषधोपवास नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है । इस दिन ब्रह्मचर्य धारण करें दयाभावना धारण करें । यह नहीं कि उपवास तो करलें और फिर कोपाकुल हो बाल-बच्चे, रोगी, वृद्धों की सेवा न करें उनपर चिड़-चिड़ करें अपितु प्राणीमात्र के प्रति दया और क्षमा का भाव रखना चाहिए ।

भोगोपभोगयोस्संख्या श्रावकानां च या भवेत् ।

शिक्षाव्रतं तृतीयं तत् संजगुर्मुनिसत्तमाः ॥५८॥

अन्वयार्थ—(श्रावकानां) श्रावकों की (या) जो (भोगस्य) भोगपदार्थों में (च) और (उपभोगस्य) उपभोग के पदार्थों सम्बन्धी संख्या (प्रमाण भवेत्) होता है (मुनिसत्तमाः) गणधरादि (तत्) उसे (तृतीयम्) तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नाम का (शिक्षाव्रतम्) शिक्षाव्रत (संजगुः) कहते हैं ।

भावार्थ—भोजन, पानादि भोग की वस्तुओं और आभरण, मकानादि उपभोग के पदार्थों की संख्या-सोमा निर्धारित करना तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नामका शिक्षाव्रत है ।

संविभागो भवेत् त्यागास्त्यागोदानञ्च पूजनम् ।

तद्दानं च बुधैर्वैयं त्रिधा पात्राय भक्तितः ॥५६॥

अन्वयार्थ—(भक्तितः) भक्तिपूर्वक (त्रिधा) उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के (पात्राय) पात्र को (देयम्) देने योग्य पदार्थों का (त्यागः) त्याग करना (दानम्) दान (संविभागः) अतिथि संविभाग (भवेत्) होता है । (च) और (पूजनम्) पूजा को (देयम्) योग्यपदार्थ देना (त्यागः) त्याग (भवेत्) होता है (तद्दानं) वह दान (बुधैः) विद्वानों को (देयम्) देना चाहिए ॥५६॥

भावार्थ—अतिथि—तत्तिथि, जिनके आगमन की कोई तिथि निश्चित नहीं होती वे दिगम्बर साधु अतिथि कहे जाते हैं । वे पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । उनके योग्य आहारादि वस्तु दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है । तथा पूजा के योग्य द्रव्य त्याग करना भी अतिथिसंविभागव्रत में किन्हीं आचार्यों ने माना है । विद्वानों को अवश्य ही यह व्रत धारण करना चाहिए अर्थात् दान और पूजन करना चाहिए ॥५६॥

पात्रों के भेद कहते हैं—

मुनीन्द्राः श्रावकाः शुद्धसम्यग्दृष्टिश्च केवलम् ।

इति पात्रत्रिभेदेभ्यो दानं देयं चतुर्विधम् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्राः) दिगम्बर साधु (श्रावकाः) प्रतिमाधारी (च) और (केवलं) मात्र (शुद्धसम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दर्शनधारी (इति) इस प्रकार (पात्रत्रिभेदेभ्यः) तीन प्रकार के पात्रों के लिए (चतुर्विधम्) चार प्रकार का (दानं) दान (देयम्) देना चाहिए ।

भावार्थ—निर्ग्रन्थदिगम्बर साधु, प्रतिमाधारी अतीश्रावक और अद्वैतसम्यग्दृष्टि के भेद से पात्र तीन प्रकार के होते हैं । दान पात्र को ही दिया जाता है । अग्य को दिया हुआ दान नहीं होता । करुणादान कहा जाता है । व्रतियों को चार प्रकार का दान अवश्य देना चाहिए ॥५७॥

आहाराभयभेषज्यशास्त्रदानं जगद्धितम् ।

वेयं पुत्रि ! सुपात्रेभ्यो विधिना धर्महेतवे ॥५८॥

अन्वयार्थ—(पुत्रि !) हे पुत्रि ! (सुपात्रेभ्यः) श्रेष्ठ पात्रों को (विधिना) विधिसहित (धर्महेतवे) धर्म के लिए (आहाराभय भेषज्यशास्त्रदानम्) आहार, अभय, औषध और शास्त्र दान (जगद्धितम्) संसार का कल्याण करने वाला (दानम्) दान (देयम्) देना चाहिए ।

भावार्थ—चार प्रकार का दान तीन प्रकार के पात्रों को धर्मभावना से देना चाहिए ॥५८॥

पात्रदानेन भो राजन् नानासत्सम्पदां सुखम् ।

प्राप्यते परमानन्दं भो सुते ! शृणु वत्सले ॥६२॥

अन्वयार्थ—(भो राजन्) हे राजन् श्रीपाल (वत्सले) वात्सल्यमयी (भो सुते) हे पुत्रि (शृणु) सुनो (पात्रदानेन) पात्रदान करने से (नानासम्पदाम्) अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ (सुखम्) सुख (च) और (परमानन्दम्) क्रमशः परम आनन्द भी (प्राप्यते) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—पात्रदान मुख्य कर्त्तव्य है । श्रावकों को यह पात्रदान कल्पवृक्ष है । इच्छित सम्पदाओं का दाता है, सुखों का विधाता है और परम्परा से मोक्षरूप परमानन्द को भी देने वाला है ॥६२॥

दान का उपसंहार करते हैं—

आहारौषधशास्त्रदानमभयं दानं सुपात्रे त्रिधा ।

ये भव्या निजशक्तियुक्तसहिता नित्यं शुभं कुर्वते ॥

तेभव्या धनधान्यमन्यविभवं भुक्त्वाचिरं पावनम् ।

पश्चात्स्वर्गसुखं समाप्य सततं मोक्षं लभन्ते परम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (भव्या) भव्यजन (निजशक्तियुक्तसहिता) अपनी शक्ति के अनुसार (नित्यम्) प्रतिदिन (त्रिधा) तीन प्रकार के (सुपात्रे) सुपात्रों को (शुभं) शुभ (आहारः) आहार (औषधिः) औषध (शास्त्रम्) शास्त्रज्ञान और (अभयं) अभय (दानम्) दान (कुर्वते) करते हैं, (ते) वे (भव्या) भव्यजीव (धनधान्यम्) धन, धान्य (अन्यम्) और भी (विभवम्) वैभव (पावनम्) पुण्यरूप फल को (चिरम्) बहुत काल तक (भुक्त्वा) भोगकर (स्वर्गसुखम्) स्वर्ग के सुखों को (समाप्य) समाप्त कर (पश्चात्) तदनन्तर (सततम्) निरन्तर (परम्) सर्वोत्तम (मोक्षम्) मोक्ष को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जो भव्यात्मा तीन प्रकार के सत्पात्रों को सदाकाल यथाविधि शक्ति के अनुसार योग्यदान देते हैं, वे भव्य श्रावक जन धनधान्यवन्त होते हैं राजा, भण्डलेश्वर, चक्रवर्ती आदि के वैभव को प्राप्त करते हैं, स्वर्ग सम्पदा का भोग-उपभोग कर अन्त में परमानन्द रूप मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं । अमरत्व आनन्द को पाकर चिरकाल सुखानुभव करते हैं ॥६३॥

जिनेन्द्रभवनोद्धारं प्रतिमां पापनाशिनीम् ।

ये कारयन्ति धर्मज्ञास्ते सम्यग्दृष्टयोभुवि ॥६४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (जिनेन्द्रभवनोद्धारम्) जिनालय का निर्माण, (पापनाशिनीम्)

पापों का भञ्जन करने वाली प्रतिमा को (कारयन्ति) करवाते हैं (ते) वे (धर्मज्ञाः) धर्म के मर्म को जानने वाले (भुवि) संसार में (सम्यग्दृष्टयः) सम्यग्दृष्टि (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य श्रावक, जिनालय बनवाते हैं, प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराते हैं, तथा नानाविध रत्न पाषाणों के प्रतिविम्ब जिनप्रतिमाएँ बनवाकर प्रतिष्ठा करवाते हैं वे धर्म के ज्ञाता हैं और सम्यग्दृष्टि हैं । जिनप्रतिमाएँ पाप का नाश करने वाली हैं । अर्थात् जिनेन्द्रविम्बों का दर्शन करने से अनादि मिथ्यात्व रूप पापकर्म भी नष्ट हो जाता है । सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । अनन्त संसार का विच्छेद होता है ॥६४॥

कृत्वा पञ्चामृतनित्यमभिषेकं जिनेशिनम् ।

ये भव्याः पूजयन्त्युच्चैस्ते पूज्यन्ते सुरादिभिः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (भव्या) भव्य श्रावक-श्राविका (नित्यम्) प्रतिदिन (पञ्चामृताभिषेकम्) पञ्चामृत अभिषेक (कृत्वा) करके (जिनेशिनम्) जिनेन्द्र विम्बों को (पूजयन्ति) पूजते हैं पूजा करते हैं—(उच्चैः) विशेष प्रभावना, उत्सवादि कर (पूजयन्ति) पूजा करते हैं (ते) वे भव्यात्मा (सुरादिभिः) देवादिकों द्वारा (पूज्यन्ते) पूजे जाते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य श्रावक-श्राविका शुद्ध जल, दुग्ध, घी, दही, इक्षुरस सर्वापधि एवं नाना फलरसों, कल्कों द्वारा जिनविम्बों का अभिषेक करके अष्ट द्रव्य से पूजा करते हैं वे स्वयं पूज्य बन जाते हैं । अर्थात् देवता लोग उनकी पूजा करते हैं ॥६५॥

तथा श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजां पापप्रणाशिनीम् ।

ये कुर्वन्ति महाभव्यास्ते लभन्ते सुखं परम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (महाभव्या) आसन्नभव्य (तथा) उपर्युक्त विधि से (श्रीमज्जिनेन्द्राणाम्) श्री जिनभगवान की (पापप्रणाशिनीम्) पापों की नाशक (पूजाम्) पूजा को (कुर्वन्ति) करते हैं (ते) वे (परम्) उत्कृष्ट (सुखम्) सुख को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जो आसन्नभव्य जीव विधिवत् जिनेश्वर प्रभु की पूजा को करते हैं वे परमसुख को प्राप्त करते हैं ॥६६॥

यथा देवस्तथा जैनी वारुणी सन्मार्गदर्शिनी ।

गुरुणां चरणाभोजद्वयं पूज्यं सुखार्थिभिः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिसप्रकार (देवः) जिनदेव (सुखार्थिभिः) सुख चाहने वालों द्वारा पूज्य हैं (तथा) उसी प्रकार (सन्मार्गदर्शिनी) सत्यमार्ग दिखाने वाली (जैनीवाणी)

जिनवाणी (तथा) और (गुरुणाम्) गुरुओं के (चरणाम्भोज द्वयम्) चरणकमल दोनों भी (पूज्यम्) पूज्य हैं ।

भावार्थ—सुखार्थियों को जिस प्रकार अर्हत भगवान पूज्य हैं उसी प्रकार जिनवाणी और श्री गुरुचरणों को भी पूजा-भक्ति करना चाहिए । अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु तीनों ही की यथायोग्य भक्ति पूजा करना आवश्यक है ॥६७॥

पुनः स्तुत्वा जिनं नत्वा ये जयं कुर्वन्ते बुधाः ।

ते भव्यास्तत्सुखं प्राप्य निर्वृतिं यान्ति वेगतः ॥६८॥

अन्वयार्थ—(पुनः) फिर (ये) जो (बुधाः) बुद्धिमान (जिनं) जिनेन्द्र भगवान की (स्तुत्वा) स्तुति करके (नत्वा) नमस्कार करके (जयम्) जयजयकार (कुर्वन्ते) करते हैं (ते) वे (भव्याः) भव्यमनुष्य (वेगतः) शीघ्र ही (तत्सुखं) स्वर्गादिसुख (प्राप्य) प्राप्तकर निर्वृति) मोक्ष को (यान्ति) जाते हैं ।

भावार्थ—जिनेन्द्रभगवान की पूजा कर जो विद्वान भव्यजन जिनेन्द्रप्रभु की स्तुति करते हैं, नमस्कार करते हैं, तथा जयजयकार करते हैं । वे भव्यात्मा साररूप स्वर्गादि सुख को पाते हैं । पुनः शीघ्र ही मोक्ष सुख भी प्राप्त कर लेते हैं । जिनभगवान की भक्ति मुक्ति-दायिनी है ॥६८॥

पूज्यपूजाक्रमेणोच्चैः कृत्वा पूज्यतमो भवेत् ।

तस्माद् भव्यजनैर्नित्यं पूज्य पूजा न लङ्घ्यते ॥६९॥

अन्वयार्थ—(उच्चैः) विशेष माहात्म्य से (पूज्यपूजा) पूज्यों की पूजा (कृत्वा) करके (क्रमेण) क्रमशः (पूज्यतमो) पूजक ही पूज्यतम (भवेत्) हो जाता है । (तस्माद्) इसलिए (भव्यजनैः) भव्य जीवों द्वारा (नित्यम्) नित्य (पूज्य) पूजनीय-देव, शास्त्र गुरु की (पूजा) पूजा (न लङ्घ्यते) नहीं छोड़ना चाहिए ।

भावार्थ जो सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति, श्रद्धा, विनय से विधिवत् पूजा करता है वह स्वयं क्रमशः पूज्यतम-अर्हत हो जाता है । इसलिए भव्यों को उत्साहपूर्वक पूजा करनी चाहिए । कभी भी पूजा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥६९॥

तीर्थेशामभिषेचनात् सुरवरैस्संस्नाप्यते सादरम् ।

संपूज्यो वर पूजनैः स्तवनतः स्तुत्यो भवेद् धार्मिकैः ॥

संजप्यो जपनेन निर्मलधियां ध्येयस्सदाध्यातव्यः ।

जीवाः श्रीजिनबोधतो गुणनिधिः प्रान्ते भवेत् केवली ॥७०॥

अन्वयार्थ—(तीर्थेणाम्) धर्मतीर्थ के नायक श्रीतीर्थकर जिनदेव का (अभिषेचनात्) अभिषेक करने से (जीवाः) मनुष्यों का (सादरम्) आदर से (सुरवरैः) देवेन्द्रादि द्वारा (संस्नाप्यते) स्नान कराया जाता है, (पूजनैः) पूजने से (वर) श्रेष्ठ (संपूज्य) पूज्य, (स्तवनतः) स्तुति करने से (स्तुत्यः) स्तुतियोग्य (भवेद्) होता है, (धार्मिकैः) धर्मात्माओं से (जपनेन) भगवान का जप करने से वे (संजप्यः) जपनीय होते हैं (निर्मलधिषां) पवित्र बुद्धि से (सदा ध्यानतः) ध्यान करने से (ध्येयः) ध्येय हो जाता है, (श्रोजिनबोधतः) श्री जिनज्ञान से (गुणनिधिः) गुणों का भाण्डार (ग्रन्ते) अन्त में (केवली) केवलज्ञानी (भवेत्) होता है ।

भावार्थ—जो जिनेन्द्रभगवान का भक्तिभाव से पञ्चामृताभिषेक करते हैं वे सुरा-सुरेन्द्रों द्वारा अभिषिक्त किये जाते हैं । अर्थात् उनका देव इन्द्र अभिषेक करते हैं । अभिप्राय यह है कि वे भी तीर्थङ्कर पद पाते हैं । जो भगवान की पूजा करते हैं, वे स्वयं पूज्य हो जाते हैं । स्तवन करने से स्तुत्य-स्तुति के योग्य हो जाता है । जो जिनप्रभु का ध्यान करता है वह ध्येय बन जाता है । जप करने से स्वयं जपनीय हो जाता है, भगवान के स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी होते हैं और पुनः केवली भगवान हो जाता है ॥७०॥

श्रावक का अन्तिम कर्तव्य कहते हैं —

अन्ते सल्लेखनाकार्या जैनतत्त्वविदाम्बरैः ।

अनन्यशरणीभूतैः श्रित्वा श्रीपरमेष्ठिनः ॥७१॥

त्यक्त्वा मोहादिकं ग्रन्थं क्षमां कृत्वा च जन्तुषु ।

रागद्वेषं परित्यज्य, शुद्धात्मध्यानं तत्परैः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जैनतत्त्वविदाम्बरैः) जैन तत्त्व के ज्ञाता (अनन्यशरणीभूतैः) अनन्य-शरण होने वाले (श्रीपरमेष्ठिनः) श्रीपञ्चपरमेष्ठी का (श्रित्वा) आश्रय लेकर (अन्ते) आयु के अन्त में (सल्लेखना) समाधि (कार्या) करना चाहिए ।

(शुद्धात्मध्यानतत्परैः) शुद्ध आत्मध्यान में तत्पर रहने वाले (मोहादिकम्) मोह-मिथ्यात्व आदि (ग्रन्थम्) परिग्रह को (त्यक्त्वा) त्यागकर, (जन्तुषु) प्राणियों को-जीवमात्र को (क्षमां) क्षमा(कृत्वा) करके (च) और (रागद्वेषम्) राग द्वेष को (परित्यज्य) छोड़कर (सल्लेखना कार्या) समाधि करना चाहिए ।

भावार्थ—जो दान पूजा में रत रहने वाले, जैन तत्त्व के जानने वाले हैं तथा “एक-मात्र पञ्चपरमेष्ठी ही शरण है” इस प्रकार का अटल विश्वास रखने वाले हैं उनके द्वारा आयु के अवसान समय में विधिवत् समाधिमरण करना चाहिए । अर्थात् आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों का

त्याग कर धर्मध्यान पूर्वक कषाय और शरीर को कृष करते हुए महामन्त्र शमोकार का जाप करते हुए प्राण छोड़ना चाहिए ॥७१॥

एवं गुणव्रतं त्रेधा, शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ।

शर्मदंसूरिभिः प्रोक्तं भव्यानांशीलसप्तकम् ॥७३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार और भी (त्रेधा) तीन प्रकार (गुणव्रतं) गुणव्रत, (चतुष्टयम्) चार (शिक्षाव्रतम्) शिक्षाव्रत (सूरिभिः) आचार्य द्वारा (प्रोक्तम्) कथित (भव्यानां) भव्यों को (शर्मदम्) सुख करने वाले (शीलसप्तकम्) सप्तशीलव्रत (प्रोक्तम्) कहे गये हैं ।

भावार्थ—तीन गुण व्रत और चार शिक्षाव्रत ये ७ शीलव्रत कहलाते हैं ये व्रत सुख प्रदाता और दुःखहर्ता हैं ॥७३॥

इत्युच्चैर्जिनभाषितं शुभतरं स्वमोक्षलक्ष्मीकरम् ।

ये धर्मं प्रतिपालयन्ति सुधियो धर्मानुरागान्विताः ॥

ते भव्यास्त्रिदशादि सौख्यमतुलं संप्राप्य रत्नत्रयात् ।

पश्चाद्यान्ति शिवालयं सुखमयं श्रीबोधसिन्धुस्तुतम् ॥७४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (ये) जो (धर्मानुरागान्विताः) धर्मानुरागी (सुधियो) बुद्धिमान (जिनभाषितम्) जिनभगवान से कहा हुआ (शुभतरम्) पवित्र (स्वमोक्षलक्ष्मीकरम्) स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी को देने वाला (धर्मम्) धर्म (प्रतिपालयन्ति) पालन करते हैं (ते) वे (भव्याः) भव्य (रत्नत्रयात्) रत्नत्रय से (त्रिदशादिसौख्यम्) देवेंद्रों के सुख (अतुलं) अतुलनीय (सौख्यं) सुख (संप्राप्य) प्राप्तकर (पश्चात्) तदनन्तर (श्रीबोधसिन्धुस्तुतम्) गणधरादिस्तुत्य (सुखमयम्) सुखस्वरूप (शिवालयम्) मोक्षधाम को (यान्ति) जाते हैं ।

भावार्थ—उपर्युक्त धर्म का जो भव्यप्राणी पालन करते हैं वे स्वर्गमोक्ष के सुख प्राप्त करते हैं । जिनेन्द्र-सर्वज्ञ कथित धर्म ही वास्तविक सच्चा, दायमयी धर्म है । इसमें सर्वत्र जीव-रक्षण प्रधान है अतः “अहिंसा परमोधर्मः” ही वास्तविक धर्म है । इससे ही जीव संसार दुःखों का पाता है और अक्षय सुख प्राप्त करता है ॥७४॥

इत्येवंगुरुणा तेन प्रोक्तं धर्मं जिनेशिनाम् ।

श्रुत्वा श्रीपालराजस्तं समुत्थायकृताञ्जलिः ॥७५॥

भक्तितस्तं मुनिं नत्वा सुगुप्ताचार्यमुत्तमम् ।

भो स्वामिस्त्रिजगन्नाथं मुक्त्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ॥७६॥

तथा साधून्मुनीन्द्रांश्च परित्यज्य कदाचन ।

अन्यस्मै न करिष्यामि नमस्कारं महामुने ॥७७॥

अन्वयार्थ—(इति एवम्) इस प्रकार (तेन) उन (गुरुणा) गुरुदेव (प्रोक्तं) कथित (जिनेश्वरनाम्) जिनभगवान के (तं) उस (धर्मे) धर्म को (श्रुत्वा) सुनकर (श्रीपाल राजा) श्रीपालभूपति (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़कर (समुत्थाय) उठकर (भक्तितः) भक्ति से (तं) उन (उत्तमम्) श्रेष्ठतम (सुगुप्ताचार्यम्) सुगुप्ति नाम के आचार्य (मुनि) मुनि को (तत्त्वा) नमस्कार कर (अवदत्) बोला, (ओ स्वामिन्) हे स्वामिन्, (महामुने) हे मुनीन्द्र ! (कदाचन) कभी भी (जगन्नाथम्) जगदीश्वर (ओमज्जिनेश्वरम्) श्रीसर्वज्ञ-भगवान को (मुक्त्वा) छोड़कर (तथा) तथा (साधून्) साधु-वीतरागी दिगम्बर साधुओं (च) और (मुनीन्द्रान्) आचार्यों को (परित्यज्य) छोड़कर (अन्यस्मै) दूसरों के लिए (नमस्कारम्) नमस्कार (न) नहीं [करिष्यामि] करूँगा ।

भावार्थ—श्रीसुगुप्ताचार्य मुनिराज का धर्मोपदेश श्रवण कर महाराज श्री श्रीपालजी को परमानन्द हुआ । अन्तरङ्ग बोध जाग्रत हुआ । भक्ति और श्रद्धा से गद्गद् हो उठा । दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर बड़ी विनय से खड़े होकर गुरुदेव से प्रार्थना की कि “हे प्रभो ! मैं जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और जिनगुरु-दिगम्बर मुनि को छोड़कर अन्य किसी को भी नमस्कार नहीं करूँगा ।” यह आजन्मव्रत पालूँगा । सम्यग्दर्शन का यही चिन्ह है । या यों कहो यही सच्चा व्यवहार सम्यग्दर्शन है जो नियम से निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है ॥७७॥

इत्यादिकं प्रजल्प्योच्चैः परमानन्दनिर्भरः ।

सम्यक्त्वं त्रिजगत्सारं स्वचक्रे परमार्थतः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार प्रजप्ति (उच्चैः) विशेष रूप से (प्रजप्य) प्रकट करके (परमानन्दनिर्भरः) परमानन्द से भरे श्रीपाल ने (परमार्थतः) यथार्थ (त्रिजगत्सारम्) तीनों लोकों का सारभूत (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (स्वीचक्रे) स्वीकार किया ।

भावार्थ—श्रीपाल भूपति ने मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक परम आनन्द से परमार्थ सम्यग्दर्शन स्वीकार किया । सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में सार है । स्वर्गादि के सुखों के साथ मोक्षलक्ष्मी का समर्थ कारण है ।

पुनर्मुनिर्जगादोच्चैः शृणुत्वं पुत्र वक्षिसे ते ।

सर्वसिद्धिप्रदं सिद्धचक्रपूजा विधानकम् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(पुनः) पुनः (मुनिः) मुनिराज (उच्चैः) विशेष (जगाद) बोले,

(पुत्र !) हे पुत्र ! (त्वं) तुम (शृणु) सुनो (ते) तुम्हें (सर्वसिद्धिप्रदम्) सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाला (सिद्धचक्र पूजा) श्री सिद्धचक्रपूजा (विधानकम्) विधान को (वच्मि) कहता हूँ ।

भावार्थ—श्री आचार्य परमेष्ठी कहने लगे, हे पुत्र ! श्रीपाल अब मैं आपको श्री सिद्धचक्रपूजा विधान का स्वरूप बतलाता हूँ । यह विधान सर्व सिद्धियों का करने वाला है । भयङ्कर और असाध्य रोगों की भी रामबाण औषधि है । आत्मसिद्धि का विशेष साधन है । आप सावधानी से सुनिये ॥७६॥

सिद्धचक्र विधान महिमा—

येन श्रीसिद्धचक्रस्य पूजनेन जगत्त्रये

रोग शोक सहस्राणि क्षयं यान्ति क्षणार्द्धतः ॥८०॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (श्रीसिद्धचक्रपूजनेन) श्री सिद्धचक्र के पूजने से (जगत्त्रये) तीनों लोकों में (सहस्राणि) हजारों (रोग शोक) रोग व्याधियाँ, आधियाँ (मानसिक पीड़ाएँ) (क्षणार्द्धतः) निमिषमात्र में, आधे ही क्षण में (क्षयम्) नष्ट (यान्ति) हो जाती है ।

भावार्थ—इस सिद्धचक्र के पूजन से हजारों आधि-व्याधि क्षणमात्र ही विलीन हो जाती हैं । सिद्ध समूह की अर्चना कर्मों के कटु विपाक का नाश करने वाली है । पुण्य की वृद्धि करने वाली है ॥८०॥

शत्रवो मित्रतां यान्ति विघ्नासर्वे प्रयान्ति च ।

शान्तिस्सम्पद्यते, शीघ्रं वह्निश्चापि जलायते ॥८१॥

अन्वयार्थ—(च) और (शत्रवः) शत्रु (मित्रतां) मित्रता को (यान्ति) प्राप्त हो जाते हैं, (सर्वे) सम्पूर्ण (विघ्नाः) विघ्न (प्रयान्ति) नष्ट हो जाते हैं-दूर होते हैं, (शीघ्रम्) जल्दी ही (शान्तिः) शान्तिता (सम्पद्यते) प्राप्त होती है (च) और (वह्निः) अग्नि (अपि) भी (जलायते) पानीरूप परिणामित हो जाती है ।

भावार्थ—सिद्धचक्र की आराधना करने से शत्रुसमूह मित्रमण्डल बन जाता है, अनेकों विघ्नसमूह दूर भाग जाते हैं, शीघ्र ही शान्ति मिलती है यहाँ तक कि अग्नि भी जलरूप हो जाती है ॥८१॥

विषं निर्विषतामेति पशवः पन्नगादयः ।

तेऽपि सर्वे प्रशाम्यन्ति सिद्धचक्रप्रपूजनात् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(विषम्) जहर (निर्विषताम्) विषरहित (एति) होता है (पन्नगा-

दयः) सर्प, सिंह, व्याघ्रादि क्रूर (पशवः) पशुगण हैं (ते) वे (अपि) भी (सर्वे) सर्व (सिद्ध-चक्रप्रपूजनात्) सिद्धचक्र को सम्पन्न पूजा करने से (प्रशाम्यन्ति) पूर्ण शान्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—सिद्धचक्रविधान-पूजा से भयङ्कर प्राणघातक जहूर भी अमृत समान पोषक हो जाता है । सर्प, सिंह, बराह, व्याघ्र, नकुल अष्टापदादि महाक्रूर हिंस्र जीव भी अनायास शान्त हो जाते हैं अर्थात् हिंसाकर्म को छोड़ देते हैं । तथा और भी कहते हैं ॥८२॥

डाकिनी शाकिनी चापि भूताः प्रेतादयाः खलाः ।

वैरभावं परित्यज्य सेवां कुर्वन्ति भक्तितः ॥८३॥

अन्वयार्थ—यही नहीं (डाकिनी) डाकिनी (शाकिनी) शाकिनी (च) और (भूताः) भूत (खलाः) दुष्ट (प्रेतादयः) प्रेतादि (वैरभावम्) शत्रुभाव को (परित्यज्य) छोड़कर (भक्तितः) भक्ति से (सेवाम्) (सेवा) (कुर्वन्ति) करते हैं ।

भावार्थ—दुष्ट स्वभावी अहित करने वाले डाकिनी, शाकिनी भूत, पिशाचादि व्यन्तर देवता अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं । इतना ही नहीं वे वैर भाव छोड़कर सेवक बन जाते हैं ॥८३॥

पुत्रमित्र कलत्रादि सज्जनाश्चित्तरञ्जनाः ।

भवन्ति स्नेहिनी नित्यां, सिद्धचक्रप्रसादतः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(सिद्धचक्रप्रसादतः) सिद्धचक्र के प्रसाद से (नित्यम्) नित्य ही (पुत्र) बेटा (मित्र) दोस्त (कलत्रादि) स्त्री, भाई बहिन, काकी ताई आदि सगे सम्बन्धी (चित्तरञ्जनाः) मन को प्रसन्न करने वाले, (स्नेहिनी) प्रीति करने वाले (च) और (सज्जनाः) सज्जन (भवन्ति) हो जाते हैं ।

सार देवेन्द्रचक्रादि सम्पदो विविधास्सदा ।

मणि मुक्ताफल प्रायास्संप्राप्यन्ते पदे पदे ॥८५॥

अन्वयार्थ—सिद्धचक्रपूजा से (पदे पदे) पग-पग पर (देवेन्द्र) इन्द्र (चक्रादि) चक्र-वर्ती आदि की (विविधाः) नाना प्रकार की (सम्पदा) सम्पत्ति (सदा) हमेशा (मणि) मणि (मुक्ताफल) मोती आदि (प्रायः) प्रायः करके (सम्प्राप्यन्ते) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—सिद्धचक्रविधानपूजा से नाना रत्न, हीरा, मोती, इन्द्र की विभूति, चक्र-वर्ती का वैभव आदि नाना प्रकार की विभूतियाँ स्वयमेव आ उपस्थित होती हैं । पग-पग पर सम्पत्ति पीछे-पीछे दौड़ती है । बिना प्रयत्न के श्रेष्ठ लक्ष्मी आकर वरण करती है ॥८५॥

अहो राजन्न हो पुत्रि ! यच्छुभं भुवनत्रये ।
तत्सर्वं सिद्धचक्रस्य पूजनेन भवेदलम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(अहो!) हे (राजन्!) राजन् (अहो पुत्री!) हे पुत्रि! (भुवनत्रये) तीनों लोकों में (यत्) जो (शुभम्) शुभरूप पदार्थ हैं (तत्) वह (सर्वं) सर्व (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (पूजनेन) पूजा से (भवेत्) होता है (अलम्) अधिक क्या कहें ?

भावार्थ—आचार्यदेव स्पष्ट कर रहे हैं हे नृपति ! हे मदनसुन्दरी ! तीन लोक में जितना भी जो कुछ शुभरूप पदार्थ हैं वे सब सिद्धचक्र पूजा से प्राप्त होते हैं । मोक्ष भी मिलता है अन्य की क्या बात ? ॥८६॥

किं सुते बहुनोक्तेन सिद्धचक्रविधानतः ।
प्राप्नुवन्तिस्सदाभव्या स्वर्गमोक्षश्रियं ध्रुवम् ॥८७॥

अन्वयार्थ—(सुते!) हे पुत्रि ! (बहुना) अधिक (उक्तेन) कहने से (किं) क्या प्रयोजन ? (सिद्धचक्रविधानतः) सिद्धचक्र पूजा करने से (भव्याः) भव्यजीव (सदा) सदैव (ध्रुवम्) निश्चय से (स्वर्ग-मोक्ष श्रियम्) स्वर्ग, मोक्ष को लक्ष्मी को (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं ।

अब सिद्धचक्र विधान करने की विधि को कहते हैं—

तत्कथंक्रियते चेति विधानं शृणु पुत्रिके !
आषाढे कार्तिकेमासे फाल्गुने सुमनोहरे ॥८८॥

अन्वयार्थ—(पुत्रिके!) हे पुत्रि ! (तत्) वह विधान (कथम्) किस प्रकार (क्रियते) किया जाता है (इति) इस क्रिया को (शृणु) सुनो, (सुमनोहरे) सुन्दर-शुक्ल पक्ष में (आषाढे, कार्तिके मासे फाल्गुने) आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन (मासे) महीने में ॥८८॥

यदायदा समायाति पर्वतन्दीश्वरं शुभम् ।
तदा तदा समारभ्य विधानमिदमुत्तमम् ॥८९॥

अन्वयार्थ—(यदा यदा) जब जब (शुभम्) शुभ (पर्वतन्दीश्वरम्) नन्दीश्वरपर्व (समायाति) आता है (तदा-तदा) तब तब (इदम्) यह (उत्तमम्) उत्तम (विधानम्) विधान (समारभ्य) प्रारम्भ करके ॥८९॥

शुक्लाष्टमी समारभ्य दिनान्यष्टौ जगद्धिते
जिनेन्द्रभवने शोभां कृत्वा त्रैलोक्य मोहिनीम् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(शुक्लाष्टमी) तीनों मास में शुक्लपक्ष की अष्टमी से (समारम्भ) आरम्भ कर (जगद्धिते) संसार का हित करने वाले (अष्टौ) आठों (दिनानि) दिन तक (जिनेन्द्रभवने) जिनालय में (त्रैलोक्यमोहिनीम्) तीनों लोकों को मुग्ध करने वाली (शोभाम्) शोभा (कृत्वा) करके ॥६०॥

गृहीत्वा सद्गुरोराज्ञां भव्यानां शर्मदायिनीम् ।

यथाशक्ति समादाय सत्तपोऽपि सुखप्रदम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(भव्यानाम्) भव्य को (शर्म) शान्ति (दायिनीम्) देने वाली (सद्गुरोः) सद्गुरु की (आज्ञाम्) आज्ञा (गृहीत्वा) लेकर (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार (सुखप्रदम्) सुख देने वाले (सत्तपः) उत्तम तप को (अपि) भी (समादाय) लेकर धारण कर पुनः और भी ॥६१॥

ब्रह्मचर्यव्रतं पूतं गृहीत्वा तद्दिनाष्टकम् ।

कारयित्वा च जीवानामभयं शर्मकारकम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(तद्दिनाष्टकम्) उस अष्टमी के दिन से आठ दिन तक (पूतं) पवित्र (ब्रह्मचर्यव्रतम्) ब्रह्मचर्य व्रत को (गृहीत्वा) धारण कर (च) और (शर्मकारकम्) सुख देने वाला (जीवानाम्) जीवों को (अभयम्) अभयदान (कारयित्वा) करवा कर ॥६२॥

स्वर्णादिविहितेपात्रे पवित्रे सुमनोहरे ।

चन्दनागुरुकर्पूरद्रव्येण शुभकारिणा ॥६३॥

अन्वयार्थ—(सुमनोहरे) मन को मोहने वाले (पवित्रे) पवित्र (स्वर्णादिपात्रे) सुवर्ण आदि के पात्र में (विहिते) स्थापित किये (चन्दनागुरु) चन्दन, अगुरु एवं (शुभकारिणा) पुण्यवर्द्धक (कर्पूरदि) कर्पूर लवंगादि (द्रव्येण) द्रव्य से ॥६३॥

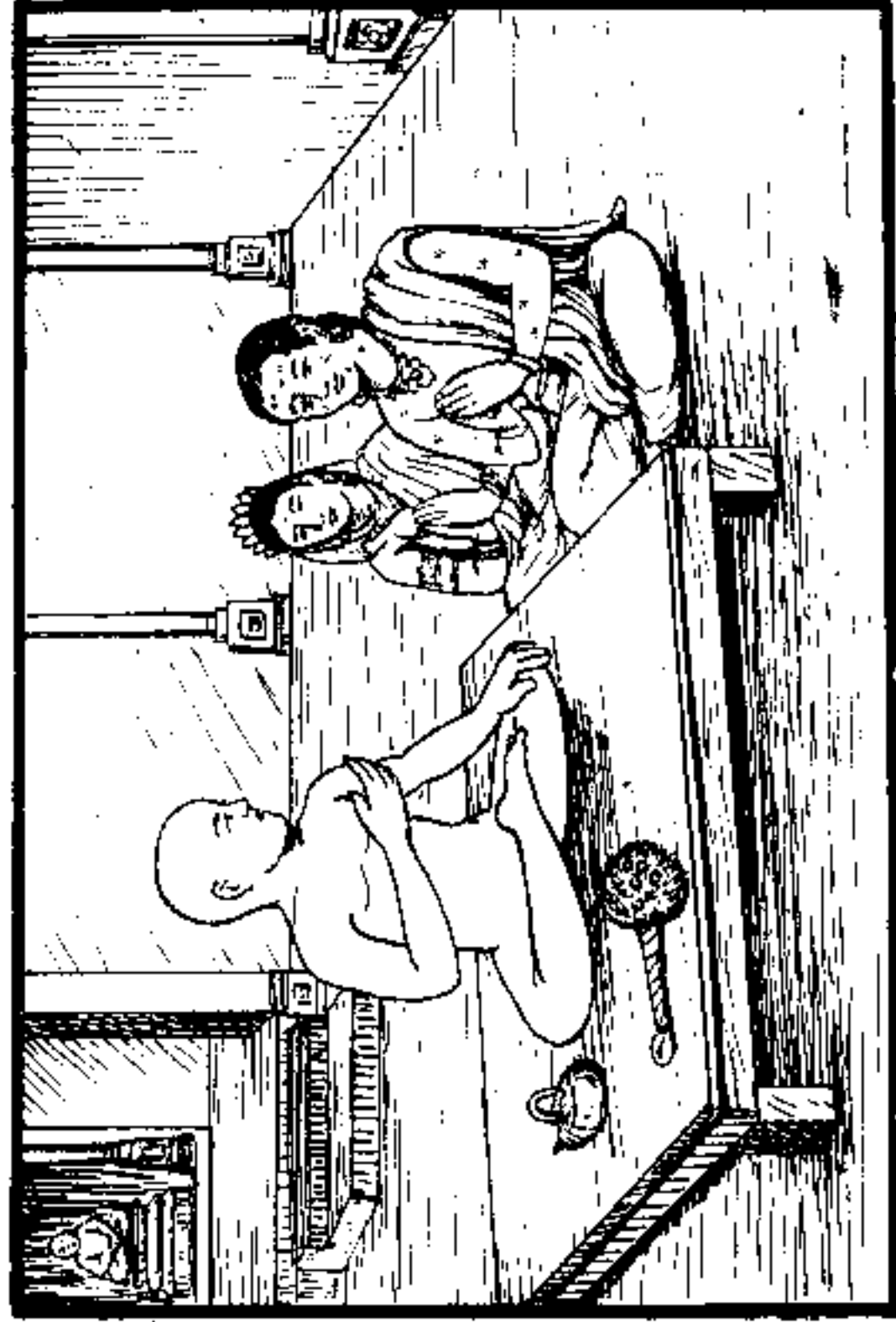
सिद्धचक्रमहायन्त्रं समुद्धृत्य विचक्षणैः ।

पूर्वाचार्योपदेशेन हंकाराद्यैर्महाक्षरैः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(पूर्वाचार्योपदेशेन) पूर्वाचार्यों के उपदेश के अनुसार (विचक्षणैः) अद्भुत (हंकाराद्यैः) हे आदि (महाक्षरैः) महान अक्षरों से (सिद्धचक्रमहायन्त्रम्) सिद्ध-चक्रमहायन्त्र को (समुद्धृत्य) रचकर—लेकर ॥६४॥

सौवर्णं रजतं ताम्रं यन्त्रं वा क्रियते शुभम् ।

जिनेन्द्रप्रतिमागे वा पीठे संस्थाप्य निश्चले ॥६५॥



आचार्य श्री म०नामुन्दरी की सिद्धचक्र विधान की विधि बताते हुए ।

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (सौवर्णं रजतं, ताम्रं) सोने, चाँदी व ताम्र के (शुभम्) शुभ (यन्त्रं) यन्त्र (क्रियते) करे-बनवावे (जिनेन्द्रप्रतिमाग्रं) जिनबिम्ब के आगे (निश्चले) स्थिर (पीठे) सिंहासन पर (संस्थाप्य) स्थापित कर-विराजमान कर-॥६५॥

तद्वयं पञ्चपीयूषैः सत्तोयेक्षु घृतादिभिः ।

दुग्धैर्दधिप्रवाहैश्च स्नापयित्वा महोत्सवैः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(तद्वयम्) उन प्रतिमा और यन्त्र दोनों का (महोत्सवैः) महाउत्सव-पूर्वक (सत्तोयेक्षु) शुद्धजल, इक्षुरस (दुग्धैः) दूध (च) और (दधिप्रवाहैः) दही के प्रवाह से (घृतादिभिः) घृत आदि (पञ्चपीयूषैः) पञ्चामृतों द्वारा (स्नापयित्वा) स्नपन-अभिषेक करके-पुनः ॥६६॥

कर्पूरागरूकाश्मोरचन्दनैलादिवस्तुभिः ।

सर्वोषधिजलेनोच्चैः प्रक्षाल्यपरमादरात् ॥६७॥

अन्वयार्थ—(कर्पूरागरूकाश्मोरचन्दनैलादि) कपूर, अगुरु, केशर, चन्दन इलायची, लवङ्ग, जावित्री, जायफल आदि (वस्तुभिः) वस्तुओं से मिश्रित (सर्वोषधि जलेन) सर्वोषधि के जल से (उच्चैः) विशेष रूप से (परमादरात्) परमभक्ति से (प्रक्षाल्य) प्रक्षालन-अभिषेक करके-भक्ति से पूजा करे ।

भावार्थ—हे पुत्रि उस सिद्धचक्र विधान को कब, किस प्रकार किस विधि से करना चाहिए यह मैं (आचार्य श्री) कहता हूँ,—आषाढ, कार्तिक और सुमनोज फाल्गुन महीने में जब-जब नन्दीश्वर पर्व आता है तब ही करना चाहिए ॥६८-६९॥ शुक्लपक्ष की अष्टमी से प्रारम्भकर आठ दिन तक पूजा करें । प्रथम श्री जिनालय की आकर्षक, मनमोहक शोभा करें । अर्थात् घण्टा, ध्वजा, तोरण, वन्दनवार, छत्र, चमरादि से सुसज्जित करें । तीनों लोक को मुग्ध करने वाली अनुपम झालर, माला आदि से शोभा करें ॥६०॥ पूजा करने के उत्साह से भक्ति पूर्वक गुरु सांनिध्य में जाकर विनम्र प्रार्थना कर पूजा विधान की आज्ञा मांगें । गुरु आज्ञा और साक्षी में किया विधि-विधान विधिवत् होने से विशेष सुख का हेतु होता है । अतः आज्ञा लेकर यथाशक्ति सुखदायक श्रेष्ठ तप धारण करें—अनशन-ऊनोदरादि तप लेवें ॥६१॥ गुरु साक्षी में आठ दिन के लिए शुद्ध अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें । महान सुख की खनिरूप सर्वजीवों को अभयदान दिलावे । अर्थात् आठ दिन तक कोई भी किसी प्रकार की हिसान न करें इस प्रकार का प्रयत्न-उपाय करें—करावें ॥६२॥ पूर्वाचार्यों के उपदेशानुसार हँ बीजाक्षर तथा अन्य बीजाक्षरों से सहित सिद्धचक्रयन्त्र की रचना करें । ये बीजाक्षर महा अक्षर कहे जाते हैं और विशिष्ट शक्ति एवं प्रभाव से युक्त होते हैं । बुद्धिमानों को यथाविधि सुवर्ण, रजत अथवा ताम्र पत्र पर शुभ योग में यन्त्र रचना करें—बनावें । उस यन्त्र को जिनेन्द्रप्रभु की प्रतिमा के सामने सिंहासन पर विराजमान करें । अभिषेक का पीठ अचल रहना चाहिए । प्रतिमाजी स्थिर रहें इसका ध्यान रखना चाहिए । यन्त्र को स्वर्णादि के पात्र में पवित्र, मनो-

हर शुभप्रदायक चन्दन, अगुरु कर्पूरादि द्रव्यों से लिखना चाहिए ॥६३, ६४, ६५॥ अचल अभिषेक पीठ पर श्री जिनप्रतिमा जी और सिद्धचक्रयन्त्रराज की जो स्वर्ण-रजतादि के पत्रे पर खुदा हुआ हो, विराजमान करे । तदनन्तर मन्त्रादि बोलकर विधिवत् शुद्धभावों से पवित्र जल, इक्षुरस, घृत (घी) दूध, दही, सबों वधि इन पञ्चामृतों से क्रमशः अभिषेक करे सुगन्धित केशर चन्दन का लेपन कर पुष्पवृष्टि करे, आरती उतारे पुनः कर्पूरादि से सुवासित स्वच्छ जलाभिषेक करे । स्वच्छवस्त्र से श्री जिनविम्ब को पोछे, यंत्र पोछ कर विराजमान करे । तदनन्तर अष्टद्रव्यों से भक्तिपूर्वक परम आदर से अष्टद्रव्यों के द्वारा पूजा करे ॥६६-६७॥ अथ क्रमशः अष्टद्रव्यों से पूजन का विधान बतलाते हैं । सर्व प्रथम जल से पूजा करें—

कर्पूरवासितैः स्वच्छैः पवित्रैस्तोर्थवारिभिः ।

पूजनीयं जगत्पूज्यं सर्वसिद्धिकरं परम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(कर्पूरवासितैः) कपूर मिश्रित सुगन्धित (स्वच्छैः) प्रासुक (पवित्रैः) पवित्र (तीर्थवारिभिः) गङ्गादि तीर्थों के जल से (सर्वं) सम्पूर्ण (परम) उत्कृष्ट (सिद्धिकरम्) सिद्धियों के करने वाले (जगत्पूज्यम्) विश्ववन्द्य-संसारपूजित सिद्धचक्र (पूजनीयं) पूजने योग्य है अर्थात् पूजा करना चाहिए ।

भावार्थ—श्रीजिनविम्ब और यन्त्र की विधिवत् आह्वानादि पूर्वक स्थापना कर सर्व प्रथम जल से पूजा करना चाहिए । जल गंगादि पवित्र तीर्थों का हो, पुनः यथायोग्य वापिकादि का भी हो सकता है, परन्तु शुद्ध होना चाहिए यथा विधि छना हो कर्पूर लवंगादि से सुवासित - प्रासुक किया हो । इस प्रकार के परम पवित्र जल से सम्पूर्ण सिद्धियों के दाता, विश्व-पूज्य सिद्धचक्र की जल पूजा करना चाहिए ॥६८॥

चन्दन पूजा का स्वरूपः—

चासचन्दनकाश्मीरकर्पूरागरुसत्त्वैः ।

अर्चनीयं जगत् पाप ताप संदोह नाशनम् ॥६९॥

अन्वयार्थ—(जगत्पापताप संदोह) संसार पाप ताप के समूह को (नाशनम्) नष्ट करने को (चास) सुन्दर (चन्दन) मलयागिरिचन्दन, (काश्मीर) केशर (कर्पूर) कपूर (अगुरु) अगर से (सत्त्वैः) तैयार चन्दन से (अर्चनीयम्) अर्चा करना चाहिए ।

भावार्थ—संसार जन्म पाप, ताप का नाश करने के लिए चन्दन से श्रीजिनपूजन-सिद्धचक्रपूजन करना चाहिए । चन्दन चढ़ाने से संसार संताप का नाश होता है । वह चन्दन शुद्ध मलयागिरि का, केशर से युक्त होना चाहिए ।

अक्षतैरक्षतैर्घोतैस्तुङ्गपुञ्जोक्तैस्सितैः ।

पूज्यते परमानन्ददायको मुक्तिनायकः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(धौतैः) धुले हुए (सितैः) सफेद (अक्षतैः) अखण्ड (अक्षतैः) चावलों से (तुङ्गपुञ्जी) ऊँचे पुञ्ज (कृतैः) करके (मुक्तिनायकः) मुक्ति के नायक (परमानन्द) परमोत्कृष्ट आनन्द के दायक (पूज्यते) पूजने योग्य हैं। अक्षतपूजा का वर्णन हुआ।

भावार्थ—बासमती आदि उत्तम अखण्ड चावलों को शुद्ध जल से धोना चाहिए। उन पवित्र चावलों को दोनों मुट्टियों से भरकर श्री जिनभगवान व यन्त्रराज के सम्मुख पुञ्ज-रूप में चढ़ाना चाहिए। ध्यान रहे अक्षत रकेबी आदि से नहीं बढावे क्योंकि पुञ्ज मुट्टी से ही चढ़ाये जा सकते हैं। चावल टूटे नहीं होना चाहिए। यह अक्षत पूजा अक्षयपद, परमानन्द को देने वाली है। पुष्पपूजा ॥१००॥ का स्वरूपः—

जातिचम्पक पुन्नागैः पद्माद्यैः कुसुमोत्करैः ।

इन्द्रादिभिः समभ्यर्च्यमर्चयन्तु बुधोत्तमाः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रादिभिः) इन्द्रादि द्वारा पूज्य (समभ्यर्च्यम्) पूजनीय जिनेन्द्र-भगवान को (बुधोत्तमाः) उत्तम बुद्धिमान भव्य श्रावक (जाति चम्पक) जाति, मल्लिका, चम्पा (पुन्नागैः) पुन्नाग, केशर (पद्माद्यैः) कमल, गुलाब जुही, चमेली आदि (कुसुमोत्करैः) सुन्दर सुगन्धित पुष्पसमूहों से (अर्चयन्तु) पूजा करें

भावार्थ—सिद्धचक्र-जिनभगवान की १०० इन्द्र नाना प्रकार के उत्तमोत्तम पुष्पों से पूजा करते हैं। उन जिन-सिद्ध प्रभु की भव्य श्रावक वृन्द को भी भक्तिभाव से जुही, चमेली, जाति, पाटल, पुण्डरीक, कमल, नागकेंसर, मल्लिका आदि के सुवासित, मनोहर पुष्पों से पूजा करना चाहिए। इस पूजा से कामवासना का नाश होता है और परिणाम विशुद्धि होती है ॥१०१॥

पक्वान्नेश्चारूपीपूषेर्व्यञ्जनाद्यैरनुत्तमैः ।

दुःखदारिद्र्य दौर्भाग्यदावानल घनाघनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(चारु) सुन्दर (पिषूषैः) मधुर अमृतमय, (अनुत्तमैः) अपूर्व (व्यञ्जनाद्यैः) पक्वान्नों (पक्वान्नेः) सुपच्य अन्नों से की गई पूजा (दुःखदारिद्र्य) दारिद्र्य से उत्पन्न दुःख (दौर्भाग्य) दुर्भाग्यजन्य पीडा रूपी (दावानल) दावाग्नि के लिए (घनाघनम्) घनघोर घटा से घिरा मेघ है।

भावार्थ—नाना प्रकार के मधुर लाडू, पेडा, बर्फी, खाजा ताजा और शुद्ध बनाकर, बाटी आदि धृत पूरित पक्वान्नों से तथा खीरादि व्यञ्जनों से प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रभगवान, सिद्धचक्रादि की पूजा करना चाहिए। इस पूजा से दरिद्रता, दुर्भाग्य से उत्पन्न कष्टरूपी दावानल क्षणमात्र में उस प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार वनखण्ड में लगी दवाग्नि मेघवर्षण से शान्त हो जाती है ॥१०२॥

अर्च्यते रत्नकर्पूरसद्दीपैर्ध्वान्तनाशनैः ।

अज्ञानतमसस्तोम विध्वंसनमनुत्तरम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(याः) जो (ध्वान्तनाशनैः) अन्धकार का नाश करने वाले (रत्न, कर्पूरसद्दीपैः) रत्नों, कर्पूर के श्रेष्ठ दीपकों से (अर्च्यते) पूजा करते हैं (तेषाम्) उनका (अज्ञानतमस्तोम) अज्ञानरूपसघन अन्धकार (अनुत्तरम्) अतिशयरूप से (विध्वंसनम्) नाश को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—रत्नों के दीपों से अथवा कर्पूरसद्दीपों के दीपों से जो श्री जिनेन्द्रप्रभु, सिद्ध प्रभुओं की अर्चना करता है उसका प्रगाढ मोहान्धकार विनीत हो जाता है ॥१०३॥

कृष्णागर महाधूपः पूज्यते परमादरात् ।

दुष्टाष्टकर्मकाष्ठौघ दहनैक हुताशनम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—जो (दुष्टाष्टकर्म) दुष्ट अष्टकर्मों रूपी (काष्ठौघ) काष्ठ के समूह को (दहनैक) जलाने में एकमात्र (हुताशनम्) अग्निरूप है उस धूप पूजा को (परमादरात्) परम आदर से (कृष्णागर) कृष्णागर (महाधूपः) अष्टाङ्ग या दशाङ्ग धूप से (पूज्यते) पूजा करते हैं वे भव्य कर्मकाष्ठ को जलाते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य दशाङ्ग धूप से पूजा करते हैं उनके अष्टकर्म नष्ट हो जाते हैं । धूप अग्नि में खेई जाती है । अग्नि धूप को भस्मकर चारों ओर सुगन्ध फैलाती है उसी प्रकार यह धूप पूजा पूजक के आठ कर्मरूपी ईर्ष्य को भस्मकर उसके अनन्तगुणों को प्रकट करती है ॥१०४॥

नालिकेराभ्रजम्बीर दाडिमादि फलोत्करैः ।

स्वर्गमोक्षसुखप्राप्त्यै समाराध्यम् विचक्षणैः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(विचक्षणैः) विदग्ध-चतुर बुद्धिमानों को (स्वर्गमोक्षसुखप्राप्त्यैः) स्वर्ग और मोक्ष के सुख पाने के लिए (नालिकेरः) नारियल (आभ्रजम्बीर) आम, विजौरा (दाडिमदि) अनार, अंगूर, संतरा, केलादि (फलोत्करैः) फल समूहों से (समाराध्यम्) श्री जिन की आराधना-पूजा करनी चाहिए

भावार्थ—सुन्दर, सुपक्व, ताजे, मधुर फलों से श्री जिन प्रभु, सिद्धभगवानादि की पूजा करने से स्वर्ग और मोक्ष की सम्पदा प्राप्त होती है । अतः हे पुत्रि ! तुम सुमनोज्ञ उत्तम फलों से सिद्धचक्र पूजा करो ॥१०५॥

तोयगन्धाक्षताद्यैश्च घृत्वाद्यैर्भव्यसत्तमः ।

स्वर्णपामैपुनश्चाध्यै, कृत्वा स्तुतिमिमा पठेत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(भव्यसत्तमः) भव्योत्तम, (स्वर्णपात्रे) सुवर्ण के थाल में तोय-
गंधाक्षताद्यैः) जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, धूप, फल (धृत्वा) रखकर (च) और
(अर्घ्यं) अर्घ्य (कृत्वा) बनाकर चढ़ावे (पुनश्च) और पुनः (अर्घ्यम्) अर्घ्य (कृत्वा) बना-
कर (इमाम्) इस-निम्न (स्तुतिम्) स्तुति को (पठेत्) पढ़े ।

भावार्थ—भव्योत्तम पूजक, स्वर्णपात्र—थाल में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु,
दीप, धूप और फल इन आठों द्रव्यों को स्थापित कर पूर्णभक्ति, विनय से अर्घ्यावतारण करें ।
पुनः आठों द्रव्यों को हाथ में लेकर निम्न प्रकार स्तोत्र पढ़ें ॥१०६॥

सम्यक्त्वादि गुणौघरत्ननिलयं देवेन्द्रवृन्दार्चितम् ।
दुष्कर्मारिकठोर दारुदहनं योगीन्द्रसंसेवितम् ॥
लोकालोकविलोकनेक कुशलं संसारसंतापहम् ।
भक्त्या मुक्तिसुखैककारणमहं श्रीसिद्धचक्रं स्तुवे ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वादि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यादि (गुणौघ) गुणसमूह (रत्न)
रत्नों का (निलयम्) भाण्डार, (देवेन्द्रवृन्द) देवैन्द्रों के समूह से (अर्चितम्) पूजनीय, (कठोर)
कठिन (दुष्कर्म) पापकर्मरूपी (अरि) शत्रु स्वरूप (दारु) लकड़ी को (दहनम्) जलाने में
समर्थ, (योगीन्द्रसंसेवितम्) योगीन्द्रों से सेवनीय, (लोकालोक) लोक और अलोक (विलोक-
नेक) देखने में एकमात्र (कुशल) योग्य, (संसारतापहम्) संसारताप का नाशक, (मुक्ति-
सुखैककारणम्) मोक्षरूप सुख का एकमात्र हेतुभूत (श्रीसिद्धचक्रम्) श्री सिद्धचक्र को (अहम्)
मैं (भक्त्या) भक्ति से (स्तुवे) स्तुति करता हूँ ।

जय सिद्धचक्रदेवाधिदेव सुरनर विद्याधर विहितसेव ।
जय सिद्धचक्रभयचक्रमुक्त, मुक्तिश्रीसङ्गम शर्मशक्त ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(देवाधिदेव) देवों के देव (सुरनरविद्याधर) देव, मनुष्य और विद्याधर
(विहितसेव) सेवा में रहते हैं हे (सिद्धचक्र) सिद्धचक्र (जय) जयन्त रहो । (भयचक्रमुक्त)
भय समूह से रहित (मुक्तिश्रीसंगम) मुक्तिलक्ष्मी के संग (शर्मशक्त) सुख और अनन्त बल
सहित (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र (जय) आपकी जय हो ॥१०८॥

जय सिद्धचक्रपरमात्मरूप, पावनगुणरञ्जित परमभूष ।
जय सिद्धचक्र कर्मारिवीर, दुस्तरभवसागर लब्धतीर ॥१०९॥

अन्वयार्थ—आप (परमात्मरूप) परमात्मस्वरूप हो (पावनगुणरञ्जित) पवित्र-
गुणों से शोभित हो (कर्मारि) कर्मशत्रु को (वीर) भुभट हो (दुस्तर) भयङ्कर (भवसागर)
संसार जलधि का (लब्धतीर) किनारा पाने वाले (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र (जय) जय हो ।
(परमभूष) सर्वोत्तम शासक हो (जय सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र जयशील रहो ॥१०९॥

जय सिद्धचक्रसम्यक्त्वसार सञ्ज्ञानसमुद्रसमाप्तपार ।

जय सिद्धचक्रदर्शनविशुद्ध, वीर्यार्जितगुणगणमणि समिद्धि ॥११०॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वसार) सम्यग्दर्शन का सार (सञ्ज्ञानसमुद्रसमाप्तपार) सम्यग्ज्ञानरूपी सागर के तीर पाने वाले केवली (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र देव ! (जय) जय-शील होओ, आप ही (दर्शनविशुद्ध) विशुद्धदर्शन हो (वीर्यार्जित) स्व वीर्य से अर्जित (गुण-गणमणि) गुणमणियों से (समिद्धि) सम्पन्न हो (सिद्धचक्र) हे सिद्धसमूह आपकी (जय) जय हो ।

जय सिद्धचक्र सूक्ष्मस्वभाव अवगाहनगुण सम्यक्त्वभाव ।

जय सिद्धचक्र गुरुलघुविमुक्त अव्याधिबाधलक्षणनिरक्त ॥१११॥

अन्वयार्थ—हे (सिद्धचक्र) सिद्धचक्र आप (सूक्ष्मस्वभाव) सूक्ष्मस्वभावी, (अवगा-हनगुण) अवगाहनगुण युक्त, (सम्यक्त्वभाव) सम्यक्त्व गुण युक्त हो आपकी (जय) जय हो (गुरुलघुविमुक्त) अगुरुलघुगुणधारी, (अव्याधिबाध) अव्याधाध (लक्षण) स्वभाव, चिन्ह (रक्त) लीन (सिद्धचक्र) सिद्धचक्र (जय) जय हो ।

जयसिद्धचक्र दुर्गति विनाश, दुर्व्याधिहरणजनपूरिताश ।

जयसिद्धचक्र करुणासमुद्र, भुवनत्रयमण्डन नत मुनीन्द्र ॥११२॥

अन्वयार्थ—यह (सिद्धचक्र) सिद्धचक्र (दुर्गतिविनाश) दुर्गतियों का नाश करता है (दुर्व्याधिहरण) क्लिष्ट रोगों का नाशक (जन आशा) मनुष्यों की आशा (पूरितः) पूर्ण करने वाला है (करुणा) दया का (समुद्र) सिन्धु, (भुवनत्रय) तीनों लोकों का (मण्डन) शृंगार (नतमुनीन्द्र) मुनीन्द्रों से भी नमस्करणीय है (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र देव ! (जय जय) आपकी जय हो, जय हो ।

जय सिद्धचक्र लोकप्रसिद्ध, कालत्रय सम्भवभावशुद्ध ।

जय सिद्धचक्र चारित्रसार, मूनिजन संसेवित मुक्तिहार ॥११३॥

अन्वयार्थ—(लोकप्रसिद्ध) संसार प्रसिद्ध (कालत्रय) तीनों कालों में (शुद्धभाव) पवित्र भावों का (सम्भव) उत्पादक (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र ! (जय) जय हो, (चारित्रसार) आप ही उत्तम चारित्र के सार हो (मूनिजन संसेवित) मुनियों से सेवनीय (मुक्तिहार) मुक्ति-वधू के कण्ठहार (सिद्धचक्र !) हे सिद्धचक्र आपकी जय हो ।

जय सिद्धचक्र कविराजपूज्य, सम्प्राप्तशिवालय परमराज्य ।

जय सिद्धचक्र हृतदोषचक्र, तनुवातस्थित सनम्रशक्र ॥११४॥

अन्वयार्थ (कविराजपूज्य) महानकवियों से पूज्य, (शिवालय) शिवमहल का (परमराज्य) उत्तम राज्य (सम्प्राप्तः) प्राप्त करने वाले (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र देव ! (जय) जयशील रहो । (दोषचक्रहृतः) दोष समूहों को नष्ट करने वाले (तनुवातस्थित) तनुवातबलय-लोकाग्रभाग में स्थित (नम्रशक्र) इन्द्र द्वारा नमित (सिद्धचक्र) हे सिद्धचक्र (जय) आपकी जय हो ।

जय सिद्धचक्रचित्तौघहरण, निजनाममात्र सम्पत्तिकरण ।

जय सिद्धचक्र निश्चलचरित्र, भवसागरतारणयानपात्र ॥११५॥

अन्वयार्थ—(चित्तौघहरण) चित्तसमूह के हरण हारे (निजनाम मात्र) अपने नाम मात्र लेने वाले को (सम्पत्तिकरण) इच्छित सम्पत्ति करने वाले, (निश्चल) अचल (चरित्र) चारित्रधारी (भवसागर) भव समुद्र (तारण) पार होने को (यानपात्र) जहाज हैं (सिद्धचक्र) देव ! हे (सिद्धचक्र) सिद्धसमूह (जय, जय) जय हो, जय हो ॥

इतिसिद्धसमूहं, निर्गतमोहं, यः स्तोति विशुद्धमतिः ।

सभवति गुणचन्द्रः परमजिनेन्द्रः सिद्धसौख्य सम्पत्तिततिः ॥११६॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (सिद्धसमूहम्) सिद्धचक्र (निर्गतमोहम्) मोह रहित, को (यः) जो (विशुद्धमतिः) निर्मलबुद्धि (स्तोति) स्तुति करता है (सः) वह (सिद्धसौख्य-सम्पत्तिः) सिद्ध सुख की सम्पत्ति का (ततिः) अधिपति (गुणचन्द्रः) गुणों का चन्द्रमा (परमजिनेन्द्रः) महान जिनेन्द्र भगवान् (भवति) होता है ।

भावार्थ—अष्टद्रव्यों से क्रमशः पूजाकर पूर्ण अर्घ्य चढ़ाकर पुनः स्वर्ण पात्र में अष्ट द्रव्य भरकर हाथ में ले अर्घ्य उतारण करते हुए इस स्तुति को भव्यजन परमभक्ति, वित्तय से पढ़ें । स्तुति निम्न प्रकार है—

सम्यक्त्वादि गुणरत्नों के भाण्डार, शतइन्द्रों से पूज्य, दुष्कर्मकाष्ठ को भस्म करने वाले प्रज्वलित अग्नि, योगियों से वन्दित, लोक और अलोक को एक साथ देखने वाले हे सिद्धचक्र देव ! आपकी जय हो । आप संसार ताप का नाश करने वाले हो, जो भक्ति से आपकी सेवा करता है आप उसे मुक्तिपद प्रदान करते हैं । मैं आपका स्तवन करता हूँ ।

सिद्धचक्र देव ! आप देवों के देव हैं, देव इन्द्र, विद्याधर, चक्री सभी आपकी सेवा में रत रहते हैं । आप भयचक्र के नष्ट करने वाले हैं । आपकी जय हो । आप मुक्ति का सङ्ग्रह कराने वाले आपकी जय हो । आप परमात्मस्वरूप हैं, पावनगुणों के आकर नृपति हैं, सब मनरञ्जक आपकी जय हो । कर्मशत्रु के संहारक संसार सागर के तटपर पहुँचे सिद्धचक्र भगवन् आपकी जय हो । आप अक्षय परमावगाढ सम्यक्त्वधारी हैं, ज्ञान सागर के पारगामी हैं—केवल ज्ञान सम्पन्न हैं । दर्शनविशुद्धि से युक्त हैं । स्ववीर्य से अर्जित अनेक गुणगणों से

सम्पन्न हो । आपकी जय हो । आप सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, सम्यक्त्व, अगुरुत्व, अव्याबाधगुणों से युक्त हैं आप की जय हो, आप जयवन्त रहो । आप करुणासागर हैं, तीनों लोकों के आभूषण हो, मुनियों के ईश हो आपकी जय हो, जय हो । आप तीनलोक प्रसिद्ध हो, शुद्धभाव युक्त शुद्धभावों के कारण हो, हे सिद्धसमूह ! आपकी जय हो । परमोत्तम चारित्र के सार हैं, महान यति, ऋषि, मुनियों से ससेवित हैं, हे सिद्धचक्र देव ! आप की जय हो, जय हो । आप मुक्ति-बधु के कण्ठहार हैं, काविराजों से पूज्य हो, परमशिवालय में निवास करने वाले राजधिराज हैं आपकी जय हो, दोषसमूह के नाशक हो, तनुवातवलय में स्थित रहने वाले हैं, शक्रादि आपके चरणों में नतगिर हैं. आपकी जय हो । प्राणीमात्र के मनों को बश करने वाले हो, आपका नाममात्र लेने वाले को नाना सम्पत्तियों का खजाना प्राप्त होता है । आप अचल चारित्र के धारी हैं । संसार उदधि को पार करने के लिए जहाज हैं । आपकी जय हो, जय हो, सदा जय हो ।

इस प्रकार यह सिद्धसमूह, मोह का पूर्णनाश करने वाला है । जो विशुद्ध मति इस सिद्धचक्रदेव की स्तुति करते हैं वे महागुणों के भाण्डार हो जाते हैं, पूर्णचन्द्रसमान दैदीप्यमान होते हैं, अनन्त सुख सम्पत्ति के आगार होते हैं, परम जिनेन्द्ररूप हो जाते हैं ॥१०७ से ११६॥ इस प्रकार पूर्ण श्रद्धाभक्ति से स्तवनकर निम्न मन्त्र का १०८ बार जप करे -

अष्टोत्तरशतेनोच्चैर्जपैः पाप प्रणाशनैः ।

अ सि आ उ सा इत्येवं जपनीयं च तद्धितम् ॥११७॥

अन्वयार्थ- (अ सि आ उ सा) अ सि आ उ सा (इति) इस मन्त्र का जाप (पाप-प्रणाशनैः) पापों का नाश करने के लिए (एवं) इस प्रकार (तत्) उस (हितम्) हितेच्छु को (अष्टोत्तरशतेन) एक सौ आठ बार (उच्चैः) विशेष पल्लवादि सहित (जपैः) जपों से (जपनीयम्) जाप करना चाहिए (च) और क्रिया पूर्ण करे ।

भावार्थ-—“ऊँ हीं अह असि आ उ सा नमः । इस मन्त्र का विधिवत् जाति, मल्लिकादि पुष्पों से १०८ बार जाप करे । यह मन्त्र सर्वपापों का नाश करने वाला और सुख-शान्ति का देने वाला है । इस प्रकार पूजा करके पूर्ण भक्ति और श्रद्धा से हे पुत्रि तुम गन्धोदक से अपने पति और अन्य सभी कुष्ठियों को सर्वाङ्ग में अभिसेचन करो ॥११७॥ तथाहि -

तत् स्नानगन्धतोयेन सिक्तव्यं तव वल्लभः ।

गत व्याधिस्तथा कामदेवो वा सम्भविष्यति ॥११८॥

अन्वयार्थ-—हे पुत्रि ! (तत्) उस अभिषेक से (स्नानगन्धतोयेन) अभिषेक के गन्ध-मिश्रित गन्धोदक से (तव) तुम्हारा (वल्लभः) पति (सिक्तव्यम्) अभिसिंचित किया जाना चाहिए (तथा) इस प्रकार करने से (व्याधिः) रोग (गतः) रहित (वा) तथा (कामदेवः) कामदेव सदृश सुन्दर (सम्भविष्यति) हो जायेगा ।

अन्वयार्थ—श्री मदनसुन्दरी को उसका उपदिष्ट करते हुए आदेश प्रदान कर रहे हैं कि हे पुत्रि ! श्रीजिनदेव और यन्त्र का जो पञ्चामृताभिषेक तुमने किया था उस गन्धोदक को तुम्हारे पति के सम्पूर्ण शरीर को छिड़को अर्थात् सर्वअङ्गों में सिर से पैर तक स्नान कराने के समान लगाओ । निश्चय ही इससे उसका रोग नष्ट होगा । तथा उसका सौन्दर्य कामदेव के समान हो जायेगा ॥११८॥

इत्यादि सिद्धचक्रस्य विधानं शर्मदायकम् ।

श्रुत्वा श्रीपतिनासाद्धं, तदा मदनसुन्दरी ॥११९॥

तदव्रतं त्रिजगत्सारं, ग्राहयित्वा निजं पतिम् ।

गृहीत्वा च स्वयं भक्त्या, परमानन्द निर्भरा ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(इत्यादि) उपर्युक्त सर्वविधि सहित (शर्मदायकम्) सुखदायक (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र विधान पूजा (विधानम्) विधान को (श्रीपतिनासाद्धं) अपने पति के साथ (श्रुत्वा) सुनकर (तदा) तब (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी ने ॥११९॥

(परमानन्दनिर्भरा) परम आनन्द से हर्षित उस मदनसुन्दरी ने (तत्) वह (त्रिजगत्सारम्) तीनों लोकोंसारस्वरूप (व्रतम्) व्रत को (निजम्) अपने (पतिम्) पति को (ग्राहयित्वा) धारण कराकर (च) और (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (स्वयं) अपने भी (गृहीत्वा) ग्रहण-धारण करके ॥१२०॥

मुनिं नत्वा सुभावेन गृहमागत्य सा सती ।

सिद्धचक्रमहायन्त्रं, चारु चामीकरोद्भवम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(सुभावेन) उत्तम भाव से (मुनिम्) मुनिराज को (नत्वा) नमस्कार कर (सा) उस मैना (सती) साध्वीस्वरूपा (गृहम्) घर (आगत्य) आकर (चारु) सुन्दर शुद्ध (चामीकर) सुवर्ण से (सिद्धचक्रमहायन्त्रम्) सिद्धचक्रमहायन्त्र को (उद्भवम्) खुदवाया तथा

कारयित्वा तदा शीघ्रं पूर्वोक्तविधिना शुभम् ।

सामग्रीं सा विधायोच्चैर्जगच्चेतोऽनुरञ्जनीम् ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (सा) उस सुन्दरी ने (शीघ्रम्) अतिवेग से (पूर्वोक्त) ऊपर बताई (विधिना) विधि से (शुभम्) मङ्गलमयी (जगत्) प्राणिमात्र का (चेतः) चित्त-मन (अनुरञ्जनीम्) हरण करने वाली (सामग्रीम्) पूजासामग्री को (उच्चैः) विशेषरूप से (विधाय) तैयार कराकर (कारयित्वा) करवाकर—

स्वयं स्नात्वा पवित्रात्मा धौतवस्त्रसमन्विता ।

जिनेन्द्रभवनेरस्ये कृत्वा शोभां मनः प्रियाम् ॥१२३॥

अन्वयार्थ—वह पवित्रता (स्वयं) स्वयं (पवित्रात्मा) पावन भावनायुत (स्नात्वा) स्नान करके (धौतवस्त्रसमन्विता) सफेद शुद्धवस्त्र धारण कर (रस्ये) सुन्दर (जिनेन्द्रभवने) जिनालय में (मनःप्रियाम्) मनोरञ्जक (शोभाम्) शोभा (कृत्वा) करके पुनः

विशिष्टाष्ट महाद्रव्यैर्जलगन्धाक्षतादिभिः ।

पूजामेकां शुभां चक्रे सिद्धचक्रस्यशर्मदाम् ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(जलगन्धाक्षतादिभिः) जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप धूप फलादि (विशिष्ट) विशेष (अष्ट) आठ (महाद्रव्यैः) उत्तम द्रव्यों से (शुभाम्) शुभ (शर्मदाम्) शान्तिदायक (सिद्धचक्रस्य) सिद्धसमूह की (एकाम्) प्रथम दिवस की (पूजाम्) पूजा (चक्रे) की ।

भावार्थ—आचार्य श्री ने सिद्धचक्रपूजा विधान की सम्पूर्ण विधि जिस प्रकार उपदिष्ट की उसे मदनसुन्दरी ने ध्यान पूर्वक श्रवण किया तथा इस सुख शान्ति विधायक सिद्धचक्रविधान विधि को मैनासुन्दरी ने अपने पति के साथ सुना । परमभक्ति से वह व्रत अपने पतिदेव को दिलवाया तथा स्वयं ने भी यही व्रत लिया । हर्षातिरेक से गद्गद् दोनों दम्पति व्रत लेकर प्रसन्न हुए । महाभक्ति से विनयपूर्वक हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर नमस्कार किया । परम शुभ भावों से दोनों घर आये । उस महासती शिरोमणि ने पतिभक्ति से सुवर्ण के पत्रे पर सिद्धचक्र यन्त्र को तैयार करवाया । महायन्त्र तैयार होने पर उस पतिव्रता ने अन्य अष्ट द्रव्यों को समन्वित किया । सभी सामग्री पूर्णशुद्ध, उज्ज्वल और मनोहर थी । उस शोभनीय सामग्री को देखकर सबका मन मोहित हो जाता है । विशेष-विशेष जल फलादि एकत्रित करवाये । पुनः स्वयं सती ने स्नान किया । शुद्ध, सफेद वस्त्र धारण किये । जिनालय में जाकर सर्वप्रथम मन्दिर जी को शोभित किया । मनोरम तोरण, पताका, बण्टा, चमर, छत्र, सिंहासन आदि से सुन्दर साज-सज्जा से सजाया । आज कल कुछ अपने को मुमुक्षु कहने वाले कहते हैं कि वीतराग भगवान का मन्दिर भी वीतरागी जैसा रहना चाहिए । परन्तु उन्हें आचार्य श्री की व्याख्या पर ध्यान देना चाहिए । सरागी जीव, मनुष्य भगवान के सातिशयी पुण्य का प्रदर्शन कर अपने भावों को पवित्र करते हैं । त्यागभाव की वृद्धि करते हैं । लोभ कषाय का शमन करते हैं । इन्द्र कुवेर द्वारा समवशरण की अनुपम शोभा कराता है तो क्या भगवान को सरागी बनाता है ? नहीं । भगवान की महिमा का प्रदर्शन कर अपने अनन्त अशुभ कर्मों की निर्जरा करते हैं । यह सम्यक्त्व के प्रभावना अङ्ग का प्रदर्शन है । अतः जिनालय धवल मङ्गल-गान आदि से गुञ्जित रहता है । अतएव मैनासुन्दरी ने भी नाना उपकरणों से जिनालय को सज्जित किया । पुनः प्रथम अष्टमी के दिन की पूजा विशिष्ट-विशिष्ट

जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से श्री सिद्धचक्र महायन्त्र की पूजा समाप्त की ॥१२४॥

रात्रौ जागरणं कृत्वा संघेन महता सह ।

नवम्यां दशधोपेतां तथा स्तवन पूर्वकम् ॥१२५॥

अन्वयार्थ — (महता) बहुत (संघेन) समुदाय के (सह) साथ करके (तथा) तथा (स्तवन) स्तोत्रादि (पूर्वकम्) सहित (जागरणं) जागरण (कृत्वा) करके (नवम्याम्) नवमी के दिन (दशधोपेताम्) दशगुणी सामग्री से तथा दशगुणो वैभव से पूजा की ।

दशम्यां शतधा पूजामेकादश्यां सहस्रधा ।

द्वादश्यां तद्दशोपेतां त्रयोदश्याञ्च लक्षिकाम् ॥१२६॥

दशलक्षगुणां पूजां चतुर्दश्यां विधाय च

कोटिधा पूर्णिमायाञ्च, पूजां चक्रे शुभाशया ॥१२७॥

अन्वयार्थ — (शुभाशया) पवित्र भावना से (दशम्यां) दशमी के दिन में (शतधा) सौगुनी (एकादश्याम्) ग्यारस के दिन (सहस्रधा) हजार गुणित (द्वादश्याम्) बारस को (तद्दशोपेताम्) उससे दशगुणी अर्थात् दशहजारगुणी (च) और (त्रयोदश्याम्) तेरस के दिन (लक्षिकाम्) लाखगुनी (पूजां) पूजा (विधाय) करके (च) और (पूर्णिमायाम्) पूर्णिमा को (कोटिधा) करोड़गुनी महिमा से (पूजाम्) पूजा को (चक्रे) की ।

भावार्थ — अष्टान्हिका महापर्व के प्रारम्भ होते ही मैनासुन्दरी ने गुरु आज्ञा प्रमाण नन्दीश्वर व्रत प्रारम्भ किया, श्रीपाल ने भी व्रत किया । परन्तु सिद्धचक्र विधान मदनसुन्दरी ने ही स्वयं आरम्भ किया । प्रथम अष्टमी के उपर्युक्त प्रमाण अत्यन्त वैभव से पूजा की तथा रात्रि में जागरण किया-कराया, स्तुतिपाठ, भजनादि सिद्धसमूह की भक्ति की । नवमी के दिन अष्टमी की अपेक्षा १० गुने वैभव भक्ति से विधि-विधान महोत्सव किया । दशमी के दिन उससे भी अधिक १०० पट द्रव्यों से आराधना की । एकादशी को हजार गुणित नानाविध नानासामग्री से मण्डलविधान पूजा कर श्री सिद्धचक्र की आराधना की । द्वादशी के दिन दश-हजारगुने, त्रयोदशी के दिन लक्ष-लाख गुने और पूर्णिमा के दिन करोड़गुने वैभव, द्रव्यादि से श्री सिद्धचक्र की अर्चना कर अपने को धन्य समझा । भावों की पवित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गई और पापों का क्षय भी उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होता गया । पुण्य की वृद्धि भी उसी प्रकार होती गई । इस प्रकार आठ दिन तक लगातार ठाठ-बाट से पूजा, आराधना की ॥१२५, १२६, १२७॥

तदा श्री जिनसिद्धानां, स्नान गन्धोदकेन च ।

तच्चन्दनान्वितेनोच्चै, स्तयाति परमादरात् ॥१२८॥

नित्यं यथा यथा भर्ता, सिक्तो लिप्तस्तथा तथा ।

दिनं दिनं प्रसिद्ध्यस्तं, सिद्धचक्र प्रभावतः ॥१२६॥

स श्रीपालो लसत्वालो, दिव्यमूर्तिर्भवस्तथा ।

अष्टमे दिवसे प्राप्ते, नष्ट व्याधिर्बभूव सः ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब उन आठों दिनों में प्रतिदिन (तथा) मैनासुन्दरी ने (अति) अत्यन्त (परमादरात्) परम आदर से (नित्यम्) प्रतिदिन (श्रीजिनसिद्धानाम्) श्रीजिनेन्द्र-भगवान् और सिद्धों के (तत्) उस (चन्दनान्वितेन) शुभचर्चित चन्दन से युक्त (स्नानतोयेन) गन्धोदक से (यथा-यथा) जैसे-जैसे (भर्ता) पति (सिक्तः) अभिसिंचित किया (च) और (लिप्तः) लिप्त किया गया (तथा-तथा) वैसे-वैसे (सिद्धचक्रप्रभावतः) श्री सिद्धचक्र के प्रभाव से (दिन-दिन) प्रतिदिन (प्रतिव्यवत्) स्पष्टरूप से (सः) वह (बालः) बाल (श्रीपालः) श्रीपाल (लसत्) शोभित हुआ (तथा) और (दिव्यमूर्तिः) सुन्दरमूर्ति (भवन्स) होता हुआ (अष्टमे) आठवें (दिवसे) दिनके (प्राप्ते) प्राप्त होते ही (सः) वह (नष्टव्याधिः) रोगरहित (बभूव) हो गया ।

भावार्थ—पतिव्रता, उस मैनासुन्दरी ने अखण्डब्रह्मचर्य से पावन मन, वचन काय से आठ दिन तक व्रत पूर्वक श्रीसिद्धचक्र की विधिवत् अभिषेक पूजा की । नित्य प्रति श्रीजिनेन्द्र-प्रतिमा सहित सिद्धचक्रग्रन्थ का पञ्चामृताभिषेक करती थी अनन्तर चन्दन लेपन कर उस गन्ध और गन्धोदक से अपने पति श्रीपाल का आपादमस्तक-शिर से पैर तक गन्धोदक छिड़कती और चन्दनलेपन करती । जैसे-जैसे प्रतिदिन वह गन्धोदक स्नान कराती गई वैसे-वैसे महाराज श्रीपाल के शरीर से व्याधि निकल कर उस प्रकार भागती गई जैसे मयूर को देख कर सर्प भाग खड़े होते हैं । दिन-प्रतिदिन उसका रूप लावण्य निखरने लगा, महा साता होती गई, पीड़ा शमित होती गई । आठवें दिन कञ्चन सी काया हो गई । व्याधि पूर्णतः नष्ट हो गई । वह कुण्ठी श्रीपाल अब दिव्यरूप हो गया । आमूल काया पलट हो गई । तथा ॥१२८ से १३०॥

पूर्वं रूपादपि प्राप्त रूपसौभाग्य सम्पदः ।

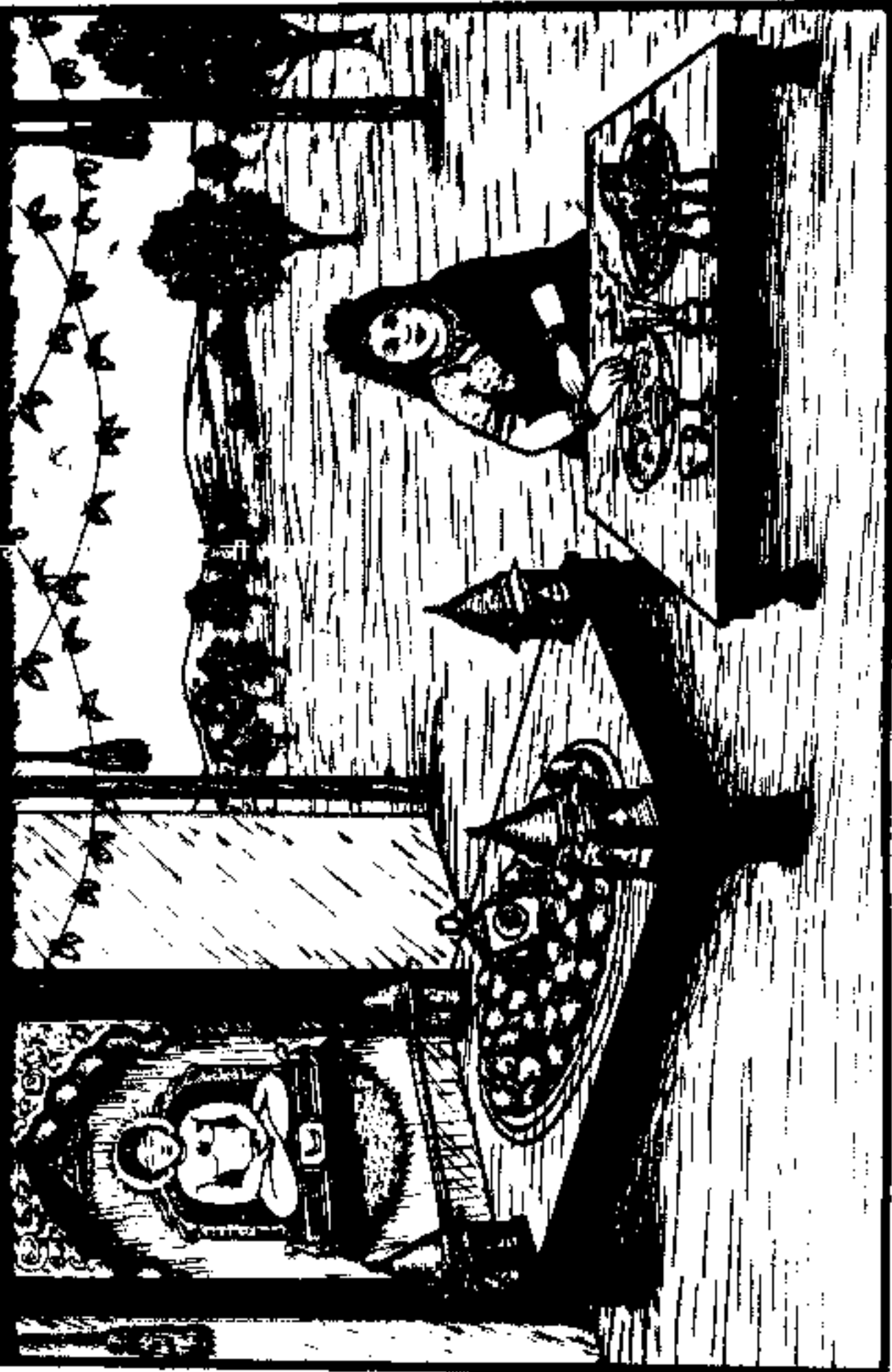
कामदेवसमाकारः कान्त्याजित सुधाकरः ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(पूर्वं) पहले (रूपात्) सौन्दर्य से (अपि) भी अधिक (रूप) सौन्दर्य (सौभाग्य) सौभाग्य (सम्पदः) सम्पत्ति (प्राप्तः) प्राप्त हुई । (कामदेवसमाकारः) आकार कामदेव सदृश, (कान्त्याजित सुधाकरः) कान्ति से चन्द्रमा को भी जीतने वाला रूप (प्राप्तः) प्राप्त हुआ ।

त्रिजगद् वनिताधृन्व मनोभाणिक्य मोहनः ।

सिद्धचक्रप्रसादेन जगद्व्याप्य यशोधनः ॥१३२॥

क :- अन्तर्गत





श्री सिद्धचक्र विधान पूजा के प्रताप से श्रीपाल एवं ७०० कोटी व्याधि मुक्त हो गये ।

अन्वयार्थ—(सिद्धचक्रप्रसादेन) सिद्धचक्र भक्ति के प्रसाद से (त्रिजगद्) तीनलोक की (वनिताबृन्द) नारी समूह के (मनोमणिक्यमोहनः) मन रूपी मणिक्यरत्न को मोहने वाला, (जगद्व्याप्य) संसार व्यापी (यशोधनः) यशरूपी धन (प्राप्तः) प्राप्त किया ।

भावार्थ—इतना ही नहीं । जन्म का जितना सौन्दर्य था उससे भी अधिक रूप लावण्य सम्पत्ति प्राप्त हुयी । श्रीसिद्धचक्र के प्रसाद से रूप, सौभाग्य सम्पदा अनुलनीय हो गई । कामनेत्र सदन आकाश हो गया । गरोर की कान्ति से चन्द्र की शोभा को भीजीत लिया । चन्द्र जिस प्रकार सबका मन आह्लादित करता है उसी प्रकार उसका शरीर सौन्दर्य तीनों लोकों की सुन्दरियों के मनमणिक्य को मोहने वाला प्रकट हुआ । इतना ही नहीं सौम्य आकृति के साथ यश भी जगद्व्यापी हुआ । सिद्धचक्र महिमा, पातिव्रत धर्म प्रताप और जिन-शासन महात्म्य की यशोपताका तीनों लोकों में फहराने लगी । अर्थात् सुरासर नर विद्याधर लोक में सर्वत्र इस सिद्धचक्र की महिमा और मैनासुन्दरी का श्रद्धाप्रताप व्याप्त हो गया । ॥१३१, १३२॥

तथा तथा तदा सर्वे ते सप्तशतकुष्ठिनः ।

तेन गन्धाम्बुना शीघ्रं विहिता व्याधिर्वर्जिताः ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(तथा) उसी प्रकार (तथा) मदनसुन्दरी द्वारा (तदा) तब (ते) वे (सर्वे) सभी (सप्तशत) सातसौ (कुष्ठिनः) कुष्ठी भी (तेन) उस (गन्धाम्बुना) गन्धोदक सिंचन से (शीघ्रम्) शीघ्र ही (व्याधि) रोग (वर्जिता) रहित (विहिता) किये गये ।

भावार्थ—दयाद्रचित्ता, जिनागमपरायणा उस मैनासुन्दरी ने जिस प्रकार अपने पति-देव की सुश्रुषा की उसी प्रकार उसके साथी ७०० कुष्ठियों की भी परिचर्या की । धर्मिमा स्वभावतः परोपकार निरत रहते हैं । प्रतिदिन अभिषेक के गन्धोदक को उन सभी कुष्ठियों पर छिड़कती । अतः सभी उस असाध्यरोग से मुक्त हो गये । निस्वार्थसेवी प्राणीमात्र के प्रति समभावी होते हैं ॥१३३॥

सिद्धचक्रस्य पूजायाः फलं प्रत्यक्षतामिताम् ।

तेऽपि संवीक्ष्य जैनेन्द्र धर्मलग्नाः स्वभावतः ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(ते) वे ७०० कुष्ठी (अपि) भी (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (अमिताम्) अमित (पूजायाः) पूजा के (फलम्) फल को (प्रत्यक्षतः) प्रत्यक्ष (संवीक्ष्य) सम्यक् प्रकार देखकर (जैनधर्मे) जैनधर्म में (स्वभावतः) स्वभाव से (लग्नाः) लग गये अर्थात् स्वीकार किया ।

भावार्थ—सिद्धचक्र पूजा के महात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर अन्य ७०० कुष्ठी भी जिन-धर्म में इह श्रद्धालु हो गये । अन्य को प्राप्त फल को देखकर श्रद्धाभक्ति जाग्रत होती है । यदि स्वयं को ही फल मिले तो फलदाता के प्रति भक्ति क्यों न होगी ? अवश्य ही होगी । वे सभी

जिनधर्मपरायण हो गये । अटूट वैभव उन्हें प्राप्त हुआ उसी प्रकार अकाट्य भक्ति भी आश्रित हो गई । मैना रानी का सुयश विश्वव्यापी बन गया । सर्वत्र उसका यशोगान होने लगा । आज तक उसका स्तवन संसार कर रहा है और आगे भी करता रहेगा । लोकोक्ति है “पहला सुख निरोगी काया” यदि शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं तो उपलब्ध भोगोपभोग सामग्री उपयोग हो सकता है अन्यथा पाना, न पाना दोनों समान हैं । अतएव वे निरोग हो गये मानों तीनलोक का वैभव मिल गया । जिनधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होने से उन्हें संसारोच्छेदक सम्यक्त्व रत्न प्राप्त हुआ ॥१३४॥ आचार्य श्री कहते हैं—

सत्यं सत्सङ्गतिर्लोके फलत्युच्चैर्भूतफलम् ।
कल्पवल्लीव सत्सौख्यं परमानन्ददायिनी ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) सत्य ही है (लोके) संसार में (परमानन्द) उत्कृष्ट आनन्द (दायिनी) देनेवाली (सत्सङ्गति) सज्जनों की सङ्गति (कल्पवल्ली) कल्पलता (इव) समान (उच्चैः) उत्तम (सत्सौख्यम्) यथार्थ सुख रूप (मदत्) महान् (फलम्) फलों को (फलति) देती है—फलती है ।

भावार्थ—संसार में सङ्गति का विशेष महत्त्व है । क्योंकि मनुष्य स्वभाव से दूसरों का अनुकरण करना चाहता है । सज्जनों की सङ्गति से उसमें सज्जनता का संचार होता है । मानवता आती है । मानवीय गुणों का प्रकाश, विकास और वर्द्धन होता है । इसीलिए यहाँ परमोपकारी आचार्य श्री ने सत्सङ्गति को “कल्पलता” की उपमा दी है । जिस प्रकार कल्पवल्ली नानाविध इच्छित फलों को प्रदान करती है उसी प्रकार सत्सङ्गति, अधौकिक, अनुपम, अतुलनीय अप्रत्याशित गुणगण, सुख साधनों को प्रदान करती है । नाना सुख वितरण करती है । नीतिकार कहते हैं “सङ्गतिं कीजै साधु की हरै और को व्याधि ।” साधु की सङ्गति आधि—व्याधियों का नाश करने का है । यथा सम्यग्दृष्टि महारानी मैनारानी की सङ्गति ने न केवल अपने पति श्रीपाल की ही व्याधि का नाश किया अपितु उसके सहयोगी सभी ७०० सुभटों का भी भयङ्कर रोग जड़मूल से नष्ट कर दिया । वस्तुतः धर्म और धर्मात्मा ही सच्चे मित्र और सज्जन हैं ॥१३५॥

तदा तौ दम्पती हृष्टौ सिद्धचक्रप्रभावतः ।

रेजाते शक्र पौलोभ्यौ क्रीडन्त्यौ वा महीतले ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (सिद्धचक्रप्रभावतः) सिद्धचक्र के माहात्म्य ने (तौ) वे दोनों (दम्पती) पति-पत्नी (महीतले) भू-मण्डल पर (क्रीडन्त्यौ) क्रीड़ा आसोद-प्रमोद करते हुए (वा) मानों (शक्र) इन्द्र (पौलोभ्या) इन्द्राणी हों उस प्रकार (रेजाते) सुशोभित हुए ।

भावार्थ—सिद्धचक्रपूजा के प्रभाव से महाराज श्रीपाल की कुष्ठव्याधि नष्ट हो गई । इससे उन दोनों-पति-पत्नी को परम सन्तोष हुआ । आनन्द हुआ । वे हर्षोन्मत्त भूलोक में इन्द्र और शचीदेवी के समान विविध क्रीड़ाएँ करते हुए शोभित हुए ॥१३६॥

नानाभोगशतैर्निहतं पञ्चेन्द्रियतर्पणीः ।

सुखं प्रीत्या प्रभुञ्जानौ संस्थितौ पुण्यपाकतः ॥१३७॥

(तौ) वे दोनों (पुण्यपाकतः) पुण्यरूपी वृक्ष के फलित होने से (नित्यम्) निरन्तर (स्व) अपनी (पञ्चेन्द्रियतर्पणीः) पाँचों इन्द्रियों को तृप्त करते हुए (नानाभोगशतैः) सैकड़ों प्रकार के भोगों द्वारा संतुष्ट (प्रीत्या) परस्पर परम प्रीति से (प्रभुञ्जानौ) भोग भोगते हुए (सुखम्) सुखपूर्वक (संस्थितौ) रहने लगे ।

भावार्थ—मैनारानी के जीवन की काया पलट हो गयी । श्रीपाल का जीवन तो मानों स्वर्गीय हो गया । अब वे दोनों अपने पुण्य के सातिशय फल का उपभोग करने लगे । सत्य ही सती का सतीत्व अचिन्त्य और अतर्क्य होता है । असंभव को सम्भव कर दिखाता है । मैना के मन में उद्वेग के स्थान पर उमङ्ग, शोक के स्थान पर हर्ष और चिन्ता के स्थान पर परम विवेक जाग्रत हो गया । जिनायम का प्राण “कर्मसिद्धान्त” अकाट्य सिद्ध हुआ । अहंकार रूप शैतान पर तत्त्वज्ञान की विजय हुयी । मिथ्यात्व का सम्यक्त्व ने परास्त किया ॥१३७॥

पात्रदानं जिनेन्द्रार्चनं नित्यं स्तवनं पूर्वकम् ।

स्वशीलमुज्ज्वलं पर्वोपवासमति निर्मलम् ॥१३८॥

तदा प्रभृति नित्यं श्रीसिद्धचक्रस्य पूजनम् ।

धर्मं परोपकाराद्यैश्चक्रतुस्तौ निरन्तरम् ॥१३९॥ युगमकम् ॥

अन्वयार्थ—(तदाप्रभृति) सिद्धचक्र प्रभाव से सुखी होने पर (तौ) वे दोनों दम्पति-वर्ग (नित्यम्) नित्य ही (स्तवन पूर्वकम्) स्तवन सहित (जिनेन्द्रार्चनं) श्रीजिनपूजन, (पात्रदानम्) सत्पात्रदान (अति) अत्यन्त (निर्मलम्) पवित्र (उज्ज्वलम्) निर्मल (स्व-शीलम्) शीलव्रत (पर्वोपवासम्) पर्व के दिनों में उपवास (नित्यम्) प्रतिदिन (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (पूजनम्) पूजा (च) और (परोपकाराद्यैः) दूसरों का उपकार, तत्त्वचर्चा, वैयावृत्ति आदि (धर्मं) धर्मकार्यों को (निरन्तरम्) सतत (चक्रतुः) करने लगे ।

भावार्थ—महाराजा श्रीपाल के नीरोग हो जाने पर वे धर्मविमुख नहीं हुए । भोगों में आसक्त नहीं हुए और न कर्त्तव्य से पराङ्मुख हुए । अपितु कृतज्ञ के समान धर्म और धर्माचरण में विशेष रूप से संलग्न हो गये । अब दोनों ही प्रतिदिन विधिवत् परमभक्ति से श्री जिनाभिषेक, पूजन, एवं सत्पात्रदान देना, देव, शास्त्र गुरु की उपासना, सिद्धचक्र आराधना, दीन दुःखियों की रक्षा, सेवा शुश्रूषा गुरुओं को वैयावृत्ति आदि शुभकार्यों को विशेष रुचि से करने लगे । अभिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का न्यायोचित सेवन करने लगे । तथा मोक्ष पुरुषार्थ की भी साधना का लक्ष्य बनाये रखते थे । इस प्रकार चारों पुरुषार्थों की साधना में इनका समय यापित होने लगा ॥१३८ १३९॥

किं बहूक्तेन भो भव्यास्तयोस्तत्र सुखप्रदा ।

पूजा श्रीसिद्धचक्रस्य जाता कल्पलतेव सा ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(भो) हे (भव्या) भव्याओं (बहु) अधिक (उक्तेन) कहने से (किं) क्या प्रयोजन (सा) वह (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (पूजा) पूजा (तत्र) वहाँ (तयोः) दोनों की (कल्पलता इव) कल्पलता के समान (सुखप्रदा) सुखकारी (जाता) हुयी ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्यात्माओं ! मैं नारानी और राजा श्रीपाल द्वारा की गई सिद्धचक्र की पूजा उन्हें कल्पलता के समान सुख देने वाली सिद्ध हुयी । अधिक क्या कहें ? ॥१४०॥

क्वचित् श्रीपालमाताथ समायाति निजेच्छया ।

पुत्र वार्ता शुभां श्रुत्वा स्नेहात्तत्पुरमाययौ ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(अथ) आगे (क्वचित्) एक समय (श्रीपालमाता) श्रीपाल की माँ (निजेच्छया) अपनी इच्छा से (समायाति) आती है (तत्र) वहाँ (शुभाम्) शुभ (पुत्रवार्ता) पुत्र की वार्ता (श्रुत्वा) सुनकर (स्नेहात्) प्रीति से (तत्पुरम्) उस नगरी में (आययौ) आई ।

भावार्थ—एक समय श्रीपाल की माता अपनी इच्छा से महलों से निकली । पुत्र-वियोग से संव्रस्त तो थी ही—मन बहलाने आती है कि पुत्र के नीरोग होने की शुभ वार्ता को सुनकर उस नगरी में आयी ॥१४१॥

श्रीपाल सन्मुखं गत्वा सहर्षस्सपरिच्छदः ।

नत्त्वा तत्पादयोर्भक्त्या स्वामम्बां गृहमानयत् ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(सहर्षः) हर्ष से (सपरिच्छदः) दल-वल से (श्रीपालः) श्रीपाल राजा ने (सन्मुखम्) सामने (गत्वा) जाकर (भक्त्या) भक्ति से (तत्पादयोः) उस माँ के चरणों में (नत्त्वा) नमस्कार कर (स्वाम्) अपनी (अम्बाम्) माँ को (गृहम्) घर (आनयत्) लेकर आया ।

भावार्थ—ज्यों ही श्रीपालजी को विदित हुआ कि उनकी जननी उनके विरह से दुःखी पधारि है, तो वह दल-वल के साथ संभ्रम से माता के सन्मुख आया । अत्यन्त भक्ति से माता के पवित्र चरणों में नमस्कार कर अपनी माँ को सौत्साह घर में प्रवेण कराया । अर्थात् अपने सारे वैभव से उत्सव पूर्वक माता का पदार्पण अपने महल में कराया ॥१४२॥

मदनाबिसुन्दरी तां श्वश्रून् मत्वा सुभक्तितः ।

ननाम चरणाम्भोजौ तस्या विनतमस्तका ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(तां) उसको (श्वश्रू) सास (मत्वा) जानकर (मदनादिमुन्दरी) मैनामुन्दरी (सुभक्तितः) अत्यन्तभक्ति से (विनतमस्तका) मस्तक झुकाकर (तस्या) उसके (चरणाम्भोजौ) युगल चरण कमलों में (ननाम) नमस्कार किया ।

भावार्थ—घर पधारो अपनी सास को ज्ञातकर अत्यन्तभक्ति से मदनमुन्दरी ने उसका सम्मान किया । विनयावनत हो हाथ जोड़े । उसके युगल चरणों में नमस्कार किया । ॥१४३॥

सा च तूर्णमुदाप्राह तदात्वं भो वधूत्तमे ।

श्रीपालनृपतेरस्य, पट्टदेवी भवेत्यलम् ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(सा) उस सास ने भी (तूर्णम्) शीघ्र ही (तदा) उस समय (मुदा) आनन्द से (प्राह) कहा—आशीर्वाद दिया (भो वधूत्तमे) हे उत्तम वधु ! (त्वं) तुम (अस्य) इस (श्रीपालनृपतेः) श्रीपालराजा की (पट्टदेवी) पटरानी (भवेत्) बनो (च) और (अलम्) अधिक क्या ?

भावार्थ—मैनामुन्दरी के नमस्कार करने पर सास ने भी अत्यन्त पुलकित हो अपनी सौभाग्यवती बहुरानी को आशीर्वाद दिया । वह कहने लगी हे शुभे ! हे नारी शिरोमणि ! तुम इस मेरे पुत्र भूपति श्रीपाल की अग्रमहिषी बनो । पटरानी पद प्राप्त करो । सदा सौभाग्यवती रहो । अधिक क्या ? चक्रवर्ती की पटरानी सदृश पति का साथ सुखभोग करो ॥१४४॥

ततस्साऽपि प्रसन्नात्मा यधूस्सद्धर्मवत्सला ।

स्नानभोजनसद्वस्त्रताम्बूल विनयादिकम् ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद (सा) वह मैना (सद्धर्मवत्सला) जिनधर्मपरायणा (वधुः) वधू ने (अपि) भी (प्रसन्नात्मा) आनन्द से (स्नान) स्नान (भोजन) भोजन (सद्वस्त्र) उत्तम वस्त्र (ताम्बूल) पान सुपारी (विनयादिकम्) मान सम्मानादि—

प्राधूर्णकक्रियां कृत्वा सज्जनानन्वदायिनीम् ।

पुनर्नत्वा च तां प्राह भो मातः ! कृपया वद ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(सज्जनानन्द) सत्पुरुषों को आनन्द (दायिनीम्) देनेवाली (प्राधूर्णक) अतिथि सत्कार योग्य (क्रियाम्) क्रिया को (कृत्वा) करके (च) और (पुनः) फिर (नत्वा) नमस्कार करके (ताम्) उस सास से (प्राह) बोली (भो मातः) हे माते ! (कृपया) कृपाकर (वद) कहिए । क्या—

कस्मादत्र समायाता भवति भुवनोत्तमा ।

कीदृशोऽयं च मत्कान्तः किं गोत्रं मे समादिश ॥१४७॥

अन्वयार्थ—(भुवनोत्तमा) तीनों लोक शिरोमणि (भवति) आप (अत्र) यहाँ (कस्मात्) किस उद्देश्य से (समायाता) पधारी हैं, (अयम्) यह (मत्कान्तः) मेरा पति (कीदृशः) कैसा है (च) और (किं) क्या (गोत्रम्) गोत्र है (मे) मुझ (समादिश) मत्र कहिये ॥१४७॥

भावार्थ—आशीर्वाद प्राप्तकर उस मदनसुन्दरी ने आनन्दमुलकित होकर अपनी सास का स्वागत किया । जिनधर्मपरायणा, धर्मवत्सला उस बधू ने सर्वप्रथम अपनी सास के स्नान की व्यवस्था की । तदनन्तर योग्य शुद्ध सुस्वादु आहार की व्यवस्था की । पहनने को उत्तम वस्त्र दिये भोजन के बाद पान-सुपारी, इलायची, लवङ्ग आदि प्रदान की । अत्यन्त विनय से अतिथि सत्कार योग्य सभी क्रियाओं को किया । माँ को सन्तोष उत्पादक तथा सज्जनों को आनन्द देने वाली सकल क्रियाओं के हो जाने पर सुख से बैठी । पुनः मैनासुन्दरी ने विनय से प्रश्न किया, हे माते आपने यहाँ पधारने का कष्ट किस कारण से किया ? यह मेरा पतिदेव कैसा है, इनका गोत्र क्या है ? कृपाकर सर्ववृत्तान्त स्पष्ट कहिये । मैं सब कुछ जानना चाहती हूँ । आप सकल वृत्तान्त कहें ।

सा जगाद सती सोऽत्रैवाङ्गदेशे शुभाकरे ।

चम्पापुर्यान्निराधीशस्सिहसेनोमहानभूत् ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(सा) वह श्रीपाल की माँ (सती) शीलवती (जगाद) कहने लगी (अत्रैव) इस भरत क्षेत्र में (शुभाकरे) कल्याण करने वाले (अङ्गदेशे) अङ्गदेश में (चम्पा-पुर्याम्) चम्पापुरी में (महान्) प्रतापी (सिहसेनः) सिंहसेन नाम का (निराधीशः) राजा (अभूत्) हुआ ।

भावार्थ—मैनासती के प्रश्नानुसार वह सास उत्तर देने लगी । इस ही भरत क्षेत्र में महान् कल्याणकारी अङ्गदेश है उस देश में विशाल 'चम्पापुरी' नाम की नगरी है । उस नगरी का राजा महानप्रतापी, सुभट सिंहसेन नाम का भूपति था ।

तस्याहमग्रमहिषी स्वनाम्ना कमलावती ।

मत्पुत्रोऽयं सुधीर्जात, श्रीपालः कर्मयोगतः ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस सिंहसेन राजा की (अहम्) मैं (अग्रमहिषी) पटरानी थी (स्वनाम्ना कमलावती) मेरा नाम कमलावती है (मत्) मेरा (अयम्) यह (सुधीः) बुद्धिमान (श्रीपालः) श्रीपाल (पुत्रः) पुत्र (जातः) हुआ (कर्मयोगतः) कर्म के निमित्त से—

गते द्विवाषिके चास्य सिंहसेननृपोमृतः ।

के के नैव गताः काले भो बाले श्रूयतां वचः ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(द्विवाषिके) दो वर्ष (गते) होने पर (अस्य) इसका पिता (सिंहसेनः)

सिंहसेन (नृपः) राजा (मृतः) मर गया (भो) हे (बाले) पुत्रि ! (श्रूयतां) सुनो (वचः) वचन (काले) मृत्युमुख में (के के) कौन-कौन (नैवगतः) नहीं गये ?

भावार्थ—कमलावती महादेवी मैनासुन्दरी से कहती है कि उस सिंहसेन राजा की मैं पटरानी थी । यह कर्मयोग से श्रीपाल मेरा पुत्र हुआ । यह महाबुद्धिशाली हुआ । मेरा नाम कमलावती है । हे पुत्रि ! मेरे वचन सुनो इस पुत्रोत्पत्ति के अनन्तर दो वर्ष बाद ही मेरे पति, इसके (श्रीपाल के) पिता श्री सिंहसेन महाराज का स्वर्गवास हो गया । संसार की यही दशा है, काल के गाल में कौन-कौन नहीं गया ? सभी जाते हैं । मैं क्या कहूँ ? ॥१४६ १५०॥

आनन्द मन्त्रिणा तत्र राज्येऽयं बालकोऽपि च ।

संस्थापितोतदा तत्र पितृव्योऽस्याति दुष्टधीः ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(अयं) यह (बालकः) बालक होने पर (अपि) भी (तत्र) वहाँ (आनन्दमन्त्रिणा) आनन्दमन्त्री द्वारा (राज्ये) राजगद्दी पर (संस्थापितः) स्थापित कर दिया- राजा बना दिया (तदा) तब (तत्र) वहाँ (अस्य) इसके (अति) अत्यन्त (दुष्ट) दुर्जन (धीः) कुबुद्धि (पितृव्यः) चाचा ने—

वीरादिदमनो नाम विषं दातुं समुद्यतः ।

मन्त्रिणा मे तवाख्यातं तेनाहं त्रस्तमानसा ॥१५२॥

एनं बालकमादाय संप्रयायाति वेगतः ।

वाराणसीं पुरीं प्राप्ता देशत्यागो हि दुर्जनात् ॥१५३॥

अन्वयार्थ—(वीरादिदमनः) वीरदमन (नाम) नामवाला (विषं) विष (दातुम्) देने के लिए (समुद्यतः) तैयार हुआ (तदा) तब (मन्त्रिणा) मन्त्री द्वारा (मे) मुझे (आख्या-तम्) कहा (तेन) उस भय से (अहं) मैं (त्रस्तमानसा) दुःखित मन हो (वेगतः) शीघ्र ही (एनं) इस (बालकम्) बच्चे को (आदाय) लेकर (संप्रयायाति) सावधानी से निकली (वाराणसीपुरीं) बनारसनगरी (प्राप्ता) प्राप्त की-आयी (हि) क्योंकि (दुर्जनात्) दुर्जनों से (देशत्यागः वरं) देशत्याग श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—यद्यपि पिता की मृत्यु के समय यह अति बालक था तो भी हमारे प्रधान-मन्त्री आनन्द ने इसे ही राज्यसिंहासनाख्त किया । राजा तो यह घोषित हुआ किन्तु राज-काज इसका चाचा 'वीरदमन' देखने लगा । परन्तु उसका अभिप्राय अत्यन्त खोटा था । वह इसे मारकर स्वयं राज्य हड़पना चाहता था । अतः उसने इसे विष देने का षड्यन्त्र रचा । आनन्द मन्त्री ने इस दुर्भिप्राय को ज्ञातकर मुझे अवगत कराया । तब मैं भयातुर हो, मन में अति दुःखी हुई और शीघ्र ही अपने प्यारे पुत्र को लेकर बनारस चली गयी । क्योंकि नीति है "दुर्जनों के सहवास से देश त्याग करना ही उत्तम है" । पुरुषार्थ करना विद्वानों का कर्तव्य है, फल भाग्यानुसार प्राप्त होता है । अतः—

पूर्वं पापोदयेनागु कुष्ठरोगेन पीडितः ।

अयं बालस्तदा तत्र कुष्ठिभिरेतकः परम् ॥१५४॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तत्र) वहाँ (पूर्वपापोदयेन) पूर्वभूत के पाप कर्म के उदय से (आगु) शीघ्र (एतकः) इन (कुष्ठिभिः) कुष्ठियों के साथ (अयम्) यह (बालः) पुत्र-बालक (कुष्ठरोगेन) कुष्ठ व्याधि से (परम्) अस्थन्त (पीडितः) पीडित हुआ ।

भावार्थ—हे पुत्र ! कर्म की गति बड़ी विचित्र है । शुभाशुभ कर्म जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है । अपना उपाजित कर्मफल भोगना ही पड़ता है । अतः वहाँ आने पर पूर्व पापकर्मोदय से इसे इन सातसौ बीरों के साथ कुष्ठरोग ने घेर लिया । सभी भय-ङ्कर गलित कुष्ठ से पीडित हो गये । यही नहीं इसकी दुर्गन्ध से नगरवासी बेचैन हो उठे । प्रजा आकुल-व्याकुल होने लगी । प्रजा का कष्ट ज्ञातकर सर्व इन कुष्ठियों ने नगर त्याग का निर्णय किया ॥१५४॥

विधाय मन्त्रणां नीत्वा कृत्वा च निजनायकम् ।

अत्रानीतं तदा सिद्धचक्र-पूजा प्रभावतः ॥१५५॥

त्वत्पुण्येनाऽपि भो वत्से, कामदेवोऽसमोऽजनि ।

सर्वं भवत्याः पुण्यं संश्रुत्वाहं समागताः ॥१५६॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (मन्त्रणाम्) सलाहकर (विधाय) करके (च) और (निज-नायकम्) अपना मालिक बना (कृत्वा) बनाकर (नीत्वा) लेकर (अत्र) यहाँ (आनीतम्) लाया गया (भो वत्से !) हे पुत्री ! (त्वत्पुण्येन) तुम्हारे पुण्य से (सिद्धचक्र पूजा प्रभावतः) सिद्धचक्रपूजा के प्रभाव से (अपि) कुष्टी भी (कामदेवोऽसमः) कामदेव के समान (अजनि) हो गया (भवत्याः) आपके (सर्वम्) समस्त (पुण्यम्) पुण्य को (संश्रुत्वा) सम्यक् प्रकार सुनकर (अहम्) मैं (समागताः) आई हूँ ।

भावार्थ—उन समस्त कुष्ठियों ने परामर्श कर इस मेरे पुत्र को अपना नायक बनाया और वे ही यहाँ इसे लाये । हे वत्से ! “भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्यां च पौरुषम्” नीति के अनुसार आपके पुण्योदय से और परम पवित्र सिद्धचक्र पूजा विधान के प्रभाव से इसका शरीर कामदेव सदृश दर्शनीय, कान्तिमय हो गया । यह सब तुम्हारा उपाख्यान, पुण्यमाहात्म्य सुनकर पुत्रवात्सल्य से प्रेरित हुयी यहाँ आयी हूँ । इस प्रकार श्रीपाल भूपाल की माता कमलावती ने अपने पुत्र का परिचय कराया और अपने आने का कारण बतलाया ॥१५५ १५६॥

समाकर्ण्य तदा सर्वं भर्तुराख्यानकं शुभम् ।

निदानं सा समासाद्य तुष्टा मदनसुन्दरी ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(तदा) अपनी सास कमलावती महादेवी से (सर्वम्) सम्पूर्ण (भर्तुः)



श्रीपाल के कुछ रोग होने के कारण नगर हत्या का निर्णय लेता ।

पति के (शुभम्) कल्याणप्रद (आख्यानकम्) चरित्र को (समाकर्ण्य) भले प्रकार सुनकर (तथा निदानं) विश्वास (समासाद्य) पाकर (सा) वह (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी (तुष्टा) संतुष्ट हुयी ।

भावार्थ—अपनी सास के मुख से पति का चरित्र सुना । यथार्थ उत्तम, कुल, वंश, जाति जात कर उस मैनासुन्दरी को अत्यन्त हर्ष हुआ । अपने भाग्य की सराहना की । अनुकूल क्षत्रियवंशी राजा पति पाकर क्यों न पुलकित होती ॥१५७॥

अथैकदा प्रजापालो वन क्रीडां महीपतिः ।

कृत्वा गृहं समागच्छन् पुरवाह्ये मनोहरे ॥१५८॥

प्रासादोपरिभूमौ च तदा श्रीपालमुत्तमम् ।

तथा सार्द्धं समालोक्य, कामदेव समाकृतिम् ॥१५९॥

तज्जारशंकयाचित्ते स्वस्य वक्तुमधोमुखम् ।

कृत्वा संचिन्तयामास हा क्रोधान्धेन पापिना ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (एकदा) एक समय (पुरवाह्ये) नगर के बाहर (मनोहरे) मनमोहक स्थान में (गृहम्) घर (कृत्वा) बनवाकर (महीपालः) महीपाल (महीपतिः) नृपति (वनक्रीडाम्) वनक्रीडा को (समागच्छन्) आते हुए (प्रासादोपरिभूमौ) महल की छत पर (तदा) तब उसने (तथा सार्द्धम्) उस मदनसुन्दरी के साथ (कामदेव-समाकृतिम्) कामदेव के समान सुन्दराकृति वाले (उत्तमम्) श्रेष्ठ (श्रीपालं च) श्रीपाल को (समालोक्य) देखकर (च) और (तत्) उसे (जार) व्यभिचारिणी की (शंकया) शङ्का से (स्वस्य चित्ते) अपने मन में (वक्तुम्) कहता हुआ (अधोमुखम्) नीचामुख (कृत्वा) करके (हा) हाय, (क्रोधान्धेन) क्रोध से अन्धा (पापिना) मुझ पापी ने (किं कृतम्) क्या किया (इति) इस प्रकार (चिन्तयामास) चिन्तन करने लगा ।

भावार्थ—वह कथा वहीं छोड़कर अब आचार्य श्री मैनासुन्दरी के पिता का हाल बतलाते हैं । पुत्री का अयोग्यपति के साथ सम्बन्ध कर पश्चात्ताप से पीड़ित हुआ । एक दिन वनक्रीडा का विचार किया । उद्यान में गृह निर्माण कराकर नगर के बाह्योद्यान में आते हुए उसकी दृष्टि महल की छत पर गई । वहाँ अपनी पुत्री को अद्भुत कामदेव समान सुन्दराकृति श्रीपाल के साथ बैठा देखा । उसका हृदय अपने ही अपराध से पीड़ित हो उठा । अपने मन में उसने उसे (पुत्री को) जार-व्यभिचारी के साथ समझ कर, अधोमुख हो गया और मन ही मन सोचने लगा कि 'मैंने क्रोध से अन्धा होकर यह महा अनर्थ कर डाला । मुझ पापी द्वारा यह क्या कर दिया गया ।' अर्थात् कुष्ठो के साथ विवाह किया इसीलिए यह दुराचारिणी हो गई है । ऐसी आशङ्का से महा दुखी हुआ ॥१५८, १५९, १६०॥

कुष्ठिने स्वसुता दत्ता मया विगत चेतसा ।

कन्यया सत्कुलं नष्टं मदीयं यशसा समम् ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(विगतचेष्टसा) नष्ट बुद्धि (मया) मेरे द्वारा (स्व) अपनी (सुता) पुत्री (कुष्ठिने) कुष्ठी की (दत्ता) दी गयी अतः (कन्याया) इस कन्या मदनसुन्दरी द्वारा (यशसा) कीर्ति के (सभम्) साथ (मदीयम्) मेरा (सत्कुलम्) श्रेष्ठकुल (नष्टम्) नष्ट कर दिया गया ।

भावार्थ—राजा महीपाल सन्देह के भूलें में भूलने लगा । आण्डू से वह विचार शून्य हो गया । विपरीत ही विचार कर रहा है और साथ ही अपनी दुर्बुद्धि पर पश्चात्ताप भी करता जा रहा है मन ही मन । वह सोच रहा है, हाय, मैं महा दुर्बुद्धि हूँ । मैंने स्वयं अनर्थ किया कि अपनी सुन्दरी कन्या को भयङ्कर कुष्ठी के साथ विवाह कर दिया । उसी का फल है कि आज यह किसी रूपवान् परपुरुष के साथ बैठी है । महा दुःख है कि इसने मेरे यश के साथ-साथ समुज्ज्वल कुल को भी कलङ्कित कर दिया । नष्ट कर दिया । ठीक ही है कन्या सुशील, पतिव्रता होती है तो अभयकुल समुज्ज्वल हो जाता है और कुलटाकन्या हुयी तो जाति, कुल वंश सभी कलङ्कित हो जाता है । पुत्र की अपेक्षा भी कन्या को शिक्षित और योग्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है ॥१६१॥

तदातं मानसं मत्वा कन्याया मातुलो महान् ।

सञ्जगाद प्रभो कस्माल्लज्जितं च त्वयाधुना ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तं) उस राजा के (मानसं) मानसिक भाव को (मत्वा) समझकर (कन्यायाः) कन्या का (मातुलो) मामा (महान्) विचारज्ञ (सञ्जगाद) बोला (प्रभो) हे स्वामिन् (त्वया) आप (अधुना) इस समय (कस्मात्) किसलिए (लज्जितम्) लज्जित हुए हैं ? (च) और—

भावार्थ—राजा को चिन्तित और लज्जित ज्ञात कर मैनासुन्दरी का विद्वान् मामा कहने लगा, हे राजन् आप आज किसलिए दुखी हैं, किससे लज्जित हो रहे हैं ? तब व्यथित राजा कहने लगा—

प्रभुः प्राह सदुःखेन विनष्टाकन्यका किल ।

मातुलोऽपि जगौ राजन्नेवं ब्रूहि कदाचन ॥१६३॥

अन्वयार्थ—(सदुःखेन) श्लेधभरा (प्रभुः) राजामहीपाल (प्राह) कहने लगा (किल) निश्चय से (कन्यका) कन्या (विनष्टा) नष्ट हो गई (मातुलोऽपि) मामा भी (जगौ) बोला (राजन्) हे नृप ! (एवं) इस प्रकार (कदाचन) कभी भी (न) नहीं (ब्रूहि) कहना ।

भावार्थ—“वक्त्रं वक्ति हि मानसम्” इस युक्ति के अनुसार राजा के म्लान मुख से अन्तर्पीडा को अवगत कर मैना का मामा राजा से उदासी का कारण पूछता है । तब राजा उत्तर देता है कि हे भाई, निश्चय से मेरा दुःख महान् है, इस कन्या ने जीवन नष्ट कर लिया । यह नकर मामा बोला, राजन् इस प्रकार कभी भी नहीं कहना ॥१६३॥

तेजस्ते शीलनिर्मुक्तं संभवेन्नैव भूतले ।

किन्त्वाभ्यां सिद्धचक्रस्य विहितं पूजनं विभो ॥१६४॥

अन्वयार्थ—हे भूपाल ! (ते) तुम्हारा (तेज) अंश-सन्तान (भूतले) पृथ्वी पर (शीलनिर्मुक्तम्) शीलाचार रहित (न) नहीं (एव) ही (संभवेत्) संभव हो सकता है (किन्तु) किन्तु (आभ्याम्) इसके द्वारा (विभो) हे राजन् (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र (पूजनम्) पूजा (विहितम्) की गई ।

तेन पुण्येन जातोऽयं श्रीपालो व्याधि वर्जितः ।

कन्येयं श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मद्रुमलतोपमा ॥१६५॥

अन्वयार्थ (तेन) उस (पुण्येन) पूजा के पुण्य से (अयम्) यह (श्रीपालो) श्रीपाल (व्याधि) रोग (वर्जितः) रहित (जातः) हो गया (इयं) यह (कन्या) कन्या (श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मद्रुमलतोपमा) श्री जिनेन्द्रभगवान् कथित धर्मरूपी वृक्ष की लता के समान है । यह कन्या—

नैवान्यायं करोत्येषा स्थिता वा मेरुचूलिका

वशीलेन पवित्रात्मा सन्मतिर्वा महामुनेः ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(एषा) यह कन्या (अन्यायम्) अन्याय (नैव) नहीं (करोति) करने वाली है (वा) अथवा (पवित्रात्मा) निर्मल आत्मा (वशीलेन) अपने पातिव्रतधर्म से (मेरुचूलिका) सुमेरु की चोटी (इव) समान (स्थिता) स्थिर (वा) अथवा (महामुनेः) उत्तम मुनिराज की (सन्मतिः) सम्यक् बुद्धि है ॥१६६॥

भावार्थ—हे भूपाल ! आपका तेज-अंश शील विहीन नहीं हो सकता । कुल, वंश परम्परा का असर सन्तान के जीवन में अवश्य आता है । पृथ्वी पर आपका शीलाचार अखण्ड ही प्रसारित है । इस महाधर्मज्ञा कन्या द्वारा श्री सिद्धचक्रमहापूजा विधान किया गया था । उससे प्राप्त सातिशय पुण्य द्वारा यह इसका पति श्रीपाल कुष्ठव्याधि रहित हो गया । यह कामदेव समान रूप लावण्य का पुञ्ज इसी का पति है । यह कन्या जिनधर्म की ध्वजा है । श्री जिनेश्वर प्रभु द्वारा उपदिष्ट धर्मवृक्ष की लता स्वरूप यह कन्या महाशीलवती है । इसका शीलव्रत सुमेरु की चूलिका समान अचल है । यह पवित्रात्मा है । निर्मल और निर्दोष बुद्धि है । महामुनि की श्रेष्ठ सम्यक् बुद्धि मति के सदृश पावन और विवेक पूर्ण है । यह कभी भी अन्याय, अत्याचार, अनाचार व दुराचार नहीं कर सकती । यह महापतिव्रता शील से सुप्रसिद्ध है ॥१६४, १६५, १६६॥

तद्दिश्य पालस्सानन्देन विस्मयान्वितः ।

तयोस्समीपमायातो राजा सस्नेहमानसः ॥१६७॥

अन्वयार्थ—(तत्) उसे (निश्चय) सुनकर (विस्मयान्वितः) आश्चर्यचकित हुआ (सानन्देन) आनन्द से युत (प्रजापालः) प्रजापाल (राजा) नृपति (सस्नेह) स्नेह प्रेम से भरा (मानसः) मन वाला (तयोः) पुत्री और जंवाई के (समीपम्) पास (आयातः) आया ।

भावार्थ—अपने साले के मुख से पुत्री के पतिव्रत धर्म की प्रशंसा सुनी । श्री सिद्ध-चक्र पूजा के माहात्म्य को अवगत किया । जिनधर्म की महिमा को समझा । कर्मसिद्धान्त रहस्य को ज्ञात किया । सुनकर समस्त अनुताप, पश्चात्ताप भूल गया । हर्ष से गद्गद हो गया । प्रमांशुरों से गात भर गया । पुत्री के प्रति वात्सल्य और उसके पति श्रीपाल के प्रति अनुराग उमड़ गया । इस आश्चर्यकारी जिनमहिमा से राजा का कोप और क्षोभ विलीन हो गया । प्रजापाल महाराज स्वयं दौड़ता हुआ इन अद्भुत चमत्कारी दम्पति के पास आया । आश्चर्य और आनन्द मिश्रण उसके हृदय में घूमड़ रहा था ॥१६७॥

तमायातं समालोक्य श्रीपालः स्वप्रियान्वितः ।

अभ्युत्थानादिकं कृत्वा ननाम विनयान्वितः ॥१६८॥

अन्वयार्थ—(तम्) उस अपने ससुर को (आयातम्) आते हुए देख (समालोक्य) देखकर (स्वप्रियान्वितः) अपनी पत्नी मैना सहित (श्रीपालः) श्रीपाल (अभ्युत्थानादिकम्) उठकर, खड़े होकर आगे बढ़कर आना आदि (कृत्वा) करके (विनयान्वितः) विनय से नम्र-भूत होकर (ननाम) नमस्कार किया ।

भावार्थ—सुखासीन स्थित श्रीपाल ने राजा भूपाल को आते हुए देखा । अपना उपकारी और पिता तुल्य जानकर देखते ही दोनों खड़े हो गये । सामने आ आगवान् की, पाद-प्रक्षालन, आसनप्रदान, आदि योग्य क्रिया कर विनय से दोनों ने नमस्कार किया । ठीक ही सत्पुरुष किसी उपकार को नहीं भूलते । यदि श्रीपाल को मैनासुन्दरी न दी होती तो उसका कुष्ठ कैसे दूर होता । तथा मैनासुन्दरी को कुष्ठी पति न मिलता तो उसकी हठ जिनधर्म श्रद्धा की परीक्षा कैसे होती ? उसका पतिव्रत धर्म निरव्यापी किस प्रकार होता । यशोध्वजा कैसे फहराती ? अतः दोनों ही ससुर एवं पिता के प्रति कृतज्ञभाव से उपस्थित हुए । उस समय राजा प्रजापाल अपनी लाड़ली पुत्री से कहते हैं ॥१६८॥

तदा प्रभुस्सुतां प्राह भो सुते कुलदीपिके ।

जिनेन्द्रचरणाम्भोज सममन्यन्न कोविदे ॥१६९॥

अन्वयार्थ—(तदा) आस्वस्थ बैठजाने पर (प्रभुः) राजा जापाल (प्राह) कहने लगे (भो) हे (कुलदीपिके) कुलदीपक (सुते) बेटी ! (कोविदे !) हे विदुषि ! गुणवते ! (जिनेन्द्रचरणाम्भोज) श्री जिनभगवान के चरण कमल (समम्) समान (अन्यत्) अन्य कुछ भी (न) नहीं है ।

भावार्थ—पाहुनगति हो जाने पर सब यथा स्थान बैठ गये । तब राजा प्रजापाल अपनी सती, दुलारी पुत्री से कहने लगे, हे पुत्रि, तुम मेरे कुल की दीपक हो अर्थात् तुमसे मेरा कुल उज्ज्वल यशस्वी, प्रकाशित हो गया । तुम विदुषीरत्न हो, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि हो । तुमने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि संसार में श्री जिनेन्द्र भगवान के चरणसरोजों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं । अर्थात् जिनचरणारविन्द भक्ति समान अन्य कुछ भी नहीं है । जिनभक्ति में अपार शक्ति है । वही सर्वदुःखहारिणी पाप प्रणाशिनी है ॥१६९॥ अब राजा कर्म का प्राधान्य स्वीकार करता है —

सत्यं ते पुण्यकर्मत्र फलितं कल्पवृक्षवत् ।

सिद्धचक्रप्रसादेन, परमानन्ददायकम् ॥१७०॥

अन्वयार्थ—हे पुत्रि ! (सत्यम् सचमुच ही (ते) तुम्हारा (अत्र) यहाँ, इस अवसर पर (पुण्यकर्म) पुण्योदय (कल्पवृक्षवत्) कल्पवृक्ष के समान (फलितम्) फल है वस्तुतः (परमानन्ददायकम्) परम आनन्द को देने वाले (सिद्धचक्र प्रसादेन) सिद्धचक्रविधान के प्रसाद से ते पुण्यकर्म) तुम्हारा पुण्यकर्म (अत्र) यहाँ (फलितः) फलित हुआ । (कल्पवृक्षवत्) कल्पवृक्ष के समान (फलितः) फलित हुआ ।

भावार्थ—हे पुत्रि पुण्यकर्म बलवान है । आज तेरे पुण्यकर्म का ही यह प्रत्यक्ष फल है । तुम्हारा पुण्य कल्पवृक्ष के समान है । आज सिद्धचक्र विधान के महाप्रसाद से परमानन्द दायी यह अवसर प्राप्त हुआ है । उस समय मैंने कोधान्ध हो जिनधर्म के सिद्धान्त पर शंका की । मिथ्यात्व का उदय क्या नहीं कराता । तू सम्यक्त्व शिरोमणि । परमागम की ज्ञाता है । जिनधर्म के रहस्य को जानने वाली है । तेरे पुण्यकर्म से हम सब सुखी हो गये ॥१७०॥

एवं पुत्रीं प्रशस्योच्चैः स्वांकमारोप्य सादरम् ।

श्रीपालञ्च जगादैवमहो श्रीपालपुण्यभाक् ॥१७१॥

त्वमेव भुवने सिद्धचक्रसेवा विधायकः ।

अतो गृहाण सप्ताङ्ग राज्यं मे शर्मदायकम् ॥१७२॥युगलम्॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इस प्रकार (पुत्रीम्) पुत्री की (उच्चैः) खूब (प्रशस्य) प्रशंसा करके (सादरम्) आदर से (स्व) अपनी (अङ्गम्) गोद में (आरोप्य) बिठलाकर (च) और (श्रीपालम्) श्रीपाल को (एवम्) इस प्रकार (जगादः) बोला (पुण्यभाक्) हे पुण्यवात्र ! पुण्यस्वरूप ! (भुवने) संसार में (त्वम्) तुम (एव) ही (सिद्धचक्रसेवा विधायकः) सिद्धचक्र की सेवा के अधिनायक हो (अतः) इसलिए (मे) मेरा (शर्मदायकम्) शान्ति सूत्रदायक (सप्ताङ्ग) सात अङ्ग वाले (राज्यम्) राज्य को (गृहाण) ग्रहण करो ।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार महाराज महीपाल ने अपनी पुत्री मैनासुन्दरी की नाना-प्रकार प्रशंसा की । तथा प्रेम से उसे अपनी गोद में लिया । हृदय से लगाया । वात्सल्यभाव

से बार-बार उसे स्नेह से मिहार प्रसन्न हुआ । पुनः अपने जवाँई श्री श्रीपाल जी से कहने लगा भो पुण्यशालिन्, आप महान् हैं । आप सम्यग्दृष्टि जिनभक्त हैं । श्री सिद्धचक्र विधान के आप ही संसार प्रसिद्ध प्रवर्तक हैं । सिद्धसमूह पूजा के आप विधायक हैं । मेरा सम्पन्न, सुखकारी राज्य आप स्वीकार करिये । राज्य के सारों अङ्ग पूर्ण हैं । इस प्रकार समृद्धराज्य के आप अधिकारी बनिये ॥१७१, १७२॥

तदाकर्णानुसोऽवादीन्निलोभो निर्मलं वचः ।

राजन् प्रयोजनं नास्ति मम देशादि वस्तुभिः ॥१७३॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब, ससुर के आग्रह को (आकर्ण्य) सुनकर (अनु) तदनुसार (सः) वह श्रीपाल (निलोभः) लोभरहित (निर्मलम्) वास्तविक, निर्दोष (वचः) वचन (अवादीत्) बोला (राजन्) हे भूपते ! (देशादि) देश, राज्यादि (वस्तुभिः) वस्तुओं से (मम्) मुझे (प्रयोजनम्) प्रयोजन (नास्ति) नहीं है ।

भावार्थ—श्रीपाल ने ससुरजी का आग्रह सुना । जिसके पास सन्तोष है उसे अनायास प्राप्त राज्य सम्पदादि के प्रति तनिक भी आकर्षण नहीं होता । अतः श्रीपाल ने कहा, पिताजी मुझे राज्यादि किसी भी वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं । आपका राज्य आप ही संभालिये । मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥१७३॥

तुष्टा तेन प्रभुर्मत्वा तस्य मानसमुन्नतम् ।

श्रीपालं प्रशस्याशु तस्मै प्रीत्या पुनर्ददौ ॥१७४॥

देशकोष पुरग्राम मत्तमातङ्ग सदस्थान् ।

नाना तुरङ्गमास्तुङ्गान् वस्तु वास्तु समुच्चयम् ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(तेन) उस श्रीपाल के उत्तर से (तस्य) उसका (मानसम्) हृदय (समुन्नतम्) बहुत विशाल है, (तुष्टा) वह संतुष्ट है ऐसा (मत्वा) जातकर मानकर (तम्) उस (श्रीपालम्) श्रीपाल को (प्रशस्याशु) प्रशंसा कर (आशु) शीघ्र ही (तस्मै) उसके लिए (प्रीत्या) प्रेम से (पुनः) फिर से (देशकोषपुरग्राम) अनेक देश, खजाने पुर ग्राम आदि, (मत्तमातङ्ग) मदभरते गज (सदस्थान्) श्रेष्ठ रथ (नानागुङ्गान्) अनेक ऊँचे-ऊँचे विशाल (तुरङ्गान्) घोड़ों को (तथा) अन्य भी (वस्तु) धन (वास्तु) धाम-महलादि (समुच्चयम्) समुदाय (ददौ) दिये ।

भावार्थ—श्रीपाल ने राजा के अनुग्रह को स्वीकार नहीं किया । तब राजा ने समझ-लिया कि यह महान् पुरुष है । इसका हृदय विशाल है । संतुष्टमन है । लोभविहीन है । इसे किसी का भी प्रलोभन आकर्षित नहीं कर सकता । ठीक ही है, धीर, वीर, उदार, महामना पुरुषार्थी को परसम्पदा, परमहिता और परधन से क्या प्रयोजन ? वह अपने में स्वयं निर्भर

और संतुष्ट रहता है । पुनः राजा ने अत्यन्त प्रीति से, आग्रह पूर्वक उसे प्रशंसित करते हुए उसके लिए अनेकों राज्य, देश, पुर नगर ग्राम, विशाल उन्नत गज, अश्व, आदि भी प्रदान किये ॥१७४॥१७५॥

सन्मान्य सरसैर्विद्यैः परमानन्ददायकैः ।

सुधीः स्वगृहमायातो, विकसन् मुखपङ्कजः ॥१७६॥

अन्वयार्थ—उस राजाने (परमानन्ददायकैः) परम आनन्द को देने वाले (सरसैः) मधुर (वाक्यैः) वाक्यों से (सन्मान्य) सम्मान कर (विकसन्) तिलेहुए (मुखपङ्कजः) मुख-कमल वाला प्रसन्नमुख (सुधीः) वह बुद्धिमान राजा (स्वगृहम्) अपने घर (आगत) आ गया ।

भावार्थ—अनेकों उपहार देकर राजा ने श्रीपाल की अनेकों मधुर, सरस, प्रिय वचनों से भूरि-भूरि प्रशंसा की । परम आनन्द दायक वाक्यों से पुनः पुनः उसके चरित्र की शील-स्वभाव की महिमा वर्णन की । हर्षोल्लास से उसका मुखपङ्कज विकसित हो उठा वह धीमान् राजा आनन्दतिरेक से भरा अपने घर आया ॥१७६॥

तदा तत्र जगत्सारो जैनधर्मस्सुशर्मदः ।

लोकोद्योतकरश्चापि प्रद्योतश्चमहानभूत् ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तत्र) वहाँ सर्वत्र (सुशर्मदः) शान्ति-सुखदाता (च) और (जगत्सारः) जगत् का सार (च) और (लोकोद्योतकरः) संसार को द्योतित करने वाला (महान्) महान् (प्रद्योतः) उद्योत करने वाला (जैनधर्मः) जैनधर्म (अभूत्) हुआ ।

भावार्थ—इस अलौकिक प्रभावना और माहात्म्य से जैनधर्म की महिमा सर्वत्र विख्यात हो गई । शान्ति-सुख विधायक जैनधर्म संसार में सारभूत प्रसिद्ध हुआ । सर्वत्र जैनधर्म का प्रकाश, महिमा व्याप्त हो गई । जन-जन के मुख पर सर्व जगह एक ही चर्चा हो गई । इस प्रकार जैनधर्म सर्वव्यापी हो गया । यही नहीं ॥१७७॥

श्रीपालस्य तदाख्यातिः प्रचुरासीत् पुराभुवि ।

वन्दीगायनगीताद्यैः याचकादिजनोत्करैः ॥१७८॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (भुवि) पृथिवी पर (श्रीपालस्य) श्रीपालराजा की (परा) उत्तम (प्रचुरा) अत्यधिक (ख्यातिः) प्रशंसा (वन्दीगायनगीताद्यैः) वन्दीजनों के गीत-गानादि द्वारा (याचकादिजनोत्करैः) याचकजनों द्वारा (आसीत्) हो गई ।

भावार्थ—इस प्रकार सारी पृथिवी पर श्रीपाल का यश भी फैल गया । सर्वत्र वन्दी-जन उसी का गान गाते थे । वन्दीजन उसी की प्रशंसा करते थे । याचक जन उसी के दान का राग अलापते थे ॥१७८॥

ततो धर्मप्रसादेन श्रीपालकान्तया समम्
संस्थितस्सुख सम्पन्नो धर्मकार्येषु तत्परः ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(ततः) इस प्रकार (धर्मप्रसादेन) धर्म के प्रभाव से (धर्मकार्येषु) धार्मिक कार्यों में (तत्परः) तत्पर हुआ (श्रीपालः) श्रीपालराजा (कान्तया) अपनी पत्नी के साथ (समम्) साथ (सुखसमापन्नः) सुख पूर्वक (संस्थितः) रहने लगा ।

भावार्थ—धर्म प्रभावना से प्रख्यात और ससुर से सम्मान्य होकर श्रीपाल आनन्द से अपनी प्राणप्रिया मैनासुन्दरी के साथ धर्मकार्यों में संलग्न हो गया । अपने आवश्यकित पूजा दानादि कर्मों को करते हुए सुख से स्थित हो गये ॥१७६॥

इति शुभ परिपाकाद् राजपुत्रो सुरूपाम्,
नृपज-विभववस्त्रं चाऽपि दुर्व्याधिनाशम् ।
अनुभवति सुखौख्यं ह्येषमत्वेति दक्षः ।
कुरुत परं धर्मं यत्नतस्त्वार्थं सिद्धये ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (शुभ) पुण्य (परिपाकात्) उदय से (सुरूपाम्) सुन्दर (राजपुत्रोम्) राजकन्या, (नृपज-विभव) राजा से प्राप्त वैभव (वस्त्रम्) वस्त्र (च) और (दुर्व्याधिनाशम्) भयङ्कर असाध्य रोग की निवृत्ति (अपि) भी प्राप्त कर (एषः) यह श्रीपाल (सुखौख्यम्) उत्तम सुख को (अनुभवति) अनुभव करता है (इति) इस प्रकार (मत्वा) मानकर (दक्षः) चतुर पुरुष (स्वार्थं) अपने कार्य की (सिद्धये) सिद्धि के लिए (यत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (परम्) उत्तम (धर्मम्) धर्म को (कुरुत) करें ।

भावार्थ—आचार्य श्री समस्त भव्यात्माओं को धर्मार्जन की प्रेरणा दे रहे हैं । श्रीपाल ने सद्धर्म के प्रभाव से सर्वाङ्ग सुन्दरी, जिनागमवेत्ता, परमसती राजकुमारी को पत्नी रूप में प्राप्त किया । उस सती के सहयोग से निर्व्याधि हुआ । संसार प्रसिद्धि प्राप्त की । राज-सन्मान पाया । राजा समान वैभव प्राप्त किया । जिनधर्म की प्रभावना की । अनेक प्रकार इन्द्रिय-विषय भोगों को पाकर सुख से रहने लगे । आचार्य श्री कहते हैं अहो भव्यजन हो ! धर्म की महिमा अपार है । उभयलोक सिद्धि का यही एकमात्र साधन है, आप श्रीपाल के चरित्र को आदर्श बनाकर धर्म में अनुरक्त होंगे । यही सुख का हेतु है ॥१७७॥

इति श्रीजिनसिद्धचक्रविलसत् पूजा प्रभावेण वै ।
भुक्त्वा कामसमाकृति गुणनिधिः श्रीपालनामानृपः ।
नानाभोगविलास सौख्यनिलयः कीर्त्याजगद्द्व्यापकम् ।
तत्रस्थोऽपि परोपकारनिरतस्तस्थो समं कान्तया ॥१७८॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (श्रीजिन सिद्धचक्र प्रभावेण) श्रीजिनेन्द्र भगवान् और सिद्धचक्र पूजा के प्रभाव से (श्रीपालनामानृपः) श्रीपाल नाम का राजा (कामसमाकृतिः) कामदेव के समान रूपाकृति (गुणनिधिः) गुणों का भण्डार (सौख्यनिलयः) सुखों का आकर-सदन (जगद् व्यापकम्) संसारव्याप्त (कीर्त्या) कीर्ति द्वारा (नानाभोग विलास) नाना भोगविलासादि (भुक्त्वा) भोगकर (परोपकारनिरतः) परोपकार में संलग्न हुआ (कान्त्या) अपनी प्रिया के (समम्) साथ (तत्र) वहाँ (स्थः) रहने लगा । (तथा चाऽपि) और भी—

भावार्थ—राजा श्रीपाल श्रीजिनेन्द्रभक्ति, सिद्धचक्र पूजा विधान से यशस्वी हुआ । कामदेव समान रूप लावण्य श्रीराकृति प्राप्त की । गुणों का आकर हो गया । नाना भोग-विलासों में निरत होकर भी परोपकार नहीं भूला । धर्म नहीं छोड़ा । अपितु विशेष रूप से परहित और धर्म कार्यों में संलग्न होकर अपनी प्रिया के साथ न्यायोचित भोग भोगने लगा । मृख से स्थित हुआ ॥१८१॥

प्रत्यक्षं जिनधर्मकर्म निरतः श्रीपालनामा नृपः।

जातो व्याधि विवर्जितो गुणनिधिस्तत्सम्पदा मण्डितः ।

मत्त्वं भवसिन्धुतारणपरं धर्मं सुशर्माकरम् ।

भो भव्याः ! प्रभजन्तु निर्मलधियस्त्यक्त्वा प्रमादं सदा ॥१८२॥

अन्वयार्थ—(जिनधर्म कर्म निरतः) जिनधर्म और जिनभक्ति आदि क्रियाओं रत, (श्रीपालनामा नृपः) श्रीपाल नाम का राजा (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (व्याधिविवर्जितः) कुष्ठ-व्याधिरहित (गुणनिधिः) गुणों का सागर (सत्सम्पदामण्डितः) श्रेष्ठ सम्पत्ति से मण्डित (जातः) हुआ, (भो) हे (भव्याः) भव्यजनहो ! (इति) इस प्रकार (मत्त्वा) मानकर-समझकर आप भी (भवसिन्धुतारणपरम्) संसार जलधि से पार करने में समर्थ (सुशर्माकरम्) सच्चे शाश्वत सुख के करने वाले (धर्मम्) धर्म को (सदा) निरन्तर (प्रमादम्) प्रमाद (त्यक्त्वा) छोड़कर (निर्मलधिया) पवित्रभावों से (प्रभजन्तु) विशेष रूप से धारण करो—सेवो, भजो ।

भावार्थ—जिनधर्म सच्चा हितैषी । यह जीवों का परम बन्धु है । धर्म ही निस्वार्थ उपकारी है । देखो इसका प्रत्यक्ष साहाय्य । श्रीपाल ने मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक इसे धारण किया । मैनासती ने उसी प्रकार नवकोटि शुद्धि से धारण और पालन किया । फलतः राजा श्रीपाल पूर्णतः रोग रहित हो गया । गुणों से शोभित हुआ । उत्तमोत्तम सम्पदाएँ प्राप्त हुईं । अनेकों भोगों का अधिनायक हुआ । सांसारिक सुखभोग जो जो हो सकते हैं वे सभी उसे उपलब्ध हुए । परलोक की सिद्धि भी होगी ही । इसलिए आचार्य श्री परमदया और उपकार की भावना से सांसारिक पीड़ित प्राणियों को सम्बोधन करते हैं “हे भव्यजन हो, आप संसार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हो तो जिनधर्म का आश्रय लो । यह धर्म संसार सागर से पार उतारने को सुदृढ़, निश्छिद्र नौका है । समस्त सुखों की खान है । आप प्रमाद

छोड़कर सतत निर्मल बुद्धि से इस धर्म को धारण करो, पालन करो । जिस प्रकार सफल उत्तम फसल के लिए भूमिशुद्धि-अर्थात् भले प्रकार जोतना, उत्तम बीज होना, समय पर बोना आवश्यक है उसी प्रकार धर्मवृक्ष आरोग्य के लिए विस्तरूपी भूमि का जोतना अर्थात् राग-द्वेष, कषायादि क्रूर परिणामों का निकालना, शुभभाव-श्रद्धा-भक्ति रूप बीजों का होना, तथा पर्वदिकाल में योग्य अतोपवास पूर्वक प्रभावना करना आवश्यक है । इस प्रकार विधिवत् सेवन किया धर्म स्वर्गादि के साथ अनुक्रम से मुक्तिरूपी फल प्रदान करता है । अतः अविनश्यर सुखेच्छुओं को निरन्तर धर्म में प्रीति करना चाहिए ॥१८२॥

इति श्री सिद्धचक्रपूजातिशयान्विते श्रीपालमहाराजचरिते भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्रीपालमहाराज सद्धर्मश्रवण, श्रीमद् सिद्धचक्रपूजन, समस्तव्याधिविनाश, राज-सन्मानादि व्यावर्णनोनाम त्रितयः परिच्छेदः ॥

॥श्री सिद्धेभ्यो नमः मङ्गलम् महामङ्गलम्॥



॥ अथ चतुर्थ परिच्छेदः ॥

अथैकदा निशम्योच्चैः श्रीपालो गायनादिभिः ।

प्रजापालमहीभर्तुं नाम्ना स्वस्यकृतां स्तुतिम् ॥१॥

स्वचित्ते चिन्तयामास हा कष्टं मम जीवितम् ।

श्रूयतेऽहं सदा नाम्ना श्वसुरस्य महीतले ॥२॥ युगम् ॥

अन्वयार्थ—(अथ) सुखपूर्वक रहते हुए (एकदा) एक समय (श्रीपालः) राजा श्रीपाल ने (प्रजापालमहीभर्तुः) प्रजापालराजा के (नाम्ना) नाम द्वारा (गायनादिभिः) गायकों द्वारा गाई गई (स्वस्य) अपनी (कृतम्) की गई (स्तुतिम्) स्तुति को (उच्चैः) विशेषरूप से (निशम्य) सुनकर (स्व) अपने (चित्ते) मन में (चिन्तयामास) विचार करने लगा (मम्) मेरे (जीवितम्) जीवन को (हा) धिक्कार है (कष्टम्) महादुख है कि (सदा) हमेशा (महीतले) भूमिपर (अहं) मैं (श्वसुरस्य) ससुर के (नाम्ना) नाम से (श्रूयते) सुना जाता हूँ ।

भावार्थ—श्रीपाल और मैनासुन्दरी प्रेम से आनन्द पूर्वक रहने लगे । सुख-शान्ति से दोनों काल यापन करने लगे । धर्मध्यानपूर्वक दोनों अनुत्सुक भोगों को भोगने लगे । समय कहाँ जा रहा है, यह भी ज्ञात नहीं हुआ । अचानक एक दिन श्रीपाल राजा ने बन्दीजनों द्वारा अपनी स्तुति सुनी । वह स्तुति उनके श्वसुर के नाम के साथ गायी गई थी । अपना गुणगान, यशोराशि सुनकर श्रीपाल का मन क्षुब्ध हो उठा, क्योंकि वह गुणानुवाद प्रजापाल महाराज के जंघाई के नाम से किया गया था । एकाएक वह मन में चिन्तन करने लगा “मेरे जीवन को धिक्कार है, मेरे जीवन से क्या प्रयोजन ? बड़े खेद की बात है कि यहाँ सर्वत्र मेरे ससुर का ही नाम सुना जाता है । मैं किसका पुत्र हूँ कोई नहीं जानता । अर्थात् मेरे पिता का नाम ही मिटा जा रहा है फिर मुझ पुत्र के जोने से क्या ? कोई लाभ नहीं ॥१-२॥

मत्पितुः श्रूयते नैव नाम्नाप्यत्र कदाचन ।

मया निर्ममितं तच्च मन्दभाग्येन साम्प्रतम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ (कदाचन) कभी भी (मत्) मेरे (पितुः) पिता के (नाम्ना) नाम से (नैव) नहीं (श्रूयते) सुना जाता है (साम्प्रतम्) इस समय (मया) मुझे (मन्दभाग्येन) मन्दभागी द्वारा (तत्) वह (च) और ही (निर्ममितम्) निर्माण हो गया । अर्थात् होता था कुछ और, और हुआ दूसरा ही ।

भावार्थ—यहाँ इस पुरो में कहीं भी कोई भी मेरे पिता का नाम नहीं लेता । मैं कभी अपने पूज्य पिता का नाम नहीं सुनता । मुझ मन्दभागो ने विपरीत ही कार्य किया । पिता का नाम रोशन न कर श्वसुर का नाम प्रसिद्ध किया । मेरा यह दुर्भाग्य ही है ॥३॥

इत्यादि चिन्तयाक्रान्तं स्वभर्तारं विलोक्य सा ।

कन्दर्पसुन्दरी प्राह कि स्वामिन्मुखपङ्कजे ॥४॥

म्लानता कारणं ब्रूहि नाथ मे करुणापरः ।

श्रीपालस्सञ्जगौ कान्ते मत्पितुर्नाम निर्गतम् ॥५॥

श्रूयते श्वसुरस्यैव नाम सर्वत्र सर्वदा ।

अतो मे जायते दुःखं मानसे मत्प्रिये शृणु ॥६॥ त्रिकुलम् ॥

अन्वयार्थ—(इत्यादि) उपर्युक्त प्रकार से (चिन्तयाक्रान्तम्) चिन्ताग्रस्त (स्व) अपने (भर्तारम्) पति को (विलोक्य) देखकर (सा) वह मैनासुन्दरी (कन्दर्पसुन्दरी) मदन-सुन्दरी (प्राह) बोली (स्वामिन्) हे स्वामिन् (मुखपङ्कजे) मुखकमल पर (म्लानता) मलिनता का (कारणम्) कारण (कि) क्या है (नाथ !) हे नाथ (करुणापरः) आप दयालु हैं दयाकर (मे) मुझे (ब्रूहि) कहिये । (श्रीपालः) श्रीपाल (सञ्जगौ) बोला (कान्ते !) हे प्रिये ! (मत्) मेरे (पितुः) पिता का (नाम) नाम (निर्गतम्) नष्ट हो गया (सर्वदा) हमेशा (सर्वत्र) सर्व जगह (श्वसुरस्य) ससुर का (एव) ही (नाम) नाम (श्रूयते) सुना जाता है । (अतः) इसलिए (मत्प्रिये) हे मेरी प्राणवल्लभे (मे) मेरे (मानसे) मन में (दुःखम्) दुःख (जायते) होता है ।

भावार्थ—प्रनेक तर्क-वितर्क करके श्रीपाल राजा बहुत ही चिन्तित हो गये । उनका मुखपङ्कज मुरझा गया । अपने पतिदेव को चिन्तातुर देखकर मदनसुन्दरी व्याकुल हो उठी । वह प्रार्थना करने लगी, हे स्वामिन्, आपका मुखपङ्कज आज म्लान क्यों है ? हे नाथ दयाकर आप अपने दुःख का कारण कहिए । आप करुणामय हैं । शीघ्र ही मुझ से अपनी उदासी का कारण कहिये आपका मुख-दुःख ही मेरा सुख-दुःख है । मेरा मन अधीर हो रहा है, आप यथार्थ कारण अवश्य ही कहिये । अपनी प्रिया की प्रार्थना सुनकर श्रीपालजी कहने लगे, हे प्रिये ! मेरे पिता का नाम ही नष्ट हो गया । यहाँ सर्वत्र सदा मेरे श्वसुर का ही नाम सुनते हैं मेरे साथ श्वसुर जो का ही नाम जुड़ गया है । सब कोई प्रजापाल राजा का जवाँई कहकर ही पुकारते हैं । यही मेरे दुःख का मूल कारण है । हे प्राणवल्लभे ! सुनो, मेरे पिता का ही नाम नहीं तो मेरे जीवन ही से क्या प्रयोजन ? ॥४-५-६॥

मातुलस्य भगिन्याश्च श्वसुरस्य सुयोविताः ।

नाम्ना धनेन जीवन्ति भवंत्येतेऽथमाधमाः ॥७॥

अन्वयार्थ (ये) जो (मातुलस्य) मामा के (भगिन्याः) बहिनों के (श्वसुरस्य)

श्वसुर के (च) और (सुयोषिताः) स्त्रियों के (नाम्ना) नाम के (धनेन) धन से (जीवन्ति) जीते हैं (एते) ये (अधमाधमा) अधम से अधम (भवन्ति) होते हैं

भावार्थ—श्रीपाल अपनी प्रिया को नीति पूर्वक कहते हैं कि जो पुरुष स्वयं पुरुषार्थ न कर परधन के आश्रय रहते हैं वे नीच हैं। अर्थात् जो मामा के, बहिन के, श्वसुर के और स्त्रियों के नामके धन-वैभव से अपना जीवन निर्वाह करता है वह महान अधम पुरुष है। पुरुष नाम ही उसका है जो स्वयं पुरुषार्थ करे। अभिप्राय यह है कि मैं श्वसुर के धन से अपना जीवन यापन कर रहा हूँ इसीलिए मेरे पिता का नाम भी लुप्त हो गया। और मैं स्वयं भी लज्जा का पात्र बन गया ॥७॥

भुजोपाजित वित्तेन भुञ्जन्ते येऽनिशं सुखम् ।

तेऽत्र सत्पुरुषा लोके परे दुर्मानिशास्त्रिनः ॥८॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ (लोके) संसार में (ये) जो (भुजोपाजित) अपने बाहु-बल से कमाये (वित्तेन) धन से (अनिशम्) निरन्तर (सुखम्) सुख (भुञ्जन्ते) भोगते हैं (ते) वेही (सत्पुरुषाः) सज्जन-उत्तम पुरुष हैं (परे) अन्य (दुर्मानिशास्त्रिनः) मदोन्मत्त-निरेदम्भी हैं।

भावार्थ—हे प्रिये, इस संसार में जो पुरुष अपने स्वयं पुरुषार्थ कर धन कमाते हैं। व्यापारादि करते हैं वे ही सज्जन हैं, पुरुष कहलाने के अधिकारी मनस्वी हैं। उनका ही भोगोपभोग सुख भोगना सार्थक है। शेष जो परार्थीन सुख भोगते हैं उन्हें अधम पुरुष कहा जाता है वे मात्र पाखण्डी हैं ॥८॥

धनं विना न भातीह नरलोके निरन्तरम् ।

यथा सुगन्धता हीनो नाना कुसुमसञ्चयाः ॥९॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (सुगन्धता) सुगन्धी (हीनः) रहित (नाना) अनेक (कुसुमसञ्चयाः) पुष्पों का समूह (न) नहीं (भाति) शोभित होता है (तथा) उसी प्रकार (इह) यहाँ (नरलोके) मनुष्यलोक में (निरन्तरम्) निरन्तर (धनं) धन के (विना) बिना (न भाति) शोभित नहीं होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अनेक प्रकार के फूलों का ढेर लगाया और वे सब यदि सुवास रहित हों तो उनका कोई मूल्य नहीं, शोभा नहीं। उसी प्रकार संसार में मनुष्य के पास यदि धन नहीं हो तो अन्य सब गुणों का कोई मूल्य नहीं ॥९॥

विस्तारयन्ति ये कीर्तिं स्वकीयोपाजितेर्द्धने ।

धन्यास्तयेव संसारे चन्द्रकान्तिमिवोज्ज्वलाम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(संसारे) विश्व में (ये) जो (स्वकीय) स्वयं (उपार्जित) अर्जित (धनैः) धन के द्वारा (चन्द्रकान्ति) चन्द्रकिरणों (इव) समान (उज्ज्वलाम्) निर्मल (कीर्तिम्) यश को (विस्तारयन्ति) फैलाते हैं (तयेव) वे ही (धन्याः) धन्य हैं ।

भावार्थ श्रीपाल कहते हैं, हे प्रिये, इस लोक में जो पुरुष स्वयं अपने ही पुरुषार्थ से व्यापारादि कर लक्ष्मी कमाते हैं । तथा उस अर्जित सम्पदा को यथार्थ दान पूजादि कार्यों में व्यय कर लोकमान्य यश प्राप्त करते हैं । वे ही मानव धन्य हैं । योग्य और सार्थक जीवनयुक्त हैं । अभिप्राय यह है कि पुरुष सिह अपने बल पर ही जीवन यापन करना चाहते हैं पराधीन जीवन सत्पुरुषों को कभी नहीं रुचता ॥१०॥

अतो देशान्तरे गत्वा धनञ्चोपाज्य निर्मलम् ।

पश्चात्संसारसौख्यानि भुज्यन्ते निश्चयात्प्रिये ॥११॥

अन्वयार्थ—श्रीपाल कहते हैं (अतः) इसलिए (प्रिये) हे वल्लभे ! (देशान्तरे) परदेश (गत्वा) जाकर (च) और (निर्मलम्) न्यायपूर्वक (धनम्) लक्ष्मी (उपाज्य) कमाकर (पश्चात्) बाद में (निश्चयात्) निश्चय से (संसारसौख्यानि) संसार योग्य भोगों को (भुज्यन्ते) भोगना चाहिए ।

भावार्थ अपनी प्राप्ता प्रिया से श्रीपाल महाराज कहते हैं, हे प्रिये ! अब मैं विदेश जाकर लक्ष्मी उपार्जन करूँगा । न्यायपूर्वक सञ्चित धन के होने पर ही संसार के पञ्चेन्द्रिय जन्य सुख भोगना चाहिए । अतः मैं प्रथम व्यापारादि कर आर्थिक बल प्राप्त करूँगा । पुनः सैनिक बल और तब राज्यबल प्राप्त हो सकता है । अतः धनार्जन के लिए निश्चय ही मैं विदेश गमन करूँगा ॥११॥

नागवल्लीदलं रत्नं पुरुषोऽपि सुपुण्यवान् ।

देशान्तरेषु मां त्यक्त्वा भो कान्ते श्रूयते वचः ॥१२॥

अन्वयार्थ (भो) हे (कान्ते !) प्रिये (देशान्तरेषु) परदेशों में कमाकर (नागवल्लीदलम्) नागवल्ली के पत्ते समान (रत्नम्) रत्नवाला (पुरुष) मनुष्य (अपि) भी (मां) मुझे (त्यक्त्वा) छोड़कर (वचः) नाम (श्रूयते) सुना जाता है ।

भावार्थ—हे प्रिये ! मुझे छोड़कर जो पुरुष बहुत थोड़ा सा भी धन कमाकर लाया है तो उसका नाम भी लोग कहते सुने जाते हैं । नागवल्ले के पत्ते समान रत्न भी स्वोपार्जित है तो उसका नाम तो लोग लेते हैं । मेरे पास इतना धन-वैभव सुख सामग्री भी है तो किस काम की ? न तो मेरा नाम ही कोई लेता है न मेरे पिता ही का । सर्वत्र श्वशुर का ही नाम गाया जा रहा है । अतः मेरा निश्चय है कि स्वतः अपने भुजबल से अर्थ सञ्चय कर भोग भोगूँ ॥१२॥

कान्तवाक्यं समाकर्ण्य कम्पिता किल कामिनी ।

बने वातेन वा वल्ली कोमलाङ्गी सुगन्धिनी ॥१३॥

अन्वयार्थ—(कोमलाङ्गी) सुकुमार अङ्गवाली (सुगन्धिनी) सुवासित गात्र वाली (कामिनी) पत्नी मदन सुन्दरी (कान्तवाक्यम्) पति के वाक्य (समाकर्ण्य) सुनकर (किल) निश्चय से (बने) बन में (वातेन) वायु से (वल्ली) लता (इव) समान (वा) मानों (कम्पिता) कांपने लगी :

भावार्थ—अपने प्राणवल्लभ पति के परदेश गमन के वचन सुनते ही मदनसुन्दरी अवाक् रह गई । उसे लगा मानों उस पर वज्रपात हुआ । वह अप्रत्याशित भय से थरथराने लगी । उस समय वह सुकुमारी, सुगन्धित वस्त्रालङ्कारों से सज्जित ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों वन प्रदेश में फल-फूलों से भरी पवन से प्रेरित सुन्दर लता ही हो ॥१३॥

उवाच सुन्दरी सा च वियोगं सोढुमक्षमा ।

अहं ते पद्मिनीवोच्चैर्भास्करस्यदिवि प्रभो ॥१४॥

अन्वयार्थ—(सा) वह मदनसुन्दरी (सुन्दरी) सौभाग्यशालिनी (उवाच) बोली (प्रभो !) हे स्वामिन् (दिवि) दिन में (भास्करस्य) सूर्य के ताप को (पद्मिनी) कमलिनी जिस प्रकार सहन नहीं कर सकती (इव) इसी प्रकार (ते) आपके (वियोगम्) विरह को (अहम्) मैं (सोढुम्) सहन करने में (अक्षमा) असमर्थ हूँ ।

भावार्थ—पद्मिनी चन्द्रोदय के साथ प्रफुल्ल होती है, खिलती है । सूर्य के उदय होते ही वह कुमुला जाती है—मन्द हो जाती है क्योंकि चन्द्र का वियोग उसे सहन नहीं होता । अतः मैनासुन्दरी अपने पति देव से प्रार्थना करती है कि आप चन्द्र हैं और मैं कमलिनी हूँ । आपका वियोग सहन करने की मुझमें क्षमता नहीं है । आपके परदेश गमन होने पर मैं कमलिनी के समान प्राण विहीन हो जाऊँगी । आपका संयोग ही मेरा जीवन है ॥१४॥ इसलिए—

ततस्त्वया समं नाथ समेष्यामि सुनिश्चितम् ।

ज्योत्स्ना चन्द्रेण हि यथा गच्छतिनित्यशः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिए (नाथ !) हे प्रभो (यथा) जिस प्रकार (नित्यशः) प्रतिदिन (ज्योत्स्ना) चाँदनी (चन्द्रेण) चाँद के (सार्थं) साथ (हि) निश्चय से (गच्छति) गमन करती है (तथा) तथा उसी प्रकार (त्वया) आपके (समम्) साथ (सुनिश्चितम्) अवश्य ही (समेष्यामि) साथ-साथ रहूँगी-चलूँगी ।

भावार्थ—मदनसुन्दरी अपने प्राणप्रिय पति से प्रार्थना करती है कि हे नाथ आप चन्द्र हैं मैं चन्द्रिका हूँ, जिस प्रकार चन्द्रिका चन्द्रमा को छोड़कर एक क्षणमात्र भी नहीं

रह सकती, उसी प्रकार मैं भी आपके साथ ही प्रयाण करूँगी आपके बिना मैं नहीं रह सकती हूँ। अतः मेरा निश्चय है कि आपके ही साथ विदेश चलूँगी ॥१५॥ और भी मैना सुन्दरी उदाहरण दे रही है -

छाया वा पुरुषेणां, सन्मतिर्वा मुनीश्वरानाम् ।

नीतिर्वा भुभुजा सार्थं प्रीति र्वा सज्जनेन च ॥१६॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (छाया) परछाई (पुरुषेण) पुरुष के (एव) ही (वा) मन्त्रिणा (सन्मतिः) सद्गुणित (मुनीश्वरानाम्) मुनीश्वरों के (वा) अथवा (नीतिः) न्याय (भुभुजा) राजा के (वा) अथवा (प्रीतिः) स्नेह (सज्जनेन) सत्पुरुषों के (सार्थम्) साथ-साथ (गच्छति) जाता है ।

भावार्थ—और भी तर्क देकर मैनासुन्दरी अपने निश्चय का पोषण करती है कि हे देव ! प्रच्छाया पुरुष के पीछे-पीछे चलती है । उत्तम बुद्धि मुनीश्वरों का अनुसरण करती है । नीति राजाओं का अनुकरण करती है । प्रीति-वात्सल्य सत्पुरुषों के साथ-साथ चलता है । इसी प्रकार पतिव्रताओं का कर्तव्य भी छाया के समान पति का अनुसरण करना उत्तम धर्म है । कर्तव्य है ॥१६॥

इत्यादिकं प्रिया प्रोक्तं श्रीपालस्तन्निशम्य च ।

प्रोवाच मधुरां वाणीं शृणु त्वं प्राणवल्लभे ॥१७॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार (प्रियाप्रोक्तम्) पति के कहे हुए आग्रह को (निशम्य) सुनकर (श्रीपालः) श्रीपाल (मधुराम्) मधुर (च) और (वाणीं) वाणी को (प्रोवाच) बोला (प्राणवल्लभे !) हे प्रिये ! (त्वम्) तुम (शृणु) सुनो ।

भावार्थ—जब मैनासुन्दरी ने अत्यन्त आग्रह किया और अनेक प्रकार से प्रार्थना की उसकी प्रार्थना सुनकर श्रीपाल जी अत्यन्त मधुर वाणी में बोले, हे प्रिये ! प्राणवल्लभे ! सुनो ।

कान्तया गमनं सार्थं विदेश दुःखकारणम् ।

पुनसांयानेऽशने स्थाने, शयने दुर्जने वने ॥१८॥

कामिन्यः कोमलाङ्गयश्च स्वभावेन सती प्रिये ।

त्वं च राजसुता नित्यं, मालतीय सुकोमला ॥१९॥

तथा तातादयस्ते च श्रुत्वा वार्तामिमां ध्रुवम् ।

वारयिष्यन्ति मां गाढमुपायेविविधैर्ध्रुवम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(मनो प्रिये) हे सती बल्लभे ! (कामिन्यः) स्त्रियाँ (कोमलाङ्गयाः) सुकोमल अङ्गवाली (स्वभावेन) स्वभाव से हो होती हैं (च) और (त्वम्) तुम तो (राज-सुता) राजपुत्री हो (नित्यं) नित्य ही (भालती) भालती (इव) समान (सुकोमला) अत्यन्त सुकोमल हो सुनी (विदेशे) परदेश में (कान्तया) स्त्रियों के (सार्थं) साथ (गमनम्) गमन करवा (पुसाम्) पुरुषों के (याने) सवारा (अशने) भोजन (स्थाने) निवासस्थान (शयने) शैया (दुर्जने) दुष्टजन (वने) निजम वन का श्रियता न (दुःखकारणम्) दुख का कारण (भवति) होता है (च) और (ते) तुम्हारे (तातादयः) दादा, पिता, मातादि परिवार के लोग (इमाम्) इस (वार्ताम्) बात को (श्रुत्वा) सुनकर (ध्रुवम्) निश्चय से (विविधैः) नाना (उपायैः) उपायों से (माम्) मुझको (गाढम्) बलात् (वारयिष्यन्ति) निवारण करेंगे ।

अन्वयार्थ श्रीपाल मंतासुन्दरी के आग्रह करने पर समझाता है । हे प्रिये परदेश में स्त्रियों को साथ ले जाने में मनुष्यों को दुख का कारण होता है । स्त्रियाँ स्वभाव से ही सुकोमलाङ्गी होती हैं । उस पर भी हे प्रिये आप तो राजपुत्री हो, भालतीलता के समान कोमल हो । विदेश में सवारी मिले न मिले । पैदल चलना पड़ सकता है । समय पर भोजन मिले न मिले, उठने-बैठने को स्थान मिले न मिले, शयन को बिछावन का भी कोई ठिकाना नहीं रहता, कब कहीं कौन दुष्टजन मिल जाय, कब कहीं अटवियों से गुजरना पड़ जाय उस समय तुम्हें कितना कष्ट होगा । उससे मुझे भी बाधा आयेगी । यही नहीं, तुम्हें साथ ले जाने की बात सुनकर तुम्हारे कोटुम्बीजन मुझको भी जाने से रोकेंगे । नाना प्रकार के प्रयत्नों से मुझे नहीं जाने देंगे, जिससे मुझे असन्तोष होगा । अतः आपका जाना उचित नहीं । मेरे साथ रहने से मैं स्वतन्त्र नहीं रह सकूँगा ॥१८, १९, २०॥

तस्मादागम्यते यावन्मया लक्ष्म्या समं शुभे !

तावत्त्वं तिष्ठ भो कान्ते पितुरन्ते सुखेन च ॥२१॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इसलिए (भो) हे (कान्ते) प्रिये (यावन्) जब तक (लक्ष्म्या) लक्ष्मी के (समम्) साथ (मया) मेरा (आगम्यते) आगमन हो (तावत्) तब तक (शुभे !) हे शोभने (त्वम्) तुम (पितुः) पिता के (अन्ते) पास (सुखेन) सुख से (तिष्ठ) रहो (च) और ..

भावार्थ—श्रीपालजी कहते हैं मदनसुन्दरी, हे शोभने तुम स्वयं विदुषी हो । तुम्हारे साथ आने से परदेश में अनेकों कष्ट आयेगे । तुम सहन नहीं कर सकोगी । अतः हे कान्ते ! जब तक मैं धन कमाकर लक्ष्मी के साथ वापिस न आऊँ तब तक तुम यहीं अपने पिता के साथ सुख से रहो ॥२१॥

पुनः पुनः प्रिये मत्स्या स्वचित्ते मङ्गलम् मम् ।

मा यादोस्त्वं निषेधार्थं सर्वकार्यं विचक्षणो ॥२२॥

अन्वयार्थ—(प्रिये) हे देवि ! प्रिये (स्व) अपने (चित्ते) मन में (पुनः-पुनः) बार-बार (मम) मेरा (मङ्गलम्) कल्याण (त्वया) त्वत्वात् (सर्वं कार्यं दिव्यदाणे) हे सर्व-कार्यों में विचक्षण मते (त्वम्) तुम (निषेधार्थम्) निषेध करने वाला वचन (मा) मत (वादीः) बोलो ।

भावार्थ—लोक में प्रसिद्ध है कि कोई व्यक्ति यदि किसी शुभकार्य के लिए विदेश प्रयाण करता हो तो उसे "मत जा" ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि यह अपशकुन माना जाता है । अतः श्रीपालजी मदनसुन्दरी को कहते हैं हे शोभने ! तुम समस्त लौकिक कार्यों की ज्ञाता हो, शुभाशुभ कार्य दक्ष हो, नाना व्यवहारों को जानने वाली हो । अतएव प्रयाण काल में तुम्हें बार-बार अपने मन में मेरा कल्याण विचारना चाहिए । मेरे मङ्गल की कामना करो । जाने के समय निषेध करना उचित नहीं है । इसलिए हे कान्ते ! आप निषेध वाचक वचन नहीं बोलना ॥२२॥

**इत्याक्षेपे निषिद्धाश्च सा जगौ नाथ कदा तव
दर्शनं वद मे सत्यं भो स्वामिन् प्राण रक्षक ! ॥२३॥**

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (आक्षेपे) उलाहना देकर (निषिद्धाः) रोक दी गई (सा) वह कामिनी (जगौ) बोली (नाथ !) हे नाथ (भो स्वामिन्) हे स्वामिन् (च) और (प्राणरक्षक !) हे प्राणरक्षक ! (तव) आपका (दर्शनम्) दर्शन (कदा) कब होगा (मे) मुझे (सत्यं) यथार्थ (वद) कहिये ।

भावार्थ—अपशकुन का तात्पर्य देकर श्रीपाल ने अपनी प्रिया को साथ जाने से रोक दिया । अकल्याण की आशङ्का से पतिपरायणा उसने भी स्वीकार कर लिया । ठीक ही है सती, पति की अनुगामिनी, शीलवती नारियाँ छायावत् पति आज्ञा का अनुसरण करती हैं । तो भी किसी प्रकार हृदय के शोकप्रवाह के वेग को रोक कर वह सती कहने लगी, हे देव, हे नाथ, हे प्राणरक्षक ! भो स्वामिन्, अब आपका शुभ, कल्याणकारी दर्शन कब होगा ? यह यथार्थ, सत्य बतलाइये ॥२३॥

**वर्षे द्वादशभिस्सत्यं संयोगो मे त्वया समम् ।
तेनोक्तमिति सा कर्ण्य सञ्जगाद प्रभो शृणु ॥२४॥**

अन्वयार्थ—(तेन) श्रीपाल द्वारा (उत्तम्) कहा गया (इति) इस प्रकार, (सत्यम्) निश्चय ही (द्वादशभिः) बारह वर्षों (वर्षः) वर्ष के अन्दर (त्वया) तुम्हारे (समम्) साथ (मे) मेरा (संयोगो) संयोग (भविष्यति) होगा (इति) इस प्रकार (आकर्ण्य) सुनकर (सा) वह (सञ्जगाद) सम्यक् वचन बोली (प्रभो) हे प्रभो (शृणु) सुनिये ॥२४॥

भावार्थ—श्रीपाल ने उत्तर दिया "हे सुभगे, निश्चय ही बारह वर्ष में मेरे साथ तुम्हारा संयोग होगा ।" इस प्रकार सुनकर मदनसुन्दरी कहने लगी, हे देव ! मैं कुछ कहना चाहती हूँ कृपया सुनिये ॥२४॥

तुच्छ बुध्याऽपि ते किञ्चिद्वचो वक्ष्ये विचक्षण !

श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मो न विस्मर्यः कदाचनः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(विचक्षण !) हे विलक्षणमते ! (तुच्छ) लघु (बुध्याऽपि) बुद्धि होने पर भी (ते) आपके लिए (किञ्चिद्) कुछ (वचः) वचन (वक्ष्ये) कहूँगी, (कदाचन) कभी भी (श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मः) श्रीजिनेन्द्र भगवान का उत्तम धर्म (न) नहीं (विस्मर्यः) भूलना ।

भावार्थ—हे अद्भुतमते ! आपके समक्ष मैं (मैनासुन्दरी) तुच्छ बुद्धि हूँ तो भी कुछ हितकारी वचन कहती हूँ । आप कभी भी श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान कथित सद्धर्म को कभी भी नहीं भूलना । सतत स्मरण रखना ॥२५॥ तथा और भी—

चिन्तनं सिद्धचक्रस्य कर्त्तव्यञ्च त्वयानिशम् ।

सारपञ्चनमस्कारान्स्वामिन्स्वर्गपिवर्गदान ॥२६॥

अन्वयार्थ (च) और (स्वामिन्) हे स्वामिन् (त्वया) आप (अनिशम्) रात-दिन (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र का (च) और (स्वर्ग) स्वर्ग (अपवर्ग) मोक्ष (दान) देनेवाला (पञ्चनमस्कारान्) पञ्चपरमेष्ठी वाचक महामन्त्र का (चिन्तनम्) चिन्तन (कर्त्तव्यम्) करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—हे स्वामिन्, आप निरन्तर ही स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले श्री सिद्धचक्र का तथा पञ्चनमस्कार मन्त्र का चिन्तन करते रहना । हमेशा ध्यान करियेगा । हृदय में इनका चिन्तन करते रहियेगा ॥२६॥ तथा—

नित्यं चिन्तयतः पुंसो भवन्ति सुखकोटयः ।

पच्यन्ते गुरुवस्तस्मात् त्वया अनिशं परम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(एते) इन (पञ्च) पाँचों (गुरुवः) गुरुओं का (चिन्तयतः) चिन्तन करने वाले (पुंसाः) पुरुषों को (नित्यं) सदा (सुखकोटयः) करोड़ों सुख (भवन्ति) होते हैं, (तस्मात्) इसलिए (त्वया) आप द्वारा भी (अनिशम्) रात-दिन (परम्) विशेष रूप से (ध्येयाः) ध्यान करना चाहिए ॥२७॥

भावार्थ पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करने वालों को संसार में करोड़ों सुखों की प्राप्ति होती है । इसलिए आप सदा ही पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण, ध्यान करते रहियेगा । अर्थात्

पञ्चनमस्कार मन्त्र सतत् जपते रहना चाहिए । जिससे आप सदा सुखी बने रहेंगे । और भी कहती है—

स्मर्त्तव्या जननी नित्यं दासिका चाहकं सदा ।

चतुर्विधं महादानं पूजनञ्च जिनेशिनम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—हे देव (नित्यम्) सदैव (जननी) नाता जी का (च) और (ग्रहकम्) मुझ (दासिका) दासी का (स्मर्त्तव्या) स्मरण रखना (सदा) प्रतिदिन (जिनेशिनम्) जिनेन्द्रभगवान की (पूजनम्) पूजा (च) और (चतुर्विधम्) चारों प्रकार का दान (महादानम्) महादान (कर्त्तव्यः) करते रहना चाहिए ।

कर्त्तव्यं भो सदानाथ रक्षणं च निजात्मनः

त्वं सर्वं सर्वदा दक्षो जानास्येव हिताहितम् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(भो) हे (नाथ) नाथ (सदा) हमेशा (त्वम्) आप (निजात्मनः) अपनी आत्मा का रक्षण (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए (च) और अधिक क्या कहूँ आप (सर्वम्) सब कुछ (हिताहितम्) हित और अहित का (सर्वदा) हमेशा (दक्षः) कुशल हैं (जानासि) जानते (एव) ही हैं ।

भावार्थ—मदनसुन्दरी कहती है कि हे प्रीतम ! हे नाथ आप सर्व कार्य कुशल है । निरन्तर अपनी रक्षा का ध्यान रखें । हित और अहित के आप ज्ञाता हैं मैं क्या समझाऊँ ? बराबर सावधानी से कार्य करें । धर्म का रक्षण, न्याय का प्रवर्तन करते हुए अपना रक्षण करते रहें । यहाँ विशेष रूप में नारियों को शिक्षा लेना चाहिए । मैना का आदर्श जीवन अनुकरणीय है । अपने देव तुल्य पति के प्रति कितनी भक्ति, प्रीति और समता है तो भी उसे सन्मार्ग का उपदेश देती है । धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती है । वस्त्राभूषण की मांग नहीं करती । अपितु सतत् षट्कर्मों के पालन की प्रार्थना करती है । जिनेन्द्र पूजा और चतुर्विध संघ को चार प्रकार दानादि करने के लिए उत्साहित करती है । आजकल हमारी बहिनें अपने पति के दिदेश जाने पर उनसे उस-उस देश की अनावश्यक वस्तुओं, गहने-कपड़े आदि की मांग करती हैं । यहाँ तक कि अपनी निजी वेश-भूषा को भूल कर अपने नैबुरल स्वाभाविक सौन्दर्य को नष्ट कर डालती हैं । फैशन परस्ती में पड़कर स्वयं ही धर्म-कर्म विहीन हो जाती हैं फिर पति को क्या धर्म मार्ग पर आरूढ़ करेंगी ? शील, संयम, चरित्र, सदाचार, लज्जा सहनशीलता नारी के आभूषण हैं सौन्दर्य के प्रसाधक हैं न कि बाल कटाना भी हे मुँडाना, काली-पीली टीकी लगाना, ओठ रंगना आदि । ये तो और अधिक नैतिक जीवन के पतन के कारण हैं । अतः भारतीय ललनाओं को मदनसुन्दरी जीवन अनुकरणीय हैं ॥२९॥

पुनः मदनसुन्दरी अपना निश्चय स्पष्ट करती है—

यत्ते निगद्यते नाथ तत्सत्यं शृणुतादरात् ।

लोके कल्पतरो व्यक्तं क्रियते तोरणार्पणम् ॥३०॥

इति मुक्ती यदातीया निर्गतो मन्दिरात्तदा ।

वस्त्रप्रान्ते धृतं गाढं रुदन्त्या कान्तया तथा ॥३१॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (ते) आपने (निगद्यते) कहा है (नाथ!) हे नाथ! (तत्) वह (सत्यम्) सत्य है (आदरात्) आदर से (शृणु) सुनिये (लोके) संसार में (कल्पतरोः) कल्पवृक्ष का (व्यक्तम्) प्रकटो करण (तोरण) वन्दितमाला (अर्पणम्) अर्पण कर (क्रियते) किया जाता है। (इति) इस प्रकार (यदा) जब (आतीयाः) पीड़ित जाया से (मुक्तः) श्रीपाल मुक्त हुआ (तदा) तब (मन्दिरात्) भवन से (निर्गतः) निकलने लगा (तदा) उस समय (तथा) उस (रुदन्त्या) रोती हुयी कान्तया) पत्निद्वारा (वस्त्रप्रान्तम्) उसके वस्त्र का पल्ला (गाढम्) जोर से (धृतम्) पकड़ लिया गया।

भावार्थ—मैनासुन्दरी ने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान कराया। धैर्य पूर्वक पति देव की कल्याण भावना से गमनकाल में होने वाले शुभ कार्यों को किया। अर्थात् पाद प्रक्षालन, कङ्कणबन्धन, तिलकार्चन, मङ्गल आरती, अक्षतादि क्षंशण कर अपने प्राणनाथ को विदाई दी। महाराज श्रीपाल भी विधोग-संयोग के भूजे में झूलते पुनर्मिलन का आशादीप जलाये अपने महल से निकले। सहसा नारी का आर्तहृदय बाँधतोड़ फूट पड़ा। मैना सिसक उठी। वह अपने आवेश को रोक न सकी। अचानक उसने निर्गमन करते अपने पतिदेव का उत्तरीय वस्त्र जोर से पकड़ लिया और रुदन करने लगी। यह देख श्रीपालजी उसे धैर्य बंधाने के लिए बोले—

अमङ्गलमिव भद्रे मुञ्चमां गमनं क्षणे ।

तेनाक्तं सा जगादेवं शृणु त्वं प्राणवल्लभः ॥३२॥

प्राणान् मुञ्चामि किं वा वस्त्रं ववात्र मे

आक्षिप्य वसनं यासि यदा त्वं नासि सद्भटः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(भद्रे) हे कल्याणि! (इदम्) यह (गमनम्) जाने के (क्षणे) समय में (अमङ्गलम्) अमङ्गल है अतः (माम्) मुझको (मुञ्च) छोड़ो, इस प्रकार कहने पर (तेन) श्रीपाल के (उक्तम्) कहने पर (सा) मैनासुन्दरी (जगाद) बोली (एवं) इस प्रकार (प्राणवल्लभ) हे प्राणधार! (त्वम्) आप (शृणु) सुनिये (किम्) क्या (पूर्वं) प्रथम (वस्त्रम्) वस्त्र (मुञ्चामि) त्यागूँ (किं वा) अथवा (प्राणान्) प्राणों को (अत्र) अब (मे) मुझे (वद) कहिये, (यदा) जब आप (वसनम्) वस्त्र को (आक्षिप्य) छटक कर (यासि) जाते हो तो (त्वम्) आप (सद्भटः) उत्तम सुभट (न) नहीं (असि) हो।

भावार्थ—श्रीपाल जो कहते हैं कि हे भद्र ! कल्याणि ! आपका चलते समय वस्त्र पकड़ना अशुभ का कारण है । अतः मुझे छोड़ो । इस प्रकार कहने पर मैनासुन्दरी कहने लगी हे नाथ मेरे वचन सुनिये, "आप ही कहिये इस प्रकार वस्त्र छोड़ाकर आपका जाना क्या वीरत्व है ? सच्चे ! सुभट को यह योग्य है क्या ? मैं पहले वस्त्र छोड़ूँ या अपने प्राण विसर्जन करूँ आप ही कहिये ? पुनः श्रीपाल कहने लगे —

द्विषट् संवत्सर प्रान्ते यदा नायामि निश्चितम् ।

आज्ञा श्रीद्विचक्रस्य निगद्येति विनिर्गतः ॥३४॥

अन्वयार्थ—हे देवि ! (द्विषट्) बारह (संवत्सर) वर्ष (प्रान्ते) अन्त में (यदा) जब (न) नहीं (आयामि) आजाता हूँ तो (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र की (आज्ञा) शपथ है (इति) इस प्रकार (निगद्येति) कहकर (विनिर्गतः) चला गया ।

भावार्थ—मैना सुन्दरी अति व्याकुल, अधीर देखकर श्रीपाल वचन बढ़ होता है । वह कहता है, हे प्रिये मैं सिद्धचक्र की साक्षी पूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि बारह वर्ष के समप्त होने के पूर्व ही आजाऊँगा । यदि नहीं आया तो सिद्धचक्र की शपथ का उल्लंघी हो जाऊँगा । इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह वहाँ से निकल गया ॥३४॥ पत्नी के यहाँ से माता के पास गया ।

नत्वा स्वमातरं प्राह भो मातस्ते प्रसादतः ।

गत्वा देशान्तरं शीघ्रमागमिष्यामि सद्धनम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—श्रीपाल (स्व) अपनी (मातरम्) माता को (नत्वा) नमस्कार करके



(प्राह) बोला (भो) हे (मातः) माँ (ते) आपके (प्रसादतः) प्रसाद से कृपा से (अहम्) मैं (देशान्तरम्) विदेश (गत्वा) जाकर (सद्धनम्) लक्ष्मी सहित (शीघ्रम्) जल्दी ही (आग-मिष्यामि) आजाऊँगा ।

भाषार्थ—प्रिया से विदा होकर श्रीपाल अपनी माता के पास गया । विनय पूर्वक श्री के चरणों में नमस्कार किया । भक्ति पूर्वक नमन कर विनय से कहने लगा, हे मात मैं आपके पुनीत आशीर्वाद से विदेश व्यापार के लिए जाना चाहता हूँ । वहाँ से शीघ्र धनीपार्जन कर वैभव सहित आऊँगा ॥३५॥

आवेशं वेहि मे शीघ्रं गमनार्थं महामते !

पूजा श्रीजिन सिद्धानां कर्त्तव्या च विशेषतः ॥३६॥

रक्षा बध्वाश्च ते मातः धर्मकर्म विदाम्बरे ।

धर्मध्यानेन दानेन कर्त्तव्यान्तोऽत्र मन्दिरे ॥३७॥

अन्वयार्थ—(महामते !) हे महाबुद्धिशालिनि ! (अत्र) यहाँ (मन्दिरे) महल में (विशेषतः) विशेष रूप से (श्री जिन) श्री जिनेन्द्रभगवान की (च) और (सिद्धानाम्) सिद्धों की (पूजा) पूजा (कर्त्तव्या) करना चाहिए (मातः) हे मातेश्वरि ! (धर्मकर्मविदाम्बरे) हे धर्म कर्म करने में चतुर (धर्मध्यानेन) धर्मध्यान पूर्वक (च) और (दानेन) दान करते हुए (ते) आपको (बध्वाः) बहूको (रक्षा) रक्षा (कर्त्तव्यान्तः) करते रहना । यही मेरी प्रार्थना है ।

भाषार्थ—श्रीपाल महाराज अपनी मातेश्वरी से विनय पूर्वक प्रार्थना कर रहे हैं । हे महाविदुषी, माते आप यहीं महलों में अपनी बधू के साथ विराजे । प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र-भगवान की पूजा करें, विशेषरूप से श्री सिद्धचक्र की पूजा, आराधना कर धर्म प्रभावना करती रहें । साथ ही अपनी बधू-मैनासुन्दरी की रक्षा करें । उसे धैर्य बंधाकर धर्मध्यान, दान आदि कर्त्तव्यपालन करती रहें । क्योंकि आपके द्वारा किये गये पूजा-दानादि और सिद्धभक्ति के प्रसाद से मेरा कार्य भी निविध्य हो सकेगा । अतः आप सास बहू प्रेम, भक्ति से विराजे । मैं बारह वर्ष के अन्त तक नियम से आपका दर्शन करूँगा ॥३६-३७॥

पुत्र वाक्य समाकर्ण्य सा सती कमलावती ।

मत्त्वा तन्निश्चितं चित्ते गमने चतुराशया ॥३८॥

संजगाव सुतं पुत्र श्रणू त्वं गुणमन्विर ।

सर्वथा चेत् त्वया भद्र गन्तव्यं साम्प्रतं सुधीः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(चतुराशया) अभिप्राय समझने में चतुर (सा) उस (सती) शोलवती माता (कमलावती) कमलावती ने (पुत्र वाक्यम्) पुत्र के वचन को (समाकर्ण्य) सुनकर

(चित्ते) मन में (गमने) जाने के विषय में (तन) वह (निश्चितम्) निश्चित है ऐसा (मत्वा) मानकर या समझकर (सुतम्) पुत्र के प्रति (संजगाद) बोली (गुणमन्दिरे !) हे गुणसागर (पुत्र) बेटा (त्वम्) तुम (शृणु) सुनो (सुधीः) हे बुद्धिमन् (साम्प्रतम्) इस समय (त्वया) तुम्हारा (गन्तव्यम्) गमन (सर्वथा) पूर्णतः निश्चित (चेत्) यदि है तो (त्वम् शृणु) तुम सुनो ।

अथ धर्मोऽसि शूरौऽसि भक्तोऽसि जिनशासने ।

किं ते वाक्यं तथाप्युच्चैर्मतुः स्नेहोवदत्ययम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) तुम (धर्मः) धर्मात्मा (असि) हो (शूरः) महाभट (असि) हो (जिनशासने) जिनशासन में (भक्तः) भक्तिवान (असि) हो (ते) तुम्हें (वाक्यम्) कहने को (किम्) क्या है ? (तथाऽपि) ऐसा होने पर भी (उच्चैः) विशेष (मातुः) माता का (स्नेहः) प्रेम (अयम्) यह (वदति) कहता है ।

भावार्थ—श्रीपाल ने अपनी श्रद्धेया जननी से व्यापारार्थ गमन का निश्चय प्रकट किया । गमन की आज्ञा मांगी । माता ने शोक विह्वल होने पर प्रिय पुत्र का गमन निश्चय अवगत कर उसे रोकना उचित न समझा । वह हर एक लौकिक विधि-विधान की ज्ञाता थी । समयानुसार प्रवृत्ति करने में दक्ष थी । अतः कमलावती ने सम्यक् प्रकार समझ लिया कि इसका विचार पक्का है । तब उसने पुत्र के आशय के अनुसार उससे कहा, हे पुत्र तुम महा गुणज हो, नीति वान हो, धर्मज्ञ हो, श्रेष्ठ भटोत्तम हो, सदा जिनशासन के परमभक्त हो, हे भद्र ! यदि इस तुम्हारा जाना निश्चित ही है तो सुनो, यद्यपि उपर्युक्त प्रकार तुम सर्वगुण, कला, विज्ञान, धर्मोत्तम कुशल हो, तो भी मातृ हृदय का वात्सल्य स्रोत आपको कुछ कहना चाहता है माता का स्नेह इस समय मीन नहीं रह सकता । अतः मैं कुछ कहती हूँ । तुम तदनुसार प्रवृत्ति करना । अपना और धर्म का संरक्षण करते हुए विदेश में बिहार करना ॥३८, ३९, ४०॥

सर्वदा सर्वयत्नेन सर्वकार्येषु सिद्धिदाः ।

समाराध्यास्त्वया चित्ते श्रीपञ्चपरमेष्ठिनः ॥४१॥

अन्वयार्थ—हे भद्र ! (सर्वकार्येषु) इह परलोक सम्बन्धी सर्व कार्यों में (सिद्धिदाः) सिद्धि देने वाले (श्री पञ्चपरमेष्ठिनः) पञ्चपरमेष्ठी भगवान (त्वया) तुम्हारे द्वारा (चित्ते) चित्त में (सर्वयत्नेन) सर्व प्रकार प्रयत्नकर (सर्वदा) हमेशा (समाराध्या) आराधन-स्मरण करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—शूर, वीर, धर्मात्मा पुत्र प्रसविनी सवित्री माँ पुत्र को शिक्षा आदेश दे रही है, हे पुत्रक ! तुम परदेश में अपने कुल, वंश, जाति एवं धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हो

इसका ध्यान रखना । सम्पूर्ण कार्यों में सिद्धि प्रदाता पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान सतत करते रहना । प्रयत्नपूर्वक अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों परमेष्ठियों की सतत् पूजा, भक्ति, आराधना, जप तपादि करते रहना ॥४१॥ तथा—

अहो पुत्र ! सदा कार्यं सर्वत्र जिनदर्शनम् ।

पाप संताप सन्दोह हुताशन घनाघनम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(अहो !) हे (पुत्र !) पुत्र ! (पाप) अशुभकर्मरूपी (सन्ताप) दाह के (सन्दोह) समूह रूपी (हुताशन) अग्नि को (घनाघनम्) साद्र सघनमेघों के समान (जिनदर्शनम्) जिनेन्द्र भगवान का दर्शन (सर्वत्र) सब जगह (कार्यम्) करने रहना ।

भावार्थ—कमलावती कहती है हे सुत ! तुम याद रखना श्री जिन भगवान का दर्शन सघन जलभरे बादलों के समान है । संसार पापरूपी संताप की ज्वालाओं से भरा है । अतः इस संसार पीडा से उत्पन्न सन्ताप की दाह को बुझाने में जिनदर्शन ही समर्थ है । जिनेन्द्रप्रभु के दर्शन करते ही पाप-ताप रूपी भुजङ्ग उसी प्रकार मार डाले होते हैं जिस प्रकार मयूर की आवाज सुनते ही चन्दनवृक्ष से लिपटे विशाल भुजङ्ग सर्प भाग खड़े होते हैं । अतः, प्रियदर्शन ! तुम प्रयत्नपूर्वक निरन्तर जिनदर्शन अवश्य करते रहना । सर्वज्ञ, वीतराग भगवान के दर्शन से परमशान्ति प्राप्त होती है । दुःख, दारिद्र्य, घोर उपसर्गादि भी नष्ट हो जाते हैं । समस्त उपद्रव पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं ॥४२॥

तथा पुत्र विधेयो हि स्थ यत्नश्च विशेषतः ।

जले स्थले वनेऽरण्येपुरे राजकुलेषु च ॥४३॥

विश्वासो नैव कर्तव्यश्चावाकादिषुधीधनैः ।

धूतकारेषु दुष्टेषु क्रूरेषु पशु जन्तुषु ॥४४॥

अन्वयार्थ—(तथा) इसी प्रकार (पुत्र) हे सुत ! (हि) निश्चय से (जले) नद-नदी सागर में (स्थले) द्वीपादि में (वने) अटवियों में (च) और (अरण्ये) भयानक जङ्गलों में (पुरे) शहरों में (च) और (राजकुलेषु) राजवाडों में (विशेषतः) विशेषरूप से (स्वयत्नम्) अपनी बुद्धि का प्रयोग (विधेयः) रखना चाहिए । (च) और इसी प्रकार (धूतकारेषु) जुआड़ियों, (दुष्टेषु) निर्दयी भीलादि (क्रूरेषु) क्रूर सिंहादि, सर्पादि (पशु) पशुओं (जन्तुषु) विच्छेद, सर्पादि तथा (धीधनैः) बुद्धिमानों द्वारा (आवाकादिषु) आवाक आदि सिद्धान्तियों में (विश्वासः) विश्वास (नैव) नहीं (कर्तव्यः) करना चाहिए ।

भावार्थ—माता कमलावती पुत्र को शिक्षा दे रही है । हे पुत्र जल में प्रवेश करते समय पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है । क्योंकि आँधी तूफान, घड़ियालादि द्वारा उपद्रव की संभावना हो सकती है । द्वीपादि में प्रविष्ट होते समय भी सावधान रहना परमावश्यक है, ठग-लुटेरे आदि कष्ट दे सकते हैं । वन में अग्नि दस्यु, अन्धकार, मार्गभ्रमादि से आपत्ति आ

सकते हैं। अरण्य पार करना भी हो सकता है उसमें पशु, मनुष्य, राक्षसादिकृत उपद्रव आ सकते हैं। बड़े-बड़े शहरों में धर्मविहीन दास, दासियाँ, वेश्याएँ आदि प्रलोभक जनों के फन्दे में आने की संभावना हो सकती है। तुम्हें राजदरबारों में भी जाना होगा। राजाओं के अन्तःपुर में भी जाना हो सकता है, राजा रानियाँ अनेक प्रकार की सुशील दुःशील होती हैं। वहाँ अपने शील, संयम, धर्मरक्षण में सावधान रहना परमावश्यक है। हर समय अपनी कुल-मर्यादा और धर्मरक्षण का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार हे गुण भूषण ! सुकुमार ! धर्मज्ञ ! तुम जूझ लेजने वालों दुर्जनों चापलूसों, निर्दयी धर्म-कर्म विहीन, चारित्र्यभ्रष्टजनों, क्रूर सिंह, व्याघ्रादि पशुओं, शींगवाले पशुओं, सर्प, भुजङ्ग विच्छ आदि जन्तुओं का कभी भी विश्वास नहीं करना। इनसे हमेशा दूर, बचकर रहना। क्योंकि ये प्राणघातक भी हो सकते हैं, कष्ट दायक भी। चुप-चाप शान्त बैठे हों तो भी अचानक हमला कर बैठते हैं। सोते भी हों तो भी इनको लांघना या छेड़ना नहीं चाहिए। जगाना नहीं चाहिए। निरन्तर इनसे बचकर ही रहना चाहिए।

इत्यादिकं भणित्वा च माता साधु विलोचना ।

तं समालिङ्ग्य गन्धाद्यैर्विधाय तिलकं शुभम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार अनेक शिक्षा (भणित्वा) कहकर (साधु) अश्रुपूरित (लोचना) नयनों वाला (माता) माता ने (तम्) उसको-श्रीपाल को (समालिङ्ग्य) हृदय से आलिङ्गनकर (च) और (गन्धाद्यैः) कुंकुम आदि लेकर (शुभम्) उत्तम मांगलिक (तिलकम्) तिलक (विधाय) लगाकर।

दध्यक्षतादिकं क्षिप्त्वा मस्तके शुभदर्शने ।

भूयात् ते दर्शनं शीघ्रं समुवाच वचो हितम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(दधि) दही (अक्षतादिकम्) सफेद चावल, सरसों आदि (मस्तके) मस्तक पर (क्षिप्त्वा) क्षेपण कर (शुभदर्शने) हे शुभ-सौम्यदर्शने (शीघ्रम्) जल्दी ही (ते) तुम्हारा (दर्शनम्) दर्शन, मिलन (भूयात्) हो इस प्रकार (हितम्) हितकारी (वचः) वचन (समुवाच) बोली-कहे।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार अनेकों शुभ, उत्तम, आत्महितकारी, कल्याणकारी शिक्षाएँ माता ने अपने पुत्र को दी। विदुषी, धर्मात्मा उभयकुल कमल विकास करने वाली ही सच्ची माता होती है। जो अपने पुत्र का सर्वाङ्गीण विकास और सारभूत अभ्युदय चाहती है। दोनों लोक की हितेच्छा होती है वही माँ अपनी संतान को न्यायोपाजित धन के साथ गुणी, यशस्वी धर्मात्मा, संयमी और सच्चरित्र देखना चाहती है। दुर्जनों की सङ्गति से बचाती है और क्षत्रपुरुषों के साथ सहवास कराती है। अतएव कमलावती ने भी हर एक प्रकार से अपने एकमात्र पुत्र को सर्व प्रकार सावधान कर दिया। यद्यपि मानृस्नेह के बांध को हृदय से भी रोक न सकी। प्रेमाश्रुओं से विगलित लोचनों से प्यारे पुत्र को निहारा। भंगलकारी शुभ

अक्षत, कुंकुम, सर्षप, जल, दूर्वा, दीप, दही, धनिया, लावा-खील, पुष्प आदि लेकर प्रथम उसके दैदीप्य भाल पर तिलकार्चन किया, तिलक लगाकर अक्षत आदि शिर पर क्षेपण किये, दधि आदि मुख में खिलाया और शुभ हितकारी वचन कह "शोध ही तुम्हारा दर्शन हो ।" इस प्रकार आशीर्वाद दिया ॥४५-४६॥

एवं विसर्जितो मात्रा सोऽपि नत्वा पुनश्चताम् ।

नमः सिद्धेभ्यः इत्युच्चैर्भणित्वा निर्ययौगृहात् ॥४७॥

अन्वयार्थ - (एवम्) इस प्रकार (स) वह श्रीपाल (अपि) भी (मात्रा) माता द्वारा (विसर्जितः) विदा होकर (च) और (पुनः) फिर से (ताम्) माता को (नत्वा) नमस्कार करके (नमःसिद्धेभ्यः) "सिद्धों को नमस्कार हो" (इति) इस प्रकार (उच्चैः) भक्ति से (भणित्वा) उच्चारण कर (गृहात्) घर से (निर्ययौ) निकल गया ।

भावार्थ—माता का उपदेश सुनकर, उपर्युक्त प्रकार अनुमति प्राप्त कर पुनः नमस्कार किया । पूज्य मातेश्वरी से विदा होने पर "नमः सिद्धेभ्यः" इस प्रकार उच्चारण कर घर से निकल गया । प्रयाण वेला में इष्टदेव को नमस्कार करने से कार्य में निर्विघ्न सिद्धि होती है । संकट आते नहीं हैं । आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं । सर्व कार्य सानन्द सिद्ध होते हैं । अतः नीति कुशल श्रीपाल अपने इष्ट सिद्ध परमेश्वरों का नाम उच्चारण कर उन्हें नमस्कार कर व्यापारार्थ घर से निकला ॥४७॥

स श्रीपालस्तदा मार्गे संव्रजन् पुण्य सम्बलः ।

नाना पुराकर ग्रामाग्राना दुर्गादिकान् क्रमात् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(पुण्य) शुभकर्म है (सम्बलः) आधार जिसका (स) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (मार्गे) राह में (संव्रजन्) प्रयाण करता हुआ (नाना) अनेक (पुराः) नगर (आकर) सागर (ग्रामात्) गांवों से (नाना) अनेकों (दुर्गादिकान्) किले आदि को (क्रमात्) क्रमसे-

स्मरन् पञ्चनमस्कारान् संसाराम्भोधि पारवान् ।

भृगुकच्छ पुरं प्राप दिनैः कैश्चित्पराक्रमी ॥४९॥

अन्वयार्थ (संसाराम्भोधिः) संसार सागर (पारदान्) पार करने वाले (पञ्चनमस्कारान्) पञ्चपरमेश्वरी वाचक णमोकार मन्त्र को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कैश्चित्) कुछ (दिनैः) दिनों में (पराक्रमी) वह वीर श्रीपाल (भृगुकच्छपुरम्) भृगुकच्छ-नामक नगर में (प्रायः) पहुँचा ॥४९॥

भावार्थ—प्रियपत्नी और मातेश्वरी से विदा होकर शुभदिन, लग्न और मूर्हत् में श्रीपाल राजा "नमःसिद्धेभ्यः" उच्चारण कर चल पड़ा । वह वीर अकेला ही आत्मविश्वास से

चला । मात्र उसका आधार उसी का पुण्य था । निजपुण्य का पाथेय लेकर निर्भर सुभट
एकाकी भ्रमण करने लगा । परन्तु निरन्तर पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान, चिन्तन करता रहता
था । गुणोकार महामन्त्र को कभी नहीं छोड़ा । छोड़ता भी कैसे-क्यों ? क्योंकि भव्यजीवों
को संसार उदधि से पार करने वाला यही तो एकमात्र महामन्त्र है । महाराज कोटीभट
श्रीपाल ने इसी महामन्त्र का सहारा लेकर मार्ग में जाते हुए अनेकों नगरों, पर्वतों, ग्रामों, वनों,
किलों, खाइयों अटवियों आदि को निर्भय पार कर लिया । कुछ ही दिनों में वह शूर शिरोमणि,
वीराग्रणी भृगुकच्छ नामके पुर में जा पहुँचा ॥४६॥

तत्रास्ति धवलः श्रेष्ठी भूरिवित्त समन्वितः ।

एतानि पञ्चतस्मोच्चैर्यानि पात्राणि सन्ति च ॥५०॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उस भृगुकच्छपुर में (भूरि) बहुत (वित्त) धन (समन्वितः)
से युक्त (धवलः) धवल नाम का (श्रेष्ठी) सेठ (अस्ति) है (तस्य) उस के ही (च) और
(उच्चैः) विशाल (पञ्च) पाँच (शतानि) सौ (यानपात्राणि) जहाज (सन्ति) हैं ।

भावार्थ—उस भृगुकच्छ नगर में पहुँचा । वहाँ श्रीपाल ने धवल नाम के श्रेष्ठी को
पाया । वह अत्यन्त धनाढ्य था । उत्तम व्यापारी था । उसके पास में रत्नद्वीपों को जाने
वाले ५०० विशाल जहाज थे । उनके द्वारा वह व्यापारार्थ जाता था ॥५०॥

तदा तस्य च ते पोताश्चलितास्सुभटैरपि ।

सागरेन सरन्तिस्म विपुण्या वा मनोरथाः ॥५१॥

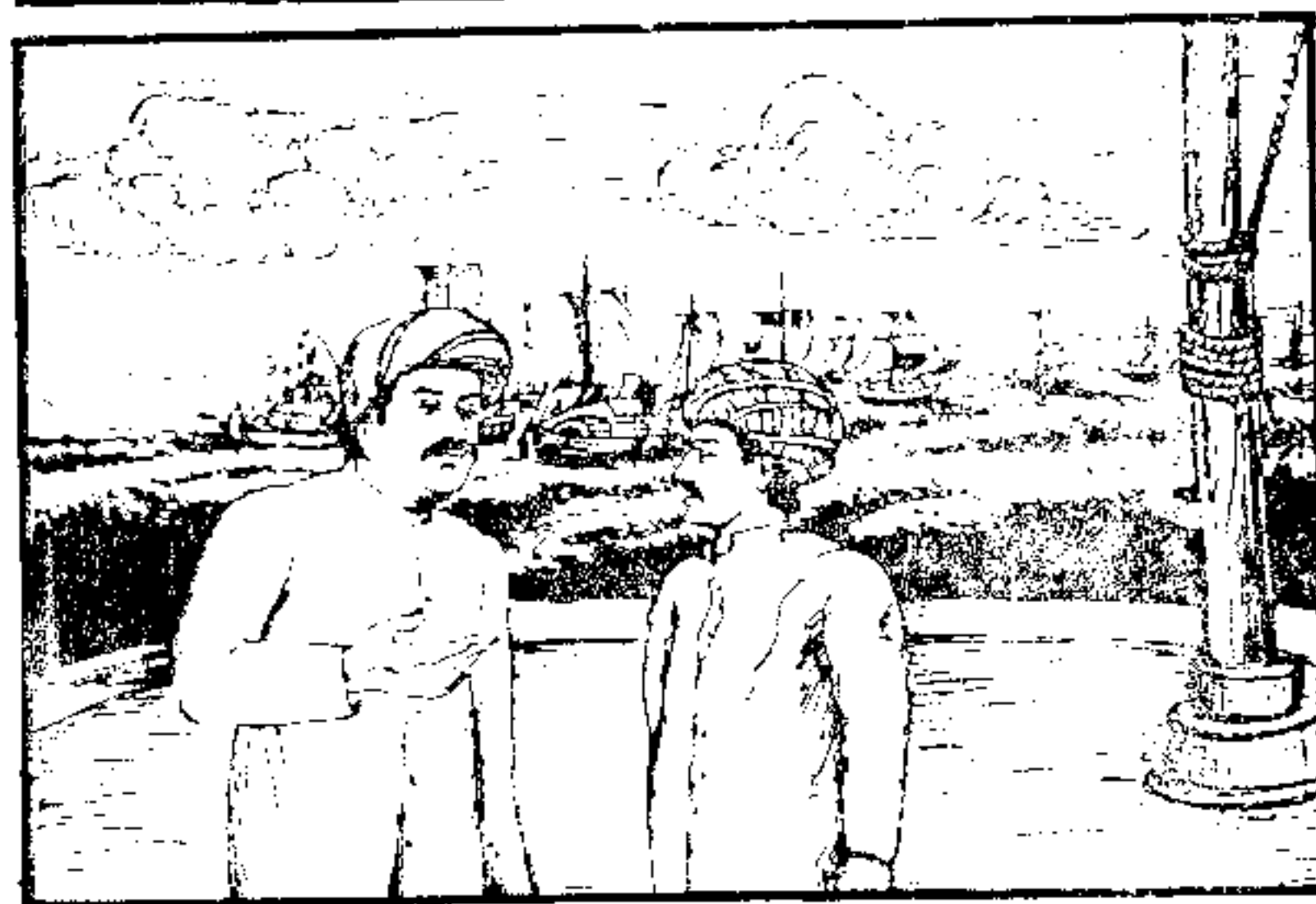
अन्वयार्थ—(तदा) उसी दिन (तस्य) उस धवल के (ते) वे (पोताः) जहाज
(च) और (सुभटैः) सुभट (अपि) भी (सागरेन) जलधिमार्ग से (सरन्ति) चल रहे (स्म)
थे (वा) मानों (विपुण्या) पुण्यहीन के (मनोरथाः) मनोरथों के समूह हों ।

भावार्थ—जिस दिन श्रीपाल कोटीभट वहाँ पहुँचा, उसी दिन उस धवल सेठ के ५००
जहाज उदधि मार्ग से व्यापारार्थ चले । परन्तु उनके मनसूवे पापियों के मनोरथों के समान
निष्फल थे । पुण्यहीनों की भला कार्य सिद्धि कहाँ ? प्रस्थान करते ही समस्त जहाज वहीं
अटक गये । अनेकों प्रयत्न करने पर भी टस से मस नहीं हुए । इस आश्चर्यकारी घटना को
देख धवल सेठ के होश-हवाश उड़ गये क्या करे ? क्या नहीं करे ॥५१॥

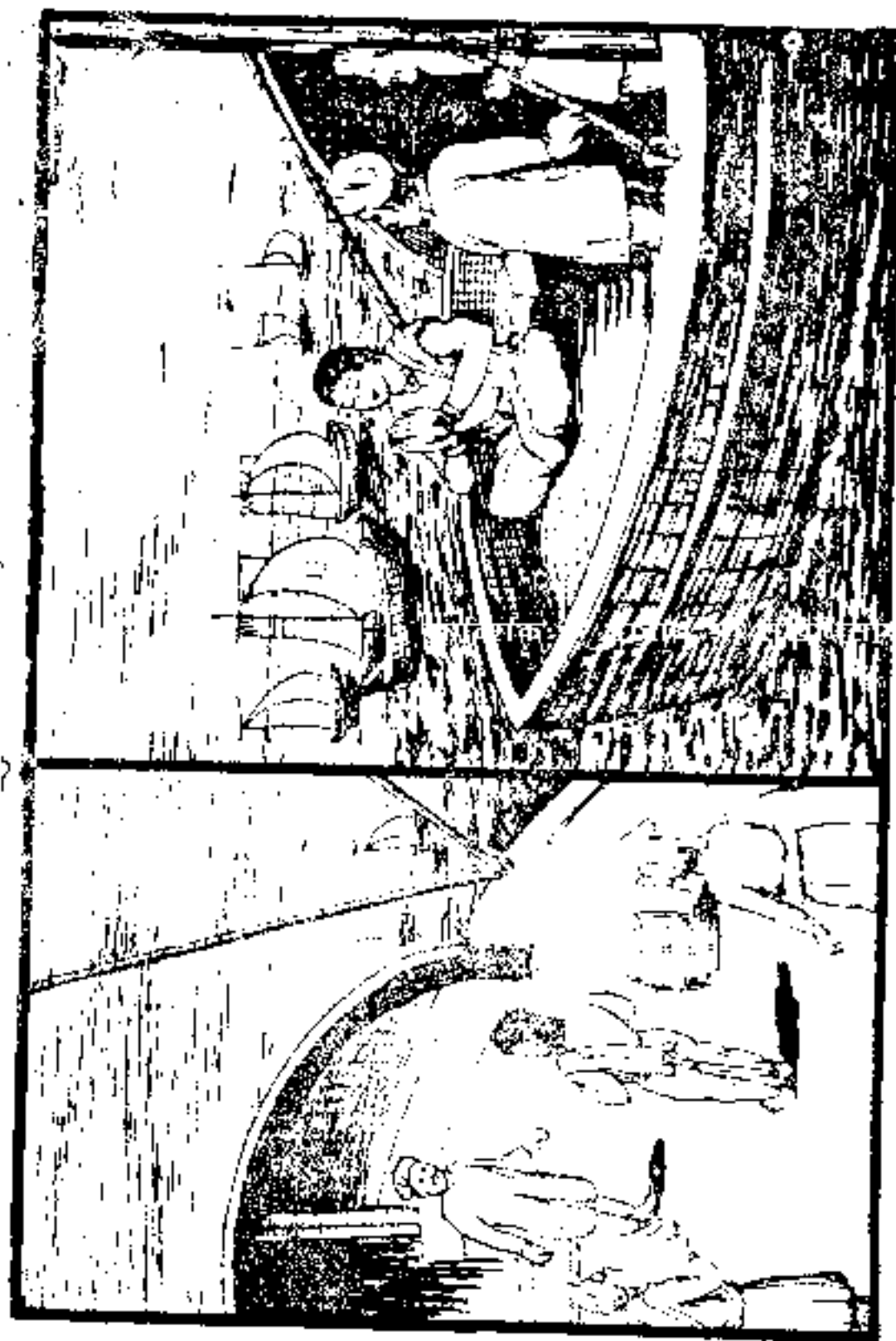
स श्रेष्ठी धवलाक्षस्तु व्याकुलो विस्मयान्वितः ।

नैमित्तिकं प्रति प्राह किमेतदिति भो सुधीः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(स) वह (श्रेष्ठी) सेठ (धवलाक्षः) धवलनामक (विस्मयान्वितः)
आश्चर्यचकित हो (व्याकुलो) आतुर (अस्तु) हो गया (नैमित्तिकम्) निमित्तजानी से



ऊपर - श्रीपाल अपनी मातेश्वरी एवं पत्नि से बिदा लेकर प्रस्थान करते हुए ।
 नीचे - धवल सेठ जहाज को लित होने पर निमित्त मानी से पूछते हुए ।



श्रीमान् ने श्री लक्ष्मीनारायण का ध्यान कर बैठे ही महान्न को लुभे महान्न चमकने । (संस्कृत २२२)

(प्राह) बोला (भा) हे (सुधीः) बुद्धिमन् (एतत्) यह (किम्) क्या है (इति) निदान, कारण कहो ।

भावार्थ—सहसा धवल श्रेष्ठी के जहाज कीलित हो गये । जब किसी प्रकार नहीं चल सके तो उसे परमाश्चर्य हुआ । उसका धैर्य छूट गया । वह आकुल-व्याकुल हो उठा । उसी समय उसने निमित्तज्ञानी को बुलाया और कारण के साथ उपाय भी पूछा ॥५२॥

नैमित्तिकेन तेनोक्तं द्वात्रिंशलक्षणो नरः ।

करिष्यति करस्पर्शं व्रजिष्यन्ति तदैवामी ॥५३॥

अन्वयार्थ (तेन) उस (नैमित्तिकेन) निमित्तज्ञानी ने (उक्तम्) कहा कि (द्वात्रिंशलक्षणः) बत्तीस लक्षण सम्पन्न (नरः) मनुष्य (करः) हाथ से (स्पर्शम्) स्पर्श (करिष्यति) करेगा (तदा) तब (एव) ही (अमी) ये जहाज (व्रजिष्यन्ति) चलेंगे ।

भावार्थ—विचार कर निमित्तज्ञानी ने बतलाया कि “जिस समय कोई वीर सुभग ३२ (बत्तीस) लक्षणों से युक्त यहाँ आकर अपने कर कमलों से छूयेगा तभी ये जहाज चलेंगे । अन्यथा नहीं ॥५३॥

तदाकर्ण्य च स श्रेष्ठी तं विलोकयितुं नरान् ।

प्रेषयामास सर्वत्र सादरं कार्यं संभ्रमी ॥५४॥

अन्वयार्थ (तदा) तब (आकर्ण्य) नैमित्तज्ञ की बात सुनकर (स) उस (श्रेष्ठी) सेठ ने (कार्यं) काम (संभ्रमी) जोध्र करने का (त) उस ३२ लक्षण वाले पुरुष को (विलोकयितुम्) देखने के लिए (सर्वत्र) सब जगह (सादरम्) आदर से (नरान्) मनुष्यों को (प्रेषयामास) भेज दिया ।



भावार्थ अकस्मात् धवलसेठ के जहाज अटक गये । उसके आश्चर्य की सीमा न रही । उसने उसी क्षण निमित्तज्ञानी को बुलाया और कारण पूछा तथा जहाजों के चलाने का उपाय भी पूछा । निमित्तिक ने उत्तर में कहा “कोई ३२ शुभलक्षण युक्त पुरुष अपने हाथ से इन जहाजों का स्पर्श करेगा तभी ये चलेंगे ।” यह सुनते ही शीघ्र कार्य करने की अभिलाषा से सेठ ने आदर पूर्वक चारों ओर अन्वेषकों को प्रस्थान करने का आदेश दिया ॥५४॥

पुण्याच्च ते तदा वीक्ष्य श्रीपालं स्वगुणोज्ज्वलम् ।

पुरप्रवेशमायान्तं पश्यन्तं पुरजां श्रियम् ॥५५॥

मत्त्वेनं त्वीदृशं भव्य कोटिभट शिरोमणिम् ।

निधानमिव सङ्कृष्टास्सं प्रणम्य पुनः पुनः ॥५६॥

गत्वा महाग्रहं शीघ्रं तमानोययुस्तदन्तिकम् ।

द्वात्रिंशलक्षणोपेतं तं विलोक्य च सुन्दरम् ॥५७॥ त्रिकुलम् ॥

अन्वयार्थ—(ते) वे खोजने वाले (पुण्यात्) पुण्ययोग से (तदा) तब (पुरप्रदेशम्) नगर में (आयान्तम्) आते हुए, (पुरजाम्) नगरीत्पन्ना (श्रियम्) शोभा को (पश्यन्तम्) देखने वाले (स्व) अपने (गुणोज्ज्वलम्) उत्तम गुणों से उज्ज्वल (श्रीपालम्) श्रीपाल को (वीक्ष्य) देखकर (एनम्) इसको (कोटिभटः) कोटिभट (शिरोमणिः) ध्येष्ठ (भव्यः) भव्य (तु) निश्चय ही (इदृशम्) इस प्रकार होवे (इति) इस प्रकार (मत्वा) निश्चय कर, मान-कर (निधानम्) निधि (इव) समान (सङ्कृष्टा) आकर्षित हो (गत्वा) जाकर (पुनः पुनः) बार-बार (सम्प्रणम्य) सम्यक् नमस्कार करके (महा) अत्यन्त (आग्रहम्) आग्रह से (तम्) उसे (द्वात्रिंशत्) बत्तीस (लक्षणाः) लक्षण (उपेतः) सहित (च) और (सुन्दरम्) सौम्य आकृति (विलोक्य) देख कर (तद्) उस धवल के (अन्तिकम्) पास (आनीयुः) लेकर आये ॥५५-५६-५७॥

भावार्थ—धवल सेठ द्वारा प्रेषित अन्वेषण करने वाले इधर-उधर दौड़े । पुण्ययोग



से उसी समय श्रीपाल कोटिभट ने उस नगर में प्रवेश किया । उसे यह पुर अद्भुत लगा । शनैः शनैः नगर की शोभा विलोकने लगा । वह अपने निर्मलगुणों से शोभायमान था । उसका रूप सौन्दर्य अनुपम था । वह नगर की शोभा देख रहा था और नगर निवासी इसकी रूप राशि निहार रहे थे । उसी समय धवल-सेठ के सेवकों की दृष्टि इस पर पड़ी । उनके अपलक नयन इसे देखते ही रह गये उन्होंने इसे बत्तीस लक्षणों युक्त देखकर समझ लिया इस प्रकार का व्यक्ति अवश्य ही कोटिभट शिरोमणि होना चाहिए । यही हमारे कार्य के योग्य हो सकता है । मानों

निर्धन को खजाना मिला या अन्धे को आँखें प्राप्त हुईं । वे वेग से उस महान निधि स्वरूप परदेशी के पास आ पहुँचे । अत्यन्त सम्मान से उसे बार-बार नमस्कार किया । अपने

स्वामी के पास आने का आग्रह किया । श्रीपाल ने सोचा यहाँ अपना तो कोई है नहीं, जान-पहचान भी नहीं । ये आग्रह कर रहे हैं तो क्यों न चला जाय ? तैयार हो गया । वे लोग भी उस सुमनोज नरोत्तम को लेकर धवल सेठ के पास आये । सेठ भी उस महापुरुष, सज्जनाकृति देखकर प्रसन्न हुआ ॥५५-५६-५७॥

ताम्बूलासन सद्वस्त्रैः श्रेष्ठी सन्मान्य सञ्जगौ ।

अहो त्वं दृश्यसे कोऽपि महानत्र महीतले ॥५८॥

अन्वयार्थ—(श्रेष्ठी) धवल सेठ ने (आसन) बैठने को आसन (ताम्बूल) पान-सुपारी, (सद्) उत्तम (वस्त्रैः) वस्त्रों द्वारा (सन्मान्य) सम्मान कर (सञ्जगौ) बोला (अहो) हे भद्र (त्वम्) आप (अत्र) यहाँ (महीतले) भूलोक में (कः) कोई (अपि) भी (महान्) महापुरुष (दृश्यसे) दिखलाई पड़ते हो ।

भावार्थ—धवल सेठ ने उस श्रीपाल का अत्यन्त सत्कार किया । आदर से उसे बैठने को योग्य आसन प्रदान किया । योग्य सुन्दर वस्त्र, थलङ्कार आदि प्रदत्त कर भोजन करा पान-सुपारी, इलायची, लवङ्गादि प्रदान की । तथा बोला, हे मनोज ! पुरुषोत्तम आप भूमण्डल पर कोई महापुरुष प्रतीत होते हैं । आप गुणज्ञ और अति सुभग हैं ॥५८॥

पोतान् समुद्र तीरस्थाश्चालय त्वं सुधीर्मम् ।

चालयामि भणित्वेति श्रीपालस्सुमहोत्सवैः ॥५९॥

शुभेदिने शुभे लग्ने समभ्यर्च्य जिनेश्वरान् ।

स्मृत्वा पञ्चनमस्कारान् सर्वसिद्धि विधायकान् ॥६०॥

सिद्धेभ्योऽपि पुनर्नत्वा यावत्संस्तुत्य पाणिना ।

पोतान् हंकार नादेन चालितो भट सत्तमः ॥६१॥त्रिकुलम्

अन्वयार्थ—(सुधीः) हे बुद्धिमन् (त्वम्) आप (समुद्रतीरस्थान्) समुद्र के किनारे स्थिर (मम) मेरे (पोतान्) जहाजों को (चालय) चलाओ (श्रीपालः) श्रीपाल बोला (सुमहोत्सवैः) महा उत्सव पूर्वक (चालयामि) चलाता हूँ (इति) इस प्रकार (भणित्वा) कहकर (जिनेश्वरान्) जिनेन्द्र भगवान को (समभ्यर्च्य) भावपूर्वक पूजकर (सर्वं) सम्पूर्णा (सिद्धि) सिद्धियों को (विधायकान्) देने वाले (पञ्चनमस्कारान्) पञ्चपरमेश्वरियों को (स्मृत्वा) स्मरण करके (शुभदिने) शुभ दिन (शुभे लग्ने) शुभ लग्न में (पुनः) फिर से (अपि) भी (सिद्धेभ्यः) सिद्धों के लिए (नत्वा) नमस्कार करके (संस्तुत्य) स्तुति करके (यावत्) जैसे ही (भटः) वीर(सत्तमः) महासुभट श्रीपाल (पाणिना) हाथों से स्पर्श करता है कि (हंकार) हुं हुं इस प्रकार शब्द के साथ (चालिताः) चला दिये ।

भावार्थ—धवल सेठ ने श्रीपाल का अत्यन्त स्वागत किया । भोजन-पान कराया ।

सम्मान पूर्वक आसनाहुड किया। तदनन्तर अपना अभिप्राय प्रकट किया। वह बोला, हे पुरुषोत्तम ! मेरे जहाज समुद्र किनारे पर अकस्मात् कीलित हो गये हैं। अकारण इस घटना से मैं अवीर हूँ। कृपया आप मेरे जहाजों को चलाने की कृपा करें। श्रीपाल ने भी विनम्रता से उत्तर दिया ठीक है “मैं चलाता हूँ।” इस प्रकार कहकर वह स्नानादिकर, शुद्धवस्त्र धारण कर पूजा सामग्री लेकर श्री जिनालय में गया। अत्यन्त भक्ति से श्री जिनराज की अभिषेक पूर्वक पूजा की। दुष्कर्म विनाशक, सर्व सिद्धि दायक श्री पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार कर, एकाग्रचित्त से स्तुति की, स्मरण-ध्यान किया। पुनः सागरतट पर आया। अटके जहाजों को देखा, पुनः सिद्धों का ध्यान कर नमस्कार किया, स्तुति की और अपने हाथों को “हंकार” शब्द के साथ लगाया। कर स्पर्श होते ही चारों ओर “हूँ हूँ” शब्द गूँज उठा जहाज चल पड़े। आनन्द की लहर दौड़ पड़ी। जिन-सिद्ध, पूजा, का चमत्कार प्रत्यक्ष साकार हो उठा। वस्तुतः जिनभक्ति में अनन्तशक्ति है। असाध्य कार्य भी क्षणमात्र में इस सिद्धभक्ति से सरलता से सिद्ध हो जाते हैं। सिद्ध परमेष्ठी ही ऐसे हैं नहीं है असिद्ध जिन्हें कुछ भी वे हैं “सिद्ध”। उनका ध्यान करने वाला भी अपने कार्य में सफल ही होता है। कभी भी विफल नहीं हो सकता। जिनभक्ति भी विजय दायिनी है। भक्ति यथार्थ हो तो सर्वत्र ‘जय’ ही ‘जय’ प्राप्त होती है। यह श्रीपाल कोटिमठ ने सर्वत्र प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥५६-६०-६१॥

तदातन्नादतश्शीघ्रं पीतस्थाः क्षुद्रदेवताः ।

नष्टाः श्रीपाल पुण्येन सुपुण्येन इव च ईतयः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(तदा) श्रीपाल के हाथ से स्पर्श करते ही (श्रीपाल पुण्येन) श्रीपाल के पुण्य से (पीतस्थाः) जहाजों में स्थित-रहने वाले (क्षुद्रदेवताः) दुष्ट देवतागण (तत्) उस (नादतः) हूँ कार नाद से (शीघ्रम्) शीघ्र ही (नष्टाः) नष्ट हो गये (इव) जिस प्रकार (सुपुण्येन) श्रेष्ठ पुण्य से (ईतयः) ईति, भोति आदि व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—जिन दुष्ट, क्रूर और क्षुद्र मिथ्यादृष्टि देवों ने जहाजों को कीलित कर रक्खा था। वे सारे दुर्जन श्रीपाल के पुण्य से ‘हंकार’ नाद सुनते ही भाग खड़े हुए। ठीक ही है सूर्योदय होते ही क्या अन्धकार टिक सकता है ? सम्यक्त्व के समक्ष मिथ्यात्व का निवास कहाँ ? नहीं रहता। आचार्य कहते हैं कि सातिशायी पुण्य जहाँ रहता है वहाँ ईतियाँ, व्याधियाँ उपद्रवादि नहीं टिकते। ईतियाँ सात प्रकार की होती हैं।—कहा भी है—

(अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः पडेत ईतयः स्मृताः ॥)

अर्थात् १. अतिवृष्टि (आवश्यकता से अधिक वर्षा होना) २. अनावृष्टिः (आवश्यकता से कम वर्षा या अभाव होना) ३. मूषकाः (अधिक चूहों से प्लेग-आदि रोग फैलना)। ४. शलभा (टिड्डोदल आना) ५. शुकाः (तोतों द्वारा-बेती का नाज) ६. प्रत्यासन्नाः (अकस्मात् उपद्रव हो जाना) ७. राजानः (राजाओं द्वारा हमला, आदि,। ये सात प्रकार की ईतियाँ कहलाती हैं। ये पुण्यात्मा जीवों को नहीं सताती हैं।

तथा तत्स्पर्शमात्रेण पोतास्ते जलधौ जवात् ।

प्रचेलुः परमानन्दं कुर्वन्तस्सज्जना यथा ॥६३॥

अन्वयार्थ—(तथा) उस समय (तत्) श्रीपाल के (स्पर्शमात्रेण) स्पर्श करने से ही (ते) वे (पोताः) जहाज (जलधौ) उदधि में (जवात्) वेग से (प्रचेलुः) चल दिये (यथा) जैसे (सज्जनाः) सत्पुरुष (परमानन्दम्) परम आनन्द को (कुर्वन्ताः) करने वाले होते हैं ।

भावार्थ—पुण्यशाली श्रीपाल ने अपने कोमल सुहृद् कर से स्पर्श करते ही उन अचलयानों को चलायमान कर दिया । अर्थात् सागर को उताल तरङ्गों के साथ क्रीड़ा करते हुए वे जहाज वेग से चलने लगे । आनन्द का सागर उमड़ पड़ा । सभी आश्चर्यकारी घटना से चकित तो हुए ही, उनके हर्ष की भी सीमा नहीं रही । सत्य ही है सज्जनों की सङ्गति किस के लिए परमानन्दकारिणी नहीं होती ? अपितु होती है । इसी प्रकार यशस्वी श्रीपाल के सहयोग से धवल सेठ और उसके साथी परमानन्द को प्राप्त हुए ॥६३॥

अहो पुण्यस्य महात्म्यं महतां केन वर्ण्य ते ।

यत् करस्पर्शमात्रेण दुस्साध्यमपिसिद्धयति ॥६४॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है (पुण्यस्य) पुण्य की (महात्म्यम्) महिमा (केन) किन (महताम्) महात्माओं से (वर्ण्यते) वर्णित हो सकती है ? (यत्) जो कि (दुस्साध्यम्) कठिनसाध्य (अपि) भी कार्य (करस्पर्शमात्रेण) हाथ के द्वारा छूने मात्र से ही सिद्ध हो गया ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि पुण्य का महात्म्य अदभुत है । इसकी महिमा महात्मा भी वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते साधारण जन की तो बात ही क्या है ? असाध्य भी कार्य साध्य हो जाना है । अभिप्राय है कि हर एक प्राणी को पुण्यार्जन करना चाहिए । पुण्यात्मा के संकट टल जाते हैं । कार्य सरलता से पूर्ण हो जाते हैं ॥६४॥

तरन्ते जलधौ पोता ध्वजव्रातेश्च रेजिरे ।

श्रीपालस्य यशो लक्ष्मीर्नन्दना साधना यथा ॥६५॥

अन्वयार्थ—(च) और (जलधौ) समुद्र में (पोता) जहाज (ध्वजव्रातैः) ध्वजाओं के समूहों से युक्त (तरन्ते) तैरती हुयी (रेजिरे) शोभायमान हुयी (यथा) जैसे, मानों (श्रीपालस्य) श्रीपाल का (यशः) यश (लक्ष्मीनन्दनासाधना) लक्ष्मी को प्रसन्न करने वाली साधना हो ।

भावार्थ—सागर के अगाध जल में जहाज तैरने लगे-चलने लगे । उन पर लगी हुयी अनेकों पताकाएँ पवन झकोरों से फहराने लगीं । ऐसा प्रतीत होता था मानों श्रीपाल का यश लक्ष्मी देवी को प्रसन्न करने जा रहा है । कुवेर के वैभव की मानो साधना ही कर रहा हो ॥६५॥

तत्प्रभावं समालोक्य श्रेष्ठी हृष्टो जगाद तम् ।

त्वं भो वीर ! महास्यातो लक्षणैः पौरुषेण च ॥६६॥

अन्वयार्थ—(तत्प्रभावम्) उस श्रीपाल के प्रभाव को (समालोक्य) देखकर (हृष्टः) प्रसन्न (श्रेष्ठी) धवल सेठ (तम्) श्रीपाल से (जगाद) बोला (भो) हे (वीर !) शुभटशिरोमणि (त्वम्) आप (लक्षणैः) शुभलक्षणों से (च) और (पौरुषेण) उत्तम पुरुषार्थ से (महास्यातः) महान विख्यात हैं ।

सत्यं त्वं क्षत्रियोत्पन्नो महासुभट शिरोमणिः ।

सर्वं कार्यं सहस्रेषु शूरोप्याहर्तुं मां महान् ॥६७॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) वास्तव में (त्वम्) आप (महासुभटः) महावीर के (शिरोमणिः) शिरोसर (क्षत्रियोत्पन्नः) क्षत्रियवंश में उत्पन्न होने वाले हो, (सर्वकार्यसहस्रेषु) सम्पूर्ण हजारों कार्यों में (शूरः) वीर (अपि) भी (मां) मुझसे (आहर्तुम्) आह्वान करने को (महान्) महान हो ।

त्वं मे पुत्र समो धीमन् मया सह समागच्छसाम्प्रतम् ।

यत्तुभ्यं रोचते चित्ते तत्ते दास्यामि निश्चितम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(धीमन्) हे बुद्धिमन् (त्वम्) आप (मे) मेरे (पुत्र) बेटा (समः) समान हो (साम्प्रतम्) इस समय (मया) मेरे (सह) साथ (समागच्छ) आइये (यत्) जो (तुभ्यम्) तुम्हारे लिए (चित्ते) मन में (रोचते) अच्छा लगेगा (तत्) वही (ते) तुम्हें (निश्चितम्) निश्चय से (दास्यामि) दूँगा ।

भावार्थ—श्रीपाल के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर धवल सेठ हर्ष में प्रफुल्लित हो गया । उसका हृदय उछलने लगा । वह प्रसन्न चित्त हो श्रीपाल से कहने लगा आप अपने शुभलक्षणों और उत्तम पुरुषार्थ से महा विख्यात मान्य होते हैं । निश्चय हो आप सुभट-शिरोमणि, क्षत्रियपुत्र हो । मैं हजारों कार्यों में निष्पणत हूँ परन्तु आपने मुझे भी परास्त किया है । मेरे आकर्षण के आप केन्द्रबिन्दु हैं । मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न और प्रभावित हूँ । आप आज से मेरे लिए पुत्रवत् हो । अब आप मेरे ही साथ व्यापारार्थ आइये । आप जो चाहेंगे मैं वही आपको प्रदान करूँगा । आप महान बुद्धिशाली, गुणज्ञ, धर्मात्मा और वीर हैं । शूरशिरोमणि ! आप अवश्य ही मेरे साथ चलें ॥६८॥



अस्त्वेयं प्रतिपद्योच्चैः श्रेष्ठिवाक्यं भटोत्तमः ।

सार्धं तेन समारुह्य श्रीपालश्चालितो मुदा ॥६६॥

अन्वयार्थ—(श्रेष्ठिवाक्यम्) धवल सेठ के वाक्यों पर (उच्चैः) पूर्णतः (प्रतिपद्यः) विश्वस्त हो (भटोत्तमः) वीराग्रणी श्रीपाल ने (एवं) इसी प्रकार (अस्तु) हो, (मुदा) प्रसन्न (श्रीपालः) श्रीपाल (तेन) उसके (सार्धम्) साथ (समारुह्य) जहाज में आरोहण हो (चालितः) चल दिया ।

भावार्थ— धवल सेठ का आग्रह देखकर श्रीपाल भी विश्वस्त हो गया । उसने स्वीकृति प्रदान की । उस वीर शिरोमणि ने आनन्द से धवल सेठ के साथ जहाज पर आरोहण किया । अर्थात् उसके साथ चल दिया ॥६६॥

नानावस्तु सहस्राणि समादाय प्रहर्षतः ।

अनेकैर्वाणिजां पुत्रैरनेकैर्भट सत्तमैः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(सहस्राणि) हजारों (नाना) अनेक प्रकार की (वस्तु) वस्तुएँ (समादाय) लेकर (प्रहर्षतः) आनन्द से (अनेकैः) अनेकों (वाणिजाम्) व्यापारियों के (पुत्रैः) पुत्रों के (अनेकैः) अनेकों (भटसत्तमैः) उत्तम सुभटों के साथ तथा—

प्रोत्तुङ्गं कृष्य वस्त्राद्यैर्महारक्षकनायकैः ।

शस्त्रादित्र संघातैश्चालितौ सुखतश्च तौ ॥७१॥

अन्वयार्थ—(प्रोत्तुङ्गं) उन्नत (महारक्षक) विद्वान रक्षा करने वाले (नायकैः) नेता, (कृष्यवस्त्राद्यैः) नाना जाति के वस्त्र (शस्त्र) हथियार (वादित्र) बाजे आदि (च) और भी सामान ले (तौ) वे दोनों (सुखतः) सुखपूर्वक (चालितौ) चले ।

भावार्थ— महान योग्य रक्षक नायकों, वस्त्र, पात्र, शस्त्र-अस्त्र आदि अनेक प्रकार की अनेकों सामग्रियों को संग्रहीत कर वे दोनों सुख पूर्वक व्यापारार्थ चल दिये ॥७१॥

गच्छन्तस्ते प्रपश्यन्ति दिशिकेचिच्च तारकम् ।

केचिज्जल प्रमायणं ब्रुवन्ति स्म भटोत्तमाः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(ते) वे लोग (गच्छन्तः) जाते हुए (केचित्) कोई (दिशि) दिशाओं में (तारकम्) ताराओं को (प्रपश्यन्ति) देख रहे हैं (च) और (केचित्) कोई (भटोत्तमाः) भट श्रेष्ठ (जलप्रमाणम्) नीर के प्रमाण को (ब्रुवन्तिस्म) कह रहा था-वर्णन कर रहा था ।

भावार्थ—जहाजों में सवार भद्रवीर पुरुषजन नाना प्रकार से विनोद करते जा रहे थे । कोई दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे तो कोई तारा समूहों के निरीक्षण का आनन्द ले

रहे थे तथा कोई-कोई जल का प्रमाण वर्णन करने में ही मस्त थे । इस प्रकार अनेक प्रकार से मनोरञ्जन करते जा रहे थे ॥७२॥

केचिन्महाध्वजान् वीरा रक्षन्तिस्म सुयत्नतः ।

केचिद्धर्मकथां भव्याः कुर्वन्तिस्म स्वलीलया ॥७३॥

अन्वयार्थ—(केचित्) कोई (वीराः) सुभट (महाध्वजान्) उत्तुङ्ग पताकाओं की (सुयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (रक्षन्ति) रक्षा कर रहे (स्म) थे (केचित्) कोई (भव्याः) भव्य-जन (स्वलीलया) नाटकीय ढंग से (धर्मकथाम्) धार्मिक कथा (कुर्वन्तिस्म) कर रहे थे ।

भावार्थ—उनमें से कुछ लोग महाध्वजाओं की सार सम्हाल कर रहे थे । देख-भाल में लगे थे । कुछ भव्यजन सुन्दर प्रदर्शन पूर्वक धर्मकथा सुनाकर सुनकर आनन्द ले रहे थे ॥७३॥

चलानि यानपात्राणि रेजिरे सागरे तदा ।

नक्षत्राणि यथा व्योम्नि निर्मले विपुले तराम् ॥७४॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (सागरे) समुद्र में (चलानि) चलते हुए (यान-पात्राणि) जहाज (रेजिरे) ऐसे शोभायमान हो रहे थे (यथा) जैसे (विपुले) विस्तृत (निर्मले) स्वच्छ (व्योम्नि) आकाश में (नक्षत्राणि) नक्षत्र समूह (तराम्) अत्यन्त (रेजिरे) शोभते हों ।

भावार्थ—अगाध और अगार जल राशि को चीरते जहाज चले जा रहे थे । सागर का नीलवर्ण नीर आकाश सा प्रतीत होता था । वे जहाज नक्षत्रों की भाँति यत्र-तत्र चमक रहे थे । उस समय का दृश्य एक अमोत्पादक सा हो रहा था । ऊपर आकाश है या भूपर यह भान नहीं पाया जा सकता था । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मेघ रहित स्वच्छ आकाश में चमकते हुए नक्षत्र-तारागण सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार सागर के निर्मल जल में तैरते हुए सुसज्जित नौकाएँ शोभायमान हो रहीं थीं ॥७४॥

महाकल्लोलसध्वस्तैर्महाध्वनि समन्वितैः ।

सरेजे सागरस्तत्र महत्त्वं वा ब्रूवन्निजम् ॥७५॥

अन्वयार्थ—(स) वह सागर (महाकल्लोल) उत्ताल तरङ्गों के (ध्वस्तैः) उठ कर गिरने से (महाध्वनि) गर्जन से (समन्वितैः) युक्त (वा) मानों (तत्र) उस समय (निजम्) अपने महत्त्व को (ब्रूवन्) कहता हुआ (सागरः) समुद्र (सरेजे) शोभायमान हुआ ।

भावार्थ—उस समय पवन से प्रेरित उत्ताल तरङ्ग-ज्वार-भाटा का उत्थान पतन हो रहा था । सागर तेजी से गरज रहा था । मानों अपने गम्भीर नाद से स्वयं की प्रभुता का ही बखान कर रहा था । उस समय उसकी शोभा अद्वितीय हो रही थी ॥७५॥ अथवा वह सिन्धु कह रहा था ।

गृह्णन्तु सार रत्नानि यूयं वैदेशिको मम ।

महादातेव सन् दृष्टः सिन्धुस्तौस्संवदन्ति वा ॥७६॥

अन्वयार्थ—(महादाता) महा उदार दाता (इव) के समान (सिन्धुः) सागर (तैः) उन लोगों से (दृष्टः) देखा (सन्) हुआ (वा) मानों (संवदन्ति) कह रहा था (वैदेशिकः) हे परदेशी (यूयम्) आप लोग (मम) मेरे (सार) उत्तम (रत्नानि) रत्न को (गृह्णन्तु) ग्रहण करिये ।

भावार्थ—गर्जेना करता हुआ सागर उन व्यापारियों से मानों कह रहा था कि आप मेरे असूत्य रत्नों को स्वीकार कीजिये । वह अपनी परम उदारता प्रकट कर रहा था । मानों अपने दातापने का माहात्म्य प्रकट कर रहा था ॥७६॥

एवं ते सागरे सर्वे यावद् गच्छन्ति लीलया ।

तावद् बर्बरराजस्य वीक्ष्यतान् कूर तस्कराः ॥७७॥

प्रापुस्ते शस्त्रसंघातैर्युद्धं कृत्वाति दारुणम् ।

बद्धा तं श्रेष्ठिनं सार्थभटैर्दशसहस्रकैः ॥७८॥

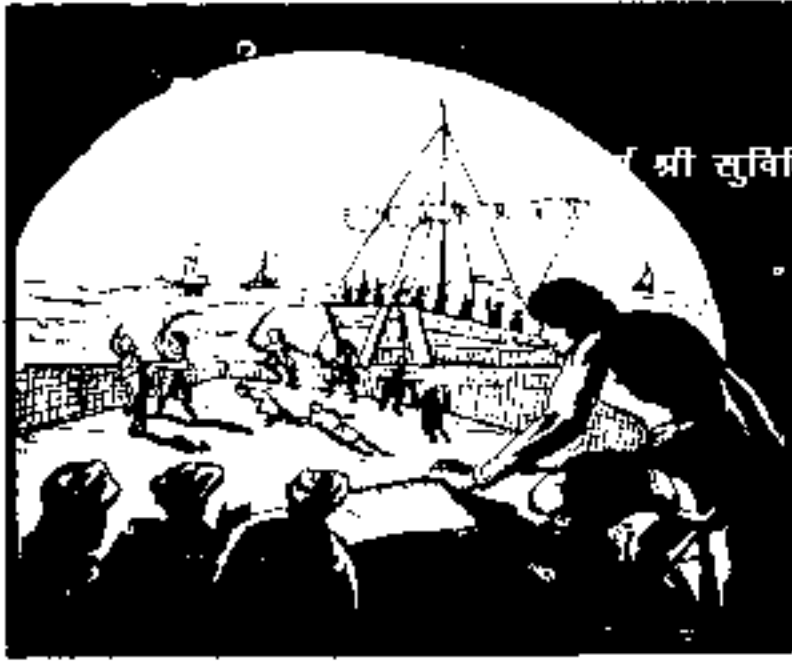
शीघ्रं ते धनमादाय यावद् गच्छन्ति दुर्मदाः ।

श्रेष्ठी प्राह तदा कुत्र श्रीपालस्सुभटोत्तमः ॥७९॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (लीलया) लीला पूर्वक (यावद्) जब (ते) वे (सर्वे) सभी सार्थवाह (सागरे) समुद्र में (गच्छन्ति) जा रहे हैं (तावद्) तब ही (बर्बरराजस्य) बरबर राजा के (कूर) भयङ्कर (तस्कराः) चोरों ने (तान्) उन को (वीक्ष्य) देख कर (ते) वे दुष्ट (शस्त्रसंघातैः) अस्त्र शस्त्र सन्निद्ध हो (प्रापुः) प्राप्त हुए (अतिदारुणं) भयङ्कर (युद्धम्) युद्ध (कृत्वा) करके (दशसहस्रकैः) दश हजार (भटैः) भटों के (सार्थम्) साथ (तं) उस (श्रेष्ठिनम्) सेठ को (बद्धा) बांधकर (शीघ्रम्) शीघ्र ही (दुर्मदाः) वे दुर्बुद्धि (धनम्) धन को (आदाय) लेकर (यावद्) जैसे ही (गच्छन्ति) जाते हैं कि (तदा) उसी समय (श्रेष्ठी) धवल सेठ (प्राह) बोला (सुभटोत्तमः) वीरोत्तम (श्रीपालः) श्रीपाल (कुत्र) कहाँ है ?

भावार्थ—आमोद-प्रमोद मग्न सार्थवाह चले जा रहे थे । जहाज सुखपूर्वक विना श्रम के बढ रहे थे । चारों ओर हर्ष छाया था । सभी प्रसन्न थे । आपत्ति के बाद प्राप्त सम्पत्ति विशेष सुखदायक प्रतीत होती है । किन्तु संसार का नियम है सम्पत्ति के पीछे विपत्ति और विपदाओं के साथ सुख आता रहता है । सांसारिक सुख-दुख कर्माधीन होते हैं । कर्म परिणामों के अश्रय हैं । शुभाशुभ परिणामभाव परिवर्तित होते रहते हैं अतः निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धानुसार सुख-दुख भी आते-जाते रहते हैं । प्रथम ही यानपात्र कीलित हो गये, पुण्यपात्र श्रीपालजी

के धर्म प्रभाव से चले । अत्र मार्ग में पुनः विपदा के बादल आ घुमड़े । सुसज्जित विचरते जहाजों



को बर्वर राजा के दस्युओं ने देखा । बस क्या था, वे तो तैयार थे ही । दृष्टिगत होते ही अस्थ-शस्त्रों से सश्रद्ध उनलोगोंने संघातों पर हमला कर दिया । घोर संग्राम हुआ । दस्युदल ने श्रेष्ठी सहित दशहजार महा सुभटों को बन्धन-बद्ध कर लिया । सारा धनमाल लेकर चलने लगे । श्रेष्ठी धवल हवका बक्का हो गया । अब कुछ भी उपाय नहीं सोच कर जोर में चिल्लाया, “अरे, सुभटगिरोमणि श्रीपाल कहाँ हैं ? किधर गया ?

बचाओ, आओ ।” धवल सेठ के साथ अन्य वीर भी कोलाहल मचाने लगे । सभी का स्वर श्रीपाल वीर की आह्वान करने लगे ॥७७, ७८, ७९॥

श्रुत्वा जनेस्सतद्द्वार्तां श्रीपालस्सिंह विक्रमः ।

महाधनुर्धरो वेगात्समुत्थाय प्रकोपतः ॥८०॥

अन्वयार्थ—(जनैः) सब वीरों की (तत्) उस (द्वार्ता) बात को (श्रुत्वा) सुनकर (सः) वह (सिंहविक्रमः) सिंह के समान वीर (महाधनुः) विशाल धनुष (धरः) धारण करने वाला (श्रीपालः) श्रीपाल (प्रकोपतः) क्रोधित हुआ (वेगात्) वेग से (समुत्थाय) उठ कर—

सिंहनादं विधायोच्चैर्गत्वा तत् पृष्ठतोमहान् ।

कृत्वा युद्धं तथा रौद्रं जित्वातान् बर्बरान् द्रुतम् ॥८१॥

अमोचयन् निज तत्र श्रेष्ठिनंतांश्च शक्तितः ।

सार्धतैर्दुर्भटैस्सर्वं पश्चादावायतद्धनम् ॥८२॥

यशस्सारं समं प्राप्य सुधीर्मधेश्वरो यथा ।

सत्यं स्वपूर्वं पुण्येन किं किं न स्याद्वि भूतले ॥८३॥

अन्वयार्थ—(उच्चैः) जोर से (सिंहनादम्) सिंहगर्जना (विधाय) करके (महान्) श्रीपाल महान् (तत्पृष्ठतः) उनके पीछे (गत्वा) जाकर (तथा) तथा (रौद्रम्) भयङ्कर (युद्धम्) संग्राम (कृत्वा) करके (द्रुतम्) शीघ्र ही (तान्) उन (बर्बरान्) डाकुओं को

(जित्वा) जीतकर (निजं) अपनी (शक्तिः) शक्ति से (तत्र) वहाँ (श्रेष्ठिनम्) धवल सेठ को (च) और (तान्) दशहजार भटों को (अमोचयन्) छुड़ाया, बन्धन मुक्त किया (पश्चात्) तदनन्तर (तैः) उन (सुभटैः) सुवीरों के (सार्धं) साथ (सर्वं) सम्पूर्ण (तद्) उसके (सर्वम्) सम्पूर्ण (धनम्) धन को भी (आदाय) लेकर (यथा) जिस प्रकार (सुधी) बुद्धिमान (मेघेश्वर) मेघनाद हो (यशस्मारम्) उज्ज्वल कीर्ति के (समम्) साथ (प्राप) प्राप—विजयी हुआ (सत्यम्) उचित ही है (भूतले) पृथ्वी पर (स्व) अपने (पूर्वपुण्येन) पूर्वभूत के पुण्य से (हि) निश्चय से (किं किं) क्या क्या (न स्यात्) नहीं होगा ?

भावार्थ- ज्ञान्त चित्त श्रीपाल अरहंत सिद्ध भक्ति में निमग्न था । प्राकृतिक सौन्दर्य भा निहार रहा था । उसी समय सेठ और उसके साथियों का कोलाहल सुना, अपनी पुकार सुनते ही वह कोटीभट वीरराज सिंहनाद करता हुआ गरजा, उठते ही महा धनुष हाथ में लिया और सिंह जैसे गजयूथ पर आक्रमण कर उन्हें यत्र तत्र भगा दिया इस प्रकार श्रीपाल ने उन दस्युओं को कम्पित कर दिया । तुमुल युद्ध हुआ । प्रतापी श्रीपाल ने अपने अद्भुतपराक्रम से विजय वैजयन्ती प्राप्त की । महामठ के प्रकोप के सम्मुख कौन टिकता ? उसने सेठ तथा दशहजार सुभटों को बन्धनमुक्त किया । समस्त धन को वापिस लाये । धन-जन के साथ यशोपताका फहराता आया । आचार्य कहते हैं सत्य ही है पूर्वोपाजित पुण्य से जीव को क्या-क्या प्राप्त नहीं होता ? संसार में सब कुछ पुण्य से प्राप्त होता ही है । मेघेश्वर के समान इस श्रीपाल का यश चारों ओर प्रसारित हुआ ॥८०-८१-८२ ॥८३॥

एकेन तेन ते सर्वे निजितास्तस्कराः खराः ।

सत्यं भानु करोत्युच्चैरेकाकी तिमिरं क्षयम् ॥८४॥

अन्वयार्थ—(तेन) उस श्रीपाल (एकेन) अकेले ने (ते) वे (सर्वे) सब (खराः) दुर्जन (तस्कराः) दस्यु (निजिताः) जीत लिए (सत्यम्) ठीक ही है (भानुः) सूर्य (एकाकी) अकेला ही (उच्चैः) धीरे (तिमिरं) अंधकार को (क्षयम्) क्षय (करोति) कर देता है ।

भावार्थ—सूर्योदय होते ही रात्रि अन्य तुमुल तिमिर उसी क्षण विलीन हो जाता है । अकेला मार्तण्ड जिस प्रकार धीरे अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार उस अकेले वीर ने उन सारे तस्करों (चोरों) को जीत लिया ॥८४॥

तदा श्रेष्ठी विलोक्योच्चैस्तदीयं पौरुषं परम् ।

वितोर्यऽस्मै मुदानेकध्वनतूर्यादिकव्रजैः ॥८५॥

मणिकाञ्चन वस्त्रादीन् सारभूताम्बरादिकान् ।

श्रीपालं स्वजनैर्सार्धं शशंसेति भटोत्तमम् ॥८६॥

धीमान् पुरुष सिंहस्त्वं धन्यो वीराग्रणीमहान् ।

महाबलो महातेजास्त्वत् समो न परो भटः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तदीयम्) उस श्रीपाल के (परम) अद्वितीय (पौरुषम्) पुरुषार्थ को (उच्चैः) विशेषरूप से (विलोक्य) देखकर (श्रेष्ठो) धवल सेठ ने (मुदा) प्रसन्नता से (अस्मैः) श्रीपाल के लिए (अनेकध्वनतूर्यादिकवज्रैः) नाना वादित्रों के मधुर स्वर और जयध्वनि के साथ (मणिकाञ्चन) मणि मुक्ता, (वस्त्रादीन्) वस्त्रादिक (सारभूत) उत्तम-मूल्यवान् (अम्बरादिकान्) पोषाकादि को (वितीयं) वितरण कर (स्वजनैस्सार्द्धं) स्वजनों के साथ (भटोत्तमम्) भूराग्रणीयं (श्रीपालम्) श्रीपाल को (शशंसेति) प्रशंसा करता है कि (त्वम्) आप (धीमान्) बुद्धिमान् (पुरुषसिंहः) पुरुषों में तेजस्वी, (महान्) महान् (वीराग्रणी) वीरों में वीर (महाबलः) अत्यन्त शक्तिशाली (महातेजः) महातेजस्वी (धन्यः) धन्य हो (त्वत्) तुम्हारे (समः) समान (परो) अन्य (भटः) सुवीर (न) नहीं है ।

भावार्थ—बर्बर राजा को तस्करों को श्रीपाल ने क्षणभर में युद्ध में परास्त कर दिया । सबको अपने भुजबल में बांध लिया । दशहजार सुभट जिन्हें परास्त कर दिये गये उन दस्युओं को कोटिभट ने अकेले ही बन्धनबद्ध किया और श्रेष्ठो का सर्वधन लाकर उसे दे दिया । यह चमत्कारी प्रतिभा, बल पराक्रम देखकर सेठ का हर्ष असीमित हो गया । वह अनेकों वादित्र बजवाने लगा । उसने जय जय घोष और नाना प्रकार वादित्रों के मधुर स्वर के साथ अनेकों मणि, मणिकय, काञ्चनादि प्रदान किये । अनेकों अलङ्कार, वस्त्र, पटम्बर भेंट किये । वर्ण-वर्ण के नानाविध पोषाकादि प्राप्त में दिये तथा अपने सुभटों के साथ उसका यशोगान भी किया । वह स्तुति करने लगा, हे पुरुषोत्तम, हे सुभटमणि ! हे धीमन् ! आप पुरुषसिंह हैं, महान् वीरों में वीर शिरोमणि हैं, महातेजशाली हैं, आपके समान आप ही हैं । आपके लिए उपमा रूप कोई भी संसार में नहीं है । वस्तुतः आप अप्रतिम प्रतापी हैं । इस प्रकार नाना प्रकार से सेठ तथा उसके परिकर, बन्धु, बान्धव सभी ने श्रीपाल की भूरि-भूरि प्रशंसा की । उसके धैर्य, बल पराक्रम को बार-बार प्रकट किया ॥८५, ८६, ८७॥

श्रीपालोऽथ दयालुत्वात् धृत्वा चौरांश्च तान् पुनः ।

भोजनाद्यैस्सुसम्मान्य निःशल्य सञ्चकार सः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(पुनः) तदनन्तर (अथ) अब (सः) उस (श्रीपालः) श्रीपाल ने (दयालुत्वात्) दयाभाव से (धृत्वा) पकड़ कर लाये (तान्) उन (चौरान्) चोरों को (भोजनाद्यैः) भोजन पान करा (सम्मान्य) सम्मानित करके (च) और (निःशल्य) निर्भय (सञ्चकारः) बनाया ।

भावार्थ—धर्मात्मा, उदार मनीषी अपराधी के अपराध का संहार करते हैं अपराधी का नहीं । पापी के पाप से घृणा करते हैं पापी से नहीं । अपितु उन्हें अशुद्ध सुवर्ण को शुद्ध बनाने के समान निर्दोष बना देते हैं । कृपालु श्रीपाल भी इसका अपवाद नहीं था । उसके सभी दस्युओं को बन्धन मुक्त किया । भोजन पान कराकर सम्मानित किया । तथा अभयदान प्रदान कर सबको निर्भय और शल्य रहित कर दिया । ठीक ही है नाश की अपेक्षा सुधार करना ही मानवता है । यह दयाधर्म है ॥८८॥



ऊपर--श्रीपाल जहाज पर दरसुओं से लड़ता हुआ ।
नीचे--श्रीपाल दरसु राजा को अभयदान देते हुए ।

ततस्तेप्रीणिताः प्राहुरित्थं तं प्रति हे प्रभोः ।

आप स्वामिन् त्वमस्माकम् कृपालुस्सुभटाग्रिमः ॥८६॥

दुष्टानामपि चौरानामस्माकं आपि शर्मकृत् ।

अयंकोऽपि महानुच्चैर्मरोरपि महीतले ॥८७॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद (ते) वे दस्युजन (प्रीणिताः) प्रसन्न हो (तम्) उस श्रीपाल के प्रति (इत्थम्) इस प्रकार (प्राहुः) बोले (हे प्रभो !) ओ स्वामिन् (त्वम्) आप (धन्यः) धन्य हैं (कृपालुः) दयालु (सुभटाग्रिमः) वीरों में अग्रणीयवीर (अस्माकम्) हम लोगों (दुष्टानाम्) दुष्ट (चौरानाम्) तस्करों के (अपि) भी (स्वामिन्) हे प्रभो ! आप (अस्माकम्) हमारे लिए (शर्मकृत्) शान्तिप्रदायक हैं । (च) और (अपि) भी है (अयम्) यह (कोऽपि) कोई भी (महीतले) भूमितल पर (मेरोः) सुमेरु की अपेक्षा (अपि) भी (उच्चैः) महामना (महान्) महापुरुष हैं ।

भावार्थ—भोजन पान कर सन्तुष्ट हुए । सभी श्रीपाल जी के इस सद्ब्यवहार को देखकर आश्चर्य और हर्ष से अभिभूत थे । वे कहने लगे, हे प्रभो ! आप कोई महापुरुष हैं । परम दयालु हैं । वीरों में वीर हैं । महासुभट हैं । हम जैसे क्रूर, दुष्ट, पापी चोरों को भी क्षमा प्रदान कर दी । यही नहीं हमें सुख शान्ति प्रदायक आहारार्थ सुपाच्य, सुस्वादु, मधुर पदार्थ देकर महान् उपकार किया । वस्तुतः आप मेरुपर्वत से भी अधिक उन्नत-विशाल विचार-ज्ञ, विद्वान्, पण्डित और कुशल हैं । मेरु अपने स्थान पर भी उन्नत है परन्तु आप की महिमा सर्वत्र मेरुवत् व्यापक है । हे स्वामिन् आप वस्तुतः यथार्थ पुरुषोत्तम हैं ॥८६, ८७॥

दत्तं त्वयाऽभयं दानं प्रशस्येति मुहुर्मुहुः ।

त्वत्समो न गुरुर्मत्पितृबन्धु सुतादयः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(त्वया) आपने (अभयदानम्) अभयदान (दत्तम्) दिया (इति) इस प्रकार (मुहु-मुहुः) बार-बार (प्रशस्य) प्रशंसा कर कहने लगे (त्वत्समः) आपके सदृश (गुरुः) गुरु (माता) माँ (पितृ) पिता (बन्धु) भाई (सुतादयः) पुत्र आदि कोई भी उपकारी (न) नहीं ।

भावार्थ—श्रीपाल के सौजन्य से प्रभावित होकर, अभयदान प्राप्त कर ये चोर-राजा अत्यन्त विनम्र हो गया । अपने साथियों के साथ श्रीपाल की भूरि-भूरि बार-बार प्रशंसा की । वे यशोगान करते हुए कहने लगे । “संसार में आपके समान हित करने वाले गुरु, माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-पुत्री आदि कोई भी नहीं हैं । अस्तु आप उनसे भी बढकर हमारे रक्षक, पालक और प्राणदाता हैं । नीतिकारों ने सत्य ही कहा है कि महात्मा वे ही हैं जिनको विकृति उत्पादक कारण होने पर भी विकार न हो । यथा ॥८८॥

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तियुक्तम् ।
 छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादुबञ्चेक्षु दण्डम् ॥
 घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारु गन्धम् ।
 प्राणान्तेऽपि प्रकृति विकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(पुनः-पुनः) बार-बार (दग्धं दग्धम्) तपाये जाने पर (अपि) भी (काञ्चनम्) सुवर्ण (कान्ति) चमक (युक्तम्) सहित ही रहता है, (इक्षुदण्डम्) गन्ना (पुनः पुनः) बार-बार (छिन्नं छिन्नम्) पेले जाने पर (अपि) भी (स्वादुः) मधुरता युक्त ही रहता है, (चन्दनम्) मलियार्गिर चन्दन (पुनः पुनः) बार-बार (घृष्टं घृष्टम्) घिस-घिस डालने पर (अपि) भी (चारु) सुन्दर (गन्धम्) सुवासित ही रहता है, (उत्तमानाम्) उत्तम वस्तुओं का पुरुषों का भी (प्राणान्ते) प्राणवियोग होने पर (अपि) भी (प्रकृति) स्वभाव (विकृति) विकार रूप (न) नहीं (जायते) होता है ।

भावार्थ - सत्पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति में एक रूप रहते हैं । शत्रु-मित्र में उनका समभाव रहता है । कितने ही कष्ट क्यों न आयें वे अपने दयाभाव को नहीं छोड़ते । जिस प्रकार खान से निकले सुवर्ण को अग्नि में तपाने पर भी विकारी नहीं होता अपितु उत्तरोत्तर उसकी दीप्ति-चमक बढ़ती ही जाती है । ईक्षुदण्डों-गन्नों को घापी या मशीन में पेलने पर उत्तरोत्तर मधुर रस ही देते हैं, उनमें से कड़वाहट नहीं आती, चन्दन को कितना ही घिसो उसकी सुवास उत्तरोत्तर अधिकाधिक होगी किन्तु दुर्गन्ध नहीं आ सकती । अभिप्राय यह है कि सुवर्ण, इक्षु, चन्दन, मेहदी आदि पदार्थ, तपकर, पिलकर, घिसकर, पिसकर भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते उसी प्रकार सज्जन जन, उत्तम पुरुष भी विपत्तियों के आने पर भी, सताये जाने या पीड़ित किये जाने पर भी अपनी मानुषी प्रकृति-स्वभाव को नहीं छोड़ते नहीं, त्यागते ॥६२॥

एवं चित्तेविचार्याशु श्रीपालं संजगाद सः ।

अस्मद्देशं दयां कृत्वा समागच्छ भटोत्तमः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (चित्ते) मन में (विचार्य) चिन्तन कर (सः) वह बवंर राजा (आशु) शीघ्र ही (श्रीपालम्) श्रीपाल से (संजगाद) बोला, (भटोत्तमः) हे श्रेष्ठ वीराग्रणी ! (दयाम्) कृपा (कृत्वा) करके (अस्मत्) हमारे (देशम्) देश को (समा-गच्छ) आइये ॥६३॥

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार विचार कर श्रद्धा भक्ति से भरे बवंरराज ने प्रत्युपकार की निर्मल भावना से श्रीपाल से निवेदन किया । 'हे महानुभाव, हे सुभटोत्तम ! आप हम पर दया कीजिये । कृपा कर हमारे देश में पदार्पण करें । पधारें ॥६३॥

अस्माकं प्राणदाता त्वं कुर्मोभक्तिं च भृत्यताम् ।

यतः प्रत्युपकारेण कृतकृत्यो भवाम्यहम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (अस्माकम्) हमारे (प्राणदाता) प्राण देने वाले हैं (वयम्) हम लोग (भक्तिम्) भक्ति (च) और (भृत्यताम्) सेवा-दासता (कुर्मः) करने को तैयार हैं (यतः) क्योंकि (प्रत्युपकारेण) उपकार का बदला देकर (अहम्) मैं राजा (कृत-कृत्यो) कृतकृत्य (भवामि) हो जाऊँगा । होता हूँ ।

भावार्थ—अनेक प्रकार श्रीपाल की स्तुति एवं भक्ति कर बर्वर राजा ने उसका स्वागत करना चाहा । वह श्रीपाल से निवेदन करता है हे प्रभो ! हम आपके सेवक हैं । आपके भक्त हैं । हम पर अनुग्रह कीजिये । कृपा कर हमारे देश में पधारें । हम सब हर प्रकार से आपकी सेवा करेंगे । सत्कार कर प्रत्युपकार करना चाहते हैं । क्योंकि उपकारी का उपकार करना मानव का परमधर्म है । आप अवश्य पधारें । आपके पधारने से मैं उद्दण्ड होना चाहता हूँ । आप अनुज्ञा दीजिये ॥६४॥

तत् समाकर्ण्य स श्रेष्ठी श्रीपालं प्रत्यभाषितः ।

तत्र गन्तुं न ते युक्तं कार्यमेतद् विहाय च ॥६५॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह आमन्त्रण (समाकर्ण्य) सम्यक् प्रकार सुनकर (स) वह (श्रेष्ठी) धवलसेठ (श्रीपालं प्रति) श्रीपाल से (अभाषितः) बोला, (एतद्) इस (कार्यम्) काम को (विहाय) छोड़कर (च) और (तत्र) वहाँ (गन्तुम्) गमन को तैयार होना (ते) आपके लिए (युक्तम्) उचित (न) नहीं है ।

भावार्थ—बर्वर राजा की कृतज्ञता और प्रत्युपकार भावना से सेठ का मन काँप उठा । क्योंकि उसने उपकारी श्रीपाल को अपना जीवनदाता स्वीकार कर उसे अपने देश में ले जाना चाहा । प्रत्युपकार की भावना से उसे आमन्त्रण दिया । श्रीपाल जो के वहाँ जाने से धवलसेठ का कार्य ठप्प हो जाता है । अतः श्रीपाल के स्थान पर स्वयं ही बीच में उत्तर देता है—
धवल सेठ श्रीपाल के उत्तर या इच्छा को प्रतीक्षा न कर मध्य में ही "दाल-भात में मूसलचन्द" कहावत को चरितार्थ करता हुआ बोला "हे सुभग मेरे साथ व्यापार रूप इस कार्य को छोड़ना और तस्करों के देश में जाना आपको तनिक भी योग्य नहीं है । ठीक ही है संसार में कौन अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहते ? सभी चाहते हैं ॥६५॥

ततो बर्वरराजोऽपि सारवस्तुशतैर्भृतान् ।

श्रीपालाय ददौ प्रीत्या सप्त पोतान् समुन्नतान् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(ततः) श्रेष्ठी द्वारा गमन का निषेध करने पर (बर्वर राजा) बर्वर राजा ने (अपि) भी (समुन्नतान्) गगनचुम्बी-ऊँचे (सारवस्तुशतैर्भृतान्) सैंकड़ों उत्तमोत्तम वस्तुओं से भरे (सप्त) सात (पोतान्) जहाजों को (प्रीत्या) अनुराग से (श्रीपालाय) श्रीपाल के लिए (ददौ) प्रदान किये ।

भावार्थ—"को वाञ्छन्धो गुरु वाक्यमलंघयेत्" कौन जाग्रत बुद्धि पुरुषजनों की आज्ञा

का उल्लंघन कर सकता है ? कोई नहीं । इसी नीति का अनुसरण श्रीपाल ने किया । बरबर राजा ने उनका आगमन नहीं जानकर भक्ति और अति अनुराग से उसे अत्यन्त उन्नत, विशाल सैकड़ों प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से भरे हुए सात जहाज भेंट में प्रदान किये । नीति है लक्ष्मी ठुकराने पर पीछे-पीछे दौड़ कर आती है और मनाने पर दूर भागती है । पुण्य की चेरी है सम्पत्ति । अतः पुण्यात्मा श्रीपाल के पास बिना ही श्रम के दास की भाँति आ रही है ॥६६॥

वरवस्तुकृतान् श्लाघ्य, मणिमुक्ताफलादिकान् ।

द्वीपान्तरस्थ वस्तूनि द्विपतुङ्गतुरङ्गमान् ॥६७॥

अन्वयार्थ—(द्वीपान्तरस्थ) विभिन्न द्वीपों में स्थित-प्राप्त (श्लाघ्य) प्रशंसनीय (वरवस्तुकृतान्) उत्तमवस्तुओं से निर्मित (मणिमुक्ताफलादिकान्) मणि, मोती, हीरादि (द्विपतुङ्गतुरङ्गान्) विशाल-मदोन्मत्त गज, उन्नत अश्वादि (वस्तूनि) वस्तुओं को (श्रीपालाय) श्रीपाल के लिए (प्रीत्या) प्रेम से (ददी) प्रदान की ।

भावार्थ—इस श्लोक का सम्बन्ध नं. ६६ के साथ करना चाहिए । सात जहाजों में अनेक द्वीपों में प्राप्त होने वाली नाना प्रकार की बहुमूल्य अपूर्व वस्तुएँ—मणि, मुक्ता, हीरा आदि थे । तथा विशाल गजराज और वेगशाली समुन्नत तुरंग-घोटक भेंट में दिये । सत्य है परोपकारी अपने उपकारी को क्या नहीं देता ? सर्वेष्ट देने को तैयार हो जाता है । फिर प्राण-दाता का कहना ही क्या ? तोन लोक का वैभव भी उसके समक्ष तुच्छ है ॥६७॥

अथ ते सारवस्तुनि दत्त्वाऽस्य श्रेष्ठिनस्तदा ।

जगृहुस्तस्य वस्तूनि लाभाय स्वान्ययोरपि ॥६८॥

अन्वयार्थ—(अथ) पुनः (सारवस्तूनि) उत्तमोत्तम वस्तुओं को (दत्त्वा) देकर (तदा) तब (अस्यश्रेष्ठिनः) इस सेठ की तथा (तस्य) उस श्रीपाल की (अपि) भी (वस्तूनि) वस्तुओं को (स्वान्ययोः) स्व-पर के (लाभाय) हित के लिए (ते) उन बरबरों ने (जगृहुः) ग्रहण की ।

भावार्थ—पारस्परिक मित्रता को स्थायी रखने के लिए आदान-प्रदान आवश्यक है । बरबर राजाओं ने श्रीपालजी को अनेकों अमूल्य वस्तुएँ भेंट कीं और सेठ की भी समस्त सम्पत्ति वापिस कर दी उनके द्वारा सम्मानित श्रीपाल एवं धवल सेठ का भी कर्तव्य हो जाता है कि वे भी उनका दान-सम्मान द्वारा आतिथ्य करें । अतः स्नेहाभूत उन बरबर राजाओं ने भी धवल सेठ और श्रीपाल भूपाल द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को सहर्ष, विनय पूर्वक स्वीकार किया । क्योंकि यह आदान प्रदान स्व और पर सभी के लिए लाभ दायक होता है । पीतस्थ समस्त जनों का रक्षण हुआ और सभी एक दूसरे के प्रिय मित्र बन गये । इस प्रकार उभय ओर से एक दूसरे का आदर-सम्मान कर वे राजा अपने देश को चले गये और ये भी चले ॥६८॥

ततः पोतानि पुण्येन निर्विधनेन सुखेन च

रत्नद्वीपं क्रमादापुः पद्मरागमणिश्रितम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद (पुण्येन) पुण्ययोगेन से (निर्विधनेन) विधनरहित (च) और (सुखेन) सुख से (पोतानि) जहाज (पद्मरागमणिश्रितम्) पद्मरागमणि वाले (रत्नद्वीपम्) रत्नद्वीप को (आपुः) प्राप्त किया ।

भावार्थ—तस्करों को भी मित्र बनाकर, उनके द्वारा प्रदत्त भेंट को सभी पोतस्थ जनों को वितरित कर जहाज चल पड़े । क्रमशः वे यान पद्मरागमणियों से भरे रत्नद्वीप में जा पहुँचे ॥६६॥

महाभवन संयुक्तं साररत्नादिभिः भूतम् ।

तद् द्वीपं ते समालोक्य सन्निधिं वा ययुर्मुदाः ॥१००॥

अन्वयार्थ—(महाभवन) विशाल गृह प्रासाद (संयुक्तम्) सहित (सार) उत्तम-उत्तम (रत्नादिभिः) रत्नों से (भूतम्) भरे हुए (तद्) उस (द्वीपम्) द्वीप को (समालोक्य) देखकर (ते) वे लोग (मुदा) प्रसन्नता से (वा) उस द्वीप के (सन्निधिम्) निकट में (ययुः) आये ।

भावार्थ—वह रत्नद्वीप महान् विशाल-विशाल उन्नत घर, प्रासाद, मन्दिर आदि से युक्त था । अनेकों अनर्घ्य-बहुमूल्य विविध प्रकार के रत्नों से भरा था । इन समस्त अनुपम वस्तुओं का अवलोकन कर उन्हें परम सन्तोष हुआ । आनन्द से उस द्वीप के अन्दर प्रविष्ट हुए ॥१००॥

पोते न्यस्ते समुत्तीर्य भोजनादीन् विधाय च ।

स्वस्य व्यापारमाकर्तुं संलग्नाः श्रेष्ठिमुख्यकाः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(समुत्तीर्य) सागर तट पर उतर कर (पोते) जहाज में (न्यस्ते) स्थापित (भोजनादीन्) भोजन आदि लेकर-करके (च) और (विधाय) भोजन पान कर (श्रेष्ठिमुख्यकाः) धवल सेठ आदि व्यापारी (स्वस्य) अपने (व्यापारम्) व्यापार को (कर्तुं) करने में (संलग्नाः) लग गये ।

भावार्थ—अपने जहाज में रखे भोज्यपदार्थों को लेकर सबने प्रथम भोजन किया । पुनः सभी अपने-अपने व्यापार में लीन हो गये । क्योंकि उनका उद्देश्य ही व्यापार था । ॥१०१॥ किन्तु—

श्रीपालस्तु तदा तस्मिन् द्वीपे दृष्ट्वा जिनालयम् ।

सहस्रकूट संयुक्तं त्रैलोक्यतिलका ह्वयम् ॥१०२॥

सौवर्ण्यं तञ्जधारत्न कान्त्यारञ्जित दिङ्मुखम् ।

जिनेन्द्र प्रतिमोपेतं सुरासुर नमस्कृतम् ॥१०३॥

सहस्रशिखराबद्ध ध्वजघातैर्मरुदुद्धतैः ।

भव्यानां दर्शयस्तं वा मार्गं स्वर्गपथगन्धोः ॥१०४॥

मेरो शृङ्गमिवोत्तुङ्ग गणयन्तं नमोऽङ्गणम् ।

महिम्ना परमानन्दं कुर्वन्तं भव्य देहिनाम् ॥१०५॥

महा घण्टा निनावैर्वा तर्जयन्तं घनाघनम् ।

कृष्णागरुलसत्धूपैस्सुगन्धीकृत भूतलम् ॥१०६॥

दर्शनेन जगत्पाप ताप संदोह नाशनम् ।

अनेक रचनोपेतं भव्य चेतोऽनुरञ्जनम् ॥१०७॥

तस्य द्वारञ्च संवीक्ष्य दत्त वज्र कपाटकम् ।

तत्रस्थं द्वारपालं च समकुर्वन् स विस्मयः ॥१०८॥ सप्त

अन्वयार्थ—(तु) किन्तु (श्रीपालः) श्रीपाल तो (तदा) उस समय (तस्मिन्) उस (द्वीपे) रत्नद्वीप में (त्रैलोक्यतिलका) त्रैलोक तिलक (आह्वयम्) नामक (सहस्रकूट) एक हजार शिखरों से (संयुक्तं) सहित (जिनालयम्) जिनमन्दिर को (दृष्ट्वा) देखकर चकित हुआ कैसा था वह जिनालय—(सुरासुर) सुर और अमुरों से (नमस्कृतम्) नमस्कार की जाने वाली (सौवर्ण्यम्) सुवर्ण निर्मित (पञ्चधा) पाँच प्रकार के (रत्न कान्त्या) रत्नों की कान्ति से (रञ्जित) चमत्कृत करदो है (दिङ्मुखम्) दिशाएँ जिन्होंने ऐसी (जिनेन्द्र-प्रतिमोपेतम्) श्रीजिन भगवान की प्रतिमाओं से सहित (सहस्र) हजार (शिखर आबद्ध) शिखरों पर बन्धी हुई (मस्तु) वायु से (उद्धतैः) फहराती (ध्वजघ्रातैः) ध्वजासमूहों से (वा) मानों (भव्यानाम्) भव्य जीवों के लिए (स्वर्गं) स्वर्ग (अपवर्गयोः) मोक्ष का (मार्गम्) राह-रास्ता (दर्शयन्तम्) दिखा रहा हो—(मेरोः) मेरु पर्वत की (शृङ्गम्) चोटो (इव) समान (उत्तुङ्गम्) उन्नत (नमोऽङ्गणम्) गगनसीमा को (गणयन्तम्) मापता हुआ (भव्यदेहिनाम्) भव्य प्राणियों को (महिम्ना) अपनी महिमा से (परमानन्दम्) महा आनन्द (कुर्वन्तम्) करता हुआ, (महाघण्टा) बड़े-बड़े घण्टों के (निनादैः) भंकार द्वारा (वा) मानों (घनाघनम्) सघनमेघों को (तर्जयन्तम्) धमका रहा हो (कृष्णागरु) कृष्ण अगुरु चन्दन की (लसत) सुन्दर सुगन्धित (धूपैः) धूप धुआँ से (भूतलम्) पृथ्वीमण्डल (सुगन्धीकृतम्) सुवासित कर दिया, (दर्शनेन) दर्शनमात्र से (जगत्) संसारी जीवों के (पापतापसंदोहम्) पाप से उत्पन्न ताप के समूह को (नाशनम्) नाश करने वाले (अनेक) नाना प्रकार (रचनोपेतम्) रचना से रचित (भव्यचेतः) भव्यजीवों का चित्त (अनुरञ्जनम्) प्रसन्न करने वाले (च) और (दत्तवज्रकपाटकम्) जड़े हैं वज्रकिचाड़ जिसमें ऐसे (तस्य) उसके (द्वार) दरवाजे को (संवीक्ष्य) देखकर (च) और (सविस्मयम्) आश्चर्य चकित हो (तत्र) वहाँ (स्थ) बैठे (द्वारपालम्) द्वारपाल को (सम्) सम्यक् (अपृच्छत्) पूछा ।

भावार्थ—जिसका मन जहाँ अनुरक्त होता है वह वहीं रमता है । सेठ आदि व्यापारी भोजन-पान से निवृत्त हो रत्नद्वीप में व्यापार के लिए चले गये । इधर श्रीपालजी ने उद्यान में विशाल भवन देख उधर प्रयाण किया । वहाँ “त्रिलोकतिलक” नामके, स्वर्गसम्पदा को तिरस्कृत करने वाले परम रम्य एक हजार शिखरों से सुशोभित सहस्रकूट चैत्यालय देखा । वह जिनालय सुर अमुरों से पूज्य था । देवगणों से नमस्करणीय था । स्वर्ण निर्मित, विविध

प्रकार मणियों से खचित जिनप्रतिमाओं से सहित था । वे प्रतिमाएँ अनेक भवों के उत्पन्न पापों का नाश करने में समर्थ थीं । दर्शकों के भव-भव के पाप ताप उसी प्रकार विलीन हो जाते थे जैसे पवन के झोके से सघन मेघ क्षणमात्र में बिखर जाते हैं । एक हजार शिखरों पर अनेक रंगों की अनेकों ध्वजाएँ वायु से फहरा रही थीं । उन चञ्चल ध्वजाओं से ऐसा प्रतीत होता था । मानों वे भव्य नर-नारियों को स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग दिखा रही हैं । सुमेरु पर्वत समान विशाल उन्नत शिखर कह रहे थे मानों आकाश की माप करना चाहते हैं । अपनी अपरिमित महिमा से भव्यजीवों को परमानन्द देने वाला था । घण्टों को तुमुलनाद से धनघोर मेघों की गर्जना को तिरस्कृत करता था । धूप घंटों से सुगन्धित वृष की धुआँ से सारा भूमण्डल सुगन्धित हो रहा था । दर्शनमात्र से भव्यभक्तों के पाप समूह को नष्ट करने वाला था । अनेक प्रकार की मनोज्ञ रचना के द्वारा भव्यजीवों को प्रसन्न करने वाला था । उस मनोहारी जिनालय का द्वार वज्रकपाट से बन्द था । यह देख कर श्रीपाल आश्चर्य चकित हुआ । वहाँ पर बैठे हुए द्वारपाल से इस वज्रकपाट का कारण पूछा ॥१०२॥ से १०८ तक ।

द्वारपालक ब्रूहि त्वं केनेदमररद्वयम् ।

दत्तमुच्चैस्स च प्राह शृणु त्वं भो विचक्षण ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(द्वारपालकः) भो द्वार रक्षक (केन) किसके द्वारा (द्वयम्) ये (अरर) अर्गल (द्वयम्) दो (उच्चैः) इतने कठोर (दत्तम्) दिये गये हैं, (च) और तब (सः) वह द्वारपाल (प्राह) बोला (भो) हे (विचक्षण) सुबुद्धि (त्वम्) आप (शृणु) सुनिये ।

भावार्थ—उस सहस्रकूट जैन्यालय के द्वार पर द्वार रक्षक बैठा हुआ था । श्रीपाल ने उसे जिनालय के वज्रकपाट के विषय में पूछ-ताछ की । उस द्वारपाल ने विनम्रता से उत्तर दिया कि हे विचक्षणमति ! आप जानना चाहते हैं तो सुनिये मैं इसका विवरण करता हूँ ॥१०६॥

एतत् कपाटयुग्मश्च देवैरपि न शक्यते ।

समुद्घाटयितुं तत्र कस्समर्थः परो नरः ॥११०॥

अन्वयार्थ—(एतत्) इन (कपाटयुग्मम्) दोनों किवाड़ों को (समुद्घाटयितुम्) खोलने के लिए (देवैः) देव (अपि) भी (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं (तत्र) वहाँ और (कः) कौन (परः) दूसरा (नरः) मनुष्य (समर्थः) समर्थ है ? (च) और भी -

भावार्थ—वह द्वारपाल कहने लगा “हे देव ये दोनों कपाट वज्रमय हैं इनको खोलने में देवता भी समर्थ नहीं हो सकते हैं, फिर अन्य कौन पुरुष खोलने की सामर्थ्य रख सकता है ? और भी कहने लगा । ये देवोपुनोक्त हैं क्या ? ॥११०॥

ततस्सोऽपि करोतिस्म हस्तेन स्पर्शनं यदा ।

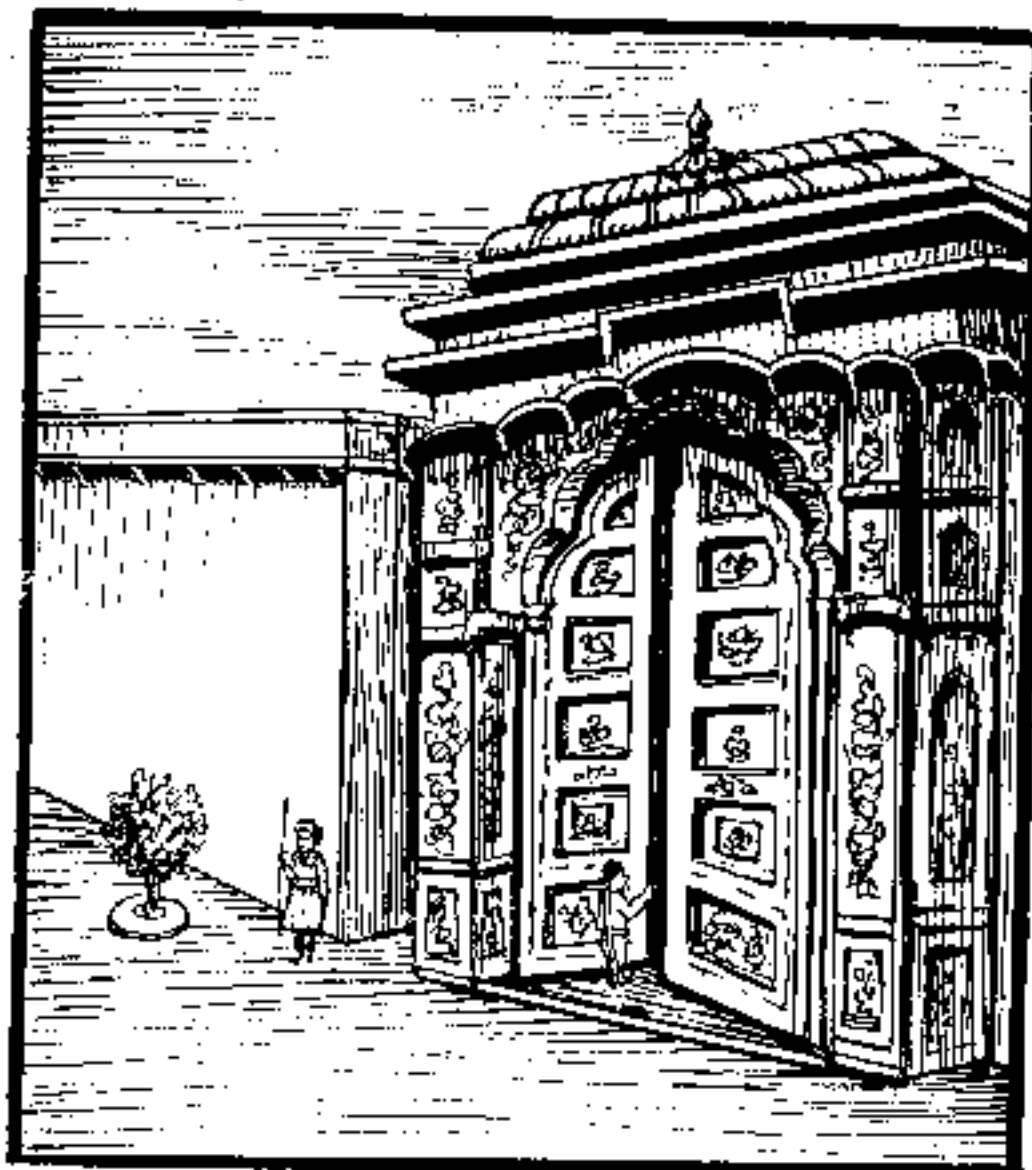
तदा तत्पुण्यपाकेन तत् कपाटद्वयं स्वयम् ॥१११॥

जातमुद्घाटितुं शीघ्रं परमानन्ददायकम् ।

यथा नेत्र द्वयं रम्पसौख्येन महात्मना ॥११२॥

अन्वयार्थ—(ततः) यह सुनकर (यदा) जैसे ही (ततः) उस (श्रीपालः) भक्तशिरो-
मणि श्रीपाल ने (हस्तेन) हाथ से (स्पर्शनम्) स्पर्श (करोतिस्म) किया (तदा) तब
(तत्पुण्यपाकेन) उसके प्रचुर पुण्योदय से (तत्) वे (कपाट द्वयम्) दोनों किवाड़ (स्वयम्)
अपने आप ही (परमानन्द) परम आनन्द को (दयाकम्) देने वाले (शीघ्रम्) तत्क्षण (उद्-
घाटितुम्) खुले हुए (जातम्) हो गये । (यथा) जिस प्रकार (महात्मना) महान विशेषज्ञ
द्वारा प्रयुक्त (औषधेन) औषधि से (नेत्रद्वयम्) दोनों विकारी नेत्र (रम्यम्) सुन्दर, रोग रहित
(जातम्) हो जाते हैं ।

भावार्थ—द्वारपाल की बात सुनकर कोटिभट श्रीपालजी ने ज्यों ही किवाड़ों को
हाथ से छुआ त्यों ही वे दोनों किवाड़ स्वयम् ही खुल गये । जिस प्रकार किसी सुबुद्ध



वैद्य द्वारा नेत्रों में उचित औषधि लगाने से दोनों नेत्र निर्मल हो जाते हैं । रोग रहित
हो जाते हैं ! परम आनन्द को देने वाले कपाटों के खुलते ही चारों ओर आनन्द को
सहर दौड़ गई ॥११२॥

निधानं वा समासाद्य तदा सन्तुष्ट मानसः ।

जय कोलाहलं कुर्वन् प्रविष्टो जिनमन्दिरम् ॥११३॥

अन्वयार्थ—(वा) मानों (निधानम्) निधि ही (समासाद्य) प्राप्त हुयी हो ऐसा (तदा) उस समय (सन्तुष्ट) प्रसन्न (मानसः) चित्त (जय) जय जय श्वनि (कोलाहलम्) जोर जोर से (कुर्वन्) करता हुआ श्रीपाल (जिनमन्दिरम्) जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ ।

भावार्थ—दञ्ज किवाड खुलते ही श्रीपाल के हर्ष की सीमा नहीं रही । उसे लगा मानों कोई अपूर्व निधि ही मिली हो । ॐ जय-जय, निः सही निः सही करते हुए महाश्वनि के साथ श्री जिनालय में प्रवेश किया ॥११३॥

तत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां प्रतिमाः पापनाशनाः

प्रोत्तुङ्गारत्ननिर्माणाः पश्यतिस्म जगद्धिताः ॥११४॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (पापनाशनाः) पापों का नाश करने वाली, (प्रोत्तुङ्गा) विशाल (रत्ननिर्माणाः) विविध रत्नों से बनी (जगद्धिताः) संसार का कल्याण करने वाली (श्रीमज्जिनेन्द्राणाम्) श्री वीतराग भगवान की (प्रतिमाः) प्रतिमाएँ (पश्यतिस्म) देखीं । दर्शन किये ॥११४॥

कृत्वा महाभिषेकं स तासां सम्पत्तिधायकम् ।

पञ्चामृतैर्जगत्सारैः प्रचुरैः परमादरात् ॥११५॥

पुनस्ताः पूजयामास सुधीः देवेन्द्र पूजिताः ।

कर्पूरवासितः स्वच्छतोयधाराभिरुत्तमैः ॥११६॥

अन्वयार्थ—(सः) उस श्रीपाल ने (तासाम्) उन मनोज्ञ प्रतिमाओं का (परम) अत्यन्त (आदरात्) विनय से (जगत्सारैः) संसार के उत्तम (प्रचुरैः) बहुत से (पञ्चामृतैः) पञ्चामृतों से (सम्पत्) सुख (विधायकम्) देने वाले (महाभिषेकम्) महामस्तकाभिषेक (कृत्वा) करके (पुनः) फिर (उत्तमैः) उत्तम (कर्पूरवासितस्वच्छतोयधाराभिः) कर्पूरदि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित नीर धारादि द्वारा (सुधीः) उस बुद्धिवन्त श्रीपाल ने (देवेन्द्र-पूजिताः) इन्द्रों से पूजित उन (ताः) प्रतिमाओं की (पूजयामास) पूजा की ।

भावार्थ—श्रीपाल महाराज ने परम भक्ति और श्रद्धा से उन सौम्य, मनोज्ञ तथा पाप भञ्जक प्रतिमाओं का सुन्दर-सुन्दर उत्तम शुद्ध पदार्थों से पञ्चामृताभिषेक महा अभिषेक

क्रिया । भगवान का पञ्चामृताभिषेक पाप का नाशक और पुण्य का वर्द्धक होता है । वे प्रति-
माएँ देवेन्द्रों द्वारा पूज्य थीं । परम पावन, पापविनाशक थीं । वस्तुतः साक्षात् जिनेन्द्रदर्शन का
जो फल होता है वही जिनविम्ब दर्शन का भी प्राप्त होता है कर्पूरादि से मिश्रित शुद्ध जल-
धारा से श्री जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की ॥११५-११६॥

चन्दनागरुकाशमीर सदृशैस्सर्व शान्तये ।

विशुद्धाक्षतकर्चैः पुण्य पुञ्जैरिवामलैः ॥११७॥

जातिचम्पकपुन्नागपद्माद्यैः कुसुमोत्करैः ।

पूजाञ्चकार पूतात्मा भव्यचेतोनुरञ्जनैः ॥११८॥

ग्रन्थार्थ—(पूतात्मा) पवित्रात्मा श्रीपाल ने (सर्वशान्तये) सर्वताप सन्ताप की
शान्ति के लिए (चन्दनागरुकाशमीर सदृशैः) चन्दन, अगुरु, केशर, समान शीतल पदार्थों से,
(पुण्यपुञ्जैरिव) पुण्यरूप पुञ्ज के समान (अमलैः) स्वच्छ (उच्चकैः) अनेक अखण्ड
(विशुद्ध) परम पवित्र (अक्षतकैः) अक्षतों से तथा (जाति) मलिका (चम्पक) चम्पा
(पुन्नाग) नागकेशर (पद्म) कमल (आद्यैः) इत्यादि (कुसुमोत्करैः) उत्तम पुष्पों से (भव्य-
चेतोनुरञ्जनैः) भव्यात्माओं के मन को हर्षित करने वाली (पूजाम्) पूजा (चकार) की ।

भावार्थ—संसारजन्य विविध तापों को नाश करने वाली चन्दनादि से पूजा की ।
अखण्ड अक्षतों से की गई पूजा भव्यों की अखण्ड अक्षय सुख प्रदान करती है । अतः अमल,
अखण्ड, शुद्ध उत्तम अक्षत पुञ्जों की चढ़ाया । मदनवाण से सारा संसार पीड़ित है । यह काम
मोह की पाश है । और तो क्या ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे महापुरुष भी इसके चंगुल में फँस
गये । वस्तुतः यह काम भोग आकांक्षा जीव को ग्रन्था बना देती है । ऐसे दुर्जयभट काम का
नाश करने वाली श्री जिनभगवान की पुष्प पूजा है । अतएव श्रीपाल ने नाना प्रकार के विविध
पुष्पों से श्रीमज्जिनेन्द्र भगवन्त की वैभव महित पूजा की । अर्थात् भव्य जनों का चित्त हरन
करने वाली भव्य पूजा की ॥११७-११८॥ तथा -

नैवेद्यैर्बहुभिर्भेदैर्बुखवारिद्र्यहारिणिः ।

रत्नकर्पूर दीपोद्यैः दीपिताखिल दिङ्मुखैः ॥११९॥

कृष्णागरुसमुद्भूतैर्धूपैस्सौभाग्यदायकैः ।

नालिकेराभ्रजम्बीरैः फलैर्भुक्तिफलप्रदैः ॥१२०॥

अर्घ्यादिभिः समभ्यर्च्य वस्तुस्सारैस्सुखाकरैः ।

सञ्चकार स्तुतिचेति शर्मसन्दोहदायिनीम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(दुखदारिद्र्य) दारिद्र्य जन्य दुःख को (हारिणि) हरण-नाश करने वाली (बहुभिः) बहुत से (भेदैः) प्रकारों से निमित्त (नैवेद्यः) नैवेद्यों, चरुओं से (अखिल) सम्पूर्ण (विङ्गर्ह) सिगाओं के (दीपिता) प्रकाशित करने वाले (रत्नकूर्परदीपोधेः) रत्न-कूर्पर आदि के दीपों से (सौभाग्यदायक) सुख सौभाग्य सम्पत् प्रदायक (कृष्णागरु) कृष्ण अगुरु आदि से (समुद्भूतः) उत्पन्न-निर्मित (धूपैः) धूप से (मुक्तिफलप्रदेः) मुक्तिरूपी फल के देने वाली (नारिकेलाम्रजम्बीरैः) नारियल, आम, विजौरादि (फलैः) फलों से, (सुखाकरैः) सुखदायक (वस्तुसारैः) उत्तम-उत्कृष्ट आठों द्रव्यों के समूह रूप (अर्घ्यादिभिः) अर्घ्य आदि से (समभ्यर्च्य) पूजा करके (शर्म) शान्ति (सन्दोह) सुखसमूह (दायनीम्) देने वाली (च) और (स्तुति) स्तुति (सञ्चकार) करना प्रारम्भ किया ।

भावार्थ—जो भव्यात्मा नैवेद्य से पूजा करता है उसे कभी भी दारिद्र्य जन्य पीडा नहीं होती । उस श्रीपाल महाराज ने अनेकों प्रकार की सुस्वादु मधुर चरुओं नैवेद्यों से श्री जिनेश्वरभगवान की पूजा की । गोला की चटक नैवेद्य नहीं होती, अपितु घृत, शक्करादि से बनाये भोज्यपदार्थ नैवेद्य कहे जाते हैं अर्थात् लाडू, पूरी, रोटी, भात, रसगुल्ला आदि । ये स्वयं शुद्धता पूर्वक ताजे बनाना चाहिए । रत्न, एवं कूर्पर तथा घृतादि के दीपों से श्री जिनदेव की पूजा की । यह दीपपूजा मोह काम मद का नाश करने वाली होती है । सुगन्धित शरीर और सौभाग्यवर्द्धक दशाङ्गादि धूपों से पूजा की । मुक्ति रूपी फल को देने वाली श्रीफल, आम, अनार केलादि फलों से उत्तम अर्चा की । तथा अनर्घ्यपद प्रदाता अनेकों शुभ सुन्दर पदार्थों से मिश्रित अर्घ्य से अर्चना कर प्रभु की स्तुति करना प्रारम्भ किया । अर्थात् जिनराज गुनगान करने लगा—॥११६-१२०-१२१॥

जय त्वां जिन सर्वज्ञ वीतराग जगद्धित ।

जय जन्मजरातङ्कपङ्क प्रक्षालन क्षम ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिन, (सर्वज्ञ) हे सर्वज्ञ (वीतराग) भो वीतराग, (जगद्धित) हे संसार हितकर्ता (त्वम्) आप (जय) जयशील हों (जन्मजरातङ्कप्रक्षालन) जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु के नाश करने में (क्षम) समर्थ आपकी (जय) जय हो ।

भावार्थ हे जिनेश्वर, सर्व के ज्ञाता, मोहकर्मधाता वीतरागप्रभो ! आप ही समस्त संसार के कल्याण करने वाले हैं आप सतत जयशील हों । आपही जन्म, वृद्धत्व और मरण का नाश करने में समर्थ हैं, आप सतत जयवन्त रहें । अ ॥१२२॥

जयदेव जगद्वन्द्यपादपद्मद्वयप्रभो ।

जय निशङ्क निर्वन्द निर्मल प्रभुताप्रद ॥१२३॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभो ! (देव !) हे देव (जगद्वन्द्वपादपद्मद्वय) संसार से वन्दनीय हैं आपके चरणकमल दोनों (जय) ऐसे आपकी जय हो (निःसङ्क) आप शङ्का विहीन हैं (निर्वन्द) अप्रतिम प्रतापी हैं (निर्मद) मदरहित (प्रभुता प्रदम्) प्रभुता के देने वाले (जय) आपकी जय हो ॥

भावार्थ—हे प्रभो आप जगद्वन्द्व हैं । हे देव सारा संसार आपके चरणों में नम्रीभूत है । आप शङ्का विहीन हैं, अप्रतिम प्रतापी हैं, मद विहीन हैं, दोष रहित हैं अद्वितीय प्रतिभा-धारी हैं तथा भक्तों को इन गुणों के प्रदाता हैं । हे भगवन ! आपकी जय हो, जय हो ॥१२३॥

जय श्रीजिन सद्भानो, लोकालोक प्रकाशकः ।

जय श्रीजिनचन्द्र त्वां, शान्तिकान्ति प्रदायकः ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(श्रीजिन !) हे श्रीजिनभगवन् आप (लोकालोक) लोक और अलोक को (प्रकाशकः) प्रकाशित करने वाले (सद्भानो) उत्तम सूर्य हैं, (त्वां) त्वम् (शान्तिकान्ति-प्रदायकः) शीतलता एवं ज्ञानज्योति देने वाले (श्रीजिन) हे जिनप्रभो (चन्द्र) चाँद हैं (जय जय) आपकी जय हो, जय हो ।

भावार्थ—भानु दिन में उदित रहता है, कुछ ही स्थान के सीमित पदार्थों को ही प्रकाशित करता है, किन्तु हे श्री जिनदेव आप अद्वितीय भानु-सूर्य हैं । अर्थात् आपका ज्ञान रवि निरन्तर प्रकाशित-उदित रहकर गुणपत तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को अनन्तपर्यायों सहित प्रकाशित करने वाला है । आप की जय हो । रात्रि में चन्द्र क्षणिक शीतलता और कान्ति प्रदान करता है परन्तु आप चिरशान्ति और अनन्त आत्मज्योति प्रदान कर चिरसुख प्रदाता हैं, आप जयशील रहें ॥१२४॥

जय त्वं मुक्त सङ्गोऽपि, सर्व सम्पद्धिधायकः ।

जय तेजोनिधेदेव, दर्शिताखिल भूतल ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(सङ्गः) परिग्रह (मुक्तः) रहित (अपि) भी (त्वम्) आप-तुम (सर्व) सम्पूर्ण (सम्पत्) सम्पत्ति (विधायकः) देने वाले (जय) आपकी जय हो, (अखिल) समस्त (भूतल) भूमण्डल (दर्शितः) दिखलाने वाले (तेजोनिधे !) हे प्रकाशपुञ्ज, (देव) हे देव (जय) जयवन्त हों ।

भावार्थ—संसार में प्रसिद्धि है कि “जिसके पास जो होता है वही वह अन्ध को देता है ।” आचार्य भी कहते, “ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वच” किन्तु परम आश्चर्य है कि सर्व-अशेष परिग्रह रहित होकर भी आप संसार को सर्व सम्पत्तियों के विधायक हैं । भक्तों

को अभिलषित पदार्थों को देने वाले हैं । आप महान् तेजपुञ्ज स्वरूप हैं अक्षय प्रकाश से समस्त भूमण्डल को प्रकाशित करने वाले हैं हे परम देव आपकी जय हो जय हो ॥१२५॥

जय संसारवारासी दत्तहस्तावलम्बनम् ।

त्वमेव भव्यजीवानां दुःखदावघनाघन ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(संसारवारासी) संसारसागर में (दत्तहस्तावलम्बनम्) हाथ का सहारा देने वाले, (जय) आपकी जय हो (भव्यजीवानाम्) भव्यजीवों के (दुःखदाव) दुःखरूपी दावानल को बुझाने वाले (तत्रम्) आप (एव) ही (घनाघन) मेघमाला हैं (जय) आप जयवन्त हों ।

भावार्थ—हे भगवान् यह संसार समुद्र है इससे पार करने वाले आप ही हैं । आप हस्तावलम्बन देने वाले हैं । दुःखरूपी दवाग्नि में संसारी जीव धोंयधोंय जल रहे हैं, भस्म हो रहे हैं इस ज्वाला को शान्त करने के लिए आप सघन गर्जना कर बरपने वाले मेघ हैं । आपकी जय हो ॥१२६॥

त्वमेव परमानन्दस्त्वमेव गुणसागरः ।

त्वमेव करुणासिन्धुर्बन्धुस्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥१२७॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो (त्वम्) आप (एव) ही (परमानन्दः) परमोत्कृष्ट आनन्द (त्वम्) तुम (एव) ही (गुणसागरः) गुणों के आकर, (त्वम् एव) आप ही (करुणा सिन्धु) दयासागर (त्वम् एव) आप ही (भव्यदेहिनाम्) भव्यजनों के (बन्धुः) सच्चे बन्धु हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप परम आनन्द के धाम हैं । आप ही गुणों के सागर हैं । आप ही दयानिधि हैं भव्य जीवों के सच्चे बन्धु, दुःखनिवारक-सुखकारक आप ही हैं । अनुल-गुणों के धाम आप ही हैं । अर्थात् आपका दर्शन परम सुख का निदान है । सर्व दुष्कर्मों के नाशक आप ही हैं ॥१२७॥

त्वं देव महतां पूज्यो महान्पुण्य निबन्धनः ।

दुर्लभस्त्वमपुण्यानां, प्राप्तिमयाति पुण्यतः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव (त्वम्) आप (महताम्) महानजनों से (पूज्यः) पूजने योग्य हैं—पूजनीय हैं (महान्) सातिशय (पुण्यनिबन्धनः) पुण्यबन्ध के कारण, (अपुण्यानाम्) पापियों के लिए (दुर्लभः) दुष्प्राप्य, (मया) मेरे द्वारा (अति) अत्यन्त (पुण्यतः) पुण्य योग से (प्राप्तः) प्राप्त हुए हैं ।

भावार्थ—श्रीपाल करबद्ध स्तुति कर रहा है कि “हे भगवान् आप महापुरुष नर-पुङ्गव चकी, ऋषि, मुनि, यतियों, इन्द्र धरणीन्द्रादि से पूजनीय हैं । पुण्यशाली प्राणियों को ही

आपका चरणसन्निध्य प्राप्त होता है । पुण्य विहीन को आपका दर्शन दुर्लभ, अति कठिन है, आपका दर्शन कर मैं आज धन्य हुआ हूँ । मेरे किसी विशेष पुण्य से आपके चरणकमल का दर्शन हुआ है ॥१२८॥

अद्यनाथात्र धन्योऽहं सफलं जन्मजीवितम् ।

विघ्न जालानि नष्टानि मेऽद्यत्वद्भजनाद्भुवि ॥१२९॥

अद्यमे सफले नेत्रे देव त्वन्मूर्ति वीक्षणात् ।

कृतार्थौ सत्करौ जातौ त्वद्विम्बस्तवनार्चनात् ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ ! (अत्र) यहाँ (अद्य) आज (अहम्) मैं (धन्यः) धन्य हूँ, (जन्म जीवितम्) मेरा जन्म और जीवन (सफलम्) सफल हुआ (भुवि) पृथ्वीमण्डल पर (त्वद्) आपके (भजनात्) स्तुतिपाठ करने से (अद्य) आज (मे) मेरे (विघ्नजालानि) कष्टजाल सब (नष्टानि) नष्ट हो गये (अद्य) आज (मे) मेरे (नेत्रे) दोनों नयन (सफले) सफल हुए (देव) हे देव (त्वत्) आपका (मूर्ति) विम्ब (वीक्षणात्) देखने से तथा (त्वद्) आपकी (विम्ब) प्रतिमा की (अर्चनात्) पूजा करने से (च) और (स्तवनात्) स्तवन करने से (सत्करौ) मेरे दोनों हाथ (कृतार्थौ) कृतकृत्य (जातौ) हो गये ।

भावार्थ—हे परम देवाधिदेव भगवन् आज यहाँ आकर मैं धन्य हुआ, मेरा जन्म-सफल हुआ, तथा जीवन सार्थक हुआ । संसार में उसी का जन्म सार्थक है जो सर्वदोष रहित जिनेश्वर की उपासना कर अपनी आत्मा को भी कर्मकालिमा रहित बनाने का प्रयत्न करे । उसी का जीवन सफल हो जो जिनगुणगान में लगा हो । अतः हे प्रभो ! आपके दर्शन और स्तवन से मेरे समस्त विघ्नजाल कट गये । आज ही मुझे नेत्रों के पाने का यथार्थ फल मिला है । मेरे दोनों नयन आपके दर्शन करके सार्थक हो गये । आपका अनुपम विम्ब देखकर-अवलोकन कर मैं सफल हुआ । आपकी पूजा और स्तवन से मेरे दोनों हाथ आज पावन हो गये, सार्थक हो गये । यथार्थ फल प्राप्त कर सफल हो गये । जिन चरणाम्बुज पूजा ही मानवता का शृंगार है ॥१२९-१३०॥

अद्य धन्यौ हि मत्पादौ स्वामिस्त्वन्मूर्ति यात्रया ।

सफलं स्वशिरोमेऽद्य प्रणमत्त्वत्पदाब्जयोः ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(अद्य) आज (स्वामिन्) हे भगवन (त्वत्) आपकी (मूर्ति) विम्ब (यात्रया) यात्रा करने से (हि) निश्चय से (मत्पादौ) मेरे पाँव (धन्यौ) धन्य हो गये । (अद्य) आज (त्वत्पादाब्जयोः) तुम्हारे चरणकमलों में (प्रणमत्) प्रणाम-नमस्कार करते हुए (मे) मेरा (स्वशिरो) अपना मस्तक (सफलम्) सफल हुआ ।

भावार्थ—हे जिनेश्वर ! आपके विम्ब की यात्रा करने से अर्थात् रथोत्सव में चलने

से मेरे दोनों चरण-पाँव आज सार्थक हुए । अर्थात् पैरों के पाने का फल आज मुझे प्राप्त हुआ । मेरे पैर धन्य हो गये । मस्तक का पाना भी आज ही सफल हुआ क्योंकि आपके चरण-पाँवों का स्पर्श करना ही मस्तक की सफलता है । जो मस्तक श्रीजिनचरणों में नहीं भुक्ता वह शिर नहीं अपितु थोड़ा नारियल समान व्यर्थ है । मैं आज ही मस्तक का धारी हुआ हूँ ॥१३१॥

कृतार्थसद्वचोमेऽद्य प्रभो त्वद्गुणभाषणात् ।

वपुस्ते सेवया पूर्तं मनश्च गुणचिन्तनात् ॥१३२॥

अन्वयार्थ (प्रभो) भो प्रभुवर ! (अद्य) आज (त्वद्गुणभाषणात्) आप के गुणों का बखान करने से (मे) मेरे (सद्वचः) श्रेष्ठ वचन (कृतार्थम्) कृतार्थ हुए, (ते) आपकी (सेवया) सेवा से (वपुः) शरीर (पूर्तं) पवित्र हुआ (च) और (गुणचिन्तनात्) गुणों का चिन्तन करने से (मनः) मन (पूतम्) पवित्र हुआ ॥१३२॥

भावार्थ— हे दीनदयाल, जगदीश्वर ! आज आपके गुणों का चिन्तन करने से मन और गुण कीर्तन करने से मेरी रसना, मेरे वचन सार्थक हो गये ।

भवत्पूजनतो नाथ ! त्रिजगत्पूज्यतापदम् ।

प्राप्यते च पराकीर्तिस्त्वद्गुणस्तवनाद्बुधो ॥१३३॥

अन्वयार्थ— (नाथ !) हे प्रभो ! (भवत्पूजनतः) आपकी पूजा करने से (बुधाः) सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जन (त्रिजगत्) तीनलोक से (पूज्यतापदम्) पूजितपद को (च) और (त्वद्गुणस्तवनात्) आपके गुणों का स्तवन करने वाले (पराकीर्ति) सर्वव्यापी यश को (प्राप्यते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ— हे जिनदेव जो भव्यात्मा भक्तिभाव से आपकी पूजा करता है वह स्वयं आप सदा ही पूज्य हो जाता है । तीनों लोकों से पूजनीय बन जाता है । तथा जो आपके गुणों का गान करता है यश गाता है उसका यश भी त्रिलोकव्यापी हो जाता है । अभिप्राय यह है कि आप अपने भक्तों को अपने समान ही बना लेते हैं । इस प्रकार की शक्ति आप ही में है । पारशमणि लोहे को सुवर्ण बना सकती है, पारशमणि नहीं । चिन्तामणिरत्न चिन्तित पदार्थ दे सकती है, चिन्तामणि नहीं बना सकती है । आप ही एकमात्र अपने आराधक को आराध्य बनाने वाले हैं । अचिन्त्य है प्रभाव आपका भगवन ॥१३३॥

नाथ तैध्रिनमस्कारादुच्चैर्गोत्रसुरार्चितम् ।

भक्तेर्दिव्यं वपुःकान्तं लभ्यते भाक्तिकैरिह ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) भो नाथ (ते) आपके (अग्निनमस्कारात्) चरणों में नमस्कार करने से (भाक्तिकैः) भक्तों द्वारा (इह) यहाँ (सुराचितम्) देवों से पूजित (उच्चैः) उत्तम (गोत्रम्) गोत्र तथा (भक्तेः) भक्ति करने से (दिव्यम्) शोभनीय (कान्तम्) कान्तियुक्त (वपुः) शरीर (लभ्यते) प्राप्त किया जाता है ।

भावार्थ—हे जिनेश्वर भगवान् ! जो भक्त, श्रद्धा, भक्ति और विनय से आपके पवित्र चरण कमलों में नमस्कार करता है उसे लोकमान्य, देव पूजित उत्तम कुल गोत्र की प्राप्ति होती है । तथा जो भक्त भुङ्क्ते, निष्कपट भक्ति करता है उसे अत्यन्त सुन्दर आकृति वाला कान्तिमान, दिव्यरूपलावण्य युक्त शरीर की प्राप्ति होती है । अभिप्राय यह है कि जिन भगवान् की भक्ति उभयलोक सम्बन्धो सत्सम्पदा प्रदान करती है ॥१३४॥

अनन्तांस्त्वद्गुणानीश तेऽत्रासाधारणान् परान् ।

मुक्त्वा गणाधिपं कोऽन्यः स्तोतुमर्हति सद्बुधः ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(ईशः) हे परमेश्वर ! (त्वद्) आपके (अनन्तान्) अन्तातीत (असाधारणान्) असाधारण (परान्) अन्य-अन्य (गुणान्) गुणों की (स्तोतुम्) स्तुति करने में (गणाधिपम्) गणधर भगवान् को (मुक्त्वा) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः) कौन (सद्बुधः) बुद्धिमान (अर्हति) समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थ—हे जगदीश ! आपके गुण अनन्तातीत हैं । गणधर देव ही उनकी स्तुति करने में समर्थ हो सकते हैं । अन्य बुद्धिमान उन्हें स्तुति का विषय बनाने में समर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि वे गुण असाधारण हैं अर्थात् आपके सिवाय अन्य किसी में भी नहीं पाये जा सकते हैं । फिर भला मैं तुच्छ बुद्धि किस प्रकार स्तुति करने में समर्थ हो सकता हूँ ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१३५॥

मत्त्वेति देव तीर्थेशत्वद्गुणग्राम भाषणे ।

मया स्वल्पधियाप्यस्य कृतोद्यमः तव भक्तितः ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (मत्त्वा) मानकर (देव) भो भगवान् (तीर्थेश !) हे तीर्थप्रवर्तक ! (अद्य) आज (स्वल्पधिया) अल्पबुद्धि (अपि) भी (मया) मेरे द्वारा (त्वद् गुणभाषणे) आपके गुण वर्णन में (तव) आपकी (भक्तितः) भक्ति से (कृतोद्यमः) उद्यम किया गया ।

भावार्थ—हे तीर्थ प्रवर्तक, हे देव आपके गुण अनन्त हैं । मेरी बुद्धि अल्प है । मैं जानता हूँ कि आपके गुणों का एक अंश भी मैं वर्णन नहीं कर सकता । तो भी आज जो मैंने आपकी स्तुति करने का साहस किया है वह आपकी भक्ति का ही प्रभाव है । आपकी प्रबल

भक्ति वश ही आज मैं आपका गुणानुवाद करने के लिए तत्पर हुआ हूँ । यह सब मेरी शक्ति नहीं आपही का प्रभाव है ॥१३६॥

अत्र देव नमस्तुभ्यं, नमस्ते दिव्यमूर्तये ।

नमो मुक्तियङ्गना भर्त्रे, धर्मतीर्थप्रवर्तिने ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ, अब (देव) ओ देव ! (तुभ्यम्) आपके लिए (नमः) नमस्कार है (दिव्यमूर्तये) हे दिव्यमूर्ति (ते) आपको (नमः) नमस्कार हो, (मुक्तियङ्गना) हे मुक्तिरूपी भार्या के (भर्त्रे !) पति ! (धर्मतीर्थप्रवर्तिने !) हे धर्म तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थङ्कर प्रभो ! (नमः) आपको नमस्कार हो ।

भावार्थ हे देवों के देव ! मैं अल्पज्ञ मात्र नमस्कार कर ही आपके गुण समूह का गान कर सकता हूँ अतः हे दिव्यमूर्त आपको नमस्कार हो । मुक्ति कन्या का वरण करने वाले प्रभो आपको नमस्कार है । हे जिनाधीश, हे धर्मेण आप ही धर्मतीर्थकर हैं आपके चरणों में बारम्बार नमस्कार है ॥१३७॥

अहो स्वामिन् जडोलोकस्तावदुःखभवार्यवे ।

यावत् त्वं भक्तिभारेण वीक्षितो न दुःखी नरः ॥१३८॥

अन्वयार्थ (अहो स्वामिन्) हे भगवन् (जडोलोकः) मूर्ख संसारी जन (नरः) मनुष्य (दुःखभवार्यवे) दुःखरूपी संसार में (तावत्) तभी तक (दुःखी) पीडित हैं (यावत्) जब तक (त्वम्) आप (भक्तिभारेण) भक्तिभाव से (न) नहीं (वीक्षितः) देखे गये ।

भावार्थ—हे परमात्मन् ! अहंन् स्वामिन् यह संसार दुःख का भयङ्कर समुद्र है । समस्त अज्ञानी प्राणी इसमें दुःखानुभव कर रहे हैं । इसका कारण आपके दर्शन और भक्ति का अभाव है । जो भक्तिभाव से अपना दर्शन करता है उस संसार जन्य दुःख, ताप, सता नहीं सकता । अतः हे भगवान् जीव तभी तक दुःखी रहता है जब तक भक्तिमात्र से आपका दर्शन नहीं करता ॥१३८॥

आसंसारमतो देव पूतं ते चरणद्वयम् ।

अनन्यशरणीभूतं भूयाम्ने शरणं प्रभो ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(अतः) इसलिए (देव) हे देव ! (आसंसारम्) मुक्ति प्राप्ति पर्यन्त (ते) आपके (पूतम्) पवित्र (अनन्यशरणीभूतम्) अप्रतिमशरण स्वरूप (चरणद्वयम्) दोनों चरण कमल (मे) मेरे लिए (प्रभो) हे प्रभो (शरणम्) शरणरूप (भूयात्) होवें ।

भावार्थ—हे प्रभो, इसीलिए मैं चाहता हूँ कि जब तक मुझे मुक्ति प्राप्ति न हो तब

तक भव-भव में आपके परम पावन, अनन्य शरणरूप दोनों चरणों की शरण प्राप्त होती रहे ।
अर्थात् जैनधर्म और जिनभक्ति ही प्राप्त होती रहे ॥१३६॥

इत्यादिकं महास्तोत्रं पवित्रं शर्मकारणम् ।

कृत्वा जपादिकं नत्वा निर्ययौ जिनमन्दिरात् ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार (पवित्रम्) निर्मल (महास्तोत्रम्) महास्तोत्र (शर्मकारणम्) शान्तिदायक (जपादिकम्) जप आदि (कृत्वा) करके (नत्वा) नमस्कार करके (जिनमन्दिरात्) जिनालय से (निर्ययौ) बाहर निकला ।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार नाना प्रकार परम पवित्र स्तोत्र पढ़कर पुनः पुनः नमस्कार कर जपादि करके श्रीपाल आनन्द से जिनालय से बाहर आया ॥१४०॥

तावत्तत्र समागत्य विद्याधरनरेश्वरः ।

कश्चिज्जगादतं प्रीत्या श्रीपालं परमोदयम् ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(तावत्) जिस समय श्रीपाल मन्दिर से निकला उसी समय (तत्र) वहाँ (कश्चिद्) कोई (विद्याधर नरेश्वरः) विद्याधरों का राजा (समागत्य) आकर (तम्) उस (परमोदयम्) परम उदय को प्राप्त (श्रीपालम्) श्रीपाल को (प्रीत्या) प्रेम से (जगाद) बोला ।

भावार्थ—जिस समय श्रीपाल जिनालय से बाहर आये उसी समय कोई एक विद्याधरों का नृपति वहाँ आया । श्रीपाल को अत्यन्त प्रेम से देखकर निम्न प्रकार बोला कहने लगा ॥१४१॥

शृणु त्वं भो महाभाग रूपनिर्जितमन्मथ ।

अहं विद्याधरो राजा रत्नद्वीपेऽत्र शर्मदे ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(भो महाभाग !) हे महाभाग्यशालिन् (रूपनिर्जित) सौन्दर्य से जीत लिया है (मन्मथ !) कामदेव तुमने (त्वम्) आप (शृणु) सुनिये (अत्र) यहाँ (शर्मदे) शान्तिदायक (रत्नद्वीपे) रत्नद्वीप में (अहम्) मैं (विद्याधरः) विद्याधर (राजा) राजा हूँ ।

भावार्थ—वह अज्ञात व्यक्ति बोला, हे विशिष्ट भाग्यशालिन् ! आपने अपने परम सौन्दर्य से कामदेव को भी जीत लिया है । मैं इस शान्तिदायक रमणीय द्वीप का अधिपति हूँ । विद्याधर राजा हूँ ॥१४२॥

राज्यं करोमि मत्पत्नी मेघमाला गुणोज्ज्वला ।

पुत्रौचित्रविचित्राख्यो समुत्पन्नौ मनः प्रियौ ॥१४३॥

अन्वयार्थ—राजा कहता है इस द्वीप में (राज्यम्) राज (करोमि) करता हूँ (मत्पत्नी) मेरी पत्नी (गुणोज्ज्वला) उत्तम गुणों से निर्मल (मेघमाला) मेघमाला, (मनः प्रियौ) मन मोहक प्रिय (चित्रविचित्राख्यौ) चित्र और विचित्र नाम के (पुत्रौ) दो पुत्र (समुत्पन्नौ) उत्पन्न हुए तथा—

पुत्री मदनमञ्जूषा सर्वलक्षणसंयुता ।

रूपलावण्य सौभाग्यशीलरत्नाकरक्षितिः ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(सर्वलक्षणसंयुता) नारी सुलभ सम्पूर्णा शुभ लक्षणों सहित (रूपलावण्य) सौन्दर्य, आकर्षण (सौभाग्य) सुवासिनी (शीलरत्नाकर क्षितिः) शील, सदाचार आदि की रत्नाकर भूमि सदृश है ।

भावार्थ—हे महाशय ! मैं इस द्वीप में राज्य करता हूँ । अत्यन्त उज्ज्वल गुणों की खान "मेघमाला" नाम की मेरी धर्म पत्नी पटरानी है । उससे उत्पन्न चित्र और विचित्र नाम के दो गुणवन्त पुत्र हैं तथा रूप की राशि, लावण्य से चन्द्र का उपहास करने वाली, सौभाग्य-मण्डित, शील की खान अनेक गुणों की भूमि, मानों गुणरत्नों की सागर हो ऐसी मदनमञ्जूषा नाम की मेरी पुत्री है ॥१४३-१४४॥

एकदाहं महाप्रीत्या ज्ञानसागरयोगिनम् ।

सम्प्रणम्यकृतप्रश्नो भो स्वामिन् मे सुतावरः ॥१४५॥

को भावी त्वं कृपां कृत्वा सुधीर्मेवक्तुमर्हसि ।

ततो जगौयतिश्चैवं भो विद्याधर भूपते ॥१४६॥

अस्मिन् द्वीपे जिनेन्द्राणां सहस्रशिखरान्विते ।

चैत्यालये महावज्रकपाट युगलं दृढम् ॥१४७॥

उद्धादधिष्यति व्यक्तं महाकोटिभटः पुमान् ।

यस्सभर्त्ता सुतायास्ते भविष्यति न संशयः ॥१४८॥ चतुष्कम् ॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैंने राजा (एकदा) एक समय (महाप्रीत्या) अत्यन्त अनुराग से (ज्ञानसागरयोगिनम्) ज्ञानसागर नाम के मुनिराज को (सम्प्रणम्य) सम्यक् प्रकार नमस्कार करके (प्रश्नः) प्रश्न (कृतः) किया, (भो स्वामिन्) हे मुनिवर ! (मे) मेरी (सुता-वरः) कन्या का वर (को) कौन (भावी) होनहार है ? (कृपाम्) दया (कृत्वा) करके (सुधीः)

हे बुद्धिमन् (त्वम्) आप (मे) मुझे (वक्तुम्) कहने को (अर्हसि) समर्थ हैं ? अर्थात् बतायें (ततः) इस प्रकार पूछने पर (यतिः) मुनिराज (एवम्) इस प्रकार (जगौ) कहने लगे (भो) हे (विद्याधरभूपते) विद्याधर नरेश ! (अस्मिन्) इस (द्वीपे) द्वीप में (जिनेन्द्राणाम्) जिनेन्द्रभगवान् के (सहस्रशिखर) एक हजार शिखरों से (अन्विते) युक्त (वैत्यालये) जिनालय में (इदम्) मजबूत (महावज्रकपाट) महावज्र के किवाड़ (युगलम्) युगल को (यः) जो (व्यक्तम्) स्पष्ट (उद्घाटयिष्यति) खोलेगा (सः) वह (महाकोटिभटः) महाकोटिभट (पुमान्) पुरुष (ते) तुम्हारी (सुतायाः) कन्या का (भर्ता) पति (भविष्यति) होगा (न-संशयः) इसमें संशय नहीं ॥१४५ से १४८॥



भावार्थ—वह राजा पुनः श्रीपाल से कहता है, हे महानुभाव सुनिये । एक दिन मैं ज्ञान-सागर नाम के यतिश्वर के दर्शनार्थ गया । वे यतिराज 'व्यक्तनाम तथा बुध' थे । विज्ञान-लोचन के धारी थे । संसार शरीरभोगों से सर्वथा विरक्त आत्मध्यान लीन थे । तो भी करुणा के रत्नाकर, परोपकार परायण थे । मैंने बड़े भक्ति भाव से उनकी पवित्र चरण वन्दना की । नमस्कार कर बैठा । पुनः सविनय नमन कर हाथ जोड़ प्रार्थना की कि हे ज्ञानमूर्ते ! हे योगीश्वर ! मेरी सर्वलक्षण संयुक्त कन्या का पति कौन होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने में आप पूर्ण समर्थ हैं । अतः कृपाकर मेरा सन्देह निवारण करें । आप दया निधान हैं । इस

प्रकार प्रार्थना करने पर मुनिराज ने कहा, हे नरोत्तम ! हे विद्याधर नरेश ! सुनो, आपके द्वीप में सहस्रकूट जिनालय है । यह एक हजार अद्भुत शिखरों वाला जिनमन्दिर वज्रकिवाड़ों से जड़ा है । कोई भी आज तक इन वज्रकिवाड़ों को नहीं खोल सका । अब जो महानुभाव यहाँ आकर इन दोनों किवाड़ों को खोलेगा वही कोटिभट महापुरुष तुम्हारी कन्या का वर होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं है । निश्चित ही वह महाभूट आयेगा ॥१४५ से १४८॥

अथ प्रकृष्ट पुण्येन स त्वञ्चात्र समागतः ।

श्रुत्वाहं सेवकादत्र त्वां दृष्टुञ्च सुधीरितः ॥१४९॥

अन्वयार्थ—मुनिराजकथित (सः) वह महानुभाव (त्वम्) आप (अद्य) आज (प्रकृष्ट) महान (पुण्येन) पुण्य से (अत्र) यहाँ (समागतः) आये पधारे हैं (इति) इस प्रकार

(सेवकात्) अपने सेवक से (श्रुत्वा) सुनकर (अहम्) मैं (सुधोः) हे बुद्धिशालिन् (त्वाम्) आपको (दृष्टुम्) देखने के लिए (अत्र) यहाँ (इरितः) आने को प्रेरित हुआ हूँ ।

भावार्थ—राजा कहता है, आज हमारे महान् पुण्य योग से आप यहाँ पधारे हैं । यह समाचार मुझे प्राप्त हुआ । जिस दिन मुनिराज की भविष्यवाणी हुयी उसी दिन से मैंने यहाँ द्वार पर सेवक नियुक्त कर दिये थे, कि “जो महापुरुष इन सुद्ध दोनों किवाड़ों को खोले, उसी समय तुम मेरे पास आकर यह शुभ समाचार दे देना ।” तदनुसार अपने सेवक से यह मङ्गलमय समाचार ज्ञात कर आपके दर्शनों को दौडकर आया हूँ । आपको देखकर मुझे अपार हर्ष है । मैं शुभ पुण्याधिकारी हूँ ऐसा मानता हूँ । हे बुद्धिमन् आपको पाकर मुझे परमानन्द हुआ है ॥१४६॥

अतो मन्दिरमागत्य मदीयं पुण्यपावनम् ।

परिणय सुतां मे त्वं सत्यंकुरु मुनेर्वचः ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(अतो) इसलिये (त्वम्) आप (पुण्यपावनम्) पवित्रपुण्य रूप (मदीयं) मेरे (मन्दिरम्) घर को (आगत्य) आकर (मे) मेरी (सुताम्) पुत्री को (परिणय) विवाहो, तथा (मुनेः) गुरुवचन को (सत्यम्) सत्य (कुरु) करो ।

भावार्थ विद्याधर भूपति ने श्रीपाल से प्रार्थना की “हे महानुभाव मेरे घर में पधारिये । परमपवित्र मेरा आंगन आपके योग्य है । कृपाकर मेरी मुरूपा गुणवती कन्या को वरण करिये । आपके इस कार्य से मुनिराज के वचन सत्य प्रमाणित होंगे । अतः आप मेरे साथ पधार कर मुनिराज की भविष्यवाणी को सत्य करें ॥१५०॥

इत्याकर्ण्यवचस्तस्य विनयेन समन्वितम् ।

श्रीपालस्तु जगादोच्चैरेवमस्तु तदा मुदा ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (विनयेन) नम्रतापूर्ण विनय से (समन्वितम्) युक्त (तस्य) उस राजा के (वचः) वचन (आकर्ण्य) सुनकर (श्रीपालः) श्रीपाल कोटिभट (तु) निश्चय से (तदा) तब (मुदा) हर्षित हो (उच्चैः) स्वाभिमान से (जगादः) बोला (एवम्) इसी प्रकार (अस्तु) हो । अर्थात् चलता हूँ ।

भावार्थ—उस नराधिप के विनय से संयुक्त वचनों को सुनकर श्रीपाल कोटिभट ने भी स्वीकृति रूप में कहा “ऐसा ही हो” अर्थात् मैं आपके साथ चलता हूँ । आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा ॥१५१॥

ततो विद्याधरो राजा सन्तुष्टो मानसे तराम् ।

श्रीपालं गृह्यानीय गुणरत्नविभूषितम् ॥१५२॥

शुभे लगने दिने रम्ये महोत्सवशतैरपि ।

विवाह विधिना तस्मै श्रीपालाय सुतां ददौ ॥१५३॥

अन्वयार्थ (ततो) तब (तराम्) अत्यन्त (मानसे) मन में (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट हुए (विद्याधरराजा) विद्याधर भूपाल ने (गुणरत्नविभूषितम्) गुणरूपीरत्नों से विभूषित (श्रीपालम्) श्रीपाल कोटीभट्ट को (गृहम्) घर (आनीय) लाकर (शुभे) शुभ (लगने) लग्न में (रम्ये) शोभनीय (दिने) दिन में (शतैः) सैकड़ों (महोत्सवैः) महा उत्सवों के (अपि) भी द्वारा (विवाहविधिना) विवाह की समस्त विधि सहित (तस्मै) उस (श्रीपालाय) श्रीपाल के लिए (सुताम्) अपनी कन्या को (ददौ) प्रदान किया ।



माथार्थ - कोटीभट्ट श्रीपाल को स्वीकृति पाकर उसे अत्यन्त हर्ष हुआ । आनन्दाभिभूत हो उस गुणरूपीरत्नों के सागरश्रीपाल को अपने घर में प्रवेश कराया । हर प्रकार से उसकी पाहुनगति की । सत्कार-पुरस्कार कर अपने को धन्य माना ठीक ही संसार में कन्या के युवती होने पर माता-पिता को जो आकुलता होती है वह भुक्तभोगी ही समझ सकता है । उसका रक्षण करते हुए योग्य अनुकूल वर की खोज करना उन्हें कठिन हो जाता है । आज के युग में तो यह समस्या इतनी जटिल हो गई है कि बेचारे माता-पिता ही नहीं सारा परिवार ही चिन्ताग्रस्त हो जाता है । इस परिस्थिति में स्वयं घर बैठे योग्य वर आ जाने पर कन्या को तात-मात, स्वजनों को हर्षातिरेक होना स्वाभाविक ही है । अस्तु, विद्याधर नरेश्वर ने शीघ्र

ज्योतिषियों को बुलाकर मुहूर्त निकालने की आज्ञा दी । तदनुसार उत्तम लग्न, श्रेष्ठ दिन और पावन घड़ी में सैकड़ों नृत्य, गीत, वादित्र, संगीतादि उत्सवों के साथ-विपुल वैभव पूर्वक अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्यारत्न का, अशेष विवाह संस्कार विधि पूर्वक श्रीपाल के साथ कर दिया । यह पाणिग्रहण संस्कार आज के युवकों को महत्वपूर्ण प्रेरणा देता है । इस समय कोटीभट्ट श्रीपाल के पास तन पर वस्त्र छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं था । बर्रर राजाओं से प्राप्त सम्पदा को भी वहीं वितरण कर दिया था । इस अवस्था में भी राजकन्या के पिता से कोई प्रकार की "वरदक्षिणा" की याचना नहीं की । दहेज नहीं मांगा । उसे अपने बल पुरुषार्थ और भाग्य पर अटल विश्वास था । वह जानता था कि संसार में किसी से किसी भी प्रकार

की लघु से लघु वस्तु की याचना मनीषियों के लिए लज्जा का विषय है । मांगने और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है अपितु मांगना मृत्यु से भी अधिक नोच है खोटी है । लोक व्यवहार में भी नीतिकार कहते हैं "हे मन वे नर भर गये जो भर मांगन जाय ।" अतः हमारे समाज के थोड़े धन के अभिमानी और युवक समाज को इस रहस्य को समझने की चेष्टाकर नारी जाति पर किये जाने वाले अत्याचारों का निराकरण करना चाहिए ॥१५२-१५३॥

सतीं मदनमञ्जूषां दिव्यभूषां गुणोज्ज्वलाम् ।

कोमलां कल्पवल्लीव मनोनयनबल्लभाम् ॥१५४॥

नानारत्न सुवर्णादि मणिमुक्ता फलोत्करम् ।

पट्टकूलानि चित्राणि सुवस्त्राणि पुनर्ददौ ॥१५५॥

अन्वयार्थ-- दहेज की मांग नहीं होने पर भी राजा ने अपनी प्रियपुत्री को सब कुछ दिया (दिव्यभूषाम्) दिव्य-मनोहर अलङ्कारों से अलङ्कृत, (गुणोज्ज्वलाम्) गुणरूपी किरणों से प्रकाशित, (कोमलाम्) अत्यन्त सुकुमारी (कल्पवल्लीव) कल्पलता के समान (मनोनयन-बल्लभाम्) मन और नयनों को प्रिय (सतीम्) शीलवती (मदनमञ्जूषाम्) मदनमञ्जूषा को (नानारत्न) अनेकों रत्न, जवाहिरात (सुवर्णादि) सुवर्ण के (मणिमुक्ताफलोत्करम्) मणि, मुक्ताफलों से जटल आभूषण तथा (पट्टकूलानि) सुवर्णादि के वस्त्र, रेशमी जड़े वस्त्र (पुनः) फिर और भी (चित्राणि) अनेक प्रकार के (सुवस्त्राणि) पोषाकादि (ददौ) दिये ।

भावार्थ--विद्याधर नरेश्वर ने अपनी पुत्री को कन्यादान में अनेको वस्तुएँ प्रदान की । वह सुता दिव्यवस्त्राभूषणों से सजायी गई थी । स्वभाव से ही अनेकों उत्तम गुणों से विभूषित थी, शिरीस कुसुम के समान उसके आङ्गोपाङ्ग सुकोमल थे, वह साक्षात् कल्पलता के समान प्रतीत हो रही थी । उसके अङ्ग-अङ्ग सं रूप, लावण्य, सौन्दर्य की छटा छन-छन कर फूट रही थी । आबालवृद्ध सभी के मन और नयन उस पर न्योछावर हो रहे थे । महासती, विनय, लज्जा और शील से नम्रीभूत थी । इस प्रकार की गुणरत्नों की भूमि स्वरूप उस अपनी पुत्री को राजा ने अनेकों उत्तम रत्न, रत्नजटित सुवर्ण के वस्त्राभूषण, मणिमुक्ताफलों से जटित अनेकों हार, शृंगार के साधन पदार्थ भेंट किये अनेकों प्रकार के बहुमूल्य पदार्थ भेंट में दिये ॥१५४-१५५॥ और क्या-क्या दिया

दासीदासगजाश्वादि समूहं गुणशालिने ।

चन्दनागरुकर्पूर सारवस्तुशतानि च ॥१५६॥

तथा सन्तुष्टचित्तस्सन सुविद्या बन्ध मोचिनीम् ।

परशस्त्रहरांविद्यां ददातिस्म जगद्धिताम् ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(गुणशालिने) उस मुण्ड श्रीपाल के लिए (दासीदासगजाः) दासियाँ, सेवक, अनेक हाथी (अश्वदि) घोड़े आदि का (समूहम्) समूह, (चन्दनागुरु कर्पूरदि) चन्दन, अगुरु, कपूर आदि सुवासित (गतानि) सैकड़ों (सारवस्तुनि) उत्तमोत्तम वस्तुएँ (च) और (सन्तुष्टचित्तसन्) प्रसन्नचित्त हुए उस राजा ने (बन्धमोचिनीम्) बन्धनमुक्त करने वाली (मुविद्याम्) उत्तम विद्या (तथा) एवं (जगद्धिताम्) जगतहितकारी (परशस्त्र-हराम्) दूसरे के शस्त्रों को हरने वाली (विद्याम्) विद्या (ददातिस्म) प्रदान की ।

भावार्थ—उस राजा ने अपनी पुत्री और जवाई को अनेकों सेविकाएँ—सेवक दिये । गज और घोड़ों के समूह प्रदान किये गुणीजनों पर किसको प्रीति नहीं होती ? सभी का अनु-राग हो जाता है । फिर अब तो दम्माद हो गये श्रीपाल जो, फिर क्यों न भेट करता ? यही नहीं प्रसन्नचित्त है, सन्तुष्ट भूपति ने अगर, तगर, चन्दन, कर्पूर आदि अनेकों प्रकार की सुगन्धित पदार्थ दिये । साथ ही “बन्धविमोचिनी” नाम की विद्या प्रदान की । इस विद्या के प्रभाव से कोई शत्रु कितने ही कठोर बन्धन में क्यों न डाल दे, शीघ्र ही बन्धन खूल जाय । सर्वहित करने वाली “परशस्त्रहारिणी” विद्या भी उसे प्रदान की । इस प्रकार अतुल वैभव के साथ कन्यादान किया । यह सब कुछ राजा ने स्वयं स्वेच्छा से आनन्द से प्रदान की । कोई विवशता या बलात्कार से नहीं दी । देने वालों को देकर उत्साह और आनन्द हो वही दान सार्थक है ॥१५६-१५७॥

सत्यं धर्मवतां पुंसां जिनधर्मप्रसादतः ।

सम्भवन्ति तदा सर्व सम्पदः शर्मदा मुदा ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) सत्य ही (धर्मवतांपुंसाम्) धर्मात्मापुंशों को (जिनधर्म-प्रसादतः) जिनधर्म के प्रभाव से (तदा) उस धर्मसेवन काल में (मुदा) प्रसन्न हो (सर्व-सम्पदः) सम्पूर्ण विभूतियाँ (सम्भवन्ति) उत्पन्न हो जाती हैं ।

भावार्थ—जैनधर्म विश्व में अद्भुत और श्रेष्ठतम धर्म है । जो भव्य इसका पालन धारण करता है उसे अनायास ही सम्पूर्ण सम्पदाएँ प्रसन्न होकर स्वयं आ घेरती हैं । अनायास सुख सामग्रियाँ प्राप्त हो जाती हैं । तीन लोक की विभूति उसके चरणों की दासी बन जाती है ॥१५८॥

श्रीपालोऽपि स्वपुण्येन समादाय स्वकामिनीम् ।

महाविभूति संयुक्तः श्रेष्ठिनः पार्श्वमाययौ ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(श्रीपालः) श्रीपाल (अपि) भी (स्वपुण्येन) अपने पुण्य से (स्व) अपनी (कामिनीम्) वल्लभा को (समादाय) लेकर (महाविभूति) महान वैभव (संयुक्तः) सहित (श्रेष्ठिनः) धवल सेठ के (पार्श्वम्) पास (आययौ) आया ।

भावार्थ—श्रीपाल कोटिभट आनन्द से विवाह कर अपनी अद्वितीय सुन्दरी परम-शीलवती पत्नी मदनमञ्जूषा को लेकर आया। अतुल वैभव साथ में मिला ही था। सब सामग्री सहित सागरतट पर पहुँचा। वहीं धवल सेठ था। अतः पिता तुल्य उस सेठ के पास सर्वविभूति सहित आया। सज्जन व्यवहार कुशलता का त्याग नहीं करते। तत्त्वज्ञ वैभव पाकर विमूढ नहीं होते। विनय का त्याग नहीं करते। कृतज्ञ जिनधर्म परायण, सिद्धाराधक श्रीपाल भला सेठ का उपकार कैसे भूलता ? नहीं। अतः पिता समान उस सेठ का समादर कर उसे अपना प्राप्त सर्व वैभव दिखलाया ॥१५६॥

एकदा तं प्रियं प्राह मञ्जूषा मदनादिका ।

कति प्रमाणास्ते सन्ति कामिन्यो गुणमण्डिताः ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(एकदा) किसी एक समय (मदनादिका मञ्जूषा) मदनसुन्दरी (तम्) उस अपने (प्रियम्) प्रिय पतिदेव से (प्राह) बोली (ते) आपके (गुणमण्डिताः) गुणों से विभूषित (कामिन्यः) पत्नियाँ (कतिप्रमाणा) कितनी संख्या में (सन्ति) हैं।

श्रीपाल अपनी कामिनी मदनमञ्जूषा को पाकर विषय भोगों में अनुरक्त हो गया। उसके अपने से दिन की रातें बीतने लगी। किन्तु मोहान्ध नहीं हुआ। धर्म ध्यान और तत्त्व चर्चा एवं धर्मकथाएँ उसके परम मित्र समान स्मृति में थे। अर्थात् धर्मध्यान पूर्वक रहने लगे। एक दिन उसकी प्रिया ने प्रश्न किया—

भावार्थ—एक दिन विनोद करते हुए मदनमञ्जूषा ने अपने प्राणवल्लभ से पूछा। हे नाथ मुझ से अतिरिक्त गुणविभूषिता कितनी प्रिया हैं ? पति के मन की चाह लेना नारी का सहज स्वभाव है। अतः यह स्वाभाविक प्रश्न किया ॥१६०॥ तथा और भी अपने पति का परिचय जानने की जिज्ञासा व्यक्त की—

अस्ति ते जननी कुत्र सती सद्गुणशालिनी ।

वदत्वं प्रेमतस्सर्वं वृत्तं ते शर्मदायकम् ॥१६१॥

अन्वयार्थ—मदनमञ्जूषा विनम्रता से पूछ रही है, हे देव ! (ते) आपकी (सती) शीलवती (सद्गुणशालिनी) श्रेष्ठ गुण विभूषिता (जननी) मातेश्वरी (कुत्र) कहाँ (अस्ति) है ? कृपया (ते) आपका (शर्मदायकम्) सन्तोष प्रदायक (सर्वम्) सम्पूर्ण (वृत्तम्) चरित्र-परिचय (प्रेमतः) आनन्द से (वद) कहिए।

भावार्थ—मदनमञ्जूषा विनम्र हो अपने पतिदेव से उनका जन्म परिचय ज्ञात करने की प्रार्थना करती है। आपकी साध्वी-शीलवती, सद्गुणधारिणी माता जी कहाँ हैं।

आपने किस पुर को अपने जन्म से अलङ्कृत किया है ? आपका वंश, कुल कौनसा है ? राज्य कहाँ है ? यहाँ शुभागमन किस कारण से हुआ इत्यादि सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रेम से काहें । मेरे प्रश्न पर कोप न करें । सरलता से मैं अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिए पूछ रही हूँ । अतः मेरी अभिलाषा पूर्ण करने का कष्ट करें ॥१६१॥

उवाच कामिनी सोऽपि श्रीपालः शृणु सुन्दरि ।

अवन्तिविषये पुर्यामुज्जयिन्यां गुणोज्ज्वले ॥१६२॥

अस्ति मे जननी पूता स्वनाम्ना कमलावती ।

भामिनी राजपुत्री च सती मदनसुन्दरी ॥१६३॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल भूपाल (अपि) भी (कामिनी) प्रिया के प्रति (उवाच) बोले, (सुन्दरि!) भी सुन्दरि! (शृणु) सुनो, (गुणोज्ज्वले) अनेक गुण गौरव से समुज्ज्वल (अवन्तिविषये) अवन्तिदेश में (उज्जयिन्याम्) उज्जयिनी नामकी (पुर्याम्) पुरी में (पूता) पवित्रात्मा (स्वनाम्ना) अपने नाम (कमलावती) कमलावती से विख्यात (मे) मेरी (जननी) जन्मदात्रीसविता (माता) (अस्ति) है (च) और (भामिनी) पत्नि (राजपुत्री) राजकुमारी (सती) शीलशिरोमणि, पतिभक्ति में (परायण) तत्पर (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी (अस्ति) है । तथा और भी अन्य परिवार, साथी जन हैं सुनो—

अङ्गरक्षक शूराश्च शतसप्त प्रमाण मे ।

तथाङ्गविषय चम्पापुर्या चाद्यप्रवर्तते ॥१६४॥

वीरादिदमनो नाम पितृव्यो भूपतिस्तथा ।

जगौ वृत्तान्तकं सर्वं स्वकीयां कामिनीं प्रति ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(च) और (सप्त) सात (शत) सौ (मे) मेरे (प्रमाण) संख्या प्रमाण (मे) मेरे (शूराः) सुभट (अङ्गरक्षकाः) अङ्गरक्षक हैं (तथा) तथा (अद्य) इस समय (अङ्गविषये) अङ्गदेश में (चम्पापुर्याम्) चम्पापुरी में (वीरादिदमनो) वीरदमन (नाम) नामका (पितृव्य) मेरा चाचा (भूपतिः) राजा (प्रवर्तते) शासन कर रहा है (तथा) उसी प्रकार (सर्वं) सम्पूर्ण (वृत्तान्तकम्) चरित्र (स्वकीयाम्) अपनी (कामिनीम्) प्रियवल्लभा के (प्रति) प्रति (जगौ) वर्णित किया ।

भावार्थ—श्रीपाल कोटिभट अपनी अनिष्ट सुन्दरी भार्या से कुछ भी छुपाना नहीं चाहता था । क्योंकि उसकी जिज्ञासा का असमाधान उसकी मनोव्यथा का कारण बन सकता था । उसे उदास देखना कोटिभट को असह्य था । अतएव उसने विस्तार से अपना सकल वृत्तान्त बताना उचित समझा । वह कहने लगा । “हे प्राणवल्लभे ! सुनो, मेरे अत्यन्त शूरवीर

गुणवान सातसी प्रमाण बाँडीगाई अङ्गरक्षक सेवक हैं । तथा अङ्गनामक विशाल, सुरम्य देश है उसमें अत्यन्त मनोहर, धर्म की खान स्वरूपा 'चम्पापुरी' नामकी राजधानी है । इस समय वहाँ मेरा चाचा आनन्द से राज्यशासन सञ्चालन कर रहा है । कारणवश मुझे राज्यच्युत होना पड़ा और अनेक शरीरजन्य दुःखद वेदना सहनी पड़ी । मेरी प्रिया मदनसुन्दरी के सत्प्रयत्न और तीव्र पुण्य से यह मुझे शुभावसर प्राप्त हुआ है । इस प्रकार आद्योपान्त सम्पूर्ण अपनी जीवन गाथा सुनाई । आनन्द पूर्वक कथित वृत्तान्त को जानकर मदन मञ्जूषा का हर्ष और भी अधिक हो गया ॥१६४-१६५॥

साऽपि भर्तुस्समाकर्ण्य सर्वसम्बन्धमुत्तमम् ।

सन्तोषमधिकंप्राप सत्यं भर्ता गुणाकरः ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(सा) वह मदनमञ्जूषा (अपि) भी (भर्तुः) पतिदेव के (उत्तमम्) उत्तम (सर्वसम्बन्धम्) सम्पूर्ण सम्बन्ध को (समाकर्ण्य) सम्यक् प्रकार ज्ञात कर-सुनकर (अधिकम्) अत्यन्त (सन्तोषम्) सन्तोष को (प्राप) प्राप्त किया क्योंकि (सत्यम्) सचमुच ही मेरा (भर्ता) पतिदेव (गुणाकरः) गुणसमुद्र हैं ।

भावार्थ—मदनमञ्जूषा ने अपने पतिदेव का यथार्थ परिचय श्रवण किया । उसे सुनकर तथा यथार्थ कोटिभट जानकर उसे परम सन्तोष हुआ । ठीक ही पातिव्रत धर्म रक्षिका नारियाँ उच्च, कुलीन, गुणवन्त सज्जातीय वर को प्राप्त कर क्यों ना प्रसन्न होती ? अर्थात् होती ही हैं ॥१६६॥

इति विषद् विभूत्या सार कन्यावि रत्नम् ।

परमगुणसमुद्रः श्र्यादिपालो नरेन्द्रः

प्रचुर गुणमुदारं प्राप्तवान् शर्मसारम्,

स जयतु जिनदेवो यस्य धर्म प्रसादत् ॥१६७॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (यस्य) जिसके (धर्मप्रसादात्) धर्मप्रसाद से (परमगुणसमुद्रः) श्रेष्ठगुणों का सागर (श्र्यादिपालः) श्रीपाल (नरेन्द्रः) भूपति ने (शर्म-सारम्) उत्तमशान्ति (प्रचुरगुणम्) अनेकगुण अलङ्कृत (उदारम्) उदार तथा (विषद्) विशाल (विभूत्या) विभूति सहित (सारकन्यारत्नम्) सारभूतकन्यारूपो रत्न को (प्राप्तवान्) प्राप्त किया (सः) वह (जिनदेवः) जिनेन्द्र भगवान् (जयतु) जयनील होंगे ।

भावार्थ—उस परिच्छेद को पूर्ण करते हुए श्री १०८ आचार्य परमेष्ठी सकलकीर्ति जी महाराज सारभूत तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं । साथ ही उस सुख-शान्ति के कारणभूत श्री वीतरागजिनेश्वर प्रभु की आशीर्वादात्मक दंग से स्तुति भी कर रहे हैं । जिनेन्द्रोक्त धर्म ही संसार में सार है । दुःखों का संहारक, सुखों का विधायक और कल्याण का दायक है ।

श्रीमन् श्रीपाल महाराज ने इसी धर्म के प्रसाद से भयङ्कर सङ्कटों को पवन से उड़ाये गये सूखे पत्रों के समान क्षण मात्र में उड़ा दिया । बिना किसी श्रम के बिना उपाय किये ही सारभूत नाना प्रकार की अनेक अपरिमित विभूतियों के साथ कन्यारत्न प्राप्त किया । ससार सुख की खान, अनेक गुण मण्डित, शील धुरंधर, धर्मज्ञा, कुलकमल विकासक अंशुभाली, पतिभक्ता पत्नी को प्राप्त किया, यह सब धर्म का ही माहात्म्य है । आचार्य कहते हैं ऐसा वह जिन राजभगवान् जयवन्त हों जिनके प्रवर्तित धर्म संसार उद्धारक और परमधाम मुक्ति का भी एक मात्र सधक है ॥१६७॥

इति श्रीसिद्धचक्र पूजातिशय समन्वित श्रीपालमहाराज चरिते भट्टारक श्री सकल-
कीर्ति विरचिते श्रीपालमदनमञ्जूषा विवाह व्यावर्णनं नाम चतुर्थः



॥श्रीमत्पञ्चगुह्यो नमः॥

॥अथ पञ्चम परिच्छेदः प्रारभ्यते॥

अथ श्रेष्ठो विधायोच्चैर्व्यापारं तत्र लीलया ।

रत्नद्वीपेषु रत्नाद्यैस्तुसार समुच्चकैः ॥१॥

यानपात्राणि सम्भूत्वा निधानानोच वेगतः ।

स्वदेशं गन्तुकामस्सन् प्रचचाल परिच्छदैः ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) तदनन्तर (श्रेष्ठो) धवलसेठ (रत्नद्वीपेषु) रत्नद्वीपों में (उच्चैः) विशेष रूप से (व्यापारम्) व्यापार (विधाय) करके (तत्र) वहाँ (रत्नाद्यैः) हीरा, माणिक, पन्नादि सारभूत रत्नों से तथा (सारवस्तुसमुच्चकैः) अनेकों उत्तमोत्तम वस्तुओं से (लीलया) आनन्द से (यानपात्राणि) जहाजों को (सम्भूत्वा) भरकर (निधानानि) निधियों के (इव) समान (परिच्छदैः) परिकरों से युक्त हो (स्वदेशम्) अपने देश को (गन्तुकामः) जाने की इच्छा (सन्) करता हुआ (वेगतः) शीघ्रता से (प्रचचालः) चल दिया-रवाना हुआ ।

भावार्थ धवल सेठ ने वहाँ रत्नद्वीप में श्रीपाल के सहयोग से खूब व्यापार किया तथा लाभ उठाया । अनेकों प्रकार के असंख्य रत्नादि से अपने यानपात्र भर लिए । वहाँ की अनेकों उत्तम वस्तुओं का संग्रह किया । आनन्द से अटूट सम्पत्ति को जहाजों पर लाद लिया । अपने सभी साथियों से घर वापिस चलने की इच्छा व्यक्त की । अतः सम्पूर्ण परिकर को लादकर—साथ लेकर शीघ्र ही वहाँ से रवाना हो गया ॥१-२॥

पोतस्थस्सागरे गच्छन् दृष्ट्वा श्रीपालकामिनीम् ।

रूपसौभाग्यसम्पन्नां तिरस्कृतसुराङ्गनाम् ॥३॥

पापी कामातुरश्चित्ते चिन्तयामास दुष्टधीः ।

अहो यस्य गृहे संधानारी धन्यस्स एव हि ॥४॥

अन्वयार्थ—(पोतस्थः) यानपात्र में बंदा (सागरे) समुद्र में (गच्छन्) जाते हुए (रूपसौभाग्यसम्पन्नाम्) रूप लावण्य युक्त (तिरस्कृतसुराङ्गनाम्) देवङ्गनाओं को भी अभिभूत करने वाली (श्रीपालकामिनीम्) श्रीपाल की पत्नी को (दृष्ट्वा) देखकर (पापी) वह पापचारी धवलसेठ (कामातुरः) काम से व्याकुल (दुष्टधीः) दुर्जन (चित्ते) मन में (चिन्तयामास) विचार करने लगा (अहो) आश्चर्य है ! (यस्य) जिसके (गृहे) घर में (ऐसा) इस प्रकार की (नारी) स्त्री है (हि) निश्चय से (सः) वह (एव) ही (धन्यः) धन्य है ।

भावार्थ—सुखपूर्वक समस्त व्यापारी जन जहाजों में सवार हो गये । यानपात्र सागर की लहरों से खिलवार करते हुए जाते थे कि सहसा एक समय उस धवल की दृष्टि, मदन-मञ्जूषा पर जा पड़ी । अवलोकन मात्र से उसकी आँखें उसी के रूप सौन्दर्य में उलझकर रह गई । वह आश्चर्य चकित हो गया । वह देवाङ्गनाओं, अप्सराओं के भी लावण्य को तिरस्कार करने वाली है । इसके समक्ष संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य फीका है । जिसके घर में इस प्रकार की रूपरशिनारी हो उसी का जीवन धन्य है । इस प्रकार वह दुष्टबुद्धि कामवाण से विद्ध हो, विह्वल हो उठा । पापीजन को विवेक कहाँ ? वह महापापी इस प्रकार अनेकों ऊहा-पोह मन ही मन करने लगा । तथा और भी ॥३-४॥ वह सोचता है -

यावन्न प्राप्यते भोक्तुं कान्तारत्नमिदंमया ।

तावत्सर्वं वृथा मेऽत्र सम्पदा जीवजीवितम् ॥५॥

अन्वयार्थ—पापी धवल विचारता है—(यावत्) जब तक (इदं) इस (कान्तारत्नम्) स्त्री रत्न को (मया) मेरे द्वारा (भोक्तुम्) भोगने के लिए (न) नहीं (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है (तावत्) तब तक (अत्र) यहाँ, इस संसार में (मे) मेरा (जीव) जीवन (सम्पदा) सम्पत्ति (जीवितम्) जीवन के साधन (सर्वम्) सब कुछ (वृथा) व्यर्थ हैं ।

भावार्थ—वह दुराचारी विचार करता है कि इस प्रकार की अपूर्व सुन्दरी नारी



यदि मैं नहीं प्राप्त करूँ तो मेरा जीवन व्यर्थ है । इसके साथ भोग करने से ही मेरा जन्म सफल है अन्यथा इस वैभव से क्या प्रयोजन ? इस लश्कर का क्या फल ? इस पर्याय का ही क्या फल । अभिप्राय यह है कि वह सबकुछ समर्पण कर भी इस दुर्लभ नारी रत्न को प्राप्त करने को लालायित हो उठा ॥५॥

सत्यं दुरात्मनश्चित्ते पर वस्तु प्रियं सदा ।

रक्तपा पररक्तस्य पानरक्ता यथा सदा ॥६॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) ठीक ही है (दुरात्मनः) दुर्जनों के (चित्ते) मन में (सदा) निरन्तर (परवस्तु) पराई चीज (प्रियम्) अच्छी लगती है (यथा) जिस प्रकार (रक्तपा) जोंक (सदा) सतत (पररक्तस्य) दूसरे का खून (पानरक्ता) पीने में लीन रहती है ।

भावार्थ—इस श्लोक में धवल सेठ की विकार भावना का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है । उदाहरण भी सर्वविदित रोचक दिया है । निश्चय से तो संसार में अपनी आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ पर ही है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से लोक पद्धति के अनुसार जो जिसका स्वामी कहा या माना जाता है, उसके सिवाय शेष जीवों को वह पर वस्तु है । मालिक को आज्ञा बिना उसे ग्रहण करना चोरी है । महा पाप है । लोक में वह दण्ड का पात्र होता है । दुरात्मबुद्धि विषयान्ध हो जाने से इस दण्ड आदि की परवाह नहीं करता । वह अपनी पाँचों इन्द्रियों का दास होता है । उसकी आँखें, मन बुद्धि, हाथ-पाँव आदि हर समय पर-वस्तु के ग्रहण में लगी रहती हैं । आशा शान्त होती नहीं । विषय सामग्री जिधर दृष्टिगत हुयी कि बस मन वहीं जा अटकता है, मृत्यु की भी चिन्ता नहीं करता । आचार्य कहते हैं स्वभाव के परिवर्तन में कौन समर्थ है ? कोई नहीं । जोंक (एक प्रकार का कोड़ा) स्वभाव से यदि दूध भरे धन में भी लगा दिया जाय तो भी वह उसका रक्तपान ही करेगी । वह सदा दूसरों का खून ही चूसती है । इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, पापी, ब्यसनी सदैव पराई वस्तुओं के ग्रहण में ही लगा रहता है ॥६॥

ततः कामाग्नि सन्तप्तो गृहीतो वा पिशाचकैः

नानाविध विकारोऽभूदुन्मत्त इव पापधी ॥७॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिए (पापधीः) पापी धवलसेठ (कामाग्निः) कामरूपी आग से (सन्तप्तः) जलता हुआ (उन्मत्त) पागल के (इव) समान (वा) अथवा (पिशाचकैः) पिशाच द्वारा (गृहीतो) ग्रस्त हुआ हो, इस प्रकार (नानाविध) अनेक प्रकार से (विकारः) विकार चेष्टा करने वाला (अभूत्) हो गया ।

भावार्थ—श्रीपाल को रमणी-पुत्रवधू सङ्ग सदनमञ्जूषा पर आसक्त उस दुष्ट बुद्धि धवल सेठ की दशा पिशाच, भूत-प्रेत आदि से ग्रसित जन सङ्ग हो गई । वह होश-हवास सब भूल गया । हिताहित बुद्धि नष्ट हो गई । उस पापी की चेष्टा उन्मत्त के समान हो गई । पागल के समान हिताहित भूलकर मात्र उस रूपसुन्दरी के ध्यान में एकाग्र हो गया ।

तथा विधं तमालोक्य दशावस्थाध्वगामिनम् ।

पापिनं मन्त्रिणोपेत्य पप्रच्छ भो वणिकपते ॥८॥

किं ते वपुषि कोऽप्यासीद् दुर्व्याधिरुदरादिजः ।

किं वा हि वेदना तीव्रशिरस्तापादिसंभवा ॥९॥

अन्वयार्थ—(दशावस्थाऽध्वगामिनम्) काम की दशमो अवस्था के मार्ग में आये (पापिनम्) पापी (तम्) उस धवल को (आलोक्य) देखकर (मन्त्रिणः) मन्त्री (उपेत्य) उसके पास आकर (पप्रच्छ) पूछने लगे (भो) हे (वणिकपते) वणिक राजा (ते) आपके (वपुषि) शरीर में (किम्) क्या (कोऽपि) कोई भी (उदरादिजः) पेटादि से उत्पन्न (दुर्व्याधिः) खोटोपीडा (आसीत्) हो गई ? (वा) अथवा (हि) निश्चय से (किम्) क्या कोई (शिरस्तापादिसंभवा) मस्तक की पीडा से उत्पन्न ताप है ? जिससे (तीव्रवेदना) भयङ्कर वेदना है क्या ?

भावार्थ—धवलसेठ की कामानल उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । मदन वेदना से उसकी शक्ति, विवेक सबकुछ नष्ट हो गया । यह काम पिशाच से भी अधिक भयङ्कर है । इसके चङ्गुल में बड़े-बड़े हरि-हर ब्रह्मा विष्णु भी फंस गये, साधारणजन की बात ही क्या है ? सेठ का जीवन दुर्लभ हो गया । काम की दश अवस्थाएँ नीतिकारों ने बतलाई हैं । अन्तिम दशमों दशा में मरणासन्न हो जाता है । उस धवलसेठ की बीमारी ने अन्तिम रूप धारण किया । इस विपरीत अवस्था को देखकर मन्त्रियों को चिन्ता हुयी । वे उसके पास आये । रोग क्या है ? इसका निर्णय करने के लिए उससे पूछा, हे व्यापारियों के अधिपति ! आपको क्या बीमारी है ? क्या उदरशूल है ? अथवा उदर से अन्य कोई अन्य दुर्व्याधि है ? अथवा सिर दर्द है क्या ? या माथे से निकली कोई अन्य असाध्य वेदना है ? यह असह्य कष्ट क्या है ? कृपया बतायें ? क्यों कि तदनुसार औषधि उपचार आदि करने का प्रयत्न किया जाय ॥८-९॥

ततोऽवादीत् स पापात्मा न मे व्याधिर्न वेदना ।

किन्तु श्रीपालकान्तायामासक्तं मन्मनोऽभवत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ततः) मन्त्रियों के पूछने पर (सः) वह (पापात्मा) पापी (आवादीत्) बोला (मे) मुझे (न व्याधिः) न कोई पीडा-रोग है (न वेदना) न ही वेदना ही है (किन्तु) परन्तु (श्रीपालकान्तायाम्) श्रीपाल की प्रिया में (मत्) मेरा (मनः) मन (आसक्तम्) आसक्त (अभवत्) हुआ है ।

भावार्थ—विषयान्ध को न लज्जा रहती है न भय । वह धवल भी इसी प्रकार वेशरम और निडर होकर बोला, मन्त्रिजन हो, मुझे न कोई रोग है, न संताप व पीडा है किन्तु मेरी दुर्दशा का कारण दूसरा ही है । जिस समय मैंने श्रीपाल की अनुपमरूपसुधा स्वरूपा कामिनी को देखा उसी समय से मेरा मन उसमें आसक्त-लीन हो गया है । उसे पाने का ही मात्र रोग-शोक और ताप है ॥१०॥

अस्यास्संयोग दानेन दीयन्तां जीवितं मम ।

अन्यथा मित्र विद्धिदधनेतं मां यममन्दिरम् ॥११॥

अन्वयार्थ—वह दुरात्मा सेठ कहता है—(मित्र) हे मित्र ! (अस्याः) इस कामिनी के (संयोग) सम्बन्ध (दानेन) कराने से (मम) मुझे (जीवितम्) जीवन (दीयन्ताम्) दीजिये (अन्यथा) यदि ऐसा नहीं किया तो (त्वम्) तुम (माम्) मुझको (यममन्दिरम्) मृत्युगृह में (एतम्) गया (विद्धि) जानो ।

भावार्थ—धवल सेठ मन्त्री से प्रार्थना करता है, हे सुहृद सुनों, यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो इस सुन्दरी का शीघ्र संयोग कराने का प्रयत्न करो । इसे भोगने से ही मेरी जीवन यात्रा रह सकेगी अन्यथा निश्चय ही मृत्यु मुख में गया ही मुझे समझो इसके बिना मेरा मरण सुनिश्चित है ॥११॥

तं निशम्य सुधो कोऽपि संजगाद वणिग्वरम् ।

अहो श्रेष्ठिन् महापापं परस्त्री चिन्तनं च यत् ॥१२॥

दुर्गतिर्मानभङ्गश्च धननाशो यशोहतिः ।

परस्त्री सङ्गमेनाशु सम्भवेन्नरकश्रितिः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(तम्) उस सेठ की बात को (निशम्य) सुनकर (कोऽपि) कोई भी एक (वणिग्वरम्) वणिकोत्तम (सुधो) बुद्धिमान (संजगाद) बोला (अहो) हे (श्रेष्ठिन्) सेठ (परस्त्री) पराई स्त्री का (चिन्तनम्) विचार करना (महापापम्) महान् भयंकर पाप है (च) और (यत्) क्योंकि इस (परस्त्री सङ्गमेन) परनारी के सेवन से (आशु) शीघ्र ही (दुर्गतिः) नरकादि गमन (मानभङ्गः) मानहानि (च) और (धन) सम्पत्ति (नाशः) नाश (यशोहतिः) कीर्ति बिनाश (नरकश्रितिः) नरकभूमि (सम्भवेत्) संभव होगी ।

भावार्थ—इस पाप और घृणित बात को सुनकर, उनमें से कोई एक उत्तम, बुद्धि-वन्त, श्रेष्ठ वणिक बोला, हे सेठ, यह तुम्हारा विचार अत्यन्त हेय है पापरूप है । परनारी का विचार मात्र दुर्गति का कारण है । परस्त्री संगम की लालसा निश्चय ही स्वाभिमान, उज्ज्वल-कीर्ति और धन को नाश करने वाली है । तुम अवश्य ही अधोगति-नरकद्वार खोलने के चेष्टा कर रहे हो । तुम्हारी मान हानि तो होगी ही परलोक में नरकों की असह्य वेदना भी सहनी पड़ेगी । यह पाप क्यों विचारा है ? इसे छोड़ो । यह तुम्हारे मोक्ष नहीं । स्वयं को सङ्कट में डालते हो । यह उचित नहीं ॥१२, १३॥

परस्त्रीरजपरागेण बहवो नष्टबुद्धयः ।

बिनाशम्प्रापुर्नौचैः पावके वा पतङ्गकाः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस लोक में (परस्त्रीरजपरागेण) पर नारी के राग से उत्पन्न पाप से (बहवाः) अनेकों (नष्टबुद्धयः) मूर्खजन (उच्चैः) अत्यन्त (विनाशम्) नाश को (प्रापुः) प्राप्त हुए (वा) यथा (पावके) अग्निशिखा में (पतङ्गकाः) पतङ्ग जल कर भस्म होते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार अज्ञानी चक्षुरिन्द्रिय विषय लम्पटी पतङ्ग दीपशिखा पर गिर-गिर कर भस्म हो जाते हैं । उसी प्रकार जड़बुद्धि मनुष्य, परनारीरत होकर नष्ट हो जाते हैं । इसलिए यह विचार आपका उचित नहीं है । आगम में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं ॥१४॥ देखिये—

श्रीमज्जिनागमे शौक्ते प्रुधते वचनं सदा ।

रावणाः कीचकाद्याश्च तद्दोषेण क्षयं गताः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(सदा) हमेशा (श्रीमज्जिनागमे) श्री जिनेन्द्र भगवान के आगम में (प्रोक्तम्) कहे हुए (वचनम्) वचन (श्रूयते) सुने जाते हैं, (तद्दोषेण) उस परस्त्री सङ्गम के दोष से (रावणाः) रावण (च) और (कीचकाश्च) कीचक आदि (क्षयम्) नाश को (गताः) प्राप्त हुए ।

भावार्थ—मित्र कहता है, हे भाई सुनो ! श्री जिनेन्द्रभगवान द्वारा कथित आगम में इस परनारी लम्पटता के कटुफल के अनेकों दृष्टान्त भरे हैं । रोज ही कहे जाते हैं और सुने जाते हैं कि त्रिलोचनशिवपति रावण महाबली, कीचक आदि सोतासती और द्रौपदी महासतियों पर आसक्त होने से नष्ट हो गये । जीवन, धन, यश और जनसर्वरहित होकर दुर्गति में जा पड़े । अतः आप इस दुबुद्धि का त्याग करो । इस महा पाप की पट्ट में फँस कर व्यर्थ जीवन को बरबाद मत करो ॥१५॥ और भी कहते हैं—

अन्येषां का कथायेन नीयते वा पुनर्गजाः ।

कथं संतिष्ठते तत्र वराको मशको ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (यैन) जिस वेग से (गजाः) हाथी (लीयते) ले जाये जायें (तत्र) वहाँ (अन्येषाम्) अन्यो की (कथा) कहानी (का) क्या ? (वराकः) वेचारा (मशकः) मच्छर (ध्रुवम्) निश्चय ही (कथम्) किस प्रकार (संतिष्ठते) स्थिति पा सकता है ?

भावार्थ—नदी में बाढ़ आने पर, या वेग से जलप्रवाह होने पर बड़े-बड़े विशाल दिग्गज यदि बह जायें तो अन्य साधारण जीवों की क्या कथा ? कुछ भा नहीं ! फिर भला वहाँ वेचारा अत्यल्पशक्ति मच्छर किस प्रकार ठहर सकता है ? अभिप्राय यह है कि बड़े-बड़े राजा, महाराजा, पदवीधारी, अथवा साधु महात्मा भी यदि विषयासक्त हो गये तो वे भी जड़मूल से नष्ट हो गये । फिर तुम तो मच्छर के समान हो इस परस्त्री संग की दुराशा के भीषणगर्त

से किस प्रकार बच सकोगे ? नहीं बच सकते , अतः तब अपने नाश का उपायभूत इस पाप-बुद्धि का परित्याग करो ॥१६॥

परस्त्री सङ्गमेऽथैव लभन्ते लम्पटाशशठाः ।

बधबन्धादिकोटिशच नाशं दिव्यकुलात्मनाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(परस्त्री) परनारी (सङ्गमे) सहवास में (लम्पटाः) लम्पटी (शठाः) मूर्खजन (अथैव) इस लोक में ही (कोटिः) करोड़ों (बधबन्धनादि) बध, बन्धन आदि कष्टों को (च) और (दिव्यकुलात्मनाम्) अपने निर्मल कुल के (नाशम्) नाश को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—पराई भार्या को जो लम्पटी, मूर्ख, दुर्बुद्धिजन चाहते हैं । उनके सेवन की इच्छा करते हैं या सेवन करते हैं । उन्हें यहीं इसी पर्याय में करोड़ों यातनाओं को सहना पड़ता है । राजा द्वारा दण्डित होते हैं, बध, बन्धन, च्छेदन भेदन आदि के कष्ट उठाते हैं । समाज द्वारा तिरस्कार पाते हैं । उस स्त्री के कुटुम्बीजनों से भी ठोके-पीटे जाते हैं । हाथ-पैर टूट जाते हैं । सभी के द्वारा निन्दित हो जाते हैं । अविश्वास के पात्र बन जाते हैं । जहाँ जाते हैं वहीं तिरस्कार पाते हैं ॥१७॥

श्रीपालस्सङ्कटेऽपि परोपकृति तत्परः ।

वीराग्रणी रणेयेन मोक्षितस्त्वं च बर्बरात् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(च) और (अपि) भी है (परोपकृतितत्परः) परोपकार करने में उद्यत (वीराग्रणी) सुभटों में प्रथम (श्रीपालः) श्रीपाल है (येन) जिससे (सङ्कटे) सङ्कटाकीर्ण (रणे) संग्राम में (त्वम्) तुम (बर्बरात्) बरबर लुटेरों से (मोक्षितः) छुड़ाये गये (वा) और भी—

भावार्थ—इतना ही नहीं और भी विचारो, वह श्रीपाल महान्त पुरुष है । सदा परोपकार में तत्पर रहता है । जिस समय तुम दस्युओं से घेर लिए गये, तुम्हारा सारा धनोभाल वे ले गये उस समय किसने रक्षा की ? तुम्हारा धन भी छुड़ाया और संग्राम में तुम्हें भी बचाया, विजय करायी । उस उपकारी के साथ बञ्चना करना महापाप है । थोड़ा विचार तो करो । अथवा—॥१८॥ विचार करो—

अस्याऽपि बञ्चने चात्र मत्पापं प्रजायते ।

पूर्वं त्वया सुतोऽयं मे भणितमिति धी धनः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह (धी धनः) बुद्धिधन का धनी श्रीपाल (मे) मेरा (सुतः) पुत्र है (इति) इस प्रकार (त्वया) तुम्हारे द्वारा (पूर्वं) पहले (भणितम्) कहा गया था (च)

और (अत्र) अब (अस्य) इसके (वञ्चने) ठगने पर (मत्पापम्) मुझे पाप (प्रजायते) होगा यह विचार करना चाहिए ॥१६॥

भावार्थ—तुम पहले की बात सोचो, आपने कहा था कि यह बुद्धिवन्त श्रीपाल मेरा बेटा है, अब इसको ठगते हो। इसके साथ वञ्चना करने से मुझे कितना पाप होगा यह क्यों नहीं विचारते हो ? पर वञ्चना महा अधम पाप है ॥१६॥

एषा मदनमञ्जूषा वधूस्तस्मात्कथं ध्रुवम् ।

रमते तस्य कान्ता त्वं लज्जसे किं न पापधीः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(एषा) यह (मदनमञ्जूषा) मदन सुन्दरी (तस्य) उस श्रीपाल की (कान्ता) भार्या, (तस्मात्) इसलिए (ध्रुवम्) निश्चय ही (वधूः) पुत्रवधू हुयी (कथम्) किस प्रकार (पापधीः) दुर्बुद्धि (त्वम्) तुम (रमते) रमने में (किं) क्या (न) नहीं (लज्जसे) लज्जित होते हो ?

भावार्थ—दूसरी बात यह है कि यह मदनमञ्जूषा श्रीपाल की रानी है। इसलिए निश्चय ही तुम्हारी पुत्रवधू है। पुत्र की पत्नी पुत्री सदन होती है। हे पापात्मा तुम उसके साथ रमते लज्जा को प्राप्त क्यों नहीं होते हो ॥२०॥

एष कोटिभटश्चापि मत्वा ते दुष्टचिन्तम् ।

क्षणाद्धैन महाकोपात् क्षयं ते चकरिष्यति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(चापि) और भी सोच लो, (एषः) यह (कोटिभटः) कोटिभट (ते) तुम्हारे (दुष्टचिन्तनम्) इस खोटे विचार को (मत्वा) जातकर (महाकोपात्) भयङ्कर क्रोध से (च) और (क्षणाद्धैन) आधे ही क्षण में (ते) तुम्हारा (क्षयम्) नाश (करिष्यति) करेगा ।

भावार्थ—तुम यह निश्चय समझ लो, यह महावीर कोटिभट है, जिस समय इसे जात होगा कि तुम्हारा इतना नीच विचार है तो वस समझो भयङ्कर क्रोध से निमिष मात्र में तुम्हें यमलोक की राह दिखा देगा। तुम जीवित नहीं रह सकोगे। इसलिए इस प्राण घातक विचार को त्यागना ही श्रेष्ठ है। इस खोटे, पापमय अभिप्राय को छोड़कर जीवन धन और यश की रक्षा करो ॥२१॥

अहो श्रेष्ठिन् महापापीकामसर्पोऽयमुद्धतः ।

त्वया सन्तोषमन्त्रेण जेतव्यः प्राणनाशकः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अहो) हे (श्रेष्ठिन्) सेठ ! (अयम्) यह (महापापी) भयङ्कर पाप स्वरूप (उद्धतः) अवश (कामसर्पः) कामरूपी भुजङ्ग (प्राणनाशकः) प्राणों को हरने वाला (त्वया) तुम्हारे द्वारा (सन्तोषमन्त्रेण) सन्तोषरूपी मन्त्र से (जेतव्यः) जीतना चाहिए ।

भावार्थ—हे वणिक्पति ! सबका सार एक ही है तुम इस निन्द्य विचार को छोड़ो । यह काम भयङ्कर पाप है । महाविषघर है । अत्यन्त मदनोन्मत्त है, दुर्गति का द्वार है, आपत्तियों का निमन्त्रण है । इसे वश करो । इसके जीतने का सरल उपाय है सन्तोष । सन्तोषमन्त्र के द्वारा इसे आधीन कर सकते हो । जिस प्रकार गारुडी, सपेरा मन्त्रविद्या से सद्यप्राणहर भुजङ्ग को भी अपने आधीन कर लेता है और सुखी होता है, उसी प्रकार तुम काम सर्प को सन्तोष मन्त्र से वशी करो ॥२२॥

इत्येवं बोधितश्चापि स श्रेष्ठी पापकर्मणात् ।

न मे ने वचनं तस्य भाविदुर्गतिदुःखभाक् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (भाविदुर्गतिदुःखभाक्) भविष्य में दुर्गति के दुःखों के पात्र (सः) उस (श्रेष्ठी) सेठ ने (पापकर्मणात्) पापकर्म के उदय से (एवं) इस प्रकार (बोधितः) समझाये जाने पर (अपि) भी (तस्य) उस मित्र के (वचनम्) वचनों को (न मे ने) नहीं माना ।

भावार्थ—अनेक प्रकार से उस सेठ को समझाया किन्तु कमलपत्र पर जलबिन्दु समान उसके पापरूप चित्त में कुछ भी असर नहीं हुआ । चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार उसके मन पर मित्र का उपदेश टिक नहीं सका । ठीक ही है दुष्कर्म के प्रभाव से जीव की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । विवेक नष्ट हो जाता है ॥२३॥

ततोऽन्य वणिजं प्राह पापीकामग्रहाहतः

लक्ष द्रव्यं प्रदास्यामि श्रीपालं पातयाम्बुधौ ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ततः) उस सज्जन की शिक्षा न सुनकर पुनः वह (कामग्रहाहतः) काम रूपी ग्रह से ग्रस्त (पापी) पापी सेठ (अन्यवणिजम्) दूसरे वणिक को (प्राह) बोला, (लक्ष-द्रव्यम्) एक लाख द्रव्य (प्रदास्यामि) दूँगा (श्रीपालम्) श्रीपाल को (अम्बुधौ) सागर में (पातय) डाल दो ।

भावार्थ—इस धर्मात्मा वणिक् के समझाने पर भी उस दुराचारी ने अपना हठ नहीं छोड़ा । वल्कि, एक दूसरे अपने समान ही दुरात्मा वणिक् को बुलाया । उससे कहा, मैं तुम्हें एक लाख स्वर्णमुद्रा दूँगा, तुम होशियारी से येन-केन प्रकार इस श्रीपाल को समुद्र में डाल दो । इसके मरने पर मेरा कार्य सुलभ सिद्ध हो जायेगा । वह पापी लोभी था । “लोभ पाप का बाप वक्षाना” लोभी मनुष्य धन के लिए क्या-क्या पाप नहीं करता ? सब कुछ कर सकता है । अतः उस जालची वणिक् ने सेठ का आदेश स्वीकार कर लिया ॥२४॥ तथा उसने -

सोऽपि पापी दुराचारी धनलोभेन सायया ।

उच्छिन्नोऽयं महामत्स्यस्सर्वनाशं करिष्यति ॥२५॥

इति कोलाहलं कृत्वा कारयित्वा परानपि ।

श्रीपालपातनोपायं सञ्चक्रे दुष्टमानसः ॥२६॥

अन्वयार्थ—(पापी) पापकर्मी (दुराचारी) दुष्ट (सः) उस वणिक् ने (अपि) भी (धनलोभेन) धन के लोभ से (मायया) मायाचार पूर्वक, “(अयम्) यह (महामत्स्य) विशालमगरमच्छ (उच्छ्रितः) उछल आया (सर्वनाशम्) सम्पूर्ण विनाश (करिष्यति) करेगा” (इति) इस प्रकार (कोलाहलंकृत्वा) जोर से हल्ला मचाकर (परान्) दूसरों से (अपि) भी (कारयित्वा) करवाकर (दुष्टमानसः) खोटे अभिप्राय से (श्रीपालपातनः) श्रीपाल के सागर में गिराने के (उपायम्) उपाय को (सञ्चक्रे) किया ।

भावार्थ—धवल सेठ के कथनानुसार उस लुब्धक पापी व्यापारी ने उपाय सोच ही लिया । ठीक ही है हेय और असत् कार्यों में स्वयं ही बुद्धि प्रवर्तती है, फिर निमित्त मिला तो क्यों न जाती । उस दुष्ट ने श्रीपाल के मारने के अभिप्राय से मायाचार का जाल फैलाया । रात्रि का सन्नाटा छा गया । सर्वत्र निद्रा की गोद में पड़े नर-नारियों की नाशिकास्वर घर-घर करने लगे । उस समय उस पापात्मा ने असन्ध कोलाहल मचाना प्रारम्भ किया, तथा अन्य साथियों से भी करवाया कि “जहाज में महामत्स्य उछलकर आया है, यह सर्वनाश करेगा ।” संभव है जहाज डूब जायें” आओ, दौड़ो, उठो, भगो के साथ चारों ओर दौड़ा-दौड़ी मच गई । सभी भय से थरथराने लगे । जाने-अनजाने सर्वजन उसी के स्वर में स्वर मिला कर रोने, चिल्लाने कूदने-फाँदने लगे । यान पात्रों में सर्वत्र यह अशुभ किन्तु भूँठा भय का भूत व्याप्त हो गया । उसी समय कोटिभट की निद्राभङ्ग हुयी, वह जागा और वेग से इस अप्रत्याशित घटना का यथार्थ पता लगाने का प्रयास करने लगा । सत्य ही दयालु, परोपकारी महात्मा जन पर की रक्षा में अपने अपाय की चिन्ता नहीं करते । वह सबको धैर्य बंधाता इस सङ्कट के निवारण में जुटा ॥२५, २६॥

श्रीपालस्तु तवाकर्ण्यं तं द्रष्टुं सुभटाग्रणी ।

रज्ज्वास्तम्भोपरि यदा संभटन् जवतो महान् ॥२७॥

रज्जुं छित्त्वा तवा शीघ्रं पातितस्तेन सागरे ।

तादृशस्स पवित्रात्मा किं पातकमतः परम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (सुभटाग्रणी) वीर शिरोमणि (श्रीपालः) श्रीपाल (तु) तो (तं) उस मत्स्य को (द्रष्टुम्) देखने के लिए (महान्) अत्यन्त (जवतः) वेग से (यदा) ज्यों ही (रज्ज्वास्तम्भोपरि) रस्सी के सहारे मस्तूल पर (संभटन्) उछलकर चढ़ने लगा (तदा) उसी समय (तादृशः) वह श्रीपाल (पवित्रात्मा) पावन भाव रखने वाला (सः) वह श्रीपाल (शीघ्रम्) शीघ्र ही (तेन) उस मायाचारी वणिक् द्वारा (रज्जुं) रस्सी को (छित्त्वा) काटकर (सागरे) समुद्र में (पातितः) गिरा दिया गया, (अतः परम्) इससे बढ़कर (पातकम्) पाप (किम्) क्या ?



माध्याह्निक—दुर्जन मकड़ों के समान पर के विनाश के अभिप्राय से अपने ही नाश का जाल स्वयं पूरता रहता है । यही हाल था उस पापी मायावी बणिक का । उसने मायाचारी का अधम कार्य कर ही डाला । दुर्जनों का हृदय गहन तमसाच्छन्न अटवों के समान अज्ञात रहता है उसकी चालें अगम्य होती हैं । उसी के समान मायावी उन्हें समझ सकता है । बेचारा भोला, सरल परिणामी, जिनधर्म परायण, सिद्धभगवन्त के ध्यान का अनुरागी आर्जव धर्म-पालक श्रीपाल भला कहाँ समझ पाता ? निष्कपट, उपकारभावी वह इस कोलाहल को सुनते हो “नमः सिद्धेभ्यः” उच्चारण करता हुआ उठ खड़ा हुआ । वेग से इसका कारण ज्ञात किया, उस महाभस्म के आशय की दिशा का पता लगाने के लिए वेग से सहसा रस्सी पर चढ़कर जहाज के मस्तूल के स्तम्भ पर चढ़ने लगा । उसी समय उस पापाचारी ने बीच ही में रस्सी को काट दिया । बेचारा निरपराध, जिनभक्त दयालु, परोपकारी श्रीपाल एक ही निमिष में सागर की उत्ताल तरङ्गों के साथ आ मिला । अब उसका महामन्त्र स्मरण के साथ सिन्धु के ज्वारभाटों से संग्राम होने लगा । आचार्य कहते हैं अपराधी को अपराध का यथायोग्य दण्ड देना तो किसी प्रकार क्षम्य हो सकता है, महापाप नहीं कहा जाता । किन्तु निरपराध धर्मात्माओं के साथ इस प्रकार अत्याचर करना क्या क्षम्य है ? इससे बढ़कर क्या कोई अन्य पाप हो सकता है ? नहीं हो सकता । यह तो वही हुआ “जिस हांडी में खाया, उसी में छेद कर दिया ।” उस महा मनीषी के सहयोग से करोड़ों का व्यापार कर मालोमाल हुआ, पाँचसौ जहाज अटूट धन से भरे और उसी के प्राण नाश का असफल प्रयत्न किया ॥२७, २८॥ धर्मात्मा धर्म की नौका पर सवार रहते हैं भला सागर को उत्ताल तरङ्गों अपने क्षणिक स्वभाव से उसका क्या बिगाड़ कर सकती हैं ? कुछ नहीं ।

श्रीपालोऽपि सुधीस्तत्र सागरे सम्पतन्नपि ।

स्मरन् पञ्चनमस्कारान् सिद्धचक्रं पुनः पुनः ॥२९॥

निमज्ज्य जलधौ शीघ्रं प्रवाहात् समुच्चलन् ।

जलोपरि स्वपुण्येन सम्प्राप्तः पद्मवत्तराम् ॥३०॥

अवीक्ष्य पोतकं तत्र वञ्चितोऽपि दुराशयैः ।

भुजाभ्यां सन्तरन्तूच्चैस्समुद्रमपि दुस्तरम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(सुधीः) जानी (श्रीपालः) श्रीपाल (तत्र) उस (सागरे) समुद्र में (अपि) भी (सम्पतन्) गिरता हुआ (अपि) भी (पुनः पुनः) बार-बार (पञ्चनमस्कारान्) पञ्चनमस्कारमन्त्र (सिद्धचक्रम्) सिद्धचक्र को (अपि) भी (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (जलधौ) सागर में (निमज्ज्य) डूबकर (शीघ्रम्) शीघ्र ही (प्रवाहात्) जल प्रवाह से (समुच्चलन्) वहता हुआ जाता (स्वपुण्येन) अपने पुण्य से (जलोपरि) जल के ऊपर (पद्मवत्तराम्) कमल जैसा तैरता फलक (सम्प्राप्तः) प्राप्त किया (तत्र) वहाँ (पोतकम्) जहाज को (अवीक्ष्य) नहीं देखकर (दुराशयैः) दुरभिप्राय से (वञ्चितः) ठगा गया (अपि) भी

(दुस्तरम्) कठिनसाध्य तैरना होने पर (अपि) भी (समुद्रम्) सागर को (उच्चैः) वेग से (भुजाभ्याम्) दोनों हाथों से (संतरन्तु) तैरने लगा, तैरूँ ।

भावार्थ — धर्मज मनुष्य सङ्कट के कठोर समय में भी धर्म नहीं छोड़ते । क्योंकि उनका यह जन्मजात संस्कार होता है । विरति में धैर्य रखना सत्पुरुषों का लक्षण है । सागर का उत्ताल तरङ्गों, विकट जन्तुओं से व्याकीर्ण जल प्रवाह में गिराया गया श्रीपाल पञ्चनमस्कार मन्त्र का जाप करना है, सिद्धसमूह का स्मरण करता है । पञ्चगरमेष्ठी का ध्यान करता हुआ ही ज्वार-भाटों में युद्ध करता है । ज्यों ही वह असीम सागर के मध्य पड़ा कि गहरे जलह्वर में डूबा, पुनः उछला जल प्रवाह के साथ चलने लगा । “जाको राखे सांझ्याँ मार सके न कोय ।” जिसका पुण्य प्रबल होता है और दीर्घ आयु रहती है उसे मारने वाला स्वयं मरण की तैयारी करता है । नोतिहारों ने कहा,

“जितने गगन में तारिका, उतने शत्रु हों
कृपा रहे भगवान की, मार सके न कोय ।”

अर्थान् — प्रसङ्गात् शत्रु भी अकेले पुण्य जीव से परास्त हो जाते हैं । श्रीपाल ने फलक का सहारा पकड़ा, कुछ आश्रित हुआ । इधर-उधर नजर दौड़ाई किन्तु सिवाय जलराशि के कुछ भी दृष्टिगत नहीं हुआ । पोल नहीं दिखने पर उसे निर्णय करते देर न लगी । वह समझ



गया, मैं ठगा गया हूँ । किसी षडयन्त्री ने मुझे धोखा दिया है, मैं निश्चय ही वञ्चित हुआ हूँ तो भी मुझे पराक्रम तो करना ही होगा । चलो, अब भुजाओं से ही यह उदधि चोरना है । यद्यपि यह कार्य महा दुःसाध्य था परन्तु अन्य उपाय भी तो नहीं था । वह कोटिभट धर्म की नौका पर सवार था उसे निराशा क्यों होती ? उसकी नाव सुद्ध और निश्छिद्र थी, अर्थात् पवित्र देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धालुपी जहाज उसके पास था उसी का आलम्बन लिया । सिद्धचक्र का ध्यान करता हुआ चलने लगा, बढ़ने लगा, कहाँ, किधर, क्यों जाना है, कब तक तट न मिले । पुण्य का सम्बल लिए

वह निर्भय वीर बढ़ने लगा । जिनभक्ति रसायन से पुष्ट भव्यात्माओं को भय कहाँ ? वह हताश नहीं हुआ, अपूर्व साहसी दोनों भुजाओं से निरन्तर अथाह जलराशि को भेदता बढ़ने लगा । उसे यही कोई अदृश्य शक्ति प्रेरणा दे रही थी कि डरो मत बढ़े जाओ, यह पार करना ही है ॥२६, ३०, ३१॥

तं समुद्रं समुत्तीर्य क्रमेण शुभयोगतः ।

अनेक जन्तु सङ्कीर्णं निर्भयः सुभटाग्रणीः ॥३२॥

द्विधा रत्नत्रयेणोच्चैः भव्याब्जैः पारमुत्तमम् ।

मुनिर्वा स तदा प्राप दलवर्तन पत्तनम् ॥३३॥

संक्षेपार्थः—(वा) तथा (उच्चैः) महान (भव्याब्जैः) भव्यपुण्डरीकों द्वारा (द्विधा) निश्चय-व्यवहार रूप दो प्रकार वाले (रत्नत्रयेण) रत्नत्रय से (उत्तमम्) मुक्तिरूप (पारम्) तट, (वा) अथवा (मुनिः) मुनिराज संसार सागर का पार, (प्राप) पाते हैं (तथा) उसी प्रकार (सः) उस (निर्भयः) निडर (सुभटाग्रणीः) सुभटशिरोमणि ने (शुभयोगतः) शुभ-पुण्य-योग से (क्रमेण) क्रम-क्रम से (तम्) उस (अनेकजन्तुसङ्कीर्णम्) नाना प्रकार के क्रूर जन्तुओं से भरे (समुद्रम्) रत्नाकर को (समुत्तीर्य) पार करके (तदा) तब (दलवर्तनपत्तनम्) दल-वर्तन नाम के रत्नद्वीप को (प्राप) प्राप्त किया ।

सावार्थः—यहाँ श्री पूज्य आचार्य श्री ने संसार को सागर बताया है । सागर में अथाह जल भरा होता है, संसार में प्राणियों की तृष्णा असीम है अतः यही आशारूपी नीर है, सागर का जल खारा होता है, संसार का विषय-वासनाजन्य सुख भी खारे जल की भाँति अतृप्ति और अशान्ति का कारण है । समुद्र में मगरमच्छ, घड़ियाल नक्र-चक्र होते हैं संसार में रोग, शोक, आधि-व्याधि रूपी भयङ्कर जन्तु भरे हैं । विशाल ज्वार-भाटा अपने उदर में जीवों को ले लेते हैं, उसी प्रकार यहाँ मृत्यु और जन्म रूपी ज्वार-भाटे प्राणियों को निगलते-उगलते रहते हैं । सागर में अनेकों रत्न भरे रहते हैं यहाँ भी योगीजन-भव्यजनों को रत्नत्रय रत्नों का पुञ्ज प्राप्त होता है । सुद्ध, छिद्ररहित, तूफानादि रहित नौका से जिस प्रकार सागर को पार किया जा सकता है उसी प्रकार जिनभक्ति की सुद्ध, राग-द्वेषादि के भँकोरों रहित, संयमरूपी यानपात्र से इस संसार उदधि को पार किया जाता है । जिस प्रकार समुद्र में शैवालादि होते हैं जिनमें उलझ कर नौकाएँ डूब जाती हैं उसी प्रकार संसार में पञ्चेन्द्रिय विषयों के शैवाल सदृश जाल में फँसकर दुर्गति के पात्र होते हैं अर्थात् नरकादि दुर्गम दुःखसागर में जा पड़ते हैं । यहाँ श्रीपाल राजा उस भयङ्कर नक्र-चक्रादि से व्याकीर्ण, विशाल सागर में जा पड़ा । जिस प्रकार पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से देव मर्त्यलोक में आ पड़ते हैं । परन्तु श्रीपाल पुण्यशाली महापुरुष इस असह्य विपत्ति से तनिक भी नहीं घबराया, जिस प्रकार संसार भय से भीत योगिराज उपसर्ग परोषहो से चलायमान नहीं होते । उसने पञ्चनमस्कारमन्त्र और सर्व विष-द्विनाशक सिद्धचक्र का ध्यान किया और जुट गया उभय भुजाओं से उस असीम सागर को पार करने में । जिस प्रकार भव्यपुण्डरीक जन व वीतरागी मुनिवर निश्चय और व्यवहार नय के विषयभूत निश्चय एवं व्यवहार रत्नत्रय का अवलम्बन लेकर सागरसागर को निर्भय होकर पार करते हैं, मुक्तिपत्तन को पा लेते हैं उसी प्रकार वह वीर सुभट निर्भीक कायबल और मनोबल का सहारा लेकर क्रमशः बढ़ा चला जा रहा था । पूर्वोपाजित पुण्योदय से शनैः शनैः वह “दलवर्तन” नामक पत्तन द्वीप के निकट जा लगा । उस तट को पाकर उसका एक मास

का श्रम सफल हुआ । धर्म के प्रभाव से क्या नहीं होता ? असंभव भी सम्भव हो जाता है । सिद्धभगवान के ध्यान से योगीजन संसार सागर को पार कर मुक्तिनगर में जा बसते हैं । अनन्त गुणरत्नों के आगार अक्षय अनन्त सुख के पात्र हो जाते हैं, फिर इस सागर को तैर कर पार करना कौन बड़ी चोज है । अटल जिनशासन को भक्ति सकल दुःखों को विनाशक होती है । अनाद्यनिघन महामन्त्र का प्रभाव अचिन्त्य है ॥३२, ३३॥

सत्यं पञ्चनमस्कारः प्रभावः केन वर्ण्यते ।

जलं स्थलायते येन बह्निश्चापि जलायते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) यथार्थ ही (पञ्चनमस्कारः) पञ्चनमस्कार मन्त्र की (प्रभावः) महिमा (केन) किसके द्वारा (वर्ण्यते) वर्णित हो सकती है (येन) जिसके द्वारा (जलम्) जलराशि-समुद्र (स्थलायते) भूमिप्रदेश हो जाता है (च) और (बह्नि) अग्नि (अपि) भी (जलायते) जलरूप परिणम जाती है ।

भावार्थ—महामन्त्र णमोकार की शक्ति अद्भुत है, इसका प्रभाव अचिन्त्य है । जो व्यक्ति शुद्ध मन से इसकी आराधना करता है, जपता है, ध्यान करता है उसके असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं, जल के स्थान में स्थल और अग्नि के स्थान में जल हो जाता है । श्रीपाल को इसी ही मन्त्रराज के प्रभाव से भीषण उदधि स्थल समान हो गया । कृष्ण को ले जाते समय बलदेव जी को यमुना का उत्ताल जलसमूह पक्की रोड़ बन गई । महारानी सती सोता देवी का अग्निकुण्ड सागर जैसा विशाल सरोवर बन गया, कमल प्रफुल्लित हो गये, सिंहासन रच गया । सुदर्शन सेठ को तलवार का बार फूलमाला बन गयी । क्या अपार प्रभाव वर्णित हो सकता है ? ॥३४॥

सिद्धयन्ति सर्वकार्याणि मन्त्रराज प्रसादतः ।

पाप राशिः क्षयं याति भास्करोऽपि सप्तमः ॥३५॥

सिंह व्याघ्रादयः क्रूराः पशवः प्राणहारिणः ।

तेऽपि सर्वप्रशाम्यन्ति त्यक्तवेराः स्वभावतः ॥३६॥

दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्य राज्यसङ्कट रोगजम् ।

भयं श्चाऽपि वशं याति शान्तिस्तम्पयते यतः ॥३७॥

कुक्कुरोऽपि सुरोजातो यत्प्रभावेन भूतले ।

चोरश्चाऽपि दिवं याति प्रसिद्धमिदमद्भुतम् ॥३८॥

राक्षसा व्यन्तरा क्रूरामन्त्रेण तेन सर्वथा ।

मुक्तवेराश्च ते नित्यं सेवां कुर्वन्ति सादराः ॥३९॥

दुर्गतिश्च क्षयं याति मन्त्रराज प्रभावतः ।
 पुन न याति रुष्टे च सतां जन्मनि जन्मनि ॥४०॥
 सद्गतिस्वयमायाति सत्पञ्चत्रिंशदक्षरैः ।
 आकृष्टे च सदा लोकत्रयलक्ष्मी समन्विता ॥४१॥
 इन्द्रनागेन्द्र चक्रयादि पदं शर्मशतप्रदम् ।
 प्राप्यते भो महाभव्यास्सन्मन्त्रात्परमेष्ठिनाम् ॥४२॥
 मन्त्रोऽयं कल्पवृक्षश्च चिन्तामणिरनुत्तरा ।
 कामधेनुश्च भव्यानां वाञ्छितार्थ स्वरूपिणी ॥४३॥
 माता पिता तथा बन्धुमित्रं मन्त्रोऽयमुत्तमः ।
 ततो भव्येस्समाराध्यस्मुखी दुःखी च सर्वदा ॥४४॥
 अहो श्रीतीर्थनाथस्य जायन्तेऽत्र विभूतयः ।
 सतां सन्मन्त्रमाहात्म्यात् का कथा परसच्छ्रियः ॥४५॥
 किं बहूक्तेन भो भव्या मन्त्रेणैतेन निश्चितम् ।
 क्रमेणभव्यैः सम्प्राप्य स्वर्गं मोक्षश्च शर्मवः ॥४६॥

अन्वयार्थ— (मन्त्रराजप्रसादतः) महामन्त्रराज णमोकार के प्रसाद से (भास्करेण) सूर्य के द्वारा (सत्तमः) घोर अन्धकार (इव) समान (पापराशिः) पापरूपी अन्धकार का समूह (क्षयम्) नष्ट (याति) हो जाता है, तथा (सर्वकार्याणि) सम्पूर्ण कार्य (सिद्ध्यन्ति) सिद्ध हो जाते हैं ॥३५॥ (प्राणहारिणः) प्राण वातक (कूराः) क्रूरहिसक (सिंहव्याघ्रादयः) सिंह, व्याघ्र आदि (पशवः) पशु (अपि) भी (स्वभावतः) स्वभाव से (त्यक्तवैराः) शत्रुभाव त्याग कर (सर्वे) सभी (प्रशाम्यन्ति) शान्तचित्त हो जाते हैं ॥३६॥ (यतः) चूंकि (दुःख-दारिद्र्यदोर्भाग्यराज्यसङ्कटरोगजम्) आधि-व्याधि, दारिद्र्य, दुर्भाग, राज्यविप्लव, आपत्ति, और रोगों से उत्पन्न (भयम्) भय (अपि) भी (वशम्) वश (याति) हो जाता है (च) और (शान्ति) सन्तोष-आनन्द (सम्पद्यते) प्राप्त होता है ॥३७॥ (यत्प्रभावेन) जिस मन्त्रराज के प्रभाव से (कुक्कुरः) कुत्ता (अपि) भी (सुरः) देवता (जातः) हो गया (च) और (भूतले) पृथ्वीपर (अद्भुतम्) आश्चर्य (इदम्) यह (प्रसिद्धम्) प्रख्यात है कि (चौरः) चोर (अपि) भी (दिवम्) स्वर्ग को (याति) जाता है ॥३८॥ (एतेन) इस (मन्त्रेण) मन्त्र प्रभाव से (कूराः) दुष्ट (राक्षसाः) राक्षस (च) और (व्यन्तराः) भूत प्रेतादि (सर्वथा) पूर्णतः (मुक्तवैराः) शत्रुभाव त्याग (नित्यम्) सदा (ते) वे (सादराः) आदर भक्ति से (सेवाम्) सेवा (कुर्वन्ति) करते हैं ॥३९॥ (मन्त्रराजप्रभावतः) पञ्चणमोकार मन्त्र के प्रभाव से (दुर्गतिः) नरकादिगति (क्षयम्) नष्ट (याति) होती है (च) और (सताम्) सज्जनों के पास (रुष्टा) रूठी हुयी (इव) के समान (जन्मनि-जन्मनि) जन्मजन्मान्तर में (पुनः) फिर

(न) नहीं (याति) आती ॥४०॥ (पञ्चविंशदक्षरेः) पैंतीस अक्षरों वाले इस मन्त्र से (आकृष्टा) आकर्षित (इव) सदृश (सन्) होती हुयी (सद्गतिः) उत्तमगति (सदा) हमेशा (त्रयलोकलक्ष्मी) तीन लोक की सम्पदा से (समन्विता) सहित (स्वयम्) अपने आप (आयाति) आजाती है ॥४१॥ (भा) हे (महाभव्याः) महाभव्यजनहो (परमेष्ठिनाम्) पञ्चपरमेष्ठी वाचक (सन्मन्वात्) श्रेष्ठ मन्त्र से (शतशर्मप्रदम्) सैकड़ों सुख शान्ति देने वाला (इन्द्रनागेन्द्र-चक्रयादि) शक्र, धरणेन्द्र चक्रवर्ती, वज्रदेव आदि का (पदम्) पद (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है ॥४२॥ (इह) इस लोक में (भव्यानाम्) भव्यों का (अयम्) यह (मन्त्रः) मन्त्र (कल्पवृक्षः) कल्पवृक्ष (अनुत्तरः) अद्वितीय (चिन्तामणिः) चिन्तामणि रत्न (च) और (वाञ्छितार्थ) इच्छित पदार्थ (स्वरूपिणी) रूपिणी (कामधेनुः) कामधेनु (च) और ॥४३॥ (अयम्) यह (उत्तमः) श्रेष्ठतम (मन्त्रः) मन्त्र (माता पिता) माता पिता (तथा) तथा (बन्धुः) भाई है (ततः) इसलिए (सुखी) सुखी (च) और (दुःखी) दुखी (भव्यैः) भव्यों द्वारा (सर्वदा) हर समय (समाराध्यः) सम्यक् आराधना योग्य है ॥४४॥ (अहो) आश्चर्य (अत्र) लोक में (सताम्) सम्यग्दृष्टि को (सन्मन्त्रमहात्म्यात्) उत्तम मन्त्र के प्रभाव से (श्री तीर्थनाथस्य) श्री तीर्थङ्करभगवान् को (विभूतयः) सम्पत्तियाँ (जम्ब्यन्ते) प्राप्त होती हैं (परः) दूसरी (सच्छिष्यः) सम्पदा की (क) क्या (कथा) कहानी ? ॥४५॥ (भो भव्याः) हे भव्यो ! (बहुः) अधिक (उक्तेन) कहने से (किम्) क्या ? (एतेन) इस (मन्त्रेण) मन्त्र से (निश्चितम्) निश्चय ही (भव्यैः) भव्य (स्वर्गम्) स्वर्ग (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (च) और (कमेण) कम से (शर्मदः) शान्ति-सुख देने वाला (मोक्षः) मोक्ष (प्राप्यन्ते) प्राप्त करते हैं ॥४६॥

भावार्थ—पञ्चपरमेष्ठी वाचक पञ्चनमस्कार मन्त्र लोकोत्तर महिमा और प्रभाव-धारी है । इसके महात्म्य को कौन अल्पज्ञ वर्णन कर सकता है ? कोई भी नहीं । इसके प्रभाव से जल स्थल हो जाता है और अग्नि जलरूप परिणम जाती है । एक समय वर्षाकाल में एक श्रावक गहन अटवी में जा पहुँचा । मार्ग खोजता-खोजता एक नदी के किनारे आया । वर्षा हो जाने से नदी में पूर-बाढ़ आ गई । उसी समय वहाँ एक मौलवी साहब आये और तनिक ध्यानकर नदी में चल दिये । श्रावक (जैन) भौंचक्का सा देखता रहा । उसके पार हो जाने पर पूछा भाई तुम किस प्रकार पार हुए ? मुझे भी किनारे ले जाओ न ? मिथाजी ने पुनः इस पार आकर उसे साथ ले नदी पार कर ली । दोनों ही को लगा कि वे रोड़ पर चल रहे हैं । दूसरे किनारे पर पहुँचने पर उस श्रावक ने उससे पार होने का कारण पूछा, उसने कहा मुझे एक दिगम्बर सन्त ने मन्त्र दिया था और कहा था कि यह मन्त्र असम्भव कार्य को भी संभव करने वाला है तथा दन, पर्वत गुफा मशान सर्वत्र सहायता देने वाला है । मेरे अनेकों कार्य इससे सिद्ध हुए हैं । आज भी इसी के ध्यान से मैं इस घटना को पार कर सका हूँ । उस जैन का आश्चर्य असोम था । पूछा, भाई ! "वह मन्त्र कौनसा है ? मुझे भी बता सकते हो क्या ? उसने सहज स्वभाव से मन्त्र सुना दिया "गमो अरहन्ताणं..... इत्यादि । सेठ जी बोले इसे तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ, मैं ही नहीं मेरे धर के नूहे-बिल्ली भी रटते हैं ।" उस श्रद्धालु ने कहा, हुजूर "आप जानते हैं पर मानते नहीं, मन्त्र-तन्त्र श्रद्धा के विषय हैं न कि कोरी सोता रटन्त के ।" देखिये महामन्त्र से पानी स्थल हो गया । इसी प्रकार श्री रामचन्द्र द्वारा सीता

को अग्नि परीक्षा ली गई । उस समय उस महासती ने इसी परम पावन मन्त्र के प्रभाव से सफलता प्राप्त की । अग्निकुण्ड को शीतल जल भरा सरोवर बना दिया । यही नहीं देवों से पूज्य भी हुयी । इस मन्त्रराज के प्रसाद से सर्व कार्य सिद्ध होते हैं । सुदर्शन मेठ की शूली सिंहासन बन गई । महाशीलवन्ती सोमा के घड़े में स्थित सर्प सुन्दर मुक्ताहार बन गया । इतना ही नहीं इसके प्रभाव से जन्मजन्मान्तर में अर्जित पाप समूह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार रवि के उदय होते ही घोर अन्धकार विलीन हो जाता है । भयङ्कर अटवो निवासी क्रूर हिंसक, दुष्ट सिंह व्याघ्र, भालू आदि पशु भी शान्त हो जाते हैं, स्वभाव से बैर त्याग देते हैं, मित्रवत् सरल हो जाते हैं । प्राणहारी भी सहायक बन जाते हैं । दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य, राज्य विप्लव रोग, शोक जन्य कष्टों का भय नहीं रहता । आकस्मिक घटनाओं का आतङ्क आक्रमण नहीं कर सकता । बल्कि विपत्तियाँ सम्पत्तियाँ हो जाती हैं । दुर्जन सज्जन और शत्रु मित्र हो जाते हैं । इस मन्त्रराज के प्रभाव से वेचारा दुर्गति में पड़ा कुत्ता भी क्षणमात्र में सुन्दर, सुख सम्पन्न देव हो गया । शिशुकले कुत्ते को दयालु जीवन्धर कुमार ने पञ्चनमस्कार मन्त्र सुनाया, जिसे अवधारण कर वह दूसरे स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हो गया । क्या विशाल महिमा है इसकी कि एक नीच चोर भी अन्तर्मुहूर्तमात्र में स्वर्ग में जा बसा । यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । इस मन्त्र द्वारा राक्षस, भूत, व्यन्तर पिशाचादि क्रूर जीव भी दूर भागते हैं, बैर-विरोध छोड़ देते हैं यहीं नहीं सेवक बन कर सेवा करने लगते हैं । भक्त बन जाते हैं । आदर-सत्कार करते हैं । इस मन्त्रराज से दुर्गतिर्या नहीं होती । वे रुष्ट हो जाती हैं । भव-भव भी पास नहीं आती : सद्गति स्वयमेव चली आती हैं । जिस प्रकार मन्त्रवादी इच्छित पदार्थ को आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार तीनों लोकों का वैभव, सुख सामग्री इस मन्त्र के प्रभाव से बिना चाहे, स्वयमेव चली आती है । आचार्य श्री कहते हैं भी भव्यजन हो यह पञ्चपरमेष्ठी वाचक मन्त्र पैंतीस अक्षरों, अठ्ठावन मात्राओं से युक्त है, इसके आराधना से, शुद्ध मन वचन, काय से ध्याने से इन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की सम्पदा सहज ही प्राप्त होती है । सुख-शान्ति का साम्राज्य मिलता है, जो चाहे वह प्राप्त होता है । यह मन्त्र क्या है ? वस्तुतः यह इच्छितदाता कल्पवृक्ष है, कल्पवृक्ष तो जिस कोटि का होता है उसी कोटि को वस्तु देता है यथा 'भूषणाङ्ग' जाति का आभूषण, पानाङ्ग जाति का पेय आदि परन्तु यह तो अकेला ही दशों प्रकार के कल्पवृक्षों के कार्य को कर देने की सामर्थ्य रखता है । यह चिन्तित फलदायी चिन्तामणि रत्न है । यही नहीं जो भक्तिभाव से इसका ध्यान करता है वह बिना चिन्त ही फल पाता है । वाञ्छित फलदायी "कामधेनु" है यह । आचार्य परमेष्ठी परमगुरु आदेश देते हैं कि हे सुखार्थी भव्यजन हो आप निश्चय समझो, यह मन्त्र आत्मरक्षण का पिता, पालनकर्ता भाता, सहायक बन्धु तथा मित्र है अतः सदैव ही भव्यप्राणियों द्वारा दुःख-सुख हर हालत में इसका आराधन करना चाहिए । अहो, इस मन्त्र के प्रभाव से तीर्थङ्कर की विभूति प्राप्त होती है तो फिर अन्य लौकिक सम्पदाओं की क्या कथा ? अधिक क्या कहें इस महामन्त्र के प्रसाद से स्वर्गादि की विभूति तो घास-फूस जैसे बिना ही श्रम के अनायास प्राप्त हो जाती है । परम्परा से मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है जो अचल अक्षय, अव्यय, अखण्ड, अविनाशी अनुपम सुख को खान है । इसके समक्ष स्वर्गादि का वैभव महातुच्छ है क्योंकि वह नश्वर और परिवर्तनशील है । अतः सुखेच्छुओं को निरन्तर इस मन्त्र का स्मरण करते रहना चाहिए । क्योंकि सुखी जनों के सुख की अभिवृद्धि होगी और

दुःखियों का दुःख नष्ट होगा । कारण कि पुण्य सञ्चय और पाप संशय का यह अमोघ मन्त्र है ॥४४, से ४६॥

इति मन्त्र प्रभावेन पत्तनं दलवर्तनम् ।

स श्रीपालो यदा प्राप तदा तत्र महीपतिः ॥४७॥

विख्यातो धनपालाख्यो वनमाला प्रिया सती ।

तयोः पुत्रास्त्रयो जाता विख्यातास्ते स्वपौरुषैः ॥४८॥

मनोहरस्सुतो ज्येष्ठः सुकण्ठश्चापरोमतः

श्रीकण्ठस्तृतीयो ज्ञेयस्त्रयस्ते कुलदीपकाः ॥४९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (मन्त्रप्रभावेन) उस अपराजित मन्त्र के प्रभाव से (यदा) जिस समय (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (दलवर्तनम्) दलवर्तन (पत्तनम्) द्वीप को (प्राप) प्राप्त हुआ (तदा) उस समय (तत्र) वहाँ द्वीप में (विख्यातः) प्रसिद्ध (धनपालः) धनपाल (आख्यः) नामवाला (महीपतिः) राजा (सती) शीलवती (वनमाला) वनमाला (प्रिया) भार्या (तयोः) उन दोनों के (त्रयः) तीन (पुत्राः) पुत्र (जाता) हुए (ते) वे पुत्र (स्व पौरुषैः) अपने पुरुषार्थ (विख्याताः) विख्यात हुए (ज्येष्ठः) बड़ा (सुतः) पुत्र (मनोहरः) (ज्येष्ठः) प्रथम (सुतः) पुत्र (मनोहरः) मनोहर (अपरः) दूसरा (सुकण्ठः) सुकण्ठ (च) और (तृतीयः) तीसरा (श्रीकण्ठः) श्रीकण्ठनाम का (ज्ञेयः) जानना (ते) वे (त्रयः) तीनों (कुलदीपकाः) कुल के प्रदीप (मतः) माने जाते थे ।

भावार्थ—अतीव पुण्य और अपराजित महामन्त्र के प्रभाव से थका मादा श्रीपाल कोटिभट दलवर्तन रत्नद्वीप के किनारे जा लगा । नया जीवन मिला भूख प्यास से क्लान्त अत्यन्त श्रमित तट पर स्थित वृक्ष को सघन छाया में विश्राम हेतु लेट गया । उस समय उस द्वीप का नरेश धनपाल था । उसको प्रिय भार्या का नाम वनमाला था । वे दोनों धर्मात्मा और न्याय-नीति सम्पन्न थे । उनके तीन पुत्र थे । प्रथम-सबसे बड़े बेटे का नाम मनोहर था, दूसरे सुत का नाम सुकण्ठ और तीसरा पुत्र श्रीकण्ठ नाम से विख्यात था । ये तीनों ही यथा नाम तथा गुण थे । क्षत्रियोचित रूप लावण्य, विद्या कला विज्ञान एवं अपने पुरुषार्थ से यशस्वी थे । सर्वत्र प्रसिद्ध थे । तीनों ही कुल प्रकाशक दीपक थे । अर्थात् अपने कुल, वंश परम्परा के संरक्षण में पूर्ण समर्थ थे ।

॥४७, ४८, ४९॥



पुत्री च गुणमालाख्या सञ्जाता स्वगुणान्विता ।

रत्नमालेव पूतात्मा सती सज्जनसंस्तुता ॥५०॥

अन्वयार्थ—(च) और (रत्नमाला) रत्नों की माला (इव) सद्यः (पूतात्मा) पवित्रात्मा (सती) शीलवती (सज्जनसंस्तुता) सत्पुरुषों से प्रशंसित (स्वगुणान्विता) अपने नायों-चित गुणों से सम्पन्न (गुणमाला) गुणमाला (आख्या) नामक (पुत्री) कन्या (सञ्जाता) हुयी थी ।

भावार्थ—उपर्युक्त तीन पुत्रों के अतिरिक्त उस धनपाल भूपाल की एक कन्या हुयी । वह महान सुन्दरी, रूपवती तथैव गुणवती, शीलरूप आभूषण की धारक, रत्नमाला समान सर्वप्रिय, निर्विकार, पवित्र, नारी के गुणरत्नों की खान थी । उसका नाम गुणमाला था । वस्तुतः वह गुणरूपी मणि माणिक्यों से गूँथी माला ही थी । रति और अप्सराओं को तिरस्कृत करती थी । साक्षात् सरस्वती का ही अवतार थी ॥५०॥

एकदा भूपतिस्सोऽपि धनपालस्सुभक्तिः ।

पपृच्छ मुनिमानस्य ज्ञानिनं परमादरात् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(एकदा) किसी एक समय (सः) उस (धनपालः) धनपाल (भूपतिः) राजाने (अपि) भी (भक्तिः) भक्तिपूर्वक (परमादरात्) अत्यन्त विनय से (ज्ञानिनम्) अवधिज्ञानी (मुनिम्) मुनिराज को (आनम्य) नमस्कार कर (पपृच्छ) पूछा ।

भावार्थ—एक दिन उस धनपाल राजा ने अवधिज्ञानी मुनिराज के दर्शन किये । परमभक्ति से विनयपूर्वक नमस्कार किया । तथा इस प्रकार पूछा ॥५१॥

अहो स्वामिन् सुताया मे को वरोऽत्र भविष्यति

तन्निशम्य जगादोच्चैर्मुनिः शृणु महीपते ॥५१॥

योभुजाभ्यां समुत्तीर्य समुद्रञ्चागमिष्यति ।

स ते सुतापतिर्भावी, तत्समाकर्ण्य भुततिः ॥५३॥

तदाप्रभृतिसद्भृत्यान् स्वांस्तमन्वेषणे क्षणात् ।

योजयामास सर्वत्र तदा तत्पुण्य योगतः ॥५४॥

तत्र वृक्षतले संस्थं श्रीपालं श्रमहानये ।

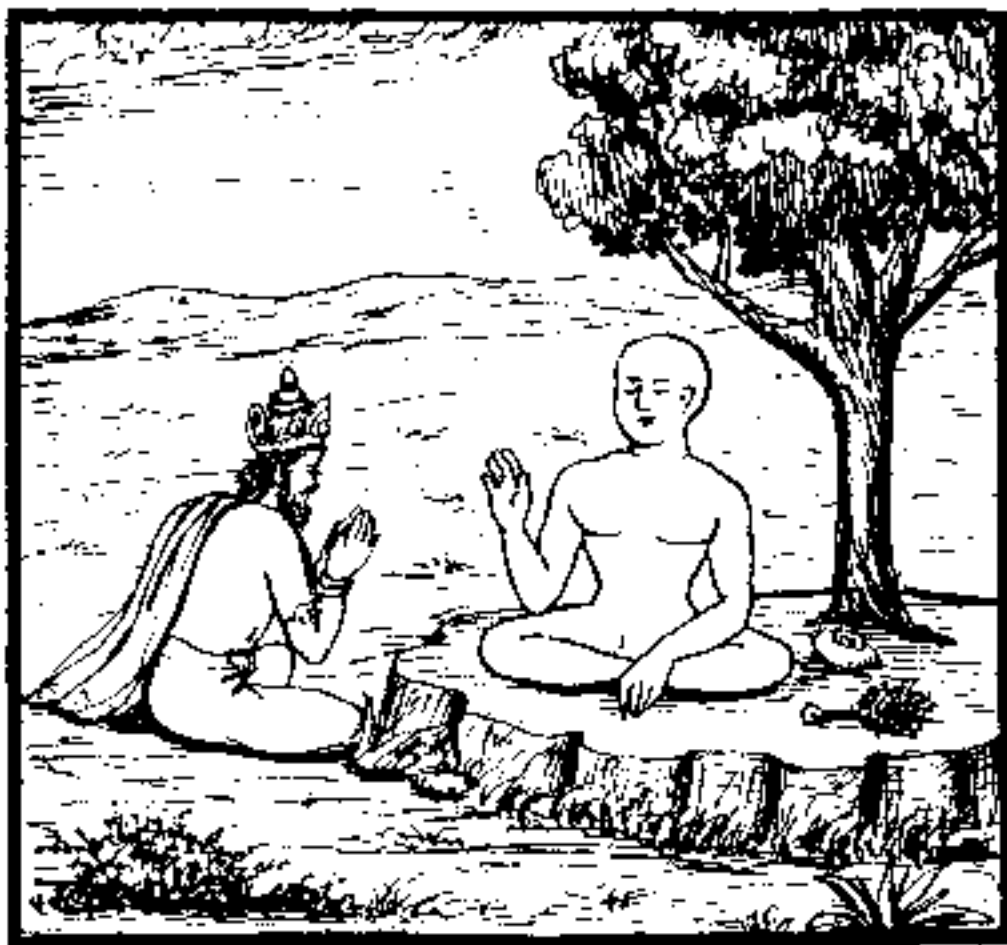
स्थिरच्छायं तमालोदयपादपञ्चाति भक्तिः ॥५५॥

सत्यं स एव पूजात्मा समायातः स्वपुण्यतः ।

मत्वेतिमानशे तुष्टा गत्वा तं भूपतिं जगुः ॥५६॥

अन्वयार्थ—राजा धनपाल मुनिराज से प्रश्न करता है—(अहो) भो (स्वामिन्) गुरु-देव (अत्र) अब (मे) मेरो (सुतायाः) पुत्री का (वरः) पति (कः) कौन (भविष्यति) होगा (तन्निश्चय्य) उसे सुनकर (मुनिः) मुनिमहाराज (उच्चैः) विशेषता से (जगद्) बोले (महीपतेः) हे भूप (श्रणु) सुनो (यो) जो (भूजाभ्याम्) हाथों से (समुद्रम्) सागर को (समुत्तीर्य) तैर कर (च) और (आगमिष्यति) आयेगा (सः) वह (ते) तुम्हारी (सुतापति) पुत्री का पति (भावी) होनहार है (तत्समाकर्ण्य) मुनिबाणी को सुनकर (भूपतिः) राजा ने (तदाप्रभृतिक्षणात्) उसी समय से (तम्) उसे (अन्वेषणे) खोजने में (स्वान्) अपने (सद्-भृत्यान्) श्रेष्ठ नौकरों को (सर्वत्र) सब जगह (योजयामास) नियुक्त कर दिया, (तदा) तब (तत्पुण्ययोगतः) उसके पुण्ययोग से उन्होंने (स्थिरच्छायम्) सघनच्छाया वाले (पादयम्) वृक्ष को (तत्र) वहीं (वृक्षतले) उस वृक्ष के नीचे (अमहानये) थकान दूर करने को (मस्थम्) बिराजे हुए (तम्) उस (श्रीपालम्) श्रीपाल को (आलोक्य) देखकर (च) और (स्वपुण्यतः) अपने पुण्य से (सत्यं) निश्चय ही (स एव) वही (पूतात्मा) पुण्यात्मा (समाधातः) आगया (इति) ऐसा (मत्वा) मानकर (मानसे) मन में (तुष्टाः) संतुष्ट हुए (तम्) उस (भूपतिम्) राजा के पास जाकर (भक्तितः) भक्ति से (जगुः) समाचार कहा ।

भावार्थ—धनपाल राजा अपनी रूपसुन्दरी गुणवती कन्या के पाणिग्रहण का विचार करने लगा । यौवन की देहली पर पदन्यास करती कन्या की कौन माता-पिता अपेक्षा करेंगे ? अस्तु पुण्ययोग से एक दिन महाराजा धनपाल ने अवधिलोचन मुनिराज के दर्शन किये ।



अत्यन्त भक्ति से नमस्कार किया । विनय से तन्म निवेदन किया, हे दयानिधान गुणसिन्धो, कृपया बतलाइये कि “मेरी कन्यारत्न का सुयोग्य वर कौन होगा ?” करुणासागर मुनिराज ने प्रश्न के उत्तर में बतलाया कि हे भूपते ! मुनिये, जो सत्पुरुष, वीराग्रणी अपने पुण्य प्राताप से और भुजबल से समुद्र को तैर कर यहाँ आयेगा वही इस आपकी कन्या का पति होगा । सम्यक्त्वो उस राजा ने गुरुवाणी को अकाट्य, अटल रूप से स्वीकार किया । बिना किसी ऊहा-पोह के उसी समय अपने योग्य, चतुर सेवकों को बुलाया और सागर के तीर पर नियुक्त कर दिया । उसने उनसे कहा “आप पूर्णसावधानी से अर्हनिश देखते रहें कौन व्यक्ति उदधि को भुजाओं से पार कर आता है । इसमें तनिक भी प्रमाद नहीं करना । ऐसा न हो कि आकर अन्यत्र चला जाय अथवा कोई नाव-जहाज से आकर धूर्तता से तैरकर आया हूँ ऐसा कह दे । अतः पूर्ण सतर्कता से अन्वेषण करना । इस प्रकार आदेशानुसार सेवकजन रात्रि-दिवस सावधानी से प्रतीक्षा करने लगे । एक दिन आया । उनका पुरुषार्थ सफल हुआ । खोजते हुए उन लोगों ने एक विशाल, सघन छायादार पादप देखा तथा वहीं थकान दूर करने के लिए उस वृक्ष के नीचे स्वस्थचित्त विराजे श्रीपाल को भी देखा । उनके हर्ष का ठिकाना न रहा । आनन्द से रोमाञ्चित हो गये । उन्होंने विचारा “निश्चय ही अपने पुण्य से यह सत्पुरुष वही आपहुँचा है” इस प्रकार पूर्ण निश्चय कर प्रसन्नचित्त वे राजा के पास पहुँचे और भक्ति से नम्रता पूर्वक यह शुभ समाचार अपने स्वामी राजा को सुना दिया ॥५२ से ५६॥

श्रुत्वा तद्धनपालोऽपि स्वयमागत्य भूपतिः ।

तं विलोक्य निधानं वा सन्तुष्टो लक्षणैर्युतम् ॥५७॥

वस्त्राभरणा सन्दोहैस्सुधीस्संमान्यसाबरम् ।

मन्दिरं निजमानीय सर्वलोचन सुन्दरम् ॥५८॥

शुभेलग्ने दिने रम्ये सज्जनैः परिवारितः ।

विवाह विधिना तस्मै ददौ कन्यां गुणोज्ज्वलाम् ॥५९॥

तां सतीं गुणभालाख्यां सर्वाभरण भूषिताम् ।

कोमलां कल्पवल्लीव मनोनयन बल्लभाम् ॥६०॥

महोत्सवशतैः कृत्वा परमानन्द निर्भरः ।

नानारत्न सुवर्णार्चिवाहनौघैस्समन्विताम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस शुभ समाचार को (श्रुत्वा) सुनकर (धनपालः) धनपाल (भूपति) भूपति (अपि) भी (स्वयम्) स्वयं (आगत्य) आकर (लक्षणैर्युतम्) अनेक उत्तम लक्षणों सहित (तम्) उस श्रीपाल को (विलोक्य) देखकर (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट हुआ (वा) मानों (निधानम्) वह खजाना ही मिला, (सुधीः) उस बुद्धिमान राजा ने (वस्त्राभरणासंदोहैः) अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से (संमान्य) सत्कार कर (तम) उस (सर्वलोचनसुन्दरम्) सर्व-

जनों के नयनों को प्रिय लगने वाले श्रीपाल को (सादरम्) आदर सहित (निज) अपने (मन्दिरम्) राजमहल में (आनय) लिवा लाकर (शुभे लगने) शुभलग्न में (रम्ये) महोत्तर-शुभ (दिने) दिन में (सज्जनैः) पुरजन परिजनो से (परिवारितः) समन्वित हो (विधिना) विधिवत् अग्निसाक्षी पूर्वक (गुणोज्ज्वलाम्) उत्तम गुणों से शोभित (सर्वाभरणभूषिताम्) नाना अलङ्कारों से सजी, (कोमलाम्) सुकुमारी (कल्पवल्ली) कल्पलता (इव) समान (मनोनयन) मन और नेत्रों को (वल्लभाम्) प्रिय (सतीम्) साध्वी (गुणमालास्थाम्) गुणमाला नाम वाली (नानारत्न) अनेकों रत्नों (सुवर्णाद्यैः) सुवर्णादि (वाहनीयैः) गज अश्व रथादि के समूहों से (समन्विताम्) सहित (ताम्) उस (कन्याम्) कन्या को (परमानन्दनिर्भरः) परम आनन्द से उल्लसित नरपति ने (महोत्सवशतैः) सैकड़ों महा उत्सव (कृत्वा) करके (तस्मै) उस श्रीपाल को (ददौ) प्रदान की।

भावार्थ—अपने सेवकों को द्वारा प्राप्त समाचार से महीपति धनपाल को बहुत प्रसन्नता हुयी। वह समस्त राज्यकार्य छोड़कर दल-बल सहित स्वयम् उस पुण्यवन्त वीर शिरो-मणि को देखने के लिए चल पड़ा। कुछ ही क्षणों में भूपति सागर तट पर आ पहुँचे। आते क्यों नहीं संसार में योग्य वर की तलाश को दूर-दूर द्वीप, समुद्र अटवी पार कर जाना पड़ता है, वर्षों खोज करना होता है, अनेकों कष्ट और श्रम उठाना पड़ता है, फिर भला घर बैठे ही अनुपम रूप गुण, विद्या, कलाधर स्वयं आ जाय तो उसका स्वागत क्यों न किया जाता। उस अनुपम लावण्य और अनेकों उत्तम राज्योचित चिन्हों से अलंकृत नवयुवक सत्पुरुष को देखते ही राजा के आश्चर्य और कन्या के पुण्योदय का ठिकाना न रहा। वस्तुतः सर्वगुण सम्पन्न योग्य वर पूर्वोपार्जित विशेष पुण्यकर्म का ही फल है। भूपाल ने बड़े ही प्रेम, अनुराग वात्सल्य विनय और आदर से कुशल समाचार पूछा। क्षार जल से क्षत-विक्षत श्रीपाल को स्वच्छ निर्मल, शीतल, मधुर जल से स्नान कराया। उसके योग्य गंध पुष्प, माला, वस्त्र, अलङ्कार, यान-सवारी आदि भेंट की। कण्ठ में रत्नहार धारण कराया। अन्यजनों ने भी विनयभक्ति से उसका भरपूर आदर सम्मान किया। इस समस्त सज्जा-धज्जा, भान-सम्मान से मनीषी श्रीपाल को न विस्मय था न हर्ष और न ही शोक। क्यों तत्त्वविद वैषयिक सुख सामग्री के पाने पर हर्ष और जाने पर विषाद नहीं करते। वे जानते हैं कि ये दोनों ही अवस्था कर्माधीन और क्षणिक हैं। धर्म और आत्मा को छोड़कर कोई भी कुछ भी स्थायी नहीं है। अतः कोटि-भट कर्मोदय समझ इस वातावरण को भी तटस्थभाव से देख रहा था। स्नानादि होने पर नरेश धनपाल ने अपने महल में पधारने का अनुरोध किया। वह भी बालकवत् निचिकारभाव से उसके यहाँ जाने को तैयार हो गया। अत्यन्त टाट-चाट उत्सव, नृत्य, गान, बाजा-गाजा सहित श्रीपाल को नगर प्रवेश कराया जिसकी दृष्टि उस पर पड़ती, वहीं अटक जाती। सभी सत्पुण्यनेत्रों से उसे निहारते। अतः सर्वप्रिय नयनतारा हो गया वह पुण्यभण्डारी श्रीपाल। राजा-रानी को परम सन्तोष हुआ उसे राजमहल में प्रवेश करा कर राजकुमारी ही नहीं समस्त परिजन-पुरजन उन होनहार भावी वर-बधू को शीघ्र ही तद्रूप देखने को लालायित थे। अस्तु, धनपाल राजा ने विद्वान् ज्योतिषियों से निर्णयकर शुभलग्न, शुभदिन और शुभ वातावरण में अपने परिवार जन समूह और पुरजनों से समन्वित हो बड़े ही महोत्सव सहित, समस्त

विवाह विधि आगमानुकूल कराकर, अग्निसाक्षी पूर्वक अपनी गुणगणमण्डित मनोज्ञ कन्या गुग्गुमाला का विवाह श्रीपालकोटिभट के साथ कर दिया । कामदेव और रति सदृश ये दोनों शोभित हुए । धर्मानुकूल विवाह क्रिया समाप्त कर माता-पिता को परमानन्द हुआ । वस्तुतः वह कन्या नागकन्या सदृश सुकुमारी, कल्पलता समान मनोहर, मन और नयनों को हरण करने वाली थी । राजा धनपाल इस प्रकार के वर-वधू संयोग से आनन्दित हो संकड़ा प्रकार के मण्डप, तोरण, ध्वजा, माला, आदि से विशाल विवाहमण्डप सजवाया । कहीं नृत्यशाला, कहीं गायनशाला, कहीं चित्रशाला आदि सजायीं गई थीं । सौभाग्यवती नारियों ने संगीत के साथ नानारत्नचूर्णों से मिश्रित चौक पूरे, रमणीय वादियों की मधुर ध्वनि से मंडप गूँज रहा था । पाठकगण विरद बखान कर रहे थे । जिनालयों को घण्टा, तोरण, ध्वजा, चमर छत्रसिंहासनादि से अलङ्कृत किया गया था । अनेक प्रकार की पूजा, विधि विधान कराये । अनेकों धूपघटों के धुआं से सर्वत्र सुरभि व्याप्त थी । कन्यादान में राजा ने स्वयं की इच्छा से अनेकों रत्न, सुवर्ण, गज, अश्व, रथ, पालकी, दास दासियाँ आदि प्रदान किये । परम हर्ष से कन्या को योग्य सभी सामग्री प्रदान की । गृह वस्त्राभरण आदि की कमी न हो इस प्रकार की वस्तुओं से उसे समन्वित कर विदा किया ॥५७ से ६१॥

तथा महीभुजा तेन श्रीपालः पुण्यसम्बलः ।

सम्प्राप्य परमानन्दं भण्डागारी पदे धृतः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(तथा) कन्या विवाह कर (परमानन्दम्) परम उत्लास को (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (तेन) उस (महीभुजा) महीपति द्वारा (पुण्यसम्बलः) पुण्य ही आधार जिसका ऐसा (श्रीपालः) श्रीपाल (भण्डागारी) भण्डारी के (पदे) पद पर (धृतः) नियुक्त कर दिया गया ।

भावार्थ—अनेकों वस्तु, वास्तव्य, धन, धान्यादि के साथ कन्यादान विधि के अन्तर राजा ने श्रीपाल की योग्यता पुण्य, प्रताप, सदाशीलतादि से प्रभावित हो उसके योग्य भण्डारी-पद पर आसीन किया । इससे राजा को बहुत हर्ष था । उसके आनन्द की सीमा नहीं थी । सर्व-गुण सम्पन्न, वय, रूप, कुल, गुण, ज्ञान, विद्या, कला आदि वर के सभी गुण श्रीपाल कोटिभट में निरवकाश समावे थे । अतः राजा उसे हृदय से चाहने लगा और पूर्ण आश्वस्त हो उसका सम्मान करता ॥६२॥

सत्यं सतां महापुण्यमाहात्म्यं भुवनादिकम् ।

येन भव्याश्च सर्वत्र लभन्ते सर्वं सम्पदम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) ठीक ही है (सतांपुण्यमाहात्म्यम्) सज्जनों की पुण्यमहिमा विचित्र होती है (येन) जिसके प्रभाव से (भव्याः) भव्यजन (सर्वत्र) सब जगह (भुवनादिकम्) घर, मकान महलादि (सर्वसम्पदम्) सर्वसम्पत्तियाँ (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—नीतिज्ञ आचार्य कहते हैं कि महापुरुषों का पुण्य बेजोड़ होता है । पुण्यानु-

बन्धीपुण्य के महात्म्य से भव्यजन जहाँ भी जाते हैं, जिस भी अवस्था में रहते हैं उन्हें भुव-
नादिक सभी वस्तुएं अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं ॥६३॥

एवं स्वपुण्यपाकेन स श्रीपालो गुणोज्ज्वलः ।

राजपुत्रीं समासाद्य भुञ्जन् भोगान्मुखं स्थितः ॥६४॥

कुर्वन् धर्मं जिनेन्द्राणां दानं पूजाव्रतादिकम् ।

यावत्तावत्प्रवक्ष्यामि संजातं तत्र सागरे ॥६५॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (गुणोज्ज्वलः) निर्मल, पवित्र गुणशाली (सः) वह
(श्रीपालः) कोटिभट श्रीपाल (स्वपुण्यपाकेन) अपने पुण्योदय से (राजपुत्रीम्) राज कन्या
को (समासाद्य) पत्नीरूप में प्राप्तकर (भोगान्) इन्द्रियजन्य भोगों को (भुञ्जन्) भोगता
हुआ (जिनेन्द्राणाम्) जिनभगवान द्वारा निरूपित (दानपूजाव्रतादिकम्) दान, पूजा व्रत, जप,
तप आदि (धर्मम्) धर्म को (कुर्वन्) पालन करता हुआ (यावत्) जबकि (मुखम्) मुखपूर्वक
(स्थितः) रहने लगा (तावत्) तब (तत्र) वहाँ (सागरे) समुद्र में (सञ्जातम्) जो कुछ
हुआ उसे अब (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ।

भावार्थ—सांसारिक विकास, पारिवारिक जीवन का सार सुलक्षणा नागी है । कोटि-
भट महाराज श्रीपाल ने अपने महान पुण्य से उत्तम राजपुत्री से विवाह किया । साथ अनेकों
प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त हुई । संसार में मानव को साधारणतः तीन वस्तुओं की आव-
श्यकता होती है आवास, भोजन और वस्त्र, ये तीनों ही उसे अनायास प्राप्त हो गये । कन्या-
रत्न पाकर श्रीपाल महाविवेकी भोगों में आसक्त नहीं हुआ अपितु आत्मशुद्धि के साधनभूत
जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत दान पूजा, व्रत, नियम, जप, सयमादिरूप धर्म को भी यथाविधि
पालन करने लगा । दोनों दम्पति सुखसागर में निमग्न हो रहने लगे । आचार्य कहते हैं पुण्य
और पाप का फल जीव की यहीं प्राप्त हो जाता है । अब उधर सागर में विचरण करते धवल
सेठ के यहाँ यानपात्र में क्या हुआ इसका विवरण करूँगा । पाठक ध्यान दें और देखें दुर्जनता
का परिणाम और धर्म की महिमा ॥६४ ६५ः

समुद्रे पतिते तस्मिन् श्रीपाले गुणशालिनि ।

कैश्चित् दुर्जनकैः सार्द्धं स श्रेष्ठीधवलः खलः ॥६६॥

पापी मायान्वितस्तत्र किं जातमिति सम्ब्रुवन् ।

मायया रोदनं चक्रे शिरो धृत्वा च दुर्जनः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(गुणशालिनि) गुणवान (तस्मिन्) उस (श्रीपाले) श्रीपाल के (समुद्रे)
सागर में (पतिते) गिर जाने पर (स) वह (खलः) दुष्ट (धवलः) धवल (श्रेष्ठी) सेठ
(कैश्चित्) कुछ (दुर्जनकैः) दुर्जनों के (सार्द्धम्) साथ (मायान्वितः) मायाचारी (पापी)

पातकी (तत्र) वहाँ (किं) क्या (जातम्) हुआ (इति) इस प्रकार (संग्रहन्) बार बार बोलता हुआ (च) और (मायया) मायाचारी से (शिरः) मस्तक (धृत्वा) पकड़ कर (रोदनम्) रोना (चक्रे) प्रारम्भ किया ।

भावार्थ—धूर्त धवल सेठ का दाव अचूक हुआ । उसने जाल रचकर धूर्तों द्वारा उस बेचारे, सरलचित्त परोपकारी श्रीपाल को रस्सा कटवा कर गहरे रत्नाकर के मध्य गिरवा दिया । मन ही मन हर्षित था । किन्तु कपटी का मन, वचन, काय की क्रिया भिन्न-भिन्न होती हैं । ऊपरी, मायाचारी से वह दुष्ट धवल नाम से धवल किन्तु भाव से काला “वहाँ क्या हुआ क्या हुआ ? कैसे हुआ ? श्रीपाल कहाँ जा पड़ा ? अब क्या होगा । इत्यादि झूठमूठ चिल्लाता हुआ माथा धुनने लगा । शिर पकड़ कर रोने लगा । मानों वास्तविक दुःख उसे हुआ है । उस गुणज्ञ श्रीपाल के प्रति बनावटी कृतज्ञता दिखाने लगा । चारों ओर सर्वत्र जहाजों में कोलाहल मच गया । हाहाकार होने लगा । नाना प्रकार से लोग श्रीपाल का गुनगान करते-करते रोने लगे । हाय हाय कर उठे । कोई वास्तविक रूप में आँसू बहा रहे थे कोई बनावटी दिखावटी । पर रो सभी रहे थे ॥६६ ६७॥

अब चारों ओर हा हा कार मच गया । श्रीपाल सागर में जा पड़ा । श्रीपाल कोटि-भट गया । इस प्रकार की पीडाकारक ध्वनि मदनमञ्जूषा के कान में पड़ी । सुनकर उसका क्या हुआ । वह सब वृत्तान्त सुनिये । शील की महिमा, शासन देवी देवताओं का आह्वान, उनका चमत्कार पाठक ध्यान से पढ़ें—

श्रीपालः पतितस्सिन्धौ जनकोलाहलं तदा ।

श्रुत्वा मदनमञ्जूषा महादुःख भरा हता ॥६८॥

विद्युत्पातेन बल्लीव पापत किल मूर्च्छिता ।

सखीभिर्जलसेचाद्यै रुदन्ती सोत्थिता तदा ॥६९॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (सिन्धौ) सागर में (श्रीपालः) कोटिभट श्रीपाल (पतितः) गिर गया इस प्रकार (जनकोलाहलम्) लोगों के कोलाहल को (श्रुत्वा) सुनकर (हता) पीडित (महादुःखभरा) अत्यन्त दुःख से व्याकुल (मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा (किल) निश्चय ही (विद्युत्पातेन) वज्रपात से (बल्ली इव) लता समान (मूर्च्छिता) बेहोश (पपात) गिर गई (तदा) तब (सखीभिः) सखियों द्वारा (जलसेचार्थः) जल छीटना, पंखाभलना आदि उपायों द्वारा (सा) वह पतिव्रता (रुदन्ती) रोती विलाप करती (उत्थिता) चेतनायुक्त की गई अर्थात् होश में आई । उठकर पुनः विलाप करने लगी ।

भावार्थ—संसार में शीलवती नारियों का पति ही देवता, रक्षक, पालक, ईश्वर और आराध्य होता है । उसी का दुःख सुख उसका होता है । क्योंकि सौभाग्यमण्डिता महिला ही जगत में मान्य, पूज्य, उत्तम सुखी और सम्पन्न मानी जाती है । पति ही उसकी शोभा है ।

अस्तु जन कोलाहल सुन कर मदनमञ्जूषा को ज्ञात हो गया कि उसका प्राणेश्वर श्रीपाल सागर के अथाह जल में जा गिरा । यह विदित होते ही उसे मानों वज्र प्रहार हुआ । वह



तिलमिला उठी, व्याकुल हो गई । जिस प्रकार बिजली गिरने से लता वृक्ष का आकार छोड़ भूमि में लोट जाती है उसी प्रकार इस आकस्मिक वज्रप्रहार से मदनमञ्जूषा संज्ञाशून्य हो वसुधरा की गोद में जा पड़ी । संसार में माँ की ममता प्रसिद्ध है । माता सच्ची रक्षिका होती है यही समझ कर मानों धरा माँ की अङ्क में अपने असह्य दुःख को समेट छूपना चाहती हो । उसके भूमि पर पड़ते ही नौका में भगदड़ मच गयी ।

यहाँ वसुधा या भूमि से अभिप्राय नाव की ही आधार भूत जगह समझना क्योंकि यह सब कुछ जहाज में ही हो रहा है । इधर-उधर से उसकी सखियाँ, सेविकाएँ दौड़ पड़ीं । कोई शीतल जल सेचन करने लगी, कोई चन्दन, उशीर छिड़कने लगी तो कोई पंखा झलने लगी । इस प्रकार नानाविध उपचार कर शीघ्र ही उसे सचेत कर लिया, किन्तु दुःख तो उद्वेलित हो उठा । मूर्च्छासिखी ने मानों उसे तीव्र दुःख की दाह से बचाने का उपाय किया था । किन्तु इन सखियों ने उसे भगाकर पुनः इसके दुःख को उदीरित कर दिया । परन्तु यह भी है कि दुःख विखर कर फैल जाता है और उसका आघात लघु हो जाता है । इसीलिए उसकी हितैषिणी सखियों ने उसे सचेत किया और वह भी गला फाड़-फाड़ कर अपना सन्ताप वितरण करने लगी ॥६८ ६९॥

हा नाथ क्व गतोसि त्वं मां विहायात्र सागरे ।

चक्रवाकीमि वैयाकिं महाभयशतङ्कुरे ॥७०॥

अन्वयार्थ—वह मदनमञ्जूषा विलखने लगी (हा) हाय (नाथ) हे स्वामिन् (महा-भयशतङ्कुरे) सैकड़ों प्रकार के भयों को उत्पन्न करने वाले (सागरे) समुद्र में (एकाकिम्) अकेली (चक्रवाकी) चक्रवी (इव) के समान (माम्) मुझको (विहाय) छोड़कर (त्वम्) आप (क्व) कहाँ (गतोसि) चले गये हैं ।

भावार्थ—मदनमञ्जूषा का धैर्य बाँध टूट गया । उसका हृदय क्षत-विक्षत हो गया । उसे चारों ओर अन्धकार और भय भासने लगा । वह कहने लगी, हे स्वामिन्, आप कहाँ हैं, हाय हाय मुझे अकेली छोड़कर आप कहाँ गये । यह सागर महा भयङ्कर है । सर्वत्र सैकड़ों भयों से भरा पड़ा है । कहीं कोई रक्षक नहीं । इस दशा में मैं चक्रवा की सदृश एकाकी-अकेली किस प्रकार रह सकूँगी । चक्रवाक् बिना जैसे चक्रवो निराकुल नहीं रह सकती उसी प्रकार आपके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता । हाय हाय अब मैं क्या करूँ ? आप कहाँ हैं, अपना पता तो बताओ आप किधर गये ? ॥७०॥

अहो स्वामिन् क्व तिष्ठामि क्व गच्छामीति साम्प्रतम् ।

यूथभ्रष्टेव सारङ्गी विरहानल वेष्टिता ॥७१॥

हा हा ! स्वामिन् क्व पश्यामि त्वां मे प्राणप्रियं प्रभो ।

नाथ सान्धकारा क्व भूमिश्चनिशा वा चन्द्रवर्जिता ॥७२॥

पद्मानीव गतच्छाया भास्करेण विना भुवि ।

जाताऽहं त्वां विना नाथ पादपेनविनालता ॥७३॥

हा मया मुनिसन्तापः कृतो वा पूर्व जन्मनि ।

तेन पापेन हा नाथ विगोहस्तेऽजनिध्रुवम् ॥७४॥

किं वा कस्याश्च कामिन्या वियोगो विहितो मया ।

मिथ्याभावेन वा दग्धं काननं वह्निना घनम् ॥७५॥

इत्येवं सा प्रकुर्वाणा रोदनं शोक पूरितम् ।

अश्रुपात प्रवाहेण स्नाता वा दुःख सागरे ॥७६॥

अन्वयार्थ—(अहो) हे (स्वामिन्) प्राणाधार (साम्प्रतम्) इस समय (यूथभ्रष्ट) अपने भ्रष्ट से विछुड़ी (सारङ्गी) मृगी (इव) समान (विरहानल) विरह रूपी अग्नि से (वेष्टिता) घिरी मैं (क्व) कहाँ (तिष्ठामि) बैठूँ (क्व) (गच्छामि) कहाँ जाऊँ (इति) इस प्रकार यहाँ (चन्द्रवर्जिता) चाँदरहित (निशा) रात्रि है (वा) अथवा (च) और (सान्धकारा) तमलोम से आच्छादित (भूमि) पृथ्वी है (नाथ) हे स्वामिन् (मे) मेरे (प्राणप्रियम्) प्राणाधार (प्रभो) स्वामिन् (हा हा) हाय हाय (त्वाम्) तुमको (क्व) कहाँ (पश्यामि) देखूँ (नाथ) हे वल्लभ ! (त्वाम्) आपके (विना) बिना (अहम्) मैं (भुवि) संसार में (भास्करेण) सूर्य विना (पद्मानी) कमलों (इव) सदृश (गतच्छाया) मुरझाई, (पादपेन) वृक्ष के (विना) रहित (लता) बल्लरी (इव) समान (जाता) हो गई हूँ । (हा) हे भगवन् (मया) मेरे द्वारा (पूर्वजन्मनि) पूर्वभव में (मुनिसन्तापः) मुनि को सन्तापित किया गया क्या (नाथ) हे नाथ (तेन) उसी (पापेन) पाप से (हा) कष्टपूर्ण (ते) आपका (वियोग) वियोग (ध्रुवम्) निश्चय ही (अजनि) उत्पन्न हुआ है क्या (वा) अथवा (किंवा) क्या (कस्या) किसी (कामिन्याः) कामिनी का (मया) मेरे द्वारा (वियोगः) वियोग (विहितः) कराया गया (किं) क्या (वा) अथवा (मिथ्याभावेन) मिथ्यात्व के उदय से (घनम्) सघन (काननम्) अटवी (वह्निना) अग्नि से (दग्धम्) जलाया गया ? (इति) इस प्रकार (एवं) नाना प्रकार से (शोकपूरितम्) महाशोक से भरा (रोदनम्) रुदन (प्रकुर्वाणा) करती हुयी (सा) वह मदन-मञ्जूषा (अश्रुपातप्रवाणेन) आंसुओं की अविरलधारा प्रवाह से (दुःखसागरे) दुःखरूपी रत्नाकर में (वा) मानों (स्नाता) डूब गई ।

भावार्थ—हृदय द्रावक विलाप करती हुयी मदनमञ्जूषा कुररी की भाँति छट-पटाने लगी । उसके रोदन से मनुष्य ही नहीं पाषाण भी द्रवित हो जाय इतना उग्र था । उसकी अविरल अश्रुधारा पावसकाल की मेघ धारा समान प्रवाहित हो रही थी । कण्ठ सूख गया । नेत्र अरुण हो टेसू के फूल की भाँति फूल गये । गला रुंध गया । वह कहने लगी, हे प्राणवल्लभ आपको कहाँ पाऊँ ? किधर जाऊँ ? कहाँ खोजूँ ? इस समय आपके बिना कहाँ रहूँ ? किस प्रकार जीवन धारण करूँ ? जिस प्रकार भोली मृगी अपने समूह से बिछुड़ कर भयङ्कर अटवी में फँस जाय और चारों ओर उसने अग्नि प्रज्वलित हाँ उठे, उस समय उस बेचारी मृगी को क्या दशा होगी, वही हाल था इस समय इस एकाकी, परिवार कुटुम्ब विहीन पति वियुक्ता मदनमञ्जूषा की । वह विरह रूपी ज्वाला से चारों ओर प्रज्वलित सी हो रही थी । उसके ओठ सूख गये । मुख म्लान हो गया । वह गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने लगी, हाय, हाय अह मैं क्या करूँ ! हे प्राणाधार, प्राणप्रिय स्वामिन् आपको कहाँ देखूँ, किस प्रकार आपका मुदर्शन होगा ! आओ प्रभो, एक बार तो अपना मुखचन्द्र दिखाओ ! क्या इस सघन तमतीम आच्छादित भयावनी काली रात्रि में मुझे एकाकी छोड़ जाना उचित है ? आप महा विज्ञ हैं ! चारों ओर अन्धकार व्याप्त भूमि पर मैं किस प्रकार आपका अनुसरण कर सकती हूँ । जाना ही था तो मुझसे कह तो जाते ! हे नाथ मेरी दशा तो देखो ! और एक बार आकर मेरी दर्दशा का अवलोकन तो करो ? मैं सूर्य बिना कमलों समान छाया विहीन हो गई हूँ, कान्ति-हीन इस शरीर में न जाने प्राण भी क्यों रहना चाहते हैं । हे प्रभो ! हे स्वामिन् आज मैं पादप रहित लता समान असहाय, दुखिया, भिखारिणी हो गई हूँ । नारी का आश्रय एकमात्र पति ही होता है । आपके बिना मैं किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ । रोते-रोते हताश हुयी वह दुर्भाग्य को उलाहना देती है । अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों का चिन्तन करती है । हे भगवन यह वज्रपात क्यों हुआ ? यह असह्य है । क्या मैंने पूर्व जन्म में वीतरागी, निर्दोष, आत्मचिन्तन लीन किन्हीं महा मुनिराज का सन्ताप उपजाया क्या ? हाँ हाँ अवश्य ऐसा ही घोर पाप किया है । मुनि निन्दा से बढ़कर अन्य कोई महापाप नहीं है । हे आराध्य देव, हे प्राणनाथ उसी पाप का यह फल है । निश्चय ही गुरु निन्दा के पाप से ही आपका विद्योभ्रम जन्म यह भीषण सङ्कट आ पड़ा है । अथवा किसी प्रेमी युगल का वियोग कराया होगा, कि वा किसी कामिनी को उसके प्रियपति के मिलन में बाधा डाली गई होगी ? मिथ्यात्व भाव के तीव्र उदय से मैंने दुर्भाव से अटवी को भस्मकरा या कराया होगा ? अर्थात् बन दाह लगाया होगा । यहाँ आज कल जङ्गल जलाने की लोग एजेंसो लेते हैं, ठेका लेते हैं, व्यापार करते हैं । उन्हें यह सिद्धान्त विचारणो है । अर्थात् बनदाह भयङ्कर पाप कार्य है, अहिंसा धर्म पालकों को इसका ठेका लेना व्यापार करना सर्वथा निषिध्य है । इस पाप से परिवार-कुटुम्बादि का वियोग जन्म भयङ्कर दुःख भोगना पड़ता है । वंश-निर्वंश हो जाता है । वह सती कहती है क्या यह बन दाह ही मेरे द्वारा किया गया है ! इस प्रकार अनेक प्रकार से ऊहा-पोह करने हुए उसने जल-थल आकाश का भी दहलाना वाला कसूर विलाप किया । शोक भार से लदी उस विरहनी ने अपने नयन जल प्रभाव से दूसरा ही सागर मानों भर दिया और स्वयं ही उस शोक जलधि में डूब गई । दुःख उदधि में निमग्न उसका विलाप उसी के समान था । सागर के क्रूर प्राणी भी द्रवित हो गये । उसके रुदन से पेड़-पौधे, वनस्पति भी पिघल गयी । यही नहीं स्वयं सागर भी अपनी

तीव्र गर्जना से मानों हिली समान उसके स्वर में स्वर मिलाकर चीखने-चित्लाने लगा । इस प्रकार वह महासती, जलशिरामणि वियोगजन्य दुःख से अभिभूत थी, उसी समय क्या हुआ ? ॥७१ से ७६॥ उसी समय वह पापी धवल आता है—

यावत्तावत्स पापिष्ठो धवलो मलिनो हृदि ।

तां सतीं स्ववशोक्तुं दूतीः संप्राहिणोत् कुधीः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जबकि वह विलाप कर रही थी (तावत्) तब उसी बीच में (सः) उस (हृदि) हृदय में (मलिनः) कुटिल (पापिष्ठः) पापी (धवलः) धवल सेठ (कुधीः) दुर्बुद्धिने (ताम्) उस (सतीम्) सती को (स्ववशोक्तुम्) अपने आधीन करने के लिए (दूतीः) दूती (संप्राहिणोत्) भेजी

भाषार्थ—जिस समय मदनमञ्जूषा पति वियोग से विहल होकर अति रुदन कर रही थी, बिलख-बिलख कर तड़प रही थी, उसी समय उस पापात्मा धवल सेठ ने उसे वश करने के लिए दूती भेजी । ठीक ही है “अर्थी दोषाश्च पश्यति” स्वार्थी विषयासक्त को विवेक कहाँ ? दोष-गुण विचार कहाँ ? दुर्बुद्धी सेठ ने भी उस अवला के दुःख को और अधिक उदीरित करने का षडयन्त्र किया । उस सती को वश में करने को दासियों का भेजना “जले पर नमक डालना” था । क्रूर हृदय में यह विचार कहाँ ? पापियों का मायाचार अगम्य होता है ॥७७॥

जगुस्तास्तां समभ्येत्य शृणु त्वं सुन्दरी ध्रुवम् ।

श्रीपालस्तागरेमानः पुनर्नयाति ते पतिः ॥७८॥

श्रेष्ठिनं सद्धनं पूर्णं दातारं भोगिनं सदा

रूपसौभाग्यसम्पन्नं भज त्वं राजपुत्रिके ॥७९॥

शरीरसुन्दरं गाढं रूपं ते भुवनोत्तमम् ।

मा वृथा कुरु भो भद्रे पुष्पं वा निर्जनेवने ॥८०॥

अन्वयार्थ—(ताः) वे दासियाँ (ताम्) उस मदनमञ्जूषा को (समभ्येत्य) प्राप्तकर पास जाकर (जगुः) बोलीं, (सुन्दरी) हे मनोरम (त्वम्) तुम (शृणु) सुनो (ध्रुवम्) निश्चय ही (श्रीपालः) श्रीपाल (सागरे) समुद्र में (मानः) डूब गया (ते) तुम्हारा (पतिः) भर्ता (पुनः) फिर (न आयाति) नहीं आता है (राजपुत्रिके) हे राजकुमारी (त्वं) तुम (सद्धनः) धन से (पूर्णम्) व्याप्त-धनी (दातारम्) दानी (सदा) हमेशा (भोगिनम्) भोगी (रूपसौभाग्यसम्पन्नम्) रूप लावण्य सौभाग्य से सहित (श्रेष्ठिनम्) धवल सेठ को (भज) सेवन कर (भो) हे (भद्रे) भद्रा (ते) तुम्हारे (भुवनोत्तमम्) तीनों लोकों में उत्तम (शरीर-सुन्दरम्) सुन्दर शरीर (गाढम्) अत्यन्त (रूपम्) सौन्दर्य को (निर्जने) सुनसान (वने) वन में (पुष्पम्) फूल (वा) समान (वृथा) व्यर्थ (मा) मत (कुरु) करो ।

भाषार्थ—धवलसेठ की भेजी दूतियाँ सती पर असफल रंग चढ़ाने का प्रयत्न करने लगीं । शूर्त मालिक हो तो दास-दासी क्यों न जालिम होंगे । वे सान्त्वना का ढोंग मचाने लगीं, हमदर्दी दर्शाती हैं, दया दर्शाती हैं मानों, बड़े विनय और प्यार से शनैः शनैः उसके पास जाती हैं ठीक ही है" मच्छर स्वभाव से प्रथम चरणों में आता है, पुनः ललाट पर जा डंक मारता है, कान में गुनगुनाता है ।" दुर्जन का यही स्वभाव है । वे दूतियाँ भी उस सती से इसी प्रकार विष भरा मधुर आलाप करने लगी । हे सुन्दरि ! आपका पतिदेव निश्चय ही सागर में जा गिरा है । इस अथाह जलराशि में क्या जीवन संभव है ? अवश्य ही वह मरण को प्राप्त हो गया होगा । मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं और भरे को जीवनदान दाता भी संसार में कोई न हुआ न हो सकता है । अतएव हे भद्रे निश्चित ही तुम्हारा पति अब वापिस नहीं आ सकता । उसके मिलन की आशा छोड़ । व्यर्थ शोक करने से भी क्या प्रयोजन ? तुम्हारा रूप लावण्य अद्वितीय है । यह यौवन काल है । भोगों की अमराई में रहने योग्य तुम्हारा कोमल, कमनोय, आकर्षक रूप है । सरस, मधुर इस यौवन काल को व्यर्थ ही निर्जन वन में विकसित सुवासित सुन्दर पुष्प के समान व्यर्थ मत करो । अर्थात् एकान्त जन विहीन अटवी में खिलने वाला पुष्प किसी के भी उपभोग योग्य नहीं होता, व्यर्थ ही अपनी सौरभ बिखेर कर नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार तुम्हारा नवयौवन रूपी पुष्प भी व्यर्थ न जाये इसके लिए उपाय करो । अच्छा है कि यह धवलसेठ रूप-लावण्य में तुम्हारे सदृश है, धन भी असीम है, युवक है, दाता है और भोगी भी है । हर प्रकार तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने में समर्थ है । अतः तुम आनन्द से इसके साथ भोग कर अपने यौवन को सार्थक करो । प्राप्त वस्तु को त्याग अप्राम्द के पीछे दौड़ना उचित नहीं । भला, विचारो यह प्रोढ़ावस्था ढला जाने पर क्या वापिस आ सकेगी ? अच्छा तो यही है कि तुम अब शोक त्याग कर आनन्द से भोग कर जीवन और यौवन को सफल बनाओ । सेठ को प्रसन्न करने में ही तुम्हारी कुशल और शोभा है । इस प्रकार दूतियों के पाप भरे, उभय लोकनिर्दिष्ट दुःख के कारण, नरक-निगोद के खुले द्वार सदृश वचनों को सुन वह महासती देवी तिलमिला उठी ॥७८॥ ७९ ८०॥

तत्समाकर्ण्य सा तासां वचनेन प्रपीडिता ।

दग्धादावानलेनेव संसिक्ता क्षारवारिणा ॥८१॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस प्रपञ्च को (समाकर्ण्य) सुनकर (सा) वह सती (तासाम्) दासियों के (वचनेन) वचनों से (प्रपीडिता) अत्यन्त व्यथित हुयी (इव) मानों (दावानलेन) दावाग्नि से (दग्धा) जली हुयी (क्षारवारिणा) खारे जल से (संसिक्ता) सींची गई ।

भाषार्थ—उन कुलटा दूतियों के शीलविहीन, व्यभिचार भरे पाप रूप वचनों को सुनकर शीलवती सती छटपटाने लगी । उसकी पीड़ा असह्य थी । उस समय की मनोव्यथा का कौन पार पा सकता है । आचार्य कहते हैं भयङ्कर दावानल से जले पर खार पानी सींचने के समान यह पीड़ा उसे व्यथित करने लगी । परन्तु सम्यक्त्व, शील की शीतल किरणों विवेक और धर्म को जाग्रत रखती हैं ॥८१॥

दूतीं प्रति क्रुधा प्राहरे पापिन्याः खलाः किल ।

शीलवत्यः कथं नार्यास्सेवन्ते पुरुषान्तरम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(क्रुधा) क्रोधित सती (दूतींप्रति) दूती के प्रति (प्राह) बोली (रे) हे (पापिन्याः) पापिनी (खलाः) दुष्टनीयों (किल) निश्चय ही (शीलवत्यः) शीलवती (नार्याः) नारियाँ (पुरुषान्तरम्) परपुरुष को (कथम्) कैसे (सेवन्ते) सेवन कर सकती हैं ।

भावार्थ—मदनमञ्जूषा क्रोध से लाल ताती हो गई । होती क्यों नहीं शील ही तो नारी का भृंगार है, जीवन है । भला उसके घातक वचन किस प्रकार उपेक्षनीय हो सकते हैं ? वह कहने लगी अरे ओ पापिनियों, दुष्टाओ तुम यह अयोग्य पापरूप वचन क्यों कह रही हो ? नारी का एकमात्र पति ही भोगने वाला होता है । क्या भला सती साध्वी महिलाएँ पर पुरुष सेवन कर सकती हैं ? नहीं नहीं कदाऽपि नहीं । यह कार्य सर्वथा अनुचित है । मदन-मञ्जूषा का वचन आज के मनचले विधवा विवाह पोषकों को विशेष ध्यान देने योग्य है । शील ही एकमात्र नारी के नारित्व का रक्षक है ॥८२॥ और भी सुनो—

मेरुर्वा चलति स्थानात्सिन्धुमुञ्चति वा स्थितिम् ।

अग्निर्वा जलतामेति नैव हानिस्सतीव्रते ॥८३॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (मेरुः) सुमेरुपर्वत (स्थानात्) अपने स्थान से (चलति) चलायमान हो जाय, (वा) अथवा (सिन्धु) जलधि (स्थितिम्) मर्यादा को (मुञ्चति) छोड़ दे (वा) अथवा (अग्निः) आग (जलताम्) जलरूप (एति) हो जाय तो भी (सतीव्रतेः) शीलव्रत की (हानि) हीनता (नैव) नहीं हो सकती ।

भावार्थ—संसार नष्टकर है । क्षणभङ्गुर है । अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ परिणमनशील हैं परन्तु धर्म कभी भी चलायमान नहीं होता । धर्म और आत्मा ये दो ही सतत स्थिर रहने वाले हैं । शील नारी का धर्म है । भला उसमें परिणमन कैसे हो सकता है ? सती मदन-मञ्जूषा कह रही है, अहो, दूतकर्म करते करते आप लोग बुद्धि, विवेक और ज्ञान शून्य हो गई हैं । तुम्हें यह अटल समझना चाहिए कि कदाचित् अचल सुमेरु पर्वत चल हो जाय, मर्यादित सागर कदाचित् अपनी सीमा का उल्लंघन कर बैठे, अग्नि भी धर्म व तन्त्र मन्त्र सिद्धि द्वारा शीतल हो जाय, परन्तु किसी भी काल में किसी भी समय, किसी भी परिस्थिति में शील धर्म चलायमान नहीं हो सकता । क्योंकि पतिव्रताओं को शील के सिवाय अन्य क्या हो सकता है ? एकमात्र शील ही उनका जीवन, पति पुत्र सन्तान, धन सम्पत्ति आदि सब कुछ है । कन्या के एक ही पति होता है ॥८३॥

सर्वेषां मण्डनं शीलं स्त्रीणांचाऽपि विशेषतः ।

शीलहीना वृथा नारी कुक्कुरीवसरी यथा ॥८४॥

शीलं रक्षन्ति लोकेऽत्र निर्मलं प्राणवत्सदा ।
 ये नरायोषिताश्चाऽपि ते पूज्यन्ते सुरादिभिः ॥८५॥
 दूतिका लूतिकायूयं पापिन्यः शृणुतादरात् ।
 अयं पितृसमः श्रेष्ठो नष्टधीः किं प्रजल्पति ॥८६॥
 शीलच्छेदेन लोकेऽत्र नासिकाच्छेदनं ध्रुवम् ।
 मस्तकच्छेदनं चाऽपि प्राप्नुवन्ति दुराशयाः ॥८७॥
 ततो घोरे महाश्वभ्रे छेदनं भेदनं घनम् ।
 ताडनं तापनं दुःखं सहन्ते पाप कर्मणा ॥८८॥
 स खलो धवलो मूढो विकलो मदनातुरः ।
 मद्यपानीव निर्लज्जो वक्तीदं पापदं वचः ॥८९॥
 पापिन्यो योषितायूयं नोचालोके स्वभावतः ।
 युष्माकं न कथं लज्जा कुक्कुरीणामिव क्षितौ ॥९०॥
 इत्युत्तरप्रहारेऽन्तास्संहृतः प्रपद्युः शलाः ।
 महामन्त्रप्रभावेर्वा सधिष्यो दुष्ट चेतसः ॥९१॥

(सर्वेषाम्) मनुष्यमात्र का (अपि) भी (शीलम्) शील (मण्डनम्) शृङ्गार है (न) और (स्त्रीणाम्) नारियों का (विशेषतः) विशेषरूप से है (शीलहीना) कुशीला स्त्री (यथा) जैसे (कुक्कुरी) कुतिया (खरी) गधी (इव) समान (वृथा) व्यर्थ है, (अत्र) यहाँ (लोके) संसार में (ये) जो (नराः) पुरुष (च) और (योषिताः) नारियाँ (अपि) भी (सदा) निरन्तर-सदाकाल (प्राणवत्) अपने जीवन समान (निर्मलम्) पवित्र (शीलम्) शीलधर्म को (रक्षन्ति) रक्षण करती हैं (ते) वे नर-नारी (सुरादिभिः) देव, इन्द्र, मनुष्य आदि सभी द्वारा (पूज्यन्ते) पूजे जाते हैं (यूयम्) तुम (पापिन्यः) पापिनी (दूतिका) दूती (लूतिका) मक्कड़ो हो (आदरात्) शान्ति से (शृणु) सुनो (अयम्) यह (नष्टधीः) नष्टबुद्धि (श्रेष्ठो) सेठ (पितृसमः) पिता के समान (किम्) क्या (जल्पति) बोलता है (शीलच्छेदेन) शीलभङ्ग करने से (अत्र-लोके) इस लोक में (ध्रुवम्) निश्चय ही (नासिकाच्छेदनम्) नाक काटना (मस्तकम्) शिर (च्छेदनम्) काटना (भेदनम्) भेदन (तथा) और भी (दुराशयाः) छोटे अभिप्राय से (मस्तक) शिर (च्छेदनम्) छेदन (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं (ततो) तदनन्तर (महा) अत्यन्त (घोरे) भयङ्कर (श्वभ्रे) नरक में (घनम्) घन से (ताडनम्) ताडना, (तापनम्) सन्तापादि (पाप-कर्मणा) इस पापकर्म के (दुःखम्) दुख (सहन्ते) सहन करते हैं (सः) वह (खलः) दुष्ट (मूढः) मूर्ख (विकलः) विवेकहीन (मदनातुरः) काम से पीड़ित (निलज्जः) लज्जारहित (धवलः) सेठ (मद्यपानीव) मद्यपायी समान (इदम्) यह (पापदम्) पाप करने वाले (वचः) वचन

(वक्तिः) बोलने वाला है (लोके) संसार में (स्वभावतः) स्वभाव से (यूयम्) तुम दूतियाँ लोग (नीचा) नीच (पापिन्यः) पापिनी (योषिताः) स्त्रियाँ (क्षितौ) पृथ्वी पर (कुक्कुरीणाम्) कुत्तियों के (इव) समान (युष्माकम्) आप लोगों को (लज्जा) शर्म (कथम्) कैसे (न) नहीं है (इति) इस प्रकार (उत्तरप्रहारैः) सती के उत्तर रूपों प्रहारों से (ताः) वे दूतियाँ (खलाः) दुष्टा (वा) मानों (महामन्त्रप्रभावं) पञ्चणामोकार महामन्त्र के प्रभाव से (दुष्टचेतसः) दुष्टचित्त (सर्पिण्य) सर्पिण समान (संहताः) पीडित हुयीं ।

मदनमञ्जूषा नारी जीवन का उपहार क्या है ? सार्थक्य क्या है ? यह स्पष्ट करती हुयी धवलसेठ की कुदृष्टियों की भर्त्सना करती है । साथ ही नारी धर्म की अटल, अकाट्य स्वभाव को स्थापना भी करती है । धर्म अपरिवर्तनीय होता है, वह सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक आदि किसी भी धारा से प्रभावित होकर बदल नहीं सकता । शील-एक पतिव्रत नारी का धर्म है । यह भी त्रैकालिक अकाट्य सत्य है । इसका स्वरूप ध्रुव है वह बदल नहीं सकता । सूर्योदय हर एक काल में पूर्व में ही होता है, अस्त भी पश्चिम में ही होता है । उसी प्रकार कन्या का ही विवाह होता है विवाहित पति ही उसे भोगने योग्य है, अन्य पुरुष कदापि सेवनीय नहीं हो सकता । अतः वह दूतियों के प्रस्ताव “धवलसेठ को सेवन करो” की महानिन्दा करता है । उन कुलटाओं को शील का माहात्म्य बतलाती है कि संसार में सर्वत्र स्त्री हो या पुरुष सब का शृङ्गार शीलव्रत है तो भी नारियों का तो विशेषरूप से शीलधर्म अनुपम शृङ्गार कहा है । शीलव्रत विहीन कुलटा नारी कुत्ती एवं गधी समान पराभव और निन्दा की पात्र नीच कहलाती है । जो स्त्री व पुरुष इस लोक में अपने शीलव्रत का रक्षण करते हैं । वे अपने प्राणों समान निर्मलशील पालते हैं, सदा उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न करते हैं वे नर और नारियाँ देवेन्द्र, सुर असुरादि द्वारा पूज्य होते हैं मनुष्यों की क्या बात ? अरे दुष्टाओ एक तो दूतकर्म ही निन्द्य है फिर तुम लूतिका-मकड़ी समान यह नीच घृणित कार्य रूप जाल फैलाने के उपाय करने आयी हो यह महान नीचतम और दुःखद कार्य है । तुम सुनो, जरा ध्यान तो दो, यह सेठ मेरे पिता के समान हैं, फिर वह दुर्बुद्धि, विवेकहीन हो क्यों इस प्रकार के पापाढ्य वचन बोलता है । क्या वह नहीं जानता कि “शीलनाश करने वाले व्यभिचारी पुरुष को शीलनाश का दण्ड नासिका कर्तन, शिरच्छेदन, आदि भोगना पड़ता है । दुरभिप्रायो इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी घोर नरक में जा पड़ता है वहाँ भी छेदन-भेदन, घनों से ताड़न-मारन, कूटन बध बन्धनादि दुःखों को भोगता है । पापकर्म के उदय से अग्नि में पकाया जाना, उपाया जाना, भूना जाना आदि यातनाओं को भोगता है । लाल-लाल अग्निस्वरूप लोह की पुतलियों से चिपकाया जाता है । वह धवला महा मूढ है पापी और नीच, कामवाण से घायल, विवेकशून्य हुआ, शराबी के समान उन्मत्त हुआ, वेशर्म हो गया है और इस प्रकार के पाप भरे वचन बोलता है । उस पापी की दूती तुम उस से भी अधिक दुर्जन और पापिष्ठा हो, जो स्वभाव से नीचकर्म करती हुयी इस प्रकार निर्लज्ज हो कुत्तियों समान भूमि पर इधर से उधर पूँछ हिलाती, डण्डे खाती टुकड़ों के लिए घूमती फिरती हो । तुम महा नीच, अधम और पापिनी हो । यहाँ ठहरने योग्य नहीं जाओ यहाँ से निकल जाओ । इस प्रकार महासती के वचन प्रत्युत्तररूप वचनों से ताड़ित हुयी वे विलखती, विसूरती चुप हो गई । भय से काँप

उठी, स्थिर होकर मौन हो गई मानों सर्पिणियों के विष भरे कुंकारों को महामन्त्रणमोकार के प्रभाव से स्थम्भित कर दिया गया हो। उनकी दुष्ट चेष्टाओं का स्थम्भित कर दिया हो। अस्तु, धर्म से परास्त हुआ अधर्म भाग खड़ा हुआ ॥८४ से ८१॥

“कहावत है विपत्ति अकेली नहीं आती” पूरे दलबल से एक पर एक सवारो लेकर आती हैं। बेचारी मञ्जूषा पर इधर पतिवियोग का पहाड़ गिरा और उधर बे दूतियाँ क्षत-विक्षत हृदय पर खारा जल सींचने आईं। ज्यों-त्यों धैर्य बटोर विवेक को सावधान कर उन्हें मुँह को खाकर भगाया। परन्तु क्या इतने मात्र से अशुभोदय संतुष्ट होता ? फिर क्या हुआ देखिये कर्मों का बदरङ्ग —

ततः श्रेष्ठी स्वयं प्राप्तः पापी तां बोधितुं खलः ।

देहि मे सुरतं भद्रे नो चेत्प्राणान् त्यजाम्यहम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(ततः) दूतियों के पराजित होने पर (पापी) पापात्मा (खलः) दुष्ट (श्रेष्ठी) धवलसेठ (ताम्) उस सती को (बोधितुम्) समझाने को (स्वयम्) आप (प्राप्तः) आया (भद्रे !) हे सुलक्षणो (मे) मुझे (सुरतम्) रतिभोग (देहि) प्रदान करो (नो चेत्) यदि नहीं दोगी तो (अहम्) मैं (प्राणान्) प्राणों को (त्यजामि) छोड़ता हूँ।

भावार्थ—“कामार्थिनो कुतो लज्जा” कामातुर मनुष्य धर्म, कुल, समाज आदि सबकी शर्म लाज को खो देता है। मोहान्ध धवल नामधारी कृष्णकाक दूतियों द्वारा मदनमञ्जूषा के वश में न आने पर स्वयं ही धूर्तशिरोमणि वहाँ पहुँचा। आचार्य कहने हैं “अन्धादपि महाज्जः विषयान्धी कृतेक्षणः” विषय-वासना से अन्धा मनुष्य जन्मान्ध से भी बढ़कर अन्धा है क्योंकि



“चक्षुषा अन्धो न जानाति विषयोन्धो न केनचित्” आँखों से अन्धा तो मात्र देख ही नहीं सकता किन्तु विषयों के जाले से अन्धा देखता हुआ भी अच्छे-बुरे को नहीं देख सकता। यही हाल था इस कामातुर मूर्खराज धवल का। पुत्री समान, पुत्र-बधू जिसे कहा था उस ही के समक्ष निर्लज्ज हो सुरतदान की याचना करता है। क्या यह पशुत्व नहीं ? महा-नीचता है। वह कहता है हे भद्रे ! मुझे पतिरूप में स्वीकार कर मेरी कामवासना की तृप्ति करो। यदि तुम मेरे साथ रति करने को तैयार नहीं हुयी तो निश्चय समझो मैं अभी तेरे समक्ष प्राण त्याग कर दूँगा ॥८२॥ मदनमञ्जूषा का सम्यग्ज्ञान पूर्ण जाग्रत है। वह दुःखी है पर संकट में कि कर्त्तव्य विमूढ़ नहीं है, यही तो सम्यग्दृष्टि का साहस है। वह निर्भय, वीरता पूर्वक योग्य उत्तर देती है —

सा जगौ रे दुराचारी पापी त्वं धर्मवर्जितः ।

मा वादीः पापदं वाक्यं क्षयंयासि क्षणाद्धृतः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(सा) वह (जगौ) बोली (रे) अरे (पापी) पापिष्ठ (दुराचारी) व्यभिचारी (धर्मवर्जितः) धर्मविहीन (त्वम्) तुम (पापदम्) पापोत्पादक (वाक्यम्) वाक्य-वचन (मा वादीः) मत कहो अन्यथा (क्षणाद्धृतः) आवे हो क्षण में (क्षयम्) नाश को (यासि) प्राप्त हो जाओगे ।

भावार्थ—मदनमञ्जूषा उस घूर्त सेठ की प्रार्थना सुनकर तिलमिला उठती है । उसकी नीच याचना को ठुकराती हुयी कहती है अरे नीच, पापी, दुरात्मा तू इस प्रकार के पापकारी वचन मत कह । अन्यथा निमिषमात्र में तेरा नाश हो जायेगा । जिस प्रकार दीपक की लो पर पड़ते ही पतझा भस्म हो जाता है उसी प्रकार अधर्मी तुम भी मृत्यु का वरण करोगे ॥६३॥ और भी वह उसे कहती है -

सत्यं त्वं नरकेधोरे गन्तुकामस्तु जल्पसि ।

याहि याहि कुधीर्बन्धं लात्वा कृत्यमतः कुतः ॥६४॥

नाहं शीलं जगत्सारं स्वर्गमौक्षक साधनम् ।

स्वप्ने चाऽपि त्यजामीह किं पुनर्बहुजल्पनैः ॥६५॥

स्व भर्तृदर्शनं कृत्वा गृहीत्वा वा जिनोदितम्

तपश्शर्मकरं तू न कार्यं पानाशनं भया ॥६६॥

इत्यादि नियमं कृत्वा स्मरन्ति परमेष्ठिनः ।

यावदास्ते सती तत्र तावच्छीलस्य पुण्यतः ॥६७॥

निजासन प्रकम्पेन जिनशासन देवताः ।

व्यन्तराश्च समागत्य महाकोपेन दारुणाः ॥६८॥

महावातशतैस्तीक्ष्णैर्यानिपात्राणि सागरे ।

कल्लोलैश्चालयामासुश्शीघ्रं वा प्रलयोद्भूतैः ॥६९॥

धूमन्ते चक्रिरे गाढं पापं वा तस्य पापिनः ।

पद्मावती चपेटार्द्यः तन्मुखेऽमारयद्भृशम् ॥७०॥

क्षेत्रपालोऽपि लातेन जघान श्रेष्ठिनं खलम् ।

अधोमुख बबन्धोच्चैः पृष्ठपाणि सुरः परः ॥७१॥

पोतान् प्रज्वालयामास देवी ज्वालादिभालिनी ।

साधूनां सर्वदा सत्यं पीडा प्राणायहारिणी ॥१०२॥

तथा तस्य मुखे क्षिप्त्वा-शुचि कोपेन ते जगुः ।

पुनः पापिन् करोषीत्थं पापकर्म यव त्वकम् ॥१०३॥

एवं तैः पीडितो गाढं स पापी भयकम्पितः ।

पतित्वा पादयोस्तस्यास्थं मे पूज्या सती ध्रुवम् ॥१०४॥

सर्वं क्षमस्व मे देवि गन्गया पतिता हवस् ।

शीघ्रं तां साधु संस्तुत्य सुप्रसन्नाञ्चकार सः ॥१०५॥

सत्यं सतां मतिः पूर्वं दुर्धिया पीडिते सति ।

यथा चान्धो न जानाति ललाटे ताडनं बिना ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) निश्चय ही तुम (त्वम्) तुम (वोरे) भयङ्कर (नरके) नरक में (गन्तुम्) जानेका (कामः) इच्छक हो (तु) इसी कारण ऐसा (जल्पसि) प्रलाप करते हो (याहि याहि) जाओ-जाओ (कुधीः) हे दुर्बुद्धि (अकृत्यम्) कुकर्म है (अतः) इसलिए (वक्त्रम्) मुख (लात्वा) लेकर (कुतः) कहीं हो (याहि) जाओ हटो (जगत्सारम्) विश्व का सारभूत (स्वर्गमोक्षसाधनम्) स्वर्ग और मोक्ष का एक मात्र साधन (शीलम्) शीलव्रत को (अहं) मैं (स्वप्नेऽपि) स्वप्न में भी (न) नहीं (त्यजामि) छोड़ने वाली हूँ (पुनः) फिर (बहुजल्पनैः) अधिक बोलने से (किम्) क्या ? (मया) मेरे द्वारा (नूनम्) निश्चय ही (स्वभर्तुर्दर्शनम्) अपने पति का दर्शन (कृत्वा) करके (वा) अथवा (अमंकरम्) सुखदायो (जिनोदितम्) जिन भगवान कथित (तपः) तप (गृहीत्वा) ग्रहण कर हो (पानाशनम्) भोजन पान (कार्यम्) किया जायेगा । (इत्यादिकम्) इत्यादि (नियमम्) प्रतिज्ञा (कृत्वा) करके (परमेष्ठिनः) पञ्चपरमेष्ठा का (स्मरन्ती) ध्यान करती हुयी (यावद्) जैसे ही (तत्र) वहाँ (सती) वह शीलव्रता (आस्ते) स्थिर होती है कि (तावत्) उसी समय (शीलस्य) पातिव्रत धर्म के (पुण्यतः) पुण्यप्रभाव से, (निजासन) अपने आसन के (प्रकम्पेन) कम्पायमान होने से (जिनशासनदेवताः) जिनशासन रक्षक देवगण (च) और (व्यन्ताराः) व्यन्तर देव (महाकोपेन) भोषण क्रोध से (समागत्य) आकर (दारुणाः) भयंकर (तीव्रैः) तेज (वा) मानों (प्रलयोद्भवैः) प्रलयकाल में उत्पन्न (महावानशतैः) सैकड़ों महा वायुओं से (सागरे) समुद्र में (कल्लोलैः) लहरों द्वारा (शीघ्रम्) शीघ्र ही (यानपात्राणि) जहाजों को (चालयामासुः) कम्पायमान कर दिया (वा) उस समय मानों (तस्थ) उस (पापिनः) पापी भवज का (गाढम्) अत्यन्त कुकर्मरूप (पापम्) पाप (धूमन्ते) धुआधार अन्धकात्म्य (चक्रिरे) हो गया ! (च) और (पद्मावती) पद्मावती देवी ने (चपेटार्घ्यैः) चांटे, धूँसा लातों से (तन्मुखं) उसके मुखपर (भूषणम्) बार-बार (अमारयत्) मारा (खलम्) दुर्जन (अंष्टिनम्)

सेठ को (क्षेत्रपालः) क्षेत्रपाल ने (अपि) भी (लातेन) लातों से (जघान) मारा (परः) दूसरे (सुरः) देव ने (पृष्ठगालिम्) पीछे हाथ (मुखम्) मुख (अघः) नीचे (उच्चैः) जोर से (बबन्धः) उसे बांध दिया, (ज्वालादिमालिनी) ज्वालामालिनी (देवी) देवी (पोतान्) जहाजों को (प्रज्वालयामास) जला दिया (सत्यम्) ठीक ही है (साधूनाम्) साधुओं की (पीडा) कष्ट-विपदा (प्राणापहारिणी) प्राणों की नाशक है (तथा) उस प्रकार मार-पीट बांध कर (ते) वे देवी देवता (कोपेन) कोप से (तस्य) उसके (मुखे) मुख पर (अशुचिम्) मलमूत्रादि (क्षिप्त्वा) क्षेपण कर (जगुः) बोले (पापिन्) हे पापी (त्वकम्) तुम (वद) बोलो (पुनः) फिर (इत्थम्) इस प्रकार का (पापकर्म) पाप कार्य (करोषि) करोगे ? (एवम्) इस प्रकार (तैः) उनके द्वारा (गड्ढम्) अत्यन्त (पीडितः) पीडित हुआ (सः) वह (पापी) पापात्मा (भयकम्पितः) भय से कापता (तस्याः) पतिव्रता उस सती के (पादयोः) चरणों में (पतित्वा) गिरकर (सती) हे सती (ध्रुवम्) निश्चय ही (त्वम्) आप (मे) मेरी (पूज्या) पूजनीय हो (देविः) हे देवते ! (मया) मुझ (पापिना) पापी से (कृतम्) किया गया (सर्वम्) सब कुछ कुकर्म (मे) मेरा (क्षमस्व) क्षमा करो (एवं) इस प्रकार (सः) वह उदात्त (ताम्) उस शीलव्रती को (साधुः) सम्यक् प्रकार (संस्तुत्य) स्तुति करके (शीघ्रम्) शीघ्र ही (सुप्रसन्ना) भलोभाति प्रसन्न (चकार) किया ॥१५४॥ (च) और भी आचार्य कहते हैं—(पूर्व) पहले (पीडिते) दुःखी (सति) होने पर (दुधिया) खोटी बुद्धि (सतां मतिः) सद्बुद्धि (जायते) होती है वह (सत्यम्) यथार्थ है (यथा) जिस प्रकार (अन्धः) अन्धा पुरुष (ललाटे) ललाट पर (ताडनम्) मारे (विना) बिना (न) नहीं (जानाति) जानता है ।

भावार्थ—अत्यन्त कुपित सिंहनी सद्यः निर्भय सती उस अत्याचारी की भत्सना करते



हुए धर्मनीति, आगमोक्त वाणी का स्मरण दिलाती है कि 'हे दुर्बुद्धि तुम निश्चय ही घोर नरक में जाने की इच्छा से इस प्रकार बकवाद कर रहे हो । परतारी लम्पटी नरक का पात्र होता है । कीचक, रावण आदि जो जो परतारी सेवन की अभिलाषा किए वे सब नरकगामी हुए यह आर्ष वचन है । तुम्हें भी वहीं जाना हागा । हे दुधिया अपना काला मुंह लेकर यहाँ से चलते बनो । जाओ, निकलो कहीं भी अपने कलङ्की मुख को छुपा लो । इस अकृत्य-पापकर्म को छोड़ । त क्या ? कितने हो तेरे जैसे कीट आ जायें । मेरा सुमेरु मन चलायमान नहीं हो सकता । प्रलयकालीन वायु भी सुमेरु पर्वत को चलायमान कर सकती है ? नहीं । कदाऽपि नहीं । अपितु वही टकराकर चली जाती है । अरे पापी ! क्या

तू नहीं जानता यह शीलरत्न अनर्घ्य है, अमूल्य है, आत्मस्वभाव है, स्वर्ग का देने वाला है, ब्रह्मचर्यव्रत समान जगत में अन्य कुछ भी सार नहीं है। इस लोक में यश, वैभव सम्मान दानदाता है पर लोक में सद्गति देने वाला है तथा परम्परा से मुक्ति रमा का सङ्गम कराने वाला है। इस अमूल्य शील धर्म को मैं कदापि, स्वप्न में भी नहीं त्याग सकती हूँ। जब तक शरीर में प्राण है तब तक मेरे शील पर तनिक भी आँच नहीं आ सकती। अधिक कहने से क्या ? मैं किसी भी मूल्य पर अपने शील का त्याग नहीं कर सकती। इस प्रकार दृढ़ उत्तर दे कर उस महासती ने सुदृढ़ प्रतिज्ञा भी घोषित की। मैं या तो अपने पतिदेव का दर्शन कर अथवा जिनेन्द्रोक्त आर्यिकाव्रत धारण कर ही अन्न-जल ग्रहण करूँगी, अन्य प्रकार नहीं। निश्चय ही जिनदोक्षा दुःख मंहारिणी और सुखकारिणी है। स्त्रीलिङ्गच्छेदन की एकमात्र यही कुठार है। अस्तु, मैं पाप ताप नाशक दोक्षा ले पाणिपात्र में भोजन करूँगी। पुण्ययोग से पतिदेव का मिलन हुआ तो ठीक है अन्यथा जिनागम ही शरण है। इस प्रकार दृढ़ नियम कर शुद्ध मन से एकाग्रचित्त हो पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करने लगी। महामन्त्र णमोकार की अचिन्त्यशक्ति है, धर्मात्मा शीलवती नारियों का सतीत्व भी उतना ही शक्तिशाली है, दोनों के योग की ताकत का कहना ही क्या है ? ज्योंही वह ध्यानस्थ हुयी कि ध्यान की लयता का तार भूमिप्रदेश से स्वर्गलोक में जा टकराया। तत्क्षण शासन देव-देवियों के आसन कम्पित हो गये। आसनों के ढगमगाते ही उन्होंने अपने अवधिज्ञान लोचन का उपयोग किया और तत्काल ज्ञात कर लिया कि महासती पर घोर संकट आया है। धर्म मर्यादा रक्षणार्थ उसका निवारण करना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि “न धर्मो धर्मकैर्विना” धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रह सकता। अतएव हमें अपराधियों को दण्ड देकर धर्मात्माओं का रक्षण करना ही होगा। वस क्या था स्वर्गीय सुख-वैभव को तिला-ञ्जलि देकर उसी समय भूलोक में आ धमके। जिन शासन देवी-देव और व्यन्तरी का जमघट लग गया। आते ही सर्वप्रथम महादेवी पद्मावती ने उस मूर्ख विषयान्ध धवल को चाँदों-थप्पड़ों और लातों से पूजा की। महाकोप से भयङ्कर प्रलयकारी भस्मावायु चलायी। चारों ओर अन्धकार व्याप्त हो गया। घोर तम-तोम छा गया। सूचीभेद्य अन्धकार में



चारों ओर हाय-हाय मच गयी । जहाज डग-मगाने लगे । चारों ओर ऊपर-नीचे जहाज डग-मगाने लगे । सर्वत्र हा हा कार मच गया । मरे-चले, बचाओं का स्वर गूँज उठा । कौन किसकी सुने ? न कोई कहने वाला न सुनने वाला । ऐसा प्रतीत होता था मानों उस घबल पापी का घोर पाप अन्धकार बन कर छा गया है उसी पर नहीं उसके साथियों के शिर पर भी मानों कालचक्र घूमने लगा । इधर यह आकस्मिक दुर्घटना और उधर महादेवी पद्मावती के घूँसे लात । सेठ की दुर्इशा वा दयनीय अवस्था थी । कहाँ जाय ? कोई शरण नहीं ? कोई सहाई नहीं । क्षेत्रपाल महाराज भी अपना गदा लेकर आगये और लगे उस दुष्ट अन्यायी सेठ की भद्रा उतारने । लातों से धमाधम कुचल डाला बेचारे दुर्बुद्धि को । किसी देव ने उसके दोनों हाथ पीठ की ओर कड़ाकर बाँध दिये, जिससे कि प्रहारों को रोक भी न सके । किसी ने शिर नीचे कर उलटे पाँव लटका कर ताड़ना दी । महादेवी ज्वालामालिनी क्यों चुप रहती । उन्होंने तो और भी गजब ढाह दिया । चारों ओर जहाज में आग उत्पन्न करदी कौन कहाँ जाय ? “इधर कुआ उधर खाई” जहाज जलने लगे कूदे तो सागर की उत्ताल तरङ्ग । आचार्य कहते हैं कि साधु-सज्जन-सत्पुरुषों पर आई आपत्ति सबको प्राणापहारिणी होती है । क्योंकि धर्मात्मा का सङ्कट धर्म का सङ्कट है । धर्म और धर्मात्मा एक सिक्के के दो पहलू हैं । इस प्रकार धर्म संरक्षक उन शासन देवी-देवताओं ने तथा व्यन्तरादि देवताओं ने जिनसे सहायता की मदनमञ्जूषा ने प्रार्थना की थी उन सभी ने उसे (सेठ को) यथोचित दण्ड दिया । अन्त में उससे कहा कि यदि तुझे जीवित रहना है तो इस महासती के चरणों में पड़ । इसे प्रसन्न कर । यदि यह क्षमाप्रदान करती है तो तू बच सकता है अन्यथा नहीं । इस प्रकार कहते हुए उसके मुख पर मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थ क्षेपण किये और क्रोधित हो बोले क्या पुनः इस प्रकार का कुकर्म करोगे ? फिर सतियों के शीलधर्म पर कुदृष्टि डालोगे ? रे रे पापी, नीच अधम तू क्या पाप का फल नहीं जानता ? क्या तुझे मतिभ्रम हो गया है ? नरकगामी ! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है । महासती से प्राणभिक्षा मांग ले । यही एकमात्र जीवन का उपाय है अन्यथा अति-शीघ्र तेरा मरण अवश्यम्भावी है । इस महादेवी का प्रसाद-प्रसन्नता ही तुम्हें जीवनदान दिलाने में समर्थ है । इस प्रकार नानाविध कदर्थ हुआ वह पापात्मा भय से कांपने लगा । शिर से पैर तक थर-थरा उठा । हाथ जोड़ शिर नवा कर उस शीलशिरोमणि के चरणों में गिर-कर प्रार्थना करने लगा “हे देवि तुम मेरी पूज्या माँ हो, निश्चय ही आपका सतीत्व अटल है । मुझ पापी ने आपको अनेक प्रकार दुर्गम कष्ट दिये हैं उन सबको क्षमा कीजिये । आप क्षमा मूर्ति हैं क्षमा स्वरूप हैं हे देवि ! मैं अज्ञानी, पापी, लोभो दुव्यसंजी दीन-हीन आप द्वारा क्षम्य योग्य हूँ । मुझ पर दया करो, कृपा करो, जीवनदान दो, हे मातेश्वरी बचाओं, मैं अधम, नीच पापी बालक हूँ । मेरे सभी अपराधों को क्षमा कर मुझे जीवन भिक्षा प्रदान करो । इस प्रकार नाना विध उस सती साध्वी की स्तुति कर उसे प्रसन्न कर लिया । सत्य ही है, नीतिकारों का कथन है कि ब्रुद्धिबिहीन को कुमति पीडित होने पर ही सुमतिरूप से परिणत होती है जैसे की अन्धे पुरुष को उसके ललाट पर मारने पर ही बोध होता है । बिना मस्तक पर ताड़ना किये उसे अत्यन्त निकट पड़ी वस्तु का भी भान नहीं होता । यही हाल हुआ इस विषयान्ध का । विषय लोलुपी चर्म चञ्चु रहते हुए भी महाअन्ध हो जाता है । अतः, देवी-देवताओं से सम्यक् प्रकार कुट-पिट कर इस घबला को सही बुद्धि आई ॥६४ से १०६॥

तदा ता देवदेव्यश्च जिनशासन वत्सलाः ।

सतीं मदनमञ्जूषां शीलसद्रत्नभूषिताम् ॥१०७॥

दिव्याभरणवस्त्राद्यैः पूजयन्तिस्म सादरम् ।

नत्वा स्तुत्वा स्वभावेन स्व स्व स्थानं ययुस्सुखम् ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(तदा) धवलसेठ को सद्बुद्धि आने पर (ता) वे जिनशासनवत्सलाः) जिनशासन के भक्त (देव) देव (च) और (देव्यः) देवियाँ (शीलसद्रत्नभूषिताम्) शील रूपी उत्तम रत्न से सुसज्जित (सतीम्) सती (मदनमञ्जूषाम्) मदनमञ्जूषा की (सादरम्) आदर पूर्वक (दिव्याभरणवस्त्राद्यैः) देवोपनीत सुन्दर आभूषण, वस्त्र, माला रत्न, मणि, मुक्ता आदि से (पूजयन्ति स्म) पूजा की पुनः (नत्वा) नमस्कार कर, (स्तुत्वा) स्तुति करके (स्वभावेन) स्वभाव से (सुखम्) सुख पूर्वक (स्व स्व) अपने-अपने (स्थानम्) स्थान को (ययुः) चले गये ।

भावार्थ—परनारी रति महा भयङ्कर दुःख की खान है, यह धवलराज को प्रत्यक्ष हो गया । भार-पोट से आकुल-व्याकुल हो छटपटा गया । अन्ततः महासती के चरणों की शरण में जाना पड़ा । क्षमा याचना की । अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप किया । सती मदनमञ्जूषा का उपसर्ग निवारण कर, तथा उसे पतिमिलन का आश्वासन दे, एवं धवल को उसकी सेवा में नियुक्त कर वे देव-देवियाँ प्रसन्न हुए । ठीक ही है अयोग्य कार्य को सिद्धि होने पर भी प्राणियों को संतोष होता है तो फिर सुयोग्य धर्म कार्य को सिद्धि होने में आनन्द एवं संतोष क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा । अपने कर्त्तव्य को पूर्णता कर वे जिन शासन रक्षक देव-देवियाँ अपने-अपने स्थान पर जाने को उद्यत हुयीं । उसी समय उन्होंने महासती मदनमञ्जूषा को अभ्यर्चना की । शीलरूपी उत्तम रत्न धारिणी उसको दिव्य वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित किया । अत्यन्त विनय और आदर से रत्न, मणि, चीनपट्ट, माला मुक्ता, हार आदि से पूजा की, उच्चस्थान-आसन पर पधराया । अनेक शुभवाक्यों में स्तुति की अर्थात् प्रशंसा की । बार-बार नमस्कार किया । हर्षातिरेक से गद्गद् हो उसका यशोगान करती आनन्द से यथायोग्य अपने-अपने स्थान पर चली गई । अब मदनमञ्जूषा उन जिनशासन वत्सल देव-देवियों से रक्षित, सेवित और पूजित हो निराकुल हुयी ॥१०७, १०८॥

साऽपि श्रीमज्जिनाधीशपादपद्मद्वयेरता ।

स्मरन्ती मानसे तस्थौ पोते श्रीपरमेष्ठिनः ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(सा) वह मदनमञ्जूषा (अपि) भी (श्रीमज्जिनाधीशपादपद्मद्वयेरता) श्री जिनेन्द्र भगवान के दोनों चरणकमलों में लीन (श्री परमेष्ठिनः) पञ्च परमेष्ठी का (मानसे) मन में (स्मरन्ती) स्मरण करती हुयी (पोते) जहाज में (तस्थौ) स्थित हुयी ।

भावार्थ—अब मदनमञ्जूषा पति मिलन की आशा में श्रीजिनेन्द्र प्रभु के चरणाब्जद्वय की अमरी हो गई । निरन्तर श्रीपञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करती हुई यान-पात्र में रहने लगी ।

संसार में सभी नारियों का पति ही एकमात्र देव होता है उसके अतिरिक्त धर्म-पञ्चपरमेष्ठी ही शरण हैं अन्य नहीं । धर्म तो सर्वदा ही रक्षक है किन्तु पतिवियुक्ता नारी को विशेष रूप से अर्हंत-सिद्ध साधु ही शरण हैं । अतः वह एकाग्रता से सतत मन में महामन्त्र का ध्यान करने लगी । जिनेन्द्र भगवान् की पूजा भक्ति, स्तुति, नुति ही उसका नित्य नैमित्तिक कार्य था । तत्त्वचिन्तन और धर्म कथा करते हुए समय बीतने लगा ॥१०६॥

अथ श्रेष्ठी दिनैः कश्चित्समं पोतैर्विधेवशात् ।

उल्लङ्घ्य सागरं प्रापत् पत्तनं दलवर्त्तनम् ॥११०॥

अन्वयार्थ — (अथ) मदनमञ्जूषा का सेवक होने पर (श्रेष्ठी) धवलसेठ (विधेः) भाग्य के (वशात्) वश से (पोतैःसमम्) जहाजों के साथ (कश्चित्) कुछ (दिनैः) दिनों के बाद (सागरम्) समुद्र को (उलङ्घ्य) लांघकर (दलवर्त्तनम्) दलवर्त्तन नामक (पत्तनम्) द्वीप को (प्रापत्) प्राप्त किया ।

भावार्थ—धवल सेठ अब धर्म से परास्त हुआ । धर्म की शरण आया और अपने जहाजों को लेकर सुख से आगे चल पड़ा । कुछ ही दिनों में सागर को पार कर लिया । भाग्यवश दलपत्तन रत्नद्वीप में आ पहुँचा । यहीं सागर पार कर श्रीपाल भी आया था । पाठकों को स्मरण होगा कि यहाँ के राजा की कन्या गुणमाला का विवाह भी श्रीपाल के साथ हो गया और वह राजा ने कोषाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया था । अब ये महाशय-धवल जी भी आ पहुँचे । देखिये अब क्या होता है । क्योंकि दोनों का मिलन तो होना ही है ॥११०॥

रत्नादिकं समादाय प्राभूतं स्वजनैर्वृतः ।

गत्वा राजालयं श्रेष्ठी धृत्वाग्रे तं ननाम च ॥१११॥

अन्वयार्थ — धवलसेठ (स्वजनैर्वृतः) अपने साथियों से सहित (श्रेष्ठी) धवलसेठ (रत्नादिकम्) हीरा, पन्नादि को (प्राभूतम्) भेंट में (समादाय) लेकर (राजालयम्) राज दरबार में (गत्वा) जाकर (च) और (अग्रे) आगे राजा के सामने (धृत्वा) धरकर (तम्) उसे (ननाम) नमस्कार किया ।

भावार्थ—धवलसेठ तो निश्चित सा था कि श्रीपाल परलोक चला गया होगा । अतः वह निर्भय हो राजा से भेंट करने चला । “रिक्त हस्तं न पश्येत राजानं देवतां गुरु” उक्ति के अनुसार उसने अत्यन्त सुन्दर बहुमूल्य रत्नादि सुवर्ण थाल में भरे और राजदरबार में जाकर राजा के सम्मुख जगमगाता थाल रख दिया । उस अपूर्व प्राभूत को प्रदान कर उसने राजा को बार-बार नमन किया । ठीक ही अपने कार्य की सिद्धि को कौन पुरुष नहीं चाहेगा ? उसे व्यापार करने की अनुज्ञा लेनी थी राजा से फिर भला क्यों न भेंट करता ? करता ही ॥१११॥

भूपतिः प्राभूतं वीक्ष्य कृत्वा संभाषणं पुनः ।

तस्मै श्रीपालहस्तेन स ताम्बूलमदापयत् ॥११२॥

अन्वयार्थ—(भूपतिः) राजा (प्राभृतम्) भेट को (वीक्ष्य) देखकर (च) और (सम्भाषणम्) कुशल समाचारादि विषय में बात-चीत (कृत्वा) करके (पुनः) फिर उचित स्थानादि देकर (सः) उस राजा ने (तस्मै) उस सेठ के लिए (श्रीपालहस्तेन) श्रीपाल के हाथ से (ताम्बूलम्) पान-सुपारी (अदापयत्) दिलवायी ॥११२॥

भावार्थ—सेठ द्वारा प्रदत्त भेट से राजा प्रसन्न हुआ । उससे यथायोग्य कुशलसमाचार पूछा । आने का उद्देश्य एवं उसका मार्ग सम्बन्धी समाचार ज्ञात किया । उचित आसन दिया । आस्वस्थ बैठ जाने पर उसे सम्मानित करने को राजा ने अपने जंबाई, कोषाध्यक्ष श्रीपाल को उसे पान-सुपारी आदि देने का आदेश दिया । श्रीपाल ने भी यथायोग्य विधि से उसे ताम्बूल दिया ॥११२॥

तदा श्रेष्ठी समालोक्य श्रीपालं महिमास्पदम् ।

स्वाननं स मणीवर्णं चक्रे कोऽयं विचिन्त्ययत् ॥११३॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (श्रेष्ठी) सेठ (महिमास्पदम्) महिमाशाली (श्रीपालम्) श्रीपाल को (समालोक्य) भले प्रकार देखकर (अयम्) यह (कः) कौन है ? (विचिन्त्यत्) मन में विचारते हुए (स) उसने (स्वाननम्) अपने मुख को (मणीवर्णम्) काला (चक्रे) बना लिया ।

भावार्थ—ताम्बूल देने वाले श्रीपाल पर दृष्टि पड़ते ही सेठ जी का हाल बेहाल हो गया । वह आँख गड़ाकर देखने लगा । यह कौन है ? यह विचार करते ही उसके चेहरे का रङ्ग उड़ गया । मुख काला पड़ गया । मानों काली स्याही पुत गई हो । आश्चर्य और भय से कम्पित हो गया । क्षणमात्र में न जाने कितने विकल्प आये और चले गये । वह भ्रम में पड़ गया यह सत्य है या स्वप्न ? मैं क्या देख रहा हूँ ? यह कौन हो सकता है ? यदि वही श्रीपाल है तो आया कैसे ? बच गया किस प्रकार ? अब होगा क्या यदि वही है तो ? इत्यादि न जाने कितने तर्क-वितर्क हुए उसके मानस में । फिर भी वह किसी प्रकार भी धैर्य न पा सका ॥११३॥ आचार्य कहते हैं—



सञ्जनं वीक्ष्य दुष्टात्मा दुर्जनो दुर्मदो भवेत् ।

भास्करस्योदये युक्तं घूकः स्यादन्धकः कुधीः ॥११४॥

अन्वयार्थ—नीतिकार कहते हैं—(दुष्टात्मा) दुष्ट (दुर्जनः) दुर्जन मनुष्य (सज्जनम्) सत्पुरुष को (वीक्ष्य) देखकर (दुर्मदः) मदोन्मत्त (भवेत्) हो जाता है (युक्तम्) ठीक है (कुधीः) दुर्बुद्धि (धूकः) उल्लू (भास्करस्थ) रवि के (उदये) उदय होने पर (अन्धः) अन्धा (स्यात्) हो जाता है ।

भावार्थ यहाँ आचार्य श्री दुष्ट, परिचित उदाहरण देकर नीति का प्रतिपादन कर रहे हैं । संसार में दुर्जन स्वभाव से ही पर का उत्कर्ष नहीं देख सकते, अपितु स्वयं दुःखी हो उसके आनन्द को मिटाने की चेष्टा करते हैं । कौशिकशिशु-उल्लू प्रभात होते ही अन्धा हो जाता है, सर्वोपकारी सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश को देख नहीं सकता । वह करे भी क्या ? उसका स्वभाव ही वैसा है । उसकी नव्यकनिका में मार्गण्ड की किरणों को निरखने की योग्यता ही नहीं है । यही दशा थी श्रीपाल रूपी सूर्य को देखकर धवलसेठ रूपी उल्लू की । उसकी आँखें तिल-मिला गई । चारों ओर अन्धेरा छा गया । होश हवाश सब हवा हो गये । पर करे क्या ? जाय कहाँ ? कहे क्या ? किससे कहे ? कि कर्तव्यविमूढ था बेचारा मतिविहीन । ज्यों त्यों कर वेग से सभा के बाहर आया ॥११४॥

स निर्गत्य सभायाश्च पप्रच्छ द्वारपालकम् ।

कोऽयं श्रीपालकश्चेति ब्रूहि भो द्वाररक्षकः ॥११५॥

अन्वयार्थ—(सः) वह सेठ (सभायाः) सभा के बाहर (निर्गत्य) निकल कर जाता है (च) और (द्वारपालकम्) द्वारपाल को (पप्रच्छ) पूछता है (अयम्) यह (श्रीपालकः) श्रीपाल (कः) कौन है (च) और कहाँ से, कैसे आया (इति) इत्यादि वृत्तान्त (भो) हे (द्वाररक्षकः) द्वारपाल (ब्रूहि) कहो ।

भावार्थ—कहावन् है “चोर के पाँव कितने” चोर तनिक सी आहट-आवाज पाते ही भाग खड़ा होता है । उसी प्रकार धवल सेठ भी श्रीपाल की छाया देखते ही भाग खड़ा हुआ । ज्यों त्यों कर मुँह छिपाये राजसभा से बाहर आया । किसी से भी वार्त्तालाप करने का साहस नहीं हुआ । पता लगाये बिना भी चैन न था करे तो क्या करे । अन्ततः उसने द्वारपाल से रहस्य लेने का उद्यम किया । उसके एकान्त में रहने से ठीक रहेगा यह सोचकर उसे पूछा हे द्वाररक्षक तुम सच-सच बताओ यह श्रीपाल कौन है । कहाँ से कैसे आया है ? अथवा इसी द्वीप का है । इसके सम्बन्ध में मैं स्पष्ट जानना चाहता हूँ । आप द्वार रक्षक हैं तुम्हें सब कुछ ज्ञात होगा । अतः स्पष्ट इसका परिचय बताओ ॥११५॥

अहो श्रेष्ठिन् स च प्राह श्रीपालोऽयं भटोत्तमः ।

भुजाभ्यां सागरं सोऽपि समुत्तीर्य स्वपुण्यतः ॥११६॥

अत्रागत्य नृपस्यास्य सुतायाः समजायत ।

कन्याया गुणामलायाः प्राणनाथो विचक्षणः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(सः) वह द्वारपाल (प्राह) सेठ से बोला (अहो) हे (श्रेष्ठिन्) सेठ (अयम्) यह (भटोत्तमः) शूरो में शूरतम (श्रीपालः) श्रीपाल है (च) और (स्वपुण्यतः) अपने महापुण्य से (सः) वह (विचक्षणः) अद्भुत बुद्धिमान् (भुजाभ्याम्) हाथों से (सागरम्) समुद्र को (अपि) भी (समुत्तीर्य) पार कर-तैर कर (अत्र) यहाँ (आगत्य) आकर (अस्य) इस (नृपस्य) राजा की (सुतायाः) पुत्री (गुणमालायाः) गुणमाला (कन्यायाः) कन्या का (प्राणनाथः) भर्ता (समजायत) हुआ ।

भावार्थ सेठ के प्रश्न को सुनते ही द्वारपाल मानों चौंका ! आश्चर्य से कहने लगा । क्या सेठ जी आप नहीं जानते ? यह एक महान् भुजवली वीराग्रणी, सुभटशिरोमणि है । इसका नाम श्रीपाल है । यह महान् पुण्यात्मा और धर्मात्मा एवं दयालु है । अरे महाशय जी ! इसका धैर्य भी अद्वितीय है । यह स्वयं अपने विशिष्ट पुण्योदय से भुजाओं से अगम्य सागर को तैर कर यहाँ पधारा है यही नहीं, यहाँ के भूपति की गुणवती, सुकुमारी, अर्निद्यमुन्दरो कन्या के साथ विधिवत विवाह कर राज जमाई बना है । राजा की पुत्री गुणमाला का प्राणनाथ होकर यह विचक्षणा सर्वप्रिय और सर्वमान्य हो गया है । हमारे महाराज को भी इससे अप्रतिम प्रीति और गौरव है ॥११६ ११७॥ द्वारपाल के मुख से श्रीपाल कोटिभट का वृत्तान्त सुनते-सुनते ही धवल सेठ के पैरों तले की जमीन बंसने लगी । वह आश्चर्य, भय और पश्चात्ताप के गहन गर्त में फँस गया । वह विचार करने लगा—

तन्निशम्य भयस्त्रस्तः श्रेष्ठी चित्ते विचिन्तयत् ।

अहो मया कृतंकार्यं विधिश्चक्रे तथान्यथा ॥११८॥

अन्वयार्थ—(श्रेष्ठी) धवल सेठ (तन्निशम्य) श्रीपाल का वृत्तान्त सुनकर (चित्ते) मन में (व्यचिन्तयत्) सोचने लगा (अहो) हाय-हाय (मया) मेरे द्वारा (कृतम्) किया गया (कार्यम्) कार्य (विधिः) भाग्य ने (तथा) उससे (अन्यथा) विपरीत (चक्रे) कर दिया ।

भावार्थ—धवल सेठ ने द्वारपाल का कथन सुना । उसे तो मानों तूषार मार गया । लगा कि शिर पर वज्रवहार हुआ । करे तो क्या करे । माथा घूँमने लगा । वह विचार करता है आखिर यह हुआ क्या ? क्यों ऐसा हो गया ? यह किस प्रकार सम्भव है ? मैंने तो कुछ और ही कार्य किया था किन्तु विधाता (भाग्य) ने दूसरा ही नाटक रच दिया । सागर की उत्ताल तरङ्गों में, विकराल, मगरमच्छ, घड़ियालों के मुख में पडकर सदा को इसे विदा किया था परतु यह तो जिन्दा ही है । यही नहीं राजाश्रय पाकर, राजजवाई बनकर अत्यन्त बलिष्ठ हो गया है ॥११८॥ पुनः सोचता है -

जामातायन्नृपस्यासीत् महाविभव संयुतः ।

इदानीं मे न जानेऽहं किमप्यग्रे भविष्यति ॥११९॥

अन्वयार्थ—(यत्) यह जो कि (इदानीम्) इस समय (महाविभव) महान् वैभव (संयुतः) सम्पन्न (नृपस्य) राजा का (जामाता) जवाई (अपि) भी (आसीत्) हो गया

(इदानीम्) इस समय (अहम्) मैं (न जाने) नहीं जानता हूँ कि (अग्रे) आगे (मे) मेरा (किम्) क्या (भविष्यति) होगा ।

भावार्थ—अपराधी सदा व्याकुल रहता है । भय से त्रस्त होता है उसे निरन्तर अपने षड्यन्त्र के खुल जाने की आशङ्का बनी रहती है । जीवन में निराकुलता नहीं आती इसी से सुख और सन्तोष उससे दूर भाग जाते हैं । वेचारे धवल का भी होश हवाश हवा हो गया, वह विचार करता है देखो भाग्य की विडम्बना, मैं तो इसे यमलोक पहुँचा जान निश्चित सा हुआ, पर यह तो मस्त है । राजा श्रीखा धन-वैभव तो प्राप्त हुआ ही कन्यारत्न के साथ राज-सम्मान और प्रजा वात्सल्य भी प्राप्त हो गया । मैं अपराधी हूँ क्योंकि इस निदोष को छल से सागर में गिरवाया, उसकी पत्नि के साथ अत्याचार किया । यदि यह रहस्य खुल गया तो न जाने मेरा क्या होगा । कहाँ मैं कोट और कहाँ यह सिंह ? ठीक ही है दुर्जन के विचार भी वैसे ही होते हैं । वह अपने समान ही अन्य को भी नीच सङ्कीर्ण विचारज्ञ मानता है । श्रीपाल की शालीनता और उदारता मेरु की चोटी समान भला उसके ऊपर तक उसकी धुंधली आँखें भला कैसे पहुँच सकती थीं ? अतः वह पुनः वही विचारधारा में खा गया । दूध भरे स्तन से भी जोर रक्तपान ही करती है । सर्प मधुर दुग्ध पीकर भी विष का परित्याग नहीं करता है । देव-देवियों से तिरस्कृत हुआ, अपने साधियों से अपमानित हुआ तो भी उसी प्रकार की कुचेष्टाओं के करने का प्रयत्न करता है । वह पापी सोचता है कि मेरा दुष्कृत्य प्रकट हो उसके पहले येन-केन उपायेन इस श्रीपाल को यमलोक पहुँचाना चाहिए । अन्यथा मेरा मरण निश्चित है । पापियों की चालें टेडी और पेचीदी होती हैं । सज्जन-सरलस्वभावी भला कैसे समझ सकते हैं । अस्तु, उस दुष्टात्मा धवल ने पुनः उस निरपराध वीर को मारने का निष्फल प्रयत्न आरम्भ ॥११६॥

इत्यनुव्याय पापात्मा मन्त्रं कृत्वात्र मन्त्रिभिः ॥

चाण्डालकान्समाहूय बहुरूपविधायकान् ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(पापात्मा) पापी धवल सेठ इस प्रकार पुनः कुत्सित विचार करके मन के लड्डू खाने की इच्छा करता है । दुरात्मा भला अपना स्वभाव छोड़ता है क्या ? (इति) इस प्रकार श्रीपाल के घात का उपाय (अनुव्याय) चिन्तन कर (अत्र) फिर यहीं (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के साथ (मन्त्रम्) मन्त्रणा (कृत्वा) करके (बहुरूपविधायकान्) अनेक रूप धारी (चाण्डालान्) बहुरूपियों को (समाहूय) बुला कर कहा—

नृत्यं कृत्वा नृपस्याग्रे यूयं पश्चादहं पिता ।

अस्माकं त्वं सुतो वत्स श्रीपाल कथं गतोऽसिभो ॥१२१॥

अन्वयार्थ—भाव से कृष्ण नाम से धवल उन भांडों को कुयुक्ति सिखाते हुए कहता है (यूयम्) आप लोग (नृपस्य) राजा के (अग्रे) सामने (नृत्यम्) नाच (कृत्वा) करके (पश्चात्) फिर श्रीपाल से कहना (अहम्) मैं (पिता) पिता हूँ (त्वम्) तुम (अस्माकम्) हमारे

(सुतः) पुत्र हो (वत्स) हे बच्चे ! (श्रीपालः) श्रीपाल (भो) हे पुत्र (वच) कहाँ (गतोऽसि) चले गये ।

भावार्थ—उम नीच पापी धवल सेठ ने पुनः निरपराध विचक्षण उस श्रीपाल को मरवाने का असफल प्रयास विचारा । जैसे ही जैसे इसे मृत्युघाट उतार देना चाहिए । इस प्रकार मन में सोचकर मन्त्रियों को बुलाया । यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार उन लोभी दुराचारियों ने भी उसके षड्यन्त्र को कार्यरूप करने की सलाह दी । फलतः सर्वजन से यह निर्णय किया कि चाण्डालों-नृत्यकारों को बुलाया जाय । ये नट लालची होते हैं, नाना रूप बनाने में पटु होते हैं । राजा भी नृत्यगानादि का प्रिय है । ये लोग प्रथम अनेक प्रकार से नाचें, गायें, बजायें, नाना प्रकार से अपनी नट कला के प्रदर्शन करेंगे । राजा प्रसन्न हो इन्हें इनाम देगा । इस कार्य के लिए वह अवश्य ही श्रीपाल को पारितोषक वितरण की आज्ञा देगा । वस, ये लोग उसे देखते ही चिल्लाएँ कि हे बेटा, हे भाई, हे सुत, हे मामा, भो भर्ता तुम कहाँ चले गये ! क्यों रुष्ट हुए ? हम लोग रा-रो कर पागल हो गये इत्यादि कह-कह कर रोयेंगे-चिल्ला-येंगे । राजा इसका कारण पूछेगा तो ये स्पष्ट कह देंगे कि श्रीपाल हमारा पुत्र है, जातीय है इत्यादि । वस राजा अवश्य ही क्रुद्ध हो उसे मृत्यु दण्ड दे देगा क्योंकि उसकी पुत्री को भांड ने व्याह लिया यह धर्मात्मा नीतिज्ञ राजा को सहन न हो सकेगा । इस प्रकार मन्त्रणा कर उसने उसी समय चाण्डालों-नटों को बुलवाया और एकान्त में उन्हें भले प्रकार अपना मन्तव्य अवगत कराया । उसने उनसे कहा—भो नटराजो ! आप नृत्य, गान और उछल-कूद में पूर्ण निपुण हो । आप सर्व प्रथम राजदरबार में बड़ी चतुराई से अपना कौशल कला-विज्ञान प्रदर्शित करना पुनः अपना जाल अत्यन्त सावधानी से बिछाना । यदि फन्दा सोधा डाला तो समझ लो तुम्हारा दुःख दारिद्र्य पलायन कर जय्येगा । तुम श्रीपाल को अपना बेटा कहना, स्वयं को पिता बताना । इसी प्रकार सब जन सम्बन्ध जोड़-जोड़ मायावी आँसू बहाना । वस काम बन जायेगा ॥१२० १२१॥

सिद्धे कार्ये च युष्मभ्यं दास्येऽहं भूरिसो धनम् ।

श्रीपाल प्राणनाशार्थं तानेवं प्राह पापकृत् ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(कार्ये) काम के (सिद्धे) सिद्ध होने पर (श्रीपालप्राणनाशार्थम्) श्रीपाल के प्राणनाश के लिए (युष्मभ्यम्) तुम लोगों को (भूरिसः) बहुत सा (धनम्) धन (ग्रहम्) मैं (दास्ये) दूँगा (एवम्) इस प्रकार (च) और (पापकृत्) पापी (प्राह) बोला ।

भावार्थ—इस प्रकार धवल सेठ ने उन्हें भलीभाँति समझा दिया और आश्वासन दिया कि श्रीपाल के मर जाने पर मैं तुम्हें यथेच्छ धन दूँगा । मुँह भाँगा द्रव्य देकर मालोमाल बना दूँगा । तुम कोई चिन्ता मत करो ॥१२२॥

तेऽपि नीचा धनार्थं च लम्पटाः कपटाः खलाः ।

राजाग्रे वेगतो गत्वा कृत्वा राग मनः प्रियम् ॥१२३॥

नानारूपैश्च नृत्यैश्च वादित्रैश्च मनोहरैः ।
 प्रेषणैश्चलनैश्चापि सस्त्रीकाहावभावकैः ॥१२४॥
 गानादिभिस्तदा सर्वे रञ्जयन्ति स्म भूपतिम् ।
 सम्प्रदर्श्य कलास्सर्वास्तान् सभामनुरञ्जयन् ॥१२५॥
 तदा हृष्टो महीनाथस्तेभ्यो दापितवान् धनम् ।
 सुधीः श्रीपालहस्तेन वस्त्रादिक समन्वितम् ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(ते) वे (अपि) भी (नीचा) नीच (लम्पटाः) लालची (कपटाः) कपटी (च) और (खलाः) दुर्जन (धनार्थम्) धन के लिए-लोभ से (वेगतः) शीघ्र ही (गजाग्र) राजा के सामने (गत्वा) जाकर (मनः प्रियम्) मन को अच्छा लगाने वाला (रागम्) रागोत्पादकदृश्य (कृत्वा) करके (नानारूपैः) अनेक प्रकार के वेशों से (नृत्यैः) नाचों से (मनोहरैः) सुन्दर (वादित्रैः) बाजों में (च) और (प्रेषणैः) भेजने (च) और (चलनैः) हलन-चलन (च) और (अपि) भी (सस्त्रीका) अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ (हाव-भावकैः) भौं, नेत्रादि अङ्गों का चालन (गानादिभिः) मधुर राग भरे गानादि द्वारा (सर्वे) सर्वजन (भूपतिम्) राजा को (रञ्जयन्तिस्म) प्रसन्न कर लिया (तदा) उस समय (सर्वान्) सम्पूर्ण (तान्) उन (कलान्) कौशलों को (सम्प्रदर्श्य) दिखाकर (सभाम्) सभा को (अनुरञ्जयन्) प्रसन्न करते हुए, (तदा) तब (हृष्टः) प्रसन्न (महीनाथः) राजा ने (तेभ्यो) उन नटों को (सुधीः) बुद्धिमान (श्रीपालहस्तेन) श्रीपाल के हाथों से (वस्त्रादिकसमन्वितम्) वस्त्रालङ्कार सहित (धनम्) धन (दापितवान्) दिलावाया ।

भावार्थ—“लोभ पाप का बाप बखाना” युक्ति के अनुसार उन चाण्डालों ने सेठ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । ठीक ही है “अर्थोदोषान्नपश्यति” स्वार्थीजिन दोष की ओर दृष्टि नहीं डालते । वे पापो, नीच, धनलोलुप, कपटी, महाक्रूर दुर्जन, लम्पटी शीघ्र ही राज-सभा में जा पहुँचे । द्वारपाल से आज्ञा ले राजा की अनुमति प्राप्त करली । अब क्या सपरि-दार वे भूपति के मनोभावानुसार नृत्य, गान, नानारूप, वादित्र वादन हाथ-पैर संचालन-कूद फांद भौंह चलाना, नाक सिकोडना, ओठ चलाना, मुँह मटकाना, कमर मटकाना आदि अनेक प्रकार के हाव-भाव आदि प्रदर्शन करने लगे । स्त्रियों के साथ अपनी सम्पूर्ण नाट्य कलाओं का अत्यन्त चतुराई से प्रदर्शन किया । राजा मनोहर रूपराशि और अनूठे वाद्यवादन, नर्तन, गायन पर मुग्ध हो गये । यही नहीं समस्त सभासद् वाह-वाह, साधुवाद करने लगे । चारों ओर अपूर्व आनन्द की लहर दौड़ गयी । प्रत्येक सभासद उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगे । पोरी-पोरी मटका-चटका कर किया गया नाटक सभी के मन और नयन में समा गया । इस प्रकार स्वर, ताल, लय का संयोजन कर जब समस्त जनों को रञ्जयमान कर दिया तो राजा और अधिक आनन्दित हुआ । भूपति ने प्रसन्न हो उसी समय अपने विश्वस्त, बुद्धिमान जंवाई श्रीपाल जी को बुलाया और उन नर्तक चाण्डालों या नटों को वस्त्र, अलङ्कार रुपये पैसे आदि वन देकर सन्तुष्ट करने की आज्ञा दी । मनोषी श्रीपाल ने भी श्वसुर भूपाल की आज्ञानुसार उनके योग्य

पोषाक गहने, हीरा, मोती, पन्ना, मुहुर, सिकके आदि उन्हें पारितोषक रूप में प्रदान किये ।
उधों ही श्रीपाल उन्हें भेंट स्वरूप चीजें प्रदान करने लगे कि सारा रङ्ग ही भङ्ग हो गया ।
सबके चेहरों का रङ्ग ही उड़ गया । सब हक्का-बक्का आश्चर्य में डूबने लगे । आँखें खुली की
खुली रह गई । देखिये कैसे क्या हुआ—॥१२३ से १२६॥

राजाज्ञया यदा सोऽपि श्रीपालो दातुमुद्यतः ।

तावत् ते तं समालोष्य कृत्वा संरोदनं खलाः ॥१२७॥

तन्मध्ये कोऽपि चाण्डालो जगौ पापीति तं प्रति ।

अरे पुत्र गच्छस्व त्वं गतोऽस्येतद्दिनावधि ॥१२८॥

काचिन्नीचा गले लग्ना रुदन्ती पुत्र-पुत्र भो ।

त्वं दृष्टोऽसि मम प्राणावल्लभो बहुभिदिनैः ॥१२९॥

काचिन्मे देवरोमूढा काचिन्मे बन्धुरग्रजा ।

जामाता पापिनी काचिद् भागनेयश्च सा परा ॥१३०॥

एकश्चाण्डालकः प्राह भो राजन्नयमुत्सुकः ।

कुटुम्बकलहं कृत्वा रुष्टोऽसौसागरेऽपतत् ॥१३१॥

अद्यभाग्येन संजीवदृष्टोऽयमत्र भूतले ।

अन्यैश्चाण्डालकैश्चाऽपि स्वेच्छया लपितं खलैः ॥१३२॥

अन्वयार्थ (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (अपि) भी (यदा) जिस समय (राजा-
ज्ञया) राजा की आज्ञा से (दातुम्) पारितोषिक देने को (उद्यतः) तैयार हुआ (तावत्) उसी
समय (ते) वे (खलाः) मूर्ख नट (तम्) उस श्रीपाल को (समालोष्य) आँख फाड़ देखते हुए,
(संरोदनम्) जोर जोर से रोना (कृत्वा) करके (तन्मध्ये) उनमें से (कः) कोई (अपि) भी
एक (पापी) पापी (चाण्डालः) नर्तक (तं प्रति) श्रीपाल से (जगौ) बोला (अरे) भो (पुत्र)
सुत ! (त्वम्) तुम (क्व) कहाँ (गतः) गये (काचित्) कोई (नीचा) नीच (गले लग्ना)
गले में चिपटकर (एतत्) इतने (दिनावधि) दिनों से (गतोऽसि) तुम चले गये, (काचित्)
कोई स्त्री (रुदन्ती) रोती हुयी (भो) हे (पुत्र) बेटा (पुत्र) लाल (मम्) मेरे (प्राण-
वल्लभः) प्राणप्रिय (बहुभिः) बहुत (दिनैः) दिनों बाद (दृष्टः) देखे गये (असि) हो ।
(काचित्) कोई (मे) मेरे (मूढ) मूर्ख (देवरः) देवर (काचित्) कोई (मे) मेरे (अग्रजः)
बड़े (बन्धुः) भैया (काचित्) कोई (पापिनी) पापिनी (जामाता) जंबाई (अपरा) दूसरी
(सा) वह स्त्री (भागनेयः) भानजा कहने लगी, (च) और (एकः) एक (चाण्डालकः)
चाण्डाल (प्राह) बोला (भो) हे (राजन्) नृप (अयम्) यह (उत्सुकः) उत्तेजित (रुष्टः)
रुठकर (कुटुम्बकलहं) आपस में झगडा (कृत्वा) करके (असौ) यह (सागरे) समुद्र में

(अपतत्) गिर गया, (अद्य) आज (अत्र) यहाँ (भूतले) संसार में (अयम्) यह (संजीवन्) जीवित (भाग्येन) शुभभाग्य से (दृष्टः) दिखा है, (च) और (अन्यैः) दूसरे (चाण्डालकैः) वे तीव्र बहुरूपिया (खलैः) दुष्ट (अपि) भी (स्वेच्छया) इच्छानुसार यद्वा तद्वा (लपितम्) बोलने लगे ।

भाषार्थ—महाराज धनपाल के आदेशानुसार कोटिभट श्रीपाल उन बहु वेषधारी नटों से इनाम लेने को कहने लगा । वह राजा के अभिप्रायानुसार उन्हें वस्त्रालङ्कार, मणि, मुक्ता, रुपया आदि वितरण करने को तत्पर हुआ । परन्तु यह क्या यहाँ तो रङ्ग-भङ्ग हो गया । किसी को कुछ समझ में ही नहीं आया कि यह सत्य है या इन भांडों का कोई खेल प्रदर्शन है । ज्यों ही श्रीपाल उन्हें इनाम देने आया कि उन पूर्व पाठित—पहले सिखाये—पढाये खिलाड़ियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया । किसी ने हाथ पकड़ा, किसी ने शिर । सब एक साथ फूट-फूट कर बनावटी रोदन करने लगे । गला फाड़-फाड़ कर विलाप करने लगे । उनमें से एक दुष्ट उस श्रीपाल की ठोड़ी पकड़ कर अत्यन्त प्रेमानुराग दिखाते हुए बोला, भो प्राण-प्रिय सुत तुम कहाँ चले गये, दूसरी बोल उठी, बेटा-बेटा इतने लम्बे समय से कहाँ रहे, तेरे लिए देखने को ही मानों मेरे प्राण नहीं निकले, इस प्रकार बोलती हुयी उसके गले में लिपट गई । कोई हे प्राणनाथ, प्रिय तुम बहुत दिनों से आज दिखे हो, । हे मूर्खाधिराज देवर ! वस्तुतः तुम निरे अज्ञानी हो, भला कोई अपना घर छोड़ता है ? क्या जुओं के भय से कोई लहंगा फेंकता है ? कोई बाली प्यारे भैया तुम कहाँ गये थे । कोई पापिनी कहने लगी मेरी बेटा को छोड़कर आपको जाना उचित था क्या ? जंबाई जी आपके जाने से उसे और हम लोगों को कितना कष्ट हुआ मालूम है ? कोई मामी बनकर बोल उठी भानजे जी आप को इतना अहंकार शोभा नहीं देता । घर-बार छोड़ा तो छोड़ा प्राणों की भी बाजी लगा बैठे । इस प्रकार नटनियों ने भरपूर-पूर्णतः अपना तिरिया चरित्र फेंकाया । इसी बीच एक दुर्जन्त नट-नायक, राजा धनपाल का सम्बोधित कर बोल उठा, भो भूपते ! यह बहुत गुस्सैल है, उतना ही भाबुक है, देखिये तो इसकी लीला ! एक दिन घर में सबके साथ कलह कर डाला । सारे कुटुम्बी वस्त हो गये । तो भी इसे सन्तोष न हुआ । कोपानल से लाल ताता हो गया । आब-देखान-ताब बस डीढ़ चला और रोकते-रोकते भी भीषण समुद्र में कूद पड़ा । “क्रोध अन्धा होता है” कहावत चरितार्थ कर ही दी । उसी दिन से हम लोग इसकी छानबीन करते रहे । आज हे राजन् आपके प्रसाद से हमारे इस कुलदीपक की प्राप्ति हुयी है । हमारा महान पुण्योदय है जो यह मृत्यु मुख में जाकर भी जीवित मिल गया । उसी समय अन्य अन्य वे धूर्त जो-जो जैसा जिनके मन में आया बोलने लगे । नाना प्रकार उसे तायना—उलाहना देने लगे । रो-रोकर आकाश गुंजा दिया पर पीड़ा किसे थी ? बाहर मात्र शोक का प्रदर्शन, परन्तु अन्तरङ्ग में धन की चाह का आशा दीप जल रहा था, जगमगा रहा था । यह है उनकी दशा । अब जरा दर्शकों और मुख्यतः राजा की ओर आ जाइये । देखिये इधर क्या होता है ? ॥१२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२॥

धनपालस्तदा राजा महाविस्मय शोकभाक् ।

भो श्रीपाल जगादंतत् किं सत्यं मे वद द्रुतम् ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(तदा) उन नीचों के असद् प्रदर्शन से उस समय (राजा) भूपति (धनपालः) धनपाल (महाविस्मय) अत्यन्त आश्चर्य (शोकभाक्) एवं शोक भरा (जगद) बोला (भो) हे (श्रीपालः) श्रीपाल (एतत्) यह (किम्) क्या ? (मे) मुझ से (द्रुतम्) शीघ्र (सत्यम्) यथार्थ (यत्) कहो ।

भावार्थ—उन असद्भाषी नर्तक-नर्तकियों के इस प्रकार वार्तालाप, रुदन-शोक प्रदर्शन को देखकर महाराज धनपाल को बहुत आश्चर्य हुआ । वह सोच भी नहीं पाया था कि उसके साथ इस प्रकार का घोखा हो सकता है । क्योंकि बौतरागी मुनिराज की भविष्यवाणी के अनुसार उसने अपना कन्यारत्न अपार वंभव सहित उसे दिया था । इस समय वह शोक से पीड़ित था क्योंकि कुल-वंश, जाति विहीन व्यक्ति जँवाई हो गया । स्वयं इसका कुलवंश दूषित हो गया । अतः कन्या-पुत्री का क्या होगा ? वह घर की रही न घाट की ? अब क्या करें ? अतः श्रीपाल ही प्रमाण है अब पूछे भी ता किसे ? अस्तु वह-राजा श्रीपाल ही से इसका रहस्य खोलने को कहता है । हे श्रीपाल ! तुम सच-सच बताओ, यह सब क्या है ? तुम कौन हो ? यह किस प्रकार काण्ड हुआ है स्पष्ट करो ? क्या इनका कहना सत्य है ? यदि सत्य है तो तुम राजद्रोही महापातको दण्ड के पात्र हुए । यदि इनका स्वांग गलत है तो तुम अपना सही कुल-वंश-जाति सिद्ध करो अन्यथा तुम्हें महादण्ड का पात्र होना होगा । शीघ्र कहो यह सब क्या है ? ये कौन हैं ? इनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? आखिर इसका रहस्य क्या है ? ॥१३३॥

तन्निशम्य सुधीस्तोऽपि श्रीपालो निजमानसे ।

कर्मोदयोऽयमित्युच्चैस्तूष्णीभावेन संस्थितः ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (सुधीः) बुद्धिमन् (श्रीपालः) श्रीपाल (अपि) भो (तत्) उसे (निशम्य) सुन कर (निजमानसे) अपने मन में (अयम्) यह (कर्मोदयम्) कर्म का उदय है (इति) ऐसा विचार (उच्चैः) पूर्णतः (तूष्णीभावेन) मौन भाव से (संस्थितः) रह गया ।

भावार्थ—भूपति का आदेश सुनकर तथा उन नीच-अज्ञानी तुच्छ भाण्डों-चाण्डालों की कर्तृत्व देखकर श्रीपाल को न आश्चर्य था न विस्मय । तत्त्वज्ञ को संसार में न कुछ आश्चर्य-कारी होता है न भयप्रद । अतः वह मन में तत्त्व विचार करता है । प्राणी अपने उपार्जित कर्मानुसार दुःख-सुख का भागी होता है । यह मेरा ही कदुकर्म का फल है । अशुभोदय का यह दृश्य अवश्य भोगना होगा । चलो देखें यह कर्म क्या विडम्बना प्रदर्शित करता है ? इस प्रकार कर्म सिद्धान्त का स्मरण कर तथा यह सोचा कि मेरा गवाह यहाँ कौन है ? कोई नहीं । अतः समय आने पर इन्हें देखा जायेगा । अभी तो इस नाटक का और एक दृश्य देखना चाहिए” इस प्रकार ऊहा-पोह कर वह पूर्णतः शान्त-मौन हो गया । “मौनं सम्मति लक्षणम्” युक्ति के अनुसार राजा का कोप इसके मौन से असीम हो गया । क्रोधाविष्ट मनुष्य को विवेक कहाँ ? धैर्य भी कहाँ ? बस क्या हुआ ? ॥१३४॥

ततो भ्रान्त्यातिरुष्टेन भू भुजा तेन सत्त्वरम् ।

द्विधा कर्तुंभिमं नीचं नीचहस्ते समर्पितम् ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(ततः) श्रीपाल से उत्तर न पाकर (भ्रान्त्या) भ्रमवश (तेन) उस (अतिरुष्टेन) अत्यन्त क्रुपित हुए (भूभुजा) राजा ने (सत्त्वरम्) शीघ्र ही (इमम्) इस (नीचम्) नीच श्रीपाल को (द्विधा) दो टुकड़े (कर्तुम्) करने के लिए (नीचहस्ते) चाण्डाल के हाथ में (समर्पितः) दे दिया ।

भावार्थ—श्रीपाल के मौनभाव रूपी वृत्त ने भूपति की कोपाग्नि को अति तीव्ररूप में प्रज्वलित कर दिया । अग्नि-पीछे के विचार बिना ही उसने शीघ्रता से चाण्डाल शूलीरोहण करने वाले को बुलाया और उसे आज्ञा दे डाली कि “इस दुष्ट धोखे बाज मूर्ख श्रीपाल को मृत्यु के घाट उतार दो, बिना विजम्ब इसके दो टुकड़े कर डालो । फिर क्या था ? इधर जाल रचने वाले हर्षित हो रहे थे, उधर चाण्डाल श्रीपाल को हाथ-पाँव में बेड़ी डाले ले जा रहे थे । इस अनहोनी आकस्मिक घटना से पूरा पुर उथल-पुथल हो गया । बेतार के तार की भाँति—यह समाचार चारों ओर उस द्वीप के घर-घर में जा पहुँचा और सर्वत्र इसकी कटु आलोचना, क्रिया, प्रतिक्रिया, चर्चा-वार्ता होने लगी ॥१३५॥ तब क्या हुआ—

तदान्तः पुर पौराद्यैर्हाहाकारः पुरेऽभवत्

अभ्येत्य गुणमालां काचित्सखीत्याह सुन्दरीम् ॥१३६॥

करोषि मण्डनं कस्यार्थं यतस्तेऽद्य बल्लभः ।

नीयते मारणार्थं स मातङ्गजाति-दोषतः ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (पुरे) पुर में (अन्तः पुरपौराद्यैः) रनवासी और पुरवासियों द्वारा (हा हाकारः) हा हा कार (अभवत्) फैल गया—हो गया उसी समय (काचित्) कोई (सखी) सहेली (सुन्दरी) सुन्दरी (गुणमाला) गुणमाला को (अभ्येत्य) प्राप्त कर (पास-जाकर) (आह) बोली (त्वम्) तुम (कस्यार्थम्) किस के लिए (मण्डनम्) शृंगार (करोषि) करती हो (यतः) क्योंकि (अद्य) आज (ते) तुम्हारा (बल्लभः) पतिदेव (सः) वह श्रीपाल (मातङ्गजातिदोषतः) चाण्डाल जाति का है इस दोषारोपण से (मारणार्थम्) मारने के लिये (नीयते) ले जाया गया है ।

भावार्थ—विद्युत्-गति से श्रीपाल का मृत्युदण्ड समस्त पुर में व्याप्त हो गया । गुणी-उदार सज्जन किसका प्रिय नहीं होता ? उदार चरितानां वसुधैवकुटुम्बकम् उक्ति का श्रीपाल अपवाद न था । वह जिस दिन से राज जैवाई हुआ उसके पहले ही पुर प्रवेश समय से ही जन जन के गले का हार हो गया था । इस अप्रत्याशित कराल दुर्घटना से आश्चर्य-वृद्ध सभी हा हाकार कर उठे । काम धाम आहार पान सब कुछ छोड़ कर श्रीपाल के पीछे दौड़ पड़े । कोई राजा की निन्दा करता, कोई इन नटों की कोशता, कोई राजा की अदूरदर्शिता प्रकट करता,

नारियाँ अश्रुपात करती दौड़ पड़ी, कोई राजपुत्री के आकस्मिक दुर्भाग्य पर अफसोस करती, कोई राजा को कोशती, कोई वृद्धा राजा की बुद्धि की निन्दा करती चली जा रही थीं। कोई राजकुमारी के सौभाग्य की चिन्ता कर रही थी तो कोई राजा की जल्दीबाजी पर बड़-



बड़ा रही था। अनेकों प्रकार से अफवाह फैल गई। सर्वत्र दुःख और शोक का वातावरण छा गया। उसी समय एक दासी दौड़ती हुयी राजकुमारी गुणमाला के पास आई और बोली "हे सुन्दरि, भो भोली ! अब शृंगार क्या कर रही हो ? किसके लिए यह साजसज्जा है ? छोड़ो सौभाग्य चिन्हों को, भरी सुनतो आज तेरे सौभाग्य का तारा सदा को अस्त होने जा रहा है। तुम्हारे प्राणवल्लभ-पति को राजा ने मृत्यु दण्ड दिया है। कुछ मातङ्ग जो अभी कुछ समय पूर्व राजसभा में नृत्यादि कर रहे थे, उनका कहना है कि श्रीपाल हमारी जाती वंश का है। इसी से राजा कुपित हो गया है। श्रीपाल इस विषय में मौन है। अतः भूपति का क्रोध और अधिक भडक गया और उसने उसे

जल्लादों के हाथ में देकर उसके दो टुकड़े करने की आज्ञा घोषित की है।" सुनते ही कुमारी पर गाज गिरी। मानों वज्र आ पड़ा। बिपत्ति का पहाड़ आने पर भी उत्तम-बुद्धिमान जन धैर्य और विवेक नहीं खो देते। पुरुषार्थ से काम लेते हैं। अस्तु, कुमारी तत्क्षण शूलोरापण स्थान पर जाने को उद्यत हुयी और अविलम्ब जा पहुँची ॥१३६ १३७॥

तदाकर्ण्य द्रुतंगत्वा श्रीपालं प्रत्युवाच सा ।

अहो कान्त जिनेन्द्रोक्तं ज्ञातं सिद्धान्तं सन्मते ॥१३८॥

नाथ मत्कृपयात्मीयं कुलं कथयमेधूना ।

ततो वीरोऽवदत् कान्तेवदन्येतेऽग्रमत्कुलम् ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(तदा) दासी द्वारा श्रीपाल के मारने की बात (आकर्ण्य) सुनकर (द्रुतम्) शीघ्र ही (गत्वा) जाकर (सा) वह (श्रीपालम्) श्रीपाल के (प्रति) प्रति (उवाच)

वोली (जिनेन्द्रोक्तज्ञातसिद्धान्त) जिनेन्द्र भगवान् प्रणीत सिद्धांत के ज्ञाता (सन्मते) श्रेष्ठ बुद्धि-शालिन् (अहो) भो (कान्तेः) पतिदेव (नाथ) भो प्राणनाथ ! (अधुना) इस समय (मत्कृपया) मुझ पर दयाकर (मे) मेरे लिए (आत्मीयं) अपना (कुलम्) कुल (कथय) कहिये । (ततः) यह सुनने पर (वीरः) सुभटप्रणी श्रीपाल (अवदत्) बोला (कान्ते) हे प्रिये (एते) ये नट (मत्कुलम्) मेरा कुल (वदन्ति) कह रहे हैं ।

भावार्थ—वोली भूख से लज्जाधार सुन पति के प्राणनाथ आशङ्का से वह महासती गुणमाला अविलम्ब प्रमशान घाट में जा पहुँची । श्रीपाल को बन्धनबद्ध देख उसके दुःख और शोक असीम हो गये । वह अश्रुपात करती हुयी हथिर वाणी में बोली भो देव, हे प्राणेश्वर यह सब क्या है ? आप जैनसिद्धान्त के पारङ्गत हैं । जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कथित जिनवाणी के सार के मर्मज्ञ हैं । परम दयालु हैं मुझ पर कृपा कीजिये, भो प्राणनाथ अति शीघ्र आप अपना कुल-वंश जाति मुझे ज्ञात कराइये ! प्रभो मेरे सर्वस्व बोलिये यथार्थता क्या है इसे स्पष्ट कीजिये । पत्नी की प्रार्थना सुनकर धीर वीर, निर्भीक सिंहसम पराक्रमी श्रीपाल मुस्कुराता हुआ बोला, हे प्रिय, भो कान्ते ! ये नटलोग मेरा कुल कह रहे हैं न ? क्या तुमने नहीं सुना ? बस इसी को सत्य मान लो । ये पूरा परिचय दे रहे हैं ॥१३८, १३९॥

विचक्षणाह सा स्वामिन्न वक्तव्यमिदं त्वया ।

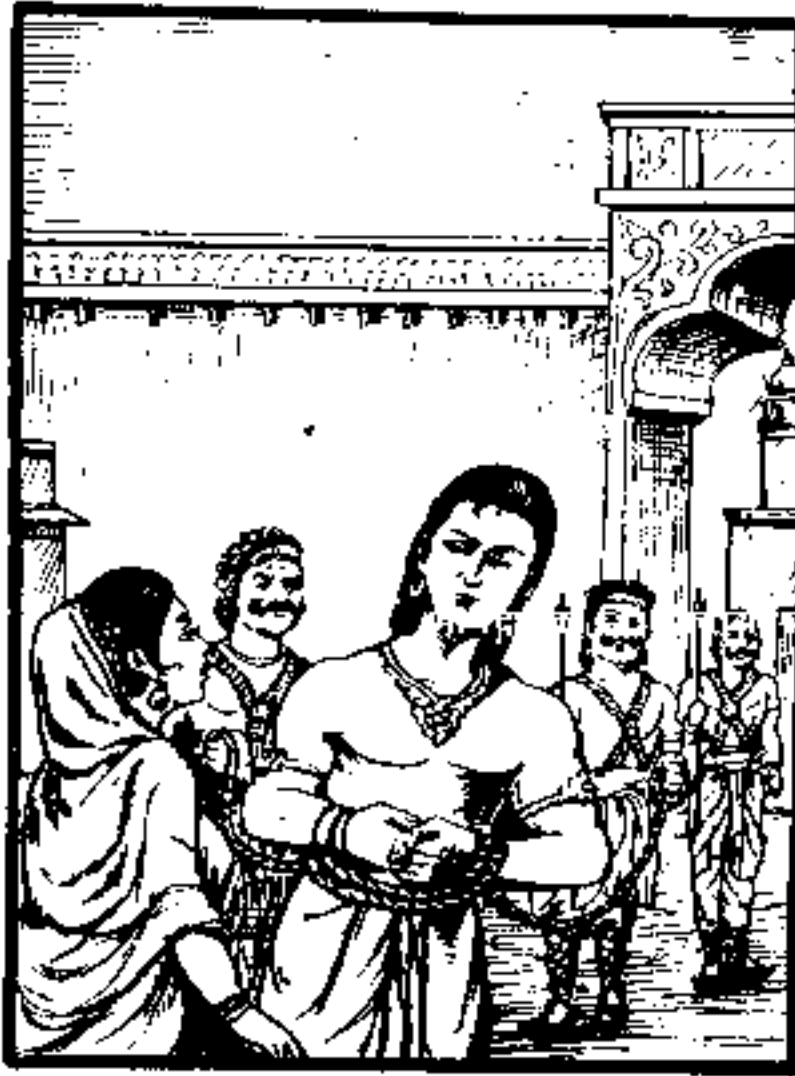
अद्यापि किं त्वयानाथ कुलपूर्तं न गोप्यते ॥१४०॥

किन्त्वादिशाशु मे याथातथ्येन स्वकुलोत्तमम् ।

नोचेत्प्राणान् मुञ्चामि पुरस्ते प्राणवल्लभः ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(सा) वह (विचक्षणा) विचक्षणमती (आह) वोली (स्वामिन्) हे स्वामी (इदम्) यह (त्वया) आपको (न) नहीं (वक्तव्यम्) करना चाहिए । (किं) क्या (अद्यापि) आज भो (नाथ) प्रभो (त्वया) तुम्हारे द्वारा (पूर्तम्) पवित्र (कुलम्) कुल (न गोप्यते) नहीं छुपाया जा रहा है क्या ? यह सत्य नहीं (किन्तु) परन्तु (याथातथ्येन) यथार्थ रूप से (मे) मुझ से (उत्तमम्) उत्तम (स्वकुलम्) अपने कुल को (आशु) शीघ्र ही (आदिश) कहिये (नोचेत्) यदि आप नहीं बताते हैं तो (प्राणवल्लभः) भो प्राणप्रियनाथ (ते) आपके (पुरः) सामने ही (प्राणान्) प्राणों को (मुञ्चामि) छोड़ती हूँ ।

भावार्थ—विचक्षणमति महासती गुणमाला भला इस असहप्रलाप को किस प्रकार स्वीकार कर सकती थी । उसने कहा कि यह कदापि सत्य नहीं हो सकता है ? आप अभी भी इस प्रकार बोल रहे हैं । क्या यह सत्य है ? नहीं-नहीं कदापि यह सत्य नहीं हो सकता । भो स्वामिन् आपको इस प्रकार नहीं कहना चाहिए ? आज इस समय भी आप क्या अपने पवित्र कुल को नहीं छिपा रहे हैं ? नीच जाति कुलोत्पन्न भला भुजाओं से सागर की छाती चीरने में समर्थ हो सकता है ? उत्तम कुल का आचार-विचार, मदाचार, धर्मज्ञता, तत्त्वविज्ञान क्या कभी नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति में पाया जा सकता है ? कभी नहीं । मैं जानती हूँ आप जैसे



शालीन महापुरुष क्या निन्दकुल में हो सकते हैं ? किन्तु राजा को विश्वास दिलाना अनिवार्य है । अतः आप मुझ पर अनुकम्पा कर अतिशीघ्र याथा तथ्य अपने उत्तम कुल का परिचय दीजिये । अब हास्य छोड़िये । यह अपेक्षा का समय नहीं, परिहास का अवसर नहीं । आपको अपना सही परिचय देना ही होगा । यदि आप नहीं बताइयेगा तो निश्चय ही वैद्यके आप के पूर्व यही आपके चरण सानिध्य में प्राण विसर्जन कर दूंगी । हे प्राणेश ! इसमें तनिक भी संदेह न समझे ? इस प्रकार अपनी प्राण प्रिया का दृढ़ संकल्प और उचित विचार ज्ञात कर श्रीपाल को उत्तर देना पड़ा ॥१४०. १४१॥

इत्याग्रहेण सोऽप्याह शृणु त्वं प्रियवत्सले ।
 श्रेष्ठिनो धवलस्यास्य पोते कान्ताऽस्ति मेऽधुना ॥१४२॥
 नाम्ना मदनमञ्जूषा विद्याधरनृपात्मजा ।
 सा मे सर्वं विजानाति कुलवृत्तादिकं ध्रुवम् ॥१४३॥
 तां सतीं पृच्छ शोकार्ता मद् वियोगादि तापनीम् ।
 इत्पेवं गुणमालाशु श्रुत्वा पतिमुखाम्बुजात् ॥१४४॥
 शिवकां सा समारूढ्य गत्वा तत्र द्रूतं सती ।
 शुभ भावयुतां वीक्ष्य गुणमालाति शोकिनी ॥१४५॥
 सखीववेवं सद्भुतः श्रीपालस्य कुलक्रमम् ।
 तच्छ्रुत्वाप्यमुवा साह श्रीपालः कोऽत्र सुन्दरि ! ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (आग्रहेण) आग्रह-प्रार्थना करने से (सः) वह श्रीपाल (अपि) भी (आह) बोला (प्रियवत्सले) वात्सल्यमयी प्रिय (त्वम्) तुम (धणु)

सुनो (अस्य) इस (धवलस्य) धवल (श्रेष्ठिनः) सेठ के (पोते) जहाज में (अधुना) इस समय (मे) मेरी (कान्वा) पत्नी (मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा (नाम्ना) नाम की (विद्या-धरनृपात्मजा) विद्याधर राजा की पुत्री (यस्मिन्) है । (सा) वह (मे) मेरी (कुलद्वारिका) कुल, वंश, जाति आदि (सर्वम्) सम्पूर्ण विवरण (ध्रुवम्) निश्चय (विजानाति) जानती है (मत्) मेरे (वियोगादितापनीम्) मेरे वियोग आदि से सन्तप्त (शोकार्ताम्) शोक पीड़ित (ताम्) उस (सतीम्) सती को (पृच्छ) पूछो (पतिमुखाम्बुजात्) पति के मुखकमल से (एवम्) इस प्रकार (श्रुत्वा) सुनकर (गुणमाला) गुणमाला (इति) ऐसा ही करती हूँ निश्चय कर (आशु) शीघ्र ही (णिविकाम्) पालकी में (आरुह्य) सवार होकर (द्रुतम्) शीघ्र-तत्काल (तत्र) वहाँ (गरवा) जाकर (सा) उस (सती) माधवी (अतिशोकिनी) अत्यन्त-शोक कुलित (गुणमाला) गुणमाला ने (शुभभावयुताम्) निर्मल पारणाम वाली उस मदन-मञ्जूषा को (वीक्ष्य) देखकर पूछा (सखी) हे सखी ! (मद्भर्तुः) मेरे पति (श्रीपालस्य) श्रीपाल का (कुलक्रमम्) कुल परम्परा (वद) कहो (एवं) इस प्रकार (तत्) उसे (श्रुत्वा) सुनकर (अमुदा) खिन्न (अपि) भी (सा) वह मदनमञ्जूषा (आह) बोली (सुन्दरि) हे शोभने ! (अत्र) यहाँ (कः) कौन (श्रीपालः) श्रीपाल है ?

भावार्थ—प्रेमाग्रह का उलंघन सरल नहीं । गुणमाला के हृदय से उद्भूत आहें भरी प्रार्थना की उपेक्षा श्रीपाल नहीं कर सका । उसके दृढ़ सङ्कल्प के समक्ष उसे झुकना ही पड़ा । वह सौम्यमूर्ति स्थिर और शान्तभाव से अपनी प्राण प्रिया गुणमाला को धैर्य बंधा, आश्वासन देते हुए कहने लगा—



व्यापारी घबल सेठ आया है । वह रत्नव्यापारी है । उसी के जहाज में मेरी प्राणवत्सलभा है । वह विद्याधर राजा की पुत्री है । उसका नाम मदनमञ्जूषा है । वह मेरा कुल वृत्तान्त अच्छी तरह जानती है । यदि तुम्हें जानना ही है तो वहाँ जाओ और सब कुछ ज्ञात कर लो । “डूबते को तिनके का सहारा” कहावत के अनुसार गुणमाला अपने पतिदेव के मुखपङ्कज से मुनते ही अविलम्ब शिविका (पालकी) में सवार हो गई । हत्यारों को आदेश दिया “मैं जब तक वापिस न आ जाऊँ तुम मेरे प्राणनाथ का शरीर भी स्पर्श नहीं करना ।” अति वेग से कुछ ही क्षणों में शिविका सागर तट पर जा पहुँची, बैठे-बैठे ही उच्च स्वर से पुकारा, बहिन मदनमञ्जूषा आप कहाँ, हैं, कियर हैं ? शीघ्र बोलिये, मेरा अर्जेंट कार्य है । आओ, अपना मुखकमल दिखाओ । शोकाकुलित, दुस्वार्त्त स्वर सुनकर मदनमञ्जूषा का सूखा घाव हरा हो गया । दुखिया ही दुखिया का दुःख समझ सकता है । समान दुःख होने पर उसकी सीमा भी बढ़ जाती है । पति-वियोग की पीड़ा से पीड़ित वह खेद-खिन्न विचारती है यह सन्तापित नारी कौन होगी ? खैर, जो हो पूछना चाहिए । यह विचार वह पोत से बाहर आयी और अत्यन्त विनम्र एवं शान्त-भाव से उस अपरिचितता से आने का, अपने परिचय नामादि के जानने का कारण पूछा । गुणमाला ने अश्रुविगलित नयनों से उसकी ओर निहारा और मुखाकृति से ही अपने हृदय की टोस का उसे परिचय करा दिया । तथा गद्गद् कण्ठ बोलो, हे सखि, हे प्रियभागिनी ! अविलम्ब आप मुझे श्रीपालकन्त का कुलकर्म बताओ । मेरे पतिदेव की जाति-वंश क्या है ? शीघ्र बताओ हे बहिन ! मदनमञ्जूषा, यदि मेरे वापिस लौटने में विलम्ब हुआ तो न जाने प्रियकान्त का क्या होगा ? अतः आप शीघ्र ही आओ और मेरे पिता के समक्ष समस्त वृत्तान्त यहर्थ कहो । इस अत्याग्रह से चकित मदनमञ्जूषा ने पूछा हे भगिनी ! यह श्रीपाल कौन है ? यहाँ कैसे आया ? कब आया ? जरा यह भी बतलाओ ? ॥१४२ से १४६॥

ततो नृपात्मजावादीतीर्त्वायोऽम्बुधिमागतः ।

स्व भुजाभ्यामहं तस्मै दत्ता मज्जनकेन भो ॥१४७॥

अन्वयार्थ (ततः) मदनमञ्जूषा के पूछने पर (नृपात्मजा) राजपुत्री गुणमाला (अवादीत्) बोली (यः) जो (स्व) अपनी (भुजाभ्याम्) भुजाओं से (अम्बुधिम्) सागर को (तीर्त्वा) तैरकर (आगतः) आया (भो) हे सखि ! (मत्) मेरे (जनकेन) पिता ने (अहम्) मैं (तस्मै) उसके लिए (दत्ता) दे दी गई ।

भावार्थ - श्रीपाल कौन है ? इस प्रकार पूछने पर वह राजपुत्री गुणमाला बोली, सुनो बहिन, यह श्रीपाल स्वयं अपने हाथों से सागर को तैर कर आये थे । पूर्व में मुनि द्वारा भाषित वाणी के अनुसार मेरे पिता ने उसके साथ मेरा पाणिग्रहण संस्कार कर दिया । अत्यन्त वैभव और उत्साह से विवाह हो जाने पर उसे अपने भाण्डागार पद पर नियुक्त कर लिया ।

वदन्ति तस्य चाण्डालाश्चाण्डालिञ्जातिकांयतः ।

ततो भूपतिना दत्तो भृत्यानां मारणाय सः ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (चाण्डालाः) चाण्डाल (चाण्डालिम्) चाण्डाल (जातिकाम्) जाति का (वदन्ति) कहते हैं (ततः) इसलिए (भूपतिना) राजा ने (भृत्यानाम्) जल्लाद नौकरों को (मारणाय) मारने के लिए (सः) उसे (दत्तः) दे दिया ।

भावार्थ—हे सखि ! क्या बूढ़ाऊँ ! बड़ी आश्चर्य की बात है कि चाण्डालों ने उसे अपनी जाति का बतलाया है । इसी से राजा ने रुष्ट होकर उसे मृत्यु दण्ड दिया है । इस समय वह जल्लादों के हाथों में है । यदि विलम्ब होगा तो अपाय की संभावना है अस्तु, आप शीघ्र ही उनका कुल क्रम कहो क्योंकि—॥१४८॥

मया गत्वा ग्रहेणैव पुष्टः कुलमसौ ततः ।

त्वत्पाश्वे प्रेषिता तेनाहं पृष्टुं स्व कुलक्रमम् ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(मया) मैंने (गत्वा) जाकर (आग्रहेण) आग्रह पूर्वक (एव) ही (असौ) उसका (कुलम्) कुल (पृष्टः) पूछा (ततः) इसलिए (तेन) उन्होंने—श्रीपाल ने (स्वकुलक्रमम्) अपनी कुल परम्परा (पृष्टुम्) पूछने के लिए (त्वत्पाश्वे) तुम्हारे निकट (अहम्) मैं (प्रेषिता) भेजी हूँ ।

भावार्थ—राजा द्वारा अकस्मात् बिना विचारे दण्ड देने पर मैं जात होते ही दौड़कर वहाँ पहुँची । मैंने अपने प्राणेश्वर से अपना कुलक्रम निरूपण करने का अत्याग्रह किया । मेरे हठ पूर्वक प्रार्थना करने पर उन्होंने स्वयं अपना परिचय न देकर आपके पास मुझे भेजा है । अब आप ही प्रमाण हैं आपके हाथ मेरा सौभाग्य या दुर्भाग्य है । आप शीघ्र यथार्थ कुलक्रम बताकर सबका सन्देह दूर करो ॥१४९॥

जगौ मदनमञ्जूषा शीघ्रमागच्छ सुन्दरी ।

राजानं दर्शय त्वं मे तवग्रे तत् कुलादिकम् ॥१५०॥

वक्ष्येऽहं तत्समाकर्ण्य सा नीता गुणमालया ।

तत्र राजा यदत्पुत्रि कोऽयमस्य कुलं किमु ॥१५१॥

अन्वयार्थ—गुणमाला से पति के प्राणदण्ड की वार्ता सुन मदनमञ्जूषा व्याकुल हो बोली—(मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा (जगौ) बोली (सुन्दरी) हे सुन्दरी (शीघ्र) शीघ्र ही (आगच्छ) आओ, (त्वम्) तुम (मे) मुझे (राजानम्) राजा को (दर्शय) दिखाओ (तद्) उसके (अग्रे) सामने (तत्) उसको (कुलादिकम्) कुलपरम्परा को (अहम्) मैं (वक्ष्ये) कहूँगी (तत्समाकर्ण्य) इस प्रकार सुनकर (गुणमालया) गुणमाला ने (सा) उसको (नीता) लाया गया (तत्र) वहाँ आने पर (राजा) राजा (अवदत्) बोला, (पुत्रि !) हे बेटी बताओ (अपम्) यह (कः) कौन है ? (अस्य) इसका (कुलम्) कुल (किमु) क्या है ?



भावार्थ—मदनमञ्जूषा ने अपने पति का दुःखद समाचार सुन गुणमाला से कहा बहिन! शीघ्र चलो, आओ! मुझे जल्दी राजा का दर्शन कराओ। मैं उनके समक्ष समस्त श्रीपाल का चरित्र वर्णन करूँगी। उसकी कुल वंश परम्परा क्या है बताऊँगी। इस प्रकार सुनते ही गुणमाला भी उसे साथ ले अविनम्ब राज-दरबार में जा पहुँची। उस महासती, सौम्य, मुशीला, परम लावण्ययुक्त सती को देख राजा ने उसे सम्मान पूर्वक आसन दिया और सनम उससे पूछा कि हे पुत्रि, आप जानती हैं तो शीघ्र मुझे बताओ कि यह श्रीपाल कौन है? इसका कुलक्रम क्या है? ॥१५०-१५१॥

सती मदनमञ्जूषा जगाद शृणु भो प्रभो।

सर्वं तस्यात्र वृत्तान्तं कथयामि महात्मनः ॥१५२॥

अन्वयार्थ—(सती) साध्वी (मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा (जगाद) कहने लगी (भो) हे (प्रभो) नृपति! (शृणु) सुनिये (अत्र) अब (तस्य) उस (महात्मनः) महात्मा के (सर्वम्) सम्पूर्ण (वृत्तान्तम्) चरित्र को (कथयामि) कहती हूँ।

भावार्थ—भूपति द्वारा पूछे जाने पर महासती मदनमञ्जूषा ने कहा भो राजन्, आप शान्ति से सुनिये, मैं उस महापुरुष के सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहती हूँ। आपको सभझने में डेर न लगेगी ॥१५२॥

अङ्गदेशेऽत्र चम्पायां सिंहसेन नरेश्वरः।

कमलावती राज्ञी तयोः पुत्रोऽयमुज्ज्वलः ॥१५३॥

अन्वयार्थ—मदनमञ्जूषा श्रीपाल का परिचय दे रही है (अङ्गदेशे) अङ्गदेश में (चम्पायाम्) चम्पापुरी में (नरेश्वरः) भूपति (सिंहसेन) सिंहसेन (राज्ञी) रानी (कमलावती) कमलावती (तयोः) उन दोनों के (अत्र) यहाँ (अयम्) यह श्रीपाल (उज्ज्वलः) निर्मल-गुणी (पुत्रः) पुत्र है।

भावार्थ—भारतक्षेत्र के अङ्गदेश है। इस देश में प्रसिद्ध चम्पापुरी नाम की नगरी है। इस नगरी का महान प्रतापी नीतिज्ञ सिंहसेन नाम का राजा था उसकी मुख्यसहिषी-पटरानी कमलावती हुयी। उन दोनों का यह महासुबुद्धि, निर्मल गुणी पुत्र श्रीपाल कोटिभट है ॥१५३॥

वारिज्यार्थं समायातः श्रीपालोऽयं भटोत्तमः ।
 रत्नद्वीपे जिनेन्द्राणां त्रैलोक्यतिलकाह्वये ॥१५४॥
 चैत्यालये महावज्रकपाटोद्घाटने प्रभो ।
 प्राप्तमत्सङ्गमो धीरो मद्रूपासक्त चेतसा ॥१५५॥
 पापिनाश्रेष्ठिना तेन क्षिप्तो घोरे महारण्वे ।
 सुधीः स्वपुण्ययोगेन समुत्तीर्य महारण्वम् ॥१५६॥
 इहागत्य प्रभोनूनं जमातातैऽभवत्तराम् ।
 अत्रागतेन तेनाऽपि धवलेन दुरात्मना ॥१५७॥
 महाकपटकूटेन मारणार्थं च साम्प्रतम् ।
 एतद्विरूपकं देव ! सर्वचक्रे शृणु प्रभो ॥१५८॥
 जिनसिद्धमहात्म्येन बालोऽयं हि सबामलः ।
 चाण्डालः कथ्यते केन पापिष्ठेन प्रभो वद ॥१५९॥

अन्वयार्थ — (अयम्) यह (भटोत्तमः) वीरशिरोमणि (श्रीपालः) श्रीपाल (वारि-
 ज्यार्थम्) व्यापार करने के लिए (रत्नद्वीपे) रत्नद्वीप में (समायातः) आया (तत्र) वहाँ
 (त्रैलोक्यतिलकाह्वये) त्रैलोक्यतिलक नामक (जिनेन्द्राणाम्) जिनभगवान के (चैत्यालये) सह-
 स्रकुट चैत्यालय में (प्रभो) हे राजन् (महावज्रकपाटोद्घाटने) अत्यन्त बड़ वज्रकपाटों के खोलने
 पर (धीरः) इस धीर ने (मत्) मेरा (सङ्गमः) सङ्गम-मुक्ते पत्तिरूप में (प्राप्तः) प्राप्त किया,
 पुनः (तेन) उस (मद्रूपासक्त) मेरे सौन्दर्य से आसक्त (चेतसा) चित्त हुए (पापिना) पापी
 (श्रेष्ठिना) धवल सेठ ने (घोरे) भयङ्कर (महारण्वे) विशाल सागर में (क्षिप्तः) गिरा-
 दिया (स्व) अपने (पुण्ययोगेन) पुण्यकर्मोंद्वय से (सुधीः) बुद्धिमान (महारण्वम्) महासागर
 को (समुत्तीर्य) पारकर-तैरकर (इह) यहाँ (आगत्य) आकर (प्रभो !) हे भूपेन्द्र (नूनम्)
 निश्चय ही (ते) आपका (जमाता) जैवाई (अभवत्तराम्) हुआ है यह निश्चय समझो किन्तु
 (अत्र) यहाँ (अपि) भी (आगतेन) आये हुए (तेन) उस (दुरात्मना) निद्यात्मा (महाकपट-
 कूटेन) महाछल की खान (धवलेन) धवल सेठ पापी ने (च) और भी (साम्प्रतम्) इस समय
 (मारणार्थम्) उसे मार डालने के लिए (एतत्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण (विरूपकम्) कपट स्वांग-
 (चक्रे) रचा है (देव !) हे प्रजापालक (प्रभो) हे राजन् (शृणु) सुनो, (अयम्) यह
 (बालः) कुमार (जिनसिद्धमहात्म्येन) जिनभगवान और सिद्धचक्रपूजा के महा प्रभाव से
 (सदा) सतत (अमलः) पवित्र निरोग है (प्रभो) हे राजन् (केन) किस (पापिष्ठेन) पापा-
 त्मा ने (चाण्डालः) चाण्डाल (कथ्यते) कहा है ? (वद) मुझसे कहो तो ?

भावार्थ—मदनमञ्जूषा आगे वर्णन करती है कि यह महाभाग, वीराग्रणी, सुभट-
 शिरोमणि श्रीपाल रत्न व्यापार करने के लिए रत्नद्वीप में आये थे । वहाँ के उद्यान में त्रैलोक्य-

तिलाक नामका सहस्रकूट जिनालय था । उसके वज्रमयी किशोड्र जड़े थे । जिन्हें खोलने में कोई समर्थ न था । दिगम्बर ज्ञानी मुनिराज के आदेशानुसार मेरे पिताने वहाँ अपने सेवक स्थापित कर दिये थे । इस वीरशिरोमणि ने वहाँ आकर उस अनेक वर्षों से वन्द अति मनोहर जिनभवन के द्वार सहज ही में खोल दिये । सेवकों द्वारा यह वृत्तान्त ज्ञात कर मेरा पिता राजा स्वयं अविलम्ब वहाँ आया और ससम्मान श्रीपाल को नगर प्रवेश करा यथायोग्य विधि से मेरा विवाह उसके साथ कर दिया । मैं सानन्द पोत में सवार हुयी । मेरे पतिदेव श्रीपाल दयालु जिनधर्म सेवी जिनसिद्धभक्त सरलचित्त थे । कुछ समय बाद एक दिन इस कवला धवला सेठ की दृष्टि मुझ पर पड़ी और मेरे रूपवाचस्प्य के प्रकाश को सहन करने में असमर्थ काभी आसक्त हो गया । उसी पापी ने कपट से कोटिभट श्रीपाल को सागर में गिराया । मेरा शोल जिन-शासनवत्सला पद्मावती आदि देवियों और क्षेत्रपालादि देवों द्वारा रक्षित किया गया । उनके भय से यह दुष्ट मेरा बाल बाँका न कर सका । हे राजन् ! हे देव ! अपने पुण्य-प्रनाप से यह श्रीपाल स्वयं महाभीषण सागर को तैर कर यहाँ आया है । हे भूप ! निश्चय ही यहाँ आकर यह आपका जंवाई बना है । यह महागङ्गाजला सदृश निर्मल है । जिन और सिद्ध-भक्ति से सदा पवित्र है महा उज्ज्वला गुणगणमण्डित है । इस समय उस पापी, दुराचारी, महा-कपटी, दम्भी दुरात्मा धवल सेठ के पोत यहाँ आये हैं । यहाँ आकर भी इस पापी ने अपना कपट जाल फैलाया है । यह विरूपक-नटों का षडयन्त्र सम्पूर्ण उसी दैत्य की करतूत है हे राजन् आप निश्चय समझो । इस महामना को कौन चाण्डाल कहता है जरा मुझे बताओ तो ? आप कहिये वह कौन पापी है जो भाण्ड कह कर स्वयं नरकगामी होना चाहता है ॥१५६॥

तदा श्रवणमात्रेण स भूपो धनपालवान् ।

नष्ट सन्देह सन्दोहः शीघ्रमुत्थाय सज्जनैः ॥१५७॥

सार्द्धं तत्र समागत्य श्मशाने भूरिभीतिदे ।

श्रीपालस्याग्रतः स्थित्वा प्राञ्जलिः प्राह भो सुधीः ॥१५८॥

अहो श्रीपाल भूपाल जिनाज्ञापाल भूतले ।

मया चाज्ञानिना तीव्रपीडितोऽसि भटोत्तमः ॥१५९॥

चाण्डालैर्वञ्चितेनोच्चैर्त्वं क्षमांकतुर्महसि ।

यतस्सन्तो भवन्त्येव पीडितानां हितङ्कुराः ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (श्रवणमात्रेण) मदनमञ्जूषा के मुखारविन्द से श्रीपाल का सच्चा वृत्तान्त सुनते ही (स) वह (धनपालः) धनपाल (भूपः) राजा सन्देह) शङ्का (सन्दोहः) समूह से (नष्टः) रहित हुआ (शीघ्रम्) तत्काल (उत्थाय) उठकर (सज्जनैः) सत्पुरुषों के साथ (सार्द्धम्) साथ (तत्र) वहाँ (भूरिभीतिदे) भयङ्कर भयोत्पादक (श्मशाने) श्मशान में (समागत्य) आकर (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़ (श्रीपालस्याग्रतः) श्रीपाल के आगे (स्थित्वा) खड़ा होकर (प्राह) बोला (भो) हे (सुधीः) बुद्धिमन् (भूतले) संसार में आप (जिन आज्ञा-

पालः) जिनेश्वर की आज्ञा पालक हो (अहो) भो (भूपाल) पृथ्वीपति (श्रीपाल) श्रीपाल (भटोत्तमः) श्रेष्ठतमभट आप (मया) मुझ से (अज्ञानिना) अज्ञानता से (तीव्रम्) अत्यन्त (पीडितः) पीडित (असि) हुए हो (च) और (चाण्डालैः) चाण्डालों द्वारा (वञ्चितेन) ठगे गये (माम्) मुझे (त्वम्) आप (उच्चैः) विशेषरूप से (क्षमां) क्षमा (कुर्तुम्) करने को (अहंसि) समर्थ हो (यतः) क्योंकि (सन्तः) सत्पुरुष (पीडितानाम्) दुखियों के (हितङ्कराः) हित करने वाले (एवं) ही (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—गुणमाला महासती पतिवियोग की आशङ्का से आतुर हो अतिशीघ्र मदन-मञ्जूषा (मदनमञ्जूषा) को लेकर आयी । उसने अपने पति काटिभट श्रीपाल के कुल, वंश की पवित्रता और श्रद्धा का पूर्ण यथार्थ परिचय दे दिया । जिसके सुनने मात्र से महाराज धनपाल का सन्देह दूर हो गया । अज्ञानवश उत्पन्न क्रोध रफूचककर हो गया । यही नहीं उसके स्थान पर आश्चर्य भरा पश्चात्ताप और लज्जा जाग्रत हो गयी । कोप के स्थान पर भय से कम्पन होने लगा । धैर्य हवा हो गया । दूसरे ही क्षण, नंगे पैर दौड़ता हुआ राजा अपने सत्पुरुषों साथियों के साथ श्मशान में आ पहुँचा । श्रीपाल की ओर दृष्टि जाते ही लौट आयी और पलकों के साथ गर्दन भी जमीन में जा लगी । मानों अपना मुख दिखाना ही नहीं चाहता हो । पर करे क्या ? मरना भी तो आसान नहीं है ? दैन्यभाव जागा कराञ्जलि जोड़ मस्तक नवाकर श्रीपाल के सम्मुख खड़ा होकर बोला “हे प्राज्ञ ! भो श्रीपाल ! संसार में आपके सदृश जिन-भक्त जिनशासन वत्सल अन्य कोई नहीं है, भो श्रीमान् आप जिनेश्वर की आज्ञा पालन में पटु और पूर्ण समर्थ हैं । जिनभक्त परोपकारी, दयालु और सर्वप्राणियों का रक्षक होता है । वह शत्रु-मित्र को समभाव से ही देखता है । हे

भटोत्तम ! मुझ अज्ञानी ने आप निरपराध को महान पीडा पहुँचाई है, मैं दुर्बुद्धि हूँ । इन धूर्त चाण्डालों ने मुझे ठग लिया है । इनसे वञ्चित होकर ही मुझसे यह अपराध हो गया है यद्यपि यह अक्षम्य है तो भी आप जैसे महान्भाव द्वारा क्षम्य ही है क्योंकि अमृत का कितना ही मन्थन किया जाय, वह अपने-सुख कर स्वभाव को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार सज्जन दुर्जनों द्वारा कितना ही पीडित किया जाय परन्तु वह अपने उदात्त क्षमागुण से चलित नहीं होता । आप क्षमाशील हैं, उदार मनस्वी हैं, अपने समस्त अज्ञान जन्य अपराधों को क्षमा करने में समर्थ हैं । “क्षमावीरस्य भूषणम् ।” आप वीरों के वीर हैं क्योंकि क्षमा के सागर हैं । मैं पुनः पुनः अपनी भूल के लिए क्षमाप्रार्थी आप अवश्य ही क्षमा करें ॥१६१ से १६३॥



श्रीपालोऽपि तदा प्राह शृणु भूप मदोरितम् ।

अहं कोटिभटो लोके नो शक्यो बाधितुं परैः ॥१६४॥

अन्वयार्थ—(तदा) राजा की प्रार्थना सुन, तब (श्रीपालः) कोटिभट श्रीपाल (अपि) भी (प्राह) बोले (भूप!) नरेन्द्र ! (मत्) मेरा (ईरितम्) कथन (शृणु) सुनो, (अहम्) मैं (कोटिभटः) कोटिभट हूँ (लोके) संसार में (परैः) अन्य किन्हीं के द्वारा (बाधितुम्) बाधित होने में (नो-शक्यः) समर्थ नहीं ।

भावार्थ—महाराज धनपाल को भयातुर और विनम्र देखकर कोटिभट श्रीपाल अपने ध्वजसे बोला, हे भूपेन्द्र ! मेरा कथन सुनो, मैं कोटिभट हूँ । एक करोड़ महान वीरों को हाथ के चपेटों से मार भगा सकता हूँ । आप मुझे क्या बांध सकते हैं ? मैं यहाँ यह बन्धन में दीख रहा हूँ यह मेरा कौतूहल मात्र है । मैं भाग्य की विडम्बना का नाटक देखने को यह सब कर रहा था ॥१६४॥ सुनो—

किन्तु कर्मोदयं राजन् विनोदेन विलोकयन् ।

तूष्णीं स्थितो महाभाग किं पुनर्भूरि जल्पनैः ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(राजन्) हे पृथ्वीधर ! (किन्तु) लेकिन (महाभाग) ओ महाभाग्य-शालिन् (कर्मोदयम्) कर्म के उदय को (विनोदेन) कौतूहल से (विलोकयन्) देखते हुए (तूष्णीं) मौन से (स्थितः) बैठा (भूरिजल्पनैः) अधिक कहने से (पुनः) फिर (किम्) क्या ?

भावार्थ—श्रीपाल कह रहा है कि हे राजन् हे महाभाग ! मैंने आपका प्रतीकार नहीं किया । आपके दण्ड को सहर्ष स्वीकार कर लिया, इसका अभिप्राय यह नहीं कि मैं असमर्थ था, अयोग्य था या, तोच कुलोत्पन्न था, किन्तु उसका अभिप्राय मात्र इतना ही था कि मैं भाग्योदय के नृत्य को विनोद से देखना चाहता था । कर्म सूत्रधार क्या-क्या नाटक करता है यह भी कौतूहल देखना चाहिए । अधिक कहने से क्या ? जो जो बन्धन मेरे शरीर पर हैं वे सब मेरी इच्छा से हैं तुम और ये तुम्हारे सेवक बेचारे क्या कर सकते थे ? तुम महामूढाधिराज हो ॥१६५॥

पुनर्वीराग्रणीराह राजंस्त्वं मुग्ध मानसः ।

सद्विचारं न जानासि लक्षणं च नृपात्मजाम् ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(पुनः) फिर (वीराग्रणीः) वीर शिरोमणि (प्राह) बोला (राजन्) हे राजा (त्वं) तुम (मुग्धमानसः) मूढ़-विचार शून्य हो, (सत्) श्रेष्ठ (विचारम्) विचार को (न जानासि) नहीं जानते हो (च) और (नृपात्मजाम्) राजकुलोत्पन्न राजकुमारों के (लक्षणम्) लक्षणों को भी (न जानासि) नहीं जानते हो ।

मन्यते सागरं योऽत्र महान्तं गोष्पद प्रमम् ।

स कथं कुलहीनः स्याद् विचारो न स्वया वृतः ॥१६७॥

कोटिभट्टेऽहमेकाकी जेतुं कोटिभट्टान् क्षमः ।

स्वभट्टानादिशास्त्रैव दर्शयामि स्वपौरुषम् ॥१६८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (अत्र) यहाँ (सागरम्) समुद्र को (गोष्पद प्रमम्) गाय के खुर के बराबर (मन्यते) मानता है (स) वह (कथम्) कैसे (कुलहीनः) नीचकुली (स्यात्) होगा (न) नहीं (स्वया) तुमने (विचारः) विचार (कृतः) किया गया (अहम्) मैं (एकाकी) अकेला (कोटिभट्टः) कोटिभट्ट (कोटिभट्टान्) करोड़ सुभटों को (जेतुम्) जीतने में (क्षमः) समर्थ हूँ (अद्यः) आज (एव) ही (स्वभट्टान्) अपने वीरों को (आदिश) आदेश दो (स्व पौरुषम्) अपना पुरुषार्थ (दर्शयामि) दिखाता हूँ ।

भावार्थ— पुनः श्रीपाल न्यायोचित एवं उदात्त वाणी में कहने लगे, हे राजन् आप विवेक शून्य हैं, मूढ़ और अज्ञानी हैं । सद्बिचार शक्ति मानों आप से रूठ गई है । साधारण मनुष्य जैसी भी आप में तर्कणा बुद्धि नहीं प्रतीत होती राजा होकर राजवंशी की पहिचान नहीं तुम्हें ? राज-सुत के लक्षण कैसे होते हैं वह सोचने का भी तुमने कष्ट नहीं किया ? क्या यह बुद्धिमत्ता है । राजपुत्र में कौन-कौन सा वैशिष्ट्य हो सकता है यह तो सोचना था ? जो व्यक्ति अगाध, असीम सागर को गाय के खुर से बने गड्ढे के समान मानता है, भला वह नीच कुलीन हो सकता है ? वह चाण्डाल कुल में उत्पन्न कैसे हो सकता है ? यह भी विचार तुम न कर सके ? तुम क्या समझते हो मुझे ? मैं कोटिभट्ट हूँ । अकेला ही एक करोड़ महावीर सुभटों को क्षण-मात्र में जीतने की क्षमता रखता हूँ । मुझे कौन जीतने में समर्थ है ? ये बेचारे अनाथ तेरे सेवक मेरा बाल भी बाँका कर सकते हैं क्या ? ये क्या मुझे बाँध सकते हैं ? ये बन्धन मेरे लिए जली रस्सी के समान हैं, लो देखलो इसकी ताकत । तुम्हारे कितने वीर हैं, योद्धा हैं सबको बुलाओ उन सबको एक साथ मेरे ऊपर आक्रमण करने का आदेश दो, आज ही मैं तुम्हें अपना पौरुष दिखाता हूँ । भले प्रकार अपना परिचय देता हूँ उन्हें मन्दिर के समान उड़ाकर । क्या धूल के उड़ने से सूर्य का प्रकाश रोका जा सकता है ! कदाऽपि नहीं । फिर तुम राजा होकर भी इस राजसत्त्व को न समझ सके ? ठीक है अब रणाङ्गण में ही मेरा जाति कुल वंश सब तुम्हें समझ में आ जायेगा समझे ? ॥१६६ से १६८॥

धनपालोऽवदद्वाजा त्वं महान्मन्दरादपि ।

गम्भीरः सागराश्चापि क्षमासारः क्षमागुणैः ॥१६९॥

शीललीला प्रयाहेन जितः सिन्धुरपि त्वया

सत्कुलेन कलङ्काङ्गी चन्द्रश्चाऽपि तिरस्कृतः ॥१७०॥

श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चन कोविदः ।

त्वमेव सत्पात्रदानेन द्वितीयोऽवादि दानकृत् ॥१७१॥

परोपकार सद्रत्न रोहणाद्रिस्त्वमेव हि ।

चारु सौभाग्य सन्दोहैः सुधीः सम्मान्य भक्तितः ॥१७२॥

कृपां विधाय भो भव्य ! समागच्छ पुरं सुधीः ।

मत् कृताघरजोराशि क्षालनाय क्षमाजलः ॥१७३॥

इत्यादि मधुरैर्वक्यैः श्रीपालं नृपं सदा ।

कारयित्वा क्षमां गाढं विनयेन महोत्सवैः ॥१७४॥

वस्त्राभरणसन्दोहैः सुधीः सम्मान्य भक्तितः ।

मत्तमातङ्गमारोप्य जय कोलाहल निस्वनैः ॥१७५॥

चलच्चामर सच्छत्र ध्वजाद्यैः परिमण्डितम् ।

नाना वादित्र सन्नादैर्दानमानादिभिस्तराम् ॥१७६॥

समान्तीय पुरं रम्यं गृहे संस्थाप्य सादरम् ।

पुनः स्त्रीयुग्मसंयुक्त रत्नाद्यैस्समयोजयेत् ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(धनपालः) धनपाल (राजा) नृपति (अवदत्) बोला, (त्वम्) आप (मन्दरादपि) मेहपर्वत से भी अधिक (महान्) महान (सागरान्) समुद्र से (अपि) भी अधिक (गम्भीरः) गहरे (क्षमागुणैः) क्षमादि गुणों से (क्षमासारः) क्षमा के आधार स्तम्भ हो (त्वया) तुमने (शील) ब्रह्मचर्य के (प्रवाहेन) प्रवाह-धारा से (सिन्धुः) सागर को (अपि) भी (जितः) जीत लिया, (सत्कुलेन) उत्तम, निर्दोष कुल से (कलङ्क) कलङ्की (ग्रङ्गी) शरीर वाले (चन्द्रः) चन्द्रमा को (अपि) भी (तिरस्कृतः) पराभूत कर दिया, (श्रीमज्जिनेन्द्र-चन्द्राणाम्) उभयलक्ष्मी के ईश जिनेन्द्र प्रभुओं के (चरणार्चन) चरण कमलों की पूजा करने में (कोविदः) वतुर-निष्णात तथा (त्वम्) आप (एव) ही (सत्पात्रदानेन) उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रों को दान देने से (द्वितीयः) दूसरे नम्बर के (दानकृत्) दान करने वाले (अवादि) कहे गये हो, (परोपकारसद्रत्नरोहणः) पर का उपकार रूपी उत्तम रत्न के उत्पन्न करने वाले (हि) निश्चय से (त्वम्) आप (एव) ही (अद्रिः) पर्वत हो, इस प्रकार (सुधीः) श्रीपाल विद्वद्भार को (भक्तितः) भक्ति से (सम्मान्य) सम्मानित कर, (भो) बोला कि हे (सुधीः) विद्वाम्भार ! (भव्य) भव्य (कृपाम्) अनुग्रह (विधाय) करके (मत्) मेरी (कृप) को गई (अथ) पाप (रजोराशि) रूपी धूलि समूह को (क्षमाजलैः) क्षमारूपी जल से (क्षालनाय) धोने के लिए (पुरम्) नगर-पुर में (समागच्छ) आइये (इत्यादि) इसी प्रकार अन्य भी (मधुरैर्वक्यैः) मीठे वचनों से (तम्) उस (श्रीपालम्) श्रीपाल (नृपम्) राजा को (सदा) सर्वथा (गाढं) अत्यन्त (क्षमाम्) क्षमा (कारयित्वा) करवाकर (विनयेन) विनय पूर्वक (वस्त्राभरणसन्दोहैः) नाना प्रकार उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से (सुधीः) तत्त्वज्ञ श्रीपाल को (भक्तितः) भक्ति से (सम्मान्य) सम्मानित कर (मत्तमातङ्गम्) उन्मत्तगजराज पद्म (आरोप्य)

आरोहन कर (महोत्सवैः) महान उत्सव पूर्वक, (अपि) और भी (जय कोलाहल) जय-जय घोष (निस्वनैः) ध्वनि के साथ (चञ्चलचमर) चञ्चल चमर दोरते, (सच्छत्रध्वजाद्यैः) उत्तम छत्र, पताकाआं से (परिमण्डितम्) परिवेष्टित कर (नानावादित्र) अनेकों वाजों के (सन्नादैः) मधुर शब्दों से सहित (तराम्) विविध (दानसम्मानभिः) दान और सम्मान सहित (रम्यम्) सुमज्जित (पुरं) द्वीप में (समानाय) ससम्मान लाकर (सादरम्) आदर सहित (गृहे) घर में (संस्थाप्य) विराजमान कर (पुनः) फिर (स्त्रीधुमसंयुक्तम्) दोनों पत्नियों सहित (रत्नाद्यैः) रत्नादि द्वारा (समपूजयत्) सम्मानित किया ।

भावार्थ—धनपाल महाराज श्रीपाल से क्षमा कराते हुए उनकी प्रशंसा करते हैं हे प्रभो, आप सुमेरुपर्वत से भी अधिक उन्नत, महामना, स्थिर और गम्भीर हैं । सागर से भी अधिक उदार, क्षमागुणों से परिपूर्ण क्षमा के सागर ही हैं । आपका शीलसरोवर महान उज्ज्वल और निर्दोष है, शील सलिल प्रवाह से सिन्धु को भी तिरस्कृत कर दिया । आप कुल पूर्णतः शुद्ध और निर्दोष हैं । चन्द्रमा यद्यपि उज्ज्वल है, परन्तु उसके मध्य की कालिमा से स्वयं ही कलङ्काङ्गी है अर्थात् सदोष है किन्तु आपने अपने पावन कुल से उसे भी लज्जित कर दिया है, आप सज्जनों को आह्लाद उपजाने वाले, आनन्द करने वाले हो । सर्वोपकारी आपका जीवन आपके कुल की उत्तमता का प्रतीक है । आप श्री जितेन्द्रभगवान के चरणों की पूजा में महा चतुर पण्डित हैं । अद्वितीय जिनभक्ति और जिनार्चना से सर्व विख्यात हैं । उत्तम-मध्यम, जघन्य पात्रों को सतत दान देने से आप द्वितीय दाता कहे जाते हैं । अर्थात् प्रथम श्रेयांश महाराज आश्चर्यदात पद्धति प्रारम्भकर दानतीर्थ के कर्ता कहलाये और आपने उसी मार्ग का पोषण किया, अतः दूसरा नम्बर आप ही का आता है । पर्वत के उदर से अनेकों बहुमूल्य, अमोघ रत्नों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार आप से भी परोपकार नीति, क्षमा, दया आदि अनेकों गुणरत्नों की उत्पत्ति हुयी है, हो रही है । इस प्रकार सुन्दर, मनोरम, सौभाग्यवर्द्धक शब्द समूहों से सम्मान्य करके भक्ति पूर्वक उस परम गुणमण्डित श्रीपाल को प्रार्थना की कि हे भव्योत्तम मुझ पर कृपा करो, हे उदारमना ! हे क्षमाशील ! मेरे अपराधरूपी पापसमूह रूप धूली को क्षमारूपी जल से प्रक्षालित करने हेतु मेरे नगर में प्रवेश कीजिये । आप ही मेरे इस घनघोर भ्रमरूप मिथ्यापापान्धकार को नाश करने के लिए ज्ञानसूर्य हैं । इस प्रकार अनेक प्रकार के सुमधुर कोमल, विभय भक्तियुत वाक्यों से क्षमा कराई । अत्यन्त गाढ प्रीति से सतत विनम्र प्रार्थना से उसे प्रसन्न किया । इस प्रकार क्षमा कराकर, नानाप्रकार के अनेकों प्रकार के वस्त्राभूषणों से अत्यन्त सम्मानित कर उत्तुङ्ग गजपर आरोह कर नाना प्रकार जय-जय घोष शब्द करते हुए, चञ्चलचमर, उज्ज्वल छत्र, ध्वजादि से मण्डित कर, नानाप्रकार के वादित्रों की ध्वनि के साथ, अनेकों प्रकार के दान-सम्मान आदि सहित लाया । अत्यन्त रमणीक सुसज्जित पुर में लाकर, उच्चस्थान पर विराजमान कर पुनः दोनों पत्नियों सहित उसकी पूजा की, सम्मान किया ॥१६६॥ से १७७॥

एवं सदा स्वपुण्येन स श्रीपालो भटोत्तमः ।

राजादिभिस्समभ्यर्च्य यससा व्याप्तदिङ्मुखः ॥१७८॥

सञ्जातो भो महाभव्याः सुपुण्यात्किं न जायते ?

तस्मात्भव्यैस्सदाकार्यं सुपुण्यं परमादरात् ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (भटोत्तमः) श्रेष्ठ-तम सुवीर (स्वपुण्येन) अपने पुण्योदय से (राजादिभिः) राजा, मन्त्री, आदि द्वारा (सम-भ्यर्च्य) सम्यक् अर्चनीय होकर (यसमा) कीर्ति द्वारा (दिङ्मुखः) दशों दिशाओं को (व्याप्तः) करने वाला (सञ्जातः) हुआ, (भो) हे (महाभव्याः) महाभाग भव्यजनों ! (सुपुण्यात्) पुण्यानुबन्धी पुण्य से (किं) क्या (न जायते) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् सब कुछ मिलता है (तस्मात्) इसलिए (भव्यैः) भव्यजनों द्वारा (परम) अतिशय (आदरात्) आदर से (सदा) निरन्तर (सुपुण्यम्) शुभ रूपपुण्य (कार्यम्) करना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँ आचार्य श्री सम्यक्त्व पूर्वक पुण्याजित करने का फल बतलाने हुए उपदेश दे रहे हैं । देखो ! महाराज कोटिभट श्रीपाल वीराग्रणी तो था ही, किन्तु अपने निर्मल पुण्य से ही वह विपत्तियों से बाल-बाल बचता गया और राजा-प्रजा सभी से सम्मानित पूज्य हुआ । आदर का पात्र बना यही नहीं उसका स्वच्छ निर्मल यश दशों दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त हो गया । यवल कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो भव्य प्राणियों को जाग्रत करने लगी । इसीलिए आचार्य श्री लिखते हैं कि हे भव्यात्मा सत्पुरुषों ! आप निश्चित् समझो कि सम्यक्त्व पूर्वक उपाजित पुण्य संसार का कारण कभी नहीं हो सकता, अपितु सांसारिक वैभव प्रदान कर परम्परा से मुक्ति का ही साधक बनता है इसलिए आप अत्यन्त उत्साह से, प्रयत्नपूर्वक, आदर से उत्तम पुण्यार्जन करो । पुण्य स्वर्ग का सोपान तो साक्षात् है ही परम्परा से मोक्ष का भी कारण है साधक है । अतः पुण्यार्जन अवश्य करें ॥१७६ १७६॥

पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयार्चनम् ।

पात्रदानं गुणाधानं व्रतं शीलोपदासकम् ॥१८०॥

तथा तत्र जगत्सार जैनधर्मप्रभावना ।

भव्यानां परमानन्ददायिनी समभूत्तराम् ॥१८१॥

अन्वयार्थ—(श्रीमज्जिनेन्द्राणाम्) श्रीमज्जिनेन्द्रभगवान् के (पादपद्मद्वय) चरण-कमल युग्म की (अर्चनम्) पूजा (पात्रदानम्) सत्पात्रदान (गुणव्रत) श्रेष्ठव्रतों का (आधानम्) धारण करना, (शीलः) शीलाचार (उपदासकम्) उपवास करना (तथा) तथा (तत्र) उनके साथ ही (जगत्सार) संसार में सर्वोत्तम सारभूत (जैनधर्मप्रभावना) जिनधर्म की प्रभावना करना (भव्यानाम्) भव्यजीवों को (परमानन्ददायिनी) उत्कृष्ट आनन्द का दाता (पुण्याम्) पुण्य (समभूत्तराम्) ही होता है । अर्थात् यही पुण्य है ।

भावार्थ—भव्यात्मा श्रावकों का पुण्य क्या है ? अथवा पुण्यार्जन का मार्ग क्या है, यह यहाँ स्पष्ट किया है । उभय लक्ष्मी के अधिपति श्रीपति श्रीजिनेन्द्रभगवान् की पूजा करना,

शास्त्रसाधना में पवित्त उत्तम कृषि, मृत्ति, अन्नगार, यत्ति तथा आर्थिका, धुल्लक, धुल्लिकादि उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को दान देना पुण्य है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है । पूजा, दान पुण्यास्त्रव के कारण हैं यहाँ उन्हें ही पुण्य कहा है । इसके साथ ही पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का धारण करना, शीलव्रत पालन करना, उपवासादि करना संसार में सर्वोत्तम सारभूत जिनधर्म की प्रभावना करना अर्थात् विशेष पूजा, पञ्चकल्याणादि प्रतिष्ठाएँ, महाविधानादि द्वारा जिनशासन की वृद्धि करना, प्रकाशन करना कराना इत्यादि पुण्य के हेतु हैं साधन हैं । भव्यजीवों को ये क्रियाएँ परमानन्द प्रदान करने वाली होती हैं । अर्थात् परम्परा से मुक्तिदायिनी होती हैं । क्योंकि शुभपरिणामों के साथ साथ ये क्रियाएँ राग त्याग की कारण होने से वीतरागभाव को भी जाग्रत करती हैं जिससे संवर और निर्जरा भी होती है ॥१८० १८१॥ अब पुनः कथा चलती है—

प्राक् श्रीमदनमञ्जूषा तदास्य चरणाम्बुजौ ।

नत्वा ह्युपाविशद्वृत्तवचसाद्वासने मुदा ॥१८२॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब राजा द्वारा सम्मानित होने पर (भर्तृवचसा) पति की आज्ञानुसार (श्रीमदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा (अस्य) श्रीपाल के (चरणाम्बुजौ) दोनों चरण-कमलों में (प्राक्) पहले (मुदा) आनन्द से (नत्वा) नमस्कार करके (हि) पुनः (अर्द्धासने) आधे आसन पर (उपाविसत्) बैठ गयी ।

भावार्थ—राजा ने दोनों पत्नियों सहित श्रीपाल का यथोचित आदर सत्कार किया । पुनः श्रीपाल को सिंहासन पर आरूढ़ किया । तब श्रीपाल ने अपनी पूर्वपत्नी मदनमञ्जूषा से प्रेमपूर्वक अपने साथ बैठने का आदेश किया । पति वचनों के अनुसार उस पतिव्रता ने आनन्द



से प्रथम पतिदेव के चरणकमलद्वय में नमस्कार किया । प्रणाम कर विनम्र भाव से पुनः आधे आसन पर पतिदेव के समीप आसीन हुयी । सच है, विनय कुलीनता की द्योतक है । विनम्र-मनुष्य अपने वडप्पन का स्वयं ही प्रकाशक होता है ॥१८२॥

ततोऽन्योन्य वियोगोत्थां वर्ता निवद्यदम्पती ।

प्रापतुः परमां प्रीतिं तौ सम्पूर्णं मनोरथौ ॥१८३॥

अन्वयार्थ—(ततो) तदनन्तर (आन्योन्य) एक दूसरे की (वियोगोत्थाम्) वियोग से उत्पन्न हुयी (वार्ताम्) बातों को (निवद्य) कह कर (दम्पती) दोनों पति पत्नी (सम्पूर्ण) सर्व (मनोरथौ) मनोरथों युक्त (तौ) वे दोनों (पत्न्याम्) उत्तम (प्रीतिम्) प्रेम को (प्रापतुः) प्राप्त हुए ।

भावार्थ—विछुड़े हुए दम्पति संयोग प्राप्त कर हर्ष से विभोर हो गये । एक दूसरे ने आपस में अपने-अपने वियोग जन्य कष्टों का परिचय दिया । एक दूसरे की व्याथाओं को जातकर एवं उनसे निर्वृत्ति प्राप्त कर वे दोनों ही अत्यन्त आनन्दित हुए । जिनका मनोरथ पूर्ण हो जाता है उसे भला आनन्द क्यों न होगा ? होगा ही । अतः जिनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो चुके वे परम सुख और सन्तोष को प्राप्त हुए, अर्थात् समस्त दुःख विस्मृत हो गये ॥१८३॥

इतिविघ्नव्रजं हत्वा श्रीपालः पुण्यपाकतः ।

भुञ्जमानः स्वभार्याभ्यां यावदास्ते परं सुखम् ॥१८४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (विघ्नव्रजम्) विघ्नसमूह को (हत्वा) नाशकर (पुण्यपाकतः) पुण्योदय से (श्रीपालः) श्रीपालकोटिभट (स्वभार्याभ्याम्) अपनी दोनों पत्नियों सहित (परम्) अत्यन्त (सुखम्) सुख (भुञ्जमानः) भोगता हुआ (यावत्) जब (आस्ते) स्थिर हुआ ।

भावार्थ—दोनों पत्नियों सहित श्रीपाल सुख पूर्वक विराजे । अपने विशेष पुण्योदय से समस्त विघ्नसमूह को नष्ट कर दिया । जीवन और भार्या दोनों का रक्षण हो गया । शत्रु मिलन भी हो गया । इस प्रकार सांसारिक विषय सुखों को भोगता हुआ जब श्रीपाल कोटीभट निश्चिन्त हुआ कि उसी समय एक दूसरी घटना घटी । वह निम्न प्रकार है—

तावद्वाजा समाहूय सापारोः श्रेष्ठिनं खलम् ।

इत्यदण्ड्यदेवादौ कुण्डेण्मेध्यभूतेशुऽर्चौ ॥१८५॥

मज्जनं तस्य पाणानामकारयत् क्रुधा पुनः ।

शिरोमुण्डनमारोहं खराणामप्यकारयत् ॥१८६॥

ततोऽग्नौ हस्तकर्ण्यादि कर्त्तुं नैस्तं च तैस्समम् ।

हन्तुमारभते राजा कोपानल समन्वितः ॥१८७॥

अन्वयार्थ—(तावत्) तब तक (राजा) राजा ने (मायाण) उन चाण्डालों द्वारा (खलम्) मूर्ख (श्रेष्ठिनम्) धवल सेठ को (समाहूय) बुलवाकर (आदौ) प्रथम (अशुचौ) अपवित्र (अमेध्य) विष्टा (भूते) भरे (कुण्डे) कुण्ड में (तस्य) उस सेठ का (पाणानाम्) नटों का (मज्जनम्) मज्जन-स्नान (अकारयत्) कराया जाय (पुनः) फिर (श्रुत्वा) निर्दयता से (शिरोमुण्डनम्) मूँड मुँडाना (स्वराणाम्) गधा (आरोहणम्) आरोहण (अपि) भी (अकारयत्) कराया जाय (ततः) तदनन्तर (तैः) उन दुष्ट नर्तकों (समम्) के साथ (तम्) उस दुराचारी धवल के (अग्निं) पैर (हस्तं) हाथ (च) और (कर्णादि) कान आदि (कर्तनैः) काट कर मारना (इति) इस प्रकार (कोपानल) कोपरूपी आग से (समन्वितः) सहित (राजा) नृपति ने (अदण्डयत्) दण्ड दिया (एवं) तथा (हन्तुम्) मारने को (आरभते) तैयार हुआ ।

भावार्थ—इधर राजा ने उन चाण्डालों को बुलवाया और साथ ही उस दुराचारी, नरुपणी धवल सेठ को भी । कोपाग्नि से दग्ध राजा ने उन्हें अत्यन्त कठोर मृत्युदण्ड तो घोषित किया ही परन्तु यह दण्ड भयङ्कर यातनाओं के साथ दिया जाय । अर्थात् प्रथम इन दुष्टों को विष्टा से पूरित गर्त में डुबाओ, पुनः शिर मुण्डन करा गधों पर चढ़ाओ, दोल बजाकर घुमाओ फिर सबके हाथ-पैर कान, नाकादि प्रथक्-प्रथक् अवयवों को कटवाना चाहिए । कोपानल से कम्पित गात जिसका, अरुण हो गई हैं आँखें जिसकी ऐसे उस राजा ने मारने को आज्ञा घोषित की और मारने वालों ने भी अपना कार्य कोलाहल के साथ प्रारम्भ कर दिया । चारों ओर भयङ्कर कोलाहल मच गया ॥१८५ से १८७॥

तदा कोलाहलं श्रुत्वा, काहलादिकमुत्कटम् ।

श्रीपालस्सुदयालुत्वात् समागत्य महीपतिम् ॥१८८॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (कोलाहलम्) शोर गुल (श्रुत्वा) सुनकर (काहलादिकम्) भाँक आदि के (उत्कटम्) उच्चस्वर-आवाज को (श्रुत्वा) सुनकर (सुदयालुत्वाद्) अनुकम्पा-भाव से (श्रीपालः) कोटीभट श्रीपाल (महीपतिम्) राजा के पास (समागत्य) आकर ।

जगौ धर्मपिता मेऽयं हन्यते न महीपते !

इत्याग्रहेण तं शीघ्रं श्रेष्ठिनं धवलं खलम् ॥१८९॥

मोचयित्वा कृपाशूरः प्रेषयामास तत्पदम् ।

सत्यं सन्तः प्रकुर्वन्ति सर्वेषां सर्वतो हितम् ॥१९०॥

अन्वयार्थ—(जगौ) कहने लगा (महीपते !) भो भूपाल (अयम्) यह धवल सेठ (मे) मेरा (धर्मपिता) धर्मपिता (न हन्यते) नहीं मारना चाहिए (इति) इस प्रकार (आग्रहेण) आग्रह कर (तम्) उस (खलम्) दुर्जन (धवलम्) धवल (श्रेष्ठिनम्) सेठ को

(शीघ्रम्) शीघ्र ही (मोचयित्वा) छुड़ाकर (कृपाशूरः) दयालु वीर श्रीपाल ने (तत्पदम्) उसके स्थान पर (प्रेषयामास) भेज दिया (सत्यम्) ठीक ही है (सन्तः) सत्पुरुष (सर्वेषाम्) सभी का (हितम्) कल्याण (प्रकुर्वन्ति) करते हैं।

भावार्थ—उन धोखेवाज प्रपञ्चियों को इस प्रकार अत्यन्त कड़ी सजा राजा ने घोषित की तो चारों ओर हल्ला-गुल्ला मच गया। हा-हा कार होने लगा। राजदरबार गूँज उठा। इस कोलाहल को सुनते ही, कृपालु श्रीपाल ने इसका कारण पूछा। कारण ज्ञात होते ही उसका हृदय दया से आप्पायित हो गया। करुणा की धारा फूट पड़ी। वह तत्काल ही घातकों के स्थल पर जा पहुँचा। पुनः भूपति के सन्निकट आकर अति आग्रह, विनय और आदर से कहने लगा, “हे नज़ीर ! आ—वह क्या कर रहे हैं ? आप जानते हैं ? यह धवल सेठ मेरा धर्मपिता है, इसका रक्षण करना मेरा धर्म है और आपका भी कर्त्तव्य है। आप उन्हें अविलम्ब छोड़ दें। यह ठीक है कि ये अपराधी हैं आपकी दृष्टि में महा दुर्जन हैं, फिर अहिंसा धर्म का प्राण है। जीवरक्षा धर्मात्मा का प्रमुख कर्त्तव्य है अतः इन सभी निरपराधियों को आप छोड़ दें।” इस प्रकार आग्रह पूर्वक उन्हें बन्धनमुक्त कराया उस वज्जक धवल सेठ का शीघ्र ही सम्मानपूर्वक उसके साथियों के साथ उसके निवासस्थान को भेज दिया। नीति है कि “न मथ्यमानेऽपि विषायऽमृतम्।” अमृत को मथे जाने पर भी वह विषरूप नहीं होता, अपितु अपने ही स्वभाव में स्थिर रहता है। इसी प्रकार, मनस्वी, उदार चेतन, उत्तम मज्जन जन सताये जाने पर भी अपकारी का उपकार ही करते हैं ॥१८८ से १९०॥

एते वद्धाः किमर्थं भो चाण्डालाश्च वराका ये।

भणित्वेति च तान् सर्वान्, मोचयित्वा गृहगतः ॥१९१॥

अन्वयार्थ—(च) और (भो) हे नृप (एते) ये (वराकाः) वेचारे (चाण्डलाः) चाण्डाल (किमर्थम्) किस लिए (ये) ये (वद्धाः) बन्धन में डाले हैं। (इति) इस प्रकार (भणित्वा) कहकर (तान्) उन (सर्वान्) सबों को (मोचयित्वा) छुड़ा दिया (च) और (गृहम्) स्वयं घर (गतः) चला गया ॥१९१॥

भावार्थ—धवलसेठ को विसर्जन कर उसने चाण्डालों को बन्धन बद्ध देखा। उसका हृदय काँप उठा। अरे ! राजन् इन वेचारे निरपराधों को क्यों सताते हो ? क्यों बन्धन में डाला है ? ये तो नर्तक हैं, जो पैसा दे उसो को आज्ञानुसार स्वांग रचते हैं। पेट के लिए वेचारे घर-घर-दर-दर भटकते रहते हैं। दया के पात्र हैं। इस प्रकार कहकर उन मथको बन्धन मुक्त कर दिया। ठीक ही है “उन्नतं मानसं यस्य यशस्तस्य समुज्ज्वलम्।” जिसका मन हृदय विशाल होता है उसका यश—कीर्तिलता गगनचुम्बी विस्तृत हो जाती है। इस उदार और करुणापूर्ण व्यवहार से श्रीपाल की यशवल्लरी आकाश में लहराने लगी ॥१९१॥

ततो दिने द्वितीये स श्रीपालोऽति दयान्वितः।

धवल श्रेष्ठिनं दुष्टमामन्त्र्य सपरिच्छदेः ॥१९२॥

स्वगृहे विनयेनोच्चैर्लग्ने भोजयितुं मुदा ।

स्वयं च व्यजनेनोच्चैश्चकारपवनं द्रुतम् ॥१६३॥

वीक्ष्य तेन कृतां भक्तिं महतीं धवलः मृतः ।

निहत्य स्वयमात्मानं तत्कालार्जित पापतः ॥१६४॥

ततोऽत पाप पाकेन रौद्रध्यानेन पापधीः ।

सर्वदुःखाकरीभूतं सोऽगमत् नरकं वर्णिक् ॥१६५॥

ग्रन्थार्थ—(ततः) सबको बन्धन मुक्त कर (द्वितीये) दूसरे (दिने) दिन (अति) अत्यन्त (दयान्वितः) दयालु (स) उस (श्रीपालः) श्रीपाल ने (सपरिच्छेदः) साथियों व परिवार सहित (द्रुष्टम्) क्रूर (धवल श्रेष्ठिनम्) धवलसेठ को (आमन्त्र्य) आमन्त्रित करके (स्वगृहे) अपने घर पर (विनयेन) विनय पूर्वक (उच्चैः) अतिमान से (भोजयितुं) भोजन कराने के लिए (लग्ने) तैयार होने पर (मुदा) प्रसन्न हो (स्वयम्) अपने आप (व्यजनेन) पंखे से (उच्चैः) विशेष रूप से (च) और (द्रुतम्) वेग से (पवनम्) हवा (चकार) करने लगा, (तेन) श्रीपाल द्वारा (कृतम्) की गई (महतीम्) महान (भक्तिम्) भक्ति को (वीक्ष्य) देखकर (धवलः) धवल सेठ (अर्जित) संवित (पापतः) पाप से (तत्काल) उसी समय (स्वयम्) अपने आप (आत्मानम्) आत्मा को (निहत्य) नाशकर (मृतः) मर गया (ततः) इसलिए (पापधीः) दुर्बुद्धि पापी (अति) अत्यन्त (पापपाकेन) पापोदय से (रौद्र-ध्यानेन) रौद्रध्यान द्वारा (सर्वदुःखाकरीभूतम्) सर्वप्रकार के दुःखों को करने वाले (नरकम्) नरक को (सः) वह (वर्णिक्) वैश्य धवल (आगमत्) चला गया ।

भावार्थ—उदार चेत, कर्तव्यनिष्ठ कोटीभट श्रीपाल ने दूसरे दिन धवल सेठ को निमन्त्रण दिया । उसके साथी-संगी स्वजन-परजन सभी को भोजन का आमन्त्रण दिया । प्रीति-भोज को महामोद से बुलाया । कितनी विचित्र बात है एक ओर महाक्रूर पापी दुराचारी और दूसरी ओर परम दयालु, नीतिज्ञ, विनयी ? अधर्म और धर्म जा सामंजस्य भला कैसे हो ? हुआ क्या ? श्रीपाल राजा ने नाना प्रकार सुन्दर, सुस्वादु शुद्ध व्यञ्जन तैयार कराये । अत्यन्त अनुराग से सेठ को सपरिवार बुलाया, उच्च आसन दिया । प्रेमालाप किया । पुनः यथायोग्य स्थान पर भोजन कराने को ले गया । शान्ति से बिठाया । भोजन करने लगा । स्वयं श्रीपाल महाराज पंखा लेकर तेजी से हवा करने लगा । पिता तुल्य वृद्ध वर्णिक् राजा को किसी प्रकार आकुलाता न हो इस प्रकार की सेवा में तत्पर हुआ । परन्तु हुआ क्या श्रीपाल के इस विनम्र व्यवहार भक्तिसंचार से पापी धवल सेठ का हाल-वेहाल हो गया । ठीक ही है सूर्य को देखकर सारी प्रकृति प्रफुल्ल हो जाती है परन्तु उलू आँखें बन्द कर छूप जाता है । अपने कुकर्म से उपार्जित पाप से अभिभूत हुआ धवल सेठ स्वयं ही आत्मघात कर या मानसिक असह्य वेदना से अभिभूत हुआ सदा के लिए छूप गया । अर्थात् मरण को प्राप्त हो गया । हिसानन्दी रौद्रध्यान के फलस्वरूप वह पाप बुद्धि असंख्य दुःखों का स्थान चार नरक में जा पड़ा । कर्मों

की लीला विचित्र है । परिणामों की शतरञ्ज जीवन रूपी मञ्च पर निरन्तर चलती रहती है । हार-जीत का कोन ठिकाना ? स्वयं जोव शुभाशुभ कर्म उपाजित करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है । कहीं सुविख्यात वाणिक् पति और कहीं दुःखों का सागर नरक ? हृदयगति रुक गई एक क्षण में षट्स पदार्थ रह गये जहाँ के तहाँ और मिल गई दुर्गति का राह । कितना अद्भुत है संसार ? ॥१६२ से १६५॥

अहो दुरात्मनां नूनं दुराचारेण नश्यति ।

इहाऽमुत्र सुखं सर्वं ढौकन्ते दुःखराशयः ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है (नूनम्) निश्चय ही (दुराचारेण) व्यभिचार रूप आचरण से (दुरात्मनाम्) दुर्जनों का (इहाऽमुत्र) इस लोक व परलोक का (सर्वम्) सम्पूर्ण (सुखम्) सुख (नश्यति) नष्ट हो जाता है तथा (दुःखराशयः) विविध विपत्ति समूह (ढौकन्ते) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—महान आश्चर्य है कि दुराचार के द्वारा दुराचारियों के उभय लोक सम्बन्धी समस्त सुख हवा हो जाते हैं । उन पर सर्वत्र संकटों के बादल घिर आते हैं । अर्थात् जिधर जाँय उधर ही उन पर विपत्तियाँ गजब ढाहती हैं । एक क्षण भी सुख प्राप्त नहीं होता । बेचारे धनिक धवल सेठ दुर्बुद्धि के वश हुआ अत्याचार में पड़ा, दुराचार की भावना से अपने को नरकगामी बनाया । क्षण भर में कायापलट हो गई । जहाँ एक क्षण पूर्व महाशुभट की ट-भट शिर पर पंखा भल रहा था वहाँ दूसरे क्षण उसकी आत्मा शूलों की शीघा पर अमहाय संताप ज्वाला में झूलसने लगी । स्पर्शनिन्द्रिय लम्पट की यही दुर्दशा होती है । यह काम महा नीच और दुःखद है । जो इस मदनवेदना से पीड़ित हो अनधिकार चेष्टा करते हैं वे दुर्गति के पात्र होते ही हैं ॥१६६॥

धिक् कामं धिक् दुराचारं धिक् परस्त्री कुचिन्तनम् ।

येन प्राणी विमूढात्मा प्रयात्येवमधोगतिम् ॥१६७॥

ततो भव्यः प्रकर्त्तव्यं परस्त्री संगमोज्झनम् ।

येन स्वर्गापवर्गोरु सम्पदां प्राप्यते सुखम् ॥१६८॥

शुद्धात्मनां स्वभावेन नश्यन्ति विघ्न कोटयः ।

जायन्ते विश्वशर्माणि ह्यत्रामुत्र स्वयं शुभात् ॥१६९॥

अन्वयार्थ—(कामम्) मदनपीडा को (धिक्) धिक्कार है (दुराचार्म्) दुराचार को (धिक्) धिक्कार (परस्त्री) परनारी (कुचिन्तनम्) की दुरभिलाषा को भी (धिक्) धिक्कार है (येन) जिसके द्वारा (मूढात्मा) दुर्बुद्धि (प्राणी) मनुष्य (अधोगतिम्) दुर्गति को (एव) ही (प्रयाति) जाता है ।



ऊपर—राजा द्वारा होंगी नर्तकों की सजा सुनाते हुए (देखें पृष्ठ ३३५ श्लोक १६०)।

नीचे—श्रीपाल अपनी वाद्यकला का प्रदर्शन करते हुए (पृष्ठ ३४७ श्लोक ३ से १२ तक)

भावार्थ—आचार्य खेद प्रकट करते हैं कि संसार में कामदेव का मोहन मन्त्र सर्वत्र व्याप्त है। हरिहर, ब्रह्मा आदि को भी इसने परास्त कर दिया। यह महा ठग है बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, त्यागी भी इसके चंगुल में फँस जाते हैं। इस काम को धिक्कार है। परस्त्री लम्पटी का तो कहना हो क्या है ये तो महाधिक्कार के पात्र हैं। परस्त्री सेवन के लोलुपियों को धिक्कार है। परनारी सेवक नियम से अधोमति के ही पात्र होते हैं। इसलिए भव्यजीवों को परस्त्री संभोग का सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। जिससे स्वर्गादि सुख और वैभव प्राप्त होता है पुनः क्रम से मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है। मुक्ति प्राप्त जीव अनन्तकाल तक अनन्त सुख में निमग्न रहता है। जो जीव शुद्ध रूप परिणति करते हैं वे स्वभाव से करोड़ों विघ्नों का नाश कर देते हैं अर्थात् उनके करोड़ों संकट दूर हो जाते हैं। संसार में अनेकों सुख-शान्ति उन्हें प्राप्त होती है। उभय लोक में अपने आप ही नाना शुभफल प्राप्त हो जाते हैं। १६७ से १६९।

स श्रीपालस्तदा धीमान् तद् गदित्वा महीपतिम् ।

स्वकीयं धनमादाय सप्त पोतादिकं शुभम् ॥२००॥

सर्वाणि यान पात्राणि तदा तस्य सुनीतिवित् ।

प्राहिणोद्भृगुकच्छास्य पत्तनं धार्मिकाग्रणीः ॥२०१॥

स्वयं स्वपुण्यपाकेन तत्र श्रीदलवर्त्तने ।

राजा प्रदत्त देशादि राज्यं प्रापप्रमोदतः ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(तदा) धवल सेठ का हार्ट फेल होने पर (सः) वह (धीमान्) बुद्धिमान (श्रीपालः) श्रीपाल (महीपतिम्) राजा को (तद्) वह वृत्तान्त (गदित्वा) विदित कर (शुभम्) शोभनीय (स्वकीयम्) अपने (सप्त) सात (पोतादिकम्) यान पात्रों भरे (धनम्) धन को (आदाय) लेकर (तदा) तब (सुनीतिवित्) सम्यक् नीतिज्ञ (धार्मिकाग्रणीः) धर्मात्माओं में अग्र श्रेष्ठ उस श्रीपाल ने (तस्य) धवल सेठ के (सर्वाणि) सम्पूर्ण (यानपात्राणि) जहाजों को (भृगुकच्छास्य) भृगुकच्छ नामक (पत्तनम्) नगर को (प्राहिणोत्) भिजवा दिये (स्वयम्) अपने स्वयं श्रीपाल (तत्र) वहीं (श्रीदलवर्त्तने) दलवर्त्तन द्वीप में (स्वपुण्यपाकेन) अपने पुण्योदय से (प्रमोदतः) आनन्द से (राजा) राजा द्वारा (प्रदत्त) दिये गये (देशादि) देशों व (राज्यम्) राज्य को (प्राप) प्राप्त किया।

भावार्थ—धवल सेठ श्रीपाल की निर्मल, पवित्र विनय भक्ति से पानी-पानी हो गया। उसका हृदय इस सज्जनता का फल कैसे चखता? जेरनी के दूध को सुवर्णपात्र ही धारण करने में समर्थ होता है। अतः उसका हृदय फेल हो गया। मरण को वरण कर सदा के लिए मुँह छिपा लिया। श्रीपाल तन्त्रवित् था। अतः समस्त घटना राजा को ज्ञात करा दो। उसको

अन्तेष्टी आदि समस्त क्रिया सम्पन्न कर यान पात्रों को संभाला । वरंर राजाओं को श्रीपाल ने युद्ध में परास्त किया था, उन्हें बन्धनबद्ध कर पुनः आधीन कर छोड़ दिया । प्राणदान पाकर उन्होंने भक्तिभाव से प्रसन्न हो श्रीपाल को सात जहाज धन-धान्य रत्नादि से भरे भेंट किये थे । यह कथा पहले आ चुकी है । पाठक गण विचार करें कि श्रीपाल कितना न्यायवन्त, उदार, सदाचारी व विशाल हृदय वाला है । इस समय सेठ धवल के ५०० जहाज इसके हाथों में हैं । परन्तु उसने उस अटूट धन को ओर दृष्टि भी नहीं डाली । अपने ही सात जहाजों को स्वीकार किया । महान संतोषी श्रीपाल के इस आचरण से आज के धनकुवेर जो अपने धन की वृद्धि के लिए अनधिकार चेष्टा करते हैं शिक्षा ग्रहण करें । अपने लोलुपी मन की शुद्धि कर पाप के बाप लोभ का त्याग करें । अस्तु धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि श्रावक श्रीपाल ने शेष समस्त पाच सौ जहाज धवल सेठ के भृगुकच्छ नाम के पत्तन को अविलम्ब भेज दिये । उसके परिवार को किसी प्रकार कष्ट न हो तथा साथियों का मार्ग सुखपूर्वक तथा ही इत्यादि प्रबन्ध भी राजा द्वारा करा दिया । स्वयं भी राजा धनपाल से प्राप्त राज्य एवं देशादि को लेकर आनन्द से रहने लगे । अपने विशिष्ट पुण्य से स्वयमेव प्राप्त भोग भोगने लगा । “संतोषं परमं सुखम् ।” ॥२०० २०१ २०२॥

सती मदनमञ्जूषा गुणमाला गुणोज्ज्वला ।

द्वाभ्यांसार प्रियाभ्यां च, संयुतो गुणमण्डितः ॥२०३॥

भुञ्जन्मोगान्मनोऽभीष्टान् विपुण्यजन दुर्लभान् ।

संस्थितः श्री जिनाधीशधर्मकर्मणि तत्परः ॥२०४॥

अन्वयार्थ—(श्री जिनाधीशधर्मकर्मणि) उभय लक्ष्मीनायक श्री जिनेन्द्रभगवान् के धर्म कार्यों में (तत्परः) सन्नद्ध वह श्रीपाल (गुणमण्डितः) श्रेष्ठ गुणों से अलङ्कृत (गुणो-ज्ज्वला) शुभगुणों से मण्डित (सती) साध्वी (मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषी (गुणमाला) गुणमाला नाम की (द्वाभ्याम्) दोनों (प्रियाभ्याम्) पत्नियों के साथ (संयुतो) सहित (अभीष्टान्) इच्छित (च) और (विपुण्यजन) पापी जीवों को (दुर्लभान्) कठिन (भोगान्) भोगों को (भुञ्जन्) भोगता हुआ (संस्थितः) स्थित हुआ रहने लगा ।

भावार्थ—तत्त्ववित् सुख दुःख में समान रूप से प्रवर्तन करते हैं । न सुख में फूलते हैं न दुःख में घबराते हैं । किन्तु हर हालत में अपने धर्मकार्यों में सावधान रहते हुए कर्त्तव्य में तत्पर रहते हैं । श्रीपाल भी अब अपनी दोनों प्रियाओं मदनमञ्जूषा व गुणमाला के साथ सारभूत, पुण्यपाक से प्राप्त पञ्चेन्द्रिय विषयों को धर्म पुरुषार्थ को लक्ष्य बना भोगने लगे । पुण्यवान् को बिना प्रयास ही इष्ट भोगों की उपलब्धि हो जाती है । पुण्यहीन जो तोड़ प्रयास कर भी उन्हें नहीं पा सकते । परन्तु विवेकी जन सुलभता से प्राप्त उन भोगों में आसक्त नहीं

होते-विमूढ नहीं होते, अपितु औषधि के समान उनका सेवन पूर्ण उपेक्षा भाव से करते हैं । गृद्धता पूर्वक भोगों का सेवन दुर्गति को निमन्त्रण है । अतः जानी इस भय से मुक्त नहीं होता अपितु सावधान होकर इस से बचने का प्रयत्न करते हुए धर्म का सेवन करते हुए भोगता है ।

॥२०३ २०४॥

कोटिभटो गुणज्ञश्च कृपालुश्च विशेषतः ।

स श्रीपालः सुखं तस्थौ यावत्तावत्कथान्तरम् ॥२०५॥

नित्यं श्रीजिनसिद्धपूजनपरस्सत्पात्रदानेरतो ।

नित्यं शास्त्रविनोदरञ्जितमतिदिग्ध्याप्तकीर्तिद्युतिः

नित्यं सारपरोपकारनिरतः श्रीपाल नामा नृपः ।

स्तत्रोच्चैःप्रेमदाद्वय प्रमुदितो भुञ्जन्सुखं संस्थितः ॥२०६॥

अन्वयार्थ—(कोटिभटः) कोटीभट, (गुणज्ञः) गुणों का ज्ञाता (विशेषतः) विशेष रूप से (कृपालुः) दयावत्परा (च) और (दयालुः) परोपकारी (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (यावत्) जबकि (सुखम्) सुख से (तस्थौ) वहाँ था (तावत्) तब ही (कथान्तरम्) अन्य कथा चली (श्रीपालनामा नृपः) श्रीपाल नामका राजा (नित्यम्) प्रतिदिन (श्रीजिन-सिद्ध पूजन परः) श्री जिनेन्द्र भगवान और सिद्धों की पूजा में तत्पर (सत्पात्र) उत्तमादि पात्रों को (दानेरतः) दान देने में लीन (नित्यम्) प्रतिदिन (शास्त्रविनोद) शास्त्राध्ययन (विनोद-रञ्जित) विनोद में मग्न (मतिः) बुद्धि (दिग्ध्याप्तकीर्तिः) दिशाओं में ध्याप्त कीर्ति (द्युतिः) कान्ति युत (नित्यम्) सतत (परोपकार) दूसरे की भलाई रूप (सार) तत्त्व (निरतः) लीन (प्रेमदाद्वय) पत्नियों से (प्रमुदितः) आनन्दित (उच्चैः) उत्तम (सुखम्) सुख (भुञ्जन) भोगता हुआ (तत्र) वहीं (संस्थितः) रहने लगा ।

भावार्थ—भूपाल श्रीपाल वहाँ दलवर्तन पतन में रहने लगा । अपनी दोनों रमिणियों सहित वह नित्य श्री जिनेन्द्र भगवान एवं सिद्ध परमेष्ठी की पूजा में तत्पर रहता था । प्रतिदिन उत्तम, मध्यम, जयन्त्य पात्रों को यथायोग्य चारों प्रकार का दान देने में हर्षित होता था । भक्ति श्रद्धा से साधु सन्तों की सेवा, वैयावृत्ति करता था । प्रति दिवस स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन धर्मकथादि ही उसके विनोद के साधन थे । परोपकार ही उसका प्राण ही था । प्राणीमात्र का रक्षण करना अपना कर्त्तव्य समझता था । ये ही उसकी बुद्धि के ध्यायाम थे । युगल कामिनियों सहित आनन्द से विषय सुखों को भी भोगता था, परन्तु उन्हें सतत उपेक्षा भाव से ही देखता था, विरस ही जानता था । इस प्रकार चारों पुरुषार्थों को समान रीति से सेवन करते हुए वहाँ

सुख से रहने लगा । वह कोटभट्ट गुराआहों, गुणों का भाता था, विशेषरूप से दया तत्पर था । महान था । इस प्रकार सुख शान्ति से समय चला जा रहा था कि उसी समय अन्य ही कथा प्रारम्भ हुयी । जिसका वर्णन अगले परिच्छेद में आचार्य करने वाले हैं ॥२०५ से २०६॥

॥इति श्रीसिद्धचक्र पूजातिशय प्राप्ते श्रीपालमहाराज चरिते भट्टारक श्री सकलकीर्ति
आचार्य विरचिते श्रीपालमहाराज विघ्न निवारण
गुणमाला विवाह वर्णनं नाम पञ्चमः परिच्छेदः
श्री पञ्चगुरभ्यो नमः शुभम्...अस्तु
॥शान्तिरस्तु॥



॥अथ षष्ठमः परिच्छेदः॥

अथैकदा सुधीस्तत्र, दलवर्तन पत्तने ।

स श्रीपाल प्रभुस्सौख्यं, भुञ्जन् श्रीजिनभक्तिभाक् ॥१॥

तत्र यातान् वणिक्वर्यान्, संविलोक्य जगाद तान् ।

कुतस्समागतायूयमपूर्वं च वदस्वहो ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) अधानन्तर (एकदा) एक समय (तत्र) वहाँ (दलवर्तन) दल-वर्तन नामक (पत्तने) रत्नद्वीप में (सः) वह (सुधीः) बुद्धिमान (श्रीजिनभक्तिभाक्) श्री जिनेन्द्रभगवान की भक्ति में लीन (प्रभुः) महान (श्रीपालः) श्रीपाल भूपति (सौख्यम्) सुख (भुञ्जन्) भोगते हुए विराजे, (तत्र) उस समय वहाँ (यातान्) आये हुए (वणिक्वर्यान्) श्रेष्ठ व्यापारियों को (संविलोक्य) अच्छी तरह देखकर (च) और (तान्) उनको (जगाद) बोला (अपूर्वम्) पहले नहीं देखे गये (यूयम्) तुम लोग (अहो) भो महाशयः (कुतः) कहाँ से (समागताः) आये हैं (वदतु) कहिए ।

भावार्थ—अब श्रीपाल जी भार्या और राज्य पाकर आनन्द से अपना समययापन करने लगे । दलवर्तन रत्नद्वीप में अनेकों व्यापारी आते जाते थे । बुद्धिमान्, श्री जिनचरणाम्बुजों का भ्रमर श्रीपाल महाराज अपने प्राप्त राज्य का उपभोग करने लगा । उसके बाद एक नवीन कथानक प्रारम्भ होता है । उस द्वीप में कुछ अभूतपूर्व वणिक्जनों का आगमन हुआ । महाराज श्रीपाल ने उन वणिकों को पहले कभी नहीं देखा था । अतः अद्भुतजनों को देख, आश्चर्य से उनको देखा और पूछा कि “आप लोग कहाँ से पधारे हैं ?” अपना परिचय कहिये ? ॥१-२॥

तेऽपि तत्त्वा जगू राजन् कुण्डलाख्य पुराद्वयम् ।

समागताः प्रभुस्तत्र मकरध्वज संज्ञकः ॥३॥

कर्पूरतिलका तस्य राज्ञी जाता गुणान्विता ।

तयोर्द्वयोस्समुत्पन्नः पुत्रो मदनसुन्दरः ॥४॥

तथा वभूव सत्पुत्रोऽमरसुन्दर संज्ञकः ।

चित्रलेखा बृहद् पुत्री स्युरन्या शतकन्यकाः ॥५॥

जगद्रेखा सुरेखाऽथ गुणरेखा ततः परा ।

मनोरेखाऽथ जीवन्ती रम्भा भोगवती सुता ॥६॥

रतीरेखा मिधेत्यादि नामिन्यश्च पृथक्-पृथक् ।
 प्रतिज्ञासिद्धिं तद्वत्तुः धो रञ्जयिष्यति भूपतिम् ॥७॥
 नृत्यन्तीनाम् पुरेऽस्माकं यः कोऽपि पुरुषोत्तमः ।
 गीत वादित्रविद्याभिः रञ्जयिष्यति मानसम् ॥८॥
 सोऽस्माकं पतिरित्युच्ये भावीनान्यः परो ध्रुवम् ।
 तदाकर्ण्य वचस्सोऽपि श्रीपालो भूपतिमुदा ॥९॥
 कुण्डलाख्यपुरं गत्वा तास्समालोक्य कन्यकाः
 रूप सौभाग्य संभार सत्सुधारस कूपिकाः ॥१०॥
 सर्वं विज्ञान सम्पन्नसुधीस्त्रैलोक्य मोहनम् ।
 कृत्वा गानादिकं सर्वं मोहयित्वा च तन्मनः ॥११॥
 तत्कन्यकाः शतञ्चासौ परिणीयमहोत्सवैः ।
 सुखेन संस्थितस्तत्र सुपुण्यात् किञ्च जायते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(ते) वे वरिष्ठ (अपि) भी (नत्वा) नमस्कार करके (जगू) बोले
 (राजन्) हे भूप ! (कुण्डलाख्य) कुण्डल नामक (पुरात्) नगर से (वयम्) हम लोग (समा-
 गताः) आये हैं (तत्र) उस नगर का (मकरध्वजसंजकः) मकरध्वज नामका (ध्रुवः) भूपति
 है (तस्य) उसकी (कर्पूरतिलका) कर्पूर तिलका (गुणान्विता) गुणों से अलंकृत (राज्ञी)
 रानी (जाता) है (तयोः) उन दम्पती से (समुत्पन्नः) उत्पन्न (मदनसुन्दरः) मदन सुन्दर
 (पुत्रः) पुत्र (तया) एवं (अमरसुन्दरः) अमर सुन्दर (संजकः) नाम वाला (सत्पुत्रः) श्रेष्ठ
 पुत्र (बभूव) हुए (चित्रलेखा) चित्रलेखा (बृहद्) बड़ी (पुत्री) पुत्री (शत) सौ (अन्याः)
 दूसरी (कन्यकाः) कन्यायें (पृथक्-पृथक्) अलग-अलग (नामिन्याः) नाम वाली (जगदरेखा)
 जगदरेखा (सुरेखा) सुरेखा (गुणरेखा) गुणरेखा (अथ) एवं (मनोरेखा) मनोरेखा (जीव-
 न्ती) जीवन्ती (रम्भा) रम्भा (भोगवती) भोगवती (अथ) तथा (ततः परः) इसके अलावा
 (रतिरेखा) रतीरेखा (मिधाः) नामवाली (इत्यादि) आदि (सुता) कन्या है (ताः) उन्होंने
 (इति) इस प्रकार (प्रतिज्ञाम्) प्रतिज्ञा (चक्रुः) की है कि (यः) जो (नृत्यन्तीनाम्) नृत्य
 करती हुई (अस्माकम्) हम लोगों के (पुरे) सामने (यः) जो (कोऽपि) कोई भी (पुरुषो-
 त्तमः) उत्तम पुरुष (गीत वादित्र) गाना बजाना (विद्याभिः) विद्याओं द्वारा (भूपतिम्)
 राजा के (मानसम्) मन को (रञ्जयिष्यति) रञ्जयमान करेगा (सः) वही (ध्रुवम्)
 निश्चय से (अस्माकम्) हमलोगों का (पति) भर्ता (भावी) होगा (न अन्यः) अन्य नहीं
 (इति) इस प्रकार के (वचः) वचन (उच्ये) सम्यक् रूप से (आकर्ण्य) सुनकर (तदा) उसी
 समय (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (भूपति) राजा (अपि) भी (मुदा) आनन्द से (कुण्ड-
 लाख्यपुरं) कुण्डलपुर को (गत्वा) जाकर (रूपसौभाग्य सम्भार सत्सुधारस कूपिकाः) लावण्य,

सौभाग्य के भार से अलङ्कृत उत्तम सुधारस की वापिका स्वरूप (ताः) उन (कन्याः) कन्याओं को (समालोक्य) अवलोकन कर (सर्वकलाविज्ञानसम्पन्नः) समस्त कला-विज्ञान में निपुण (सुधीः) बुद्धिमान श्रीपाल ने (त्रैलोक्यमोहनम्) तीनों लोकों को मुग्ध करने वाले (गानादिकम्) गानादिक (कृत्वा) करके (सर्वं) राजा प्रजा सबको (मोहयित्वा) मोहित कर (च) और (तन्मतः) उन कन्याओं को भी प्रसन्न कर (असौ) उसने (महोत्सवेः) महान् उत्सव के साथ (तत्कन्यकाशतम्) उन सौ कन्याओं को (परिणीय) विवाह कर (तत्र) वहीं (सुखेन) सुख से (संस्थितः) रहने लगा (सुपुण्यात्) श्रेष्ठ पुण्य से (किम्) क्या (न जायते) प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सब कुछ होता है ।

भावार्थ—श्रीपाल द्वारा पूछे जाने पर वे व्यापारी अपना परिचय देते हैं । प्रथम विनय से नमस्कार किया । पुनः कहने लगे हे भूपाल हम लोग कुण्डलपुर नगर से आये हैं । वहाँ मकरध्वज नामका राजा प्रजापालन करता है । उसकी गुणवती सुन्दरी का नाम कर्पूर रतिलका है । उन दोनों दम्पति से उत्पन्न जन्मे मदनसुन्दर और अमरसुन्दर नामके कलागुण सम्पन्न दो पुत्र हैं । तथा रूप लावण्य सुधारस्वरूप सौ कन्याएँ हैं । ये एक से एक सुन्दरी पीयूषधारा समान सुख की खान हैं । सभी संगीत, नृत्य, वादित्र कलाओं में निपुण हैं । इनमें ज्येष्ठ पुत्री का नाम चित्ररेखा है । दूसरी जगदरेखा, सुरेखा, गुणरेखा, मन्तोरेखा, जीवन्ती, रम्भा, भोगवती, रतीरेखा इत्यादि यथा नाम तथा गुण १०० कन्याएँ हैं । इन सभी ने कठोर प्रतिज्ञा की है कि “जो महानुभाव, सत्पुरुष हम लोगों के नृत्य करते समय वाद्यवादन, गान गायन विद्याओं का प्रदर्शन करते हुए राजा का हृदय अनुरञ्जित करेगा अर्थात् भूपति को प्रसन्न करेगा वही हम सबका प्राणवल्लभ होगा । यह हमारी ध्रुव प्रतिज्ञा है । अन्य किसी भी पुरुष के साथ हम लोग विवाह नहीं करेंगी ।” इस प्रकार उन वणिक्जनों से कन्याओं का वृत्तान्त ज्ञात कर श्रीपाल भूपाल तत्क्षण वहाँ जाने की तैयार हो गये । अतिशीघ्र वे कुण्डलपुर जा पहुँचे । शचि, रति समान उन अप्सरारूपिणी कन्याओं का अवलोकन किया । वास्तव में वे चन्द्रकला स्रज सर्वाङ्ग सुन्दरी, नाना कला-गुणों की खान स्वरूप थीं । श्रीपाल कोटीभट के आदेशानुसार कन्याओं ने नृत्यारम्भ किया । इधर गान और वाद्य कलाओं के पारङ्गत श्रीपाल ने अपना कांशल प्रदर्शित किया उस समय सभा का रूप यथार्थ इन्द्रसभा समान था । कुछ ही समय में राजा-प्रजा तन्मग्न हो गए । अपनी सुध-बुध भूल गये । फलतः राजा हर्ष विभोर हो गया और साथ ही वे कन्याएँ भी आकृष्ट हो निजमान खी बँठी । श्रीपाल महाराज ने तीनों लोकों को मोहित करने वाला गान गाया । समधुर कण्ठध्वनि से हृदय तार भङ्कृत हो गये और सारी सभा मस्ती से झूमने लगी । मधुर वाद्यवादन भी तो बेजोड़ ही था । इस प्रकार विजयो श्रीपाल ने महावैभव और उत्सव के साथ उन सौ कन्याओं के साथ धूम-धाम से विधिवत पाणिग्रहण किया । समस्त वधुओं के साथ वहीं स्थित हो गया । सत्य ही है पुण्य से जीव को क्या प्राप्त नहीं होता ? सब कुछ अनायास ही मिल जाता है । सुन्दर रमणियों के साथ अनेक प्रकार को भोगोपभोग की सामग्रियाँ भी प्राप्त हुईं ॥३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० ११ १२॥ यथा—

स राजाऽपि तदा तस्मै सन्तुष्टो मकरध्वजः ।

श्रीपालाय ददौ तत्र नाना रत्नादि सम्पदः ॥१३॥

गजाश्वरथ पादाति दासी दासादिकं बहु ।

सत्यं सर्वत्र पुण्येन भव्यैस्सम्प्राप्यते ध्रुवम् ॥१४॥

अथात्रैव सुखेनासौ यावदास्ते प्रियान्वितः ।

तावच्छ्रुतो मुदागत्य तं नत्वेदं वचोऽब्रवीत् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (सः) उस (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट (मकरध्वजः) मकरध्वज (राजा) भूपति ने (अपि) भी (श्रीपालाय) श्रीपाल दामाद को (गजाः) हाथी (अश्वाः) घोड़े (रथः) रथ (पादातिः) पैदल सेना (दासी-दास) सेविका-सेवक (नाना) अनेकों (बहु) बहुत से (रत्नादि) रत्न, माणिक्य, पन्ना आदि नवरत्न (सम्पदः) विभूति (तस्मै) उस जेवई को (दत्तौ) दहेज में प्रदान की, (सत्यम्) नीति है (पुण्येन) शुभकर्म से (भव्यैः) भव्य जीवों के लिए (सर्वत्र) सब जगह (ध्रुवम्) निश्चित रूप से (सम्प्राप्यते) सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं (अथ) विवाह बाद (असौ) वह श्रीपाल (यावत्) जबकि (अत्रैव) इसी नगर में (प्रियान्वितः) अपनी कामिनियों के साथ (सुखेन) सुख से (आस्ते) विराजा (तावत्) तब ही (मुदा) हर्ष भरा (दूतः) दूत (आगत्य) आकर (तम्) उसे (नत्वा) नमस्कार कर (इदम्) इस प्रकार (वचः) वचन (अब्रवीत्) बोला ।

भावार्थ—अपनी प्रिय एकसौ कन्याओं का विवाह कर मेदनीपति मकरध्वज को



अपार हर्ष हुआ । यौवन प्राप्त कन्याओं की यही गति है । कौन माता-पिता अपनी पुत्रियों को सौभाग्य सुन्दरी रमणी रूप में देखना नहीं चाहते ! राजा ने आनन्द से वर दक्षिणा रूप में श्रीपाल को अनेकों विशाल गज, सुन्दर चञ्चल अश्व, रथ, पादाति नाना प्रकार रत्नादि, वस्त्रालङ्कार प्रदान किये । महल मकान दिये । इस प्रकार श्रीपाल राजा भी धन सम्पदा के साथ १०० रमणियों के साथ सुखोपभोग में तन्मय हो गये । जिस समय उनका हास-विलास पूर्वक जीवन चलने लगा कि उसी समय कोई दूत हर्ष भरा आया और श्रीपाल जी को नमन कर इस प्रकार के वचन कहने लगा ॥१३, १४, १५॥ क्या कहा सो सुनिये --

काञ्चनाख्यं पुरे राजा वज्रसेनोऽस्य बल्लभा

अभूत्काञ्चनमालाख्या तयोस्सुशील संज्ञकः ॥१६॥

गन्धर्वाख्यो यशोधौतौ, विवेकशील नामकः ।

कन्या विलासमत्याद्याख्यास्युर्नवशत प्रभाः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(काञ्चनाख्यपुरे) काञ्चन नामक पुर में (वज्रसेनः) वज्रसेन (राजा) नृपति (यस्य) इसकी (काञ्चनमालाख्या) काञ्चनमाला नामक (बल्लभा) भार्या-रानी (अभूत्) थी (तयोः) उन दोनों के (सुशीलसंज्ञकः) सुशील नामक, (गन्धर्वाख्यः) गन्धर्व-नाम वाला एवं (यशोधौतः) कीर्ति जल से स्वच्छ (विवेकशीलनामकः) विवेक शील नाम वाला पुत्र (विलासमत्याद्याख्या) विलासमती आदि नामवाली (नवशतप्रभाः) नौ सो प्रमाण (१००) (कन्याः) पुत्रियाँ (स्युः) हुयीं ।

भावार्थ—कर्मठ दूत कहता है कि महाराज काञ्चनपुर नामक नगर है उसमें वज्रसेन नामक राजा है । उसकी प्राण प्रिया काञ्चनमाला है । उन दोनों के सुशील, गन्धर्व एवं अपने यश से पवित्र विवेकशील नामक पुत्र तथा विलासमती आदि नामवाली नवसौ कन्याएँ हैं ॥१६, १७॥

सर्वास्ता रूपलावण्यखन्यो देव स्व पुण्यतः ।

शीघ्रं परिणय त्वञ्च तत्रागत्य नृपात्मजः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(ताः) वे (सर्वाः) सभी (रूपलावण्यखन्याः) रूप सौन्दर्य की खान हैं (देव !) हे देव (नृपात्मजः) हे नृपकुमार ! (स्व पुण्यतः) अपने पुण्य से (तत्र) 'वहाँ' (आगत्य) आकर (त्वम्) आप (शीघ्रम्) शीघ्र (परिणय) विवाह करें ।

भावार्थ—हे देव, भो राजकुमार ! वे सभी कुमारियाँ रूप गुण का खान हैं आप अपने पुण्य प्रताप से शीघ्र ही वहाँ पधारिये और उन सौभाग्य शालिनियों को वरण कर उनके साथ होइये ॥१८॥

श्रीपालोऽसौ ततः प्राह वक्षास्सन्ति नृपा न किम् ।
यतस्त्वत्पतिरेवाऽत्र कन्यास्सर्वा ददाति मे ॥१६॥

अन्वयार्थ—(ततः) दूत वचन सुन (असौ) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (प्राह) बोला (किम्) क्या (त्वत्) तुम्हारा (पतिः) स्वामी (नृपा) राजा (दक्षा) चतुर (न) नहीं है (यतः) क्योंकि (सर्वाः) सभी (एव) ही (कन्याः) पुत्रियों को (मे) मुझे (ददाति) दे रहा है ।

भावार्थ—श्रीपाल विनोद से दूत को कहता है कि तुम्हारा स्वामी एवं राज के लोग क्या मूर्ख हैं । उन्हें बुद्धि नहीं ? मुझे अपरिचित को अपनी इतनी पुत्रियों को देना चाहता है । यह विचार करना चाहिये ॥१६॥

तत्प्रश्नादाह दूतोऽपि नैमित्तिकेन भाषितम् ।
भर्तायश्चित्रलेखायास्तासां पुण्यात्स एव हि ॥२०॥
इति नैमित्तिकेनोक्तं श्रुत्वामत्स्वामिनाद्रुतम् ।
आज्ञापितोऽस्म्यहं स्वामिस्तस्मादागम्यतां द्रुतम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(तत्प्रश्नात्) श्रीपाल द्वारा प्रश्न करने पर (दूतः) वचोवह (अपि) भी (आह) बोला, (नैमित्तिकेन) निमित्तज्ञानी ने (भाषितम्) कहा था कि (यः) जो (चित्रलेखायाः) चित्रलेखा का (भर्ता) पति हो (पुण्यात्) पुण्य प्रभाव में (हि) निश्चय पूर्वक (सः) वह (एव) ही (तासाम्) उनका है (इति) इस प्रकार (नैमित्तिकेन) निमित्तज्ञानी द्वारा (उक्तम्) कथित को (श्रुत्वा) सुन कर (मत्) मेरे (स्वामिना) स्वामी ने (द्रुतम्) शीघ्र ही (अहं) मुझे (अज्ञापितोऽमि) आज्ञा दी है (स्वामिन्) हे स्वामिन् (तस्मात्) इसलिए आप (द्रुतम्) अविलम्ब (आगम्यताम्) आइये ।

भावार्थ—दूत के निमन्त्रण को पाकर श्रीपाल कोटिभट ने पूछा कि तुम्हारा राजा अपनी इतनी कन्याओं को मुझे ही क्यों देना चाहते हैं ! इसके उत्तर में वह पत्रवाही बोला, स्वामिन् सुनिये, इसका कारण मैं बताता हूँ । एक दिन राजा ने अपनी नव यौवना सुन्दरी पुत्रियों को देखकर उनके विवाह का विचार किया । इसके लिए भूपति ने नैमित्तिक को बुलाया और कन्याओं के भावी पति के लिषय में पूछा । उसने कहा कि जो पुण्यात्मा महापुरुष चित्रलेखा का पति होगा, वही कलाविद् आपकी कन्याओं का भी वर होगा । यह ज्ञात कर हमारे स्वामी ने मुझे आपको लाने की आज्ञा देकर भेजा है । अतः अब आप अविलम्ब मेरे साथ पधारिये और उन कन्याओं के स्वामी बनिये ॥२०, २१॥

दूत वाक्यं समाकर्ण्य श्रीपालोऽपि प्रसन्नधीः ।
गत्वा तत्र महाभूत्या पतिस्तासां बभूव सः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(दूतवाक्यम्) दूत के वचन (समाकर्ण्य) सुनकर (प्रसन्नधीः) प्रमुदित-
मति (श्रीपालः) श्रीपाल (अपि) भी (महाविभूत्या) महानवैभव के साथ (तत्र) वहाँ
(गत्वा) जाकर (सः) वह (तासाम्) उन कन्याओं का (पतिः) भर्ता (वभूव) हो गया ।

भावार्थ—समाचार लाने वाले उस दूत के वचन सुनकर श्रीपाल को अत्यन्त हर्ष
हुआ । बहुत वैभव के साथ प्रस्थान किया । वहाँ पहुँच कर उन कन्याओं का वरण कर लिया ।
सबका पति हुआ ॥२२॥

काञ्चनाख्यपुरे तत्र प्राप्त कन्यादि सम्पदा ।

कानिचिच्च दिनान्युच्चैः स्थित्वा परिवृढस्सुखम् ॥२३॥

ततश्चान्तःपुरे नाम श्रीपालो महिमास्पदम् ।

चक्रे प्रयाणकं चाग्रे गन्तुकामस्तदा मुदा ॥२४॥

यावत्तावच्चरः कोऽपि तं प्रणम्य जगाद च

श्रूयतां भो प्रभो सत्यं मदीयं वचनं शुभम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (काञ्चनाख्यपुरे) काञ्चन नामक पुर में (कन्यादि)
पुत्रियाँ आदि (सम्पदा) सम्पत्ति (प्राप्तः) प्राप्त करने वाला (कानिचित्) कुछ (च) और
(दिनानि) दिन (उच्चैः) विशेष (सुखम्) सुख (परिवृढः) वृद्धिगत करता हुआ (स्थित्वा)
रह कर (ततः) पुनः (महिमास्पदम्) महिमा का स्थानभूत (अन्तःपुरे) अन्तः पुर में
(श्रीपाल नाम) श्रीपाल राजा (अग्रे) आगे (गन्तुकामः) जाने के लिए इच्छावान (च)
और (मुदा) प्रसन्न (प्रयाणकंचक्रे) प्रयाण को उद्यत हुआ (तदा) तभी (यावत्) जैसे ही
(तावत्) उसी समय (कोऽपि) कोई भी (चरः) दूत (तम्) उसे (प्रणम्य) नमस्कार कर
(जगाद) बोला (भो) हे (प्रभो) स्वामिन् (मदीयम्) मेरे (सत्यम्) यथार्थ (च) और
(शुभम्) कल्याणकारी (वचनम्) वचन (श्रूयताम्) सुनिये—

कङ्कणाख्ये महाद्वीपे रत्नराशि समुज्ज्वले ।

तद्देशाधिपतिः ख्यातः सुधीर्विजय सेवनात् ॥२६॥

भूपतेस्तस्य संजाताः पूर्वपुण्येन निर्मलाः

यशोमालामहादेवी प्रमुखाश्चारु बल्लभाः ॥२७॥

सर्वाश्चतुरशीतिस्तास्तद्रूपादि गुणान्विताः ।

लावण्यरस सम्पूर्णा सिन्धोर्वेला यथाखिलाः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(रत्नराशिसमुज्ज्वले) रत्नों के ढेर से चमत्कृत (कङ्कणाख्ये) कङ्कण
नाम के (महाद्वीपे) विशालरत्नद्वीप में (विजय सेवनात्) विजयी होने वाला (ख्यातः)
प्रसिद्ध (सुधीः) मतिमान् (तद्देशाधिपतिः) उस देश का अधिपति राजा है (तस्य) उस

(भूपतेः) राजा के (पूर्वे पुण्येन) पूर्वोपाजित पुण्यकर्म से (निर्मलाः) अत्यन्तशुद्धशीला (यशोमालामहादेवी प्रमुखाः) यशोमाला है प्रधान जिनमें ऐसी (सर्वा) सभी (सद्रूपादि) उत्तम सौन्दर्य (गुणान्विताः) नाना विज्ञान कला मण्डिता (च) और (लावण्यरस) लावण्य रूपी रस से (सम्पूर्णाः) भरी हुयीं (अखिलाः) सभी (यथा) जैसे (सिन्धोर्वलाः) सागर की लहरें हों ऐसी (चतुरशीतिः) चौरासी (ताः) वे (वल्लभाः) प्रियाएँ (संजाताः) हुयीं । अर्थात् हैं ।

भावार्थ—अब कोटीभट श्रीपाल अनेकों रानियों के साथ नानासम्पदाओं को पाकर सुख पूर्वक वहीं काञ्चनपुर में रहने लगा । उसका अन्तपुर महामहिमा और सुख की वृद्धि का स्थान हो गया । इस प्रकार नानाभोगों में रमण करते हुए उसके कुछ दिवस निकल गये । मनस्वी और पुरुषार्थी मानव कितने ही भोगोपभोग के साधन क्यों न प्राप्त कर ले किन्तु वह कर्तव्य विभूत नहीं होता । नीतिकारों ने कहा है कि ---

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहसत्पुरुषः हयः-

तथैव मरणं यान्ति, काकः कापुरुषः गजः ॥

अर्थात्—सिंह, उत्तमपुरुष और अश्व अपने कार्य की सिद्धि के लिए अथवा विपत्तियों के परिहारार्थ जन्मस्थान को त्याग कर अन्यत्र यथोचित स्थान में चले जाते हैं । हर प्रकार से अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं । जीविकोपार्जन के साधन जुटा लेते हैं, परन्तु काक कायर पुरुष और हाथी दुःखी भी होकर कहीं नहीं जाते अपितु आलसी टट्ट वही पड़े-पड़े मर जाते हैं । अतः अन्तःपुर स्वर्ग समान रहते हुए भी श्रीपाल अन्यत्र गमन को तत्पर हुआ । वह जिस समय प्रयाण करने की बात सोच ही रहा था कि उसी समय एक दूत आया । नमस्कार वित्तपूर्वक हर्षित हुआ बोला हे प्रभो ! भो स्वामिन् मेरे वचन सुनिये । एक कङ्कण नामक महान रत्नद्वीप है । इसमें चारों ओर रत्नों की राशियाँ लगी रहती हैं । इन नक्षरत्न राशियों से सभस्त महाद्वीप जग-मगाता रहता है । वहाँ का अधिपति राजा मेरा स्वामी विजय का प्रेमी मतिमान और गुणवान विजयसेन प्रसिद्ध है । उस राजा के उसके पूर्वसंचित पुण्य का मूर्तिमान रूप समान चौरासी (८४) देवियाँ रानियाँ हैं । इनमें मुख्य पट्ट देवी यशोमाला है जो पातिव्रत धर्म से यश की पताका ही है । ये सभी अनिद्य सुन्दरी, रूय, लावण्य, शील गुणादि से भरी सागर की लहरों समान मन मोहनी-हास विलास सम्पन्न हैं । जग मोहक इनका सौन्दर्य अद्वितीय है । राजा की प्राणप्रिया सतत पति की अनुगामिनी सुख की खान हैं ॥२३ से २८॥

हिरण्यगर्भा नामादि पुत्रास्तस्य महीपतेः ।

बभूवुर्बह्वशूराः कुलस्य तिलकोपमाः ॥२९॥

शतानि षौडशप्रोक्ताः सुतास्तार गुणोज्ज्वलाः

रूप सौभाग्यसद्गन्धर्वान्यो वा हितङ्कुराः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस (महीपतेः) राजा के (हिरण्यगर्भनामादि) हिरण्यगर्भ

आदि नाम वाले (कुलस्य) कुल के (तिलकोपमाः) तिलक की उपमाधारी (शूराः) शूरवीर (बहवः) बहुत से (पुत्राः) पुत्र (जम्बूवृः) हुए हैं (वा) तथा (रूपसौभाग्यसद्वत्नखानधोः) रूप, सौभाग्य आदि रत्नों की खानभूत (सारगुणोज्ज्वलाः) गुणों से मण्डित—उत्तम गुणों से शोभित (षोडश) सोलह-१६ (शतानि) सौ (सुताः) पुत्रियाँ (प्रोक्ताः) कही हैं ।

भावार्थ—उस राजा के हिरण्यभू को आदि लेकर अनेक शूरवीर गुणज्ञ पुत्र हैं । मानों वे कुल के तिलक स्वरूप हैं । सभी कुल दीपक हैं । इसी प्रकार सौन्दर्य की खान, गुणों की भण्डार और उभयकुल विकासिका १६०० सोलह सौ हितकारी कन्याएँ हैं । सभी पुत्रियाँ गुण यौवन सम्पन्न हैं ॥२९-३०॥

आद्या सौभाग्य गौरी, सा पुत्री शृंगार गौर्यपि ।

पुत्री पौलोमी तृतीया, रण्णादेवी तथा परा ॥३१॥

सोमाख्या पञ्चमी पुत्री, लक्ष्मी षष्ठी च पद्मिनी ।

सप्तमी चाष्टमी चन्द्ररेखा, चाटौ विचक्षणाः ॥३२॥

सर्वं विज्ञान सम्पत्तास्सर्वशास्त्र परायणाः ।

सत्कलापद्मिनि श्रेणिप्रकाशे वा रवि प्रभाः ॥३३॥

तन्मुख्यास्ता जगुश्चैवं योऽस्माकं पूरयिष्यति ।

समस्याः कोऽपि सच्छूरः होऽस्माकं पतिरेव च ॥३४॥

सर्वासंसार कन्यानां नान्यः कोऽपि प्रियो ध्रुवम् ।

इत्याकर्ण्यवचस्तस्याः श्रीपालः प्रभुसत्तमः ॥३५॥

गत्वा तत्र समालोक्य ताः कन्यकास्संजगौ प्रभुः ।

स्वाभिप्रायमहो कन्या ब्रूहि धन्या यथेप्सितम् ॥३६॥

समस्या पूरयिष्यामि युष्माकं शर्मदायकाः ।

तन्निशम्य क्रमेणौचैः प्रोचुस्ताः स्वमनोगतम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—आगे भृत्य कहता है उन कन्याओं में (आद्या) प्रथम (सा) वह (पुत्री) पुत्री (सौभाग्यगौरी) सौभाग्यगौरी, (शृङ्गारगौरी) शृङ्गारगौरी (तृतीया) तीसरी (पुत्री) कन्या (अपि) भी (पौलोमी) पौलोमी (तथा) तथा (परा) चतुर्थी (रण्णादेवी) रण्णादेवी (पञ्चमी) पाँचमी (पुत्री) कन्या (सोमाख्या) सोमानामकी (च) और (षष्ठी) छठवीं (लक्ष्मी) लक्ष्मी (सप्तमी) सातवीं (पद्मिनी) पद्मिनी (च) और (अष्टमी) आठवीं (चन्द्ररेखा) चन्द्ररेखा (च) और (आटौ) आठों ही (विचक्षणाः) विचक्षणा-चतुरा (वा) मानों (सत्कला पद्मिनि-श्रेणी) उत्तमकला रूपी कमलिनियों की पंक्ति को (प्रकाशे) विकसित करने में (रविप्रभाः)

सूर्य की किरणें हैं (ता) जो (तन्मुख्या) उनमें प्रमुख (एवं) इस प्रकार बोली कि (यो) जो (कः) कोई (अपि) भी (सत्) उत्तम (शूरः) शूरवीर (अस्माकम्) हमारी (समस्या) समस्याओं को (पुरयिष्यति) पूरी करेगा (सः) वह (एव) ही (अस्माकम्) हमारा (पतिः) भर्ता हो, (च) और (सर्वसाम्) उन सभी क्या (सारकन्यानाम्) उन उत्तम कन्याओं का (ध्रुवम्) निश्चय ही (अन्यः) दूसरा (कोऽपि) कोई भी (प्रियः) प्रिय (न) नहीं है। (प्रभुः) प्रतिमाधारी (सत्तमः) महान् (श्रीपालः) श्रीपाल (तस्याः) उन कन्याओं के सम्बन्धी (इति) इस प्रकार के (वचः) वचन (आकर्ण्यः) सुनकर (तत्र) वहाँ (गत्वा) जाकर (ताः) उन (कन्यकाः) कन्याओं को (समालोक्य) सम्यक् अवलोकन कर (प्रभुः) श्रीपाल (संजगी) बोला (अहो) भो (धन्या) धन्य-धन्यरूपा (कन्या) कन्याओं (यथा) जैसा (इप्सितम्) इष्ट आपका (स्वाभिप्रायम्) अपना अभिप्राय (ब्रूहि) कहो (युष्माकम्) आपको (शर्मदायकाः) शान्ति देने वाली (समस्या) समस्याओं को (पुरयिष्यामि) पूर्ण-करूँगा (तत्) उसे (निश्म्य) सुनकर (ताः) उन्होंने (क्रमेण) क्रमशः (उच्चैः) पुर्णतः (स्वमनोगतम्) अपने-अपने मनोगत विचार (प्रोवुः) कहने प्रारम्भ किये।

भावार्थ—श्रीपाल चर—भूय श्रीपाल महाराजके देव के समस्त उन कन्याओं का परिचय देता है। १६०० कन्याओं का नाम लिखना और समस्याओं का निरूपण करना एक पृथक् ही शास्त्र तैयार करना है। अतः यहाँ मात्र प्रमुख आठ कन्याओं का ही विशेष वर्णन किया है। उन आठों में भी प्रथम का नाम सौभाग्यगौरी, दूसरी शृङ्गारगौरी, ३ पीलोमी, ४ रण्णादेवी, ५ सोमा, ६ लक्ष्मी, ७ पद्मिनी और ८ चन्द्रेखा नाम की पुत्रियाँ हैं। ये सभी एक दूसरी से होड लगाये ज्ञान, विज्ञान, कला शास्त्रों की ज्ञाता हैं, विलक्षणमति सम्पन्ना हैं, उनके प्रभाव से प्रतीत होता है मानों कलारूपी पद्मिनियों की पंक्तिमाला को विकसित करने वाली रवि की किरणें ही धरा पर आई हैं। वह दूत कहता है हे प्रभो ! इनमें सर्व ज्येष्ठ कन्या ने कहा है कि जो बुद्धिशाली, गुणवान् महाशूरवीर सत्यपुरुष हमारी समस्याओं को पूर्ण करेगा वही हमारा भर्ता होगा अर्थात् पति बनेगा। हम सभी कन्याओं का निश्चय से यही प्रण है अन्य से हमें कोई प्रयोजन नहीं। उन सारभूत गुणों की खान कन्याओं के विषय में इस प्रकार की विजृप्ति सुनकर श्रीपाल महाराज कङ्कणपुर में उपस्थित हुए। उन रूप लावण्यमयी गुणज्ञ-कन्याओं को अवलोकन कर प्रमोद से बोला, भो धन्यभागिनियो ! आप लोग अपने-अपने मनोभावों को व्यक्त करिये मैं शान्तिदायक, सुख प्रदायक समस्या पूरती करूँगा। आपका युक्ति-युक्त समाधान करूँगा। इस प्रकार श्रीपाल महाराज के वचन सुनकर वे क्रमशः अपने-अपने मनोगत विचारों को प्रकट करने लगीं ॥३१ से ३७॥

ग्राह सौभाग्यगौरीति “सिद्धि साहसतो भवेत्” ।

शेषत्रय पदान्येषाः स्वधियाशुजगौ बुधः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(सौभाग्यगौरी) सौभाग्यगौरी (इति) इस प्रकार (ग्राह) बोली, (“सिद्धिसाहसतो भवेत्”) “सिद्धि साहस से हो” (ऐषाः) इसके (शेष) बाकी (त्रय) तीन

श्रीपाल चरित्र षष्ठम परिच्छेद]

(पदानि) पदों को (स्वधिया) अपनी बुद्धि से (बुधः) भो बुद्धिमन् (आशु) शीघ्र (जगौ) कहिए ।

भावार्थ—प्रथम कन्या सौभाग्यगौरी, इस प्रकार बोली हे भद्र ! बुद्धिमन् मैं समस्या रखती हूँ आप अपनी बुद्धि से शीघ्र पूर्ति करिये । प्रथम चरण है “सिद्धि साहस तो भवेत् ।” इसके तीन चरण आप बनाइये ॥३८॥ इस प्रकार प्रकार मुन श्रीपाल जी निम्न प्रकार श्लोक के तीन चरण जोड़कर श्लोक पूरा करते हैं—

आत्मनो जायते सत्यं, पुण्यात्संजायते धनम् ।

दैवात्संजायते बुद्धिस्सिद्धि साहसतो भवेत् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) सत्य (आत्मनः) आत्मा से (जायते) प्रकट होता है, (धनम्) धन (पुण्यात्) पुण्य से (संजायते) प्राप्त होता है (बुद्धिः) मति (दैवात्) भाग्य से होती है (सिद्धिः) कार्य सिद्धि (साहसतः) धैर्य से (भवेत्) होती है ।

भावार्थ—सत्य धर्म, आत्मा का स्वभाव है । स्वभाव स्वभाववान से भिन्न नहीं होता । अतः सत्यधर्म का प्रादुर्भाव आत्मा से ही होता है । पूर्वोपाजित अथवा तद्भव उपाजित पुण्य के होने पर लक्ष्मी की प्राप्ति होती है । सद्बुद्धि-सम्यक् मति दैवाधीन-भाग्य के आधीन मिलती है । तथा कार्यसिद्धि पराक्रम-साहस से होती है । कायर के मनोरथ तो बिजली की चमक समान आये-गये हो जाते हैं ॥३८, ३९॥

“सिद्धिस्साहसतस्सतामिति च पाठः”

उपर्युक्त समस्या में यह भी पाठ है । अर्थ एक ही है ॥३९॥ दूसरे प्रकार की पंक्ति की पूर्ति निम्न प्रकार है—

स्वात्माधीनोऽत्र सत्यः स्याद्बुद्धिर्देवानुसारिणी ।

अत्र मा कुरु भो भ्रान्तिं, सिद्धिस्साहसतस्सताम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ संसार में (सत्यः) सत्य (स्वात्माधीनः) आत्मा के आश्रित (बुद्धिः) मति (देवानुसारिणी) देव-भाग्यानुसार होती है (अत्र) इसमें (भ्रान्तिं) विभ्रम (मा) नहीं (कुरु) करो (भो) हे जन हो (सताम्) सज्जनों को (सिद्धिः) सिद्धि (साहसतः) साहस से (स्यात्) होती है ।

भावार्थ—इस लोक में संसारी जीव को सत्य की उत्पत्ति आत्मा से, बुद्धि भाग्य से होती है इसमें कोई संदेह नहीं है तथा सिद्धि साहस से होती है ॥४०॥

प्राह शृङ्गारगौरीति पश्यतां सकलंगतम् ।

श्रीपालवृत्तरं तस्येत्थुवाच स्वमनीषया ॥४१॥

न दत्तं न स्वयं भुक्तं संचितं कृपणीर्धनम् ।

द्यूतचौराग्निभूपाद्यैः पश्यतां सकलं गतम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(शृङ्गारगौरी) शृङ्गारगौरी (इति) इस प्रकार (प्राह) बोली (“पश्यतांसकलंगतम्”) देखते-देखते सब चला गया” (श्रीपालः) श्रीपाल ने (तस्य) उस प्रश्न का (उत्तरम्) उत्तर (स्वमनीषया) अपनी बुद्धि से (इति) इस प्रकार (उवाच) दिया बोला (कृपणैः) कंजूष का (धनम्) धन (न दत्तम्) न तो दिया (न) न (स्वयम्) स्वयं (भुक्तम्) भोगा अतः (द्यूतचौराग्निभूपाद्यैः) जुआ, चोरी, अग्नि राजादि द्वारा (पश्यताम्) देखते-देखते (सकलंगतम्) सारा ही चला गया ।

भावार्थ—द्वितीय शृङ्गारगौरी कन्या ने श्रीपाल के समक्ष यह समस्या रखी कि “देखते देखते सब चला गया” (पश्यतांसकलंगतम्) । उसके उत्तर में श्रीपाल ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से उत्तर दिया कि कंजूष व्यक्ति न तो दान देता है और न स्वयं ही भोगता है अतः पुण्य क्षीण होते ही उसके धन को देखते-देखते राजा ले लेता है, अग्नि में जल जाता है, चोर ले जाते हैं अथवा जुआ में हार जाता है । कब कैसे कहाँ जाता है पता ही नहीं चल पाता है ॥४१, ४२॥

पौलोमीत्यवदद्वाक्यं तेषामिष्टं हि दुःश्रुतम् ।

तस्या उत्तरमाप्तोक्तया ददौहितं विचक्षणः ॥४३॥

अर्हन्मुखेन्दु सञ्जातं जन्ममृत्यु जरापहम् ।

ज्ञानामृतं न यैः पीतं तेषामिष्टं हि दुःश्रुतम् ॥४४॥

(स नरः पापपण्डित इति च पाठः)

अन्वयार्थ—तीसरी (पौलोमी) पौलोमी (इति) इस प्रकार (वाक्यम्) वचन (अवदत्) बोली (“तेषामिष्टं हि दुःश्रुतम्” उनके लिए निश्चय ही इष्ट सिद्धि असंभवश्रुत है, (विचक्षणः) चतुर श्रीपाल ने (आप्तोक्त्या) सर्वज्ञ प्रणीत उक्ति द्वारा (हितम्) हितकारी (उत्तरम्) उत्तर (ददौ) दिया, (जन्ममृत्युजरापहम्) जन्म, मरण, और बुढ़ापे का नाश करने वाला (अर्हन्मुखेन्दुसंजातम्) अर्हन्तभगवान् के मुख रूपी कमल से उत्पन्न (ज्ञानामृतम्) ज्ञान रूपी अमृत (यैः) जो (न) नहीं (पीतम्) पिया गया (तेषाम्) उनके (इष्टम्) इष्ट कार्य (हि) निश्चय से (दुःश्रुतम्) कठिन श्रुत हैं ।

दूसरे प्रकार से पाठान्तर का उत्तर—

दया धर्ममजानानो निर्ग्रन्थानाम् सेवकः

योऽश्रुतोऽर्हत्प्रणीतार्थं स नरः पापपण्डितः ॥४५॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (दयाधर्ममजानानः) दयाधर्म को नहीं जानता, (निर्ग्रन्था-



राजकन्याएँ श्रीपाल से अपने पशनों के उभर मुनते हुए ।

नाम्) दिगम्बर साधुओं की (असेवकः) सेवा नहीं करता (अहंप्रणीतार्थम्) सर्वज्ञ प्रणीत अर्थ को (अश्रुतः) नहीं सुनता (सः) वह (नरः) मनुष्य (पापपण्डितः) पाप पण्डित है ।

भावार्थ—तीसरी कम्था गौलोमी ने श्रीपाल के समक्ष अपनी समस्या उपस्थित की कि “उनकी इष्ट सिद्धि निष्पन्न ही दुःश्रुत है” उसका उत्तर महाराज कोटीभट श्रीपाल ने सर्वज्ञ प्रणीत युक्ति द्वारा यथार्थ उत्तर दिया । विलक्षण मति वाले को दुर्लभ भी कार्य सुलभ हो जाते हैं । अतः श्रीपाल तत्क्षण बोले, सुनो विचक्षणे ! जिसने अपने जीवन में जन्म, मरण और बुढ़ापे को नाश करने वाले जानामृत रूप वचनों को नहीं पिया । उसके इष्टसिद्ध होना अश्रुत ही है । अर्थात् इष्टसिद्धि हुई यह कुछ ही नहीं गया ॥ ४५ ॥ इति का पाठान्तर उत्तर निम्न प्रकार है—

जो व्यक्ति दयारूपी धर्म को नहीं जानता, दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओं की, कभी सेवा भी नहीं की, तथा अर्हत प्रभु की दिव्यवाणी को भी जिसने कभी नहीं श्रवण किया वह मनुष्य पापियों में शिरोमणि है । पाप पण्डित है । मिथ्यात्व सर्वोपरि पाप है । सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की शरण से बहिर्भूत रहने वाला मिथ्यादर्शित-पाप रूप ही है ॥ ४५ ॥

रणादेवी ततोऽवादीत् “नृसिंहास्ते नरोत्तमाः ।”

स्व बुद्धयेति महादक्षस्तस्याः प्रत्युत्तरं जगौ ॥ ४६ ॥

शील हीना नरा येऽत्र पशवस्ते नरा न च

व्रताद्यैः निर्मलाः येऽहो नृसिंहास्ते नरोत्तमाः ॥ ४७ ॥

(“स भवेन्नर केसरीति च पाठः”)

सम्यक्त्वज्ञान चारित्र तपश्शीलादि निर्मलः ।

नारो वा यदि वा नारी स भवेन्नर केसरी ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) अनन्तर (रणादेवी) रणादेवी (अवादीत्) बोली “(नृसिंहास्ते-नरोत्तमाः)” वे मनुष्य नरों में उत्तम हैं (इति) इस समस्या का (महादक्षः) हे महा चतुर (स्वबुद्ध्या) अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से पुति करो (तस्याः) उसका (प्रत्युत्तरम्) उत्तर (जगौ) उसने दिया । (यत्र) यहाँ (ये) जो (नराः) मनुष्य (शीलहीनाः) शील नार विहीन हैं (ते) वे (नरा) मनुष्य (पशवः) पशु हैं (च) और (नराः) मनुष्य (न) नहीं हैं (च) और (ये) जो मानव (व्रताद्यैः) व्रतादि द्वारा (निर्मलाः) पवित्र हैं (“ते नृसिंहानरोत्तमाः”) वे मानवों में सिंह समान उत्तम जानों । अथवा (स) वह (नरकेसरी भवत्) मनुष्य में सिंह होता है । यह पाठान्तर है अर्थात् यह पाठ भी है । इसका उत्तर (यदि) अगर (नरः) मनुष्य पुरुष (वा) अथवा (नारी) नारी-स्त्री (सम्यक्त्व) सम्यग्दर्शन (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (चारित्र) सम्यक् चारित्र (तपश्शीलादिः) तप शील आदि से (निर्मलः) पावन है (सः) वह (नर-केशरी, मनुष्य पर्याय में सिंह (भवेत्) होता है ।

भावार्थ—इसके बाद रण्णादेवी बोली, "वे मानवसिंह उत्तम हैं" इस पहली को हे महापुरुष पूर्ण करिये । अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दीजिये । उसके प्रत्युत्तर में महामति वह श्रीपाल कहने लगा, जो मनुष्य शील-सदाचार विहीन हैं वे पशु हैं मनुष्य नहीं तथा जो व्रत-शीलाचारादि मण्डित हैं गुणों से उज्ज्वल हैं, हे पवित्र वे मनुष्यों में सर्वोत्तम नरसिंह हैं ! अथवा वह मनुष्य मानवों में केशरी होता है ॥४६-४७॥

द्वितीय पाठ के उत्तर में श्रीपाल जी कहते हैं कि पुरुष हो या स्त्री जो रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र से युक्त है, तपशीलादि द्वारा जो पवित्र है उज्ज्वल है, वही पुरुषकेशरी (नरसिंह) कहा जाता है ॥४८॥

सोमोवाच पदंहीवं सद्धर्मं क्रियते मया

श्रीपालो निजबुद्धयेदं, सुक्तं पादत्रयं व्यधात् ॥४९॥

लक्षणैर्दशभियुक्तो दयामूलस्तपो युतः ।

मुक्तिदः केवली प्रोक्तस्सद्धर्मं क्रियतेमया ॥५०॥

पुनश्चः—अहिंसा लक्षणोपेतो विश्वश्री शिवशर्मदः ।

जिनोदितस्सतां सेव्यस्सधर्मः क्रियतेमया ॥५१॥

पादैकं सम्पदाख्याल्यत्सान दृष्टोमया महान् ।

शेषपादत्रयं दक्ष उवाचेदं स्वबुद्धितः ॥५२॥

यो धत्ते ध्यानमात्मज्ञः स्वस्य द्वीपाब्धि संस्थितौ ।

स्वनिन्दां नान्यनिन्दाश्च स न दृष्टोमया महान् ॥५३॥

(दृष्टो न मया शक इति च पाठ,)

परानिन्दो गुणग्राही करुणा रसिकोऽपि यः ।

अमरपि जगद्विश्वं दृष्टो न मया शकः ॥५४॥

अन्वयार्थ - (सोमा) सोमा (उवाच) बोली (हि) निश्चय ही (इदम्) यह (पदम्) पद ("सद्धर्मक्रियते मया") सद्धर्म मेरे द्वारा किया गया, (श्रीपालः) श्रीपाल (निजबुद्धया) अपनी बुद्धि से (युक्तम्) योग्य (इदम्) यह (पादत्रयं) तीनपाद (व्यधात्) रखता है—बनाता है कि जो (दशभिः) दश (लक्षणैः) लक्षण से (युक्तः) सहित (दयामूलः) दया रूपी मूल-वाला (तपः युतः) तप सहित (मुक्तिदः) मुक्ति देने वाला (केवलीप्रोक्तः) सर्वज्ञ कथित (सः) वह (सद्धर्मः) श्रेष्ठधर्म (मया) मेरे द्वारा (क्रियते) किया गया । पुनश्च-फिर भी (अहिंसा-लक्षण उपेतः) अहिंसा लक्षण सहित (विश्वश्री) सांसारिक वैभव (शिवशर्मदः) और मोक्ष सुख देनेवाला (जिनोदितः) जितभगवान् प्रणीत (सताम्) सज्जनों से सेवनीय (सः) वह (धर्मः) धर्म (मया) मेरे द्वारा (क्रियते) किया गया ॥५१॥

अन्वयार्थ—तदनन्तर (पद्मिनी) पद्मिनी नाम वाली राजकुमारी (स्वचित्तस्थम्) अपने मन में स्थित विचार (आह) बोली (कि) क्या (सः) वह (भूतले) पृथ्वीमण्डलपर (जीवति) जीता है ? (तदा) तब (आकर्ष्य) इसे सुनकर (सः) उस श्रीपाल (सुधीः) बुद्धि-वन्त ने (तस्य) उस चरण का (इदम्) इस प्रकार (उत्तरम्) उत्तर (ददौ) दिया ॥५५॥

दानं चर्चा तपश्शीलं श्रुतधर्मजपादिकम् ।

यो क्षमः न हितं कर्तुं किं स जीवति भूतले ॥५६॥

(तस्य भो जीवितेन किमिति च पाठः)

अन्वयार्थ—(यः) जो व्यक्ति (दानम्) दान (अर्चाम्) पूजा (तपः) तप (शीलम्) शील (श्रुतधर्म जपादिकम्) आगम का पठन, धर्म सेवन, जपध्यादि (हितम्) हित (कर्तुम्) करने को (क्षमः) समर्थ (न) नहीं (सः) वह (किं) क्या (भूतले) संसार में (जीवति) जीता है ? ॥५६॥

पाठान्तर का उत्तर देता है—

दानपूजा तपश्शीलधर्मेषु य इह क्वचित् ।

नानुरागी तथा भोगी, तस्य भो जीवितेन किम् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(इह) संसार में (य) जो (दानपूजातपश्शील धर्मेषु) दान, पूजा, तप, शीलादि धर्मकार्यों में (क्वचित्) कभी भी (अनुरागी) प्रेमी (न) नहीं होता (तथा) अपितु (भोगी) भाग ही भोगता है (भो) हे भव्यो ! (तस्य) उसके (जीवितेन) जीवन से (किम्) क्या ? ॥५७॥

भावार्थ—लक्ष्मी देवी के प्रश्नोत्तर हो जाने पर पद्मिनी देवी ने अपने मनोगत भाव व्यक्त किये । उसने एक चरण समस्या के रूप में उपस्थित किया कि "किं स जीवति भूतले" क्या वह पृथ्वी पर जीवन्त है ? इसके शेष तीन चरण आप अपनी बुद्धिकौशल से बनाइये ? यह सुनकर विचक्षण श्रीपाल ने तत्काल तीन चरणों को बनाकर नं० ५६ के श्लोक में युक्तियुक्त उत्तर दिया—

जो व्यक्ति चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान, श्री जिनेन्द्रप्रभु की अभिषेकपूर्वक अष्टप्रकारी पूजा, यथाशक्ति तप शील धारण पालन आगम का अध्ययन, धार्मिक क्रिया, जप आदि हितकर कार्यों के करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् इन उपर्युक्त कार्यों के करने में प्रवृत्त नहीं होता वह व्यक्ति-नर हो या नारी क्या भूमितल पर जीवन्त है ? अर्थात् मृतक समान है । उसका जीना निष्फल व्यर्थ है ॥५६॥ इसी समस्या के दूसरे पाठ का उत्तर भी श्लोक नं० ५७ में निम्न प्रकार है—

जो व्यक्ति संसार में कभी भी दान नहीं देता, जिनपूजा नहीं करता, त्याग-संयम-तप धारण नहीं करता, शीलाचार पालन नहीं करता अन्य भी धर्मकार्यों का सम्पादन नहीं करता

उनमें प्रीति-अनुराग नहीं रखता अपितु सतत भोगों में रत रहता है, हे भव्यजन हो उसके जीवित रहने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् वह मात्र पृथ्वी का भार है, जीवन-मरण उसका एक समान ही है । अभिप्राय यह है कि दान पूजा करना तथा शील पालन, तप धारणादि ही मनुष्य जीवन के कर्त्तव्य हैं जो कर्त्तव्यनिष्ठ हैं उन्हीं का जीवन सफल है ॥५७॥

चन्द्रलेखा वचोऽवादीत् किं करोति तयात्र सः ।

श्रीपालो बुद्धिमान् प्राह तस्येदमुत्तरं स्फुटम् ॥५८॥

अतिक्रान्तवयो वृद्धो बालां परिणयेत् यः ।

पार्श्वे तिष्ठतु तस्यैषा “किं करोति तयात्र सः” ॥५९॥

पाठान्तर भी है—“तद्वाञ्छा निष्फलैव हीति च पाठः ॥”

इसका उत्तर—

वृद्धा रोगी सदा दुःखी तथा चूतक्रियारतः ।

विवाहयति यः कन्यां तद्वाञ्छा निष्फलैव हि ॥६०॥

अन्वयार्थ—अन्तिम समस्या उपस्थित करते हुए चन्द्रलेखा बोली, “उस स्त्री के साथ वह यहाँ क्या करता है ?” (किं करोति तयात्र सः ?) यह एक चरण है, तीन चरण बाकी के श्रीपाल जी अपनी बुद्धि से संयोजित करते हैं, जिसके फल स्वरूप ५८ वां श्लोक है । इसकी रचना कर श्रीपाल जी ने अपनी हाजिर जवाबी बुद्धिकला का परिचय दिया । वह उत्तर में कहता है, जिसकी विवाह करने की वय-आयु बीत चुकी है, अर्थात् वृद्धावस्था आगई है वह पुरुष बाला छोटी कन्या के साथ यदि विवाह करे तो, बगल में बैठी हुयी भी उस कन्या से वह पुरुष क्या प्रयोजन सिद्ध करता है ? अर्थात् भोग्य योग्य न होने से उसके परिणयन से कुछ भी साध्य नहीं हो सकता । अभिप्राय यह है समान वय गुण शील वाली कन्या को परण कर ही मनुष्य रति सुख का अनुभव करने में समर्थ होता है अन्यथा नहीं । बेमेल विवाह दुःख का कारण है ॥५८॥ पाठान्तर का उत्तर निम्न प्रकार है—

वृद्ध, रोगी, चूतक्रीडा में तल्लीन रहने वाला, सतत दुःखी जीवन बिताने वाला जो व्यक्ति कन्या के साथ विवाह करता है, उसकी इच्छा-आकांक्षा व्यर्थ ही है । अर्थात् वृद्ध भोग करना चाहता है किन्तु इन्द्रियशक्ति क्षीण होने से स्त्री संभोगादि हास-विलास कर नहीं सकता । ३ ढ़ंमृतक समान उसकी दशा से वह कन्या भी प्रसन्न नहीं हो सकती, उसे भी प्रसन्न करने को वह करे भी क्या ? इसी प्रकार रोगी पुरुष भी स्पर्शनेन्द्रिय जन्य भोग की वाञ्छा करता हुआ भी भोग का आनन्द ले नहीं सकता । जुआरी तो व्यसनासक्त हो उसे ही दाव पर लगा देता है वह रतिसुखानुभव क्या करेगा ? अहर्निश जो दारिद्र्य से पीडित है तथा अन्य रोगादि से व्याकुल रहता है उसकी वाञ्छा भी निष्फल ही जाती है । क्योंकि कन्या के साथ विवाह करने पर भी वह दाम्पत्यजन्य सुख नहीं पा सकता अतः उसके अरमान उसी में उठ-उठ कर विलीन होते रहते हैं । पानी के बबूने समान इच्छाएँ उठकर विलीन होती रहती हैं ॥६०॥

एवं पुण्याधिक श्रीमान् श्रीपालः स्वगुणोज्ज्वलः ।
 पूरयित्वा समस्यास्तास्सर्वं विद्याविशारदः ॥६१॥
 तासां मनोऽम्बुजान्युच्चैर्भास्करो वा जगद्धितः ।
 सुधीर्विकासयामास स्व वाक्यकिरणौत्करैः ॥६२॥

अन्वयार्थ (एवं) इस प्रकार (सर्वविद्याविशारदः) सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत (स्वगुणोज्ज्वलः) अपने उत्तम गुणों से निर्मल, (पुण्याधिक श्रीमान्) तीव्र पुण्योदय से अपार लक्ष्मी का अधिपति उस (श्रीपालः) श्रीपाल ने (ताः) उन (समस्या) समास्याओं-पहेलियों को (पूरयित्वा) पूर्ण करके, (वा) जिस प्रकार (भास्करो) सूर्य (अम्बुजानि) कमलों को (विकासयति) विकसित करता है। उसी प्रकार (जगद्धितः) संसार का हित करने वाले (सुधीः) सम्यग्बुद्धि श्रीपाल ने (स्व) अपनी (वाक्यकिरणौत्करैः) वचनरूपी किरणों के समूह द्वारा (तासाम्) उन कन्याओं के (मनोऽम्बुजानि) मन रूपी कमलों को (उच्चैः) पूर्ण रूप में (विकासयामास) विकसित किया—प्रफुल्ल कर दिया ।

समस्या पूरणात्तत्र संतुष्टस्स महोपतिः ।
 ख्यातो विजयसेनाख्यस्तस्मै सत्पुण्यशालिने ॥६३॥

अन्वयार्थ (तत्र) वहाँ (समस्या) समस्या (पूर्णात्) पूरी करने से (ख्यातः) प्रसिद्ध (विजयसेनाख्यः) विजयसेन (महोपतिः) भूपति (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट हुआ (सः) उसने (सत्) श्रेष्ठ (पुण्यशालिने) पुण्यशाली (तस्मै) उस श्रीपाल के लिए ।

कन्या शतान्वितास्सर्वा षोडशप्रविराजिताः ।
 वस्त्राभरणसन्दोहैर्यथा कल्पतरो लताः ॥६४॥
 विवाह विधिनाप्रोच्चैर्महोत्सव शतैरपि ।
 श्रीपालाय ददौ हेमनानारत्नादिकं पुनः ॥६५॥

गजाश्वरथपादाति छत्र चामर स ध्वजान् ।
 ददाति स्म प्रमोदेन सत्यं पुण्यवतां श्रियः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(श्रीपालाय) श्रीपाल के लिए (विवाहविधिना) पाणिग्रहण विधि पूर्वक (शतैः) सैकड़ों (उच्चैः) महान (महोत्सवैः) उत्सवों द्वारा (वस्त्राभरणसन्दोहैः) वस्त्र और अलङ्कारों के समूह से युक्त (यथा) जैसे (कल्पतरोलता) कल्पवृक्ष की लता ही (प्रविराजिताः) सुशोभित हों ऐसी (षोडश) सोलह (शतान्विताः) सौ कन्या (सर्वाः) सभी (कन्याः) कन्याएँ (ददौ) प्रदान की (पुनः) पुनः, फिर (नाना) अनेक (हेम) सुवर्ण (रत्नादिकम्) नव रत्नादि (गजाः) हाथी (अश्वाः) घोड़े (रथपादाति) रथ, पैदल सेना

(छत्र चामर सध्वजान्) छत्र, चमर ध्वजाएँ आदि (प्रमोदेन) आनन्द से (ददाति स्म) प्रदान कीं (सत्यम्) नोतिकार कहते हैं वास्तव में (पुण्यवताम्) पुण्यात्माओं की ही (श्रियः) लक्ष्मी है ।

भावार्थ- सर्व विद्याओं और कलाओं में निपुण कोटिभट्ट श्रीपाल ने अपने वाक्चातुर्य और प्रत्युत्पन्नमति द्वारा उन श्रीपाल महीपति ने अपने वाक्य-वचनरूपी किरणों के प्रसार से उन कन्याओं के मनरूपी अम्बुजों को उसी प्रकार प्रफुल्ल-विकसित कर दिया, जिस प्रकार रवि रश्मियाँ कमल समूहों को खिला देती हैं । कन्याओं को सन्तुष्ट देखकर और श्रीपाल के प्रज्ञा चातुर्य से आकृष्ट राजा विजयसेन अत्यनन्दित हुए । उन्होंने उन आठों कन्यारत्नों के साथ समस्त सौलहस्य (१६००) कन्याओं को विवाहविधि पूर्वक श्रीपाल को विवाह दीं । उस समय कन्याओं का शृंगार और सौन्दर्य देखते ही बनता था । अद्भुत नाना प्रकार के रंग-विरंगे वस्त्र अनेक प्रकार के रत्नों जडित आभूषण पहने वे कन्याएँ ऐसी शोभ रहीं थीं मानों कल्पवृक्ष की लताएँ ही रुन-भुन करतीं नृत्य कर रही हों । सर्वत्र आनन्द छा गया । सैकड़ों प्रकार के गान, बाद्य, मंगलपाठ, रत्नचूर्ण से पूरे गये चौक, हासविलास आदि उत्सव मनाये गये । आवालवृद्ध सभी प्रसन्न थे । महाराज ने वरवक्षिणा में अनेकों सुवर्णरत्नादि, गज, अश्व, रथ, पादाति दिये, छत्र, चमर, ध्वजा-पताकाओं की संख्या नहीं थी । अत्यन्त प्रमोद-उल्लास से अनेकों सम्पदाएँ प्रदान कीं । यहाँ आचार्य कहते हैं कि वास्तव में लक्ष्मी पुण्य की चेरी है । जिसके साथ पुण्य है, धन-वैभव स्वयं आकर उसके चरण चूमता है ॥ ६१ से ६६ ॥

कङ्कणद्वीपनाथेन रक्षितोऽपि महाग्रहात् ।

तस्मादपि स्वसैन्येन संयुक्तो निर्ययौ महान् ॥६७॥

अन्वयार्थ—(कङ्कणद्वीपनाथेन) उस कङ्कणद्वीप के भूपाल द्वारा (महान्) अत्यन्त (आग्रहात्) आग्रह से (रक्षितः अपि) रोके जाने पर भी (स्वसैन्येन) अपनी सेना के (संयुक्तः) साथ (तस्मादपि) वहाँ से भी (निर्ययौ) निकल गया ।

भावार्थ- कङ्कणद्वीप के महीपति ने अनेकों प्रकार के धन-धान्य, सम्पत्ति, सैनादि वैभव देकर अपनी कन्याओं का विवाह श्रीमान् श्रीपाल के साथ कर दिया और वहीं रहने का आग्रह किया । किन्तु मनस्वी श्रीपाल ने इस प्रार्थना की ओर दृष्टि न दे वहाँ से भी प्रस्थान कर दिया । अनेकों सेना, सेवक उसके साथ चले ।

ताभिस्त्र्योभिस्समायुक्तस्सलता वा सुरद्रुमः ।

पयंटल्लीलया नित्यं याचकादीश्च तर्पयन् ॥६८॥

पञ्चपण्डित तामनं देशं गत्वा स भूपतिः ।

श्रीपालः पालितानेक मण्डलो महिमान्वितः ॥६९॥

तत्र क्षत्रिय भूपानां महोत्सवशतैर्युतम् ।

सहस्रद्वितीयं कन्याः परणीय यथा सुखम् ॥७०॥

मल्लिवाल महादेशे कन्या सप्तशतानि च

कलिगदेशमध्ये च सहस्र कन्यकाः पराः ॥७१॥

परणीय पुनः प्राप पत्तनं दलवर्तनम् ।

तत्र श्री धनपालाख्यस्त राजा परयामुदा ॥७२॥

महासैन्य समायुक्तं महासम्पद्विराजितम् ।

श्रीपालं संविलोक्योच्चैः परमानन्द निर्भराः ॥७३॥

सुधीस्सन्मानयामास महोत्सव शतैरपि ।

भार्यास्सर्वाश्च संप्रापुः महाप्रीतिं परस्परम् ॥७४॥

अन्वयार्थ—(ताभिः) उन (स्त्रीभिः) स्त्रियों से (समायुक्तः) सहित (वा) मानों (सुरद्रुमः) कल्पवृक्ष के सदृश (पर्यटन्) घूमते हुए (लीलया) विलास पूर्वक (नित्यम्) प्रतिदिन (याचकादीन्) भिक्षुकों को (तर्पयन्) संतुष्ट करते हुए (च) और (पञ्चपण्डित-नामानं) पञ्चपण्डित नामक (देशम्) देश को (गत्वा) जाकर (सः) उस (अनेकमण्डिला-पालितः) अनेकों मण्डलों को पालन करने वाले (महिमान्वितः) महा महिमा सम्पन्न (भूपतिः) राजा (श्रीपालः) महोपति श्रीपाल ने (तत्र) वहाँ (क्षत्रियभूपानाम्) क्षत्रिय-राजाओं की (सहस्रद्वितीयम्) दो हजार (कन्याः) कन्याओं को (यथासुखम्) सुखपूर्वक (महोत्सवशतैः) सैकड़ों उत्सवों के (युतम्) साथ (परिणीय) विवाहकर (च) और (मल्लि-वालमहादेशे) मल्लिवाल महादेश में (सप्तशतानिकन्या) सातसौ कन्याओं को (च) और (कलिगदेशमध्ये) कलिङ्गदेश में (पराः) दूसरी (सहस्रकन्यकाः) हजार कन्याओं को (परिणीय) विवाह कर (पुनः) वापिस फिर (दलवर्तनं पत्तनम्) दलवर्तनपत्तन (प्राप) आया (तत्र) वहाँ (परयामुदा) अत्यन्त हर्षित (धनपालाख्यराजा) धनपालराजा (सः) उसने (महासैन्यसमायुक्तम्) महानविशाल सेना सहित (महासम्पद्विराजितम्) बहुत विभूति सहित (श्रीपालम्) श्रीपाल को (संविलोक्य) देखकर (परमानन्दनिर्भराः) परम आनन्द से (सुधीः) बुद्धिमान को (अपि) और भी (महोत्सवशतैः) सैकड़ों उत्सवों द्वारा (सम्मानयामास) सम्मानित किया (च) और (सर्वाः) सम्पूर्ण (भार्याः) पत्नियाँ (परस्परम्) आपस में (महाप्रीतिम्) अत्यन्त प्रीति को (संप्रापुः) प्राप्त हुयीं ।

भावार्थ—महाधियाधिपति श्रीपाल नृपति १६०० कन्याओं को विवाह कर उनके साथ लीला पूर्वक विदेश जाने लगा तो ऐसा प्रतीत होता था मानों कल्पवृक्षरियों से सुशो-भित कल्पवृक्ष ही हो । हास-विलास विनोद पूर्वक वह पञ्चपण्डित नामक देश में जा पहुँचा । अनेकों प्रकार दान देता हुआ सबको संतुष्ट करता जाता । अनेकों मण्डलों का पालन कर महा

महिमा को उसने प्राप्त कर लिया था । उस देश के अनेकों क्षत्रिय राजाओं की दो हजार रूप लावण्य कलाविज्ञान चतुर कन्याओं के साथ विवाह किया । उस समय संकड़ों महोत्सव हुए । यथासुख भोगोपभोग में निमग्न वह आगे बढ़ा । मल्लिवाल महादेश में जा पहुँचा । वहाँ भी उसके पुण्य प्रताप से अनेकों विभूति सहित सात सौ (७००) कन्या रत्न प्राप्त हुए । सबके साथ यथाविधि विवाह कर कलिङ्गदेश में पहुँचा । वहाँ पुनः एक हजार अन्य कन्याओं से विवाह किया । सबके साथ प्राप्त धन, बल, दल सेना आदि वैभव के साथ पुनः ग्रामोद-प्रमोद करता हुआ दलवर्तनपुर (द्वीप) में आया । विख्यात राजा धनपाल ने उसके राजवैभव को देख महान संतोष प्राप्त किया तथा अत्यन्त आनन्द से समस्त रानियों सहित उसका भव्य स्वागत किया । कुशल-क्षेम पूछी । प्रमोद भाव से परस्पर मिले । इसी प्रकार यहाँ उपस्थित रानियाँ इन नवागत रानियों के साथ मिलकर परस्पर परम हर्ष को प्राप्त हुयीं मानों जन्मान्ध को निर्दोष स्वच्छ नेत्र ही प्राप्त हुए हो ॥६८ से ७४॥

तत्र स्थित्वा कियत्कालं स श्रीपाल महानृपः ।

सुधीस्सर्वं प्रियोपेत सुखं भुञ्जन्मनोहरम् ॥७५॥

एकदा स निशामध्ये चिन्तयाभास मानसे ।

अस्याहो शर्मणकालो गतो बहुतरो मम ॥७६॥

अतो यदि न यास्यामि द्रुतमुज्जयिनी पुरिम् ।

स्यावधौ मत्प्रियाऽवश्यं ग्रहिष्यति तपोधनम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ दलवर्तनपुर में (सर्वं) समस्त (प्रियोपेत) प्रियाओं सहित (मनोहरम्) सुन्दर-प्रिय (सुखम्) सुख (भुञ्जन्) भोगते हुए (सुधी) विद्वान् (महानृप) महाभूषति (स) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (कियत्कालम्) कुछ समय (स्थित्वा) रहकर (एकदा) एक समय (स) वह (निशामध्ये) रात्रि में (मानसे) मन में (चिन्तयाभास) विचारने लगा, (अहो !) आश्चर्य (मम) मेरा (बहुतरो) बहुत सा (कालः) समय (शर्मणा) सुख पूर्वक (गतः) चला गया (अतः) अतएव (यदि) अगर (स्व) अपनी (अवधौ) अवधि पर (द्रुतम्) शीघ्र (उज्जयिनीपुरिम्) उज्जयिनी नगरी (न यास्यामि) नहीं जाऊँगा तो (मत्) मेरी (प्रिया) रानी (अवश्यम्) अवश्य ही (तपोधनम्) तप रूपी धन को (ग्रहिष्यति) ग्रहण कर लेगी ।

भावार्थ सुख का समय व्यतीत होते देर नहीं लगता । श्रीपाल महाराज का भी अपनी नवोद्घा प्रियाओं के साथ राग-रङ्ग में ग्रामोद-प्रमोद करते सुखपूर्वक कितना ही काल चला गया, कभी सोचा ही नहीं किधर समय जा रहा है और कितना निकल गया । फिर भी हृदयकोर में अन्तर्हित भाव कब तक दबे रह सकते हैं ? स्नेह का धागा हिला और उसके मानस को झकझोर दिया । एक दिन अर्द्धरात्रि का सन्नाटा । परन्तु श्रीपाल भूपाल के हृदया-

काज में एक क्षीण प्रेमविद्युत की चिनगारी जल उठी वह सहसा चौंका, निद्रादेवी भीत हो पलायन कर गई। विचारों का तांता बन्ध गया। वह सोचने लगा, अहो ! आश्चर्य है, मैं कितना कृतघ्न हूँ। अपना सारा समय भोगों में मस्त होकर बिता दिया। स्वयं मेरा समय सुख से जा रहा है, परन्तु मेरे जीवन की आधारभूत मेरी प्रिया मदनसुन्दरी का क्या होगा ? वह सती, धर्मज्ञा मेरी अवधि तक ही प्रतीक्षा करेगी। निश्चय ही यदि बारह वर्ष के अन्दर मैं उज्जयिनी नगरी नहीं पहुँचा तो वह अवश्य ही जिनदीक्षा धारण कर लेगी। क्योंकि मनस्वी अपने वचन पर अडिग रहते हैं। मुझे भी मेरी प्रतिज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। अस्तु, अब अविलम्ब उज्जयिनी जाना ही चाहिए। इस प्रकार कृत निश्चय हुआ ॥७५, ७६, ७७॥

प्रोक्तं मदनसुन्दर्या वचनं सत्य संयुतम् ।

स्मृत्वा तां भूपतिं प्रोक्त्वा स्व यानं स्व पुरिं प्रति ॥७८॥

चतुरङ्ग महासैन्यालंकृतोन्तः पुरा वृतः ।

पुरिपुज्जयिनी गन्तुं संचाल ध्वजादिभिः ॥७९॥

अन्वयार्थः - (सत्यसंयुतम्) यथार्थता से भरे, सत्यपूर्ण (मदनसुन्दर्या) मदन सुन्दरी द्वारा (प्रोक्तम्) कहे हुए (वचनम्) वचनों को (स्मृत्वा) याद कर (ताम्) उनको (भूपतिम्) राजा को (प्रोक्त्वा) कहकर (चतुरङ्गमहासैन्यालंकृतः) गज, अश्व, रथ, पदाति चतुर्बल सेना से शोभित (अन्तः पुरावृतः) अन्तः पुर से आवृत (स्वयानं) अपनी सवारी को (स्वपुरिम्) अपनी पुरी (उज्जयिनीम्) उज्जयिनी की (प्रति) ओर (गन्तुम्) चलने को (ध्वजादिभिः) ध्वजादि से सज्जित (संचाल) चल पड़ा।

भावार्थ - श्रीपाल महाराज को अब क्षण-क्षण भारी हो गया। वे एक पल भी विलम्ब करना नहीं चाहते थे। अतः मैनासुन्दरी को कहे वचन कि "बारह वर्ष के अन्दर मैं नहीं आऊँ तो तुम जिनदीक्षा ले सकती हो" अपने श्वसुर को विदित करा दिये और प्रस्थान की स्वीकृति ग्रहण की। तदनन्तर हाथी, घोड़े, रथ, पयादे ये चार प्रकार के सैन्यदल तैयार किये और अपनी नगरी को प्रस्थान की घोषणा की। अतः पुर की समस्त रानियाँ सज्जज कर तैयार हो गयीं। दास-दासियाँ समन्वित हुयीं। घण्टा ध्वजाओं से रमणीय यान सवारियाँ सजीं। इस प्रकार पूर्ण दलबल के साथ वह श्रीमन् श्रीपाल उज्जयिनी नगरी की ओर चल दिया ॥७८, ७९॥

मण्डितश्चक्रवर्ती च नदद्वादित्र सध्वनिः ।

प्रावृट्काल घनोद्योच्चैस्सिञ्चन वित्तजलैर्जनान् ॥८०॥

ऊर्जयन्तगिरिं प्राप परमानन्द निर्भरः ।

सर्वं सिद्धिप्रदं तुङ्गं सिद्धिक्षेत्रमनुत्तरम् ॥८१॥

ग्रन्थार्थ—(नदद्) बजते हुए (वादित्रसद्वनिः) वाद्यों की मधुरध्वनि से (मण्डितः) मण्डित (प्रावट्काल) वर्षाकालीन (घनाः इव) बादलों के समान (उच्चैः) अत्यन्तरूप से (वित्तजलैः) धनरूपी जल से (जनान्) मनुष्यों को (सिञ्चन्) सींचते हुए (चक्रवर्ती) चक्रवर्ती (इव) के समान, (परमानन्द) परम उत्कृष्ट आनन्द (निर्भरः) से भरे हुए श्रीपाल ने (अनुत्तरम्) जिसके उत्तर में कहा न जाय ऐसा (तुङ्गम्) उच्च (सर्व) सबको (सिद्धिप्रदम्) सिद्धि प्रदान करने वाले (ऊर्जयन्तगिरिः) ऊर्जयन्त पर्वत (सिद्धिक्षेत्रम्) सिद्ध-क्षेत्र को (प्राप) प्राप्त किया ॥८०, ८१॥

भावार्थ—नाना प्रकार के वादित्रों की मधुरध्वनि से शही को । हुन्दुभि की ध्वनि ने प्रावसकाल ही उपस्थित कर दिया । धनरूपी जल से जन-जन का सिंचन करते हुए अर्थात् किमिच्छुक दान देता हुआ चक्रवर्ती के समान परमानन्द से भरा हुआ श्रीपाल महीपति अपनी नगरी की ओर चला जा रहा है । मार्ग में उसे परम पवित्र, उत्तुङ्ग शिखरों से शोभित, भव्य-जनों को सिद्धि प्रदान करने वाला ऊर्जयन्त (गड गिरनार) निर्वाण क्षेत्र मिला । अर्थात् श्री नेमिध्वर जिन भगवान की निर्वाण भूमि गिरनार पर्वत पर पहुँचे । यह महापवित्र विशाल गिरि साक्षात् सिद्धस्वरूप ही आनन्द दाता है ॥८०, ८१॥

मुक्तिक्षेत्रमिव व्यवतं भव्यानां सौख्यकारणम् ।

लसद्वनस्पर्ति सार निर्भराद्यैस्समुज्ज्वलम् ॥८२॥

सर्वपापहरं सारं मुनोनामिव मानसम् ।

तं विलोक्य सुधीस्तत्र निधानं वा मुदं ययौ ॥८३॥

तं समारुह्य पूतात्मा सकान्तस्सपरिच्छदः ।

दृष्ट्वा नेमिजिनं तत्र सुरासुर समर्चितम् ॥८४॥

तत्र फाल्गुणमासे च सुधोराष्टान्हिकोत्सवे ।

अष्टौ दिनानि दिव्यानि महोत्सव शतानि च ॥८५॥

कृत्वा श्रीमज्जिनाधीश महास्नान मुत्तमम् ।

पञ्चामृतप्रवाहैश्च विधाय विधिपूर्वकम् ॥८६॥

कर्पूरवासितैस्वच्छतोयं सच्चन्दनाक्षरैः ।

सुगन्ध कुसुमैर्दिव्यैर्नैवेद्यैः दुःखनाशनैः ॥८७॥

रत्नकर्पूर सद्दीपं कालागरु समुद्भूयैः

नालिकेराअजम्बोर फलैर्मुक्तिफलप्रदैः ॥८८॥

श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा ।

सम्पूज्य जगतांपूज्यं सोपचारः प्रियान्वितः ॥८९॥

तथा श्री सिद्धचक्रं च समाराध्य सुखप्रदम् ।

शास्त्रं गुरुपदाभोजद्वयं चापि शुभावहम् ॥६०॥

स्तुत्वानत्वा महास्तोत्रैर्जप्त्वा जाप्यं जिनेश्वरम् ।

महावानादिकं बत्वा समुत्तीर्य गिरेस्ततः ॥६१॥

सज्जनैस्संयुतो धीमान् पात्रदानादिपूर्वकम् ।

पारणाञ्च विधायोच्चैस्ततस्सर्वं गुणाकरः ॥६२॥

सौराष्ट्रदेश भूमीशकन्याः पञ्चशतानि च ।

परिणीय महाभूत्या परमानन्द निर्भरः ॥६३॥

अहिच्छन्नाधिपं तत्र शक्त्यारिदमनाह्वयम् ।

महान्तर्गवर्लक्ष्म्यादयं स साधाऽयौ स साधनैः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(भव्यानाम्) भव्य प्राणिओं को (व्यक्तम्) साक्षात् (सौख्यकारणम्) सुख का कारण (मुक्तिक्षेत्रम्) मोक्षपुरी (इव) समान (सार) सारभूत (वनस्पति) वनस्पति को धारण करने वाला (निर्झराद्यः) भरने आदि से (समुज्ज्वलम्) शुभ्र (लसद्) शोभायमान्, (मुनीनाम्) मुनिराजों के (मानसम्) मन के (इव) समान (सर्वं) सम्पूर्ण (पापहरम्) पापों को हरने वाला (सारम्) सारभूत (तम्) उस गिरिराज को (विलोक्य) देखकर (मुधीः) वह जानी श्रीपाल (निधानम् वा) मानों निधि हो (मुदा) आनन्दित (ययौ) हुआ (तत्र) वहाँ (तम्) उस ऊर्जयन्तगिरि पर (समारुह्य) चढ़कर (सुरासुरसमर्चितम्) सुर और असुरों से पूजित (नेमिजिनम्) नेमिनाथ जिनेश्वर को (दृष्ट्वा) देख कर (सकान्ताः) अपनी रमणियों सहित (सपरिच्छेदः) समस्त परिकर युक्त (तत्र) वहीं (पूतात्मा मुधीः) पवित्रात्मा वह विवेकी नृपति (फाल्गुनमासे) फाल्गुन मास में आये (आष्टाह्निकोत्सवे) आष्टाह्निकपर्वोत्सव में (अष्टौ दिनानि) आठ दिन तक (शतानिमहोत्सव) सैकड़ों महोत्सव (कृत्वा) करके (च) और (विधिपूर्वक) विधिवत् (पञ्चामृतप्रवाहै) पञ्चामृतों के प्रवाह से (श्रीमज्जिनाश्रीशस्य) श्रीमज्जिनेश्वर प्रभु का (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट (महारूपधनम्) महाभिषेक (विधाय) करके तथा (कर्पूरवासितैः) कर्पूर से सुगन्धित (स्वच्छतोयैः) निर्मल जल से (सच्चन्दनाक्षतैः) चन्दन, अक्षतों से (सुगन्धकुसुमैः) सुगन्धित पुष्पों से (दिव्यैः) दिव्य (नैवेद्यैः) चर्यों से जो (दुःखनाशनैः) दुखों को नाशक है, (रत्नकर्पूरसद्दीपैः) रत्न, कर्पूर से निर्मित उत्तम दीपकों से, (कालागरुसमुद्भवैः) कालागरुचन्दनादि से निर्मित धूप से (मुक्तिफलप्रदेः) मुक्तिरूपी फल को देने वाली (नालिकेराम्रजम्बीरफलैः) श्रीफल, आम, विजौरादिफलों से (प्रियान्वितः) रानियों के साथ (सोपचारः) पञ्चोपचारी (जगताम् पूज्यम्) विश्वपूज्य (श्रीमन्नोमिजिनेश्वरस्य) श्रीमान् नेमिनाथ भगवान् के (पादद्वयम्) युगल चरणों को (मुदा) आनन्द से (सम्पूज्य) पूजकर (तथा) तथा (सुखप्रदम्) सुख देने वाले (श्री सिद्धचक्रम्) श्री सिद्धचक्र की (समाराध्य) सम्यक् आराधना कर (च) और (शुभावहम्) सुख-शान्ति प्रदाता (शास्त्रम्)

जिनवाणी (च) और (गुरुपादाम्भोजद्वयम्) गुरुदेव के उभयचरण कमलों को (अपि) भी (महास्तोत्रैः) उत्तम स्तोत्रों द्वारा (स्तुत्वा) स्तुति करके (नत्वा) नमस्कार करके (जिनेश्वरम्) (जिनराज प्रभु को (जाप्यैः) जपद्वारा (जप्त्वा) जाप करके (ततः) पुनः (गिरेः) पर्वत से (समुत्तीर्य) उतर कर (महादानादिकं दत्वा) महा दानादि देकर पुनः (धीमान्) उस बुद्धिमान ने (पात्रदानादिपूर्वकम्) सत्पात्रदानादि सहित (सज्जनैः संयुतः) सत्पुरुषों सहित (पारणाम्) पारणा (विधाय) करके (ततः) इसके बाद (सर्वगुणाकरः) सर्वगुणयुक्त उस श्रीपाल ने (उच्चैः) अत्यन्त (महाभूत्या) महाविभूति से (परमानन्दनिर्भरः) परम प्रमोद से भरे उसने (सौराष्ट्रदेशभूमीणकन्याः पञ्चशतानि) सौराष्ट्रदेश के भूपति की पाँच सौ कन्याओं को (परिणीय) विवाह कर (च) और पुनः (महान्तम्) अत्यन्त (गर्वलक्ष्माद्यम्) अहंकार रूप लक्ष्मी से भरे (अहिद्वयाधिपम्) अहिक्षेत्र के अधिपति (शक्त्यारिदमनाह्वयेयम्) शक्ति से यथार्थ नाम अरिदमन राजा को (ससाधनैः) योग्य साधनों से (असौ) इस नृप श्रीपाल ने (ससाध) जीता-वश किया ।

भावार्थ - यहाँ आचार्य श्री ऊर्जयन्तगिरि का जीवन्त, यथार्थ मनोहर वर्णन करते हैं । मुक्ति और भुक्ति का दाता यह महापवित्र क्षेत्र अत्यन्त अनोखा और रमणीय है । भव्य जीवों को परमसुख देने वाला है । ऐसा प्रतीत होता है मानों सिद्धशिला का ही अंश हो । नाना प्रकार की अमोघ वनस्पतियों का भाण्डार है । निर्भरणों से कल-कल निदान करती हुयी स्वच्छ निर्मल जलप्रपात बहती है मानों शब्दों को वाप-प्रक्षालन की प्रेरणा दे रही हो । वह पर्वतराज वीतराग मुनिराज के मन के समान विकार रहित परम पावन था । उसे अवलोकन कर उसका हृदय आनन्द से भर गया मानों कोई अद्भुत निधि ही प्राप्त हुयी हो । वह उत्साह और उमङ्ग से उस गिरिराज पर समस्त रानियों एवं अन्य समस्त परिजनों सहित आरोहित हुआ । वहाँ सुर-असुरों से समर्चित-पूज्य श्री नेमिनाथ जिनेश्वर प्रभु के दर्शन किये । उसी दिन फाल्गुनमास का आषाढाह्निक महापर्व आ पहुँचा । अतः श्रीपाल भूपति ने अपनी पत्नियों सहित वहीं आठ दिन पर्यन्त विराज कर सैकड़ों महोत्सवों के साथ इस महापर्व को मनाया । पञ्चा-मृत्तों के महा प्रवाह से कान्ताओं सहित श्रीमन्नेमीश्वर जिन का महामस्ताभिषेक किया । पुनः क्रमशः विधिपूर्वक सुगन्धित निर्मल जल से, उत्तम मलयागिरिचन्दन से, अखण्ड स्वच्छ अक्षतों से नाना प्रकार सुवासित पुष्पों से, दुःखनाशक मधुर चरुओं से, रत्न, कञ्चन के कर्पूर ज्योति सहित दीपों से, कालाग्रह आदि को सुगन्धित धूप अग्नि में खेकर, धूप से, श्रीफल, आम, जम्बीर, आदि समधुर, सुपक्व फलों से मुक्ति प्रदायी पूजा की । तथा अर्घ्य उतारण कर श्री नेमिेश्वर प्रभु की महाभक्ति से अर्चना की । प्रभु के चरण-कमलद्वय में बार-बार अर्घ्य उतारण किया । इस प्रकार सोपचार पूजा की । अपनी प्रियाओं के साथ सुख को देने वाले सिद्धचक्र की सम्यक् आराधना की । तदनन्तर सुखदायक शास्त्र पूजा कर गुरुचरणाम्बुजद्वय की भक्ति-भाव से पूजा की । महास्तोत्रों से भगवान की स्तुति कर, नमस्कार कर तथा जाप जपकर पर्वत से नीचे उतर कर महादानादिक देकर, सत्पात्रों को आहारादि दान देकर पुनः समस्त साधर्मिजनों से संयुक्त हो पारणा किया । गुणसागर उस श्रीपाल ने वहाँ से प्रस्थान करने का विचार किया । प्रस्थान के पूर्व उसने सौराष्ट्र नरेश की पाँचसौ कन्याओं के साथ महाविभूति,

परमानन्द और महामंगल पूर्वक पाणिग्रहण किया। पुनः अहिछत्र का अधिपति जो अपने बल के मद से उन्मत्त हो रहा था। शक्ति के अनुसार ही जिसका अरिदमन नाम विख्यात था उस पराजित उसको मदलक्ष्मी का दमन किया। अनेकों अनुकूल साधनों से वश में किया।

यहाँ सम्प्रार्द्धि का लक्षण हमारे सामने स्पष्ट उपस्थित होता है। जिस समय आत्मशोधन और कटुकर्मों के संहारक देव, शास्त्र, गुरु की पूजा, भक्ति, स्तुति, गुनगान करता है तो संसार, भोग, विषय कषायों को भूल जाता है। स्तुति किसे कहते हैं? इसका समाधान करते हुए श्री समस्तभद्र स्वामी श्री अरहनाथ भगवान की स्तुति में कहते हैं—

गुण स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्वहुत्व कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥
तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तनस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥

अर्थात् विद्यमान अल्पगुणों का उलंघन कर विशेषगुणों का कथन करना स्तुति कहा जाती है। अर्थात् कुछ गुणों को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर कहना स्तुति कहा जाता है किन्तु हे भगवन् ! आपके गुण तो अनन्त हैं फिर बढ़ाना-चढ़ाना किस प्रकार हो सकता है। तो भी हे मुनीन्द्र ! आपका नाम मात्र लेना या कथन करना भी पुण्यवृद्धि का कारण है। इसलिए हे प्रभो ! मैं कथन करता हूँ। इसी प्रकार श्रीपाल जी श्री नेमिनाथ भगवान का गुनगान कर पाप नाश और पुण्यार्जन कर चल पड़े। पुण्य से असाध्य भी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः अरिदमन जैसे महावीर को जीतने में उसे तनिक भी क्लेश नहीं हुआ ॥२२ से ६४॥

मान भङ्गेन सम्प्राप्य वैराग्यं शिवकारणम् ।
त वैरिदमनाख्यो स्वानुजे राज्यं वितीर्य च ॥६५॥
यशोधर मुनिं विश्वहितं नत्वा शिवाप्तये ।
जग्राह परया शुद्ध्या जगद्वन्द्य सुसंयमम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(मानभङ्गेन) पराजित होने से (सः) वह अरिदमन (शिवकारणम्) मुक्ति का कारणभूत (वैराग्यम्) वैराग्य (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (वैरिदमनाख्ये) वैरीदमन नामक (स्वानुजे) लघुभाई को (राज्यम्) राज्य (वितीर्य) देकर (विश्वहितम्) जग के हितकारी (यशोधरमुनिम्) यशोधर नामक मुनि को (नत्वा) नमस्कार कर (शिवाप्तये) मोक्ष के लिए (जगद्वन्द्य) विश्ववन्द्य (सुसंयमम्) उत्तम संयम को (परयाशुद्ध्या) उत्तम शुद्धि से (जग्राह) धारण किया।

भाषार्थ—संसार के दुःखों में “मानभङ्ग” सबसे बड़ा काष्ठ है। मानखण्डित होने पर, मूर्ख आत्मघात और ज्ञानी वैराग्य धारण कर लेता है। अर्थात् मानभङ्ग करवा कर जीना मरना ही है। अस्तु अरिदमन का श्रीपाल द्वारा मानभङ्ग हुआ। उसे एक क्षण पूर्व जो राज्य-

वैभव गौरव और सुख का साधन दिखता था वही अब विषधर समान प्रतिभाषित होने लगा । संसार, शरीर और भोग तृणवत् त्याग दिये । राज्यभार अपने लघुभ्राता वैरिदमन को समर्पित कर दिया, स्वयं यशोधर मुनिराज के चरणों में जाकर परम विशुद्धि से मुक्तिदाता दिगम्बर-जिनदीक्षा धारण कर ली । उत्तम सकल संयम धारण कर कर्मोच्छेदन में संलग्न हो गये । पराभव ने क्षणभंगुर संसार का यथार्थ चित्र खोल दिया । यह शरीर क्षणभंगुर है । शरीर से आत्मसाधना नहीं की तो वह शक्ति पशुबल है, संसार बर्द्धक है, त्याज्य ही है । उसी शक्ति को त्याग-वैराग्य के लिए अर्पण कर दी तो चिर सुख और शान्ति का हेतु हो जाती है । अस्थिर शक्ति से स्थिर शक्ति-अनन्तबल प्रकट कर लेना ही बुद्धिमानों का कार्य है । अतएव अरिदमन ने अपना जीवन संयम की खेती में अर्पण कर दिया । दुर्द्धर तप धारण किया ॥६५, ६६॥

तस्यैव सेवको वैरिदमनोऽभूद्भयंवहन् ।

किं किं न जायते स्वेष्टं पुण्यात् तपसोऽप्यसौ ॥६७॥

अन्वयार्थ — (असौ) वह (वैरिदमनः) वैरिदमन राजा (भयम्) भय (वहन्) धारण करता हुआ (तस्य) श्रीपाल का (एव) ही (सेवकः) सेवक (अभूत्) हो गया, सत्य है (पुण्यात्) पुण्योदय से (तपसा) तप से (किं किम्) क्या-क्या (स्व) अपना (इष्टम्) इष्ट (न) नहीं (जायते) होता ?

भावार्थ — वह वैरिदमन राजा तो हुआ परन्तु श्रीपाल राजा के बल-पराक्रम के सम्मुख टिक न सका भयातुर हो उसी की शरण में जा गिरा अर्थात् श्रीपाल की आधीनता स्वीकार की । पुण्य और तप से क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? अर्थात् सब कुछ साध्य हो ही जाता है । इसलिए भव्य जीवों को प्रयत्नपूर्वक पुण्यार्जन अवश्य ही करना चाहिए ॥६७॥

श्रीपालस्सद्व्रतोपेतो लीलया साधयन्महीम् ।

भूरिसैन्यो महाराष्ट्रदेशं, गत्वा महोत्सवः ॥६८॥

तद्देशानेकराजेन्द्र कन्यापञ्चशतानि च ।

परिणीयततोधीरो देशे गुर्जर संज्ञके ॥६९॥

जित्वा गौर्जरं भूपालान् स्वपुण्यपरिपाकतः ।

कन्यास्सप्तशतान्युच्चैस्तेषां लात्वा धनादिभिः ॥१००॥

मेदपाटस्थ भूपानां सारकन्या शतद्वयम् ।

विवाहविधिना धीमान् समादाय गुणोज्ज्वलः ॥१०१॥

ततोऽन्तयासीनां राज्ञां सारकन्याविभूतिभिः ।

सुधीष्पणवतिञ्चाति संभ्रमेण मनोहराः ॥१०२॥

परिणीय ततोमध्ये बहुदेशाधिनायकान् ।

जित्वातान् रत्नमाणिक्य प्राभूतानांशतानि च ॥१०३॥

गृहीत्वा मत्तमातङ्गं तुरङ्गं धनादिकम् ।

गृह्णन् पदे-पदे पुण्यात् सोत्साहपालयन्महीम् ॥१०४॥

आज्ञां विस्तीर्य च स्वस्य चतुरङ्गं बलैर्युतः ।

रूपलावण्यसम्पन्नः स्वान्तः पुर समन्वितः ॥१०५॥

अत्यन्त पुण्यपाकेनपूरणं द्वादशवत्सरैः ।

क्रमेणैव महामण्डलेश्वरं शिशुं धाञ्जितः ॥१०६॥

समागत्य प्रभुस्तत्र भेरीनादशतैस्तदा ।

उज्जैन्या बहिर्देशं व्याप्यसर्वत्र संस्थितः ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(सद्ब्रतोपेते) उत्तमव्रतधारी (श्रीपालः) श्रीपालराजा (महासैन्यः) विशाल सेना सहित (लीलया) क्रीडामात्र से (महीम्) पृथ्वी को (साधयन्) जीतता हुआ (महोत्सवैः) महाउत्सवों से (महाराष्ट्रदेशम्) महाराष्ट्रदेश को (गत्वा) जाकर (तद्) उस (देशानेक) देश की अनेक (राजेन्द्र) राजा (च) और (पञ्चशतानिकन्याः) पान्चसौ कन्याओं को (परिणीय) विवाह कर (ततः) पुनः (धीरः) वह धीर (गुर्जरसंज्ञके) गुर्जरनामक (देशे) देश में (स्व पुण्यपरिपाकतः) अपने पुण्योदय से (गौर्जर) गुर्जर (भूपालान्) राजाओं को (जित्वा) जीतकर (तेषाम्) उनकी (सप्तशतानि) सानसौ (कन्याः) कन्याओं को (उच्चैः) बहुत (धनादिभिः) धनादि के साथ (लात्वा) लाकर (धीमान्) बुद्धिशाली (मेदपाटस्थभूपानाम्) मेदपाटस्थ देश के राजाओं की (शतद्वय) दो सौ (सारकन्याः) उत्तम सुन्दरी गुणवती कन्याओं को (विवाहविधिना) विधिवत् विवाह कर (समादाय) लाकर (ततः) इसके बाद (गुणोज्ज्वलः) निर्मलगुणों से दीप्तिमान् वह (अन्तवासीनाम्) निकटवर्ती अन्य देशों के (राजाम्) राजाओं को (मनोहराः) सुन्दर (सारकन्याः) अनुपम बालाओं (पण्यवति) छियानवे (सारकन्याः) अप्सरा समान कन्याओं को (सम्भ्रमेण) उत्साह (च) और (अतिविभूतिभिः) अत्यन्त वैभव के साथ (परिणीय) परणकर (सुधीः) विद्वान् (ततोमध्ये) वहाँ मध्य में (बहुदेशाधिनायकान्तान्) बहुत से देशों के अधिपति राजाओं को (जित्वा) जीतकर (च) और (शतानि) सैकड़ों (रत्नमाणिक्य प्राभूतानाम्) रत्न, माणिक्य आदि उपहारों (भेंटों) को (गृहीत्वा) लेकर, (पुण्यात्) पुण्य से (पदे-पदे) पग-पग पर (मत्तमातङ्गं) मदोन्मत्त विशाल गज (तुरङ्गं) अश्व (धनादिकम्) अनेक प्रकार धनादि को (गृह्णन्) स्वीकार करता हुआ (सोत्साह) उत्साह से (महीम्) पृथ्वी को (पालयन्) पालन करता हुआ (च) और (चतुरङ्गबलैः) चतुरङ्गबल (युतः) सहित (स्वस्य) अपनी (आज्ञाम्) आज्ञा को (विस्तीर्य) विस्तृत करके (अत्यन्त पुण्यपाकेन) तोव्रतम पुण्योदय से (रूपलावण्यसम्पन्नाः) रूपलावण्ययुक्त (स्वः) अपने (अन्तःपुर) अन्तःपुर से (समन्वितः) परिवेष्टित (क्रमेण) क्रम से (द्वादशवत्सरैः)

बारहवर्ष (पूर्वः) पूर्ण होते होते (महामण्डलेश्वर श्री सुव्यान्वितः) महामण्डलेश्वर को राज सम्पदा से सुखानुभव करता हुआ (तत्र) वहाँ उज्जयिनी में (समागत्य) आकर (तदा) तब (प्रभुः) प्रभुतासम्पन्न श्रीपाल (भेरीनादशतः) सकड़ा भेरी आदि वादियों के नाद से (उज्जैन्या) उज्जयिनी के (बहिर्देशम्) बाह्य प्रदेश को (सर्वत्र) चारों ओर (व्याप्य) घेरकर (संस्थितः) ठहर गया ।

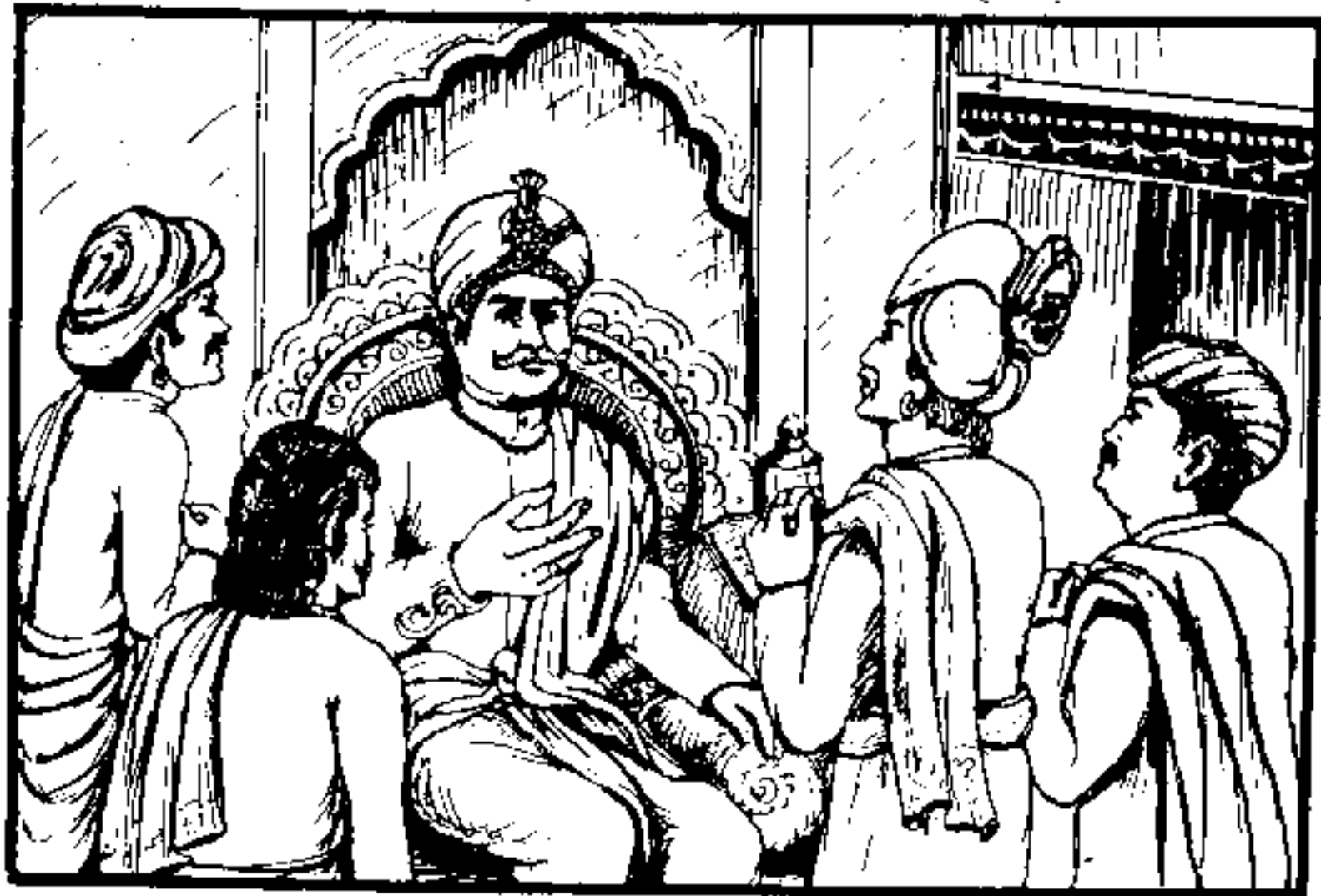
भावार्थ—श्रीपाल धर्मज्ञ, नीतिज्ञ तथैव राज्यशासन कला मर्मज्ञ भी था । त्याग-वैराग्यभाव उसके चिर साथी हो गये थे । सर्वत्र आतङ्क विहीन प्रेम और वात्सल्य द्वारा विजयी होता और सबका प्रियपात्र, आदरणीय बन जाता । अरिदमन को पराजित कर और वैरिदमन उसके छोटे भाई को स्वाधीन बना बृहद् सेना लेकर अबिलम्ब सौराष्ट्र से महाराष्ट्र देश में आ पहुँचा । यहाँ लीलामात्र में अनेकों राजाओं को जीत लिया । अपना स्वामी बना यहाँ के अधिपति अपने को धन्य समझे । वहाँ के राजाओं ने अप्सराओं से भी अधिक सुन्दरी, गुणमण्डिता, पाँचसौ कन्याएँ प्रदान कीं । श्रीपाल भूपाल ने विधिवत् पाणिग्रहण कर उन्हें स्वीकार किया । वह परम संयमी, ब्रवी और धर्मकार्यनिष्ठ था । मात्र लोक व्यवहार के लिए युद्धादि करता । अतः शीघ्र ही पुनः वह धीर-वीर रणकौतूहली गुजरात देश में आ धमका । अपने पुण्यप्रताप की किरणों का प्रसार कर वहाँ के राजाओं को जीता । उनकी सातसौ कन्याओं का महान विभूति और उत्सवों सहित विवाह । पुनः वह राजनीतिज्ञ दूरदर्शी महाराज श्रीपाल मेघपाटस्थ देश के राजाओं को वश किया । उनसे सम्मान और अनेकों भेटों के साथ दो सौ उत्तम शीलवन्ती कन्याएँ प्राप्त कीं अर्थात् उनके साथ पाणिग्रहण किया । तदनन्तर गुणभूषण उस भूप ने अपने उस प्रान्तीय आस-पास के राजाओं को वश किया । तथा उनकी ६६ छियाणवं मनोहर गुणवती सुशील कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया । इस प्रकार मार्ग से प्राप्त अनेकों राजाओं को पराजित कर उन्हें स्वाधीन बनाया, उनकी सुकुमारी अनिष्ट सुन्दरी कन्याओं को विधिवत् परणी । उनके द्वारा प्रदत्त अनेकों भेंट स्वीकार की । रत्न, माणिक्य धन सम्पत्ति प्राप्त की । स्वयं भी उन्हें दान सम्मान प्रदान कर स्नेह पात्र बनाया । सर्वत्र प्रजा के साथ पुत्रवत् स्नेह रखता, सद्दान्धव समान प्रेम का व्यवहार करता । उनके द्वारा प्रदत्त अनेकों मत्त-हस्ती, अश्व एवं अन्य धनादि को स्वीकार करता हुआ पद-पद पर अपनी प्रभुता और वात्सल्य का प्रसार करता हुआ जाता । सर्वत्र उदार हृदय से यथायोग्य अधिजनों को धनादि वितरण करता सन्तुष्ट मानस निर्विघ्न मार्ग पर बढ़ने लगा । जिसके पास पुण्य है सुख, शान्ति, क्षेम-कुशल उसके चरणों में स्वयमेव आ उपस्थित होते हैं । इस प्रकार बिना प्रयास के श्रीपाल अपने विशिष्ट पुण्योदय से प्राप्त चतुरङ्ग बल रथ, हाथी, घोड़े-पदादि द्वारा अपनी आज्ञा का विस्तार करता हुआ, रूपलावण्य की खान, गुणों की राशि रानियों सहित बारह वर्ष पूर्ण होते-होते अर्थात् मात्र एक दिवस शेष रहने पर क्रमशः महामण्डलेश्वर समान श्री-विभूति से विभूषित हो दल-बल के उज्जयिनी में जा पहुँचा । आठ हजार राजा इसकी आज्ञा शिरोधार्य करते, आठ चमर दुरते । अतः महामण्डलेश्वर हो गया । नाना भेरीनाद, सुमधुर वादियों की ध्वनि, नाना उत्सवों से संयुक्त श्रीपाल ने उज्जयिनी के बाह्य प्रदेश में नगरी को चारों ओर से व्याप्त कर लिया अर्थात् घेरा डाल कर स्थित हुआ ॥६८ से १०७॥

परचक्रं समायातमिति श्रुत्वा भयाकुलः ।

प्रजापालस्तदा राजा संजातो मानसेतराम् ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(तदा) जब श्रीपाल जी ने उज्जयिनी को घेर लिया और चारों ओर उसका जय-जय कार गूँज उठा तो (प्रजापालराजा) वहाँ का प्रजापाल राजा (परचक्रं) शत्रुसमूह (समायातम्) आया है (इति) इस प्रकार (श्रुत्वा) सुनकर (मानसे) मन में (तराम्) अत्यन्त (भयाकुलः) भयभात (संजातः) हुआ ।

भावार्थ—श्रीपाल के दल-बल की और अपनी नगरी के घेरा की बात सुनकर उज्जयिनी का अधिपति प्रजापाल भीषण थराथरा उठा । इतना उझड़ निर्भीक, शक्तिशाली शत्रुदल अचानक आक्रमण कर बैठा है यह सोचकर वह भय से आकुल-व्याकुल हो गया । प्रजा रक्षण राजा का प्रधान कर्त्तव्य है क्योंकि “यथा राजा तथा प्रजा” होती है । राजा पिता



समान होता है तो प्रजा भी सन्तान-वत होती है । अतः प्रजापाल राजा प्रजारक्षा के उपायों को सोच अघोर हो उठा ॥१०८॥

युद्धार्थं सभयस्त्रस्तो गजाश्व सुभटोत्करैः ।

सामग्रीं कारयामास नानावस्तुशतैरपि ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(सभयः) भय सहित (व्रस्तः) दुखी राजा ने (गजाश्व सुभटोत्करैः) हाथी, तुरङ्ग, वीर सभटों के साथ (नानावस्तुणैः) सैकड़ों प्रकार की अन्य सामग्री (अपि) भी (युद्धार्थम्) युद्ध करने योग्य (सामग्रीम्) अस्त्र-शस्त्रादि को (कारयामास) तैयार कराया-एकत्रित किया ।

भावार्थ—प्रजापाल राजा पर चक्र के आक्रमण के आभास को पाकर तत्काल ही संग्राम की सामग्री तैयार करने में जुट गया । सत्य ही है कर्त्तव्यनिष्ठ अवसरानुसार कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता । उसने गज, अश्व, अस्त्र, शस्त्र सुभट आदि समस्त सामग्री तैयार-एकत्रित की । महाबली शत्रु का सामना करना है यह सोचकर वह अधीर हो गया फिर भी धैर्य छोड़ा नहीं ॥१०९॥ उधर राजा प्रजापाल संग्राम की तैयारी में जुटा है । इधर श्रीपाल के मन में अपनी प्राणप्रिया के देखने की अभिलाषा उमंग के साथ वृद्धिगत हो रही है, वह क्षणभर भी अब समय खोना नहीं चाहता था क्योंकि मैनासुन्दरी को दीये समय की अवधि का यह अन्तिम दिन है । अतः वह प्रिया के भाव को ज्ञात करने की इच्छा से प्रच्छन्न रूप में कान्ता के पास जाने को तैयार हुए—

तदा श्रीपाल राजोऽपि सैन्ये सेनापतिं निजम् ।

संस्थाप्य सर्वरक्षार्थं रथौ प्रच्छन्न भावतः ॥११०॥

सारमुल्लंघ्य वेगेन स्वान्तरायमिवोन्नतम् ।

एकाकी तन्मनोज्ञातुं कान्तावासं समाययौ ॥१११॥

अन्वयार्थ—(तदा) रात्रि में ही (श्रीपालराजः) कोटिभट श्रीपाल नृप (अपि) भी (सैन्ये) सेना में (निजम्) अपन (सेनापतिम्) सेनापति को (सर्वरक्षार्थम्) सबकी रक्षा के लिए (संस्थाप्य) नियुक्त कर (रात्रौ) रात में (सारम्) सीमा को (उल्लंघ्य) उल्लंघन कर (प्रच्छन्न) छुपे (भावतः) भाव में (वेगेन) शीघ्र ही तीव्रगति से (स्वान्तरायमिव) अपने अन्तराय के समान ही (उन्नतम्) उन्नत (तन्मनोज्ञानुम्) कान्ता के मनोगतभावों को जानने के लिए (एकाकी) अकेला ही (कान्तावासम्) प्रिया के निवासकक्ष में (समाययौ) आया ॥१११॥

भावार्थ—श्रीपाल उज्जयिनी के बाहर है परन्तु उसका मन अपनी प्राणप्रिया के पास है । रात्रिमात्र भी अब प्रिया के वियोग को सहने में समर्थ न हो सका । पवनञ्जयकुमार की भाँति रात्रि में ही जाने की तैयारी की । उसी समय अपने सेनापति को बुलाया, समस्त सेना को रक्षा तुम्हें करनी है यह आदेश दिया । उसे नियुक्त कर स्वयं प्रच्छन्न रूप से अकेला ही प्रिया के मनोभाव ज्ञात करने के अभिप्राय से निकल पड़ा । सच है प्रेम अन्धा होता है । लोक और समाज की मर्यादा का उल्लंघन इसे कठिन नहीं । लौकिकी विधियों में निपुण भी श्रीपाल अधीर हो भूल गया । उसे भय भी तो था कि “कहीं मेरी कान्ता दीक्षा न ले ले ।” अस्तु वह महासती पतिभक्ता एवं जिनभक्ता रमणी मैनासुन्दरी के भवन में पहुँच गया । वही

द्वार की आठ से उसकी गतिविधि को जानना चाहा । मन तो कभी का वहाँ आ चुका था अब शरीर ने भी उसी का अनुकरण किया । मानस ही उन्नत क्यों रहे शरीर भी तो उसका साथी है । अतएव श्रीपाल राजेन्द्र प्रिया महल में आ छुपकर बैठ गया ॥११० १११॥

प्रच्छन्नं संस्थितं यावत् तावन्मदनसुन्दरी ।

स्वभावे संस्थितां श्वभूसतीं सम्प्राह सादरम् ॥११२॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब कि श्रीपाल (प्रच्छन्नम्) गुप्तरूप से (संस्थितम्) आकर बैठ गये (तावत्) उसी समय (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी (स्वभावे संस्थिताम्) शान्तस्वभाव में स्थित बँठी (सतीम्) माध्वोरूपा (श्वभूम्) सातुजी को (सादरम्) विनयभक्ति से (सम्प्राह) कहने लगी ।

भावार्थ—उधर भूपेन्द्र श्रीपाल चुप-चाप आ बँठा, इधर उसी समय अपनी सती माधवी शान्तस्वभावी सासू के पास आकर नम्रता और आदरभाव से विनयशोला मदनसुन्दरी अपना निर्णय कहने लगी । अर्थात् आगे क्या करना है-अभिप्राय बोली ॥११२॥ क्या कहती है

ययुस्संवत्सरा भो मात ! द्वादशैव निरन्तरम् ।

अद्याऽपि नो समायात पुत्रस्ते बल्लभो मम ॥११३॥

इदानीं संग्रहिष्यामि संयमं श्रीजिनोदितम् ।

पापसन्ताप दावाग्नेशमनैक घनाघनम् ॥११४॥

अन्वयार्थ—मैनासुन्दरी अपनी सास से कहती है (भो मात !) हे मातेश्वरी ! (निरन्तरम्) दिन-दिन करके (द्वादश) बारह (एव) ही (सम्बन्तराः) वर्ष ही (ययुः) ब्रोत गये किन्तु (अद्य) आज (अपि) भी (ते) आपका (पुत्र) बेटा (मम) मेरा (बल्लभः) प्राण-बल्लभ (न) नहीं (समायातः) आये । (इदानीम्) इस समय मैं (पाप सन्ताप दावाग्नेः) पाप, सन्ताप रूपा दावाग्नि को शान्त करने के लिए (शमनैक) शमन करने के लिए (घनाघनम्) सघनबादल है ऐसा (श्रीजिनोदितम्) श्रीजिनेन्द्रभगवान द्वारा कथित (संयमम्) संयम-महाव्रत (गृहिष्यामि) ग्रहण करूँगी ।

भावार्थ—मदनसुन्दरी रात्रि के समय अपनी सास कमलावती से कहती है हे मातेश्वरी प्रतीक्षा करने हुए एक-एक कर आज बारह वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं, परन्तु वचनानुसार आपके प्रिय पुत्र और मेरे प्राणेश्वर बल्लभ पतिदेव लौटकर नहीं आये । अब इस गृहवास से मुझे क्या प्रयोजन ? मैं इस समय पाप और सन्ताप का नाश करने वाला संयम धारण करूँगी । हे माते ! स्त्री पर्याय के नाशक संयम का ही शरण मुझे श्रेयस्कर है । श्रीजिनेन्द्रभगवान के द्वारा प्रतिपादित तप ही मेरा आधार है । अस्तु, आप तप को आज्ञा दें ॥११३ ११४॥

इति श्रुत्वा ततः प्राह सा सती कमलावती ।

भो स्नुषे शृणु मत्पुत्रस्सुधीस्सत्य परायणः ॥११५॥

जिन प्रवचने चञ्चुस्तस्य वाचा न चान्यथा ।

किं मेरुश्चलति स्थानात् किं सिन्धुर्मुञ्चति स्थितिम् ॥११६॥

तिष्ठ त्वं साम्प्रतं बाले पुनर्दिनं चतुष्टयम् ।

धर्मध्यानेन ते सत्यं भविष्यन्ति मनोरथाः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार मैना सुन्दरी का निश्चय (श्रुत्वा) सुनकर (ततः) अनन्तर (सा) वह (सती) शीलवती (कमलावती) कमलावती (प्राह) बोली (भो) हे (स्नुषे) बहू ! (शृणु) सुनो (मत्पुत्र) मेरा सुत (सुधी) विद्वान है, (सत्यपरायणः) सतत सत्य भाषी, (जिनप्रवचने) जिनागम में (चञ्चुः) प्रवेश करने वाला है (किं) क्या (मेरुः) सुमेरु पर्वत (स्थानात्) अपने स्थान से (चलति) चलायमान होता है ? (किम्) क्या (सिन्धुः) सागर (स्थितिम्) सीमा को (मुञ्चति) छोड़ता है ? नहीं उसी प्रकार (तस्य) उसके—श्रीपाल (वाचा) वचन (अन्यथा) विपरीत (न) नहीं होंगे (च) और (बाले !) हे पुत्री ! (त्वम्) तुम (साम्प्रतम्) इस समय (धर्मध्यानेन) धर्म ध्यानपूर्वक (दिनचतुष्टयम्) चार दिन (तिष्ठ) ठहरो (पुनः) फिर (सत्यम्) निश्चय ही (ते) तुम्हारे (मनोरथाः) मनोरथ (भविष्यन्ति) पूर्ण होंगे ।

भावार्थ—मैनासुन्दरी दीक्षा को तैयार हुयी । उसने अपना मन्तव्य अपनी सास के



समक्ष प्रकट किया । उसके निर्णय और निश्चय को सुनकर कमलावती कहने लगी प्रिय बेटा ! हे बधूटि के ! यह क्या कहती हो ? मेरा पुत्र सामान्य पुरुष नहीं है वह नरपुङ्गव है, विद्या का धनी है, सत्य का प्रतिपालक है, जिनागम का कीड़ा है अहर्निश जिनागम के अनुसार चलने वाला है । क्या कभी सुमेरुपर्वत अपने स्थान से चल विचल होता है ? क्या कभी सागर अपनी भर्यादा-सीमा छोड़ सकता है ? नहीं कदापि नहीं । उसी प्रकार मेरा पुत्र अन्यथा वादी नहीं हो सकता । वह कभी असत्य भाषण नहीं कर सकता । हे वाले ! निर्विकार सुकुमारी मेरी बात सुनो और उस पर विश्वास करो, मानों । अभी तुम धर्मध्यान पूर्वक मात्र चार दिन घर में रहो इसके बाद भगवत् हो तुम्हारी मनोभाग्य पूर्ण होगी । मेरा पुत्र आयेगा वह निश्चित समझो ॥११५ से ११७॥ कमलावती पुनः अपनी प्रिय पुत्रवधू को समझाती हुयी कहती है —

श्रूयते परचक्रं च समायातं सुदारुणम्

पश्य पुत्री पिता ते च साम्प्रतं किं करिष्यति ॥११८॥

अन्वयार्थ—(पुत्रि !) हे पुत्रि ! (श्रूयते) सुना है (सुदारुणम्) महाभयङ्कर (परचक्रम्) शत्रुदल (समायातम्) आया है (च) और भी (पश्य) देखो (साम्प्रतम्) इस समय (ते) वे तुम्हारे पिता (किम्) क्या (करिष्यति) करेंगे ! (च) और पुनः मैना सुन्दरी कहने लगी —

ततो मदनसुन्दर्या पुनः प्रोक्तं च तां प्रतिम् ।

भो मातर्म स्फुरत्युच्चैश्चक्षूर्बाहुश्च वामकः ॥११९॥

अन्वयार्थ—(ततो) कमलावती जब कह रही थी उसी बीच में (पुनः) फिर से (मदनसुन्दर्या) मदनसुन्दरी (ताम्) उसके (प्रतिम्) प्रति (प्रोक्तम्) बोली (भो) हे (मात) माता जी (मे) मेरी (वामकः) बायी (चक्षुः) आंख (च) और (बाहुः) भुजा (उच्चैः) तेजी से (स्फुरति) फड़क रही है ॥११९॥

भर्ता मे श्रेयसांकर्ता सुभक्तो जिनशासने ।

दूरे सन्तिष्ठते मातस्संयोगः कीदृशो भवेत् ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(श्रेयसाम्) कल्याणों के (कर्ता) करने वाले (जिनशासने) जिन-शासन में (सुभक्तः) अत्यन्त भक्त (मे) मेरा (भर्ता) बल्लभ-पतिदेव (दूरे) अति दूर (सन्तिष्ठते) ठहरे हैं (मातः) हे माते ! आप ही कहो (संयोगः) समागम (कीदृशः) किस प्रकार (भवेत्) होवे ?

भावार्थ—श्रीपाल महामण्डलेश्वर की मातु श्री कमलावती अपनी पुत्रीवत् प्रिय पुत्रवधू को समझाती है । बेटा सुनो, सुना है कि महादाहण, भयङ्कर परचक्र ने आक्रमण किया

है । नगरी को चारों ओर से घेर लिया है । इस समय तुम्हारा पिता राजा प्रजापाल क्या करता है यह सोचनीय है । राजा पर सङ्कट आया है इस समय तुम्हारा गृहत्याग क्या शोभनीय होगा ? अतः थाड़ा धैर्य धरो । देखें प्रातः क्या होता है । आकुल नहीं होना चाहिए । आदरणीय माँ की बात सुनते हुये पुनः वह बोली ! माते ! यह क्या आश्चर्य है देखिये जरा मेरी बायीं आँख तेजी से फड़क रही है, इधर बायीं भुजा भी बेग से आपे से बाहर हो रही है । ये चिन्ह तो प्रिय मिलन के हैं परन्तु आप ही कहिये यह किस प्रकार संभव हो सकता है ? क्योंकि मेरे प्रियतम तो यहाँ से बहुत दूर विराज रहे हैं, फिर भला संयोग कैसा ? मेरे प्राण-बल्लभ सभी कल्याणों के आधार हैं और जिनशासन के परम भक्त हैं, दूरदर्शी हैं, परन्तु हैं तो अति दूर, फिर मिलन की आशा किस प्रकार पूर्ण हो । यहाँ आचार्य श्री लौकिक घटनाओं का अत्यन्त स्वाभाविक और आकर्षक चित्रण किया है । सास-बहू की प्रीति, संयमित संवाद, अन्तःकरण के भावों का प्रभाव कितना सजीव जीता-जागता चित्रण हुआ कि आज की समाज की पूर्णतः आदर्श स्वरूप है । वर्तमान समाज की वे सास-बनी माताएँ जो धन-दौलत की चाह में अपनी सुकुमारी बधुओं को अग्नि और पानी की शरण में बलात् पहुँचाने में नहीं हिचकतीं और वे बहूएँ जो अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए अपनी माता रूप सासों को बुलाने के लिए यमराज से प्रार्थना करती रहती हैं, इन्हें इस सास-बहू के जीवन से शिक्षा लेना चाहिए । इस आदर्श को माता-बहूनें अपने जीवन में उतारलें तो निश्चय ही उनके हृदय में वसा दैत्य-दानव मानव और देवत्व के रूप में परिणमित हो जावे अर्थात् नारकीय जीवन स्वर्गीय जीवन बन जाय ।

देखिये अन्तःकरण की ध्वनि किस प्रकार साकार रूप धारण कर लेती है—

एवं परस्परालापं तयोः श्रुत्वा सहृष्टवान् ।

श्रीपालोऽपि जगौ मात ! समायातोऽहमत्र भो ! ॥१२१॥

अन्वयार्थ — (तयोः) उन दोनों सास-बहू का (एवम्) इस प्रकार (परस्परालापम्) आपस में होती बातों को (श्रुत्वा) सुनकर (सहृष्टवान्) अत्यन्त हर्षित होकर (श्रीपालः) श्रीपाल (अपि) भी (जगौ) बोल उठा (भो) हे (मात !) माता (अहम्) मैं (अत्र) यहाँ (समायातः) आ गया ।

भावार्थ — उन दोनों (सास-बहू) का वार्तालाप छुपकर सुनता हुआ श्रीपाल नृपति परमानन्द को प्राप्त हुआ । उसका रोम-रोम उल्लसित हो उठा । जननी की ममता और पति का प्यार एक साथ उमड़ पड़ा । इस आनन्द सिन्धु की उछाल को वह रोक न सका । भावाति रेक से सहसा उसकी प्रिय-मधुर ध्वनि गूँज उठी, “माँ, मैं तुम्हारा दुलारा पुत्र यहाँ आ पहुँचा । यह अमृतवाणी उन दोनों के कर्ण कुहर से प्रविष्ट हो हृदय सरोवर में जा भरी । तब क्या हुआ वह अगले श्लोक में देखिये ॥१२१॥

श्रीपाल श्रुतिमाकर्ण्य परमानन्दनिर्भरा ।

द्वारमुद्घाटयामास सती मदनसुन्दरी ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(परमानन्दनिर्भरा) अत्यानन्द से आनन्दिता (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी ने (श्रीपालश्रुतिम्) श्रीपाल प्राणनाथ की वाणी (आकर्ष्य) सुनकर (द्वारम्) दरवाजा (उद्घाटयामास) खोला ।

भावार्थ—“ह मा ! आपका दुलारा पुत्र यहाँ सेवा में उपस्थित है” इस वाणी को सुनते ही माता और भार्या के हर्ष की सीमा न रही । अविलम्ब सुन्दरी ने उठकर द्वार खोल दिया । द्वार खुलते ही समक्ष महासती मैनासुन्दरी पर-दृष्टि पड़ी । किन्तु सद्बुद्धि विवेक का त्याग नहीं करती लोकव्यवहार और गुरुजनों की मर्यादा का पालन करना सुबुद्ध मानव का परम कर्त्तव्य है । तदनुसार प्रथम मातृचरण वन्दन करता है ॥१२२॥

सन्मार्गं वा मुनेर्मैधा सारशर्मविधायका ।

तदा श्रीपाल भूपालो मातुः पादाम्बुजद्वयम् ॥१२३॥

ननाम परया प्रीत्या कुर्वन् सन्तोषमुत्तमम् ।

सत्यं सन्तोष कर्तारः सुपुत्राः कुलदीपिकाः ॥१२४॥

अन्वयार्थ—(वा) जिस प्रकार (सारशर्मविधायका) यथार्थ सुख विधायक (मुनेः) मुनिराज की (मैधा) बुद्धि (सन्मार्गम्) सम्यक्मार्गानुगामिनी होती है उसी प्रकार (तदा) उस समय (श्रीपाल भूपालः) श्रीपालराजा ने (उत्तम) श्रेष्ठ (सन्तोषम्) सन्तोष (कुर्वन्) करते हुए (परया) महा (प्रीत्या) प्रीति से (मातुः) माता के (पादाम्बुजद्वयम्) चरण कमल युगल में (ननाम) नमस्कार किया (सत्यम्) ठीक ही है (सन्तोषकर्तारः) सन्तोष करने वाले (सुपुत्राः) उत्तम पुत्र ही (कुलदीपिकाः) कुल प्रकाशक होते हैं ।

भावार्थ—इन श्लोकों में सामाजिक लोक मर्यादा का जीवन्त चित्रण किया है । पञ्चेन्द्रियों के विषय सेवन करते हुए कुलमर्यादा की रक्षा करते हुए क्रिया करता है वही विवेकी है । विषयान्व मान मर्यादा का उल्लंघन कर देता है । श्रीपाल को द्वार खुलते ही समक्ष महासती, वितयावनता उसकी प्रिया दिखती है । इसी की प्रेमडोरी से बलात् खिचकर आया था, परन्तु तो भी उसमें सन्तोष कम न हुआ । यद्यपि चाहता तो प्रथम प्रिया का आलिङ्गन कर सकता था, किन्तु यह लोक दृष्टि में अशोभन और अभद्र होता । अतः अपने प्रेम में वह अन्धा नहीं हुआ । पूर्ण सावधानी से मुनिराज की सद्बुद्धि के अनुसार योग्य कार्य में प्रवृत्त हुआ । अर्थात् जिस प्रकार उत्तम ज्ञानी मुनिराज की बुद्धि सांसारिक पदार्थों में न जाकर तत्त्वविवेचन में—सन्मार्ग में ही जाती है, उसी प्रकार जिनधर्मज्ञाता श्रीपाल की दृष्टि जन्मदात्री जननी—माँ के चरणों में जा पहुँची अत्यन्त प्रीति, भक्ति, वितय और आदर से उसने अपनी मानेष्ट्वरो के दोनों चरण कमलों में नमस्कार किया । अत्यन्त सन्तोष से माता की चरणधूलि मस्तक पर चढ़ायी । सत्य ही है सन्तोषी पुत्र ही संसार में कुल के दीपक होते हैं । अर्थात् कुल को प्रकाशित करने वाले पुत्र ही प्रदीप होते हैं ॥१२३, १२४॥



श्रीपालं तं विलोक्योच्चैस्सा माता कमलावती ।

सन्तुष्टा मानसे गाढं स्वतत्त्वं वा मुनेर्मतिः ॥१२५॥

ततः तद्दर्शनेनोच्चैर्भार्या मदनसुन्दरी ।

प्रकाशं कमपि प्राप भास्करस्येव पश्चिनी ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(तम्) उस (श्रीपालम्) श्रीपाल पुत्र को (गाढं) अत्यन्त प्रेम से (विलोक्य) देखने से (सा) वह (माता कमलावती) माँ कमलावती (मानसे) मन में (सन्तुष्टा) सन्तुष्ट हुई (वा) मानों जैसे (मुनेः) मुनिराज की (मतिः) बुद्धि (स्वतत्त्वम्) स्व-आत्म तत्त्व को पा लिया हो (ततः) इसी प्रकार (तद्दर्शनेन) उस श्रीपाल के दर्शन से (उच्चैः) विशेषरूप से (भार्या) इच्छया (मदनसुन्दरी) मदनसुन्दरी (कमपि) कोई भी मानों (प्रकाशम्) प्रकाश ही (प्राप) प्राप्त किया हो (भास्करस्य) सूर्य का प्रकाश (एव) ही (पश्चिनी) पश्चिनी को मिला हो ।

भावार्थ—अपने आज्ञाकारी, विनम्र, गुणान्वित पुत्र श्रीपाल को देखकर माता कमलावती को असीम आनन्द हुआ । उसका मन उमंग और शरीर रोमाञ्चों से पुलकित हो गया । उस समय ऐसा लगता था मानों कोई आगम के अध्ययन में संलग्न मुनिराज किसी तत्त्व को पागये हों । अर्थात् तत्त्वान्वेषी साधु तत्त्व का परिज्ञान कर जिस प्रकार आनन्दित होते हैं उसी में डूब जाते हैं उसी प्रकार कमलावती पुत्र प्रेम में निमग्न हो गई ।

उसी प्रकार महासती मैनासुन्दरी को भी मानों प्रकाश की किरण मिली । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से पश्चिनी प्रफुल्ल हो जाती है उसी प्रकार श्रीपाल नृप की प्रेमभरी दृष्टि से मदनसुन्दरी का म्लानमुख विकसित हो गया । अन्तःकरण की किरणों नेत्रों से प्रस्फुटित हो निकलती हैं । यद्यपि श्रीपाल जी ने अपनी पत्नी का आलिंगन नहीं किया, स्पर्श भी नहीं किया क्योंकि यह माता के समक्ष अशिष्टता का प्रतीक है । तो भी जिस प्रकार सूर्य दूर रहकर भी अपना किरणों से कुमुद को विकसित कर देता है उसी प्रकार श्रीपाल की अनुराग भरी दृष्टि ने अपनी भार्या को प्रसन्न कर दिया ॥१२५, १२६॥

तदा स्वयं यथा लाभ कथानकमनुत्तमम् ।

गदित्वा च तथोच्चैर्तं रञ्जयामास धीर धीः ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(तदा) यथास्थान स्थित हो तब (स्वयम्) स्वयं श्रीपाल ने (यथा-लाभम्) जिस-जिस प्रकार लाभ-धन सम्पदादि प्राप्त किये वे (अनुत्तमम्) अद्भुत और अश्रुतपूर्व महान (कथानकम्) कथानकों को (गदित्वा) कहकर (च) और सुनकर (तयोः) उन दोनों का (चित्तम्) मन (धीर धीः) स्थितप्रज्ञ श्रीपाल ने (रञ्जयामास) अनुरञ्जित किया ।

भावार्थ—माताजी की अभ्यर्थना कर कोटीभट स्थिरता से विराजे । सभी एक अनूपम आनन्द तरङ्गों में हिलीरे लेने लगे । उसी समय महाराज श्रीपाल ने अपने प्रवास के

अनोखें अनुभव, अद्भुत घटनाएँ, घन-जन प्रियादि लाभ की मनोरञ्जन कथाएँ सुनायीं । जिससे उन दोनों का मन अति प्रसन्न हुआ । इन कथाओं का कथन करते समय स्वयं स्थितप्रज्ञ था । क्योंकि तत्त्ववित् को न आश्चर्य होता है न क्षोभ और न हर्ष-विषाद ही । अतः मध्य-स्थभाव से उन दोनों सास-बहू को प्रसन्न किया ॥१२७॥

ततः प्रासाद भूगर्भं गत्वा मदनसुन्दरीम् ।

समालिङ्ग्य च सम्भाष्य स चक्रे सुखिनीं तराम् ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(ततः) तत्पश्चात् (प्रासाद) महल में (भूगर्भम्) अपने एकान्तशय-नागार में (गत्वा) जाकर (मदनसुन्दरीम्) मैनासुन्दरी को (समालिङ्ग्य) आलिङ्गन कर (च) और (सम्भाष्य) मधुर भाषण कर (सः) उसने (तराम्) अत्यन्त (सुखिनीम्) उसे सुखी (चक्रे) किया ।

भावार्थ—एकान्त पाते ही दोनों प्रेमियों का प्रेम उमड़ आया । भूपाल श्रीपाल ने तत्क्षण अपनी प्रिया को बाहुपाश में ले लिया । प्रेम से आलिङ्गन किया । धुन्बनादि से उसे चिरकाल वियोग का दुःख विस्मृत हो गया । मधुर-मधुर चाटुकारी भाषण से, उसका सारा सन्ताप विलीन कर दिया । दोनों ही रतिक्रीडा में निमग्न हो गये । अनन्तर श्रीपाल ने अपने प्राप्त वैभव का परिचय दिया ॥१२८॥

पुनस्सैन्यश्रियं श्रुत्वा तदा मदनसुन्दरीम् ।

ता दृष्टुमुत्सुकां मत्वा रात्रावेव भटाग्रणी ॥१२९॥

तां समानीय वेगेन स्वसैन्यं सम्पदान्वितम् ।

दर्शयामास सद्रूपास्ताश्च सर्वाः स्वकामिनीम् ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(पुनः) तदनन्तर (श्रियम् सैन्यम्) सेना, वैभव को (श्रुत्वा) सुनकर (तदा) तब (ताम्) उस सुन्दरी (मदनसुन्दरीम्) मैनासुन्दरी को (दृष्टुम्) देखने के लिए (उत्सुकाम्) उत्कण्ठित (मत्वा) मानकर (रात्रौ) रात में (एव) ही (भटाग्रणी) सुभट-शिरोमणि (ताम्) उसको (समानीय) लाकर (वेगेन) शीघ्र ही (सम्पदान्वितम्) वैभव-सहित (स्वसैन्यम्) अपनी सेना को (च) और (सर्वाः) सभी (सद्रूपाः) सुन्दर रूपाकृति (स्वकामिनीः) अपनी प्रियाओं को (ताम्) उसे (दर्शयामास) दिखलाया ।

भावार्थ—श्रीपाल ने अपनी सार सम्पदा, विशाल सेना और मधुरभाषिणी प्रियाओं का इस प्रकार वर्णन किया कि मैनासुन्दरी उन्हें देखने को अधीर हो उठी । सुनते-सुनते ही वह उत्सुक और आतुर होने लगी । महाराज श्रीपाल की तीक्ष्ण दृष्टि ने उसके मनोभावों को परख लिया । उसी समय रात्रि में ही अतिवेग से उस प्राण प्रिया को लेकर वह अपनी छावनी में आ पहुँचा । उस अभूतपूर्व सेना, अद्भुत सम्पदा के साथ रूप, यौवन, लावण्यमयी उसकी

प्रियाओं को देखकर परम सन्तोष हुआ। अर्थात् श्रीपाल ने अपनी प्राणप्रिया मदनसुन्दरी को एक-एक करके अपना पूरा दल-बल रानियाँ आदि दिखलायीं ॥१२६ १३०॥

तदा ताभिः समस्ताभिस्तां समालोक्य सुन्दरीम् ।

मञ्जरीचाञ्चवृक्षस्य सर्वलक्षण सुन्दरीम् ॥१३१॥

संभ्रमेण समुत्थाय परमाह्लाद पूर्वकम् ।

अस्माकं स्वामिनीत्युच्चैस्त्वं सम्भाष्य नमस्कृता ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (आञ्चवृक्षस्य) आम के वृक्ष की (मञ्जरी) मञ्जरी (सर्वलक्षण) सम्पूर्ण लक्षणों से (सुन्दरीम्) सुन्दर (ताम्) उस (सुन्दरीम्) मैनासुन्दरी को (समालोक्य) देखकर (संभ्रमेण) सहसा-उत्साह से (समुत्थाय) उठकर (परमाह्लाद) परमानन्द (पूर्वकम्) सहित (ताभिः) उन (समस्ताभिः) सभी रानियों ने (ताम्) उसको (त्वम्) आप (अस्माकम्) हमारी (स्वामिनी) मालकिनी हैं (इति) इस प्रकार (सम्भाष्य) बोलकर (उच्चैः) अति विनय से (नमस्कृता) नमस्कार किया।

भावार्थ—वहाँ समस्त श्री और अन्तः पुर को देखकर महासती मदनसुन्दरी अत्यन्त हर्षित हुयी। उस परम अनिन्द्य सुन्दरी, आम की मञ्जरी के समान अत्यन्त सुकोमलाङ्गी, सम्पूर्ण नारी के शुभलक्षणों युक्त उसे देखकर श्रीपाल की समस्त रानियाँ वेग से उत्साह पूर्वक उठकर खड़ी हो गई। ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जनों का सत्कार-पुरस्कार करना सज्जनों का कर्त्तव्य है। अतः सबों ने विनम्र स्वर में कहा आप हमारी स्वामिनी हैं। अर्थात् हम सब में बड़ी हैं, नमस्करणीय हैं। इस प्रकार बोलकर विनयावत करबद्ध हो सबों ने उसे नमस्कार किया। पारस्परिक प्रेम और वात्सल्य का कितना वेजोड आदर्श है यह। आज सपत्नी का नाम सुनते ही हृदय डाह, ईर्ष्या और घृणा से भर जाता है जबकि यहाँ हजारों रमणियाँ प्रेम, वात्सल्य देख दूसरे के प्रति सम्मान का भाव रखती आनन्दानुभव करती हैं। हमारी माता और बहिनों को इससे आदर्श और शिक्षा ग्रहण करना चाहिए ॥१३१ १३२॥

सिद्धचक्र प्रसादेन त्रैलोक्य सुखकारिणा ।

ज्येष्ठावाष्टसहस्रस्त्रीणामुपर्यभवत्तदा ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (त्रैलोक्यसुखकारिणा) तीन लोकों के सुख का हेतु (सिद्धचक्रप्रसादेन) सिद्धचक्रविधान के माहात्म्य से (अष्टसहस्र) अठारह हजार (स्त्रीणाम्) रानियों के (उपरि) ऊपर (ज्येष्ठा) बड़ी (अभवत्) हो गई।

भावार्थ—धर्म की शक्ति अचिन्त्य है। कहीं कुष्ठी पति और कहीं कञ्चन सी हो गई काया। कहीं कङ्कालरूप और कहीं आज महामण्डलेश्वर, कहीं पति बियोग और पुनः बारह वर्ष में यह मधुर संयोग। आज उसी सिद्धचक्र आराधना के फल स्वरूप महासती मैनासुन्दरी आठ हजार देवाङ्गना समान रानियों की स्वामिनी अग्रमहिषी हो गई। अर्थात् पट्टरानी पदा-



ऊपर--भीपाल अपनी रानियों से मैना सुन्दरी का परिचय कराते हुए ।

नीचे--महाराज भीपाल एवं पट्टरानी मैना सुन्दरी सिंहसनाहद हुए ।

सीन हुयी । सभी भव्य प्राणियों को सुखदायक विषद् विनाशक धर्म सेवन करना चाहिए । पुण्यार्जन करना चाहिए । सिद्धपरमेष्ठी की आराधना पूजा और भक्ति करना चाहिए । पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति से सांसारिक सकट टल जाते हैं, आत्म शुद्धि होती है त्याग, वैराग्य और दयाभाव जाग्रत होता है । अतः धर्म सेवन अनिवार्य है ॥१३३॥

श्रीपालस्तु तदा प्राह तां सतीं मुख्यकामिनीं ।

कया रीव्या प्रजापालो द्रष्टव्यो ब्रूहि सुन्दरी ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तां सतीं मुख्यकामिनीं) उस सती पटरानी का (श्रीपालः तु प्राह) श्रीपाल ने पूछा (सुन्दरी ! ब्रूहि) हे सुन्दरी कहो, (प्रजापालो) प्रजापाल राजा अर्थात् तुम्हारे पिता (कया रीव्या) किस रीति से (द्रष्टव्यो) देखे जायें ?

भावार्थ—तदनन्तर कोटिभट महामण्डलेश्वर राजा श्रीपाल अपनी मुख्य रानी-पट्टरानी मैना सुन्दरी से पूछते हैं कि हे सुन्दरी ! अब मैं तुम्हारे पिता प्रजापाल से मिलना चाहता हूँ सो बताओ कि किस प्रकार से उनसे मिलना चाहिये ॥१३४॥

ततः श्रीपालमित्याह्य द्वेषान्मदनसुन्दरी ।

भो नाथ मत्पिता गर्वो कर्मस्थापन तत्परा ॥१३५॥

क्रुधा दुःखाय मां तुभ्यमददात्कर्म परीक्षः ।

अतो मद्द्वेष शान्त्यर्थं तस्येदं दण्डमादिश ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(ततः) तदनन्तर (कर्मस्थापनतत्परा) धर्म स्थापना में तत्पर अर्थात् कर्मसिद्धान्त पर विश्वास करने वाली (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी ने (श्रीपालं) श्रीपालमहाराज को (इति) इस प्रकार (आह्वय) कहा (भो नाथ !) हे स्वामी ! (मत्पिता) मेरे पिता (गर्वो) अहंकारी हैं (द्वेषात्) द्वेष से (कर्मपरीक्षः) कर्म की परीक्षा के लिये (क्रुधा) क्रोध से युक्त होकर (मां) मुझको (दुःखाय तुभ्यं) दुःखी तुम्हारे लिये (अददात्) दे दिया (अतो) अतः (मत् द्वेषशान्त्यर्थं) मेरे साथ जो द्वेष किया उसको शान्ति के लिये (तस्य इदं) उसके लिये ऐसा (दण्डम्) दण्ड रूप (आदिश) आदेश करो ।

भावार्थ—तब मैना सुन्दरी ने श्रीपाल महाराज को कहा कि मेरे पिता अहंकारी हैं उनके मन में इस प्रकार की धारणा बनी है कि मैं ही सबका पालन पोषण रक्षण करने वाला हूँ पर का सुख दुःख भी मेरे आश्रय से है । अस्तु विवाह के प्रसङ्ग में मैने यह कहा कि शीलवती कन्या कभी अपने मुख से यह नहीं कहती कि मुझे अमुख पुरुष पसन्द है अतः हे पितृवर ! आष ही मेरे लिये प्रमाण है । योग्यवर देखकर ही पिता अपनी कन्या को अर्पित करते हैं और उसके बाद सुख दुःख आदि तो कर्माधीन है । अपने-अपने कर्मानुसार यह जीव सुख और दुःख की सामग्रियों को प्राप्त करता है । इस प्रकार के मेरे वचन को सुनकर पिता के अहंकार को धक्का लगा और क्रुद्ध होकर उन्होंने हमारी कर्म की परीक्षा के लिये कुट्ट रोग से पीडित अति

दुःखी आपके साथ मेरा विवाह कर दिया था । पिता के उस अज्ञानता पूर्ण व्यवहार के प्रति मेरा द्वेष है, उससे हमारा मन उद्विग्न है, अशान्त है अतः उसकी शान्ति के लिये तथा पिता के मिथ्या अहंकार को मिटाने के लिये उनको इस प्रकार आदेश रूप दण्ड देना चाहिये —

कम्बलं परिधाय त्वं स्वदेहे स्वगले तथा ।

धृत्वा परशुमाशूचैः पादचारी च साम्प्रतम् ॥१३७॥

दलाजीवस्य वेषेण समागत्य परिच्छेदेः ।

सत्यमेतद्धि पादाब्जौ तदाते कुशलं ध्रुवम् ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) तुम (स्वदेहे स्वगले तथा) अपने शरीर तथा गले में (कम्बलं-परिधाय) कम्बल लपेटकर अर्थात् ओढ़कर (परशुं धृत्वा) कुल्हाड़ी लेकर (दलाजीवस्य-वेषेण) हल से जीवन चलाने वाले कृषक के वेष से (पादचारी) पैदल (परिच्छेदेः) राज्य परिकारों के साथ (साम्प्रतम्) अभी (उच्चैः) शीघ्र (पादाब्जौ समागत्य) चरण कमलों में आकर पड़ो (सत्यमेतद्धि) निश्चय से यह सत्य है कि (तदा) तभी (ते ध्रुवम् कुशलं) तुम्हारी ध्रुव कुशलता सम्भव है ।

भावार्थ—वह प्रजापाल राजा अहंकारी है अतः अहंकार के मर्दन हेतु उससे कहलाओं कि तुम अपने शरीर को कम्बल से ढक कर, गले तक कम्बल लपेट कर कुल्हाड़ी लेकर पैदल ही अपने राज्य परिकारों के साथ शीघ्र अभी ही आओ और श्रीपाल महाराज के चरणकमलों में शरण लो तभी तुम्हारी ध्रुव कुशलता सम्भव है अर्थात् ऐसा करने पर ही तुम्हारा जीवन और राज्य सुरक्षित रह सकता है । इस प्रकार हमारे पिता को आप अपने पास मिलने के लिये बुलावें । क्योंकि उनके मिथ्या मान को दूर करने का यही श्रेष्ठ उपाय हो सकता है । इस प्रकरण को पढ़कर पाठकगण यह न समझें कि मैनासुन्दरी ने प्रतिशोध की भावना से अथवा द्वेष भाव से पिता के साथ यह अनुचित व्यवहार किया है । मैनासुन्दरी का हृदय स्वच्छ पवित्र है तथा पिता के प्रति प्रीति और श्रद्धाभाव भी है फिर भी इस प्रकार की आज्ञा अपने पिता के लिये जो दी उसका कारण यह है कि वह अपने पिता को जैनधर्म का प्रभाव दिखाना चाहती थी और उनके मिथ्या अहंकार को दूर कर उनको जिनधर्म में आरुह करना चाहती थी । जैसा कि अगले प्लोक में स्पष्ट किया है ॥१३७, १३८॥

मिथ्यागर्वोऽस्ति भो नाथ मानसे तस्य भूपतेः ।

यथा गर्वो गलत्येवस्तथा कार्यं त्यया प्रभो ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(भो नाथ !) हे नाथ ! (तस्य भूपतेः) उस प्रजापाल राजा के (मानसे) मन में (मिथ्या गर्वो) मिथ्या अहङ्कार (अस्ति) है (प्रभो) अतः हे प्रभु ! (त्यया तथा कार्यं) तुम्हारे द्वारा वैसा ही किया जाय (यथा) जैसे (एषः गर्वो गलति) यह मिथ्यागर्व नष्ट होवे ।

भावार्थ—अहंकार समस्त दोषों का मूल है, विवेक को नष्ट करने वाला है उस

अहंकार से हमारे पिता का चित्तमलिन है अतः मदनसुन्दरी कहती है आप वैसा ही कार्य करें जिससे हमारे पिता मिथ्या गर्व को छोड़ दें ॥१३६॥

तन्निशम्यावदत्सोऽपि श्रीपालो भो प्रियोत्तमे ।

सोऽस्माकमुपकारी स कथं तत्क्रिय ते शुभे ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(तत् निशम्य) मैनासुन्दरी के उस वचन को सुनकर (सो श्रीपालो-अपि अवदत्) वह श्रीपाल भी बोला (भो प्रियोत्तमे) है प्रियतमा ! (शुभे) शुभलक्षणो ! (सो) वह प्रजापाल (अस्माकं) हमारा (उपकारी) उपकारी है । (तत् स) अतः वैसा कार्य उसके प्रति (कथं क्रियते) कैसे करूँ ? अर्थात् वैसा करना योग्य नहीं है ।

भावार्थ—वह श्रीपाल मैनासुन्दरी की बातों को सुनकर कहने लगा कि मेरे लिये तो प्रजापाल ने अच्छा ही किया । वह मुझको अपनी पुत्री को देकर हमारे कुष्ठ रोग के निवारण में सहायक बना, फिर मैं इस प्रकार का अनुचित व्यवहार अपने उपकारी के प्रति कैसे कर सकता हूँ ? हमारे लिये यह योग्य नहीं है । इस प्रकार का निकृष्ट आदेश मैं प्रजापाल को नहीं दे सकता हूँ ॥१४०॥

सम्यक्त्वशालिनी प्राह पुनर्मदनसुन्दरी ।

तल्लिन्त भो प्रभो लोके जैनधर्मप्रभाव न ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(पुनः) तदनन्तर (सम्यक्त्वशालिनी) सम्यग्दर्शनगुण से अलङ्कृत (मदनसुन्दरी प्राह) मदन सुन्दरी बोली (तत् बिना) उसके बिना अर्थात् वैसा किये बिना (भो प्रभो !) हे प्रभु ! (लोके) लोक में (जैनधर्म प्रभाव) जैन धर्म की महिमा का प्रकटीकरण जैन धर्म का वैशिष्ट्य (न) परिज्ञात नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—मैना सुन्दरी श्रीपाल से आग्रह करती है कि आप हमारे पिता को यदि इस प्रकार अनुज्ञा नहीं देते हैं और साधारण शक्ति से उनसे मिलेंगे तो पिता को तथा लोक के साधारण जन समुदाय को जिनधर्म का अनुपम प्रभाव तथा जैन सिद्धान्त में उल्लिखित कर्मवाद की यथार्थता समझ में न आ सकेगी । जिन पूजा के प्रभाव से दुष्कर दुर्निवार्य कुष्ठ रोग भी बिना औषध के सहज दूर हो गया यह विषय भी घर-घर में सबको मालूम हो सके । सभी लोग मिथ्या धर्म को छोड़कर सच्चे धर्म को स्वीकार करें । कोई भी पिता की तरह मिथ्या दम्भ कर अयोग्य आचरण न करे इस तथ्य वा लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही मैंने पिता प्रजापाल से मिलने की यह अनुविधि आपसे कही सो आप जिनधर्म की प्रभावना के लिये ऐसा ही करें इस प्रकार मेरा आपसे नम्र निवेदन है ॥१४१॥

तस्मात्तस्य तदेवात्र कर्तव्य प्राणवत्लभ ।

येन श्रीजिनधर्मस्य प्रभावो भवति ध्रुवम् ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इसलिये (प्राणवल्लभ) हे प्राणवल्लभ ! (अत्र) इस अवसर पर (तस्य) उस पिता प्रजापाल के साथ (तदेव) वैसा ही (कर्त्तव्यं) करना चाहिये (येन) जिससे (श्रीजिनधर्मराज) श्रेष्ठ दिनधर्म का (प्रभावो) प्रभाव, महत्त्व (ध्रुवम्) अचल या निरन्तर स्थिर (भवति) रहे या रहना है ।

भावार्थ—जैन धर्म का महान् वैशिष्ट्य स्थाई रूप से इस पृथ्वी पर अंकित रहे । जैन-धर्म में असाध्य रोग को भी दूर करने की शक्ति है सभी दुःसाध्य कार्य जैन धर्म के प्रभाव से सरल हो जाते हैं तथा जीवन से विपत्ति रूपी बादल सदा के लिये विलीन हो जाते हैं इस तत्त्व को सर्व जनता समझ सके इसके लिये पिता प्रजापाल के साथ वैसा व्यवहार करना ही इस अवसर पर ठीक है । अतः आप वैसा ही करें इत्यादि वचन मैनासुन्दरी ने श्रीपाल से कहा ॥१४२॥

तदा सोऽपि प्रिया वाक्यं श्रुत्वा कार्यं विदाम्बरः ।

बुद्धि सागर नामानं दूतं संप्राहिणोद्द्रुतम् ॥१४३॥

प्रजापालं प्रति वक्तुं गदित्वा स्वमनोगतम् ।

सोऽपि दूतस्तदा सर्वं कार्याकार्यं विचक्षणः ॥१४४॥

वक्ता समर्थो निल्लोभो निर्भय स्वामि सम्मतः ।

ज्ञातादेशः स्वभावज्ञो लेखं लात्वा विनिर्ययौः ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (कार्यं विदाम्बरः) कार्य कुशल अथवा कार्य विशेषज्ञ (सोऽपि) वह श्रीपाल भी (प्रियावाक्यं) प्रिया के वाक्य को (श्रुत्वा) सुनकर (प्रजापालं प्रति वक्तुं) प्रजापाल को कहने के लिये (बुद्धिसागरनामानं) बुद्धिसागर नामक (दूतं) दूत को (स्वमनोगतं गदित्वा) अपने अभिप्राय को कह कर (द्रुतं) शीघ्र (संप्राहिणोद्) भेज दिया (तदा) तब (कार्याकार्यं विचक्षणः) कार्य अकार्य को विशेष रूप से जानने वाला (समर्थो वक्ता) सुयोग्य वक्ता (निल्लोभो) निल्लोभी (निर्भयः) भय रहित (स्वामिसम्मतः) स्वामी की सम्मति के अनुकूल कार्य करने वाला (स्वभावज्ञो) स्वभाव से ही बुद्धिमान (ज्ञातादेशः) प्राप्त है आदेश जिसको ऐसा (सोऽपि दूतः) वह दूत भी (लेखं) लिखित आदेश पत्र को (लात्वा) लेकर (विनिर्ययौ) निकल गया ।

भावार्थ—तदनन्तर प्रियतमा मदनसुन्दरी के अभिप्राय को श्रेष्ठ जानकर श्रीपाल महाराज ने बुद्धिसागर नामक दूत को बुलाया । वह दूत अति बुद्धिमान कार्य अकार्य को समझने वाला दूरदर्शी, स्वामी की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला कुशल वक्ता, निल्लोभी, निर्भय और विनयशील था । श्रीपाल ने उसको अपने मनोगत अभिप्राय को बताकर तथा प्रजापाल राजा के प्रति अपना आदेश पत्र लिखकर दूत को देकर भेज दिया । वह दूत सन्देश वा आदेश पत्र लेकर शीघ्र उज्जयनी नगरी में प्रजापाल राजा के पास पहुँच गया ।

गत्वा तं भूपतिं नत्वा दत्त्वा पत्रं जगाविति ।

भो प्रभो मे प्रभुर्नाम्ना श्रीपालः परमोदयः ॥१४६॥

साधयित्वा बहून् देशान् जित्वा भूपशतानि च ।

कन्यारत्नसहस्राणि परिणीय गुणोज्ज्वलः ॥१४७॥

नानारत्न सुवर्णादि मणिमुक्ताफलादिकम् ।

गृहीत्वा सम्पदासारं प्रतापजित भास्करः ॥१४८॥

दानी दीनादिकेषु चैवः कोटिभट शिरोमणिः ।

सुधीस्सर्व बलोपेतस्स स्वामी त्वां समादिशत् ॥१४९॥

अन्वयार्थ—उस दूत ने (गत्वा) जाकर (तं भूपतिं) उस प्रजापाल राजा को (नत्वा) नमस्कार कर (पत्रं दत्त्वा) पत्र देकर (इति जगौ) इस प्रकार कहा (भो प्रभो !) हे स्वामी ! (मे प्रभुः) मेरा राजा (श्रीपालः) श्रीपाल है (परमोदयः) जो परम उदयशाली है अर्थात् भाग्यशाली है परमोन्नति को प्राप्त हैं । (गुणोज्ज्वलः) उज्ज्वल गुणों का धारी है । (भूपशतानि जित्वा) सैकड़ों राजाओं को जीतकर (बहून् देशान् साधयित्वा) बहुत देशों को स्वाधीन कर (कन्यारत्नसहस्राणि परिणीय) सैकड़ों कन्याओं के साथ विवाह कर (नानारत्नसुवर्णादि) अनेक प्रकार के रत्न, सुवर्णादि और (मणिमुक्ताफलादिकम्) मणि और मोतियों को (सम्पदासारं गृहीत्वा) सारभूत सम्पत्तियों को लेकर (प्रतापजितभास्कर) अन्य राजाओं को अपने प्रताप से जीत लिया है जिनने ऐसे प्रभावशाली सूर्य स्वरूप (दीनादिकेषु उच्चैः दानी) दीन दुःखियों को इच्छित उत्तम वस्तु प्रदान करने वाले श्रेष्ठ दानी हैं (सुधीः) बुद्धिशाली (सर्व बलोपेतः) सबमें बलिष्ठ (कोटिभट शिरोमणिः) कोटिभट शिरोमणि (सः स्वामी) उस श्रीपाल महाराज ने (त्वां) तुमको (यह) (समादिशत्) आदेश दिया है ।

भावार्थ—उस दूत ने वित्तपूर्वक प्रजापाल राजा को नमस्कार कर आदेश पत्र देकर सर्वप्रथम अपना तथा अपने स्वामी का परिचय दिया । वह कहने लगा कि आपके लिये आदेश पत्र देकर महामण्डलेश्वर महाराजा श्रीपाल ने मुझको भेजा है । मैं श्रीपाल महाराज का दूत हूँ । हमारे स्वामी परम उज्ज्वल गुणों के धारी और परम अभ्युदयशाली हैं । उन्होंने सैकड़ों राजाओं को अपने बल प्रताप से जीतकर बहुत देशों को अपने आधीन कर लिया है और सैकड़ों कन्याओं के साथ विवाह कर मणि मुक्ता, सुवर्ण रत्नादि आदि सारभूत सम्पत्तियों के अधिपतित्व को पाकर महामण्डलेश्वर पद को प्राप्त कर लिया है । हमारे स्वामी कोटिभट शिरोमणि अर्थात् सबमें बलिष्ठ हैं तथा परम उदार दानी भी हैं । प्रजाजनों को तथा याचक-जनों श्रेष्ठ इच्छितवस्तु प्रदान कर सन्तुष्ट करने वाले वे जन-जन के लिये मनोहारी और प्रशंसनीय भी हैं ऐसे श्रेष्ठ गुणों के निधि सूर्य से भी अधिक प्रतापशाली श्रीपाल महाराज ने आपके लिये यह आदेश पत्र दिया है ॥१४६ से १४९॥

पत्रेऽस्मिन् लिखितं राजन् यत्सर्वं त्वं विधेहि तत् ।

ततो विज्ञाय तत् प्राप्य प्रजापालोति गर्भवान् ॥१५०॥

प्रोवाच दूतं रे याहि समर्थोऽहं रणाङ्गणे ।

सिंहः किं मृगसन्दोहैर्बाध्यतेऽहो महीतले ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(राजन्) हे राजा ! (अस्मिन् पत्रे) इस पत्र में (यत्लिखितं) जो लिखा है (तत् सर्वं) वह सब (त्वं) तुम (विधेहि) करो । (ततो) तदनन्तर (अति गर्भवान् प्रजापालो) अति अहंकारी प्रजापाल ने (तत्) उस आदेश को (विज्ञाय) जानकर (प्राप्य) पत्र को प्राप्त कर (दूतं प्रोवाच) दूत को कहा (रे याहि) अरे ! जा (अहं) मैं (रणाङ्गणे) युद्ध स्थल में (समर्थो) कितना समर्थ हूँ बता दूँगा । (अहो किं महीतले) अरे क्या पृथ्वी तल पर (मृगसन्दोहैः) हिरणों के द्वारा (सिंहः बाध्यते ?) सिंह बाधित होता है । अर्थात् नहीं होता है ।

भावार्थ—तदनन्तर बुद्धिसागर नामक दूत ने प्रजापाल राजा को कहा कि आप इस आदेश पत्र को अच्छी तरह पढ़ लें और जो कुछ इसमें लिखा है उसे शीघ्र सम्पन्न करें तब दूत के इस प्रकार के दबावपूर्ण वचन को सुन कर उस अहंकारी राजा प्रजापाल ने कहा कि अरे दूत ! तू यहाँ से जा मैं युद्धस्थल में तुम्हारे राजा को अपनी सामर्थ्य दिखा दूँगा । हिरणों के समूह से सिंह कभी बाधित पीड़ित नहीं होता है । यहाँ प्रजापाल राजा श्रीपाल महाराज को हिरणियों के समान निर्बल बताता है और अपने को सिंह के समान पराक्रमी । वह श्रीपाल के आदेश पत्र की अवहेलना करते हुए युद्ध के लिये उसका आह्वान करता है । उसने दूत से कह दिया कि युद्ध में ही इस आदेश पत्र का उत्तर दूँगा, अभी नहीं ।

खद्योतैश्छाद्यते किं वां भास्करो महिमाकरः ।

अहो स दुर्मदाद्येव मया सह किं युध्यते ॥१५२॥

तिष्ठ त्वमत्रैव संग्रामे पश्यामि त्वत्पराक्रमम् ।

इत्यादिकं क्रूधा जल्पन् प्रजापालस्तु मन्त्रिभिः ॥१५३॥

बोधितो देव कर्त्तव्यो नैव गर्वस्तथा प्रभो ।

देव क्रोधो न कर्त्तव्यो धर्मध्नः स्वात्मनाशकृत् ॥१५४॥

अन्वयार्थ—(महिमाकरः) महिमाशाली अर्थात् प्रकाशशील (भास्करो) सूर्य (किं) क्या (खद्योतैः) जुगुनुओं के द्वारा (छाद्यते) ढका जा सकता है ? तिरस्कृत हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है । (अहो) अरे ! (दुर्मदाद्येव) निश्चय से मिथ्या अहंकार से भरा हुआ वह (मयासह) मेरे साथ (किं युध्यते) क्या युद्ध करेगा ? (त्वम् तिष्ठ) तुम ठहरो, रको (अत्रैव संग्रामे) यहीं युद्ध में (त्वत्पराक्रमम्) तुम्हारा पराक्रम (पश्यामि) देखता हूँ (इत्यादिकं क्रूधा जल्पन्) इत्यादि वचन क्रोध से बोलता हुआ (प्रजापालस्तु) वह प्रजापाल राजा

(मन्त्रिभिः बोधितः) मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार संबोधित किया गया—(प्रभो ! देव !) हे प्रभु ! हे स्वामी (त्वया) तुम्हें, तुम्हारे द्वारा (गर्वः) अहंकार (नैव) निश्चय से नहीं (कर्त्तव्यो) करना चाहिये (देव !) हे स्वामी ! (स्वात्मनाशकृत्) अपनी आत्मा का घात करने वाला (धर्मघ्नः) धर्मनाशक (क्रोधो) क्रोध (नकर्त्तव्यो) नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—पुनः अहंकार से भरा हुआ वह कहने लगा कि जुगुनुओं के प्रकाश से सूर्य का प्रकाश कभी आच्छादित नहीं होता है अतः क्षीणशक्ति वाला पराक्रम हीन वह श्रीपाल मेरे साथ क्या युद्ध करेगा ? मुझे तिरस्कृत करने का उसका जो मिथ्या दम्भ है, अहंकार है उसका दुष्फल उसे युद्धस्थल में ही भोगना पड़ेगा मैं उसके पराक्रम को युद्धस्थल में ही देखूँगा तदनन्तर इस प्रकार क्रोधावेश में बोलते हुए उस प्रजापाल को देखकर मन्त्रियों को चिन्ता हुई । मन्त्रियों को श्रीपाल का पराक्रम ज्ञात था, वे जानते थे कि यह, श्रीपाल को कभी नहीं जीत सकता है वह कोटिभट श्रीपाल महापुण्यशाली है उसको जीतना सर्वथा अशक्य है । मंत्री बार-बार प्रजापाल को सम्बोधित करते हैं कि हे स्वामिन् ! आप मिथ्या अहंकार न करें, विवेक से काम लें । क्रोध से स्वात्मघात के साथ साथ धर्म का भी नाश होता है अतः क्रोध न करें । क्रोध ही इस जीव का सबसे बड़ा शत्रु है । दूरदर्शिता, गम्भीरता और विवेकशीलता ही श्रेष्ठ राजाओं के चिन्ह है । आप इस समय क्रोध को छोड़कर यथार्थ परिस्थिति को समझने का प्रयत्न कीजिये :

बलवानऽहमत्रेति न वक्तव्यं क्वचित् तथा ।

यतो बलवतां मध्ये स्युर्महाबलिनोद्भुताः ॥१५५॥

संसारे सन्ति भो राजन् महान्तो महतामपि ।

चक्रिणोऽपि मतद्वेषी यथाभूद्भुजविक्रमी ॥१५६॥

अन्वयार्थ—(तथा) तथा (अत्र) यहाँ, इस लोक में (अहम्) मैं (बलवान्) बलवान् हूँ (इति) ऐसा (क्वचित्) कभी (न वक्तव्यम्) नहीं बोलना चाहिये । (भो राजन्) हे राजन् (संसारे) संसार में (महतामपि) महान् बलिष्ठों में भी (महान्तः) महान् बलिष्ठ (सन्ति) हैं (भुजविक्रमी) हे भुजविक्रमी ! (यथा) जिस प्रकार (चक्रिणोमतद्वेषी) चक्री अर्थात् चक्रवर्ती के मत से भी द्वेष करने वाले (अपि) भी (सन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—मंत्री राजा को संबोधित करते हुए कहता है कि हे राजन् ! आप यह न समझना कि संसार में सबसे अधिक बलिष्ठ मैं ही हूँ क्योंकि बलवानों में भी बलवान अथवा महानों में भी महान पुरुष संसार में विद्यमान हैं । हे भुज विक्रमी ! देखो, चक्रवर्ती षट्खण्ड का अधिपति होता है किन्तु उससे भी द्वेष रखने वाले शत्रु संसार में होते ही हैं यथा भरत चक्रवर्ती का मान बाहुबली से खंडित हुआ । जब चक्रवर्ती के भी विरोधी हो सकते हैं तब तुम्हारी क्या बात ? अतः अपने बल का अहंकार करना व्यर्थ है ॥१५५ १५६॥

सिंहस्यापि सुधीरस्ति जेता चाष्टापदः क्षितौ ।

घनाघनलवो भानोः प्रभाप्रच्छादनक्षमः ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(सुधीः) हे श्रेष्ठ बुद्धि के धारो ! (क्षितौ) पृथ्वी पर (सिंहस्य) सिंह को (अपि) भी (जेता) जीतने वाला (अष्टापदः च) अष्टापद होता है (भानोः) सूर्य की (प्रभाप्रच्छादनक्षमः) प्रभा को ढकने में समर्थ (घनाघनलवो) जलकणों से युक्त बादल होते हैं ।

भावार्थ—पुनः वह मंत्री राजा के अहंकार भाव को मिटाने के लिये दृष्टान्त देते हुए कहता है कि लोक में सिंह यद्यपि बहुत बलिष्ठ होता है पर उसको भी जीतने वाला अष्टापद है । जिस प्रकार सूर्य अप्रतिम तेज को धारण करने वाला महाप्रतापशाली है पर सघन बादलों से उस सूर्य का प्रकाश भी ढक जाता है अतः आपको अपने बल का अहंकार नहीं करना चाहिये ॥१५७॥

अयं सूरस्समायातो महाबलसमन्वितः ।

प्रतापनिजितारातिः श्रीपालः श्रूयतेप्रभु ॥१५८॥

पुरीते वेष्टिता येन महासैन्येन भूपते ।

अकस्मादत्र चागत्य न सामान्यस्सभूतले ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(प्रतापनिजितारातिः) प्रताप शील शत्रुओं को भी जिसने जीत लिया है ऐसा (प्रभुः श्रीपालः) राजा श्रीपाल है (श्रूयते) सुना जाता है कि (अयम् सूरः) यह शूरवीर (महाबलसमन्वितः) विशाल सैन्यदल के साथ (समायातो) आया हुआ है । (भूपते !) हे राजन् (येन महासैन्येन) जिस महान सेना के द्वारा (ते पुरी) तुम्हारी नगरी (वेष्टिता) घेर ली गई है । (अकस्मात् अत्र आगत्य च) और अकस्मात् यहाँ आकर (स) नगरी को घेरने वाला वह (सामान्यः न) सामान्य पुरुष नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—मंत्री राजा से कहता है कि हे राजन् मैंने सुना है कि प्रतापशाली बलिष्ठ शत्रुओं को भी जीतने वाले शूरवीर श्रीपाल अपनी विशाल सेना के साथ यहाँ आये हुए हैं उन्होंने आपकी नगरी को चारों ओर से घेर लिया है । अचानक यहाँ आकर इस प्रकार निर्भय होकर अपने सैन्यदल से नगरी को वेष्टित करने वाला सामान्य पुरुष नहीं हो सकता है ।

तस्मात् त्वयाराज्यरक्षार्थं त्यक्त्वागर्वं च दुःखदम् ।

सेवनीयो महानेषः श्रीपालः प्रभुरुत्तमः ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इसलिये (राज्य रक्षार्थं) राज्य की रक्षा के लिये (त्वया) तुम्हारे द्वारा (दुःखदम् गर्वं च त्यक्त्वा) दुःखदायी अहंकार को छोड़कर (प्रभुरुत्तमः) राजाओं में श्रेष्ठ (एषः महान्) यह महान् (श्रीपालः) श्रीपाल (सेवनीयो) सेवने योग्य है ।

भावार्थ—मंत्री राजा को कहता है कि हे राजन् ! यदि तुम अपनी या राज्य की रक्षा चाहते हो तो अहंकार को छोड़कर उस श्रेष्ठ गुणों के धारी, शक्ति से महान उन श्रीपाल महाराज की सेवा में तत्पर हो जाओ । ये श्रीपाल महाराज आपके द्वारा सेवने योग्य हैं । १६०।

इत्यादि मंत्रिभिः प्रोक्ता श्रुत्वा सन्तुष्टमानसः ।

प्रजापालः प्रशान्तोऽभूदग्निर्वा जलयोगतः ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(मंत्रिभिः प्रोक्तं) मंत्रियों के द्वारा कहे गये (इत्यादि) उक्त वचनों को (श्रुत्वा) सुनकर (सन्तुष्टमानसः) सन्तुष्ट मन वाला (प्रजापालः) राजा प्रजापाल (प्रशान्तो-अभूत्) पूर्णतः शान्त हो गया (जलयोगतः अग्निः वा) जैसे जल के योग से अग्नि शान्त हो जाती है ।

भावार्थ—मंत्री के वचन सुनकर प्रजापाल राजा क्रोध रहित हो गया । मंत्री के वचन राजा के क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने के लिये जल के समान फलीभूत हुए अर्थात् जैसे जल के संयोग से जलती हुई अग्नि तत्काल शान्त हो जाती है । उसी प्रकार मंत्री के वचनों से सन्तुष्ट मन वाला हुआ प्रजापाल अति शान्त हो गया ॥१६१॥

जगौ भो दूत यत्प्रोक्तं स्वामिना तेन ते ध्रुवम् ।

तत्सर्वं संकरिष्यामि याहि त्वं तन्निवेदय ॥१६२॥

अन्वयार्थ—तदनन्तर राजा ने (जगौ) कहा (भो दूत !) हे दूत (तेन स्वामिना) उस राजा श्रीपाल के द्वारा (यत् प्रोक्तं) जो कुछ कहा गया है (ते ध्रुवम्) वे ध्रुव रूप हैं अर्थात् सर्वथा मुझे मान्य हैं । (तत् सर्वं) वह सब (संकरिष्यामि) सम्यक् प्रकार करूँगा (त्वं याहि) तुम जाओ और (तत्) वह अर्थात् आदेश स्वीकृति रूप हमारा वचन (निवेदय) राजा को निवेदित करो ।

भावार्थ—प्रजापाल राजा ने पुनः शान्तचित्त से दूत को बुलाकर कहा कि तुम्हारे स्वामी महाराज श्रीपाल ने मेरे लिये जो आदेश पत्र दिया है वह मुझे पूर्णतः मान्य है तुम अपने स्वामी की आज्ञा ध्रुव रूप से सफल जानो । मैं महाराज श्रीपाल के आदेश पत्र के अनुसार ही सर्व कार्य करूँगा अतः तुम जाओ और हमारी स्वीकृति रूप वचन अपने स्वामी को निवेदित करो ॥१६२॥

एवं दूतं च सन्मान्य वस्त्राद्यैस्तं व्यसर्जयत् ।

सोऽपि गत्वा प्रभुं नत्वा तत् सर्वं संजगाद च ॥१६३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (वस्त्राद्यैः) वस्त्रादि के द्वारा (सन्मान्य) सम्मान कर (तं दूतं) उस दूत को (व्यसर्जयत्) भेज दिया (च) और (सोऽपि) उस दूत ने भी

(गत्वा) महाराज श्रीपाल के पास जाकर (प्रभुंनत्वा) स्वामी को नमस्कार कर (तत् सर्वं) उस सम्पूर्ण स्वीकृति रूप वचन को (संजगाद) कह दिया ।

भावार्थ—प्रजापाल राजा ने, इस प्रकार दूत को, स्वीकृति रूप सन्तोषकारी वचनों से और वस्त्राभरण आदि उपकरणों से प्रसन्न कर महाराज श्रीपाल के पास भेज दिया । उस दूत ने भी अपने स्वामी राजा श्रीपाल को तदनुसार आदेश स्वीकृति का वचन कह दिया तथा प्रभु को नमस्कार कर विनम्रता पूर्वक सम्पूर्ण वृत्तान्त कह कर राजा के चित्त को हर्षित करने वाला हुआ ॥१६३॥

तन्निशम्य दयालुत्वात् सुधीर्गविताशयः ।

श्रीपालो युक्तिमद्वाक्यैः कोपशान्तिं विधाय च ॥१६४॥

स्वकान्तायाः निजप्राणप्रियायास्सुखदायकः ।

श्रीमज्जिनपदाम्भोज सद्भक्तस्संजगौ पुनः ॥१६५॥

दूतं त्वं याहि तं भूपं कथयेति प्रभो ध्रुवम् ।

गजमेनं समारूढ्य विभूत्या गच्छ भूपते ॥१६६॥

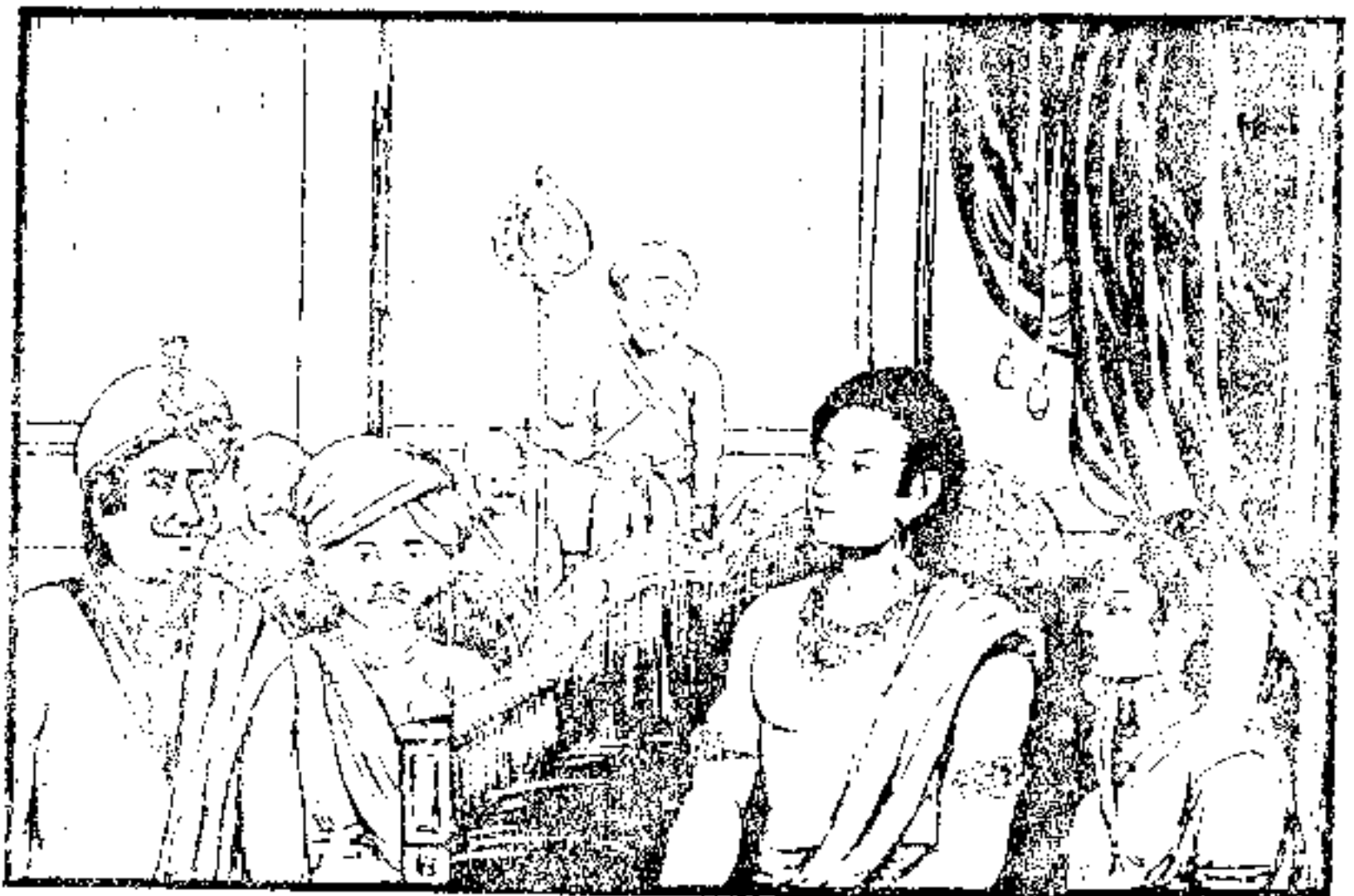
भावार्थ—(तन्निशम्य) दूत के उस वचन को सुनकर (सुधीः) बुद्धिमान (गविताशयः) स्वाभिमानी (श्रीमज्जिनपदाम्भोजसद्भक्तः) श्रीजिनेन्द्र प्रभु के चरण कमलों का सच्चा भक्त (सुखदायकः) सुखदायी (श्रीपालोः) श्रीपाल (दयालुत्वात्) दया भाव से (युक्तिमद् वाक्यैः) युक्ति युक्त वाक्यों से (निजप्राणप्रियायाः) अपनी प्राण प्रिया (स्वकान्तायाः) स्वकान्ता मैना-सुन्दरी के (कोपशान्तिं विधाय च) क्रोध को शान्त करके (पुनः) फिर (दूतं संजगौ) दूत को बोला (त्वं याहि) तुम जाओ (तं भूपं) उस प्रजापाल राजा को (इति कथय) ऐसा कहो (भूपते ! प्रभो) हे भूपति, हे राजन् (एनं गजं समारूढ्य) इस हाथी पर चढ़कर (विभूत्या) (गच्छ) जाओ ।

भावार्थ—दूत के उस विनय युक्त शिष्ट वचन को सुनकर परम बुद्धिमान् स्वाभिमानी श्रीजिनेन्द्रप्रभु के सच्चे भक्त, समस्त प्राणीमात्र के लिये सुखदायक मनोज्ञ श्रीपाल महाराज ने दया से अभिसिञ्चित चित्त वाला होने से क्रोध को छोड़ दिया और युक्ति युक्त वाक्यों से अपनी प्राण प्रिया स्वकान्ता मैना सुन्दरी को सन्तुष्ट कर पुनः दूत से कहा कि तुम जाओ और प्रजापाल राजा को ऐसा कहो कि हे स्वामी ! आप इस हाथी पर सवार होकर बड़ी विभूति के साथ महाराज श्रीपाल के पास जाओ ।

गदित्वेति स्वकीयञ्च प्राहिणोद्भद्रहस्तिनम् ।

सत्यमासन्नभयानां कोपो नैव स्थिरो भवेत् ॥१६७॥

अन्वयार्थ—(गदित्वा इति) ऐसा कह कर (स्वकीयं) अपने (भद्र हस्तिनं च) और



ऊपर बृद्ध सागर इन द्वारा जन मज्जर की सूचना देते हुए ।

नीचे -- राज दरबार में सेना सुन्दरी एवं धोयाल बंटे है सेना सुन्दरी के पिता कमी याचना करने आये ।

श्रेष्ठ हाथी को (प्राहिणोद्) भेज दिया । (सत्यं) वस्तुतः (आसन्नभयानां) आसन्न भय जीवों का (कोपो) क्रोध (स्थिरो न एव भवेत्) निश्चय से स्थिर नहीं रहता है ।

भावार्थ—ऐसा कहकर श्रीपाल महाराज ने अपने श्रेष्ठ हाथी को राजा प्रजापाल के पास भेज दिया । यहाँ श्रीपाल महाराज के भद्र परिणाम को दृष्टि में रखकर आचार्य कहते हैं कि जो आसन्न भय जीव है, अल्प काल में ही मोक्ष जाने वाले हैं उनका क्रोध स्थिर नहीं रहता है । शीघ्र ही बालू में अथवा जल में खींची लकीर के समान चित्त में उत्पन्न क्रोध की रेखा मिट जाती है ।

ततस्सोऽपि प्रजापालो राजा हृष्टः स्वमानसे ।

प्रोत्तुङ्गगजमारुह्य चामरादि विभूतिभिः ॥१६८॥

पुरान्निर्गत्य वेगेन समागत्य सुभक्तितः ।

श्रीपालं सज्जनं दृष्ट्वा समालिङ्ग्य परस्परम् १६९॥

महादरं प्रहर्षेण कृत्वा संभाषणं शुभम् ।

सन्तुष्टौ तौ तदा गाढं सज्जनं परिवारितौ ॥१७०॥

अन्वयार्थ—(ततः) तदनन्तर (स्वमानसे) अपने मन में (हृष्टः) प्रसन्न हुआ (सो प्रजापालो राजा अपि) वह प्रजापाल राजा भी (चामरादि विभूतिभिः) चामरादि विभूतियों के साथ (प्रोत्तुङ्गगजमारुह्य) विशाल हाथी पर चढ़कर (पुरात् वेगेन निर्गत्य) नगर से वेग के साथ निकल कर (समागत्य) वहाँ पहुँच कर (सज्जनं श्रीपालं दृष्ट्वा) श्रेष्ठ पुरुष श्रीपाल को देखकर (सुभक्तितः) अति भक्ति पूर्वक (परस्परं समालिङ्ग्य) परस्पर सम्यक् प्रकार आलिङ्गन कर (प्रहर्षेण) अत्यन्त हृष से (महादरं शुभसंभाषणं कृत्वा) अति आदर पूर्वक शुभ संभाषण कर (सज्जनं परिवारितौ) सज्जनों से घिरे हुए (तदा) उस समय (तौ) वे दोनों अर्थात् प्रजापाल राजा और महाराजा श्रीपाल (गाढं सन्तुष्टौ) अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ।

भावार्थ—तदनन्तर वह प्रजापाल राजा भी मन में बहुत प्रसन्न और चामरादि विभूतियों के साथ विशाल हाथी पर चढ़कर नगरी से बाहर निकला और महाराजा श्रीपाल के पास शीघ्र ही पहुँच गया तथा अति भक्ति से श्रीपाल को देखकर गाढ़ आनिगन कर विनय और हर्ष के साथ शुभ संभाषण कर बहुत सन्तुष्ट हुआ सज्जनों से घिरे हुए वे दोनों अति प्रसन्न हुए । उनका समागम परमानन्द को उत्पन्न करने वाला था ।

श्रीपालः श्वसुरं प्राह शृणू त्वं भूपते ध्रुवम् ।

सिद्धचक्रप्रसादेन सर्वं सिद्धमिदं मम ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(श्रीपालः) श्रीपाल ने (श्वसुरं प्राह) श्वसुर को कहा (भूपते !) हे

राजन् (त्वं शृणु) तुम सुनो (ध्रुवम्) निश्चय से (इदं सर्वम्) यह सब (मम) मुझे (सिद्धचक्रप्रसादेन सिद्धं) सिद्धचक्र आराधना के प्रभाव से प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—तदनन्तर श्रीपाल ने अपने ध्वजपुर प्रजापाल राजा को कहा कि हे राजन् ! सुनो, निश्चय से यह सम्पूर्ण वैभव मुझे श्री सिद्धचक्र आराधना के प्रभाव से प्राप्त हुआ है । ॥१७१॥

तवाकर्ण्यं प्रभुस्सोऽपि प्रजापालो महोत्सवः ।

दानैर्मानैर्महाध्वानैर्वादित्रशतसंभवैः ॥१७२॥

पुरीं प्रवेशयामास विलसद् रत्नतोरणम् ।

श्रीपालं सखलं शान्तः पुरं नृत्यादि संभृतैः ॥१७३॥

अन्वयार्थ—(तद् आकर्ण्यं) उसे सुनकर (शान्तिः सो प्रभुः प्रजापालो अपि) शान्त चित्त वाले उस प्रजापाल ने भी (महोत्सवैः) बड़े उत्सव के साथ (दानैः मानैः) दान सम्मान पूर्वक (वादित्रशतसंभवैः) सैकड़ों प्रकार के वादित्रों से उत्पन्न (महाध्वानैः) महाध्वनि के साथ (नृत्यादिसंभवैः) नृत्यादि कार्यक्रमों के साथ (सखलं) सैन्यबल के साथ (विलसद् रत्न-तोरणम्) शोभायमान रत्नयुक्त तोरण द्वार वाले (पुरीं) पुरी में (श्रीपालं प्रवेशयामास) श्रीपाल को प्रवेश कराया ।

भावार्थ—श्रीपाल से उस वचन को सुनकर प्रजापाल राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ । अहंकार भाव के मिट जाने से शान्तचित्त हुआ वह मन में अति आनन्दित हुआ । वह बड़े



उत्सव के साथ सैकड़ों प्रकार के बाजों को मधुर संगीत ध्वनि और नृत्यादि से सबके चित्त को प्रमुदित करते हुए अपनी नगरी में प्रवेश करने के लिये, श्रीपाल को बड़ी भक्ति से ले गया तथा रत्नमयी तोरणों से शोभित हैं द्वार जिसके ऐसी अपनी नगरी में महान उत्सव के साथ प्रवेश कराया ॥१७२, १७३॥

तत्र राजादयस्सर्वे राजवर्गाश्च सज्जनाः ।

सिंहासनं समारोप्य सुताकान्तं प्रियान्वितम् ॥१७४॥

नानावस्त्र-सुवर्णाद्यैः सदरत्नैः परमादरात् ।

पूजयन्तिस्म सत्प्रीत्या कोटिभट्ट शिरोमणिम् ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ नगरी में (सर्वे राजादयः) सभी राजाओं ने (राजवर्गाः सज्जनाः च) राज परिवार के श्रेष्ठ जनों ने (सुता प्रियान्वितं कान्तं) राज पुत्री अर्थात् प्रिया सहित कान्त श्रीपाल को (सिंहासनं समारोप्य) सिंहासन पर बैठाकर (नानावस्त्र सुवर्णाद्यैः) अनेक प्रकार के वस्त्र और सुवर्णादि से तथा (सदरत्नैः) श्रेष्ठ उत्तम रत्नों से (कोटिभट्ट-शिरोमणिम्) कोटिभट्ट शिरोमणि श्रीपाल की (परमादरात्) परम आदर से (सत्प्रीत्या) अति प्रीति पूर्वक (पूजयन्तिस्म) पूजा की ।

भावार्थ—वहाँ नगरी में पहुँचने पर वहाँ रहने वाले सभी अन्य राजाओं ने तथा राज परिवार के सभी सज्जनों ने मिलकर श्रीपाल महाराज का बड़े उत्सव के साथ स्वागत किया, भक्ति की, प्रिया मैनासुन्दरी सहित श्रीपाल महाराज को सुन्दर सिंहासन पर बैठा कर नाना प्रकार से उनकी स्तुति की, उत्तमोत्तम वस्त्राभरण सुवर्ण रत्नादि भेंट कर परम आदर और प्रीति के साथ उनकी पूजा की अर्थात् सत्कार वा सम्मान किया ॥१७४, १७५॥

युक्तं पुण्यविपाकेन सर्वत्र सुलभाः श्रियः ।

तस्मात् पुण्यं प्रकर्त्तव्यं सदा भव्यैर्जिनोदितम् ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(युक्तं) ठीक ही है (पुण्यविपाकेन) पुण्य के फलस्वरूप अर्थात् पुण्य के प्रभाव से (श्रियः) लक्ष्मी अर्थात् विभूतियाँ (सर्वत्र सुलभाः) सर्वत्र सरलता से प्राप्त हो जाती हैं (तस्मात्) इसलिये (भव्यैः) भव्यपुरुषों को (सदा) निरन्तर (जिनोदितम्) जिनेन्द्रप्रभु के द्वारा कहे गये (पुण्यं) सातिशय पुण्य को (प्रकर्त्तव्यम्) करना चाहिए ।

एवं तत्र प्रभुस्सोऽपि श्रीपालो बहुभूमिपैः ।

सेव्यमानो महासैन्यसंयुतो गुण मण्डितः ॥१७७॥

साधिकाष्टसहस्रोरुवनिता वृन्दसंयुतः ।

भुञ्जन् भोगान् सुखं तस्थौ दानैः कल्पतरुधमाः ॥१७८॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (तत्र) वहाँ उज्जयिनी नगरी में (बहुभूमिपैः) बहुत राजाओं से (सेव्यमानो) सेवित (महासैन्यसंगुतो) विशाल सेना से युक्त (साधिकाष्टसहस्र) कुछ अधिक आठ हजार (उत्खनितावृन्दसंयुतः) श्रेष्ठ अर्थात् रूप गुण सम्पन्न स्त्रियों से सहित (भोगान् भुञ्जन्) भोगों को भोगता हुआ (दानैः) दान क्रियाओं के द्वारा (कल्पतरूपमा) कल्प वृक्ष के समान उपमा को धारण करने वाला (गुणमण्डितः) गुणों से मंडित शोभित (सो प्रभुः श्रीपालोऽपि) वह राजा श्रीपाल भी (सुखं) सुखपूर्वक (तस्थौ) रहने लगा ।

भावार्थ—इस प्रकार बहुत से राजाओं से सेवित, विशाल सेना सहित, कुछ अधिक आठ हजार श्रेष्ठ रूप गुण सम्पन्न स्त्रियों के साथ इच्छित भोगों को भोगता हुआ और उत्तमोत्तम वस्तुओं का निरन्तर दान करने से कल्पवृक्ष को उपमा को धारण करने वाला, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न वह राजा श्रीपाल अनुपम शोभा को प्राप्त हुआ । निरन्तर जिनमक्ति में चित्त को लीन रखने वाला महापुण्यशाली वह श्रीपाल इस प्रकार वहाँ सुख पूर्वक रहने लगा ।
१७६, १७८।

श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां कुर्वन् पूजां जगद्धिताम् ।

सिद्धचक्रं समाचित्तो चिन्तयन् परयामुदा ॥१७६॥

इत्थं पुण्यविपाकतो जिनपतेद्धर्मं जगत्द्योतकम् ।

कुर्वन् सर्वपरिच्छदेः परिवृतः श्रीपाल नामा नृपः

नानाभोगविलासरञ्जित जगत्सर्वज्ञशास्त्रेमतिः ।

नित्यं सारपरोपकार चतुरस्तत्रस्थितस्सौख्यतः ॥१८०॥

अन्वयार्थ—(श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां) चन्द्रमा से भी अधिक सुखकर शीतल ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु की (जगद्धिताम् पूजां) जगत् हितकारी पूजा को करते हुए (समाचित्तो) निर्मल चित्तभूमि में (सिद्धचक्रं चिन्तयन्) सिद्धचक्राराधना का चिन्तन करते हुए (परयामुदा) परमानन्द का अनुभव करने वाले (जगत्द्योतकम्) जगत् का द्योतन अर्थात् उद्धार करने वाले (जिनपतेद्धर्मं) जिनधर्म को (कुर्वन्) पालन करता हुआ (पुण्यविपाकतो) पुण्योदय से प्राप्त (नानाभोगविलासरञ्जित) नाना प्रकार को भोग विलास की सामग्रियों से शोभित तथा (जगत्सर्वज्ञ) लोक के समस्त पदार्थों को जानने वाले ऐसे जिनप्रणीत (शास्त्रे) शास्त्र में (मतिः) संलग्न है बुद्धि जिनकी तथा (सारपरोपकार चतुरः) सारभूत श्रेष्ठ परोपकार के कार्यों में निपुण या कुशल हैं जो ऐसे (श्रीपालनामानृपः) श्रीपाल नामक राजा (सर्वपरिच्छदेः परिवृतः) सर्वपरिकरों से घिरे हुए (इत्थं) इस प्रकार (सौख्यतः) सुख पूर्वक (तत्रस्थितः) वहाँ रहने लगे ।

भावार्थ—जो चन्द्रमा से भी अधिक कान्ति और शीतलता को धारण करने वाले ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु की पूजा सर्व जगत् का हित करने वाली है उस परम हितकारी जिन पूजा को करते हुए तथा अपनी निर्मल चित्त भूमि में निरन्तर सिद्धचक्र आराधना का चिन्तन करते हुए वे श्रीपाल महाराज सदा सातिशय पुण्य का अर्जन करते रहते थे तथा पुण्योदय से प्राप्त

नाना प्रकार की भोग विलास की सामग्रियों को भोगते हुए भी अपने मन को जिनागम के अध्य-
यन में तत्त्व चिन्तन में रत रखते थे । जिनप्रणीत श्रावक धर्म का तत्परता पूर्वक पालन, संर-
क्षण और उन्नोतन करने वाले श्रीपाल महाराज सारभूत परोपकार के कार्यों में सदा प्रयत्न
शील रहते थे । इस प्रकार पुण्य की निधिस्वरूप अर्थात् पुण्य की साक्षात् मूर्ति स्वरूप गुणरूपी
आभूषणों से मण्डित श्रेष्ठ यश वा कीर्ति को प्राप्त वे श्रीपाल महाराज श्रेष्ठ और प्रतापशाली
परिकरों के साथ वहाँ उज्जयनी नगरी में रहने लगे ।

इति श्री सिद्धचक्रपूजातिशयप्रान्ते श्रीपाल महाराज चरित्रे भट्टारक श्री सकलकीर्ति-
विरचिते श्रीपाल महाराज बहुकन्यका सहस्र विवाहलाभेन सह कमलावती माता मदनसुन्दरी
भार्या सन्दर्शन व्यावर्णनो नाम षष्ठम् परिच्छेदः समाप्तः ।

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति आचार्य विरचित श्री सिद्धचक्रपूजातिशय के फल
को पाने वाले श्रीपाल चरित्र में श्रीपाल महाराज का सहस्र कन्याओं के साथ विवाहलाभ के
साथ माता कमलावती और भार्या मदनसुन्दरी के सम्यक् मिलन का वर्णन करने वाला छठा-
परिच्छेद समाप्त हुआ ।



॥ अथ सप्तम परिच्छेदः ॥

अथ तत्र स्थितस्सौख्यमुज्जयिन्यां महापुरि ।

स श्रीपालो महाराजो चिन्तयामास चेतसि ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (तत्र) वहाँ (महापुरि उज्जयिन्यां) महान नगरी उज्जयिनी में (सौख्यं स्थितः) सुखपूर्वक ठहरे हुए (स श्रीपाल महाराजो) उन महाराज श्रीपाल ने (चेतसि) मन में (चिन्तयामास) विचार किया कि—

एकदाऽसौ भवेत्लोके यः पुत्रो क्षत्रियोद्भवः ।

गृहीतं स्वपितुः स्थानं शत्रुणा प्राणहारिणा ॥२॥

नेव गृह्णाति मूढात्मा सामर्थ्येति भूतले ।

तस्य किं जीवितेनात्र चञ्च्वापुरुषवद्भुवम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(लोके) लोक में (यः) जो (क्षत्रियोद्भवः पुत्रो) क्षत्रिय वंश में उत्पन्न पुत्र (भवेत्) है (असौ) वह (एकदा) क्वचित् (प्राणहारिणा शत्रुणा) प्राणहारी शत्रु के द्वारा (गृहीतं) ग्रहण किये गये (स्वपितुः स्थानं) अपने पिता के स्थान वा पद को (भूतले सामर्थ्येति) पृथ्वी पर सामर्थ्यशील होने पर (न गृह्णाति) नहीं ग्रहण करता है तो (मूढात्मा एव) मूढात्मा ही है (अत्र चञ्च्वापुरुषवत्) निश्चय से पराई सम्पत्ति का भोग करने वाले चञ्च्वा पुरुष के समान (तस्य जीवितेन) उसके जीवन से (अत्र) यहाँ (किम्) क्या प्रयोजन है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ है ।

भावार्थ—तदनन्तर सुख पूर्वक उस उज्जयिनी नगरी में रहते हुए श्रीपाल महाराज इस प्रकार विचार करने लगे कि लोक में जो क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ पुत्र है वह प्राणहारी बलिष्ठ शत्रु के द्वारा भी ग्रहण किये गये अपने पिता के पद को अवश्य प्राप्त कर लेता है यदि नहीं पाता है और प्रमादी होकर पराई वस्तु को भोगता है तो चञ्च्वा पुरुष के समान उसका जीवन व्यर्थ है । पृथ्वी पर सामर्थ्यवान् होने पर भी यदि वह अपने पिता के पद को पाने के लिये प्रयत्न नहीं करता है तो उसके जीवन से क्या प्रयोजन है ? अतः क्षत्रिय कुल में उत्पन्न और कोटिभट्ट होकर भी यदि मैं अपने पिता के राज्य को पाने के लिये प्रयत्न न करूँ और श्वसुर के राज्य में पराई सम्पत्ति का भोग करूँ तो मेरे इस जीवन से क्या प्रयोजन ? अतः अवश्य ही, शीघ्र अतिशीघ्र अपने पिता के राज्य को पाने के लिये मुझे प्रयत्न करना ही चाहिए ।

मृते पितरि पुत्रो यः स्ववंशं नैवचोद्धरेत् ।
 स पुत्रः केवलं मातुः कृमिवद् वेदनाकरः ॥४॥
 यः करोति कुलोद्योतं पौरुषेणैव सो भवेत् ।
 स एव संभवेत्लोके सुपुत्रः कुलदीपकः ॥५॥

अन्वयार्थ—(च) और भी (पितरि मृते) पिता की मृत्यु हो जाने पर (यः) जो (पुत्रो) पुत्र (स्ववंशं) अपने कुल को (न उद्धरेत्) समुद्धत नहीं करता है, उद्धार नहीं करता है (स पुत्रः) वह पुत्र (कृमिवद्) कोड़े की समान (मातुः वेदनाकरः एव) माता के लिये वेदनाकारी ही है (लोके) लोक में (कुलदीपकः सुपुत्रः) कुल को प्रकाशित करने वाला कुल दीपक पुत्र (स एव संभवेत्) वही हो सकता है (यः) जो (पौरुषेण) पुरुषार्थ के द्वारा (कुलोद्योतं एव) कुल का प्रकाशन उद्योतन हो (करोति) करता है । (सो भवेत्) वह कुल-दीपक पुत्र ही होवे अर्थात् सभी माताओं को प्राप्त होवे ।

भावार्थ—इस प्रकार जिनके अन्तःस्थल में निरन्तर श्रेष्ठ विचार ही उत्पन्न होते हैं वे श्रीपाल महाराज इस प्रकार विचार कर रहे हैं कि पिता की मृत्यु हो जाने पर जो पुत्र अपने वंश, कुल की सुरक्षा और उन्नति के लिये प्रयत्न नहीं करता है वह उदर में पैदा हुए कृमि के समान माता की वेदना को बढ़ाने वाला है, माता के लिये कष्टकारी ही है तथा जो पुत्र अपने पुरुषार्थ से निरन्तर कुल का उद्योतन करने में तत्पर रहता है वह सुपुत्र ही कुलदीपक है वही माता के लिये सुखकारी होता है ऐसे पुत्र का होना ही सार्थक है क्योंकि वही कुल, देश वा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है ॥४५॥

अतोऽहं वेगतो गत्वा कृत्वा युद्धं च दारुणम् ।
 अहो नाहं गृहीष्यामि यावद्राज्यं कुलागतम् ॥६॥
 पितृव्यं संगरे जित्वा तावत्स्वास्थ्यं कुतोऽत्र मे ।
 विचिन्त्येति प्रजापालं प्रत्यवादीत् स तत्क्षणम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(अतो) इसलिये (अहं वेगतोगत्वा) मैं शीघ्र जाकर (दारुणम् युद्धं च कृत्वा) और दारुण-भयंकर युद्धकर (संगरे पितृव्यं जित्वा) युद्ध में चाचा को जीत कर (यावत्) जब तक (कुलागतम्) कुल परम्परा से प्राप्त (राज्यं) राज्य को (अहं न गृहीष्यामि) मैं नहीं ग्रहण करूँगा (अहो!) अरे ! (तावत्) तब तक (मे अत्र) मुझे यहाँ (स्वास्थ्यम्) स्वस्थता वा शान्ति (कुतो) कहाँ अर्थात् कैसे संभव है ? (इति विचिन्त्य) ऐसा विचार कर (तत्क्षणम्) उसी समय (स) उसने (प्रजापालं प्रति अवादीत्) राजा प्रजापाल को कहा—

राजन् यास्याम्यहं नूनं स्वदेशं पितृभूतये ।
 ततोऽवोचन् नृपो धीमन् अर्धराज्यं गृहाण मे ॥८॥

अन्वयार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (नूनं) निश्चय ही (अहम्) मैं (पितृभूतये) पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये (स्वदेशं) अपने देश को (यास्यामि) जाऊँगा (ततो) तब (धीमन् नृपो) बुद्धिमान् राजा प्रजापाल ने (अवाचन्) कहा (मे अर्धं राज्यं) मेरे आधे राज्य को (गृहाण) ग्रहण करो ।

भावार्थ—श्रीपाल महाराज ने उक्त प्रकार विचार कर यह निश्चय किया कि मैं शीघ्र ही जाकर, भयंकर युद्ध कर, चाचा को युद्ध में जीतकर अपना राज्य प्राप्त करूँगा । जब तक कुल परम्परा से प्राप्त अपने पिता के राज्य को नहीं लेता हूँ तब तक मुझे शान्ति नहीं हो सकती है । ऐसा मन में राज्य प्राप्ति के लिये ध्रुव विचार कर उसी समय उन्होंने राजा प्रजापाल को इस प्रकार कहा कि मैं अपने पिता की सम्पत्ति को पाने के लिये अपने देश जाऊँगा तब बुद्धिमान राजा प्रजापाल ने कहा कि हे महानुभाव ! आप मेरा आधा राज्य ग्रहण करें अर्थात् मैं अपना आधा राज्य आपको देता हूँ आप यहीं सुख पूर्वक निवास करें ॥६॥

तिष्ठान्नैव सुखेन त्वं किं साध्यं पितृराज्यतः ।

तन्नोचितं स इत्युक्त्वा संचचाल ततो द्रुतम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(त्वं) तुम (अत्रैव) यहीं (सुखेन तिष्ठ) सुख से ठहरो (पितृराज्यतः) पिता के राज्य से (किं साध्यं) क्या प्रयोजन ? (ततो) तब (तत् न उचितं) वह ठीक नहीं (इति उक्त्वा) ऐसा कहकर (द्रुतम्) शीघ्र (संचचाल) चल दिया अर्थात् प्रस्थान किया ।

भावार्थ—जब राजा प्रजापाल ने श्रीपाल महाराज को यह कहा कि तुम यहीं सुख से ठहरो और इस राज्य का भोग करो तब श्रीपाल महाराज ने कहा कि यह ठीक नहीं है अर्थात् शूरवीरों के लिये यह शोभनीय नहीं है । इस प्रकार कह कर शीघ्र ही वहाँ से चल दिया अर्थात् अपने राज्य की तरफ प्रस्थान कर दिया ॥६॥

सारशृंगारभार्याभिस्सर्वाभिः परिमण्डितः ।

जंगमः कल्पवृक्षो वा लताभिः परिवेष्टितः ॥१०॥

गजाश्व रथपादाति सहस्रैः परिवारितः ।

छत्र चामर सद्भृत्या चक्रवर्तीव धीधनः ॥११॥

अश्वपादाहत क्षोणिरजोभिस्छादयन् नभः ।

पतापनिजिताराति मंडलो वा दिवाकरः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सारशृंगार) सारभूत सुन्दर वस्त्राभरण से अलङ्कृत (सर्वाभिः भार्याभिः) सुन्दर स्त्रियों से (परिमण्डितः) मुसँज्जित अर्थात् चारो तरफ से वेष्टित हुए उस समय महाराज श्रीपाल ऐसे शोभित होते थे मानो (लताभिः परिवेष्टितः) लताओं से घिरा हुआ (जंगमः कल्पवृक्षो वा) पृथ्वीकाधिक कल्पवृक्ष ही हो । (गजाश्वरथपादातिसहस्रैः) हाथी, घोड़े, रथ और पादाति रूप सैकड़ों सैन्यदल में तथा (छत्रचामरसद्भृत्या) छत्र, चमर और

श्रेष्ठ सेवकों से (परिवारितः) परिवृत (धीवनः) बुद्धिमान श्रीपाल (चक्रवर्ती इव) चक्रवर्ती के समान शोभता था । (अश्वपादाहृत) घोड़ों के पैरों से क्षत विक्षत (शोणिरजोभिः) भूमि के रजकणों से (नभःछादयन्) आकाशमण्डल को ढकता हुआ तथा (प्रतापनिजितारति) प्रताप अर्थात् अपने शौर्यवीर्य से शत्रुओं को जीतने वाला वह श्रेणिक (दिवाकरावा) अन्धकार को सर्वथा नष्ट कर देने वाले सूर्य के समान प्रतीत होता था ।

अन्वयार्थ—अपनी नगरी चम्पापुरी की तरफ प्रस्थान करते समय विशाल परिकरों से घिरे हुए श्रेणिक महाराज ऐसे शोभते थे मानो चक्रवर्ती हो दिग्विजय के लिये प्रस्थान कर रहा हो । सुन्दर वस्त्राभरणों से अलंकृत देवाङ्गणों के लक्षण सुन्दर से ढाँढ़ें उन्नितारों अर्थात् स्त्रियों से वे परिमण्डित थे । तथा श्रेष्ठ सेवकों से घिरे हुए और सैकड़ों हाथी, घोड़े, रथ और पादाति सेना से सहित युद्ध के लिये जाते हुए वे श्रेणिक महाराज ऐसे प्रतीत होते थे मानो साक्षात् चक्रवर्ती ही हो । उस समय दीड़ते हुए घोड़ों के पैरों से क्षत विक्षत भूमि के रजकणों से पूरा आकाश मण्डल व्याप्त हो रहा था तथा अपने शौर्य वीर्य से समस्त शत्रुओं को जीतते हुए वे श्रेणिक महाराज आगे बढ़ते हुए, सूर्य के समान प्रभावशाली दीखते थे । जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है वैसे ही उनके तेज और प्रताप को देखते ही बलिष्ठ शत्रु भी शत्रुता छोड़ देते थे तथा चरणों में झुके हुए श्रीपालमहाराज की सेवा में सदा तैयार रहते थे । १० से १२।

तदा भूमिश्चचालोच्चैस्सैन्यसंदोहमर्दनात् ।

कम्पमाना च भोत्येव ससमुद्रा सपर्वता ॥१३॥

अन्वयार्थ—(तदा) उस समय (उच्चैःसैन्यसंदोहमर्दनात्) विशाल सैन्यबल वा सेना समूह के पैरों के मर्दन से (भूमिःचचालो) पृथ्वी हिलने लगी । (ससमुद्रा सपर्वता) समुद्र और पर्वतों से सहित (कम्पमाना) काँपती हुई वह पृथ्वी भी (भोत्येव) भयभीत ही हो गई थी ।

भावार्थ—जब श्रीपाल महाराज अपनी चम्पा नगरी को जा रहे थे तब उनकी विशाल सेना के पैरों के मर्दन से समुद्र और पर्वतों से सहित पृथ्वी भी काँपने लगी मानो वह भी उनके पराक्रम से डर गई थी । इस प्रकार का उनका पराक्रम लोक में अभूतपूर्व था । १३।

क्रमेण साधयन् देशान् नामयस्तत् प्रभून्बहून् ।

संग्रहन् साररत्नानि नानावस्तुशतानि च ॥१४॥

अन्वयार्थ—(क्रमेण) क्रम से एक के बाद एक (देशान् साधयन्) राज्यों को जीतते हुए (तत्) तद् स्थानीय (बहून् प्रभून्) बहुत राजाओं को (नामयन्) झुकाते हुए अर्थात् अपना सेवक बनाते हुए (च साररत्नानि) और सारभूत रत्नादि (नामा) अनेक प्रकार की (वस्तुशतानि) सैकड़ों वस्तुओं का (संग्रहन्) संग्रह करता हुआ वह धीमान् श्रीपाल आगे बढ़ता गया । १४।

जिनेन्द्रसदनाद्युद्यद्वाद्यध्वनातिमंगलाम् ।

सौधप्रासादसत्केतुमालाभिस्तजितांविबम् ॥१५॥

स्वचम्पानगरीं गत्वा तद्वाह्येन्यवसत् सुधीः ।

ततोऽसौ प्राहिणोद् भद्रं पितृव्यं प्रति संधये ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अतिमंगलावाद्यध्वनि) अति मङ्गलमय मधुर वाद्य ध्वनि से गुञ्जित (उद्यद्जिनसदनानि) उन्नत जिन भवन जहाँ है और (सौधप्रासाद सत्केतुमालाभिः) महलों वा उन्नत भवनों के ऊपर फहराती हुई ध्वजाओं और मालाओं से (तजितादिवं) स्वर्ग की शोभा को भी तजित करने वाली तिरस्कृत करने वाली (स्वचम्पानगरीं गत्वा) अपनी चम्पानगरी में पहुँच कर (सुधीः) वह बुद्धिमान श्रीपाल (तद्वाह्येन्यवसत्) उसके बाहर में ठहर गया (ततो) तदनन्तर(असौ) उसने(पितृव्यं प्रति संधये) चाचा के प्रति संधि के लिये(भद्रं) भद्र नामक दूत को (प्राहिणोद्) भेज दिया ।

भावार्थ—वह चम्पा नगरी अपनी विभूति और शोभा से स्वर्ग का भी तिरस्कृत करने वाली थी वहाँ विशाल-विशाल प्रासाद महल तथा उन्नत जिन भवन थे जिन पर सुन्दर ध्वजाएँ फहराती हुई अपनी गुरुता-गरिमा को प्रदर्शित कर रही थीं उन ध्वजाओं के साथ शिखर पर रत्नमयी सुन्दर मालायें भी लटक रही थीं जो अपनी विभूति विशेष को प्रकट करती हुई सबको आकृष्ट कर रही थीं ऐसी उस चम्पा नगरी में पहुँचकर श्रीपाल महाराज नगरी के बाहर ही ठहर गये और चाचा वीरदमन के प्रति संधि के लिये भद्र नामक दूत को भेजा । स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति रखने वाला वह भद्र नामक दूत भी शीघ्र राजा वीरदमन के पास पहुँच गया । ॥१५, १६॥

सोऽपि गत्वा द्रुतं वीरदमनाख्यं जगाद च ।

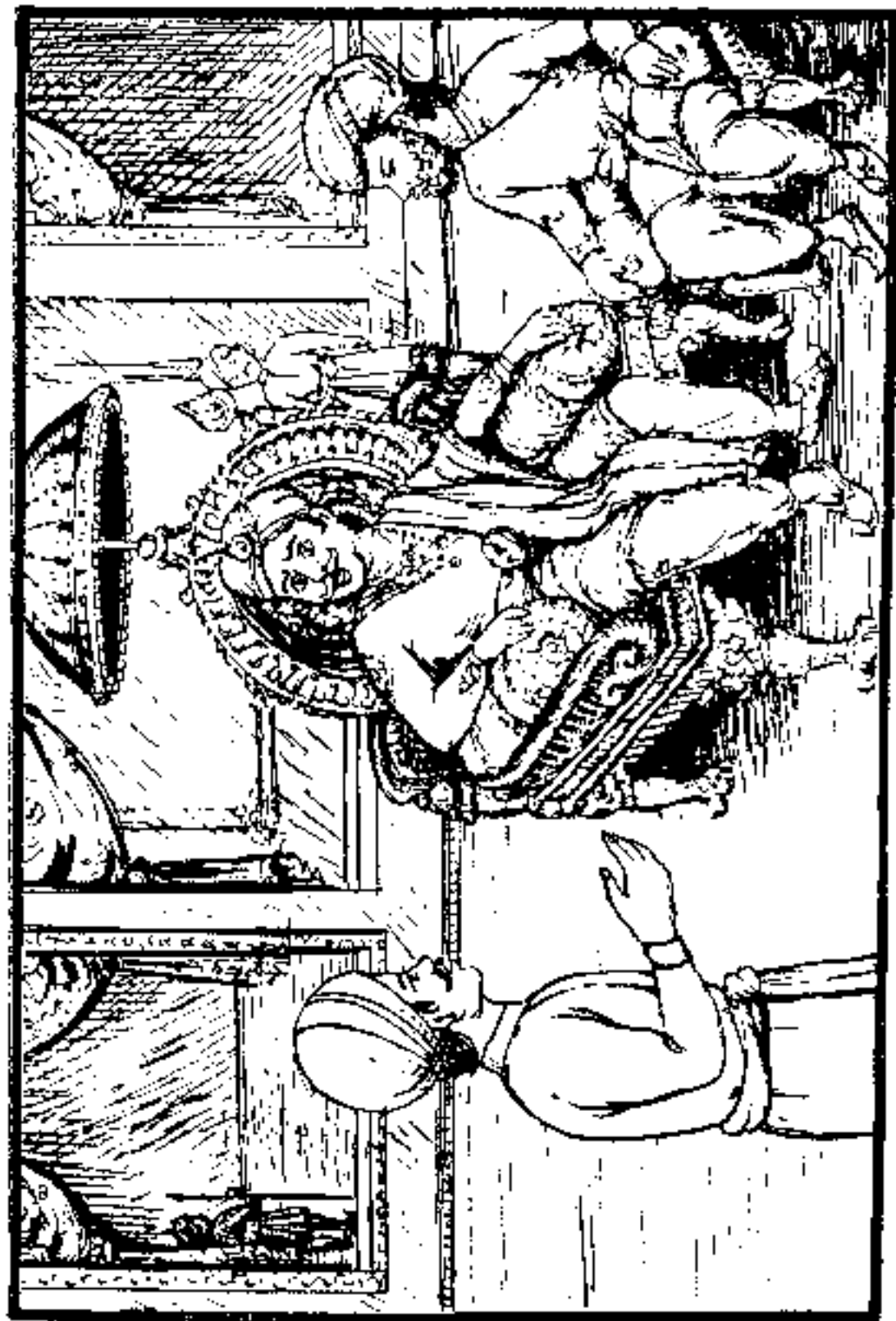
भो प्रभोऽत्र समायातः श्रीपालः पालितारिखलः ॥१७॥

सर्वदेशान् समासाद्य गृहीत्वा सारसम्पदम् ।

महासैन्यशतेनोच्चैर्महासामर्थ्य संयुतः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(च) और (सोऽपि) वह भद्रनामक दूत भी (वीरदमनाख्यं) वीरदमन नामक राजा के पास (द्रुतंगत्वा) शीघ्र जाकर (जगाद) बोला (भो प्रभो) हे प्रभु ! (सर्वदेशान् समासाद्य) सभी देशों को पहुँच कर (सारसम्पदम् गृहीत्वा) सारभूत सम्पदा को लेकर (महासैन्यशतेनोच्चैः) सैकड़ों विशाल महासैन्य के द्वारा (महासामर्थ्यसंयुतः) बहुत बड़ी शक्ति से सहित (पालितारिखलः) सम्पूर्ण देशवासी जिसके रक्षक है ऐसा (श्रीपालः) श्रीपाल (अत्र-समायातः) यहाँ आया है ।

भावार्थ—उस दूत ने वीरदमन राजा को सर्वप्रथम राजा श्रीपाल का संक्षिप्त परिचय दिया और कहा कि सम्पूर्ण देशों को जीतते हुए, वहाँ की सारभूत सम्पदाओं को लेकर, महासैन्य रूप विशाल शक्ति से सहित, वह श्रीपाल यहाँ आया है जिसकी सेवा में सभी राजा और देशवासी सदा तत्पर रहते हैं ।



श्रीपाल महाराज के इत के बचन सुनकर राजा वीरदमन अति क्रुद्ध हुए ।

तेनाहं प्रभूना दत्त्वा प्राभूतं प्रेषितः प्रभो ।

गृहाण देव पत्रं च भृणूत्वम् तेन भाषितम् ॥१६॥

राजंस्त्वाम् भ्रातृजो यः प्राग् बाल्ये देशान्तरम् गतः ।

श्रीपाल भूपतिस्सोऽग्राद्यायातस्साधयन्नृपान् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(प्राभूतं पत्रं च दत्त्वा) उपहार रूप सामग्री और पत्र देकर (तेन प्रभुना) उस राजा के द्वारा (प्रभो) हे प्रभु ! (अहं प्रेषितः) मैं भेजा गया हूँ (तेन भाषितं) उनके द्वारा कहे गये आज्ञा रूप वचन को (त्वम्भृणू) तुम सुनो (च) और (देव) हे देव ! (पत्रं गृहाण) पत्र को ग्रहण करो (राजन्) हे राजन् ! (यः प्राग्त्वद्भ्रातृजो) जो पहले तुम्हारा भतीजा था और (बाल्ये) बाल्य अवस्था में (देशान्तरम् गतः) देशान्तर को चला गया था (सो) वह (साधयन् नृपान्) अनेक राजाओं को जीतता हुआ (भूपतिः श्रीपाल) राजा श्रीपाल (अद्य-अत्र आयातः) आज यहाँ आया है ।

भावार्थ—उसने कहा हे राजन् ! उस श्रीपाल महाराज ने आपके लिये भेट रूप सामग्री और पत्र देकर मुझे यहाँ भेजा है आप उनके आदेश रूप वचन को सुने और उपहार तथा पत्र को ग्रहण करें । वह दूत कहने लगा कि हे भूपति ! जो पहले तुम्हारा भतीजा था और बाल्यकाल में ही देशान्तर को चला गया था वह अपने उत्कृष्ट बल, शौर्य वीर्य से समस्त राजाओं को जीतता हुआ आज यहाँ आया है ॥१६ २०॥

तस्मै तत् पितृ राज्यं त्वं समर्प्य तिष्ठ शर्मणा ।

भृत्य त्वां प्रतिपद्याशु नो चेद् देशान्तरं व्रज ॥२१॥

इत्यादिकं समाकर्ष्य वचोहरदचोरिवलम् ।

स वीरदमनप्राह प्रभुः कोपाग्नि दीपितः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(तस्मै) उस श्रीपाल महाराज को (तत्पितृ राज्यं समर्प्य) उनके पिता के राज्य को समर्पित कर (त्वं शर्मणा तिष्ठ) तुम सुख पूर्वक ठहरो (आशु) शीघ्र (भृत्यप्रति-पद्य) सेवकपने की स्वीकार कर रहो (नो चेद्) यदि नहीं, तो (देशान्तरं व्रज) देशान्तर को गमन करो (वचोहर इत्यादिकं वचारिवलम्) दूत के इस प्रकार के सम्पूर्ण वचन को सुनकर (कोपाग्निदीपितः) क्रोध से उद्दीप्त हुआ प्रज्वलित हुआ (स प्रभुः वीरदमन) वह राजा वीर-दमन (प्राह) बोला—

भावार्थ—पुनः दूत ने कहा कि आप श्रीपाल महाराज को उनके पिता का राज्य समर्पित कर सुखपूर्वक ठहरे और शीघ्र उनके सेवकत्व को स्वीकार करें अन्यथा देशान्तर को गमन करें । दूत के इस प्रकार के सम्पूर्ण वचनों को सुनकर क्रोध से उद्दीप्त हुआ वह राजा वीरदमन बोला—॥२१ २२॥

किं ते श्रीपाल-कोपाग्निः किं ते सैन्यं तृणोपमम् ।
 एकोऽहं सकलान् शत्रून् जित्वा घोरे रणाङ्गणे ॥२३॥
 भास्कर इव तमस्तोमं प्रेषयित्वा यमालयम् ।
 श्रीपालं तं करिष्यामि स्वनाम सकलं क्षितौ ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ते) उस (श्रीपालकोपाग्निः) श्रीपाल की क्रोधाग्नि (किं) क्या कर सकती है ? (तृणोपमम्) तृण के समान (ते सैन्यं किं) उसकी सेना क्या कर सकती है ? (घोरे रणाङ्गणे) घोर युद्ध भूमि में (एकोऽहम्) मैं अकेला (सकलान् शत्रून् जित्वा) सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतकर (तमस्तोमं भास्कर इव) जैसे सूर्य गहन अन्धकार को शीघ्र नष्ट कर देता है उस प्रकार (तं श्रीपालं) उस श्रीपाल को (यमालयम्) यमालय को (प्रेषयित्वा) भेज कर (क्षितौ) पृथ्वी पर (स्वनाम) अपना नाम (सकलं करिष्यामि) सकल करूँगा ॥२३ २४॥

भावार्थ—हे श्रीपाल का बचोहर दूत ! उस श्रीपाल की अल्प क्रोधाग्नि मेरा क्या कर सकती है ? और तृण के समान शक्तिहीन उसकी सेना भी मेरा क्या कर सकती है ? जैसे सूर्य, सघन अन्धकार को भी शीघ्र नष्ट कर देता है उसी प्रकार मैं अकेला ही युद्ध भूमि में सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतकर और उस श्रीपाल को तत्काल यमालय में भेजकर अपनी वशोक्ति से इस पृथ्वी को व्याप्त कर दूँगा अथवा पृथ्वी पर अपना नाम सफल करूँगा ।

तन्निशम्य पुनर्दूतो जगादित्थं त्वया प्रभो ।
 क्रियते किं वृथा गर्वो मानभङ्गस्य कारणम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तन्निशम्य) राजा वीरदमन के उस वचन को सुनकर (दूतो पुनः इत्थं जगौ) दूत ने पुनः इस प्रकार कहा (प्रभो !) हे राजन् (वृथा किं गर्वो क्रियते त्वया) तुम व्यर्थ में क्यों ऐसा गर्व करते हो ? जो (मानभङ्गस्य कारणम्) मान भङ्ग का कारण है ।

भावार्थ—उस दूत ने राजा वीरदमन को कहा कि हे राजन् ! तुम्हारा मिथ्या अहङ्कार मान भङ्ग का कारण है अतः व्यर्थ का अहंकार मत करो । श्रीपाल महाराज की शक्ति की परख करो ॥२॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्या गौर्जरामालवादयः ।
 कौकुणाश्च महीपालास्तं लङ्गास्सैहलास्तथा ॥२६॥
 सेवन्ते त्वत् समास्सर्धे भूपाला बहवो ध्रुवम् ।
 श्रीपालनाम-भूपालं पालितारिवलमण्डलम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्या) अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग आदि देश (तथा) तथा (गौर्जरा-मालवादयः) गुजरात, मालवादि देश (कौकुणाः तैलङ्गाः सैहलाः च) और कौङ्कुण, तैलगु और

सिंहलादि देश (त्वत् समाः सर्वे बहवोभूपालाः) तुम्हारे समान सभी अर्थात् बहुत राजागण (पालितारिवलमंडलम्) सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल का रक्षण वा पालन करने वाले (श्रीपालनाम-भूपालं) श्रीपाल नामक राजा की (सेवन्ते) सेवा करते हैं ।

भावार्थ—वृत्त दूत, महाराज श्रीपाल की शक्ति की महानता को व्यक्त करते हुए कहने लगा कि अङ्ग देश, वङ्ग देश, कलिङ्ग, गुजरात और मालवादि देश तथा कौङ्कुण, तेलम् और सिंहलादि देशवर्ती सभी राजा और तुम्हारे समान बहुत राजागण सदा उस श्रीपाल महाराज की सेवा में तत्पर रहते हैं उस कोटिभट श्रीपाल का बल अतुल है अतः तुम मिथ्या अहंकार मत करो । तुम्हारा यह भूठा अहङ्कार मान भङ्ग का कारण है अतः अहङ्कार को छोड़कर श्रीपाल महाराज के सेवकत्व को स्वीकार करो । २६ २७।

ततः कोपं परित्यज्य भो प्रभो सुभटोत्तमम् ।

कोटिभटं स्वरक्षार्थं भज त्वां स्वामिनं मम ॥२८॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिये (भो प्रभो !) हे राजन् (कोपं परित्यज्य) क्रोध को छोड़ कर (स्वरक्षार्थं) अपनी रक्षा के लिये (त्वम्) तुम (मम स्वामिनं) मेरे स्वामी (कोटिभटं सुभटोत्तमं) कोटिभट वीरोत्तम श्रीपाल को (भज) सेवो अर्थात् श्रीपाल की सेवा में तत्पर हो जाओ ।

भावार्थ—दूत ने पुनः राजा वीरदमन को कहा कि तुम अपनी रक्षा के लिये क्रोध को छोड़कर वीरोत्तम कोटिभट श्रीपाल का सेवकत्व स्वीकार करलो ॥२८॥

वीरादिदमनो राजा तदाकोपेन संजगौ ।

अरे दूत त्वरं याहि यतो बद्ध्यो स नैव च ॥२९॥

अद्यैव दर्शयिष्यामि सामर्थ्यं त्वां रणाङ्गणे ।

एवं विसर्ज्य तं दूतं स्वयं च रणतूर्यकम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (कोपेन) क्रोध से (वीरादिदमनो राजा) वीरदमन राजा ने (संजगौ) कहा (अरे दूत !) हे दूत ! (त्वरं याहि) शीघ्र जाओ (यतो) क्योंकि (बद्ध्यो स नैव च) वह अर्थात् दूत निश्चय से बध्य नहीं होता है । (अद्यैव) आज ही (रणाङ्गणे) युद्धस्थल में (त्वां सामर्थ्यं) अपने सामर्थ्य को (दर्शयिष्यामि) दिखा दूँगा (एवं) इस प्रकार (तं दूतं) उस दूत को (विसर्ज्य) भेजकर (च) और (स्वयं रणतूर्यकम्) स्वयं रण भेरी बजवादी ।

दापयित्वा समारुह्य मत्तमातङ्गं मुत्तमम् ।

चतुरङ्गबलोपेतश्चामरादि विभूतिभिः ॥३१॥

तेन सार्द्धं पदायुद्धं प्रकर्तुं निर्ययी जवात् ।

तदा क्षत्रियभार्याश्च स्वंःस्वं नाथं जगुः किल ॥३२॥

जित्वा शत्रून् हो स्वामिन् हत मातङ्ग मस्तकात् ।

महामुक्ताफलान्युच्चैस्त्वं समानय मे प्रभो ॥३३॥

अन्वयार्थ—वह वीरदमन (दापयित्वा) भेरी बजवा कर (मलमातङ्गमुत्तमम् समा-
रुह्य) मदोन्मत्त श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर (चतुरङ्गबलोपेतः) चतुरङ्ग बल सहित (चामरादि-
विभूतिभिः तेन सार्द्धं) चामरादि विभूतियों से युक्त-सहित (जवात्) शीघ्र (युद्धप्रकर्तुं) युद्ध
करने के लिये (निर्ययी) निकल गया (तदा) तब (क्षत्रियभार्याः) क्षत्रिय स्त्रियों ने (स्वं स्वं नाथं)
अपने अपने स्वामी को (जगुः) कहा (अहो स्वामिन्) हे स्वामी (किल) निश्चय से (शत्रून्
जित्वा) शत्रुओं को जीतकर (हतमातङ्ग मस्तकात्) मरे हुए हाथियों के मस्तक से (उच्चैः)
श्रेष्ठ) महामुक्ताफलानि) महामुक्ताफलों मोतियों को (मे) मेरे लिये (समानय) लाओ ।

भावार्थ—वह वीरदमन राजा रणभेजी बजवाकर मदोन्मत्त श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर
चतुरङ्ग बल (हाथी, घोडा, रथ, पयादे) सहित चामरादि विभूतियों से युक्त शीघ्र युद्ध करने
के लिये निकल गया । तब क्षत्रिय स्त्रियों ने अपने अपने पति-स्वामि से कहा कि हे प्रभो !
निश्चय से आप शत्रुओं को जीतकर मरे हुए हाथियों के मस्तक से श्रेष्ठ गजमुक्ताओं को लेकर
आओ, अर्थात् हमारे लिये गज मोती लाओ । इस प्रकार क्षत्रिय कुलवर्ती स्त्रियों ने, अपने
पति के विजय की मङ्गल कामना प्रगटकर, उनको मोत्साह युद्ध के लिये विदा किया ॥३२॥३३॥

काचिज्जगाद भो नाथ यशोराशिसमुज्ज्वलम् ।

जित्वा रिपून् सुधीर्देया त्वां मे रत्नकदम्बकम् ॥३४॥

काचिदूचे प्रभो युद्धे निराकृत्य द्विषोभटान् ।

कीर्तिकान्त्या जगद्विष्वां कुर्याद् चन्द्रवदज्ज्वलम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—(काचित्) और भी किसी स्त्री ने (जगाद) कहा कि (भो नाथ) हे
स्वामिन् ! (यशोराशिसमुज्ज्वलम्) निमल यश रूप सम्पत्ति को प्राप्त कर (रिपून् जित्वा)
(शत्रुओं को जीतकर (सुधीः त्वम्) उत्तम बुद्धि को धारण करने वाले तुम (मे) मुझे (रत्न-
कदम्बकम्) रत्नराशि (देया) प्रदान करना (काचित् ऊचे) किसी स्त्री ने कहा (प्रभो) हे
स्वामिन् आप ! (युद्धे) युद्ध में (द्विषोभटान्) शत्रुपक्ष के योद्धाओं को (निराकृत्य) हराकर
(चन्द्रवत् उज्ज्वलम्) चन्द्रमा के समान धवल (कीर्तिकान्त्या) कीर्ति रूपी कान्ति से (जगद्
विश्वं कुर्याद्) सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करें ।

भावार्थ—किसी स्त्री ने युद्ध में जाते हुए अपने पति के प्रति मङ्गल कामना प्रकट
करते हुए कहा कि आप निर्मल यश रूपी सम्पत्ति को प्राप्त करें । हे स्वामिन् ! उत्तम बुद्धि
को धारण करने वाले आप शत्रुओं को शीघ्र जीतकर मुझे रत्न राशि प्रदान करें । किसी स्त्री

ने अपने पति को कहा कि हे प्रभो ! युद्ध में वीर शत्रुओं को जीतकर आप अपनी धवल प्रभा से विश्व को व्याप्त करने वाले चन्द्रमा के समान कीर्ति रूपी कान्ति से इस भूतल को व्याप्त करें । इस प्रकार की मङ्गलकामना के साथ उन वीराङ्गनाश्रों ने अपने अपने स्वामी को युद्ध स्थल के लिये विदा किया ॥३४ ३५॥

भटस्य जननी काचित्सती प्राह सुतं प्रति ।
अरे पुत्र रणेचापि स्मर्त्तव्याः निज मानसे ॥३६॥
सारपञ्चनमस्कारास्सर्वसिद्धि विधायकाः ।
येन ते कार्यं संसिद्धिस्सद्यशोभिर्जगत्त्रये ॥३७॥

अन्वयार्थ—(भटस्य जननी) वीर सुभट की माता ऐसी (काचित् सती) किसी शीलवती ने (सुतं प्रति प्राह) पुत्र के प्रति कहा (अरे पुत्र !) हे पुत्र ! (रणे) युद्ध में (अपि) भी (निजमानसे) अपने मन में (सर्व सिद्धि विधायकाः) सर्व सिद्धियों को प्रदान करने वाले (सारपञ्चनमस्काराः) सारभूत पञ्च नमस्कार मंत्र का (स्मर्त्तव्याः) स्मरण करो (येन) जिससे (जगत्त्रये) तीन लोक में (सद्यशोभिः) उत्तम-निर्मल यश के साथ (ते कार्यं) तुम्हारे कार्य की (संसिद्धिः) सम्यक् प्रकार सिद्धि हो सके ।

भावार्थ शीलवती श्रेष्ठ किसी वीर सुभट की माता ने अपने पुत्र के प्रति कहा हे पुत्र ! युद्ध स्थल में भी तुम समस्त कार्यों की सम्यक् सिद्धि कराने वाले उस पञ्चनमस्कार मंत्र का सदा स्मरण रखना । उस पञ्चनमस्कार मन्त्र के प्रभाव से तुम, लोक में निर्मल यश से विश्व को व्याप्त करते हुए श्रेष्ठ विजय को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हो ॥३६ ३७॥

भवेदुच्चैः प्रजल्प्येति दधिचन्दनमक्षतान् ।
दधौ पुत्र-शिरोदेशे ललाटे च शुचान्विता ॥३८॥
एवं शिक्षाशतोपेतैर्भटैस्सार्थं विनिर्ययौ ।
स वीर्यदमनो राजा सञ्जेतुं भ्रातृजन्तुजम् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(भवेद् उच्चैः) श्रेष्ठ विजय की प्राप्ति होवे (इति) ऐसा (प्रजल्प्य) कह कर (शुचान्विता) मङ्गलमय पवित्र भावों से सहित माता ने (पुत्रशिरोदेशे) पुत्र के मस्तक प्रदेश में (ललाटे) ललाट पर (दधिचन्दनम् अक्षतान्) दही, चन्दन अक्षतों को (दधौ) क्षेपण किया (एवं) इस प्रकार (शिक्षाशतोपेतैः) सैकड़ों शिक्षावचनों से संस्कृत किये गये (भटैः सार्थं) भटों के साथ (भ्रातृजन्तुजम्) भतीजे को (सञ्जेतुम्) जीतने के लिये (स राजा वीर्यदमनो) वह राजा वीर्यदमन (विनिर्ययौ) नगरी से बाहर निकला ।

भावार्थ—निरन्तर पुत्र के विजय की कामना करने वाली सुभटों की मातायें, मङ्गलमय पवित्र भावों से सहित पुत्र को कहने लगीं कि तुम शीघ्र श्रेष्ठ विजयलक्ष्मी को

प्राप्त करो, यशोकीर्ति से विश्व को व्याप्त करो । इत्यादि सैकड़ों आशीर्वचन तथा शिक्षा वचनों को कहते हुए उन्होंने अपने-अपने पुत्र के मस्तक पर और ललाट भाग पर दही, चन्दन अक्षतों का क्षेपण किया और उत्साह वर्धक वचनों के साथ उन्हें युद्ध के लिये विदा किया । इस प्रकार सैकड़ों भटों के साथ वह राजा वीरदमन भतीजे-श्रीपाल को जीतने के लिये नगरी से बाहर निकला ॥३८ ३९॥

दूतोदितं समाकर्ण्य श्रीपालो विमलः प्रभूः ।

कुपित्वा सन्मुखं प्राप यमस्योपरि वामः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(दूतोदितं समाकर्ण्य) दूत के द्वारा कहे गये वचनों को सुनकर (विमलः प्रभुः) निर्मल श्रेष्ठ गुणों के धारी राजा (श्रीपालो) श्रीपाल (कुपित्वा) क्रोधित होकर (सन्मुखं प्राप) वीरदमन के सन्मुख आ गया जो ऐसे प्रतीत होते थे मानो (यमस्योपरि वा यमः) यम के ऊपर यम आ गया है अर्थात् दोनों की मुद्रा यमराज के समान दीखती थी ।

साधार्थ—उसी समय अपने दूत के वचनों को सुनकर क्रोधित हुआ श्रीपाल भी रण क्षेत्र में आ गया । वीरदमन के सन्मुख उपस्थित क्रोधाविष्ट श्रीपाल को देखकर यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो यम के ऊपर यम ही आ गया है । अर्थात् दोनों यमराज के समान भयङ्कर दीखते थे । परस्पर एक दूसरे को मारने के लिये तत्पर उनकी क्रूर दृष्टि यमराज के समान भयकारी थी ॥४०॥

ततस्तयोर्महायुद्धे नानाशस्त्रसहस्रकैः ।

अश्वैर्गजैरथैस्तुङ्गैः पादातिजनवृन्दकैः ॥४१॥

प्रवर्त्तने स्वराज्यार्थं क्षीयमाने भटोत्करैः ।

तदा मन्त्रिवरैर्वीक्ष्य तयोर्घुर्द्धं प्रजाक्षयम् ॥४२॥

आज्ञा जैनैश्वरीं दत्त्वा देवेन्द्राद्यैस्समर्चिताम् ।

सैन्ययोश्च द्वयोः प्रोक्तं श्रूयतां भो प्रभोत्तमौ ॥४३॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (नानाशस्त्रसहस्रकैः) नाना प्रकार के हजारों शस्त्रों से (अश्वैर्गजैरथैस्तुङ्गैः) विशाल-विशाल हाथी, घोड़ा और रथों से (पादातिजनवृन्दकैः) पैदल चलने वाली सेना समूह से युक्त (भटोत्करैः) सुभटों से होने वाले (तयोः) उन दोनों राजाओं के (क्षीयमाने युद्धे) विनाशकारी युद्ध में (स्वराज्यार्थं) अपने राज्याधिकार के लिये (प्रवर्त्तने) प्रवर्तित होने पर (तदा) उस परिस्थिति में (प्रजाक्षयम्) प्रजा का क्षय करने वाले (तयोः) उन दोनों के युद्ध को (वीक्ष्य) देखकर (मन्त्रिवरैः) श्रेष्ठ मन्त्रियों ने (देवेन्द्राद्यैस्समर्चिताम्) देवेन्द्र आदि से समर्चित ऐसी (आज्ञां जैनैश्वरीं) जिनाज्ञा प्रदान कर (द्वयोः सैन्ययोश्च) और दोनों पक्षों की सेनाओं के राजाओं को (प्रोक्तम्) कहा (भो प्रभोत्तमौ) हे श्रेष्ठ राजाओ ! (श्रूयताम्) सुनें--

भावार्थ - दोनों पक्षों को शक्तिशाली देखकर मंत्रियों ने विचार किया कि नाना प्रकार के हजारों शस्त्रों से सहित सुभटों के द्वारा तथा विशाल-विशाल हाथी, घोड़े, रथ तथा पादाति सेनाओं के द्वारा होने वाला यह युद्ध विनाशकारी है, प्रजा का क्षय करने वाली है अतः उन दोनों पक्षों के राजाओं को, देवेन्द्रादि से समचित्त जिनाजा प्रदान कर वहा कि हे राजाओं ! आप सम्यक् प्रकार तुम —॥४१ से ४३॥

जैनेश्वरं वचः पूतं सर्वप्राणिहितङ्करम् ।

तादृशां महतां गोत्रे युद्धं मम न युज्यते ॥४४॥

अतो मा म्रियतां लोको वराको भटः कोऽपि च ।

युद्धं युवां स्वसामर्थ्यात् कुरुतं सेनया बिना ॥४५॥

अन्वयार्थ—(सर्वप्राणिहितङ्करम्) सभी प्राणियों का हित करने वाला ऐसा (पूत) पवित्र (जैनेश्वरं वचः) जिनेंद्र भगवान का वचन है (तादृशां महतां गोत्रे) उस प्रकार के अर्थात् जिनेंद्र प्रभु पवित्र कुल गोत्र में उत्पन्न हमारे बीच (युद्धं) विनाशकारी युद्ध होवे यह (मम न युज्यते) मुझे ठीक नहीं जँचता है । (अतो) अतः (वराको) निर्दोष, निरपराध (लोको) लोग (भटः कोऽपि च) और कोई भी भट (मा म्रियतां) न मरे इसके लिये (युवां) तुम दोनों (सेनया बिना) सेना के बिना (स्वसामर्थ्यात्) अपनी सामर्थ्य से (युद्धं कुरुतं) युद्ध करो ।

भावार्थ—जिनेंद्र भगवान के वचन सभी प्राणियों का हित करने वाले हैं प्राणिमात्र का हित करने वाले उस पवित्र जिन कुल में उच्च गोत्र में उत्पन्न हिंसात्मक युद्ध होना मुझे अच्छा नहीं दीखता है अतः जिन कुल की पवित्रता को दृष्टि में रखकर और प्रजा की सुरक्षा हेतु आप दोनों ही परस्पर युद्ध करें । निर्दोष निरपराध सुभटों और प्रजाजनों का जिससे क्षय न होवे ऐसा, सेनाओं के बिना ही युद्ध करना, आप दोनों के लिये भी श्रेयकारी होगा । इस प्रकार मंत्रियों ने दोनों पक्ष के राजाओं से निवेदन किया ॥४४ ४५॥

युवयोरत्र मध्ये यो जयप्राप्नोति सङ्गरे ।

स्वामी स एव राज्यस्य किं साध्यं सुभटक्षयैः ॥४६॥

मल्लयुद्धं प्रयुद्धेताम् युवां साम्प्रतमुत्तमौ

मन्त्रिवाक्यमिदं श्रुत्वा तौ द्वौ युद्धं प्रचक्रतुः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ (युवयोः मध्ये) तुम दोनों के बीच (सङ्गरे) युद्ध में (यो) जो (जयप्राप्नोति) विजयी होता है (स एव राज्यस्य) वही राज्य का (स्वामी) स्वामी होगा (किं साध्यं सुभटक्षयैः) सुभटों के क्षय से क्या प्रयोजन ? (साम्प्रतं) अतः अभी (उत्तमौ) श्रेष्ठ (युवां) आप दोनों (मल्लयुद्धं) मल्लयुद्ध (प्रयुद्धेताम्) करें (इदं) इस (मन्त्रिवाक्यं) मन्त्रि के वचन को (श्रुत्वा) सुनकर (तौ द्वौ) उन दोनों ने (युद्धं) युद्ध (प्रचक्रतुः) प्रारम्भ किया ।

भावार्थ—मन्त्रियों ने कहा कि हे प्रजापालक ? प्रजाजनों वा श्रेष्ठ सुभटों का विनाश न होवे इसके लिये आप दोनों ही परस्पर यहाँ मल्ल युद्ध करें । उस मल्लयुद्ध में जो विजयी होगा वही राज्य का अधिकारी होगा । उन श्रेष्ठ राजाओं ने मन्त्रियों के वचन स्वीकार कर वहाँ परस्पर मल्लयुद्ध करना प्रारम्भ कर दिया ॥४६॥ ४७॥

मल्लयुद्धे तयोस्तत्र पादसंघातताडनैः ।

धरातलं च प्रीत्येव रसातलमलं ययौ ॥४८॥

बाहुदण्डैः प्रचडैश्च दण्डिनोऽपि भयङ्करैः ।

वल्गनैर्बलनैश्चाऽपि प्रतारणरवैः परैः ॥४९॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (तयोः) उन दोनों के (मल्लयुद्धे) मल्लयुद्ध में (पादसंघात-ताडनैः) पादसंघात तथा पादप्रहारों से (प्रीत्या एव) हर्ष वा प्रीति से (धरातलं) मानों पृथ्वी (रसातलं) रसातल का (ययौ) चली गई (अलं एव) बस, युद्ध की भयङ्करा का बोध कराने के लिये इतना ही कहना पर्याप्त है । (दण्डिनोऽपि भयङ्करैः) दण्डे से भी अधिक कठोर वा भयकारी (प्रचण्डैः बाहुदण्डैः) प्रचण्ड भुजा दण्डों से (च) और (वल्गनैर्बलनैः) गरजने और पेंतरा बदलने से (परैः प्रतारणरवैः अपि) और एक दूसरे के प्रतारण से उत्पन्न स्वरों से (दोनों में भयंकर युद्ध होता रहा) ।

भावार्थ—दोनों ही राजा अति बलिष्ठ थे । दण्डे से भी अधिक भयकारी उनकी प्रचण्ड दोनों भुजाये थीं जिनसे वे एक दूसरे को प्रतारित कर रहे थे उस प्रतारण से भयङ्कर आवाज हो रही थी तथा उनके पाद प्रहार से ताडित पृथ्वी भी उनके शौर्य वीर्य से प्रीति को प्राप्त हुई । वस्तुतः धरातल को ही चली गई थी, ऐसा कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी अर्थात् उनका युद्ध अत्यन्त भयङ्कर था । अपनी सुरक्षा के लिये पेंतरा बदलते हुए साथ में भयङ्कर गर्जना करते हुए मल्लयुद्ध करने वाले वे दोनों सुभट हृदय को कम्पित करने वाले थे । ॥४८॥ ४९॥

मल्लयुद्धं चिरं तौ द्वौ चक्रतुर्भटसत्तमौ ।

यथादि चक्रवद्बाहुवलिनी बलशालिनी ॥५०॥

अन्वयार्थ—(बलशालिनी) बलिष्ठ (आदिचक्रवद्बाहुवलिनी यथा) प्रथम चक्रवर्ती भरत और बाहुबली के समान (तौ द्वौ) वे दोनों (भटसत्तमौ) श्रेष्ठसुभट (चिरं) चिरकाल तक (मल्लयुद्धं) मल्लयुद्ध (चक्रतुः) करते रहे ।

भावार्थ—प्रथम चक्रवर्ती भरत और बाहुबली के समान वे दोनों सुभटोत्तम बहुत समय तक इसी प्रकार मल्लयुद्ध करते रहे ॥५०॥

एवं युद्धं विधायोच्चैः श्रीपालस्सुभटाग्रिभिः ।

वीरादिदमनं जित्वा बबन्धकिल पौरुषात् ॥५१॥

अन्वयाथ—(एवं उच्चैः युद्धं विधाय) इस प्रकार घोर युद्ध कर (सुभटाग्रणिः) सुभटों में अग्रगण्य (श्रीपालः) श्रीपाल ने (वीरादिदमनं) वीरदमन को (जित्वा) जीतकर (पौरुषात्) पौरुष से अर्थात् अपने बल से (किल) निश्चय से (बबन्ध) बाँध दिया।

भावार्थ—कोटिभट सुभटों में अग्रगण्य श्रीपाल ने भयङ्कर युद्ध कर उस वीर दमन राजा को अपने आश्चर्यकारी पौरुष बल से जीत लिया और बाँधकर डाल दिया ॥५१॥



सत्यं जयो भवेन्नित्यं भूतले पुण्यशालीनाम् ।

तथा लक्ष्मीश्च कीर्तिश्च तेषां किञ्चिन्न दुर्लभः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(भूतले) पृथ्वी पर (पुण्यशालीनाम्) पुण्यवान् जीवों की (नित्यं) सदा (जयो भवेत्) विजय होती है (सत्यं) यह सत्य है। (तथा) तथा (तेषां) उनके (लक्ष्मीः च कीर्तिः च) धनादि वैभव सम्पत्ति और यश कीर्ति आदि (किञ्चित् न दुर्लभः) कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

भावार्थ—यह बात पूर्ण सत्य है कि इस पृथ्वी पर जो पुण्यशाली जीव हैं उनकी सदा विजय होती है। लक्ष्मी कीर्ति आदि कुछ भी उनके लिये दुर्लभ नहीं है। दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी उसे पुण्य से अनायास ही प्राप्त हो जाती है ॥५२॥

तदा ते साक्षिणस्सर्वे श्रीपालस्य च सैन्यकाः ।

जय कोलाहलं चक्रुः परमानन्द निर्भराः ॥५३॥

वीरादिदमनो राजा चक्रे म्लानं मुखाम्बुजम् ।

रात्रौ हि हिमपातेन यथा पद्माकरो भुवि ॥५४॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (परमानन्द निर्भराः) परम आनन्द से भरे हुए (श्रीपालस्य साक्षिणः) श्रीपाल के पक्ष वाले (ते सैन्यकाः) उन सैनिकों ने (जय कोलाहलं) जय रूप कोलाहल (चक्रुः) किया और (वीरादिदमनो) वीरदमन (राजा) राजा ने (मुखाम्बुजम्) मुख कमल को (म्लानं चक्रे) उस प्रकार म्लान-उदास कर लिया (यथा) जैसे (भुवि) पृथ्वी पर (पद्माकर) कमल (रात्रौ हिमपातेन म्लानं) रात्रि में होने वाले हिमपात से म्लान हो जाता है, कुम्हला जाता है ।

भावार्थ—श्रीपाल की विजय से परमानन्द को प्राप्त हुए उस पक्ष के सैन्यदल ने, जय रूप कोलाहल से, आकाशमण्डल को गुञ्जित कर दिया और वीरदमन राजा का मुख उस प्रकार म्लान हो गया जैसे रात्रि में होने वाले हिमपात से कमल म्लान हो जाता है । राजा वीरदमन का मुख कमल जो सबके लिये सुखकारी था, वह, आज बुद्ध में पराजय के कारण अति उदास हो गया था । वह पराजय, रात्रि के गहन अन्धकार और हिमपात के समान वीरदमन के लिये अतिकष्टदायक प्रतीत हो रही थी ॥५३ ५४॥

एकस्यापि महानन्दो द्वितीयस्य महाऽशुभः ।

संसारचेष्टितञ्चेति सुधियां बोधकारणम् ॥५५॥

तदा श्रीपाल भूपालो दयालुस्सर्वदा सुधीः ।

तं म्लानवदनं बोध्य विमुच्य ज्वतो बुधः ॥५६॥

पितृव्यं भावतो नत्वा तं जगौ गुणमन्दिरम् ।

भोःसुधीस्त्वं सदा पूज्यो, पित्रासम मे दौर्जितः ॥५७॥

अन्वयार्थ—वह बुद्ध (एकस्य महानन्दोऽपि) एक के लिये महानन्दकारी होकर भी (द्वितीयस्यमहा-अशुभः) दूसरे के लिये महा अशुभकारी था । (संसारचेष्टितं च इति) संसार की यह चेष्टा (सुधियां) विद्वानों के (बोधकारणम्) बोधि रूप यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने में कारण है । (तदा) तब (सर्वदा दयालुः) सर्वदा सभी जीवों पर दया करने वाले (सुधीः) श्रेष्ठ बुद्धि का धारी (बुधः भूपालो श्रीपाल) श्रेष्ठ राजा श्रीपाल ने (म्लानवदनं) म्लानमुख वाले (तं बोध्य) उस वीरदमन को देखकर (ज्वतो) जीव (विमुच्य) उसको बन्धन से मुक्त कर (गुणमन्दिरम्) गुणों के मन्दिर (तं पितृव्यं) उस चाचा को (भावतो नत्वा) भाव से नमस्कार कर (जगौ) कहा (भोः सुधीः) हे श्रेष्ठ बुद्धि के धारी ! (पित्रा सम दौर्जितः) पिता के समान अजेय (त्वं) तुम (मे सदा पूज्यो) मेरे लिये सदा पूज्य हो ।

भावार्थ इस समय वह युद्ध एक के लिये महा आनन्दकारी होकर भी दूसरे के लिये अति अशुभकारी था। आचार्य कहते हैं कि संसार की यह विचित्र चेष्टा विद्वानों के लिये बोधि रूप यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने में कारण है। वीरदमन की दयनीय स्थिति को देखकर श्रीपाल महाराज का हृदय दया और विनय से भर गया। वीरदमन के म्लानमुख को देखकर उस दयालु श्रीपाल ने शीघ्र ही उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया और कहने लगा कि आप हमारे लिये पिता के समान पूज्य हो। हे गुणों के मन्दिर और पिता के समान अजेय ! आपके लिये मैं पुत्र के समान हूँ। इस प्रकार वीरदमन चाचा को नमस्कार कर, उसने अपनी श्रेष्ठ विनय-शीलता का परिचय दिया ॥५५ से ५७॥

मया बाल्येन तेऽनिष्टं यत्कृतं तत्क्षमस्व च ।

अतः परं पिता त्वं मे पुत्रोऽहं ते न संशयः ॥५८॥

लात्वा सप्ताङ्ग राज्य त्वं प्रभुर्भवमहीतले ।

सेवकोऽहं भविष्यामि तवोच्चैस्सर्वकर्मकृत् ॥५९॥

क्षमस्व त्वं प्रभो यच्च मया चक्रे विरूपकम् ।

विषादं मुञ्च भो देव मूढबालक कर्मणा ॥६०॥

अन्वयार्थ—(मयाबाल्येन) मुझ बालक के द्वारा (तेऽनिष्टं यत्) आपके प्रति जो अनिष्ट व्यवहार (कृतं) किया गया है (तत् क्षमस्व) उसे क्षमा करें। (अतः) इसलिये (सप्ताङ्ग राज्य लात्वा) सप्ताङ्ग राज्य लेकर(महीतले) पृथ्वी पर(त्वं प्रभुः भव) तुम राजा होकर रहो (त्वं मे पिता)तुम मेरे पिता हो (अहं पुत्रो ते) मैं तुम्हारा पुत्र हूँ इसमें (न संशयः) संशय नहीं है (अहं) मैं (सर्वकर्मकृत्) सभी कार्यों को करने वाला (तव) तुम्हारा (उच्चैः) श्रेष्ठ (सेवको भविष्यामि) सेवक होकर रहूँगा। (प्रभो!) हे प्रभु! (मया यच्च विरूपकम्) मेरे द्वारा जो भी अनुचित कार्य (चक्रे) किया गया है उसे (त्वं) तुम (क्षमस्व) क्षमा करो (भो देव) हे देव (मूढबालककर्मणा) अज्ञानी बालक के कार्य से हुए (विषादं मुञ्च) विषाद को छोड़ो।

भावार्थ—विनय से जिसका चित्त अति द्रवित है ऐसा श्रेष्ठ गुणों का आकर-खान, वह श्रीपाल, चाचा वीरदमन के प्रति, कहने लगा हे प्रभो ! मुझ बालक ने आपके प्रति जो अनिष्ट व्यवहार किया है उसे क्षमा करें। तुम मेरे पूज्य पिता हो मैं तुम्हारा पुत्र हूँ इसमें सन्देह नहीं है। तुम सप्ताङ्ग राज्य को लेकर राजा होकर रहो मैं सभी कार्यों को करने वाला श्रेष्ठ सेवक होकर इस पृथ्वी तल पर रहूँगा। हे प्रभो ! मैंने जो कुछ अनुचित कार्य किया है उसे क्षमा करो। हे देव ! मुझ बालक के कार्य से उत्पन्न विषाद को छोड़ो ॥५८ से ६०॥

यतः सन्तः प्रकुर्वन्ति क्षमां सर्वत्र सर्वथा ।

चन्दनो घृष्टमानः किं सौगन्ध्यं त्यजति प्रभो ॥६१॥

इत्यादिकं शुभं वाक्यं श्रीपालस्य सुखप्रदम् ।

स वीरदमनो राजा श्रुत्वा वैराग्य भावनात् ॥६२॥

तं प्रोवाच सुधीस्सोपि भो श्रीपाल विचक्षणः ।

सत्यं त्वं सज्जनो लोके किं शोकेन धम त्वयि ॥६३॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्यों (सन्तः) सत्पुरुष (सर्वत्र सर्वथा) सब जगह सर्व प्रकार से (क्षमां प्रकुर्वन्ति) क्षमा भाव रखते हैं (प्रभो !) हे प्रभु (किं) क्या (घुष्टमानः) घिसा जाता हुआ (चन्दनो) चन्दन (सौगन्ध्यं)सुगन्धि को (त्यजति ?) छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं छोड़ता है । (श्रीपालस्य) श्रीपाल के (इत्यादिकं) ऐसे (सुखप्रदं शुभं वाक्यं) सुखकर शुभ-श्रेष्ठ वचनों को (श्रुत्वा) सुनकर (सोऽपि स राजा वीरदमनो) वह राजा वीरदमन भी (तं प्रोवाच) उस श्रीपाल को बोला (भो विचक्षणः सुधीः श्रीपाल) हे श्रेष्ठ बुद्धि के धारी विवेकशील श्रीपाल (लोके त्वं सज्जनः) लोक में तुम सज्जन पुरुष हो यह बात (सत्यं) सही है अतः (मम) मेरा (त्वयि) तुम्हारे प्रति (किं शोकेन) शोक क्यों होगा ? अर्थात् शोक रूप परिणाम नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—श्रीपाल के श्रेष्ठ विनय युक्त वचन और अनुपम बल शक्ति प्रभुत्व का सद्भाव, उसकी लोकोत्तर महानता के द्योतक हैं । चाचा को हमारे निमित्त से कष्ट हो ऐसा वह श्रीपाल नहीं चाहता था अतः उनके मनोमालिन्य को दूर करने के लिये वह पुनः



कहता है कि हे प्रभो चन्दन घिसने पर भी अपनी सुगन्धि को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार आप जैसे श्रेष्ठ सुधी जन भी सर्वत्र सर्वप्रकार से क्षमा भाव रखते हैं ऐसी हमारी बड़ आस्था है आपके प्रति हमारा विश्वास है । श्रीपाल से पराजित हुए राजा वीरदमन उस शीतल अमृत के समान सुखकर श्रीपाल के वचनों को सुनकर शोक रहित हो गये और श्रीपाल के प्रति कहने लगे कि हे प्रज्ञावान् श्रेष्ठ उत्तम बुद्धि के धारी श्रीपाल ! वस्तुतः तुम लोक में सर्वोत्तम सत्पुरुष हो फिर मुझे तुम्हारे प्रति शोक कैसे हो सकता है ॥६१ से ६३॥

प्रदीपे दीप्यमाने च नैव तिष्ठति वा तमः ।

सन्तुष्टोऽहं सुधीः पुत्र विनयेन तव द्रुवम् ॥६४॥

अहं दीक्षां ग्रहिष्यामि शुद्धां जनेश्वरीं शुभाम् ॥

त्वं मे सत्यं सहायत्वं संजातोसि विचक्षणः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(एव) यह निश्चित बात है कि (प्रदीपे दीप्यमाने) दीपक के जलने पर (तमः न तिष्ठति) अन्धकार नहीं ठहरता है (द्रुवम्) निश्चय से (सुधीः पुत्र) हे विवेकशील पुत्र श्रीपाल ! (तव विनयेन) तुम्हारे विनय भाव से (अहं सन्तुष्टो) मैं सन्तुष्ट हूँ । (अहं) मैं (शुद्धां शुभाम् जनेश्वरीं दीक्षां) निर्दोष हितकारी जनेश्वरी दीक्षा को (ग्रहिष्यामि) ग्रहण करूँगा [और इसके प्रति] (विचक्षणः) हे प्रज्ञावान् ! (सत्यं) वस्तुतः (त्वं मे सहायत्वं संजातोसि) तुम मेरे सहायक हो ।

भावार्थ—वीरदमन राजा श्रीपाल को कहने लगे कि जैसे दीपक के जलने पर अन्धकार नहीं ठहरता है उसी प्रकार तुम्हारे सारगर्भित श्रेष्ठ विनय वचन और श्रेष्ठ व्यवहार ने हमारे अन्दर ज्ञान वैराग्य की ज्योति जागृत कर दी है अब वहाँ शोकधरपी अन्धकार को ठहरने के लिये अवकाश नहीं रहा । हे पुत्र ! मैं तुम्हारे विनय से बहुत सन्तुष्ट हूँ । तुम हमारे उपकारी हो, तुम इस पृथ्वी पर सदा जयवन्त रहो, मैं तो अब निर्दोष हितकारी जनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करूँगा उसमें भी तुम्हारा ही सहायत्व है ॥६४॥

एतद्राज्यं महापापकरं श्वभ्रनिबन्धनम् ।

नित्यमस्तु तदाद्येष्ट धर्मधनं जातु मे न च ॥६६॥

अद्य धन्यो भवानासीद्धेतुर्मे तपसि स्फुटम् ।

तस्मात्त्वं परमो बन्धुः क्षमा सर्वत्र वास्तु मे ॥६७॥

अन्वयार्थ—(एतद्राज्यं) यह राज्य (महापापकरं) भयंकर पाप को उत्पन्न करने वाला (च) और (नित्यं) निश्चय से (श्वभ्रनिबन्धनं) पाप का कारण है (धर्मधनं) धर्म-घातक ऐसा राज्य (मे जातु) मुझे कभी (इष्टं न) इष्ट नहीं हो सकता (अद्य तव अस्तु) अब तुम्हारा राज्य यहाँ स्थापित होवे । (त्वं) तुम (मे तपसि) हमारी तपस्या में (स्फुटम् हेतुः आसीत्) प्रत्यक्ष हेतु हुए (तस्मात्) अतः (भवान्) आप (अद्य) आज (धन्यो) धन्य हो ।

(परमो बन्धुः) और श्रेष्ठ बन्धु हो (वा सर्वत्र) अथवा सदा (मे) मेरे प्रति (क्षमा अस्तु) क्षमा भाव रखना ।

भावार्थ—राज्य के प्रति सर्वथा निस्पृह वीरदमन राजा श्रीपाल को कहने लगे कि यह राज्य धर्म का धात करने वाला है, महापाप को उत्पन्न करने वाला और नरक का कारण है ऐसा राज्य अब मुझे नहीं चाहिये । हमारे अन्दर वैराग्य को जागृत करने वाले तपश्चरण की भावना को पैदा करने वाले तुम वस्तुतः आज धन्यवाद के पात्र हो, हमारे परम बन्धु हो । सर्वत्र क्षमा के धारी तुम मेरे प्रति भी क्षमा भाव रखना ॥६६, ६७॥

इति क्षान्त्वा ततस्तस्यैव क्षमयित्वा प्रियोक्तिभिः ।

परित्यज्य त्रिधा सर्वं परिग्रहमहाग्रहम् ॥६८॥

ज्ञानसागर नामानं मुनीन्द्रं बोधसागरम् ।

नत्वा दीक्षां समादाय सञ्जातो मुनिसत्तमः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (प्रियोक्तिभिः) प्रिय वचनों के द्वारा (क्षमयित्वा) क्षमा करा कर (ततः) पुनः (तम् च) और उसको (क्षान्त्वा) क्षमाकर (त्रिधा) मन वचन काय से (महाग्रहम्) महाग्रह-पिशाच स्वरूप (परिग्रहं सर्वं) सम्पूर्ण परिग्रह को (परित्यज्य) छोड़कर (बोधसागर) समुद्र के समान सम्भीर ज्ञान के धारी (ज्ञानसागर नामानं) ज्ञानसागर नामक (मुनीन्द्रं) मुनिराज को (नत्वा) नमस्कार कर (दीक्षां समादाय) दीक्षा लेकर (मुनि सत्तमः) मुनिपुङ्गव (सञ्जातो) हो गये ।

भावार्थ—अपने मधुर वचनों से श्रीपाल के चित्त को सन्तुष्ट करते हुए अपने किये अपराधों के लिये क्षमा करा कर और श्रीपाल को स्वयं क्षमा कर, पिशाच वा दुष्ट ग्रह के समान आतंक बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहों का मन वचन काय से सर्वथा त्याग कर ज्ञान के सागर स्वरूप ऐसे ज्ञानसागर मुनिराज को नमस्कार कर वीरदमन राजा ने मुनि दीक्षा ले ली और मुनि-पुङ्गव हो गये ॥६८, ६९॥

सत्यं सतां भवेदुच्चैरापदोऽपि शिवश्रियैः ।

यथाऽसौ संयमं प्राप वीरादिदमनो नृपः ॥७०॥

येन केनाप्यनिष्टेन हन्यन्ते मोहशत्रवः ।

गृह्यतेऽहो परादीक्षा तदनिष्टं वरं सताम् ॥७१॥

अन्वयार्थ—(सत्यं) सत्य है (उच्चैः आपदोऽपि) महान विपत्ति भी (सतां) सज्जनों को (शिवश्रियैः) मुक्ति श्री को देने वाली (भवेत्) हो जाती है (यथा) जैसे (असौ) उस (वीरादिदमनोनृपः) वीरदमन राजा ने (संयमं प्राप) संयम को धारण किया । (अनिष्टेन) अनिष्टकारी अर्थात् मोह का नाश करने वाले (येन केन) जिस किसी उपाय से (मोहशत्रवः) मोह वा राग द्वेष क्रीधादि शत्रु (हन्यन्ते) विनाश को प्राप्त हों इसके लिये (अहो ! हे भव्य-

जनो ! (परादोक्षा) श्रेष्ठ दीक्षा (गृह्यते) ग्रहण की जाती है (तत्) वह मोह (सताम्) सज्जनों का (वरं अनिष्टं) महा अनर्थ करने वाला है ।

भावार्थ - उपर्युक्त घटनाओं को पढ़ने से यह विदित होता है कि सज्जनों पर आई हुई विपत्ति भी उसके लिए मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने वाली हो जाती है जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में बताया भी है कि श्रीपाल से पराजित हुआ वीरदमन राजा वंराग्य को प्राप्त हो गया और जानसागर मुनिराज के पास जाकर जिन दीक्षा ले ली । वे वीरदमन राजा विचार करने लगे कि इस जीव का सबसे अधिक अनिष्ट करने वाला मोह है अतः जिस किसी उपाय से मोह तथा राग द्वेष क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट करने की भावना रखने वाले को जिन दीक्षा-जनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करनी परमावश्यक है । मोहशत्रु को जीतने में निर्ग्रन्थ मुनि ही समर्थ होते हैं । तदनुसार दीक्षा लेकर स्वयं भी मोह शत्रु को जीतने के लिये कठोर तपश्चरण करने लगे । ७० ७१।

तदा श्रीपालराजोऽपि स्वपुण्यपरिपाकतः ।

महोत्सवशतैश्चापि पुरीं चम्पां महर्द्धिकाम् ॥७२॥

रत्नादि तोरणोपेतां सम्पदां सार संभृताम् ।

पञ्चवर्णं पञ्चवर्णध्वजघातैर्भृत्यतां वा तदागमे ॥७३॥

राजभिर्बहुभिस्साङ्गं प्रिया वृन्दैः परिच्छदः ।

छत्र चामरसन्दोहैर्देवेन्द्रो वामरैर्धृतः ॥७४॥

सर्वसज्जन संसेधो नदद्वादित्र सुध्वनि ।

चारण स्तुति पाठीर्धैः स्तूयमानो विवेश सः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (स्वपुण्यपरिपाकतः) अपने पुण्य के उदय से (श्रीपाल-राजोऽपि) श्रीपाल राजा ने भी (महोत्सवशतैः) सैकड़ों प्रकार के महोत्सवों के साथ (रत्नादि-तोरणोपेता) रत्नमय तोरण द्वारों से सहित (सम्पदांसार संभृतां) सारभूत विभूतियों से भरी हुई (महर्द्धिकाम्) अत्यन्त अतिशययुक्त (चम्पां) चम्पा नगरी में (पञ्चवर्णध्वजघातैः) पञ्चवर्ण की ध्वजाओं से सहित (भृत्यतां) सेवा में तत्पर (प्रियावृन्दैः परिच्छदः साङ्गम्) प्रिया समूह और सम्पूर्ण परिकरों से युक्त (बहुभिः राजभिः विवेश) बहुत से राजाओं के साथ नगरी में प्रवेश किया (वा) जो ऐसा प्रतीत होता था मानो (नदत् वादित्रमुध्वनि) बजते हुए बाजों की मधुर ध्वनि तथा (चारणस्तुतिपाठीर्धैः) चारण-भाटों के स्तुति पाठों से युक्त वह श्रीपाल (छत्रचामरसन्दोहैः अमरैः धृतः) छत्र चमरों को धारण किये हुए देवों से सहित साक्षात् (देवेन्द्रो) देवेन्द्र ही है ।

भावार्थ - तदनन्तर श्रेष्ठ सहज विजय को प्राप्त हुआ वह श्रीपाल अपने पुण्योदय विशेष का सुखद फल भोगता हुआ, विशाल परिकरों के साथ, उस वैभवशाली, अतिशयकारी सुसम्पन्न मनोहर अपनी चम्पानगरी में प्रवेश करता है । श्रीपाल के स्वागत के लिये, अपनी-

अपनी श्रेष्ठ गुणवती पत्नियों-परिजन पुरजनों के साथ बड़े-बड़े राजा महाराजा भी वादियों की मधुर संगीत ध्वनि और पञ्चवर्ण वाली ध्वजाओं के साथ उपस्थित थे । सभी सज्जन पुरुष श्रीपाल महाराज की सेवा में तत्पर थे । इस प्रकार चारण-भाटों के स्तुतिगान और वादित्र की मधुर ध्वनियों से युक्त राजा महाराजों से सेवित वह श्रीपाल ऐसा प्रतीत होता था मानो छत्र चमरों को धारण किये हुए देवों से सजित साक्षात् देवेंद्र ही है ॥७२ से ७५॥

तत्र चम्पापुरोमध्ये पितुः स्थानमनुत्तरम् ।

सुधोस्संप्राप्य संतुष्टो, मानसे भरतो यथा ॥७६॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (चम्पापुरीमध्ये) चम्पापुरी नगरी के अन्दर (पितुः) पिता के (अनुत्तरम् स्थानम्) श्रेष्ठ राजपद को (संप्राप्य) प्राप्त कर (मानसे सन्तुष्टो) वे उस प्रकार चित्त में सन्तुष्ट हुए (यथा) जैसे (भरतो) भरत चक्रवर्ती दिग्विजय में संतुष्ट हुआ था ।

भावार्थ— अपनी चम्पापुरी नगरी में पिता के श्रेष्ठ राजपद पर अवस्थित वह श्रीपाल चित्त में उसी प्रकार सन्तुष्ट हुआ जैसे दिग्विजय से षट्क्षणाधिपति भरत को सन्तोष हुआ था ॥७६॥

तदा ते भूमिपास्सर्वे परमानन्द निर्भराः ।

जिनेन्द्रस्नपनं कृत्वा सारपञ्चामृतादिभिः ॥७७॥

स्वर्णं सिंहासने तुङ्गे महोत्सवशतैरपि ।

श्रीपालं स्थापयित्वोच्चैस्वच्छतोयादिसंभृतैः ॥७८॥

लसत्काञ्चनसत्कुम्भैर्गीत वादित्र मङ्गलैः ।

राज्याभिषेकमत्युच्चैः कृत्वा प्रीत्या शुभोदयात् ॥७९॥

वस्त्राभरणसंदोहैः पूजयन्तिस्म भक्तितः ।

सत्यं स्वपूर्वं पुण्येन किं न जायेत भूतले ॥८०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (परमानन्दनिर्भराः) परमानन्द से भरे हुए (ते सर्वे भूमिपाः) उन सभी राजाओं ने (सारपञ्चामृतादिभिः) सारभूतपञ्चामृतजल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और सर्वोषधि से (जिनेन्द्रस्नपनं कृत्वा) जिनेन्द्र प्रभु का अभिषेक कर (महोत्सवशतैरपि) सैकड़ों महाउत्सवों के साथ (तुङ्गे स्वर्णसिंहासने) ऊँचे स्वर्णमय सिंहासन पर (श्रीपालं स्थापयित्वा) श्रीपाल को स्थापित कर (उच्चैः) श्रेष्ठ, उत्तम, (स्वच्छतोयादिसंभृतैः) स्वच्छ जल से भरे हुए— (लसत्काञ्चनसत्कुम्भैः) सुन्दर, सुवर्णमय उत्तम कलशों से (गीत वादित्र मङ्गलैः) मङ्गलमय वादित्र ध्वनि के साथ (उच्चैः प्रीत्या) अत्यन्त प्रीति पूर्वक (राज्याभिषेकं कृत्वा) राज्याभिषेक करके (वस्त्राभरणसंदोहैः) वस्त्राभूषणों से (शुभोदयात्) पुण्योदय से अथवा शुभ परिणामों से (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (पूजयन्तिस्म) पूजा की । (सत्यं) ठीक ही है (स्व-पूर्वपुण्येन) अपने पूर्वपुण्य से (भूतले) पृथ्वी पर (किं न जायेत) क्या अशक्य है ? अर्थात् कुछ भी अशक्य वा अप्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ—तदनन्तर परमानन्द से भरे हुए उन सभी राजाओं ने उत्तम जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और सर्वोषधि से अर्थात् पञ्चामृत से जिनेन्द्र प्रभु का अभिषेक कर सैकड़ों महान उत्सवों के साथ श्रीपाल महाराज को ऊँचे सुवर्णमय सिंहासन पर विराजमान किया और श्रेष्ठ-उत्तम जल आदि से भरे हुए सुवर्णमय उत्तम मनोज कलशों से मङ्गलमय वादित्रध्वनियों के साथ अत्यन्त प्रीति पूर्वक उनका राज्याभिषेक किया। अतिशय पुण्यशाली उन श्रीपाल महाराज की भक्ति पूर्वक पूजा भी की, ठीक ही है अपने पूर्व पुण्य से इस पृथ्वी पर उसके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती है। पुण्य से धन, यश, कीर्ति, राज्यादि विभूतियाँ सभी सहज प्राप्त हो जाती हैं ॥७७ से ८०॥

ततो भव्या जिनेन्द्रोक्तं दानपूजा तपोव्रतम् ।

नित्यं पुण्यं प्रकुर्वन्तु सारशर्म विधायकम् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(ततो) इसलिये (भव्याः) भव्य जन (सारशर्म विधायकम्) सारभूत स्वर्ग मोक्षादि विभूतियों को प्रदान करने वाले (जिनेन्द्रोक्तं) जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कथित (दान-पूजा-तपोव्रतम् पुण्यम्) दान, पूजा, तप, व्रत आदि पुण्य कार्य (नित्यं प्रकुर्वन्तु) नित्य करते रहें।

भावार्थ—अतः मोक्षादि सुख के अभिलाषी भव्यपुरुषों को, सारभूत स्वर्ग मोक्षादि सुख को प्रदान करने वाले जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कहे गये दान, पूजा, तप, व्रत आदि पुण्य कार्य निरन्तर करते रहना चाहिए ॥८१॥

पुण्येन दूरतरवस्तु समागमोऽस्ति ।

पुण्येन बिना तदपि हस्ततलात् प्रयाति ।

तस्मात् सुनिर्मल धियः ! कुरुत प्रमोदात् ।

पुण्यं जिनेन्द्र कथितं शिवशर्मबीजम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(पुण्येन) पुण्य से (दूरतरवस्तु) अतिदूरवर्ती दुष्कर पदार्थ (समाग-मोऽस्ति) सुलभ हो जाता है (पुण्येन बिना) पुण्य के बिना (तदपि) वह प्राप्त वस्तु भी (हस्ततलात्) हस्ततल से (प्रयाति) चली जाती है (तस्मात्) इसलिये (सुनिर्मलधियः) हे पवित्र बुद्धि वाले सुधीजन ! (शिवशर्म बीजम्) शिव नृप का बीजभूत (जिनेन्द्रकथितं पुण्यं) जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कथित पुण्य कार्य (प्रमोदात्) हर्ष से आनन्द से (कुरुत) करें।

भावार्थ—“पुण्य” इस जीव का सब प्रकार से हित करने वाला है। पुण्य से अति-दूरवर्ती दुष्कर पदार्थ भी अनायास प्राप्त हो जाता है और पुण्य के बिना वह प्राप्त होने के बाद भी हस्ततल से निकल जाता है अर्थात् प्रयत्न पूर्वक सुरक्षित करने पर भी नहीं ठहरता, विलीन हो जाता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि उत्तम बुद्धि के धारी सुधीजन मोक्षरूपी सुख सम्पत्ति को देने वाले जिनेन्द्र प्रभु कथित सारतिशय पुण्य का संपादन नित्य करते रहें। हर्ष

वा प्रमोद पूर्वक पुण्य कार्य को करने वाला हो अपनं समस्त इष्ट कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ होता है ॥८२॥

गृहे गृहे तदा सर्वे सज्जनाः चित्तरञ्जनम् ।

चक्रुर्महोत्सवं दिव्यं गीतनृत्यादि मङ्गलैः ॥८३॥

रत्नचूर्णं चतुष्कैश्च पट्टकूलादि वस्तुभिः ।

तदा चम्पापुरी रेजे निमिता सा महोत्सवैः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (गृहे गृहे) घर घर में (सर्वेसज्जनाः) सभी सज्जनों ने (गीत नृत्यादि मङ्गलैः) गीत नृत्यादि मङ्गल कार्यों से (चित्तरञ्जनम्) चित्त को अनुरञ्जित करने वाला (दिव्य महोत्सव (चक्रुः) किया (तदा) तब (रत्नचूर्णं चतुष्कैः) चार प्रकार के रत्नमय चूर्णों से (च) और (पट्टकूलादि वस्तुभिः) रेशमी वस्त्रादि उत्तम वस्तुओं से (निमिता) सुसज्जित (सा चम्पापुरी) वह चम्पापुरी नगरी (महोत्सवैः) महोत्सवों से (रेजे) सुशोभित हुई ।

भावार्थ—श्रीपाल महाराज का राज्याभिषेक महाउत्सव पूर्वक सम्पन्न हुआ तदनन्तर घर घर में सभी सज्जनों ने गीत नृत्यादि माङ्गलिक कार्यों के द्वारा जन-जन के हृदय को अनुरञ्जित करने वाला महान् उत्सव किया । रत्नमयी चार प्रकार के चूर्णों से और रेशमी वस्त्रादि उत्तम वस्तुओं से सुसज्जित वह चम्पानगरी नगरीवासियों के सुखकर महोत्सवों के द्वारा अत्यन्त शोभित हुई ॥८३, ८४॥

एवं श्रीपाल भूपालः समादाय महोत्सवैः ।

पितृराज्यं महापुण्यं दानमानशतैर्युतः ॥८५॥

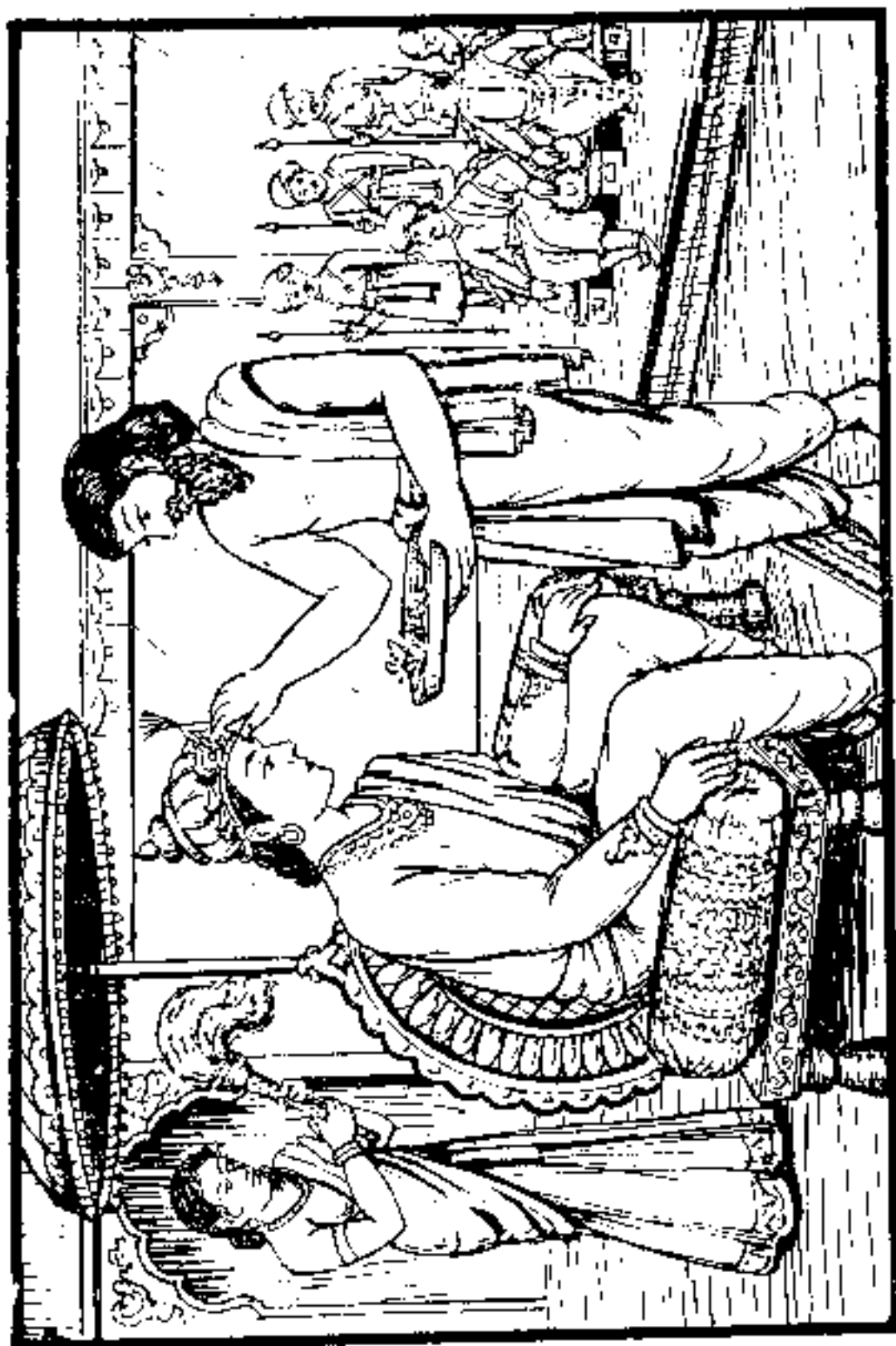
निष्कण्टकं कृतानन्दं प्रीणिताखिल सज्जनाः ।

सर्वदेशेषु भूपालासहस्राणां विशेषतः ॥८६॥

मूर्धनमालाभिषोत्सृङ्गां स्वाज्ञां चक्रेषुशर्मदाम् ।

संस्थितस्सुखतो नित्यंसोदितो भूरिभूमिपैः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (श्रीपाल भूपालः) श्रीपाल राजा (महोत्सवैः) महोत्सव पूर्वक (दानमानशतैर्युतः) सैकड़ों प्रकार के दानमान और सम्मान के साथ (महापुण्यं) अतिपुण्यशाली (पितृराज्यं) पिता के राज्य को (समादाय) लेकर (प्रीणिताखिलसज्जनाः) सभी सज्जनों के चित्त को प्रसन्न प्रमुदित करने वाली (सर्वदेशेषु) तथा सभी देशवासी (भूपाला सहस्राणां) सैकड़ों राजाओं का (विशेषतः कृतानन्दं) विशेषतः आनन्द पहुँचाने वाली (मूर्धनमाला इव) गले में पड़ी हुई माला के समान (शर्मदां) सुखकर ऐसी (स्वाज्ञां चक्रेषु) अपनी आज्ञा का प्रवर्तन करता था ।



श्रीपाल महाराज का राज्याभिषेक ।

भावार्थ—श्रीपाल महाराज का शासन इतना श्रेष्ठ था कि आबालवृद्ध सभी उसके राज्य में विशेष सुख का अनुभव करने थे । महान उत्सव पूर्वक सैकड़ों प्रकार के मान दान सम्मान के साथ पिता के श्रेष्ठ राज्य को लेकर वह पुण्यशाली श्रीपाल, सज्जनों के चित्त को हर्षित करने वाली तथा अन्तर्गत सभी राजाओं को भी विशेष आनन्दित करने वाली गले में पड़ी हुई माला के समान सुखकारी ऐसी अपनी आज्ञा का प्रवर्तन करता था । अर्थात् श्रीपाल महाराज का शासन सबके लिये प्रियकारी-सुखकारी था ॥८५ से ८७॥

पट्टदेवीपदं प्राप्य तदामदन सुन्दरी ।

सा रेजे कामिनी तस्य यथा मदनसुन्दरी ॥८८॥

दत्ताद्यंश्च प्रियावृन्दैर्जगत्चेतो नुरञ्जनैः ।

सार्धं सम्पूर्णं भोगाङ्गैस्तत्सुखं प्राप स प्रभुः ॥८९॥

अन्वयार्थ—(तदा) सब (पट्टदेवी पदं प्राप्य) पटरानी के पद को प्राप्त कर (सा) वह (मदनसुन्दरी) मैनासुन्दरी (कामिनी) रानी (रेजे) उस प्रकार शोभित हुई (यथा मदन-सुन्दरी) जैसे कामदेव की पत्नी साक्षात् रति देवी हो (तदाचैः) उस मैनासुन्दरी को आदि कर (जगत्चेतो नुरञ्जनैः) जगत् के चित्त को अनुरञ्जित करने वाली सुन्दर (प्रियावृन्दैः) कामि-नियों के (सार्धं) साथ (स प्रभुः) वह श्रीपाल राजा (भोगाङ्गैः) भोग सामग्रियों से (सत्सुखं-प्राप) श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुआ ।

भावार्थ—तदनन्तर पटरानी के पद को प्राप्त कर वह मैनासुन्दरी उस प्रकार शोभित हुई मानों कामदेव की पत्नी साक्षात् रति ही हो । श्रीपाल महाराज जगत् के चित्त को अनु-रञ्जित करने वाली मैनासुन्दरी को आदि कर सभी प्रिया वृन्दों के साथ सब प्रकार के भोगों को भोगता हुआ श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुआ अर्थात् सांसारिक सुख को प्रदान करने वाली सभी इष्ट सामग्री उनको पुण्योदय से प्राप्त हो गई थी ॥८८, ८९॥

एवं राज्ये स्थितस्सौख्यं सेव्यमानो नराधिपैः ।

सुखं पञ्चेन्द्रियोत्पन्नम् संभुञ्जन् परयामुदा ॥९०॥

चिरकालं जिनेन्द्राणां धर्मं कुर्वन् जगद्धितम् ।

वान पूजायतोपेत परोपकृति तत्परः ॥९१॥

पालयन्पुत्रवत् प्रीत्या प्रजास्सर्वस्मिनीतिवित् ।

स श्रीपाल प्रभु सत्यं जातस्सद्राज्यपालनात् ॥९२॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (नराधिपैः सेव्यमानो) राजाओं के द्वारा सेव्यमान (पञ्चेन्द्रियोत्पन्नं सुखं) पञ्चेन्द्रियों से उत्पन्न सुख को (परयामुदा) अत्यन्त आनन्द से (संभुञ्जन्) भोगता हुआ (चिरकालं) चिरकाल पर्यन्त (जगद्धितम्) जगत् का हित करने

वाले (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्र प्रभु के (धर्मं कुर्वन्) धर्म को करता हुआ (दानपूजाव्रतोपेत) दान पूजा व्रतादि से सहित (परोपकृति तत्परः) परोपकार में तत्पर वह श्रीपाल (राज्ये) राज्य में (सौख्यं स्थितः) सुखपूर्वक रहा (स श्रीपाल) वह श्रीपाल (पुत्रवत्) पुत्र के समान (सर्वाः प्रजाः प्रीत्यापालयन्) समस्त प्रजा का प्रीति पूर्वक पालन करता हुआ (सद् राज्या-पालनात्) राज्य का श्रेष्ठ रीति से पालन करने से (सुनोतिवित्) नीति को सम्यक् प्रकार जानने वाला (सत्यं) यथार्थ (प्रभुजातः) राजा हुआ ।

भावार्थ—इस प्रकार राजाश्री के द्वारा सेव्यमान और पञ्चेन्द्रियों से उत्पन्न सुख को अत्यन्त आनन्द से भोगता हुआ चिरकाल तक जगत् का हित करने वाले जिनधर्म का अर्थात् श्रावक धर्म का अच्छी तरह पालन करता हुआ वह श्रीपाल निरन्तर दान पूजा में तथा व्रता-नुष्ठान में तत्पर रहता था । कहा है “नादानं किन्तु दाने हि सतां तुष्यन्ति मानसाः” सज्जनों का चित्त लेने से नहीं अपितु देने से त्याग से सन्तुष्ट होता है । इसी प्रकार श्रीपाल महाराज का प्रजा की सेवा कर वा परोपकार कर विशेष आनन्द होता था । उनका चित्त सदा परोपकार में संलग्न था । वे पुत्र के समान समस्त प्रजा का प्रीतिपूर्वक पालन करते थे । इस प्रकार राजोचित समस्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त, नीति को सम्यक् प्रकार जानने वाले श्रीपाल महाराज ही यथार्थ प्रभावशाली राजा हुए ॥६० से ६२॥

धर्मेण निर्मलकुलं विमला च लक्ष्मी ।

धर्मेण निर्मलयशो विमलं च सौख्यम् ॥

स्वर्गापवर्गभ्रमलं जिनधर्मतश्च ।

तस्मात् सुधर्ममतुलं सुधियः कुरुध्वम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(धर्मेण) धर्म कार्य को करने से (निर्मलकुलं) श्रेष्ठ पवित्र कुल (विमला लक्ष्मी च) न्यायोपात्त धन अथवा मद रहित, सातिशय पुण्य को उत्पन्न करने वाली सम्पत्ति प्राप्त होती है । (धर्मेण) धर्म से (निर्मलयशो) निर्मल यश (च) और (विमलं सौख्यम्) निर्मल अर्थात् निराकुल स्थाई यथार्थ सुख प्राप्त होता है । (च स्वर्गापवर्गम् अमलम्) स्वर्ग और कर्मफल से रहित सिद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष (जिनधर्मतश्च) जिनधर्म से प्राप्त होता है (तस्मात्) इस लिये (सुधियः) सुश्रीजन, विद्वज्जन (सुधर्मं अतुलं) श्रेष्ठ, अनुपम जिनधर्म को (कुरुध्वम्) करें ।

भावार्थ—श्रीपाल महाराज के पवित्र जीवन चरित्र को उपस्थित कर यहाँ धर्म के अनुल माहात्म्य को प्रकट किया है । धर्माचरण से उच्च, पवित्र कुल और न्यायोपात्त वा जो मद को पैदा न करे ऐसा धन वैभव प्राप्त होता है । कहा भी है “सा श्रीर्या न मदं कुर्यात्” वही धन सुख को देने वाला है जो मद को पैदा न करे । ऐसा सातिशय पुण्य को उत्पन्न करने वालो लक्ष्मी भी धर्माचरण से प्राप्त होती है । धर्म से निर्मल यश और निराकुल स्थाई सुख प्राप्त होता है । इसलिये विद्वज्जनों को चाहिये कि वे निरन्तर श्रेष्ठ अनुपम उस जिनधर्म का पालन करते रहें ॥६३॥

एवं जिनैन्द्रकथितं सुदयाप्रधानम् ।

धर्मं जगत्त्रयहितं परमादरेण ।

श्रीपालनाम नृपति सुखदं प्रकुर्वन् ।

राज्यं चकार सुचिरं स्वसमीहितं सः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (सः) उस (श्रीपाल नाम नृपति) श्रीपाल नामक राजा ने (सुदयाप्रधानम्) सम्यक् दया है प्रमुख जिसमें ऐसे (जगत्त्रयहितं) तीन लोक का हित करने वाले (जिनैन्द्रकथितं) जिनैन्द्र प्रभु कथित (सुखदं धर्मं प्रकुर्वन्) सुखद धर्म को करते हुए (सुचिरं) चिर काल तक (स्वसमीहितं) अपने अभीष्ट (राज्यं) राज्य को (चकार) किया ।

भावार्थ—जिनधर्म में दया भाव की प्रधानता है । सम्यक् दया है आधार जिसका ऐसे तीन लोक का हित करने वाले सुखकर जिनधर्म का आचरण करते हुए श्रीपाल महाराज ने चिरकाल अपने अभीष्ट राज्य को किया प्रधात् सदा धर्मपूर्वक स्वयं नीति के साथ राज्य-शासन करते रहे ॥६४॥

॥इति श्रीसिद्धचक्रपूजातिशय प्राप्ते श्रीपाल महाराज चरित्रे श्रीपाल महाराज चम्पा-पुरी राज्य प्राप्ति व्यावर्णनो नाम सप्तमः परिच्छेदः ॥शुभम् अस्तु॥

इस प्रकार श्री सिद्धचक्रपूजा के अतिशयकारी फल को प्राप्त करने वाले श्रीपाल महाराज के चरित्र में श्रीपालमहाराज के द्वारा चम्पापुरी राज्य की प्राप्ति का वर्णन करने वाला सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

॥ शुभम् अस्तु ॥



॥ अथ अष्टम परिच्छेदः ॥

अथैकस्मिन् दिने सोऽपि श्रीपालः पृथिवीपतिः ।

सभायां संस्थितो धीमान् सिंहासनमधिष्ठितः ॥१॥

वीज्यमानस्सितैश्चारुचामरैर्वा महेश्वरः ।

सेव्यमानस्सुरैर्वोच्चैः परैर्भूयोविभूतिभिः ॥२॥

अन्वयार्थः—(अथ) इसके बाद (पृथिवीपतिः सो धीमान् श्रीपालः) पृथ्वीपति वह बुद्धिमान श्रीपाल (एकस्मिन् दिने) एक दिन (सभायां) सभा में (सिंहासनमधिष्ठितः) सिंहासन पर बैठा था (वीज्यमानः सितैः चारुचामरैः) ढोले जाते हुए श्रेष्ठ चमरों से उच्चैः परैः) अति उत्तम (भूयोविभूतिभिः) बहुत विभूतियों के साथ (संस्थितो) विराजमान श्रीपाल (सुरैः सेव्यमानः) देवों के द्वारा सेवमान (महेश्वरः वा) महेश्वर इन्द्र के समान प्रतीत होता था ।

भावार्थ : सुख पूर्वक राज्य करता हुआ वह बुद्धिमान श्रीपाल राजा एक दिन सभा में सिंहासन पर बैठा था । श्वेत चामर जिसके ऊपर ढोले जा रहे थे और देवों के समान महान विभूतियों से युक्त राजागण जिनकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे वह श्रीपाल उस समय देवों के अधिपति इन्द्र के समान प्रतीत होता था ॥१ २॥

विज्ञप्तो वनपालेन नानापुष्पफलोत्करैः ।

राजन् नृपवने रम्ये श्रुतसागर नाम भाक् ॥३॥

महा मुनिस्समायातो ज्ञातसर्वागमः प्रभो ।

सर्वजीवदयासिन्धुः स्वावधिज्ञान लोचनः ॥४॥

अन्वयार्थः—उसी समय (वनपालेन) वन रक्षक के द्वारा (नानापुष्पफलोत्करैः) अनेक प्रकार के पुष्प फलों से अर्थात् नाना प्रकार के फल पुष्प अर्पित कर (विज्ञप्तो) विज्ञप्ति की गई, निवेदन किया गया है (राजन् !) हे राजन् ! (प्रभो !) हे प्रभु (रम्ये नृपवने) रमणीय राजवन में (ज्ञात सर्वागमः) सम्पूर्ण आगम को जानने वाले (स्वावधिज्ञानलोचनः) अवधिज्ञान है स्व नेत्र जिनका ऐसे अवधिज्ञानी (सर्वजीवदयासिन्धुः) सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाले दया के सागर (श्रुतसागरनाम भाक्) श्रुत सागर नामक (महामुनिः समायातो) महामुनि आये हैं ।

भावार्थ—जब श्रीपाल महाराज महा विभूति के साथ सभा में सिंहासन पर आरुढ़ थे तब नाना प्रकार के पुष्प फलों को लेकर वनपाल आया और राजा को भेंट कर कहने लगा कि हे राजन् ! हे प्रभु ! समस्त आगम को जानने वाले, अवधिज्ञान रूप दिव्य नेत्र के धारी, समस्त जीवों पर दया करने वाले दयासिन्धु, श्रुतसागर नामक महामुनि राजवन में आये हुए हैं । इस प्रकार मुनिराज के आगमन की सूचना राजा को अति विनय पूर्वक देकर वह वनपाल बहुत सन्तुष्ट हुआ । मुनिराज के आश्चर्यकारी महा प्रभाव का वर्णन करते हुए वह वनपाल राजा को कहने लगा ॥३॥ ४॥

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तस्संसक्तो जिनवर्त्मनि ।

धर्ममृतमयीवृष्ट्या तर्पयन् भव्यचातकान् ॥५॥

तत्प्रभावेन भो देव तरवो योऽवकेशिनः ।

तेऽपि पुष्पफलस्तोमस्सञ्जाता सर्वतपिणः ॥६॥

सदया दानिनोवोच्चैस्तथा पूर्णं जलाशयाः ।

सिंहादयो महाक्रूरास्त्यक्त वैराश्च तेऽभवन् ॥७॥

अन्वयार्थ—(सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः) समस्त बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित (जिनवर्त्मनि) जिनेन्द्र प्रणीत मोक्षमार्ग में (संसक्तः) अनुरक्तः संलग्न (धर्ममृतमयी वृष्ट्या) धर्ममृत की वर्षा से (भव्यचातकान्) भव्य रूपी चातक पक्षियों को (तर्पयन्) तृप्त करते हुए (तत्प्रभावेन) उन मुनिराज के प्रभाव से (भो देव !) हे स्वामी ! (योऽवकेशिनः तरवो) जो फलहीन वृक्ष हैं (तेऽपि) वे भी (सर्वतपिणः) सबको संतृप्त करने वाले सुमधुर (पुष्पफल-स्तोमः) पुष्पों और फल समूह से (सञ्जाता) परिपूर्ण हो गये हैं (तथा) उसी प्रकार (पूर्ण-जलाशयाः) सरोवर भी जल से भर गये हैं इस प्रकार प्रकृति भी (सदया उच्चैः दानिना इव) दयाशील श्रेष्ठ दाता के समान प्रतीत हो रही है । (सिंहादयो) सिंह आदि (ते महाक्रूराः) वे महाक्रूर पशु (त्यक्त वैराः) वैर रहित (अभवन्) हो गये हैं ।

भावार्थ—वन में धार्य हुए मुनिराज सम्पूर्ण प्रकार के बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं तथा जिन प्रणीत मोक्षमार्ग में अनुरक्त, संलग्न हैं, धर्म रूपी वर्षा से भव्यरूपी चातक पक्षियों को सदा संतृप्त करने वाले हैं । उनके महाप्रभाव से पुष्प वा फलों से रहित वृक्ष भी सबको तृप्त करने वाले पुष्प और फलों के गुच्छों से भर गये हैं । सूखे सरोवर भी स्वच्छ जल से सहसा भर गये हैं । इस प्रकार उस वन में प्रकृति भी दयाशील श्रेष्ठ दाता के समान प्रतीत हो रही है । सिंहादि महाक्रूर पशु भी वैर विरोध रहित हो चुके हैं । इस प्रकार मुनिराज का प्रभाव अनुल है, आश्चर्यकारी है ॥५ से ७॥

तदाकर्ण्य मुदा सोऽपि सद्धर्म रसिको महान् ।

सिंहासनात्समुत्थाय गत्वा सप्तपदानि च ॥८॥

जयकोलाहलं कुर्वन् ससभा परमादरात् ।

नत्वा तस्मै महादानं दत्त्वा सानन्द निर्भराः ॥६॥

दापयित्वा महाभेरी शुभासन्मार्गं सूचिनीम् ।

नदद्वादित्र सन्दोहैस्सज्जनैः परिवेष्टितः ॥१०॥

छत्रादिभिर्गजारूढः पूजाद्रव्यशतान्वितः ।

स्वप्रियापरिवारेण मण्डितः पौरसत्तमैः ॥११॥

गत्वाशु तद्वनं रम्यं शुद्धाशोकतरोरधः ।

निश्चले शिला पीठे पवित्रे संस्थितं मुनिम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(तदाकर्ण्य) उस समाचार को सुनकर (सद्धर्मरसिको) सच्चे धर्म में अनुराग रखने वाला (महान् सोर्जपि) महापुरुष वह श्रीपाल भी (मुदा) आनन्द से भरा हुआ (सिंहासनात्) सिंहासन से (समुत्थाय) उठकर (च सप्त पदानि) और सात डग (गत्वा) जाकर (ससभा) सभा सहित (पर मादरात्) परम आदर पूर्वक (जय कोलाहलं कृत्वा) जय जय ध्वनि करके (नत्वा) नमस्कार कर (सानन्द निर्भरा) आनन्द से भरा हुआ (तस्मै महादानं दत्त्वा) उस वनपाल को प्रचुर धनराशि देकर (शुभां सन्मार्गं सूचिनीम्) शुभ मङ्गल वा सन्मार्ग को सूचित, प्रदर्शित करने वाली (महाभेरी दापयित्वा) महाभेरी बजवाकर (नदद्वादित्र सन्दोहैः) वजते हुए वादित्रों और (सज्जनेः परिवेष्टितः) सज्जनों से परिवृत-धिरे हुए (पूजा द्रव्यशतान्वितः) सैकड़ों प्रकार के पूजा द्रव्यों से सहित (स्वप्रियापरिवारेण पौरसत्तमैः मण्डितः) अपनी प्रियाओं, श्रेष्ठ परिजन पुरजनों से मण्डित-मुशोभित (छत्रादिभिः गजारूढः) छत्रादि से युक्त हाथी पर सवार हुआ (तद् रम्यं वनं) उस रमणीक वन में (आशु गत्वा) शीघ्र जाकर (शुद्धाशोकतरोः अधः) शुद्ध पवित्र अशोक वृक्ष के नीचे (पवित्रे निश्चले शिला-पीठे) पवित्र निश्चल शिला पीठ पर (संस्थितं मुनिं) बैठे हुए मुनिराज को, देखा । वे मुनिराज कैसे थे उसे आगे बताते हैं ।

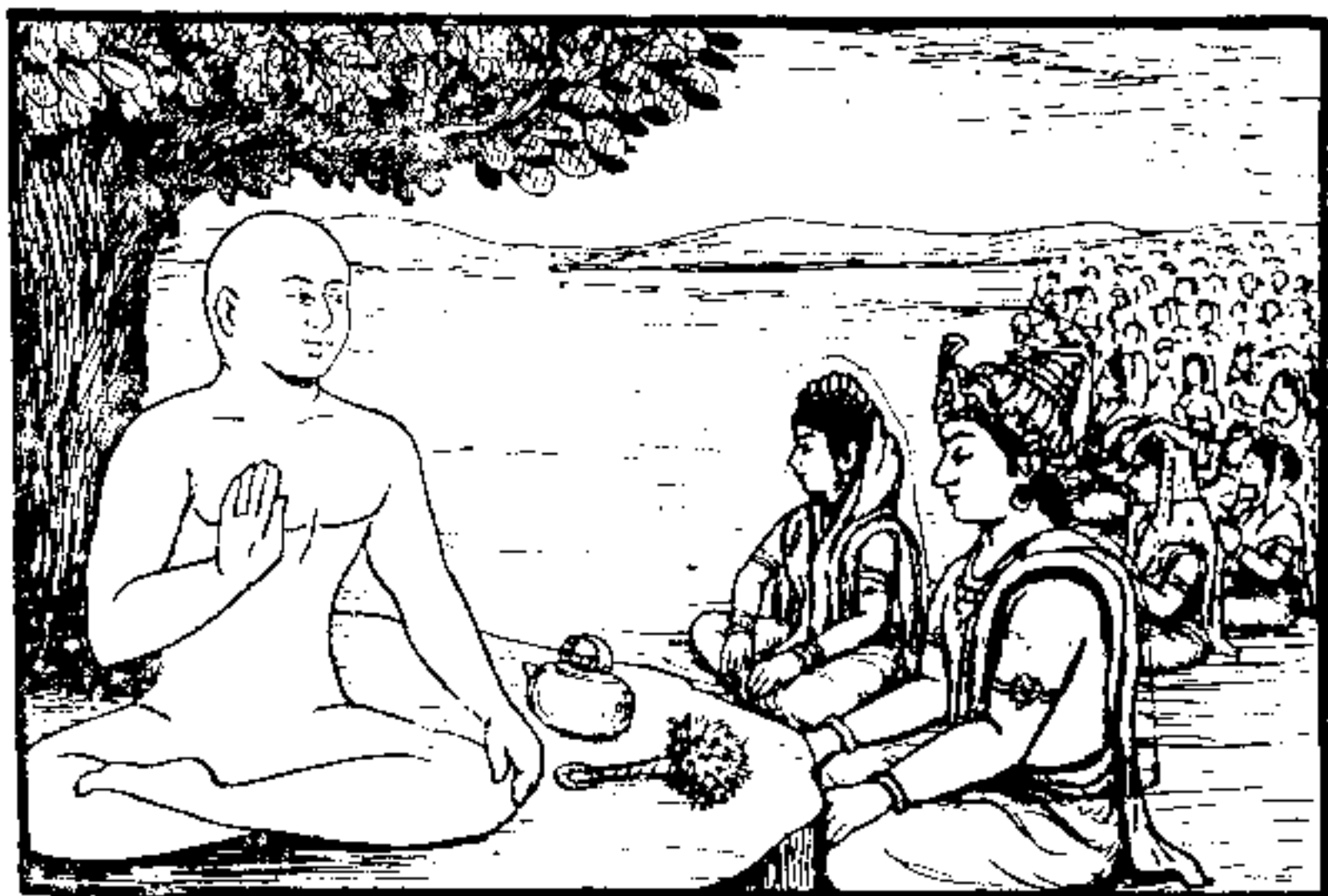
भावार्थ—महातपस्वी, ऋद्धिधारी मुनिराज के आगमन का समाचार सुनकर सद्धर्मानुरागी श्रेणिक महाराज बहुत आनन्दित हुए और सिंहासन से उठकर सात डग जाकर सभा सहित उन मुनिराज को आदर पूर्वक नमस्कार किया और जय जय ध्वनि पूर्वक मुनिराज की स्तुति की । परमानन्द को प्राप्त हुए श्रीपाल महाराज ने वनपाल को प्रचुर धन राशि देकर विदा किया और मङ्गलकारी शुभ समाचार को सूचित करने वाली, सन्मार्ग का प्रदर्शन करने वाली महाभेरी बजवा दी तथा अपने प्रियाओं, परिजन और पुरजनों सज्जनों के साथ, वजते हुए वादित्रों सहित, प्रभावना पूर्वक छत्रादि से युक्त हाथी पर सवार होकर, शीघ्र उस वन में पहुँच गये । वहाँ पवित्र शिला पर अशोक वृक्ष के नीचे बैठे हुए अत्यन्त निश्चल ध्यानस्थ श्रुत-सागर मुनिराज को देखा । वे मुनि कैसे थे सो आगे बताते हैं ॥८ से १२॥

निश्चलं मेरुवद् गाढं गम्भीरं सागरादपि ।
तं विलोक्य कृपासिन्धुश्चारुरत्नत्रयान्वितम् ॥१३॥

त्रिपरीत्य महाप्रीत्या समभ्यर्च्यपदाम्बुजम् ।
तन्मुनेः संस्तुतिं कृत्वा नत्वा तत्पादयोरधः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(मेरुवद् निश्चलं) सुमेरु के समान निश्चल (सागरादपि) समुद्र से भी (गाढं गम्भीरं) अति गम्भीर (चारु) उत्तम निर्मल (रत्नत्रयान्वितम्) रत्नत्रय से युक्त (कृपासिन्धु) दयासिन्धु (तं विलोक्य) उन मुनिराज को देखकर (महाप्रीत्या त्रिपरीत्य) अत्यन्त प्रीति पूर्वक तीन परिक्रमा देकर (पदाम्बुजं समभ्यर्च्य) चरणकमलों की सम्यक् प्रकार पूजा कर तथा (तन्मुनेः) उन मुनिराज की (संस्तुतिं कृत्वा) पवित्र स्तुति कर (नत्वा) नमस्कार कर (तत्पादयोः अधः) उसके चरणकमलों के नीचे (संस्थितो) बैठ गये ।

भावार्थ—वे मुनिराज अपने व्रतों में सुमेरु के समान निश्चल वा दृढ़ थे, तथा ज्ञान में समुद्र से भी अधिक गम्भीर थे । पवित्र रत्नत्रय से युक्त दया के सिन्धु थे । ऐसे उन मुनिराज की तीन परिक्रमा देकर महाप्रीति पूर्वक चरणकमलों की पूजा कर सम्यक् प्रकार स्तुति कर नमस्कार कर श्रेणिक महाराज, चरणों के समीप नीचे बैठ गये ॥१३, १४॥



संस्थितो मुनिनादत्तं धर्मवृद्ध्या सुरश्रिया ।

सन्तुष्टोभूः पतिगदिं मानसे सज्जनैस्तह ॥१५॥

पुनर्नत्वा मुनिप्राह श्रीपालो विनयान्वितः ।

कृताञ्जलिरहो स्वामिस्त्वं सदा करुणाकरः ॥१६॥

भव्यपद्माकराणाञ्च प्रकाशनं दिवाकरः ।

निस्पृहः श्री जिनेन्द्रोक्तं सद्धर्माम्बुधिचन्द्रमाः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(मुनिना दत्तम्) मुनिराज के द्वारा दिये गये, (सुरश्रिया) स्वर्ग आदि सम्पत्ति को करने वाले (धर्मवृद्ध्या) धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाचन से (सज्जनैः सह) राज्जनों के साथ (संस्थितो भूपति) बैठा हुआ राजा (मानसे गाढं सन्तुष्टो) मन में बहुत सन्तुष्ट हुआ । (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़ हुए वे श्रीपाल महाराज कहने लगे (अहो) हे (स्वामिन्) स्वामी (त्वं सदा करुणाकरः) आप सदा करुणा-दया करने वाले हो (भव्यपद्माकराणाम्) भव्य जीव रूपी कमलों के (प्रकाशनं) विकास के लिये (दिवाकरः) सूर्य के समान हो । (निस्पृहः) निस्पृह हो (जिनेन्द्रोक्तं सद्धर्माम्बुधि चन्द्रमा) जिनधर्म रूपी समुद्र को वृद्धिगत करने वाले चन्द्रमा के समान है ।

भावार्थ—स्वर्ग आदि सम्पत्ति को देने वाला, मुनिराज प्रदत्त धर्मवृद्धिरस्तु आशीर्वाद रूप वचन से, सज्जनों के साथ बैठे हुए श्रीपाल महाराज बहुत सन्तुष्ट हुए और हाथ जोड़े हुए कहने लगे, हे स्वामिन् ! आप सदा दया वा करुणा करने वाले हो, भव्य जीव रूपी कमलों का विकसित करने के लिये सूर्य के समान हो । अति निस्पृह हो और जिनेन्द्र कथित सद्धर्म रूपी समुद्र को वृद्धिगत करने वाले चन्द्रमा के समान हो ॥१५ से १७॥

भगवन् कीदृशीधर्मः कैसाध्योऽत्रदयापरः ।

किं फलं तस्य भो नाथ सर्वं त्वं वक्तुमर्हसि ॥१८॥

तन्निशम्य प्रभोर्वाक्यं मुनीन्द्रो धर्मतत्त्ववित् ।

सञ्जगाद शुभां वाणीं सर्वसन्देह नाशिनोम् ॥१९॥

भाषिणीं सर्वतत्त्वानां भानुभाइव निर्मलाम् ।

शीतलां चन्द्रकान्तिं वा परमाह्लाददायिनीम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभु ! (दयापरः) दया प्रधान (धर्मः) जिन धर्म (कीदृशी) कैसा है (अत्र) यहां, (बहू धर्मः) (कैसाध्यो) किसके द्वारा साध्य है (भो नाथ) हे स्वामी ! (तस्य किं फलं) उसका क्या फल है ? (सर्वं) सब (त्वं) आप (वक्तुं अर्हसि) कहने में समर्थ हो । (प्रभोः तत् वाक्यं निशम्य) राजा के उस वचन को सुनकर (धर्मतत्त्ववित्) धर्म के स्वरूप को जानने वाले (मुनीन्द्रो) मुनिकुञ्जर ने (भानुभाइव) सूर्य की किरणों के समान

(सर्वतत्त्वानां भाषिणीं) सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाली (निर्मलाम्) निर्दोष अर्थात् युक्तिसङ्गत (सर्वसन्देहनाशिनीम्) सम्पूर्ण शङ्काओं का निराकरण करने वाली (चन्द्रकान्तिं वा) तथा चन्द्रमा की किरणों के समान (शीतलां) शीतल (परमाह्लाददायिनीम्) परमानन्द को देने वाली (शुभां) शुभ, मङ्गलकारी (वाणीं सञ्जगाद) वचन कहे ।

भावार्थ—श्रेणिक महाराज ने स्तुति और वन्दना पूर्वक विनय के साथ मुनिराज से प्रश्न किया कि हे प्रभु ! जिनधर्म का स्वरूप क्या है, वह धर्म कैसा है ? यहाँ, किसके द्वारा अथवा किस प्रकार किस विधि से साध्य है ? हे स्वामी ! उसका फल क्या है ? आप ही कहने में समर्थ हो अतः आप धर्मोपदेश देकर हम भव्यजीवों को संतुष्ट करें । राजा के उस वचन को सुनकर धर्म के स्वरूप को जानने वाले मुनिकुञ्जर ने सूर्य की किरणों के समान सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाली, युक्ति प्रमाण सङ्गत निर्दोष तथा सम्पूर्ण शङ्काओं का निराकरण करने वाली, चन्द्रमा की किरणों के समान शीतलता वा आनन्द को देने वाली शुभ मङ्गलकारी वाणी कही । अर्थात् प्रश्नानुसार परमहिंकारो अमृतमय धर्म का व्याख्यान किया ॥१८, १९, २०॥

भो भूपते स्थिरं कृत्वा स्वचित्तं शृणु साम्प्रतम् ।

वक्ष्येऽहं जिनधर्मस्य लक्षणं शुभलक्षणम् ॥२१॥

संसारसागरान्तूनं समुद्धृत्य सतः नरान् ।

योधरत्येव सत्सौख्ये स धमो जिनभाषितः ॥२२॥

}→ ①

अन्वयार्थ—(भो भूपते) हे राजन् ! (साम्प्रतम्) इस समय (स्वचित्तं) अपने चित्त को (स्थिरं कृत्वा) स्थिर करके (शृणु) सुनो (अहम्) मैं (जिनधर्मस्य) जिनधर्म का (शुभ-लक्षणं) श्रेष्ठ स्वरूप (वक्ष्ये) कहता हूँ । (यो) जो (सतः नरान्) सत्पुरुषों को (संसार-सागरात्) संसार सागर से (तूनं) निश्चय से (समुद्धृत्य) निकाल कर (सत्सौख्ये) उत्तम सुख में स्थापित करता है (स) वह (जिनभाषितः) जिनप्रणीत (धमो) धर्म है ।

भावार्थ—मुनिराज ने कहा हे राजन् ! अभी अपने चित्त को स्थिर कर सुनो, मैं जिनधर्म का शुभ लक्षण कहता हूँ । जो सत्पुरुषों को संसार समुद्र से निकाल कर उत्तम सुख में स्थापित करता है वह जिन प्रणीत धर्म है ॥२१, २२॥

द्विधा धर्मस्सविज्ञेयो मुनिश्रावक भेदतः ।

महाधर्मो भवेदाद्यो मुनीनां स्वर्गमोक्षदः ॥२३॥

साररत्नत्रयोपेतः मूलोत्तरगुणयुतः ।

तस्य भेदास्सुधीस्तन्ति बहवः परमागमे ॥२४॥

अन्वयार्थ—(सुधी !) हे सुधी (स धर्मः) वह धर्म (मुनि श्रावक भेदतः) मुनिधर्म

श्रावक धर्म के भेद से (विधा विज्ञेयां) दो प्रकार का जानना चाहिये । (स्वर्गमोक्षदः) स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला (आद्यो) प्रथम (मुनीनां धर्मो) मुनिधर्म (महाभवेत्) महान् है । (साररत्नत्रयोपेतः) सारभूत रत्नत्रय से सहित (मूलोत्तरगुणैः युतः) मूल उत्तर गुणों से सहित (तस्य भेदाः) उस मुनिधर्म के (परमागमे) परमागम में जिनागम में (बहुवः भेदाः सन्ति) बहुत भेद हैं ।

माध्वार्थ—पुनः मुनिराज ने कहा कि हे सुधी ! वह धर्म, मुनिधर्म और श्रावक धर्म के भेद से दो प्रकार का है उनमें स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला प्रथम मुनिधर्म महान् है । सारभूत रत्नत्रय से सहित, मूल उत्तर गुणों से युक्त, उस मुनिधर्म के जिनागम में बहुत भेद हैं । ॥२४॥

श्रावकानां भवेद्धर्मस्सारस्वर्गादिसौख्यदः ।

संक्षेपेक्ष प्रवक्ष्यामि तं प्रभो शृणु सादरात् ॥२५॥

तत्रादौ च महाभव्यः पालनीयं जगद्धितम् ।

जिनोत्तसप्त तत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं महत् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(सारस्वर्गादिसौख्यदः) सारभूत स्वर्गादि सुख को देने वाला (श्रावकानां धर्मः) श्रावक धर्म (भवेत्) होता है (प्रभो) हे राजन् ! (संक्षेपेण) संक्षेप में (तं) उस श्रावक धर्म को (प्रवक्ष्यामि) कहता हूँ (सादरात् शृणु) आदर पूर्वक—श्रद्धान पूर्वक मुनो । (तत्रादौ) उनमें प्रथमतः (जगद्धितम्) जगत् का हित करने वाला (जिनोत्तसप्ततत्त्वानां) जिनप्रणीत सप्त तत्त्वों का (महत् श्रद्धानं) बड़ श्रद्धान रूप (दर्शनं) सम्यग्दर्शन (महाभव्यः पालनीयम्) श्रेष्ठ भव्य पुरुषों के द्वारा पालने योग्य है ।

माध्वार्थ—पुनः श्रावक धर्म का प्रतिपादन करते हुए मुनिराज कहने लगे कि हे राजन् ! श्रावक धर्म भी सारभूत स्वर्गादि सुख को देने वाला है तुम श्रावक धर्म को आदर पूर्वक मुनो । जिनेन्द्र भगवान ने सात तत्त्व बताये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । इन पर बड़ श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन है । “उपयोगो जीवलक्षणम्” जिसमें जानने और देखने की शक्ति है वह जीव है । जिसमें जानने देखने की शक्ति नहीं है ऐसे पुद्गल, धर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्य अजीव रूप हैं । “पुण्यपापागम द्वार लक्षणां आस्रवः” पुण्य और पापरूप कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं । आत्मा और कर्म प्रदेशों का दूध और पानी की तरह परस्पर संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त हो जाना बन्ध है । आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है । पूर्व बद्ध कर्मों का एक देश क्षय हो जाना निर्जरा है और सम्पूर्ण कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना मोक्ष है । इन सात तत्त्वों यथानुरूप बड़ श्रद्धान होना व्यवहार सम्यग्दर्शन है । पर द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मस्वरूप जो रूचि श्रद्धान होता है उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं । सच्चे देवशास्त्र गुरु का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है । जैसा कि आगे बताया भी है ॥२५, २६॥

देवोऽर्हन् दोष निर्मुक्तः सद्धर्मो दशधास्मृतः ।

निर्ग्रन्थोऽसौ गुरुश्चेति श्रद्धासम्यक्त्वमुच्यते ॥२७॥

सर्वत्रत क्रियासार दानपूजा तपस्तु च ।

तत् सम्यक्त्वं बुधेर्प्रोक्तं शृंगारं रत्नहारवत् ॥२८॥

ग्रन्थार्थ—(दोष निर्मुक्तः) दोष रहित अर्थात् क्षुधा, तृषा, जरा आदि अठारह दोषों से मुक्त (अर्हन्) चातियाकर्म से रहित अर्हन्त परमेष्ठी (देवः) सच्चे देव हैं । (सद्धर्मोदशभा) क्षमा, मार्दवादि १० प्रकार के उत्तमधर्म हैं (निर्ग्रन्थो) जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ साधु हैं (असी) वही (गुरुः) सच्चा गुरु है (इति श्रद्धा) इस प्रकार यह श्रद्धान होना (सम्यक्त्वं उच्यते) सम्यग्दर्शन है ऐसा जिनागम में कथन है । (सर्वत्रत क्रिया दान पूजातपस्तु) सम्पूर्ण, व्रत, आचरण-चारित्र्य, दान, पूजा और तपों में सारभूत प्रधान (तत् सम्यक्त्वं) वह सम्यग्दर्शन है । (रत्नहारवत् शृंगारं) रत्नमय हार के समान शोभावर्धक है ऐसा (बुधेः प्रोक्तं) विद्वानों ने कहा है ।

भावार्थ—जो वीतरागी, सर्वज्ञ हितोपदेशी है तथा अठारह दोषों से रहित हैं वे ही आप्त देव हैं । “नियमसार” में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—

“छुहृतहभीरुरोसो रागो मोहो चिन्ता जरा रुजा मिच्चू ।
सेदं खेदं मदो रद विम्हियणिद्दा जणुब्बेगो ॥”

“जो क्षुधा, तृषा, भीरुता, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा और उद्वेग इन अठारह दोषों से रहित होते हैं ऐसे आप्त-अरहन्त परमेष्ठी हैं ।” पुनः जो जीवों को जन्म, जरा मृत्यु के दुःखों से छुड़ा कर उत्तम मोक्ष सुख को प्रदान करता है वही सच्चा धर्म है जो दस प्रकार का है । उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये १० धर्म ही इस जीव को संसार दुःखों से बचाने वाले हैं । इसी प्रकार जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, सदा ज्ञान, ध्यान तप में अनुरक्त रहते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं । “नियमसार” में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है—

“वावार विप्पमुक्का च उब्बिहा राहणासयारत्ता ।
णिमांथा णिम्मोहा साहूते एरिसा होंति ॥”

जो पञ्चेन्द्रिय विषय व्यापार से सर्वथा विरत हैं तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप रूप चार आराधनाओं के पालन में सदा रत रहते हैं । मोह रूपी ग्रन्थी को खोलने वाले तथा समस्त परिग्रहों के त्यागी हैं वे ही सच्चे गुरु हैं, साधु हैं ।

इसी प्रकार आगम भी वही हो सकता है जो जिन प्रणीत है तथा पूर्वापर दोष से रहित है अर्थात् जिसमें पूर्वापर विरोध नहीं पाया जाता है ऐसा सर्वज्ञ कथित आगम ही सच्चा आगम है । इन पर यह श्रद्धान रहना सम्यग्दर्शन है ।

सम्पूर्ण व्रत तथा धर्मकार्य-दान, पूजा, तप आदि का सार सम्यग्दर्शन है क्योंकि

सम्यक्त्व पूर्वक किया गया अन्न, दान, पूजा, तप आदि ही मुक्ति में साधक है तथा आत्मशुद्धि में समर्थकारण है । अतः आत्मा की शोभा सम्यग्दर्शन से है । वह सम्यग्दर्शन रत्नहार के समान आत्म का अलङ्कार आभूषण है ॥२८॥

तेन युक्तो महाभव्य समुत्तीर्य भवार्णवम् ।

स दुर्गत्यादिकं हित्वा क्रमात् स्वमोक्षभागभवेत् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(तेन युक्तो) उस सम्यग्दर्शन से सहित (महाभव्य) महान भव्य पुरुष (भवार्णवम्) संसार रूपी समुद्र को (समुत्तीर्य) पारकर (दुर्गत्यादिकं हित्वा) दुर्गति आदि का नाश कर अर्थात् नरक तिर्यञ्च आदि कृगति को दूर कर (क्रमात्) क्रम से (स्वमोक्ष-भागभवेत्) स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि महाभव्य-निकट भव्य जीव, सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक तिर्यञ्च भयङ्कर दुःखों में छूट जाता है तथा संसार रूपी समुद्र को शीघ्र पार कर लेता है । प्रथमतः नरक और तिर्यञ्च गति का नाश कर फिर क्रम से स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२९॥

अहिंसाऽत्र सजीवानां पालनीया सुखार्थिभिः ।

सांकल्पिकं परित्यज्याहिंसा पक्षोऽयमुत्तमः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(सुखार्थिभिः) सुख चाहने वाले जीवों को (अत्र) यहाँ (सजीवानां अहिंसा) समस्त प्राणियों के रक्षण रूप अहिंसा को (पालनीया) पालना चाहिये (सांकल्पिकं परित्यज्य) संकल्पी हिंसा का त्याग कर (अयम् उत्तमः) यह उत्तम (अहिंसा पक्षो) अहिंसा-पक्ष वा धर्म (पालनीया) पालन करने योग्य है ।

भावार्थ—प्राणीमात्र के प्रति रक्षण का भाव होना अहिंसा है । सुख के इच्छुक गृहस्थ को संकल्पी हिंसा का त्याग कर उस उत्तम अहिंसा धर्म का पालन करना ही चाहिये ॥३०॥

असत्यं दूरतस्त्याज्यं परद्रव्यञ्च सर्वथा ।

परस्त्रियं परित्यज्य कार्यस्तोषः स्वयोषिति ॥३१॥

अन्वयार्थ—(दूरतः) दूर से अर्थात् हर प्रकार से (असत्यं परद्रव्यं च) असत्य वचन और परद्रव्यहरण रूप चोरी को (त्याज्यम्) छोड़ देना चाहिये (परस्त्रियं सर्वथा परित्यज्य) परस्त्री के सेवन का सर्वथा त्याग कर (स्वयोषिति) अपनी स्त्री में (तोषः कार्यः) सन्तोष रखना चाहिये ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावकों को असत्य वचन, परद्रव्यहरण रूप चोरी का भी दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । तथा पर स्त्री के सेवन का सर्वथा त्याग कर अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिये ॥३१॥

परिग्रहेषु सर्वेषु प्रमाणं संविधीयताम् ।

येन जीवो भवेदुच्चैः सन्मुखीव भवे भवे ॥३२॥

अन्वयार्थ — (सर्वेषु परिग्रहेषु) सम्पूर्ण परिग्रहों में (प्रमाणं) परिमाण या सीमा (संविधीयताम्) कर लेनी चाहिये (येन) उस परिग्रह प्रमाण रूप अणुव्रत के प्रभाव से (जीवो) जीव (भवे भवे) भव भव में (उच्चैः) श्रेष्ठ (सन्मुखीव भवेत्) सम्यग्दर्शन आदि गुणों के उन्मुख रहे ।

भावार्थ — श्रावकों को परिग्रह का प्रमाण भी अवश्य करना चाहिये जिससे परिग्रह में आसक्ति पैदा न होवे । बाह्य परिग्रह के १० भेद हैं—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य (चाँदी), सुवर्ण, धन, धान्य, दासो, दास, कुप्य, भाँडे इन सभी का परिमाण करने से इच्छाओं का निरोध होता है, पूर्ण कर्म होती है और जीव भव भव में इस परिग्रह परिमाण व्रत के संस्कार से श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन आदि गुणों के सन्मुख रहकर मोक्ष मार्ग में आसक्त रहता है ॥३२॥

सर्वदा च सता त्याज्यं पापसंतापकारणम् ।

रात्रि भोजनमात्रोच्चैर्मसि व्रत विशुद्धये ॥३३॥

चर्मचारिघृतं तैलं हिगुसंधृत चर्म च ।

स्वभावाच्चलितं भोज्यं वर्जनीयञ्च सर्वदा ॥३४॥

अन्वयार्थ — (सता) सत्पुरुष के द्वारा (पापसंतापकारणम्) पापवर्धक संतापकारक (रात्रि भोजनमात्रोच्चैः) रात्रि भोजन मात्र सर्वतः (सर्वदा त्याज्यं) सदा त्याज्य है (मांस-व्रत विशुद्धये) मांस त्याग व्रत की विशुद्धि के लिये (चर्मचारिघृतं तैलं) चर्म में रखे जल, घृत, और तेल (च) और (चर्मसंधृतहिगु) चमड़े में रखो हींग (स्वभावात् चलितं भोज्यं) स्वभाव से चलित अर्थात् विकृत अमर्यादित भोज्य पदार्थ (सर्वदा) सदा (वर्जनीयं) छोड़ने योग्य है अर्थात् सत्पुरुषों को अवश्य इनका त्याग करना चाहिए ।

भावार्थ — सत्पुरुषों को रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिये । क्योंकि रात्रि भोजन करने वाला हिंसा से नहीं बच सकता है । सूर्य के प्रकाश के अभाव में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव हैं वे बाहर निकलकर वायुमंडल को व्याप्त कर लेते हैं और भोजन की सुगन्धी को पाकर उसमें गिरकर मर जाते हैं । तथा रात्रि में एलेक्ट्रिक के प्रकाश से आकृष्ट हुए सूक्ष्म मच्छर फतिगे आदि भी भोजन में गिरते हैं इसलिये रात्रि में खाया हुआ अन्न मांस पिण्ड के तुल्य हो जाता है । अतः मांस त्याग व्रत की विशुद्धि के लिये पाप वर्धक तथा नरकादि के दुःखों को उत्पन्न करने वाले रात्रि भोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये । पुनः चमड़े की थैलियों में रखा हुआ जल, घी अथवा तेल, हींगड़ा आदि भी श्रावकों को प्रयोग में नहीं लाना चाहिये । चमड़े की चरस में लाया हुआ पानी पीने वाले को मांस भक्षण का दोष आता है । साथ ही अमर्यादित वस्तु का सेवन करने से भी मांस त्यागव्रत में दोष लगता है । अचार, मूरब्बा, बड़ी

मंगौड़ी, पापड आदि की मर्यादा भी २४ घण्टे की ही है अर्थात् २४ घण्टे के बाद ये चीजें अभक्ष्य हो जाती हैं । अष्ट मूलगुण के धारी श्रावकों के लिये असेवनीय हैं ॥३४॥

कन्दमूलं च संधानं पुष्पशाकं च वर्जयेत् ।

कालिङ्गं नवनीतं च संत्यजन्तु विवेकिनः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(कन्द मूल) मूली गाजर आदि कन्दमूल (संधानं) अचार (पुष्पशाकं च) पुष्प और हरी पत्तियों का शाक (वर्जयेत्) नहीं खाना चाहिये (विवेकिनः) विवेकी पुरुष (कालिङ्गं) तरबूज (च) और (नवनीतं) मक्खन का (संत्यजन्तु) त्याग करें ।

भावार्थ—कन्दमूल, साधारण वनस्पति में गर्भित हैं अर्थात् इनमें एक शरीर में अनन्त जीवों का समान रूप से निवास रहता है । जैसे एक आलू या गाजर है तो उसमें भी अनन्त जीव हैं और उसको खाने से अनन्त जीवों के घात का पाप लगेगा । अचार भी जितना पुराना होगा उतनी ही अधिक जीव राशि उसमें उत्पन्न हो जाती है अतः अनन्त वसजीवों की उत्पत्ति उसमें हो जाने से मांस भक्षण का दोष लगता है, पुष्प अर्थात् फूल भी अभक्ष्य हैं किन्तु लवङ्ग, जावित्री, गिलावा, नागकेशर, और केशर ये पाँच प्रकार के फूल प्रासुक हैं अतः इनको छोड़कर सभी प्रकार के फूलों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिये, वे अभक्ष्य हैं । हरी पत्तियों में जिनका शोधन अशक्य है ऐसी पत्तियों को भी नहीं खाना चाहिये, वे भी अभक्ष्य हैं । तरबूज भी अभक्ष्य पदार्थों में गर्भित है । तरबूज की मर्यादा अन्तर्द्वर्त की है वही तिलोने के बाद अन्तर्मुहूर्त से पहले, उसे खा सकते हैं उसके बाद उसमें वस जीव पैदा हो जाते हैं और वह अभक्ष्य हो जाता है । अभिप्राय यह है कि अहिंसायुक्त की रक्षा तथा अष्टमूल गुणों की विशुद्धि के लिये श्रावकों को भी भक्ष्य अभक्ष्य का विचार करते हुए भोजन करना चाहिये । जिनके भक्षण से अनन्त जीवों का घात होता है ऐसी वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥३५॥

दिग्गतं च यथाशक्तिदेशव्रतमनुत्तरम् ।

ये धरन्ति महाभव्यास्ते तरन्ति भवार्णवम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(ये महाभव्याः) जो निकट भव्य (दिग्गतं) दिग्गत (च) और (यथाशक्तिः अनुत्तरं देशव्रतं) यथाशक्ति श्रेष्ठ देवव्रत को (धरन्ति) धारण करते हैं (ते) वे (भवार्णवम्) संसार रूपी समुद्र को (तरन्ति) पार कर जाते हैं ।

भावार्थ—अणुव्रतों की तरह दिग्गत, देशव्रतादि भी प्रयत्नपूर्वक पालनीय हैं । पुरुषार्थ सिद्धयु पाय में आचार्य लिखते हैं—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।

व्रतपालनाय तस्मात् शीलान्यपि पालनीयानि ॥

जिस प्रकार परिधि (बाउंडरी) नगर की रक्षा के लिये होती है उसी प्रकार अणुव्रतों

की सुरक्षा वा विशुद्धता के लिये परिधि के समान दिग्ब्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत ये तीन दिग्ब्रत हैं इनका पालन भी प्रयत्न साध्य है। जीवन पर्यन्त के लिये दशों दिशाओं में जाने जाने की मर्यादा कर लेना दिग्ब्रत है। पुनः दिग्ब्रत में की गई मर्यादा में भी यथाशक्ति गमना-गमन का नियमित काल के लिये त्याग करना अर्थात् उसमें भी यह नियम करना कि मैं इतने समय तक अमुक ग्राम, नगर, गली या मुहल्ल के बाहर नहीं जाऊँगा—यह देश व्रत है। दिग्ब्रत धार देशव्रत धारी श्रावक के त्यक्त क्षेत्र संबंधी समस्त प्रकार की हिंसाओं का त्याग हो जाने से उपचार से महाव्रतपना प्राप्त है क्योंकि अहिंसा की पवित्र भावना से उसका चित्त निर्मल है। इसी प्रकार बिना प्रयोजन पापास्रव की कारणभूत श्रियाओं का त्याग कर अनर्थदण्डव्रत है। जैसा कि आचार्य आगे बताते हैं ॥३६॥

वृथा विराधना हेया पञ्चस्थावरकेषु च ।

जीवाहारी तथा जीवो नैव पोष्यो बुधोत्तमः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(पञ्चस्थावरकेषु च) पञ्च स्थावरों की भी (वृथा) व्यर्थ में (विराधना हेया) विराधना नहीं करनी चाहिए (जीवाहारी जीवों) मांसाहारी जीव (बुधोत्तमः) विवेकशील श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा (नैव पोष्यो) सर्वथा अपोषणीय हैं अर्थात् इनका पोषण करने से हिंसा का ही पोषण होता है अतः ये अपालनीय हैं। कुत्ता, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को अपने घर में नहीं पालना चाहिये।

भावार्थ—श्रावकों को निरन्तर अहिंसा की भावना को प्रधानभूत समझते हुए हर प्रकार के अनर्थ दण्ड का त्याग करना चाहिये। यद्यपि श्रावक मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी है वह व्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा नहीं करता है और स्थावर हिंसा का अत्यागी है। पर उसे व्यर्थ में स्थावर जीवों की हिंसा भी नहीं करनी चाहिये और आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा तथा विरोधी हिंसा को भी अल्प अल्पतर करने का प्रयास रखना चाहिये। आरम्भ, उद्योग आदि के द्वारा व्रस जीवों का भी घात हो जाता है अतः प्रत्येक कार्यों को समिति पूर्वक विवेक पूर्वक करना चाहिये जिससे व्रस जीवों की हिंसा नहीं होवे और बिना प्रयोजन हरी घाँस पर चलना, पत्तियों को तोड़ना, पानी ढोलना, पंखा चलाना तथा अग्नि व्यर्थ में जलाकर छोड़ देना इत्यादि कार्य नहीं करना चाहिये ये सभी अनर्थदण्ड हैं, विशेष पापास्रव के कारण हैं ॥३७॥

सामायिकं व्रतं पूतं पालनीयं जिनोक्तिभिः ।

द्वित्रिसंध्यं स्वभावेन सर्वपापक्षयंकरम् ॥३८॥

अष्टम्यां च चतुर्दश्यामुपवासो जगद्धितः ।

तथा श्रीशुक्लपञ्चम्यां वृत्तञ्च सुखराशिदं ॥३९॥

अन्वयार्थ—(जिनोक्तिभिः) जिनेन्द्र कथित (पूतं) पवित्र (सामायिकं व्रतं) सामायिक व्रत को (पालनीयं) पालना चाहिये (द्वित्रिसंध्यम्) प्रातः और सायंकाल दो बार यथा

प्रातः मध्याह्न और सायंकाल ऐसा त्रिकालवर्ती सामायिक (स्वभावेन) स्वभाव से (सर्वपाप क्षयङ्करम्) सम्पूर्ण पापों का क्षय करने वाला है। (जगत्हितः) जगत के लिये हितकर (अष्टम्यां चतुर्दश्यां) अष्टमी और चतुर्दशी के दिन किया गया (उपवासो) उपवास (तथा) तथा (शुक्लपञ्चम्यां व्रतं) शुक्लपक्ष की पञ्चमी का व्रत (सुखराशिदं) सुखराशि को देने वाला है।

भावार्थ—व्रती श्रावकों को नियमित रूप से प्रतिदिन सामायिक करनी चाहिये। सामायिक का स्वरूप श्री अमृचन्द्र स्वामी ने इस प्रकार बताया है—

“रागद्वेषत्याग्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुणः सामायिकं कार्यम् ॥”

रागद्वेष रूप प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर दृष्ट अनिष्ट सभी पदार्थों में साम्यभाव रखना सामायिक है यही आत्मतत्त्व की प्राप्ति का बीज है मुख्य कारण है। सामायिक प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं—

चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंख्यमभिवन्दी ॥१३६ नं. श्लोक॥

चारों दिशाओं में तीन तीन आवर्त और एक एक प्रणाम करने वाला श्रावक यद्यपि संयम स्थान को नहीं पाता है फिर भी सूर्या रहित होने से मुनि के समान वह ब्रह्मासन अथवा पद्मासन लगाकर, मन, वचन, काय तांनों को शुद्ध रखता हुआ सुबह, दोपहर और सन्ध्या तीनों समय सामायिक करने वाला सामायिक प्रतिमाधारो है। चार शिक्षाव्रतों में भी सामायिक नामक शिक्षा व्रत है जिसका लक्षण रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार बताया है—

आस भयमुक्तिमुक्तं पञ्चाधानामशेष भावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥

सामयिक स्वरूप जोगराधर आदि देव हैं उन्होंने मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से सामायिक के लिये निश्चित समय तक पाँचो पापों के त्याग करने को सामायिक शिक्षाव्रत कहा है। सामायिक शिक्षा व्रत और सामायिक प्रतिमा में साहचर्य है ये एक दूसरे के पूरक हैं जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा बताये गये उक्त सामायिक व्रत का यथाविधि पालन करना चाहिये। यह सामयिक समस्त पापों का क्षय करने वाला है। पुनः उस सामायिक के द्वारा डाले गये संस्कार को स्थिर सुदृढ़ करने के लिये प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशी को उपवास भी अवश्य करना चाहिए। जगत् के प्राणियों के लिये सर्वप्रकार से हितकारी उपवास को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। द्विद्रव्य दमन और कषायों के शमन का कारण होने से उपवास को हितकर कहा है। इसी प्रकार श्रेष्ठ सुखराशि को देने वाला शुक्लपक्ष की पञ्चमी का व्रत भी हमारे लिये सर्वप्रकार हितकर है। ये सभी व्रत आत्मविशुद्धि में साधक हैं। ३८, ३९।

भोगोपभोगवस्तूनां श्रावकाचार चंचुभिः ।

सदासंख्या प्रकर्त्तव्या परमानन्ददायिनी ॥४०॥

पात्र दानं सदा कार्यं कार्यकोटिविधायकम् ।

येन जीवो भवेत् नित्यं सुखी चात्र परत्र च ॥४१॥

अन्वयाथ—(श्रावकाचार चंचुभिः) श्रावकाचारनिष्ठ विवेकशील श्रावकों को (परमानन्ददायिनी) परमानन्द का देने वाला (भोगोपभोग वस्तूनां संख्या) भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण रूप व्रत (सदा प्रकर्त्तव्या) सदा अर्थात् अवश्य करना चाहिये तथा (कार्यकोटि विधायकम्) करोड़ों उष्ट्र कार्यों का निष्ठ करने वाला (पात्रदानं) पात्रदान (सदा कार्यं) सदा करने योग्य है अर्थात् करना चाहिये । (येन जीवो) जिससे जीव (अत्र परत्र च) इस लोक और परलोक में (नित्यं) सदा (सुखी भवेत्) सुखी रहता है ।

भावार्थ—जो व्रत हिंसा से विरत और स्थावर जीवों की भी हिंसा से बचने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है ऐसे विवेकशील, श्रावकाचार में सावधान श्रावकों को भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण भी अवश्य करना चाहिये यह भोगोपभोग परिमाण व्रत, सन्तोष भाव को जागृत करने वाला, परम आनन्दकारी है प्रयत्न पूर्वक इसका पालन करना चाहिये । इसी प्रकार पात्र को दिया गया दान भी करोड़ों श्रेष्ठ मधुर फल को देने वाला है हमारे जीवन को इस लोक में परलोक में भी सुखी बनाने वाला है । किन्तु पात्र किसे कहते हैं यह विषय विचारणीय है । मोक्ष के कारण रूप गुण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनका जिनमें संयोग हो ऐसे अविरत सम्यग्दर्शित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, विरताविरत-देशविरत पंचमगुण स्थानवर्ती और सकल विरत—छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज—ऐसे तीन प्रकार के पात्र कहे गये हैं । इस प्रकार पात्र का सामान्य लक्षण यह है कि जिस आत्मा में मोक्ष की कारणता उपस्थित हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की प्रगटता जिस आत्मा में हो चुकी है अथवा केवल सम्यग्दर्शन ही प्रगट हो चुका हो वही आत्मा पात्र कहा जाता है । आहार दान, अभयदान, औषधदान और ज्ञानदान—ये चार प्रकार के दान हैं । पात्र को दिया गया दान, इह लोक और परलोक दोनों भवों में जीव को सुख देने वाला है । अतः श्रावकों को पात्र दान अवश्य करना चाहिये । कहा है—“नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यन्ति मानसः” मत्पुरुषों को लेने में नहीं देने में आनन्द का अनुभव होता है, सन्तोष होता है । जो दान देकर हर्षित होता है वही श्रेष्ठ दाता है । पुनः दाता और पात्र के साथ देने योग्य सामग्री भी उत्तम होनी चाहिये । आचार्य कहते हैं—

“रागद्वेषा संयम मद दुःख भयादिकं न यत्कुरुते ।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७० पुरुषा॥

जो पदार्थ राग द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि को नहीं करता है तथा सुतप और स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो, वही द्रव्य देने योग्य है । अर्थात् जो संयम का घात न करे ऐसा द्रव्य पात्र को देना चाहिए ॥४०, ४१॥

पुण्यैर्नवभिरत्रोच्चैः दातृसप्तगुणान्वितः ।

बदात्याहारदानं ये पात्रेभ्यो बहुभक्तितः ॥४२॥

ते भव्यास्सारसौख्यानि देवेन्द्रादि पदं तथा ।

संप्राप्य क्रमतो नित्यं प्राप्नुवन्ति सुखं परम् ॥४३॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहां (उच्चैः नवभिः पुण्यैः) श्रेष्ठ नवधाभक्ति पूर्वक (दातृ-सप्तगुणान्वितः यः) सात गुणों से सहित जो (बहुभक्तितः) अतः भक्तिपूर्वक (पात्रेभ्यः) पात्र के लिये (आहारदानं) आहार दान (ददाति) देते हैं (ते भव्याः) वे भव्यपुरुष (सारसौख्यानि) सारभूत उत्तम सुखों को (तथा) तथा (देवेन्द्रादि पदं) देवेन्द्र आदि के पद को (संप्राप्य) प्राप्त कर (क्रमतो) क्रमशः (नित्यं परं सुखं) स्थाई मोक्ष सुख को (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—सर्व प्रथम यहां दान देने की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि उत्तम पात्रों को नवधा भक्ति पूर्वक आहार देना चाहिये । उत्तम पात्र को पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचा आसन देना, उनके पद प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनः शुद्धि रखना, वचन शुद्धि रखना, काय शुद्धि रखना और भोजन की शुद्धि रखना—यही नवधा भक्ति है अथवा दान देने की विधि है । इस प्रकार विधिपूर्वक आहार दान करना ही श्रावक का मुख्य कर्तव्य है । मोक्षशास्त्र में कहा है—विधि द्रव्यदानृपात्र विशेषात् । तद्विशेषः—विधि, द्रव्य, दातृ, पात्र को विशेषता से दान में विशेषता आती है । द्रव्य कैसा होना यह पूर्व श्लोक में बता चुके । अब दाता कैसा होना, यह बताते हुए आचार्य कहते हैं श्रेष्ठ दाता वही है जो सात गुणों से युक्त हो । दाता के सात गुण इस प्रकार हैं—

‘ऐहिकफलानपेक्षा क्षांतिनिष्कपटतानसूयत्वम् ।

अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥पुरुषा १६६॥

(१) इसलोक और परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा नहीं करना अर्थात् दान देकर उसके फलस्वरूप मुझे लोक प्रतिष्ठा, यश, उत्तम इन्द्रादिका पद मिले इस प्रकार की वाञ्छा नहीं करना यह दाता का प्रथम गुण है ।

(२) पूर्ण क्षमा भाव होना—किसी निमित्त से मुनियों का अन्तराय हो जाने से, किसी सामग्री की न्यूनता हो जाने से, अथवा बहुत लेने वाले हैं किस किस को दूँ इत्यादि प्रकार से क्रोध नहीं उत्पन्न होना चाहिए ।

(३) मायाचार नहीं होना चाहिये, किसी प्रकार की अशुद्धि रह जाने पर वचन से यह कहना कि हाँ, सब शुद्ध है, वाक्कपटता है । मन में कोई भाव हो उसे प्रकाश में दूसरे रूप से ही दिखा देना यह मन की कपटता है । मुख्यता से कपटवृत्ति मन में ही होती है । उसी का प्रयोग वचन वा काय द्वारा किया जाता है । माया एक शल्य है, यह दाता के गुणों का लोप

करने वाली कषाय है । इसलिये सरल एवं शुद्धि-विकार रहित परिणाम रखना अति आवश्यक है ।

(४) ईर्ष्याभाव नहीं होना चाहिए । यथा—किसी दूसरे ने मुनिराज को आहार दान दिया और हम नहीं दे सके तो उसे देखकर उस देने वाले से ईर्ष्या करना कि इसके यहाँ क्यों आहार हो गया अथवा इसने तो केवल माँड़ का आहार दिया है मैं कल दूध आदि बहुमूल्य पदार्थों का दान दूँगा फिर इसकी अपेक्षा मुझे अधिक यश मिलेगा, इस प्रकार दूसरे दाता से ईर्ष्याभाव धारण करना असूया कहलाती है और वैसा भाव नहीं करना अनुसूया कहलाती है । जब निरपेक्ष शुद्धभाव से स्वपर कल्याण के लिये दान देने का उद्देश्य है तो दूसरे को देते हुए भी देखकर हर्षभाव धारण करना चाहिये ।

(५) किसी कारण के उपस्थित होने पर भी खेद नहीं करना—किसी अन्तराय के हो जाने से मुनियों का यदि आहार न हो सके अथवा अपने यहाँ उनका आना ही न हो सके तो विषाद-खेद नहीं करना चाहिए । बिना कारण खेद करके पाप बन्ध करना मूर्खता है ।

(६) दान देकर हर्ष होना चाहिये—आज मेरे उत्तम पात्र का आहार हो गया है, मुझे अनेक गुणों का लाभ हो गया है । मेरे यहाँ आज उत्तम पात्र के चरण पधारे हैं, मेरा घर आज पवित्र हो चुका और मैं अपने को धन्यभाग्य समझता हूँ । इस रीति से हर्ष मानना धर्म की इदृता एवं भक्ति का परिणाम है ।

(७) दान देने पर मान नहीं करना चाहिए, यह भाव हृदय में कभी नहीं लाना चाहिए कि मेरे यहाँ मुनिराज का अथवा ऐलक महाराज का आहार दान हो गया है, दूसरे पड़ोसी के यहाँ नहीं हुआ है । इसलिये मैं ऊँचा हूँ, यह नीचा है । सरल एवं विनय भावों से रहना ही दाता का सद्गुण है । ये सात गुण दाता में रहने चाहिए, बिना इन गुणों के दाता का महत्व नहीं है और न वह विशेष पुण्य का लाभ करता है । सप्त गुणों से रहित जो भव्य पुरुष बहुत भक्ति पूर्वक आहार दान देते हैं वे देवेन्द्रादि के पद को तथा चक्रवर्ती आदि के सार-भूत सुखों को सहज प्राप्त कर क्रम से निर्वाण सुख को भी प्राप्त करते हैं ॥४३॥

प्रतिग्रहोच्चैस्संस्थानं पादक्षालनमर्चनम् ।

नतिश्चान्न त्रियोगेषु शुद्धया नवविधञ्च तत् ॥४४॥

श्रद्धाभक्तिश्चतुष्टिश्च सद्बिज्ञानमलुब्धकः ।

क्षमासत्त्वञ्च सप्तेति गुणाः दातु प्रकीर्तितः ॥४५॥

अन्वयार्थ—(प्रतिग्रहोच्चैस्संस्थानं) पड़गाहन करना उच्चस्थान देना (पादक्षालनं) पद प्रक्षालन (अर्चनम्) पूजा (नतिः) नमस्कार (च) और (अन्न त्रियोगेषु शुद्धया) भोजन शुद्धि, त्रियोगशुद्धि—मन शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि रूप (नवविधञ्च तत्) नव प्रकार की वह दानविधि है । (श्रद्धाभक्तिश्चतुष्टिश्च) श्रद्धा, भक्ति, और संतोष (सद्बिज्ञानमलुब्धकः)

विवेक, निर्लोभता (क्षमासत्त्वञ्च) क्षमा और उदारता (दातुः) दाता के (सन्तेति गुणाः प्रकीर्तितः) ये सात गुण कहे गये हैं ।

भाषार्थ—दान की विधि के नव आवश्यक अङ्ग हैं । जिसे नवधाभक्ति कहते हैं । १. प्रतिग्रह—पड़गाहन, २. उच्चस्थान समर्पण, ३. पदप्रक्षालन, ४. पूजा, ५. नमस्कार ६. आहार शुद्धि, ७. मनशुद्धि ८. वचनशुद्धि ९. कायशुद्धि पुनः दाता के सात गुणों का नामोल्लेख करते हुए यहाँ आचार्य कहते हैं—१. श्रद्धा २. भक्ति ३. सन्तोष ४. सद्विज्ञान—विवेक, ५. निर्लोभता, ६. क्षमा ७. सत्त्व—उदारता ये सात गुणों से युक्त दाता ही श्रेष्ठ दाता है । दाता के उपर्युक्त सात गुण जिनागम में बताये गये हैं जिनका उल्लेख पहले कर चुके हैं । प्रत्येक का स्वरूपोल्लेख आचार्य आगे और भी करते हैं ॥४५॥

पात्रं मे गृहमायातु तस्मै दानं ददाम्यहम् ।

इत्याशयो भवेदत्र श्रद्धावान् स प्रकीर्तितः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(मे गृहं) मेरे घर को (पात्रं आयातु) पात्र आवे, अथवा मुनिराज आवें (तस्मै) उनके लिये (अहम् दानं ददामि) मैं दान देता हूँ (इत्याशयो) इस प्रकार का भाव-परिणाम (भवेत्) होना चाहिये (अत्र) यहाँ (स) उक्त प्रकार के परिणाम को धारण करने वाला वह दाता (श्रद्धावान्) श्रद्धालु (प्रकीर्तितः) कहा गया है ।

भाषार्थ—मेरे घर अधिक से अधिक पात्रे अर्थात् उत्तम, मध्यम, जघन्य सभी प्रकार के पात्र आहारार्थ पधारें तो मैं अपने को धन्य समझूँगा । इस प्रकार की भावना जिनके पाई जावें वे श्रद्धालु—श्रद्धावान् हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है ॥४६॥

सम्पूर्णहार-पर्यन्तं भक्तिं कुर्वन् गुरोस्सुधीः ।

पाश्वर्षे संतिष्ठते योऽसौ भक्तिमान् श्रावकोत्तमः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णहार पर्यन्तं) आहार पूरा होने तक (गुरोः) गुरु की (भक्तिं कुर्वन्) भक्ति करता हुआ अर्थात् आहार देने में पूरी सावधानी रखता हुआ (यो) जो (पाश्वर्षे संतिष्ठते) पास में सम्यक् प्रकार ठहरता है—स्थिर रहता है (असौ) वह (श्रावकोत्तमः) श्रेष्ठ श्रावक (भक्तिमान्) भक्तिमान् है ।

भाषार्थ—जब तक मुनिराज का आहार पूरा नहीं होता है तब तक निरन्तर सावधानी और भक्तिपूर्वक आहार देता हुआ जो श्रावक पास में सम्यक् प्रकार ठहरता है, निरन्तर गुरु की भक्ति करता रहे, वह श्रावकोत्तम है, भक्तिमान् श्रेष्ठ दाता है ॥४७॥

समायाते महापात्रे संतुष्टो यो भवेत्तराम् ।

संप्राप्ते वा निधाने च दाता तुष्टिवान् मतः ॥४८॥

अन्वयार्थ—(सं प्राप्ते निधाने) धन वैभव के प्राप्त होने पर (वा) जैसे बहुत आनन्द होता है उसी प्रकार (महापात्रे समायाते) श्रेष्ठ उत्तम पात्र के शुभ आगमन होने पर (यो दाता) जो दाता (तराम् संतुष्टो) बहुत सन्तुष्ट (भवेत्) होता है (वह) (तुष्टिवान् मतः) संतोष गुण से युक्त तुष्टिवान् दाता है ।

भावार्थ—जैसे जीव धन के मिलने पर बहुत सन्तोष अर्थात् सुख का अनुभव करता है उसी प्रकार जो दाता, श्रेष्ठ तपस्वीजनों के अर्थात् उत्तम महापात्र के शुभागमन होने पर बहुत सन्तुष्ट वा आनन्दित होता है आचार्य कहते हैं कि ऐसे दाता को ही संतोष गुण का धारी सन्तुष्टिवान् कहा गया है ॥४८॥

अभिप्रायं सुपात्रस्य कालदेशवयोगुणम् ।

जानाति यो दयायुक्तस्स दाता ज्ञानवान् भवेत् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(कालदेशवयोगुणम्) काल, देश, वय-आयु तथा गुण को तथा (सुपात्रस्य अभिप्रायं) सुपात्र के अभिप्राय को (दयायुक्तः यो दाता) दयाशील जो दाता (जानाति) जानता है (स) वह (ज्ञानवान् भवेत्) ज्ञानवान् होता है ।

भावार्थ—वही दाता श्रेष्ठ और ज्ञानवान् कहा गया है जो काल, देश आयु तथा पात्र की प्रकृति और उसके अभिप्राय को जानता है तथा दयावान् है । जीव विराघना से जो भयभीत रहता है वह दाता ही समिति पूर्वक गृह कार्यों को करता हुआ शुद्ध आहार तैयार कर सकता है अतः दाता में दयागुण भी होना ही चाहिये । दयाशील जो दाता द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव का विचार करते हुए योग्य आहार, पात्र के लिये देता है वही ज्ञानवान् विवेकवान् श्रेष्ठ दाता है । ऐसा आगम में कहा गया है ।

कार्यं राज्यादिकं मेऽयं करिष्यति महामुनिः ।

वाञ्छेति दानकेनैव यस्य यस्मादलुब्धकः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(अयम् महामुनिः) ये महामुनि (मे राज्यादिकं कार्यं) मेरे राज्यादि कार्य को (करिष्यति) कर देंगे (इति) इस प्रकार (दानके) दान में (यस्य वाञ्छा न एव) जिसके निश्चय से वाञ्छा नहीं है वह (यस्मात्) लोभ न होने से (अलुब्धकः) अलुब्धक-निर्लोभी है ।

भावार्थ—जो दाता अपने राज्यादि कार्यों की सिद्धि के लिये, अथवा धन सम्पत्ति की इच्छा से अथवा सांसारिक सुख की वाञ्छा रखकर मुनिराज को आहार देता है वह लोभी है । जिस में ऐसी कोई वाञ्छा नहीं होती है वह अलुब्धक निर्लोभी दाता ही श्रेष्ठ दाता है ऐसा जिनागम में बताया है ॥५०॥

दानं कालेकृते दोषे सुताकान्तादिभिश्च यः ।

नैव क्षुप्यति पूतात्मा क्षमावान् स बुधर्मतः ॥५१॥

अन्वयार्थ—(सुताकान्तादिभिः) पुत्री, पत्नी आदि के द्वारा (दानकाले) दान देते समय (दोषेकृते) दोष हो जाने पर (यः पूतात्मा) जो पवित्रात्मा (नैवः कुप्यति) निश्चय से क्रोध नहीं करता है (स क्षमावान्) वह क्षमावान् है (बुधैः मतः) गणधरादि बुधजनों का ऐसा कथन है ।

भावार्थ—पुत्री, पत्नी आदि के द्वारा दान देते समय दोष हो जाने पर जो पवित्रात्मा निश्चय से क्रोध नहीं करता है वही क्षमावान् है ऐसा बुध जनों अर्थात् गणधरादि देवों ने कहा है ॥५१॥

साधिके च व्यये जाते, यो गम्भीरस्समुद्रवत् ।

स दाता सत्त्ववान् सूरि, सत्तमं परिकीर्तितः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(च) और (साधिके व्ययेजाते) अधिक खर्च हो जाने पर (यो) जो (समुद्रवत्) समुद्र के समान (गम्भीरः) गम्भीर रहता है (स दाता) वह दाता (सत्त्ववान्) उदार चित्तवाला है ऐसा (सत्तमं) थोड़ा गणधरादि देवों के द्वारा (परिकीर्तितः) कहा गया है ।

भावार्थ—किसी कारणवश अधिक खर्च हो जाने पर भी जो दाता जेद खिन्न या क्रोधित नहीं होता है, समुद्र के समान सदा गम्भीर रहता है वह दाता उदारचित्त वाला है ऐसा श्रष्ट गणधरादि देवों ने कहा है ॥५२॥

एवं त्रिविधपात्रेभ्यो अन्नदानं प्रकुर्वते ।

ते भव्या सुख संदोहं संलभन्ते पदे पदे ॥५३॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (त्रिविध पात्रेभ्यो) तीन प्रकार के पात्रों के लिये जो (अन्नदानं प्रकुर्वते) अन्न दान करते हैं (ते भव्याः) वे भव्यपुरुष (सुखसंदोहं) सुख समूह को अथवा यथेष्ट सुखों को (पदे पदे) पद पद पर (संलभन्ते) सहज प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित उत्तम, मध्यम जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को जो आहार दान करते हैं वे भव्य पुरुष यथेष्ट सुखों को पद पद पर अर्थात् सर्वत्र सहज प्राप्त कर लेते हैं ॥५३॥

शुद्धरत्नत्रयोपेतो यो मुनिस्तु दयापरः ।

उत्तमं संभवेत्पात्रं यानपात्रोपमं शुभम् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(यो शुद्धरत्नत्रयोपेतो) जो पवित्र रत्नत्रय से सहित (दयापरः) उत्तम दया भाव सहित (यानपात्रोपमं) भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज के समान (शुभम्) परमहितकारी है वे (उत्तमं पात्रं) उत्तम पात्र हैं ऐसा (संभवेत्) समझना चाहिये ।

भावार्थ—जो परम दयावान् तथा पवित्र सम्यग्दर्शी, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य

से सहित हैं तथा भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज के समान हैं वे ही उत्तम पात्र हैं ऐसा समझना चाहिये ॥५४॥

तथा सुश्रावकः पात्रं मध्यमं श्राविकापि च ।

सम्यक्त्व व्रत संयुक्तो जैनधर्मप्रपालकः ॥५५॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्व) सम्यग्दर्शन (व्रत) पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रतों से (संयुक्तो) सहित है ऐसा (सुश्रावकः श्राविकापि च) श्रेष्ठ श्रावक और श्राविका भी (जैनधर्मप्रपालकः) जैन धर्म के प्रपालक (मध्यमं पात्रं) मध्यम पात्र है ।

भावार्थ—जैनधर्म का पालन करने वाले व्यक्ति दो प्रकार के हैं (१) श्रावक (२) मुनि—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ साधु । अतः धर्म भी दो प्रकार का है । (१) गृहस्थधर्म (२) मुनिधर्म । गृहस्थ धर्म का यथाविधि उत्कृष्ट प्रकार पालन करने वाले पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह व्रतों से संयुक्त श्रावक अथवा श्राविका भी मध्यम पात्र हैं । जो सम्यग्दर्शन से सहित हैं वे ही पात्र कहे जाते हैं सम्यग्दर्शन के अभाव में अन्य गुणों का सद्भाव होने पर भी पात्रता नहीं रह सकती है । सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक मध्यम पात्र है ऐसा प्रस्तुत श्लोक में बताया है ॥५५॥

सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयेरतः ।

सत्पात्रं च जघन्यं स्याद्भावमुक्तिवधूवरः ॥५६॥

अन्वयार्थ—(च) और (जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयेरतः) जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमल युगल में अनुराग एवं भक्ति रखने वाला (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक (भावमुक्तिवधूवरः) भविष्य में मुक्ति रूपी वधू का वरण करने वाला (जघन्यं सत्पात्रं) जघन्य सत्पात्र है ।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुराग एवं भक्ति रखने वाला सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक भविष्य में मुक्ति रूपी वधू का वरण करने वाला जघन्य सत्पात्र है ॥५६॥

उक्तं च—

उत्कृष्टपात्रमनगरमणुव्रताढ्यम् ।

मध्यम, व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।

निर्दर्शनं व्रत निकाय द्रुतं कुपात्रम् ।

युग्मोज्ज्वलं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥५७॥

अन्वयार्थ—(अनगरं उत्कृष्ट पात्रं) अनगर—निर्ग्रन्थ साधु उत्कृष्ट पात्र है (अणु-व्रताढ्यम् मध्यम) अणु-व्रतव्रती श्रावक मध्यम पात्र है । (व्रतेन रहितं सुदृशं) व्रत रहित अर्थात् ३ गुण ४ शिक्षाव्रत रूप ७ शीलव्रतों से रहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्यपात्र है । (निर्द-

र्शन) सम्यग्दर्शन रहित (व्रतनिकाय युत) व्रतों से सहित जो पात्र वह कुपात्र है। (युग्योजितं) सम्यग्दर्शन रहित और व्रतों से भी रहित (नरं) व्यक्ति को (अपात्रं विद्धि) अपात्र जानो (इदं) ऐसा जिनागम में बताया है।

साधार्थ—वाह्याभ्यंतर परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ साधु उत्कृष्ट पात्र हैं। देशव्रती आचक मध्यम पात्र हैं। व्रत रहित अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से रहित सम्यग्दर्शित पुरुष जघन्य पात्र है तथा सम्यग्दर्शन से भी रहित और व्रतों से भी रहित व्यक्ति अपात्र है ऐसा निश्चय से जानो अर्थात् जिनागम में उक्त प्रकार उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र तथा कुपात्र और अपात्र का स्वरूप बताया गया है ॥५३॥

इति त्रिविधपात्रेभ्यो यथाहारस्तथौषधं ।

दानं भव्यैः प्रकर्त्तव्यं स्वर्गमोक्ष-सुखार्थिभिः ॥५८॥

जिनोक्त शास्त्रदानेन पात्रेभ्यः परमादरात् ।

संभवेत् केवलज्ञानी सुभव्यः क्रमतो ध्रुवम् ॥५९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (त्रिविधपात्रेभ्यो) तीन प्रकार के पात्रों को (यथा-हारः) यथाविधि योग्य आहार (तथा औषधं) तथा औषध (दानं) दान (स्वर्गमोक्षसुखार्थिभिः) स्वर्ग मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले (भव्यैः) भव्यजनों के द्वारा (प्रकर्त्तव्यम्) प्रकर्षण कर्त्तव्य—विशेष रूप से करना ही चाहिये (जिनोक्त शास्त्र) जिनेन्द्रप्रणीत शास्त्र का (परमादरात्) अति विनय पूर्वक (पात्रेभ्यः दानात्) पात्र के लिये दान करने से (ध्रुवम्) निश्चय से (सुभव्यः) निकट भव्य जीव (क्रमतो) क्रम से (केवलज्ञानी) केवलज्ञानी (संभवेत्) हो जाते हैं अथवा होने की सुयोग्यता रखते हैं।

भावार्थ—उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को यथाविधि योग्य आहार, प्रकृति अनुसार शुद्ध आहार तथा औषध का दान करने से क्रमशः श्रेष्ठ स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति होती है अतः स्वर्ग मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को आहारदान औषध दान आदि अवश्य करना चाहिये। अनेक धर्मात्मिक वस्तु का, अनेकान्त सिद्धान्त तथा स्याद्वाद के बल से यथार्थ प्रतिपादन करने वाला जो जिनागम है उसका परमादर पूर्वक पात्र के लिये देना ज्ञान दान है। एकान्त का पोषण करने वाले अन्य ग्रन्थ वा साहित्यों का प्रकाशन वितरणादि ज्ञानदान नहीं हो सकता है क्योंकि वैसे शास्त्र सम्यग्ज्ञान के कारण नहीं है उनसे मिथ्यात्व का पोषण होता है। जिनमें पूर्वापर विरोध न हो ऐसा जिनप्रणीत आगम ही सच्चा आगम है और उसको पात्र के लिये देना ज्ञान दान है।

ज्ञान दानादि का फल बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि ज्ञानदान करने से श्रेष्ठ भव्य पुरुष निश्चय से क्रमशः अल्पकाल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जो परम अभ्युदय का प्रतीक है। कहा भी है ॥५८, ५९॥

“ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्व्याधिर्भैषजाद् भवेत् ।
अन्नदानात्सुखो नित्यं निर्भयोऽभय दानतः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(ज्ञान दानेन) ज्ञानदान से (ज्ञानवान्) ज्ञानी (भैषजाद्) औषध दान से (निर्व्याधिः) निरोग (अन्नदानात्) अन्नदान से (नित्यं सुखी) सदा सुखी (अभयदानतः) अभयदान से (निर्भयो) निर्भय (भवेत्) होता है ।

भावार्थ—जीव ज्ञान दान से ज्ञानी और औषधदान से निरोग होता है तथा अन्नदान से सदा सुखी रहता है तथा अभयदान से—जीवों के रक्षण से निर्भय बनता है । यह पात्र दान का फल है ॥६०॥

अभयाख्यं सदा देयं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् ।

अन्यत्राऽपि यथायोग्यं भयशोक विवर्जनम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(अभयाख्यं) अभयदान अर्थात् जीवों का प्राण का रक्षण करना (दान-मुत्तमम्) श्रेष्ठ दान है (पात्रेभ्यो) पात्र के लिये (सदा) सदा (देयम्) देने योग्य है (अन्य-त्राऽपि) पात्र के अतिरिक्त अन्य जीवों के भी (भयशोक विवर्जनम्) भय शोक का निवारण (यथायोग्यं) यथायोग्य करना चाहिये ।

भावार्थ—रत्नत्रय से अथवा मात्र सम्यग्दर्शन से युक्त व्यक्ति पात्र है उसके जीवन का रक्षण करना अभय दान है । यह अभयदान दयाप्रधान होने से अहिंसा का प्रतीक होने से श्रेष्ठ है । पात्र से अतिरिक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित अन्य जीवों का रक्षण उनके भय शोक आदि का निवारण भी यथायोग्य करना चाहिये । एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों के द्रव्यप्राण और भावप्राणों का रक्षण करना भी अभयदान है ॥६१॥

तथा राजन् महाभव्यः प्रासादः श्रीजिनेशिनाम् ।

ध्वजादिभिर्महाशोभाशतैः कार्यो जगद्धितः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(तथा) तथा (राजन्) हे राजन् (महाभव्यः) महाभव्य पुरुषों के द्वारा (जगद्धितः) समस्त जगत् का हित करने वाले (श्रीजिनेशिनां) श्री जिनेन्द्र प्रभु के (प्रासादः) महल-जिनभवन (ध्वजादिभिः महाशोभा शतैः) महाशोभा को करने वाली सैकड़ों ध्वजा आदि वस्तुओं से (कृतः) अलंकृत किये जावें ।

भावार्थ—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और औषधदान के साथ-साथ भव्य पुरुष सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के आयतन स्वरूप जो जिन भवन-जिनालय हैं उन्हें भी अलंकृत करें । द्वार पर तोरण-वन्दनवार लगावें । अष्ट मंगलद्रव्य जिनमंदिर में रखें —

त्रिलोकसार में भी अष्टमङ्गल द्रव्यों का समुल्लेख है—

भियार कलशदण्ड वियणधय चामरादवत्तमहा ।
सुवइट्ठ मङ्गलाणि य अट्ठहियसयाणिपत्तेयम् ॥

अर्थ—भूंगार (झारी), कलश, दर्पण, व्यजन (पंखा), ध्वजा, चमर, छत्र सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक या साधिया) ये अष्टमङ्गल द्रव्य हैं ।

इसी प्रकार सिंहासन, पूजा, चमर तथा ध्वजा भी चढ़ानी चाहिए । मंदिर के शिखर पर ध्वजा अवश्य चढ़ानी चाहिये । कहा भी है—

“प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजा होम जपादिकम् ।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥

जिस मन्दिर में शिखर पर ध्वजा नहीं है उस ध्वज रहित मन्दिर में की गई पूजा, प्रतिष्ठा, होम जपादि सभी व्यर्थ जाते हैं इसलिये ध्वजा अवश्य चढ़ानी चाहिए ।

वसुनन्दी श्रावकाचार में शिखर पर पताका लगाने का फल बताते हुए आचार्य लिखते हैं—

“विजयपट्टाएहि एरो संगाममुहेसु विजइओ होइ ।
छत्रखण्डविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सीय ।”

अर्थ—जिस मन्दिर में विजयपताकाओं को देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है तथा षट्खण्डरूप भारतवर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ।

पुनः छत्र और चमर चढ़ाने का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि—

छत्तेहि एयच्छत्तं भुञ्जइ पुह्वी सवत्तपरिहीणो ।
चामरदारणेण सह विज्जिज्जइ चमरणिवहेहि ॥

अर्थ—छत्र प्रदान करने से मनुष्य शत्रु रहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है तथा चमरों के दान से चमरों के समूहों के द्वारा परिविजित किया जाता है । अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं ।

इसी प्रकार सिंहासन चढ़ाने से तीन लोक का प्रभुत्व प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त होती है । ये सभी उपकरण बीतराग प्रभु के जिनालय में अवश्य चढ़ावें, इनसे बीतरागता का अभाव अथवा जिनालय में सरागता का प्रवेश नहीं होता है । जिनालय समवशरण का प्रतीक है । जब समवशरण में ये सभी वस्तुएं रहती हैं तो जिनमन्दिर में इनको रखना आगमानुकूल है । वस्तुतः विभूतियों के बीच भी विरक्त रहना ऐसी शिक्षा देने के लिये या उत्कृष्ट वैराग्य को जगाने के लिये ही समवशरण को इन्द्र ने अनेक प्रकार से सुसज्जित किया था । पुनः जिनालय यदि सुन्दर सुहावना आकर्षक होगा तो अधिक लोग मन्दिर में आकर बैठेंगे और अधिक लोगों को बीतराग प्रभु के दर्शन का लाभ मिल सकेगा अतः जिनालय को अलंकृत करना ही चाहिये । यह सम्यग्दर्शन के प्रभावना अङ्ग को पुष्ट करने वाला है अतः आत्मगुणों की संपुष्टि के लिये भी आवश्यक है ।

रत्नस्वर्णमयीश्चापि प्रतिमाः पापनाशनाः ।

ये कारयन्ति सद्भव्याः शास्त्रोक्त विधिना शुभाः ॥६३॥

पञ्चकल्याणकोपेताः पवित्राः भुवनत्रये ।

ते सम्यग्दृष्टयो लोके लभन्ते परमं सुखम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(ये सद्भव्याः) जो उत्तम भव्यपुरुष (शास्त्रोक्त विधिना) शास्त्रोक्त विधि से (शुभाः) सुन्दर, मनोज्ञ (पापनाशनाः) पाप नाशक (रत्नस्वर्णमयीः प्रतिमाः चापि) रत्नमयी और सुवर्णमयी जिनप्रतिमाओं को भी (कारयन्ति) प्रतिष्ठित करते हैं, विराजमान करते हैं (ते) वे (सम्यग्दृष्टयो) सम्यग्दृष्ट पुरुष (लोके) संसार में (भुवनत्रये परमं सुखं) तीन लोक में जो सर्वोत्तम मोक्षसुख है उसको (लभन्ते) प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य पुरुष जिनालय में शास्त्रोक्त विधि से रत्नमयी, सुवर्णमयी अथवा श्रेष्ठ धातुओं से बनी हुई उत्तम पाषाण से बनी हुई जिन प्रतिमाओं की पञ्चकल्याण प्रतिष्ठा कराकर मन्दिर में विराजमान करता है वह भव्य पुण्यशाली जीव, तीन लोक में सर्वोत्तम जो मोक्ष सुख है उसको शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥६३, ६४॥

तः । श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्तनपनमुत्तमम् ।

पञ्चामृतं प्रकुर्वन्ति ते स्ताप्यन्ते सुरैरपि ॥६५॥

ये च श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजां पाप प्रणाशिनीम् ।

प्रकुर्वन्ति तदा भव्या जलाद्यैस्सार वस्तुभिः ॥६६॥

संस्तुतिं च तथा जाप्यं सर्वसम्पद् विधायकम् ।

ते च भव्या जगत्सारं धनं धान्यं सुसम्पदम् ॥६७॥

पुत्र मित्र कलत्रादि सन्तानं शर्मदायकम् ।

इन्द्रादिपदमासाद्य लभन्ते मुक्तिजं सुखम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (श्रीमज्जिनेन्द्राणां) श्री जिनेन्द्र प्रभु का (उत्तमम्) श्रेष्ठ अर्थात् विधिपूर्व (पञ्चामृतं महास्तनपनं) पञ्चामृत अभिषेक (प्रकुर्वन्ति) करते हैं (ते) वे (सुरैरपि) देवों के द्वारा भी (स्ताप्यन्ते) अभिषिक्त होते हैं । (च) और (ये) जो (भव्याः) भव्यपुरुष (जलाद्यैः सारवस्तुभिः) जलादि सार भूत वस्तुओं से (पापप्रणाशिनीं) पापनाशनी-पाप का समूल नाशकर देने वाली (श्रीमज्जिनेन्द्राणां) श्री जिनेन्द्र प्रभु की (पूजां प्रकुर्वन्ति) पूजा करते हैं (तथा) तथा (सर्वसम्पद् विधायकम्) सम्पूर्ण सम्पत्तियों को सहज प्रदान करने वाली (संस्तुतिं) स्तुति (जाप्यं च) और जप को (प्रकुर्वन्ति) करते हैं (ते भव्याः) वे भव्य पुरुष (जगत्सारं) जगत की सारभूत (सुसम्पदं) सुसम्पत्ति-उत्तम सम्पत्ति को (धनं धान्यं) धन धान्य को (शर्मदायकं) सुखदायक (पुत्र मित्रकलत्रादि सन्तानं) पुत्र, मित्र, पत्नी, सन्तान

आदि को (इन्द्रपदं च आसाद्य) और इन्द्र के पद को प्राप्त कर (मुक्तिजं सुखं) मोक्ष संबंधी शाश्वत सुख को (लभन्ते) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र प्रभु के पञ्चामृत अभिषेक, पूजा, स्तवन, जप आदि करने से जीव उत्तमोत्तम सुखों को अनायास प्राप्त कर लेता है इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए यहाँ आचार्य लिखते हैं कि जो जिनेन्द्र प्रभु का पञ्चामृत अभिषेक करते हैं वे देवों के द्वारा स्वयं अभिषिक्त होते हैं अर्थात् कालान्तर में वह स्वयं भी तीर्थकर हो सकता है और इन्द्रादि देवों के द्वारा सुमेरु पर्वत पर अभिषिक्त किया जाता है । जिनेन्द्र प्रभु की पूजा जन्म जन्मातरो के पाप समूह को नष्ट करने वाली है उस जिन पूजा के फलस्वरूप लौकिक सम्पदायें भी उसे पुण्य से सहज प्राप्त हो जाती हैं पुण्य से ही चक्रवर्ती की सम्पदा को तथा सुखदायक पुत्र, मित्र, कलत्र आदि को भी प्राप्त करता है इस प्रकार जिनभक्ति के प्रभाव से भव्यपुरुष इन्द्रादि के पद का प्राप्त कर क्रमशः शाश्वत मोक्ष सुख को भी पा लेते हैं ॥६५ से ६८॥

अन्ते भव्यः प्रकर्तव्या धीरेस्सल्लेखना विधिः ।

सर्वकर्मक्षयंकरा दाता स्वर्गापवर्गयोः ॥६६॥

तथैकादश भो भव्य ! भूपते प्रतिमाश्शुभाः ।

श्रावकानां भवन्त्येवं शृणु त्वं तास्समुच्यते ॥७०॥

अन्वयार्थ—(भव्यः) भव्यपुरुषों को (धीरेः) धैर्यशाली व्यक्तियों को (सर्वकर्मक्षयंकरा) समस्त कर्मों का क्षय करने वाली (स्वर्गापवर्गयोः दाता) स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली (सल्लेखना विधिः प्रकर्तव्या) विधिपूर्वक सल्लेखना करनी चाहिए (तथा) तथा (भो भव्य !) हे भव्य पुरुष ! (भूते !) हे राजन् (श्रावकानां) श्रावकों की (शुभाः) श्रेयकारी (एकादश प्रतिमाः समुच्यते) ग्यारह प्रतिमा रूप व्रतों को कहते हैं (ताः) उन्हें (त्वं शृणु) तुम सुनो ।

भावार्थ—अन्त में धीर वीर उन भव्यपुरुषों को समस्त कर्मों का क्षय करने वाली, स्वर्ग और मोक्ष सुख को देने वाली सल्लेखनाविधि का प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिये अर्थात् सल्लेखना पूर्वक शरीर का परित्याग करना चाहिये ।

अले प्रकार काय और कषाय के कारणों को घिसना, कम करना सल्लेखना है अथवा रागद्वेष विभाव परिणाम जो संसार बंधक हैं उन्हें कम करना एवं शरीर, बन्धु बान्धव वा समस्त परिग्रह से ममत्व भाव हटाना सल्लेखना है । पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में सल्लेखना का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

“इयमेकैव समर्था धर्मस्त्वं मे मया समं नेतुम् ।

सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥पु॥

अर्थात् यह सल्लेखना—काय के साथ कषायों को कुश करना ही मेरे धर्म रूपी द्रव्य को भवान्तर में मेरे साथ ले जाने में समर्थ है । इस प्रकार निरन्तर भक्तिपूर्वक मरणकाल में

सल्लेखना का चिन्तन करना चाहिये । किन्तु उस सल्लेखना की प्राप्ति के लिये निरतिचार व्रतों का पालन आवश्यक है । श्रावक के ११ प्रतिमा रूप व्रत होते हैं वे भी स्वर्ग सुख की और क्रमशः श्रुतीन्द्रिय मोक्ष सुख को देने में समर्थ हैं अतः ग्यारह प्रतिमा रूप व्रतों को मैं अर्थात् सकल कीर्ति आचार्य जिनवचनानुसार कहता हूँ, हे भव्य पुरुष ! हे राजन् ! तुम ध्यान पूर्वक सुनो ॥६६, ७०॥

दर्शन प्रतिमापूर्वा द्वितीया व्रत लक्षणा ।

सामायिकाख्यया प्रोक्ता तृतीयामुनिसत्तमैः ॥७१॥

चतुर्थप्रोषधाख्या च सचित्ताख्या च पञ्चमी ।

रात्रिभुक्ति परित्यागात् षष्ठी च प्रतिमा भवेत् ॥७२॥

सप्तमी ब्रह्मचर्याख्या आरम्भत्यागतोऽष्टमी ।

परिग्रह परित्यागात् नवमी प्रतिमा मता ॥७३॥

नानुमत्याख्या या प्रतिमा दशमी शुभा ।

नोद्दिष्ट भ्रामरी चेकादशी प्रोक्ता सुधोत्तमैः ॥७४॥

अन्वयार्थ—(पूर्वा) पहली (दर्शनप्रतिमा) दर्शन प्रतिमा है (द्वितीया) दूसरी (व्रत लक्षणा) व्रत प्रतिमा है (तृतीया) तीसरी (मुनिसत्तमैः) श्रेष्ठ मुनिजनों के द्वारा (सामायिकाख्यया प्रोक्ता) सामायिक नामक प्रतिमा कही गई है (च चतुर्थ) और चौथी (प्रोषधाख्या) प्रोषध नामक प्रतिमा है (पञ्चमी) पाँचवी (सचित्ताख्या) सचित्त त्याग प्रतिमा है (च षष्ठी) और छठी प्रतिमा (रात्रि भुक्तिपरित्यागात्) रात्रि भुक्ति परित्याग की अपेक्षा से है । (सप्तमी) सातवी प्रतिमा (ब्रह्मचर्याख्या) ब्रह्मचर्य नामक प्रतिमा है (अष्टमी आरम्भत्यागतो) आरम्भ परित्याग की अपेक्षा से आठवी प्रतिमा है । (नवमी) नवमी (परिग्रह परित्यागात्) परिग्रह परित्याग नामक (प्रतिमा मता) प्रतिमा मानी गई है (दशमी) दशमी (शुभा) श्रेय-कारी (नानुमत्याख्या) अनुमति त्याग नामक (प्रतिमा) प्रतिमा है । (च) और (एकादशी) ग्यारहवीं प्रतिमा (नोद्दिष्ट भ्रामरी) उद्दिष्ट त्याग कर भ्रामरीवृत्ति से आहार आदि लेना है ऐसा (सुधोत्तमैः प्रोक्ता) श्रेष्ठ विद्वानों ने कहा है ।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने क्रम से ११ प्रतिमाओं के नाम बताये हैं—(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिक प्रतिमा (४) प्रोषध प्रतिमा (५) सचित्तत्याग प्रतिमा (६) रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (८) आरम्भ त्याग प्रतिमा (९) परिग्रह त्याग प्रतिमा (१०) अनुमति त्याग प्रतिमा (११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा इस तरह ग्यारह प्रतिमा रूप श्रावक के व्रत आगम में बताये गये हैं । यहाँ श्रावकों के इन ग्यारह दर्जों का नाम ही प्रतिमा है । प्रतिमा का अर्थ बिम्ब अर्थात् आकार विशेष नहीं है ॥७१, ७४॥

एतासां लक्षणञ्चापि क्रमेण शिवकारणम् ।

शृणु त्वं भो प्रवक्ष्येऽहं श्रीपालप्रभुसत्तम ॥७५॥

अन्वयार्थ—(शिवकारणम्) मोक्ष के कारण भूत (एतासां) इन ग्यारह प्रतिमाओं के (लक्षणम् चापि) लक्षण भी (अहं) मैं (प्रवक्ष्ये) कहूँगा (भी श्रीपालप्रभुसत्तम) हे उत्तम गुणों के धारी राजन् ! (त्वं शृणु) तुम सम्यक् प्रकार सुनो ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ भी आत्मशुद्धि का साधक होने से परम्परा से मोक्ष का कारण है । उन ग्यारह प्रतिमाओं का लक्षण मैं यथाक्रम कहता हूँ, हे श्रेष्ठ गुणों के धारी राजन् ! तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥७५॥

जिनोक्त सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं मतम् ।

पञ्चविंशति-दोषाद्यैः परिव्यक्तं त्रिशुद्धितः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(जिनोक्त सप्त तत्त्वानां) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सप्त तत्त्वों का (पञ्चविंशतिदोषाद्यैः परिव्यक्तं) २५ दोषों से रहित (त्रिशुद्धितः) मन वचन काय की शुद्धि-पूर्वक (श्रद्धानं) श्रद्धान करना (दर्शनम्) दर्शन प्रतिमा है ।

भावार्थ—जिनेन्द्र कथित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वों का यथोचित श्रद्धान करने वाला दर्शन प्रतिमा धारी है ऐसा जिनागम में बताया है । तत्त्व श्रद्धान में इदृता और पवित्रता भी होनी चाहिये इस बात का संकेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि शङ्का आदि २५ दोषों से रहित मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक जिनोक्त तत्त्व का इदं श्रद्धान होने का नाम ही दर्शन प्रतिमा है ॥७६॥ वे २५ दोष कौन-कौन हैं इसका उल्लेख आगे करते हुए कहते हैं—

मूढत्रयं मदाचाष्टौ तथा नायतनानि षट् ।

अष्टौ शङ्कादयाश्चेति द्वादशाः पञ्चविंशतिः ॥७७॥

अन्वयार्थ—(मूढत्रयं) तीन मूढ़ता (मदाचाष्टौ) और आठ मद (तथा) तथा (षट्-अनायतनानि) छः अनायतन (च) और (अष्टौ) आठ (शङ्कादयाः) शङ्का आदि दोष (इति) इस प्रकार (पञ्चविंशति) २५ (द्वाद्-दोषाः) सम्यग्दर्शन के दोष हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन, और आठ शङ्कादि दोष ये २५ दोष हैं जो सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं ।

मूढ़ता—मूढ़ता का अर्थ अज्ञानता है । उस अज्ञानपूर्ण प्रवृत्ति को मूढ़ता कहते हैं जो सम्यग्दर्शन को मलिन करती है । यह मूढ़ता तीन प्रकार की है—

(१) लोकमूढ़ता—धर्म लाभ आदि मानकर—नदी या समुद्र आदि में स्नान करना बालू या पत्थर आदि का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, अग्नि में जलना आदि लोक मूढ़ता है । यहाँ यह ध्यान रखें कि धर्म मानकर आत्मशुद्धि का कारण मानकर नदी आदि में स्नान करना मूढ़ता है पर मात्र शरीर शुद्धि के लिये यदि नदी में कोई स्नान करता है तो वह मूढ़ नहीं है ।

(२) देवमूढ़ता—पुत्र प्राप्ति, रोग निवृत्ति और धनलाभ आदि ऐच्छिक फल की इच्छा से मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी देवताओं की पूजन, उपासना करना देवमूढ़ता है । किन्तु सम्यग्दृष्टि, देव पर्याय में अवस्थित, पद्मावती आदि देवी देवताओं का आह्वान कर उनको अर्घ्य समर्पण करना देवमूढ़ता नहीं है क्योंकि लोग अरहन्त मानकर उनको नहीं पूजते हैं अपितु साधर्म्य भाइयों की तरह यथा योग्य भेंट समर्पित कर उनका सम्मान करते हैं जो आगम विरुद्ध नहीं है जिनशासन की रक्षा करने वाले शासन देवी देवताओं को सम्मान देना ही चाहिये—

ताः शासनादि रक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।

अतो यज्ञांशदानेन माननीया सुदृष्टिभिः ॥ श्रीपाल चरित ॥

* अर्थात् जिनशासन की रक्षा हेतु यज्ञांश देकर शासन देवी देवताओं का सम्मान सम्यग्दृष्टियों को करना चाहिये ऐसा परमागम में बताया है । क्षायिक सम्यग्दृष्टि रामचन्द्रजी ने भा क्षेत्रपाल को अर्घ्य समर्पित किया था । पद्मपुराण में मुनिसुव्रत भगवान के जन्माभिषेक के समय पर दिक्पाल, लोकपाल को भी अर्घ्य दिया गया, ऐसा लिखा है—

“ततः शक्रेण दिक्पाला लोकपाला यथाक्रमम् ।

संस्थाप्य पूजिता अर्घ्यैः सर्वशान्तिक हेतवे ॥”

इन्द्र ने दिक्पाल लोकपाल को यथाक्रम अर्घ्य समर्पित कर सम्मानित किया अतः शासनदेवी देवताओं की उपेक्षा हमें भी नहीं करना चाहिये उनको यथायोग्य सम्मान देना ही चाहिये क्योंकि वे भी जिनशासन के रक्षक हैं । इनको अर्घ्य देना देव मूढ़ता नहीं है । तीन मूढ़ताओं का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये क्योंकि ये सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं ।

इसी प्रकार आठमद हैं जो सम्यग्दर्शन को दूषित करते हैं—रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य लिखते हैं—

ज्ञानं-पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपोवपुः ।

अष्टावाञ्छित्य मानिरत्वं समयमाहर्गतस्मयाः ॥

१. ज्ञान का मद, २. पूजा-प्रतिष्ठा का मद, ३. कुल का मद, ४. जाति का मद, ५. बल का मद, ६. धन का मद, ७. तप का मद, ८. शरीर सुन्दरता का मद । सम्यग्दृष्टि इन आठ मदों से रहित होता है । तथा षड् अनायतनों से भी दूर रहता है । कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक, और कुशास्त्र सेवक को नहीं मानता उनकी उपासना भक्ति नहीं करता है । क्योंकि उससे मिथ्यात्व का बन्ध होता है नोतिकारों ने कहा भी है—

“एक वारे नमस्कारे परदेवेकृते सति ।

परदारेषु लक्षेषु पार्य तस्मात् चतुर्गुणम् ॥”

अर्थात् एक लाख परस्त्री के सेवन से भयंकर पाप होता है उससे भी चार गुणा पाप एक बार परदेव अर्थात् मिथ्यादृष्टि देवी देवताओं को नमस्कार करने से होता है । पुनः सम्य-

दर्शन के दोष जो अङ्का, काञ्छा, विचिकित्सा, (अन्यदृष्टि प्रशंसा) अनुपगृहन, अस्थिति करण, अवान्सत्य अप्रभावना और मूढदृष्टित्व हैं उनसे भी वह सतत् दूर रहता है ? अर्थात् सम्यग्दृष्टि जिनवचन में कभी शंका नहीं करता है, सांसारिक भोगों की इच्छा विशेष नहीं रखता है, अर्थात् कर्मजन्य इन्द्रिय सुख को मित्र भुक्त्वा नहीं समझता है । क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि में तथा मुनिराज के धूलि पानी से सहित मलिन शरीर में, मल, मूत्र आदि में ग्लानि वा घृणा का भाव नहीं रखता है । वस्तु स्वभाव का ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर साम्यभाव रखता है, उसे दुर्गन्ध, सुगन्ध, सुरूप कुरूप आदि पदगल की पर्यायों में उसे रुचि या अरुचि नहीं रहती है । मुनिराज का शरीर तो मलिन होता हुए रत्नत्रय से पवित्र है अतः उसे उस मलिन शरीर को देखकर धार्मिकी अनुराग ही होता है । इसी प्रकार किसी रोगी, कुष्ठी, लंगड़े लूने को देखकर भी उसे कभी घृणा का भाव नहीं होता है किन्तु उसके चित्त में दया का भाव ही होता है ।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादर्शन आदि तथा उन तीनों मिथ्या आयतनों की मन वचन काय से प्रशंसा नहीं करता है अर्थात् मूढ़ता दोष से सर्वथा दूर रहता है । “किसी विपरीत तत्त्व में दूसरों की देखा देखी प्रवृत्त हो जाने को मूढ़ता कहते हैं” जिससे सम्यग्दृष्टि सदा विरत रहता है ।

दूसरे के दोषों को प्रकाट कर प्रसन्न होना अनुपगृहन दोष है । सम्यग्दृष्टि में यह दोष नहीं होते हैं । वह दूसरे के दोषों को ढककर रखता है जिससे धर्म की हसी न होवे तथा दोषी के प्रति इस प्रकार व्यवहार रखता है जिससे वह दोषों को छोड़ देवे अर्थात् उसके दोष छूट जायें ।

अस्थितिकरण का अर्थ है कर्मों का उदय आने पर अपने व्रत संयम नियम से डिग जाना, लिये हुए व्रतों को छोड़ देना । सम्यग्दृष्टि में यह दोष नहीं होता है । सम्यग्दृष्टि स्वस्थितिकरण और परस्थितिकरण दोनों में सदा दत्तचित्त रहता है । यदि काम क्रोध आदि के आवेग में अपना चारित्र्य या संयम शिथिल होता हुआ प्रतीत हो तो शास्त्रों का लक्ष्य रखकर अपने आपको भी तुरन्त ही सुमार्ग में ढढ़कर लेता है तथा कोई दूसरा न्यायमार्ग से (संयम, व्रत अथवा चारित्र्य से) गिरता हो तो उसे शास्त्रों का उपदेश देकर और आगम के अनुकूल युक्तियों से समझाकर उसी ग्रहण किये हुए सुमार्ग पर ढढ़ कर देता है, विचलित नहीं होने देता है ।

धर्म और धर्मात्माओं में प्रीति नहीं होना अवान्सत्य है यह दोष सम्यग्दृष्टि में नहीं रहता है वह धर्म और धर्मात्माओं में उतनी ही प्रीति रखता है जितनी गौ-नाय को अपने बत्स-बच्चे के प्रति प्रीति होती है ।

जैन धर्म की महिमा को सर्वत्र विस्तारित करने की भावना का न होना अप्रभावना है । सम्यग्दृष्टि में यह दोष नहीं होता है वह धर्म कार्य में प्रमाद-अनुत्साह नहीं रखता है । जिनधर्म के प्रचार में सतत् प्रयत्नशील रहता है वह रत्नत्रय से अपनी आत्मा की और दान, पूजा, प्रतिष्ठा आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना में यथाशक्ति संलग्न रहता है ।

इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव उक्त २५ दोषों से रहित होता है ॥७७॥

मद्यमांसमधुत्यागस्सहोदम्बरपञ्चकैः ।

अष्टौमूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणां पूर्वसूरिभिः ॥७८॥

घृतमांससुरावेश्यापापधिपरदारतः ।

स्तेयेन सह सन्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥७९॥

अन्वयार्थ—(पूर्वसूरिभिः) पूर्व आचार्यों के द्वारा (गृहिणां) गृहस्थों के (अष्टौ) आठ (मूलगुणाः) मूलगुण (प्रोक्ता) कहे गये हैं (मद्यमांसमधुत्यागः) मद्य, मांस और मधु का त्याग करना और (सहोदम्बरपञ्चकैः) पाँच उदम्बर फलों का भी त्याग करना (घृत-मांससुरावेश्यापापधिपरदारतः) जूआ, मांस, मदिरा, वेश्या सेवन, शिकार और परस्त्रीरमण (स्तेयेन सह सन्तेति) तथा चोरी इन सात व्यसनो का (बुधः त्यजेत्) बुद्धिमान पुरुष त्याग करें ।

भावार्थ—मद्य, मांस और मधु का त्याग एवं बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पाँच उदम्बर फल का त्याग करके आठ मूल गुणों का धारी श्रावक ही सम्यग्दर्शन गुण को धारण करने की पात्रता-योग्यता रखता है अन्यथा नहीं क्योंकि मद्य, मांस आदि के सेवन से अत्यधिक जीवों की हिंसा होती है, अनन्त प्राणियों का घात होता है एवं असंख्य अस जीवों का घात होता है । जो मनुष्य इन आठों का परित्याग नहीं करता है वह जैन ही नहीं कहा जा सकता है । सर्वप्रथम मद्यपान के दोषों को बताते हुए आचार्य श्रमृतचन्द्र कहते हैं—

मद्यं मोहयति मनोमोहितचित्तस्तु विस्मरतिधर्मं ।

विस्मृतधर्माजोवो, हिंसामविशंकमाचरति ॥८०॥ पुरु०

अर्थात् मदिरापानी पुरुष के धर्म, कर्म, विवेक सभी नष्ट हो जाते हैं, वैसी अवस्था में उसकी हिंसा में निःशङ्क प्रवृत्ति होती है । मदिरा पीने वाले की हिंसा में ही क्यों प्रवृत्ति होती है ? इसका उत्तर यह है कि मदिरा से आत्मा में तमोगुण की वृद्धि होती है उसके निमित्त से वह तीव्र कषाय एवं क्रूरता पूर्ण कार्य में प्रवृत्त होने के लिये बाध्य हो जाता है, कुचेष्टायें करता फिरता है, अभक्ष्य भक्षण कर लेता है, सप्त व्यसनो के सेवन में लग जाता है, ये सब तमोगुण के कार्य हैं ।

पुनः मदिरा की उत्पत्ति सड़ाये हुए पदार्थों से होती है । बहुत काल सड़ने से उन पदार्थों में तीव्र मादकता उत्पन्न हो जाती है । जो जितने अधिक दिन सड़ाये जाते हैं, उनसे उतनी ही अच्छी शराब तैयार होती है सड़ने से उनमें असंख्य तो अस जीव पैदा हो जाते हैं और अनन्त स्थावर जीव पैदा हो जाते हैं । पीछे उन सड़ाये हुए पदार्थों को मथा जाता है, मथने से वे सभी जीव मर जाते हैं । इस प्रकार अनन्त जीवों का बध हो चुकने के बाद फिर जब मदिरा तैयार हो जाती है तो फिर उस दुर्गन्धित रस में असंख्य अस और अनन्त स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार मदिरापान महान् हिंसा और अनर्थों का घर है ।

इसी प्रकार मांस भी महाविकृति को पैदा करने वाला है । जो मांस पिण्ड को खाता है, वह अनन्त जीवराशि को तो खाता ही है साथ ही जो उस मांस पिण्ड को छूता है वह भी उन जीवों का घातक है । मांस का स्पर्श भी दुर्गति का कारण है, तीव्र हिंसा का मूलभूत है । क्योंकि कच्ची, पकी हुई, पकती हुई भी मांस की डलियों में उसी जाति के निगोत जीव राशियों को निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है । मांस के समान मधु भी महाविकृति का हेतु है कहा भी है—

“मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।

भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोत्यन्तं ॥ पुरुषा० ६६॥

मधु की एक बिन्दु भी बिना मक्खियों की हिंसा किये नहीं मिल सकती जो मधु की एक वूँद भी खाता है वह असंख्य जीवों का घात करने वाला है तथा वह सात गाँवों को जला देने के बराबर हिंसा का भागी होता है ।

“सप्तग्रामेषु दग्धेषु यत्पापं जायते नृणाम् ।

तत्पापं जायते पुंसां मधुविद्वेत्क भक्षणात् ॥”

इस प्रकार इनका त्यागकर आठ मूल गुणों का भारी श्रावक ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो सकता है आठ मूल गुणों का भारी वह श्रावक सप्त व्यसन का त्यागी भी होता है । वह जूआ, चोरी, मांस, मदिरा, वेश्यासेवन, शिकार और परस्त्रीरमण का त्यागी होता है । जूआ सभी अनर्थों का मूल है—

सर्वानर्थं प्रथमं मेयनं शौचस्य सद्य मायायाः ।

दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥पुरुषा॥

जो सभी अनर्थों का मूल है, शौच धर्म को नष्ट करने वाला और माया का घर है चोरी और असत्य को जन्म देने वाला है ऐसे द्यूत कर्म अर्थात् जूआ को दूर से ही छोड़ देना चाहिये । इसी प्रकार चोरी, मांस, आदि भी महाअनर्थों के कारण दुःखों के समुद्र जीव को डालने वाले हैं अतः इनका त्याग करना चाहिये । इनको व्यसन इसलिये कहा गया है कि ये सभी जीव को विपत्तियों में डालने वाले हैं । अतः उन सभी बुरी आदतों को व्यसन कहते हैं जो विपत्तियों में जीव को डालते हैं अतः सुख की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को इनका त्याग करना ही चाहिए ॥७८, ७९॥

उक्तमूलगुणैर्युक्तः सप्तव्यसनवर्जितः ।

यो भव्यसारसम्यक्त्वं पूर्वोक्तं पाति निर्मलम् ॥८०॥

अन्वयार्थ—(उक्तमूलगुणैर्युक्तः) पूर्वोक्त अष्टमूलगुणों से युक्त (सप्तव्यसन वर्जितः) सप्त व्यसनों का त्यागी (यो भव्यः) जो भव्य पुरुष वही (पूर्वोक्तं) पूर्व कथित (निर्मलं सार सम्यक्त्वं) निर्मल-निर्दोष सारभूत सम्यग्दर्शन की (पाति) रक्षा कर सकता है अर्थात् रक्षण करता है ।

सावार्थ—अतिचार अनाचारादि, शङ्काकाञ्छा आदि दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का पालन-रक्षण वही कर सकता है जो भव्य आठ मूल गुणों का धारी और सप्त व्यसन का त्यागी है।

अनन्यशरणीभूत पञ्चश्रीपरमेष्ठिषु ।

संसार देहभोगेषु विरक्तस्तत्त्वचिन्तनः ॥८१॥

श्रीमज्जिनपदाम्भोजसेवनैक मधुव्रतः ।

निर्ग्रन्थ मुनिनाथानां सदा राधनतत्परः ॥८२॥

दयाधर्मरतो नित्यं सुधी सद्ज्ञान संयुतः ।

स स्याद् दार्शनिको भव्यः प्रथमः श्रावको भुवि ॥८३॥

अन्वयार्थ—(श्रीपञ्चपरमेष्ठिषु अनन्यशरणीभूत) श्रीपञ्चपरमेष्ठी के अद्वितीय शरण को प्राप्त हुआ (तत्त्वचिन्तनः) तत्त्व चिन्तन में दत्तचित्त रहने से (संसार देह भोगेषु विरक्त) संसार शरीर और भोगों में विरक्त रहने वाला (मधुव्रतः) तथा भ्रमर समूह के समान (श्रीमज्जिनपदाम्भोजसेवनैक) श्री जितेन्द्र प्रभु के चरण कमलों का अनन्य भक्त-सेवक (निर्ग्रन्थमुनिनाथानां) निर्ग्रन्थ मुनिराजों की (सदा राधनतत्परः) आराधना में सदा तत्पर रहने वाला (दयाधर्मरतो नित्यं) दया धर्म में सदा अनुरक्त (सद्ज्ञानसंयुतः सुधी) सम्यग्ज्ञान से युक्त जो सुधी (भव्यः) भव्य पुरुष है (स) वह (भुवि) पृथ्वी पर (दार्शनिको प्रथमः) प्रथम दर्शन प्रतिमा का धारी (श्रावको) श्रावक है।

सावार्थ—सुधी, भव्य पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि शरीर की सेवा करने वाले-पिता, पुत्र, पत्नी बन्धु बान्धव हमारे लिये शरण देने वाले नहीं हो सकते हैं, ये सभी मोह को बढ़ाने वाले और संसार कीचड़ में फँसाने वाले हैं। अतः वे इनको शरणभूत नहीं मानते हैं अपितु जन्म-मरण के भयंकर दुःखों से छुटकारा प्रदान करने वाले पञ्चपरमेष्ठी के चरण कमलों को ही अद्वितीय शरण समझते हैं क्योंकि जीवों को पाप रूपी कीचड़ से निकाल कर मोक्षमार्ग में आरुढ़ करने वाले पञ्चपरमेष्ठी ही हैं। उनमें प्रगाढ़ भक्ति रखने वाले ही निर्मल सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। पुनः जो तत्त्व चिन्तन में अनुरक्त रहते हैं तथा संसार शरीर और भोगों के प्रति उदासीन-विरक्त रहते हैं, निर्ग्रन्थ मुनिराज की आराधना में सदा तत्पर रहते हैं तथा जिनका चित्त दया से अभिसिञ्चित है जो सदा दयाधर्म में रत रहने वाले और सम्यग्ज्ञान से सहित हैं वे भव्य पुरुष पृथ्वी पर प्रथम दर्शन प्रतिमा के धारी श्रावक हैं ऐसा जिनगम में बताया है।
॥८१ से ८३॥

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि यो धत्ते स द्वितीयकः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(पञ्चअणुव्रतानि) पाँच अणुव्रतों को (त्रिप्रकारं गुणव्रतं) तीन प्रकार के गुणव्रतों को (चत्वारि शिक्षाव्रतानि) चार प्रकार के शिक्षाव्रतों को (यो) जो श्रावक (धत्ते) धारण करता है (स द्वितीयकः) वह द्वितीय प्रतिमा का धारी है।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणव्रत ये पांच अणुव्रत हैं तथा दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत ये तीन गुणव्रत हैं पुनः सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य और अतिथि संविभाग ये चार जिज्ञाव्रत हैं । इन बारह व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला द्वितीय प्रतिमा का धारी श्रावक है ऐसा जिनामम में बताया है ।

हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह सचय इनका एक देश त्याग करना अर्थात् स्थूल रूप से पांच पापों का त्याग करना अणुव्रत है । ऐसा अणुव्रती द्वितीया प्रतिमाधारी श्रावक अपने अहिंसादि अणुव्रतों की सुरक्षा के लिये सप्तशील व्रतों का भी पालन करता है, जिस प्रकार नगर की रक्षा के लिए परकोटा लगाते हैं उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा के लिये परकोटा के समान उक्त सप्त शीलव्रतों को धारण करना ही चाहिये । कहा भी है -

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।

व्रतपालनाय तस्माच्छीलानाम् पालनीयानि ॥१३६॥भृश ॥

उक्त सप्तशील व्रतों का स्वरूप निर्देश संक्षेप में इस प्रकार समझें—जीवनपर्यन्त के लिये दशों दिशाओं में आने जाने की मर्यादा कर लेना दिग्व्रत है । पुनः उसमें भी परिमित काल के लिये-ग्राम, नदी, पर्वत आदि पर्यन्त आने जाने की जो मर्यादा की जाती है वह देशव्रत है तथा बिना प्रयोजन पापास्रव की कारणभूत क्रियाओं को नहीं करना अनर्थदण्ड व्रत है । राग द्वेष की प्रवृत्ति का त्याग कर, समस्त द्रव्यों में साम्यभाव रखते हुए, तत्त्व चिन्तन में मन वचन काय को स्थिर करना सामायिक है । षोडश प्रहर का पर्वकाल में उपवास करना प्रोषधोपवास है । अर्थात् अष्टमो, चतुर्दशी को उपवास करना और उपवास के पहले दिन तथा दूसरे दिन भी एकाशन करना प्रोषधोपवास है । रत्नत्रयधारी व्यक्तियों की इस प्रकार सेवा सुश्रुषा करना जिससे रत्नत्रय में दृढ़ता बनी रहे, यह वैयावृत्य है । और यथाविधि उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र को आहारादि देना अतिथि संविभागव्रत है । इनका निरतिचार पालन सम्यक् प्रकार करना चाहिये । इनके पालन से अणु-व्रती के भी उपचार से महाव्रतोपना होता है ऐसा कथन मिलता है । ये व्रत आत्मशुद्धि में साधक हैं और प्रयत्नपूर्वक ग्राह्य हैं । उक्त १२ व्रतों का सम्यक् प्रकार पालन करने वाला द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक है ऐसा जिनामम में बताया है ।

अब तृतीय सामायिक प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं —

सामायिकं त्रिसंध्येयं यः करोति विशुद्धधीः ।

रागद्वेषौ परित्यज्य श्रावकस्सः तृतीयकः ॥८५॥

अन्वयार्थ—(यः विशुद्धधीः) पवित्र-सात्त्विक बुद्धि का धारी (रागद्वेषौ) राग द्वेष को (परित्यज्य) छोड़कर (त्रिसंध्येयं) प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों संध्याकाल में (सामायिकं करोति) सामायिक करता है (सः) वह (तृतीयकः श्रावकः) तृतीय प्रतिमा धारी श्रावक है ।

भावार्थ सात्त्विक पवित्र बुद्धिवाला जो श्रावक तीनों संध्या काल में राग द्वेष का त्याग कर मन वचन काय को स्थिर कर सामायिक करता है तत्त्व चिन्तन, आत्म चिन्तन

जपादि करता है वह तृतीय प्रतिमाधारी है । तृतीय प्रतिमाधारी को प्रातः मध्याह्न और सायंकाल समस्त विकल्प वा आरम्भ आदि का त्याग कर विधिवत् सामायिक करनी ही चाहिये । कहा भी है—

चतुरार्वतत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।

सामयिको द्विनिघञ्स्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥रत्नकरण्ड॥

चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त अर्थात् १२ आवर्त और एक एक प्रणाम-इस तरह चार प्रणाम कर आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह रहित मुनि के समान मन वचन काय को शुद्ध रखकर खड्गासन अथवा पद्मासन आदि माड़कर सुबह, दोपहर और संध्याकाल-तीनों समय सामायिक करने वाला व्यक्ति तृतीय प्रतिमाधारी है ।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में सामायिक को तत्त्वोपलब्धि का मूल हेतु कहा है—

“रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यवलम्ब्य ।

तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

“रागद्वेष के त्याग पूर्वक समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों में साम्य भाव धारण कर तत्त्वोपलब्धि का मूल-प्रधान हेतु जो सामायिक है उसे प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये ।” उस सामायिक में तत्पर-प्रवृत्त ध्याक के समस्त सादृश्य योग-पाप रूप प्रवृत्तियों का त्याग हो जाने से चारित्र्य मोहनीय का उदय होने पर भी उपचार से उस समय महाव्रतपना है—

“सामायिकाधितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।

भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्र मोहस्य ॥पुरुषा. १५०॥

अब प्रोषध प्रतिमाधारी का स्वरूप बताते हैं—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां चतुः पर्वेषु सर्वदा ।

उपवासव्रती योऽसौ श्राद्धो लोके चतुर्थकः ॥८६॥

अन्वयार्थ - (यो) जो (चतुः पर्वेषु) चारों पर्वकालों में (अष्टम्यां चतुर्दश्यां च) अष्टमी चतुर्दशी के दिनों में (सर्वदा) सदा (उपवासव्रती) [पूर्व और उत्तर दिनों के एकाशन पूर्वक] उपवास करता है (असौ लोके) वह लोक में (चतुर्थकः) चतुर्थ प्रोषधप्रतिमाधारी (श्राद्धो) सम्यक्कृष्टि श्रावक है ।

साधार्थ - प्रोषध प्रतिमाधारी हमेशा अष्टमी और चतुर्दशी रूप पर्व के दिनों में प्रोषधोपवास अर्थात् १६ प्रहर का उपवास करता है । प्रोषधोपवास करने वाला पर्व के दिन आरम्भ, विषय, कषाय और आहार का त्याग कर धारणा और पारणा के दिन भी एकाशन करता है । प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में तो कभी अतिचार भी लग सकते हैं किन्तु प्रोषध प्रतिमा में अतिचार भी दूर करने पड़ते हैं । इस प्रोषधप्रतिमा की उपयोगिता एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं—

“इति यः षोडशयामान्गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानां नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ।”

समस्त सावद्य योग का परित्याग कर १६ प्रहर का उपवास करने वाले के उस समय पूर्ण अहिंसाव्रत उपचार से कहा है क्योंकि वृत्ती श्रावक के मात्र भोगोपभोग के निमित्त से स्वल्प स्थावर जीवों का घात होता है । सदा योग्य आचरण रखने वाला वह अनर्थदण्ड रूप सावद्य क्रियाओं को तो स्वभाव से ही नहीं करता है तथा पर्व के दिनों में आरम्भादि का भी त्याग हो जाने से सदा धर्मध्यान में ही समय बीतता है । यद्यपि वह संयम रूप स्थान को प्राप्ति नहीं करता है किन्तु सम्पूर्ण हिंसा रूप प्रवृत्ति का त्याग हो जाने से उसके उपचार से महा-वृत्तित्व है ऐसा जिनागम में कहा है ॥८६॥

अब सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं—

फलं दलं जलं बीजं पत्रशाकादिकं तथा ।

नैव भुङ्क्ते सचित्तं यो दयामूर्तिस्त पञ्चमः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(सचित्तं) सचित्त अर्थात् जिनका छेदन भेदन दलन नहीं किया है ऐसे अपक्व पदार्थ यथा (फलं दलं जलं) हरे फल, पत्ते, जल (तथा) और (बीजं पत्रशाकादिकं) बीज एवं पत्ते के शाक आदि पदार्थों को (यो दयामूर्तिः) जो परम दयावान् पुरुष (न एव भुङ्क्ते) निश्चय से नहीं खाता है (स) वह (पञ्चमः) पञ्चम प्रतिमा धारी श्रावक है ।

भाषार्थ—पञ्चम सचित्त त्याग प्रतिमा धारी श्रावक अपक्व या अच्छिन्न पदार्थ जिनका छेदन भेदन दलन नहीं किया गया है ऐसे हरे फल, पत्ते, जल, बीजादि तथा पत्ते के शाकादि पदार्थों को निश्चय से नहीं खाता है । वह प्रासुक पदार्थों का ही सेवन करता है । प्रासुक किसे कहते हैं यह यहाँ ज्ञातव्य है—

सुकं पक्कं तत्तं अविललवणं मिस्सयं दव्वम ।

जं जत्तेसु य छिण्णं तं सव्वं कामुयं भणिदम् ॥

शुष्क-सूखा, पक्व, तप्त-गर्म, खटाई या लवण मिश्रित पदार्थ तथा यंत्र से छिन्न भिन्न पदार्थ प्रासुक होते हैं ॥८७॥

अब रात्रि भुक्तित्याग प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं -

दिवाभैथुननिर्मुक्तस्सदासंतोष संयुतः ।

षष्ठस्स श्रावको रात्रौ चतुर्धाहारवजितः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(दिवाभैथुननिर्मुक्तः) दिन में भैथुन का त्याग करने वाला और (सदा-संतोषसंयुतः) सदा संतोष भाव से संयुक्त वा शोभित रहता है तथा (रात्रौ) रात्रि में (चतु-र्धाहार वजितः) चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है (स श्रावको) वह श्रावक (षष्ठः) छठा रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा धारी श्रावक है ।

भावार्थ—दिन में मैथुन का त्याग करने वाला तथा स्वदारा में संतोष रखने वाला, विशेष आसक्ति नहीं रखने वाला तथा रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चारों प्रकार के आहार का त्याग करने वाला छठी प्रतिमा का धारी श्रावक है। रोटी, चावल, दाल आदि पदार्थ खाद्य हैं तथा पेड़ा, मोदक, पकवान आदि भी खाद्य हैं, रबड़ी चटनी आदि लेह्य हैं, तांबूल इलायची, सुपारी, लवंग, अन्य औषधादि स्वाद्य हैं जल, दूध, शर्बत आदि पेय हैं। इन चारों प्रकार के आहार का, मन वचन काय कृत, कारित, अनुमोदना ३ × ३ = ९ कोटि से त्याग करने वाला रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा धारी है ऐसा जिनागम में कहा है। किन्तु रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा-धारी माता अपने बच्चे को रात्रि में अपना दूध पिला सकती है क्योंकि नव जात शिशु को यदि दूध न पिलाया जाय तो वह मर जायेगा, उसके जीवन का रक्षण करना माता का कर्त्तव्य है। ॥८८॥

अब ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारी का स्वरूप बताते हैं—

विरक्त स्त्रीमुखे नित्यं ब्रह्मचर्यव्रतं शुभम् ।

यो विधत्ते विशुद्धात्मा सदाऽसौ सप्तमो मतः ॥८९॥

अन्वयार्थ— (यो) जो (विरक्तस्त्रीमुखेनित्यं) स्त्री मुख में सदा विरक्ति या विरक्ति भाव रखने वाला है (असौ) वह (विशुद्धात्मा) विशुद्धात्मा (शुभं) श्रेष्ठ (ब्रह्मचर्यव्रतं विधत्ते) ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है वही (सप्तमो मतः) सप्तम प्रतिमाधारी माना जाता है।

भावार्थ—आजीवन नव कोटि से मैथुन का त्याग करने वाला, ब्रह्मचर्य व्रत का धारी विशुद्धात्मा स्त्री मुख में सदा विरक्त रहता है, शरीर शृङ्गारादि क्रियाओं में सदा उदासीन रहने वाला वह व्रती श्रावक सप्तम प्रतिमाधारी कहलाता है ॥८९॥

अब आरम्भ त्याग प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं—

सेवाकृष्यादि वाणिज्य प्रारम्भं न करोति यः ।

हिंसा हेतुं दयामूर्तिस्स भवेदष्टमस्तुधीः ॥९०॥

अन्वयार्थ— (हिंसा हेतुं) हिंसा का हेतु अर्थात् जीव हिंसा के कारण (सेवाकृष्यादि-वाणिज्यप्रारम्भं) नौकरी, खेती, व्यापारादि आरम्भ के कार्यों को (यः न करोति) जो नहीं करता है (स) वह (स्तुधीः) विवेकवान्, सम्यग्ज्ञानी (दयामूर्ति) दया की मूर्ति (अष्टमः-भवेत्) अष्टम प्रतिमाधारी है।

भावार्थ—आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी श्रावक घर के भाड़ बुहारी, कूटना, पीसना आदि कार्यों को अथवा नौकरी, खेती व्यापारादि कार्यों को नहीं करता है अर्थात् हिंसा के कारण भूत क्रियाओं का सर्वथा त्यागी होता है। जिनेन्द्रप्रभु की पूजा आदि घर्मकार्यों में भाग ले सकता है। पूजा के द्रव्यघोषा, जिनालय को भाड़ बुहार कर स्वच्छ करना आदि कार्य वह कर सकता है तथा अपने वस्त्र को स्वयं धो सकता है वह भी इस प्रकार कि जीव विराधता न होवे अर्थात् विवेक पूर्वक समिति पूर्वक ही कार्य करता है।

वाह्ये दशविधं प्रोक्तं परिग्रहगणेषु च ।

अन्तश्चतुर्दशग्रन्थाः विरक्तो नवमो मतः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(वाह्ये) वाह्य (परिग्रहगणेषु) समस्त प्रकार के परिग्रहों में (दशविधं-प्रोक्तं) दशभेद कहे गये हैं (च) और (अन्तश्चतुर्दशग्रन्थाः) अन्तरङ्गपरिग्रह के चौदह भेद [कहे गये हैं] (विरक्तो) उक्त २४ प्रकार के परिग्रहों से विरक्त रहने वाला, नवम परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ।

भावार्थ जो १० प्रकार के वाह्य और १४ प्रकार के अन्तरङ्ग सभी प्रकार के परिग्रहों से एक देश विरत है, किसी भी वस्तु में भ्रूद्धाभाव जिसके नहीं है, वह, परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है । जो पहनने के लिये धोती, दुपट्टा आदि तथा सोने के लिये शैया विस्तर भोजन के लिये पात्र और जीव रक्षण के लिये रूमाल आदि रखता है, उनका भी यथाशक्ति प्रमाण कर लेता है और शेष सभी प्रकार के क्षेत्र, वस्तु (मकानादि) हिरण्य (चाँदी) सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कृष्य (सिल्क के तस्त्रादि) भाण्ड (चूर्तन) आदि परिग्रहों का नवकोटि से त्याग कर देता है, गृह चैत्यालय में रहता है, निर्मत्रण से भोजन करता है अपने कुटुम्बीजनों के साथ मोह भाव नहीं रखता है उनके साथ सहवास नहीं करता है, धर्मध्यान में सदा तत्पर रहता है वह नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है । रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी कहा है —

“वाह्येषु दशमुवास्तृषु समत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।

स्वस्थः सन्तोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥”

जो मनुष्य वाह्य दश प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा ममता छोड़कर निर्मोही होकर मायाचार रहित परिग्रह को आकांक्षा का त्याग करता है वह परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है । अन्तरङ्ग परिग्रहों में अनन्तानुबन्धी की ४ और अप्रत्याख्यानावरण की ४ इन आठ प्रकार के कषायों के उदय का उसके अभाव होता है । वह माया, मिथ्यात्व, निदान रूप जल्यों से रहित सरल परिणामी होता है ॥६१॥ इस प्रकार नवम प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं —

अथ अनुमति त्याग नामक दशमी प्रतिमा का स्वरूप बताते हैं—

सावद्यारम्भकेषूच्चैर्विवाहादिषुकर्मणु ।

ददात्यनुमतिर्नैव स च स्याद् दशमोगृही ॥६२॥

अन्वयार्थ—(सावद्यारम्भकेषु) प्राप्नुयुक्त आरम्भ आदि कार्यों में (विवाहादिषु कर्मणु च) और विवाहादि कार्यों में (अनुमतिः नैव ददाति) अनुमति नहीं ही देता है (स गृही) वह श्रावक (दशमो स्यात्) दशवीं प्रतिमाधारी है ।

भावार्थ—दशवीं अनुमतित्यागप्रतिमाधारी श्रावक प्राप युक्त आरम्भादि कार्यों में तथा विवाहादि कार्यों में अनुमति भी नहीं देता है । वह संकल्पी हिंसा, आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा और विरोधि हिंसा रूप चारों प्रकार की हिंसा का नवकोटि से त्याग कर देता है किन्तु

धर्म वा धर्मात्माओं की, जिन चैत्य-जिन चैत्यालयादि, धर्मायतनों की सुरक्षा के लिये, विरोध कर सकता है । पञ्चेन्द्रिय विषयों का पीषण करने वाले जो कार्य हैं उनके लिये अनुमति नहीं दे सकता है, प्रेरणा नहीं दे सकता है अर्थात् करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करता है । छेदन, भेदन, भारण, कर्षण, बाणिज्य चोरी आदि कार्य जो हिंसा में प्रवृत्ति कराने वाले कार्य हैं उनके लिये कभी किसी प्रकार अनुमोदना जो नहीं करता है ऐसा जो व्रती श्रावक है, वह अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ॥६२॥

गृहं त्यक्त्वा गुरोः पार्श्वे ब्रह्मचारी शुचिव्रती ।

भिक्षाचारी सुधीरेक वस्त्रश्चेकादशप्रमाः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(गृहं त्यक्त्वा) घर को छोड़कर (गुरोः पार्श्वे) गुरु के पास (ब्रह्मचारी शुचिव्रती) पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत का धारी व्रती (भिक्षाचारी) भिक्षा से भोजन ग्रहण करने वाला (एकवस्त्रः) एक वस्त्र धारण करने वाला ऐलक तथा एक अधोवस्त्र एक उत्तरीय-दुपट्टा रखने वाला क्षुल्लक (एकादशप्रमाः सुधीः) ग्यारह प्रतिमाधारी सुधी-श्रेष्ठ श्रावक है, ऐसा जिनागम में कहा है ।

भावार्थ—घर को छोड़कर गुरु के समीप रहने वाला, पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला, भिक्षा से भोजन ग्रहण करने वाला एक वस्त्र धारण करने वाला ऐलक तथा एक अधोवस्त्र-लंगोट और एक उत्तरीय वस्त्र दुपट्टा रखने वाला क्षुल्लक उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी श्रेष्ठ श्रावक है ऐसा जिनागम में कहा है ॥६३॥ ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक दो प्रकार के होते हैं ऐसा आगे बताया भी है —

तस्यमेव द्वयं प्राहुर्मुनिः स श्रुतसागरः ।

एक वस्त्रधरः पूर्वं यः कौपीनधरः परः ॥६४॥

यः कौपीनधरो भव्यो जिनपाद द्वये रतः ।

रात्रौ च प्रतिमा योगं सदाधत्ते स्वशक्तितः ॥६५॥

पिच्छं गृह्णाति पूतात्मा स भुङ्क्ते चोपावश्य च ।

पाणिपात्रेण नोद्दिष्टो भिक्षां स श्रावकालये ॥६६॥

अन्वयार्थ—(स श्रुतसागरः मुनिः) उन श्रुतसागर मुनिराज ने (तस्य) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी के (भेदद्वयं) दो भेद (प्राहुः) कहे हैं (एक वस्त्रधरः) एक उत्तरीय वस्त्र-दुपट्टा और (परः) दूसरा (कौपीन) लंगोट (धरः) धारण करने वाला जिसे क्षुल्लक कहते हैं । पुनः (यः कौपीनधरो भव्यो) जो कौपीन-लंगोट मात्र धारण करने वाला भव्य श्रेष्ठ श्रावक ऐलक है वह (जिनपाद द्वये रतः) जितेश्वरप्रभु के चरणकमलों में अनुराग रखने वाला (स्व-शक्तितः) अपनी शक्ति के अनुसार (रात्रौ) रात्रि में (प्रतिमायोगं च) प्रतिमायोग भी (धत्ते)

धारण करता है (स) वह (पूतात्मा) पवित्रगत्या (सत्तागिच्छं गृहणाति) सदा पिच्छिका को रखता है (च) और (उपविश्य भुङ्क्ते) बैठकर खाता है—अर्थात् आहार ग्रहण करता है। (न उद्दिष्टं) जो उद्दिष्ट नहीं है ऐसी (भिक्षां) भिक्षा को (पाणिपात्रेण) दोनों हाथ रूप पात्र से (श्रावकालये) श्रावक के घर में (गृहणाति) ग्रहण करता है।

भावार्थ—आचार्य श्री श्रुतसागर मुनिराज ने भी उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी के दो भेद बताये हैं (१) क्षुल्लक (२) ऐलक। क्षुल्लक एक चादर और एक लंगोठ धारण करते हैं तथा जो उद्दिष्ट नहीं है ऐसे आहार को भिक्षावृत्ति से श्रावक के घर में अपने पात्र में बैठकर ग्रहण करते हैं। क्षुल्लक भोजन के लिये एक थाली, दो कटोरी और एक ग्लास इस तरह चार पात्र भी रख सकते हैं तथा शौच के लिये लकड़ी अथवा पीतल का कमण्डलु रखते हैं किन्तु ऐलक लकड़ी का ही कमण्डलु रखते हैं। तथा आहार उक्त प्रकार ही भिक्षावृत्ति से अपने पाणिपात्र में बैठकर ग्रहण करते हैं। किन्तु दोनों ही उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी कहलाते हैं अर्थात् ये स्वयं श्रावक को कह कर इच्छानुसार भोजन बनवाकर नहीं खा सकते हैं। तथा भोजन के समान अन्य उपकरणों को भी इसी प्रकार जो उद्दिष्ट नहीं है उन्हें ही ग्रहण करते हैं ॥६६॥

इत्यादिकं जिनः प्रोक्तं श्रावकाचारमुत्तमम् ।

यो भव्यो भावतो नित्यं पालयत्येव दृष्टिभाक् ॥६७॥

अच्युतस्वर्गपर्यन्तं स्थानं संप्राप्य शर्मदम् ।

चक्रवर्त्यादिभागौघान्समासाद्य शुभोदयात् ॥६८॥

क्रमाद्रत्नत्रयं पूर्णं समाराध्यसुनिर्मलम् ।

क्षमादिलक्षणैः सारैर्दशभिस्सतपोऽखिलैः ॥६९॥

गुणैर्मूलोत्तरैस्सर्वैश्चारित्र्यैः पञ्चभिः परैः ।

ध्यानाध्ययनकर्माद्यैर्भुक्ते मुक्तिं सुखं परम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(इत्यादिकं) इत्यादि अनेक प्रकार (श्रावकाचारमुत्तमम्) श्रेष्ठ श्रावकाचार को (यो भव्यो दृष्टिभाक्) जो भव्यसम्यग्दृष्टि पुरुष (भावतो) भाव से (पालयत्येव) सम्यक् प्रकार पालन करता है (शर्मदम्) सुखकर (अच्युतस्वर्गपर्यन्तं स्थानं) अच्युत स्वर्ग तक के स्थान को (संप्राप्य) प्राप्त कर (चक्रवर्त्यादिभागौघान्) चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि के भोगों को (शुभोदयात्) पुण्योदय से (समासाद्य) प्राप्तकर (क्रमात्) क्रम से (पूर्णं) पूर्ण (सुनिर्मलं रत्नत्रयं समाराध्य) अति पवित्र रत्नत्रय को सम्यक् आराधना कर (सारैः दशभिः) सारभूत दश प्रकार के (क्षमादिलक्षणैः) क्षमा आदि लक्षण वाले धर्मों के द्वारा (तपोऽखिलैः) सम्पूर्ण अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपों के द्वारा (सर्वैः गुणैः मूलोत्तरैः) सम्पूर्ण २८ मूलगुण और ८४ लाख उत्तर गुणों के द्वारा (पञ्चभिः परैः चारित्र्यैः) पांच प्रकार के श्रेष्ठ आचारों के द्वारा (ध्यानाध्ययनकर्माद्यैः) ध्यान अध्ययन आदि क्रियाओं के द्वारा (परं मुक्तिं सुखं) श्रेष्ठ मुक्ति सुख को (भुक्ते) लोगता है, मोक्ष सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ—जो भव्य सम्यग्दृष्टि पुरुष श्रेष्ठ श्रावकाचार का—श्रावकों के १२ व्रतों का ११ प्रतिमा रूप व्रतों का मन बचन काय की शुद्धता पूर्वक सम्यक् प्रकार पालन करना है वह उस व्रत के प्रभाव से अच्युतस्वर्ग—१६ वें स्वर्ग पर्यन्त तक जा सकता है अर्थात् समाधि पूर्वक प्राणोत्सर्गकर कल्पवासी देवों के अतिशयकारी सुखों को भोगता है । वहाँ से पुनः वह मध्यलोक में जन्म लेकर पुण्योदय से चक्रवर्ती, बलभद्रादि के पदों को प्राप्तकर सांसारिक सुखों का धर्म पूर्वक भोग करता है और क्रम से महाव्रत धारणकर, अतिपवित्र रत्नत्रय की सम्यक् प्रकार आराधना करता है, उत्तमधर्मा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन १० प्रकार के धर्म रूपी जल से कम कालिमा का प्रक्षालन करता है, ६ प्रकार के बाह्यतप ६ प्रकार के अन्तरङ्ग तपों के द्वारा आत्मा को तपा कर रत्नत्रय की पुष्टि करता है, आत्मा का शोधन करता है । २८ प्रकार के मूलगुणों और ८४ लाख उत्तरगुणों के पालन में तत्पर रहता हुआ वह दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, चारित्राचार, और दिनयाचार-इन पाँच आचार रूपी आभूषणों को धारण कर आत्मा को अलङ्कृत करता हुआ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के द्वारा, स्वाध्याय में अपने को लगाकर, ज्ञानारूढ़ होकर, ज्ञानधन आत्म स्वरूप में स्थिर होकर, श्रेष्ठ मोक्ष रूपी सुख का अनुभव करता है ।

इतिमत्वा महाभक्त्यैः शक्तितो भवितपूर्वकम् ।

आराध्यो जिनधर्मोऽयं नित्यं स्वर्गापवर्गदः ॥१०१॥

करोति प्रत्यहं योऽत्र धर्मयत्नेन सद्व्रतैः ।

सफलं जन्मतस्येदं तद्विना तन्निरर्थकम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(इतिमत्वा) श्रेष्ठा मानकर वह श्रद्धाजनकर (महाभक्त्यैः) महा भव्य-निकट भव्य पुरुषों के द्वारा (नित्यं) सदा, निरन्तर (स्वर्गापवर्गदः) स्वर्ग और मोक्षमुख को देने वाला (अयंजिनधर्मो) यह जिनधर्म (भक्तिपूर्वकं) भक्ति पूर्वक (आराध्यो) आराधनीय है, पालन करने योग्य है (यो अत्र प्रत्यहं) जो यहाँ प्रतिदिन अर्थात् अहर्निश (यत्नेन) प्रयत्न पूर्वक (सद्व्रतैः) उत्तम व्रतधारणादि क्रियाओं के द्वारा (धर्मं करोति) धर्म का पालन करता है (तस्य इदं जन्म सफलं) उसी का जन्म सफल है (तद् विना) धर्म के बिना (तन्निरर्थकम्) वह मनुष्य जन्म-मानव जीवन निरर्थक है ।

भावार्थ—[जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कथित उक्त श्रावकव्रतों के स्वरूप एवं महत्व को जानकर उन पर वह श्रद्धाजनकर, निकट भव्यजनों को, निरन्तर अहर्निश, स्वर्ग और क्रम से मोक्षमुख को देने वाले जिनधर्म की आराधना में भक्तिपूर्वक संलग्न रहना चाहिये अर्थात् प्रयत्न पूर्वक जिनधर्म का पालन करना चाहिये । जो उत्तम व्रतधारण आदि क्रियाओं के द्वारा जिनधर्म का प्रयत्न पूर्वक आचरण करता है उसी का जन्म सफल है धर्म के बिना मनुष्य जीवन का कोई महत्व नहीं है । धर्म विहीन मानव जीवन निरर्थक है, व्यर्थ है ॥१०१ १०२॥

मत्वेतीह विधीयते सभवता धम्मस्सुधम्मंभज ।

धर्मणानुचराखिलं शिवपथं, धर्माय नित्यं नमः ॥

धर्मात्त्वं किलमाश्रयान्यमसमं, धर्मस्याधस्त्वाश्रयन् ।

धर्मेतिष्ठ तदाप्तये च नृपते धर्मोऽस्तु ते मुक्तये ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(नृपते) हे राजन् (इह) यहाँ (इतिमत्वा) ऐसा मानकर (सधर्मः) वह धर्म (भवता) आपके द्वारा (विधीयते) पालन किया जाये (सुधर्मभज) तुम उस श्रेष्ठ धर्म का आचरण करो (धर्मेण) जिन धर्मानुसार या धर्म के द्वारा (अखिलं शिवपथं) परिपूर्ण रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग को (अनुचर) ग्रहण करो, पालन करो (किल धर्माय नित्यं नमः) निश्चय से धर्म के लिये नित्य नमन है नमस्कार है (धर्मात् अन्यं असमं मा आश्रय) जिनधर्म से भिन्न मिथ्या धर्म का आश्रय मत करो (धर्मस्य अधः आश्रयन्) धर्म के नीचे अर्थात् धर्म की छाया में रहते हुए (तदाप्तये) उस आत्मधर्म की प्राप्ति के लिये (धर्मेतिष्ठ) रत्नत्रय रूप धर्म में ही स्थिर हो जाओ (धर्मो ते मुक्तये अस्तु) वह धर्म तुम्हारी मुक्ति के लिये होवे ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में, षट्कारको में धर्म का सन्निवेश कर, उस पवित्र धर्म की आचार्य वन्दना करते हुए कहते हैं—हे नृपति ! आपके द्वारा जिनेन्द्रोक्त वह धर्म प्रयत्न पूर्वक पालन किया जावे, यहाँ 'धर्म' में प्रथमा विभक्ति होने से कर्त्ता कारक है । पुनः तुम उस श्रेष्ठ धर्म को पालो आचरण करो यहाँ 'धर्म' में द्वितीया विभक्ति होने से यह कर्म कारक है । जिनधर्म के द्वारा परिपूर्णरत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग को ग्रहण करो, पालन करो यहाँ 'धर्मेण' में तृतीया विभक्ति है अतः धर्म करण कारक है तथा "निश्चय से धर्म के लिये नमन है—नमस्कार है" यहाँ धर्माय धर्म के लिये चतुर्थी विभक्ति सहित है अतः धर्म सम्प्रदान कारक है पुनः आचार्य कहते हैं कि जिनधर्म से भिन्न मिथ्याधर्म का आश्रय मतकरो यहाँ धर्मात् अन्यं धर्म से भिन्न पद पञ्चमी विभक्ति युक्त है अतः इसमें अपादान कारक है और धर्म के नीचे अर्थात् धर्म की छाया में रहते हुए उस आत्मधर्म की प्राप्ति के लिये रत्नत्रय रूप धर्म में ही स्थिर हो जाओ इस वाक्य में "धर्मस्य अधः-धर्म के नीचे" पद षष्ठी विभक्ति सहित है और "धर्मेतिष्ठ-धर्म में स्थिर हो जाओ" सप्तमी विभक्ति युक्त है अतः यहाँ धर्म में सम्बन्ध और अधिकरण कारक का प्रयोग है इस प्रकार षट्कारको में विभक्त वह जिनधर्म वर्णित हुआ । अन्त में आचार्य कहते हैं हे राजन् ! वह धर्म तुम्हारी मुक्ति के लिये होवे अर्थात् शीघ्र मुक्ति को प्रदान करे ॥१०३॥

धर्मोऽभीष्टफल प्रदस्त्रिजगतां धर्मः सुखानां निधिः ।

धर्मोमुक्तिवधूवशीकरपरो धर्मोमहाधर्मकृत् ।

धर्मः पापनिवृत्तनो शुभकरो दुःखादिविध्वंसको ।

धर्मोऽनन्तगुणाकरोऽहर्निशं यस्तंस्तुवे मुक्तये ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(त्रिजगतां)तीनलोक के समस्त प्राणियों को(अभीष्टफलप्रदः) इच्छित-फल को देने वाला (याः धर्मः) जो धर्म (सुखानां निधिः) सुखों का खजाना है (धर्मो मुक्ति-वधूवशीकरपरो) धर्म मुक्ति रूपी वधू को वश करने में समर्थ साधन है (धर्मोमहाधर्मकृत्) जिन

प्रणीत जो श्रावक वा मुनिधर्म, महाधर्म स्वरूप आत्मा के अनन्त चतुष्टयादि को प्रकट करने वाला है (धर्मोऽनन्तगुणाकरो) जो जिन धर्म अनन्तगुणों का आकर-स्थान है (तं) उस धर्म को (मुक्तये) मुक्ति के लिये (स्तुवे) स्तुति करता है ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं जो जिन धर्म तीन लोक के समस्त प्राणिनों को इच्छित फल को देने वाला है, सुखों का खजाना है मुक्ति रूपी वधू को वश करने में समर्थ साधन है तथा आत्मा के अनन्त चतुष्टय आदि महाधर्मों को प्रकट करने वाला है, अनन्त गुणों का आकर-स्थान है उस जिनधर्म की मुक्ति के लिये मैं स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार इस अध्याय के अन्त में यहाँ श्रावक के व्रतों, धर्मों का स्वरूप बताकर नाना प्रकार से जिनधर्म की स्तुतिकर आचार्य ने व्यवहार धर्म की मुक्ति का साधक बताया है ।

इति श्री सिद्धचक्र पूजातिशय प्राप्ते श्रीपाल महाराज चरिते भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते श्रीपाल महाराज राज्यलाभधर्म श्रवणवर्णनकरः अष्टमपरिच्छेदः ॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति आचार्य विरचित—

श्री सिद्धचक्रपूजा के अतिशय को प्राप्त श्रीपाल महाराज चरित के अन्दर श्रीपाल-महाराज के राज्य लाभ और धर्मश्रवण का वर्णन करने वाला अष्टम परिच्छेद समाप्त हुआ ।
“शुभमस्तु” यह सब के लिये मङ्गलकारी होवे ।

॥ शुभम् अस्तु ॥



॥ नवम. परिच्छेदः ॥

अथ श्रीपालभूपालो जिनधर्मं जगद्धितम् ।
श्रुत्वा पुनर्विशेषेण ज्ञातुं तं मुनिनायकम् ॥१॥
वन्दित्वा प्राह भो स्वामिन् जगत्त्रय हितंकरम् ।
ब्रूहि भोकरुणासिन्धो, विश्वतत्त्व विदाम्बर ॥२॥

अन्वयार्थ—श्रुतसागर मुनिराज के मुखारविन्द से श्रीपाल भूपाल ने धर्मोपदेशामृत का पान किया किन्तु उसकी विरपिपासा शान्त नहीं हुयी । अतः विशेष रूप से धर्म का लक्षणा ज्ञात करने के लिए पुनः प्रार्थना करता है—

(अथ) श्रावक धर्म स्वरूप (श्रुत्वा) सुनकर (श्रीपाल भूपालः) श्रीपालनरेश्वर ने (जगद्धितम्) संसार का हितकर (जिनधर्मम्) जिनधर्म को (पुनः) पुनः (विशेषेण) विशेष रूप से (ज्ञातुम्) जानने के लिए (तम्) उन (मुनिनायकम्) मुनीन्द्र को (वन्दित्वा) नमस्कार कर (प्राह) बोला (भो) हे (स्वामिन्) प्रभो ! (भो) हे (करुणासिन्धो !) करुणासागर ! (विश्वतत्त्व विदाम्बर !) भो विश्व के तत्त्वों के ज्ञायक प्रभुवर ! (जगत्त्रयहितंकरम्) तीनलोक का हितकरने वाला (धर्मम्) धर्म (पुनः) फिर से (ब्रूहि) कहिये ।

भावार्थ—श्री श्रुतसागर वास्तव में श्रुतरूपमहोदधि के पारगाभी थे । उनकी वाणी रूपी चन्द्रिका से श्रावकधर्म का प्रकाश प्राप्त कर श्रीपाल भूपाल की ज्ञानपिपासा अधिक बढ़ गई । अतः और भी विशेष रूप से धर्म के रहस्य को पुण्य-पाप के फल को जानने समझने की उत्कण्ठा प्रबल हो गई । वे श्रीमुनिराज गुरुदेव को पुनः पुनः वन्दन कर, नमस्कार कर, करा-ञ्जुलि मस्तक पर चढ़ाकर बोले—हे प्रभो ! भो स्वामिन् ! भो करुणासागर ! अहो विश्व तत्त्व ज्ञाता ! संसार का हित करने वाला धर्म और भो विशेष रूप से जानना चाहता हूँ । ठीक ही तत्त्व जिज्ञासा इसी प्रकार की होती है । इसमें सन्तोष कहाँ ? तभी तो अहमिन्द्र लोक में तत्त्व विवेचना मात्र में ३३ सागर की दीर्घ आयु क्षणभर के समान निकल जाती है । भव्य जीवों को तत्त्वपरिज्ञान अवश्य ही करना चाहिए ॥१, २॥

आगे श्रीपाल जी पुनः प्रश्न करते हैं —

भगवन् केन पुण्येन राज्यं प्राप्तोऽति शैशवे ।
जातः कोटिभट्टएचाहं केन पापेन राज्यतः ॥३॥

भण्टो बभूव कुष्ठाङ्गः केन दुष्कर्मणा भूवि ।
 समुद्रे पातिते वैश्येः केनातिनिष्ठकर्मणा ॥४॥
 मातङ्गो घोषितश्चाहं चाण्डालेश्चण्डकर्मभिः ।
 केन पुण्येन संशुद्धो जातोऽहं राजसत्तमः ॥५॥
 सार्द्धं मदनसुन्दर्या मे किं स्नेहस्य कारणम् ।
 सत्सर्वं पूर्वं जन्मत्वं सुधी मे वक्तुमर्हसि ॥६॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (अहम्) मैंने (केन पुण्येन) किस पुण्य से (अति) बहुत (शैशवे) बाल्यकाल में (राज्यम्) राज्य (प्राप्तम्) पाया (च) और (कोटिभटः) कोटीभट (जातः) हुआ, पुनः (केन-पापेन) किस पाप से (राज्यतः) राज्य से (भ्रष्टः) च्युत (बभूव) हुआ, (केन) किस (दुष्कर्मणा) कुकर्म से (भूवि) भूमण्डलपर (कुष्ठाङ्गः) कोढ़ पीडित शरीर हुआ तथा (केन) किस (अति निष्ठकर्मणा) नीचकर्म से—अत्यन्त नीचकर्म से (वैश्येः) व्यापारी धवलसेठ द्वारा (समुद्रे) सागर में (पातितः) डाला गया, (चण्डकर्मभिः) प्रचण्ड दुष्कर्म द्वारा (चाण्डालैः) चाण्डालों द्वारा (अहम्) मैं (मातङ्ग) महतर (घोषितः) कहा गया तथा (केन) किस (पुण्येन) पुण्य से (अहम्) मैं (राजसत्तमः) राजाओं में श्रेष्ठ (संशुद्धः) शुद्ध (जातः) हुआ, (मदनसुन्दर्या) मदनसुन्दरी के (सार्द्धम्) साथ (मे) मेरे (स्नेहस्य) प्रेम का (कारणम्) कारण (किम्) क्या है (सुधी !) हे सबुद्धे ! (तत्सर्वम्) वह सब (पूर्वं जन्मत्वं) पूर्वजन्म का हेतुपता आप (मे) मुझे (वक्तुम्) कहने के लिए (अर्हसि) समर्थ हो, अतः कहिए ।

भावार्थ—महामण्डलेश्वर श्रीपाल कोटिभट श्रीगुरु से अपनी भवावली ज्ञात करने के लिए प्रश्न करता है और श्रीगुरुदेव से उत्तर पाने के लिए आग्रह करता है । वह सविनय नमन कर पूछता है । हे भगवन् ! किस पुण्योदय से मुझे अत्यन्तलघु शिशु अवस्था में ही राज्य प्राप्त हुआ ? तथा कोटिभट कहलाया ? पुनः किस पाप से राज्यच्युत होना पड़ा, पाया राज्य भी छान्दवेना पड़ा ? किस पापकर्म से शरीर में कुष्ठव्याधि हुई ? कौन ऐसा निष्ठ खोटा कर्म किया जिससे धवलसेठ बनिया ने समुद्र की उत्तालतरङ्गों की गोद में सुलाया । अर्थात् सागर में गिराया ? पुनः किस पुण्य से तैरकर पार हुआ और उत्तम राजा हुआ, पुनः किस पापोदय से प्रचण्ड नीच कर्म से चाण्डालों द्वारा मातङ्ग घोषित किया गया ? पुनः शुद्ध होने और राजसत्ता पाने का क्या हेतु है ? मदनसुन्दरी के प्रति प्रगाढ़ स्नेह का कारण क्या है ? हे सबुद्धे ! विमल ज्ञाननेत्रे ! यह सर्व पूर्वं जन्म की करनी आप मुझे समझाने में समर्थ हैं कृपा कर समझाइये । इन प्रश्नों के समाधात से पुण्य-पाप का उपार्जन, उस का फल और उससे भय-वैराग्य प्राप्त होगा ॥३ से ६॥

तत् समाकर्ण्य सम्प्राह मुनीन्द्रः श्रुतसागरः ।

शृणु त्वं भो प्रभो वक्ष्ये सर्वं श्रीपाल ते भवम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(तत्समाकर्ष्य) श्रीपाल के उन प्रश्नों को सुनकर (श्रुतसागरः) श्रुत-सागर (मुनीन्द्रः) मुनिराज (सम्प्राह) बोले (भो श्रीपालः) हे श्रीपाल (प्रभो!) राजन् (ते) तुम्हारे (सर्वम्) सम्पूर्ण (भवम्) भव की घटना को (वक्ष्ये) कहूँगा (त्वम्) तुम (शृणु) सुनो ।

भावार्थ—श्रीपाल के प्रश्नों को सुनकर आचार्य श्री श्रुतसागर जी महाराज कहने लगे भो श्रीपाल राजन् ! आपके पूर्वभक्त का सकल वृत्तान्त मैं निरूपण करता हूँ आप ध्यान पूर्वक सुनिये । पाप पुण्य का परिणाम क्या होता है आपको स्पष्ट हो जायेगा ॥७॥

इहैव भारते क्षेत्रे पवित्रे जिन जन्मभिः ।

विजयाद्धं गिरौ रम्ये विद्यानामास्पदे शुभे ॥८॥

एकोन षष्ठिकं तत्र पुरं रत्नाकराभिधम् ।

उत्तरश्रेणिसंस्थन् तत्पतिविद्याधराधिपः ॥९॥

श्री कान्ताख्या सतीतस्य श्रीमती प्राणवल्लभा ।

जिनं स्तपनम् पूजाद्यैः पात्रदानैरण्वृतैः ॥१०॥

उपवासादिभिर्पुण्यं श्रीमती कुरुते सदा ।

श्रीकान्तः केवलं भोगान् भुनक्ति विषयान्ध धीः ॥११॥

अन्वयार्थ—(इहैव) यहीं (भारते क्षेत्रे) भारतक्षेत्र में जो (जिनजन्मभिः) जिनाभिषेकों द्वारा (पवित्रे) पवित्र उसमें (रम्ये) रमणीक (विजयाद्धंगिरौ) विजयगिरि पर (शुभे) शुभ (विद्यानामास्पदे) विद्याधरों के निवास में (उत्तरश्रेणी संस्थन्) उत्तर श्रेणी में स्थित (एकोनषष्ठिकं) उनसठवाँ (रत्नाकराभिधम्) रत्नाकर नामक (पुरम्) नगर था (तत्र) वहाँ (तत्पतिः) उस पुर का राजा (विद्याधराधिपः) विद्याधर भूपति (श्रीकान्ताख्याः) श्रीकान्तनामा राजा और (श्रीमती सती) सती श्रीमती थीं । (श्रीमती) श्रीमती रानी (सदा) हमेशा (जिनस्तपनम्) जिनाभिषेक (पूजाद्यैः) अष्ट विधि पूजादि (पात्रदानैः) सत्पात्रदान (अणुव्रतैः) अणुव्रतपालन, (उपवासादिभिः) उपवास आदि द्वारा (पुण्यम्) पुण्यकार्य (कुरुते) करती रहती थी किन्तु (श्रीकान्तः) श्रीकान्त राजा (विषयान्ध धीः) विषयों में अन्धबुद्धि (केवलम्) मात्र (भोगान्) भोगों को (भुनक्ति) भोगता था ।

भावार्थ—भारत क्षेत्र में विजयाद्धं पर्वत है । यह गिरि श्री जिनेन्द्र प्रभु के जन्माभिषेकों द्वारा महा पवित्र है । इसकी उत्तर श्रेणी में ६० विद्याधर नगरियाँ हैं । उनमें से उनसठवाँ पुरी का नाम रत्नाकर है । यह पर्वत जितना पावन था उतना ही यह नगर भी सुन्दर था । उसका विद्याधर राजा श्रीकान्त नामका राजा था उसकी रानी श्रीमती थी । श्रीमती महा पतिव्रता, शीलवती थी । वह हमेशा प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, अष्टविधपूजा, पात्रदान, अणुव्रत पालन, उपवास, जप, तप आदि द्वारा पुण्य सम्पादन करती थी ।

परन्तु भूपति श्रीकान्त केवल अहर्निश भोगों में ही आसक्त रहता था । वह विषयान्ध धर्म-कर्म से विहीन था । दोनों दम्पतियों की पुण्य-पाप रूप दो धाराएँ चलतीं । विरोधी धाराएँ चलने पर भी रानी अपने धर्मध्यान में अडिग ही रही ॥८ से ११॥

धर्माचारं न जानाति विचारं पुण्यपापयोः ।

एकदा सः प्रभूप्रीत्या श्रीकान्तः कान्तया समम् ॥१२॥

श्रीमत्या स्वघने रन्तुं गतस्तत्र वनेघने

सुगुप्ताचार्य-योगीन्द्रं निरीक्ष्य शिरसाऽनमत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(सः) वह राजा (धर्माचारम्) धर्माचरण (न जानाति) नहीं जानता है (पुण्यपापयोः) पुण्यपाप का (विचारम्) विचार (न जानाति) नहीं जानता है (एकदा) एक समय (प्रभुः) वह राजा (श्रीकान्तः) श्रीकान्त (प्रीत्या) प्रेम से (श्रीमत्या) श्रीमती (कान्तया) प्रिया के (समम्) साथ (स्व) अपने (घने) वन में (रन्तुम्) क्रीड़ा करने (गतः) गया (तत्र) वहाँ (घनेघने) सघन वन में (सुगुप्ताचार्य योगीन्द्रम्) सुगुप्ताचार्य मुनिराज को (निरीक्ष्य) देखकर (शिरसा) मस्तकभुक्ता (अनमत्) नमस्कार किया ॥१२, १३॥

भावार्थ—वह श्रीकान्त महाराज धर्माचार और पुण्य पाप के विवेक से मूल्य था ।



एक दिन वह अपनी प्रिया श्रीमती के साथ अपने उपवन में रमण करने शोड़ा करने को आया । भोग-विलास को गया । परन्तु वहाँ सघन वन में महातपस्वी सुगुप्ताचार्य योगिराज विराजे थे । राजा ने उन्हें देखकर मस्तक झुका सविनय नमस्कार किया ॥१२ १३॥

मुनिस्तं प्रत्युवाचेति राजन् धर्मं दयामयम् ।

घोर संसार दुःखौघ-पाप सन्ताप नाशकम् ॥१४॥

कुरु येन परं सौख्यमिहामुत्र भवेत् सताम् ।

केवलं विषयासक्तं पापं मा कुरु आवृत्तैः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(मुनिः) दयालु मुनिराज (तं प्रति) उस राजा के प्रति (उवाच) बोले (राजन्) हे भूप ! (घोरसंसारदुःखौघ) भयङ्कर संसार के दुःख समूह (पाप-सन्ताप) पाप सन्ताप को (नाशकम्) नाश करने वाले (दयामयम्) दयामयी (धर्मम्) धर्म को (कुरु) करो (इति) बस, (येन) जिसधर्म से (सताम्) सत्पुरुषों को (इह) इसलोक में (अमुत्र) परलोक में (परमसुखम्) उत्तमसुख (भवेत्) होता है (च) और (अवृत्तैः) अवर्तों-पापों द्वारा (केवलम्) मात्र (विषयासक्तम्) विषयों में लीन हो (पापम्) पाप (मा) मत (कुरु) करो ॥१४ १५॥

सन्वयार्थ—परोपकाररत महामुनिराज ने उस राजा श्रीकान्त की प्रवृत्ति को समझ लिया । उस पर दया कर बोले ओ भूपाल ! आप धर्म का सेवन करिये । जिनेंद्रोक्त धर्म दयामय है, यह धर्म संसार के घोर दुःखों से बचाने वाला है । पाप उनकी तप को शान्त करने वाला सघन मेघ समान है । उभय लोक में हितकारक है । सज्जनों को यही एक मात्र आधार है । उत्तम सुख का यह धर्म हो सफल हेतु है । आप अवृत्ति होकर पापों से विषयासक्त हो अशुभ कर्मों को मत करो । अर्थात् पाप कर्म छोड़ो । सुख का निमित्त धर्म है इसे ही सेवन करो ॥१४-१५॥

येन पापेन पुंसां स्यात् सर्वत्र दुःखमुल्बणम् ।

जैनधर्मस्तु दुष्प्रापश्चिन्तामणिरिव प्रभो ॥१६॥

इति तद् वचसा राजा तं नत्वा श्रावक वृत्तम् ।

गृहीत्वाधर्मसिद्धयर्थं स्वसौख्याय गृहं ययौ ॥१७॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (पापेन) पापद्वारा (पुंसां) आत्मा को (सर्वत्र) सब जगह (उल्बणम्) भयङ्कर (दुःख) कष्ट (स्यात्) होगा (जैनधर्मस्तु) जैन धर्म तो (चिन्तामणिः) चिन्तामणिरत्न (इव) समान (प्रभो !) हे राजन् (दुष्प्रापः) कठिनता से प्राप्त होने वाला है (इति) इस प्रकार (तद् वचसा) मुनिराज वचन से (राजा) पृथिवीपति (श्रावक-वृत्तम्) श्रावक के वृत्त (गृहीत्वा) लेकर (धर्मसिद्धयर्थम्) धर्म की सिद्धि के लिए (स्व-सौख्याय) अपनी सुख अभिलाषा के लिए (गृहम्) घर (ययौ) चला गया ।

भावार्थ—पापों से मनुष्यों को सर्वत्र भयङ्कर दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं । जैनधर्म ही इनसे बचाने वाला है । यह चिन्तामणिरत्न समान महान कठिन साध्य है । इस प्रकार गुरुराज के वचनानुसार का पान कर राजा ने श्रावक के व्रत धारण किये । धर्म की सिद्धि के लिए और सुख पाने की अभिलाषा पूर्ण करने हेतु वह श्रीकान्त महीपति अपने घर चला गया । चला तो गया परन्तु निमित्तों का प्रभाव उसे विचलित किये बिना न रहा ॥१६-१७॥ आगे देखिये—

तानि पालयतस्तस्य दिनैः कतिपर्यगतेः ।

पापोदयेन सङ्गोऽभून्मिथ्यादृशां तु पापिनाम् ॥१८॥

तेन कुत्सितसङ्गेन त्यक्त्वा व्रतानि सोऽबुधः ।

लम्पटोऽभूत्तरां पापी मिथ्यादृष्टिश्च दुर्जनः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(तानि) उन व्रतों को (पालयतः) पालन करते हुए (कतिपर्यः) कुछ (दिनैः) दिन (गतैः) व्यतीत होने पर (पापोदयेन) पापकर्म के उदय से (पापिनाम्) पापात्मा (मिथ्यादृशाम्) मिथ्यादृष्टियों का (सङ्गः) सङ्गति (अभूत्) हो गई (तु) निश्चय ही (तेन) उस (कुत्सितसङ्गेन) खोटे जन सम्पर्क से (सः) वह (अबुधः) अज्ञानी (व्रतानि) व्रतों को (त्यक्त्वा) छोड़कर (तराम्) अत्यन्त (लम्पटः) लम्पटी (च) और (मिथ्यादृष्टिः) मिथ्यात्वी (दुर्जनः) दुर्जन (अभूत्) हो गया ।

भावार्थ—श्रीकान्त विद्याधर राजा ने जितनी श्रद्धाभक्ति से व्रतों को धारण किया, उतने ही उत्साह और उमङ्ग से पालन भी किया । इस प्रकार व्रत पालन करते हुए उसके कुछ दिन महाशान्ति से व्यतीत हो गये । पुनः पाप कर्म के उदय से वह मिथ्यादृष्टि दुष्टजनों की सङ्गति में फँस गया और उनके प्रभाव से व्रतों से च्युत हो गया अर्थात् व्रतों का त्याग कर दिया । यही नहीं पुनः भयङ्कर विषय लम्पटी हो गया । मिथ्यात्व सेवन करने लगा । कञ्चन-रूप जिनधर्म का परित्याग कर पीतलरूप मिथ्याधर्म स्वीकार कर लिया । ठीक ही है बाह्य निमित्त भी जीव के हिताहित में कारण होते ही हैं ॥१८, १९॥

अहो व्याघ्रो हि चौराणां वरं सङ्गः कृतो जनैः ।

भवेक दुःखदो मिथ्यादृक् सङ्गोऽनन्त दुःखकृत् ॥२०॥

व्रतभङ्गज पापेन तेन त्वं राज्य-विच्युतिः ।

जातोऽतः प्राणनाशोऽपि न मोक्षतव्यं व्रतमक्षयम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अहो !) हो भव्यजन हो (एक) एक (भव) भव (दुःखदः) कष्ट देने वाला (व्याघ्रः) व्याघ्र-बाघ (चौराणाम्) तस्करों का (सङ्गः) सहवास (कृतः) किया गया (जनैः) मनुष्यों द्वारा (हि) निश्चय से (वरम्) श्रेष्ठ है किन्तु (अनन्तदुःखकृत्) अनन्तों दुःखों को करने वाला (मिथ्यादृक्) मिथ्या दृष्टियों का (सङ्गः) सङ्गः (न) उत्तम नहीं (तेन)

उस (व्रतभङ्गज) व्रतच्युत से जन्म (पापेन) पाप से (त्वम्) तुमको (राज्यविच्युतिः) राज्य भ्रष्टता (जाता) हुयी (अतः) इसलिए (प्रणनाशेऽपि) प्राणनाश होने पर भी (उत्तमम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत को (न मोक्तव्यम्) नहीं छोड़ना चाहिए ।

सन्ध्यार्थ—जो भव्यजन हो ! व्याघ्र, सिंह, विष शस्त्रादि तो एक ही भव में प्राणघातक होते हैं, परन्तु मिथ्यावास-मिथ्यादृष्टि दुर्जनों की सङ्गति भव-भवान्तरों में भी कष्टप्रद होती है । अर्थात् कुसङ्गति से भव-भव में कष्ट देने वाला पापार्जन होता है । पापियों का सहवास पाप ही उपार्जन करायेगा । जो अनन्तभवों तक कुफल देता रहेगा । हे राजन् श्रीपाल तुमने धारण किये वृत्तों का परित्याग कर दिया था, इसी कारण राज्यभ्रष्ट हुए । इसीलिए प्राणनाश होने पर भी कभी भी व्रत लेकर नहीं छोड़ना चाहिए ॥२० २१॥

अन्यदारण्यमध्यस्थं दिग्वस्त्रालङ्कृतं मुनिम् ।

जल्लादि ऋद्धिसंयुक्तं सावधिज्ञान वीक्षणम् ॥२२॥

विलोक्याशुभ पाकेन कुष्ठीचाऽयमिति ध्रुवम् ।

अकरोत् तस्य निन्दां सः भटैस्सप्तशतैस्समम् ॥२३॥

तेन दुर्वाक्यजाघेन कुष्ठी जातो भवानिह ।

अङ्गरक्षंभटैस्सप्तशतैस्सहातिदुःखभाक् ॥२४॥

अतो राजन् न कर्तव्यं निन्दा प्राणात्यये क्वचित् ।

यतीनां यतो निन्दातनिद्यःस्याद् स तु भवे-भवे ॥२५॥

अन्वयार्थ—(अन्यदा) किसी समय (अरण्यमध्यस्थम्) घटवी के मध्य स्थित (दिग्वस्त्रालङ्कृत) दिशा रूपी वस्त्रों से शोभित (मुनिम्) मुनिराज को जो (जल्लादिऋद्धिसंयुक्तम्) जल्लौषधि आदि ऋद्धियों के धारी (सावधिज्ञानवीक्षणम्) अवधि ज्ञानरूपी लोचन सहित थे उन्हें (विलोक्य) देखकर (अशुभपाकेन) अशुभकर्मोदय से (अयम्) सह (ध्रुवम्) निश्चय ही (कुष्ठी) कोढ़ी है (इति) इस प्रकार (भटैस्सप्तशतैस्समम्) सात सौ भटों के साथ (सः) उसने (तस्य) उन मुनिराज की (निदाम्) निन्दा (अकरोत्) की (तेन) उस (दुर्वाक्यज) कटुवाक्य से उत्पन्न (अघेन) पाप से (भवान्) आप (इह) इस भव में (कुष्ठी) कोढ़ी (जातः) हुए हो (च) और उन (अङ्गरक्षः) अङ्गरक्षक (सप्तशतैः) सात सौ (भटैः) सुभटों के (सह) साथ (अति दुःखभाक्) अत्यन्त दुःख के पात्र (भवान्) आप (जातः) हुए (अतः) इसलिए (राजन्) भो राजन् (प्राणात्यये) प्राण जाने पर भी (क्वचित्) कभी भी (यतीनाम्) यतियों की (निन्दा) निन्दा (न) नहीं (कर्तव्यम्) करना चाहिए (यतो) क्योंकि (निन्दात्) निन्दा से (सः) वह मानव (भवे-भवे) भव-भव में (निद्यः) निन्दनीय (स्यात्) होगा ।

सन्ध्यार्थ—हे राजन् श्रीपाल मुनी, उस श्रीकान्त राजा ने व्रत नियम त्याग दिये । इसके



मुद्रिराज राजा ओपाल को उसके पुत्र भव की घटना कम बताते हुए ।

अनन्तर किसी एक समय वह महा भयङ्कर अटवी में गया । वहाँ उसने एक महातपस्वी जल्लो-
षधि आदि ऋद्धियाँ एवं अवधिज्ञान लोचनधारी दिशारूपी वस्त्रों से जो अलङ्कृत थे उन
मुनीन्द्र को ध्यानस्थ देखा । तीव्र पाप कर्म के उदय से उसने परमवीतरागी मुनीराज को देख-
कर अज्ञानवश कहा कि देखो यह महाकोढ़ी है । उस समय उसके साथ सात सौ महावीर
अङ्गरक्षक सुभट थे उन्होंने भी इसी निन्दवाक्य का समर्थन किया कि हाँ हाँ यह निश्चित ही
कोढ़ रोग से व्याप्त है । उस दुर्वक्त्य से उत्पन्न घोर पाप से आप इस भव में उन सातसौ भटों
के साथ आप भयङ्कर दुःखकारक कुष्ठ रोग से पीडित हुए । अतः हे भूपते ! कभी भी भूलकर
भी प्राण जाने पर भी यतियों दिग्गम्बर साधुओं की निन्दा नहीं करना चाहिए । क्योंकि गुरु
निन्दा से जीव भव-भव में कठोर यातनाओं का पात्र बनता है ।

वर्तमान युग में कुछ पन्थ व्यामोही अज्ञानान्धकारवश निर्दोष, दिग्गम्बर साधुओं
की निन्दा करने में ही अपना गौरव समझते हैं उन्हें इस श्रीपाल के पूर्व जन्म की घटना से
शिक्षा लेना चाहिए । अन्य को नहीं तो कम से कम स्वयं अपने को तो धोखा देने का त्याग
करना चाहिए । साधु श्रीर साधुसंघ का अवर्णवाद करने से बचना चाहिए ॥२२ से २५॥

अथान्येद्युस्सरस्तीरे कायोत्सर्ग स्थितं मुनिम् ।

निजात्मध्यान संलीनं मुक्ति श्रीचित्तरञ्जकम् ॥२६॥

दृष्ट्वाकं पापधीः पापात् स निक्षिप्य सरोवरे ।

पुनस्तस्मात् समाकृष्य मुमोच यतिनायकम् ॥२७॥

तेन पापेन भूपस्त्वं निक्षिप्तस्त्वहं महाम्बुधौ ।

जीवितो निर्गतस्तस्मात् भुजाभ्यां यतिमोचनात् ॥२८॥

अन्वयार्थ (अथ) इस घटना के बाद (अन्ये) दूसरे (द्युः) दिन (सरस्तीरे) सरो-
वर के किनारे पर (निजात्मध्यानसंलीनम्) स्वात्मध्यान में तल्लीन (मुक्तिश्रीचित्तरञ्जकम्)
मोक्ष लक्ष्मी के मन को प्रसन्न करने वाले (कायोत्सर्गस्थितम्) कायोत्सर्ग खड्गासन से स्थित
(मुनिम्) मुनिराज को (दृष्ट्वा) देखकर (सः) उस श्रीकान्त राजा (पापधीः) पापी ने
(पापात्) पापोदय से उस मुनि को (सरोवरे) तालाब में (निक्षिप्य) फेंककर (पुनः) फिर
(तस्मात्) उस तालाब से (समाकृष्य) खींचकर-निकालकर (यतिनायकम्) मुनिराज को
(मुमोच) छोड़ दिया (भूप !) हे श्रीपाल भूप (तेन) उस (पापेन) पाप से (त्वम्) तुम
(महाम्बुधौ) घोर सागर में (तेः) उन व्यापारियों द्वारा (निक्षिप्तः) डाले गये (यतिमो-
चनात्) मुनिराज को वापिस निकालने से (भुजाभ्याम्) हाथों से तैर कर (तस्मात्) उस
सागर से (जीवितः) जीवित (निर्गतः) निकला ।

भावार्थ —मुनिराज को कुण्ठी कहने की घटना के बाद किसी एक दिन उस राजा
श्रीकान्त ने उद्यान में विशाल सरोवर के तट पर एक महातपस्वी मुनिराज जी आत्मध्यान में
तल्लीन थे, देखा । वे कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान करने में लीन थे कि उसने पापबुद्धि से अज्ञानवश

उन मुनिराज को सरोवर में फेंक दिया । पुनः कुछ शुभ विचार आने पर उन्हें वापिस निकाल लिया । हे श्रीपाल भूपाल ! सुनो ! जीव जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है । आपने पूर्व भव में मुनीस्वर को फेंका उस पाप से तुम्हें व्यापारियों द्वारा अथङ्कुर विशाल सागर में पड़ना पड़ा । उस घोर पाप का फल कठोर कष्ट तुम पर आया । पुनः तुमने (श्रीकान्तराजाने) उन श्री मुनि को वापिस निकाल लिया, उस भाव के आगत पुण्यकर्म के उदय से तुम भुजाओं से उस घोर सागर को पार करने में समर्थ हुए । हे भव्यो ! आपका सुख-दुःख आपकी क्रियाओं पर ही आधारित है । जीव स्वयं अपने अज्ञान भाव से दुःखी होता है और अपने ही ज्ञान भाव से सुखी होता है बन्धनमुक्त होता है ॥२६ २७ २८॥



अथ राजन् दुराचारो स्वल्पोऽपि प्राणिनां भवेत् ।

अनन्तदुःख सन्तानं तस्मात्, कार्या न जातु सः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसलिए (राजन्) हे भूपेन्द्र ! (स्वल्पः) अल्प (अपि) भी (दुराचारः) दुराचार (प्राणिनाम्) प्राणियों को (अनन्तदुःखसन्तानं) अनन्त दुःख परम्परा (भवेत्) होती है (तस्मात्) इसलिए (सः) वह दुराचार (जातु) कभी भी (न) नहीं (कार्यः) करना चाहिए ।

भावार्थ—अवधिज्ञानी मुनिराज उपदेश दे रहे हैं कि हे श्रीपाल नरेश ! तुमने पूर्व जन्म में जिस-जिस प्रकार मुनिराज की निन्दा, अपमान, व दुर्व्यवहार किया, तदनुसार उसका फल यहाँ भोगना पड़ा । मुनिनिन्दा से बढ़कर अन्य कोई बड़ा पाप नहीं है । यह प्राणियों को अनन्त दुःख परम्पराओं का कारण होता है । अस्तु, कभी भी ज्ञात व अज्ञात अवस्था में साधुओं का अपलाप, अवर्णनाद, निन्दा नहीं करना चाहिए ।

ततोऽन्यस्मिन् दिने चोग्रोग्रमहातितपोव्रजः ।

अत्यन्तक्षीणसर्वाङ्गः शीतोष्णादिपरिषहैः ॥३०॥

वग्धद्रुममिवालोक्य तं मुनीन्द्रं स भूपतिः ।

चाण्डालोऽयं प्रजल्प्येति पापं निघ्नं व्यधान्मूनेः ॥३१॥

तेन दुर्वाक्यजाघ्रेन, पापं स्त्वं घोषितो भूयि ।

चाण्डालोऽश्रेति मत्वाऽहो न वाच्यं दुर्वचः क्वचित् ॥३२॥

अवयवार्थ—(ततः) इसलिए, किसी (अन्यस्मिन्) दूसरे (दिने) दिन में (उग्रोग्र) धीर (महातितपोव्रजः) महान विविधतपो द्वारा (च) और (शीतोष्णादिपरिषहैः) शीत, उष्ण आदि परीषहों द्वारा (वग्धद्रुमः) जले वृक्ष (इव) समान (तम्) उन (मुनीन्द्रम्)



मुनिराज को (आलोक्य) देखकर (तः) उस (भूपतिः) राजा ने (अयम्) यह (चाण्डालः) चाण्डाल है (इति) इस प्रकार (प्रजल्प्य) प्रलापकर (निचम्) नीच (पापम्) पाप (व्यधात्) किया (तेन) उस (मुनेः) मुनिराज के (दुर्वाक्यज) दुर्वाक्य से उत्पन्न (अघेन) पाप से (पाशैः) चाण्डालों द्वारा (भूवि) संसार में (अत्र) यहाँ (चाण्डालः) चाण्डाल (घोषितः) घोषित किया गया (अहो) ओ भूष ! (इति) इसप्रकार (मत्वा) मानकर (वचित्) कभी भी (दुर्वचः) खोटा वचन (न) नहीं (वाच्यम्) बोलना चाहिए ॥३० ३१ ३२॥

माधार्थ - मुनिराज पुनः कहने लगे हे महीपते! किसी एक दिन उस श्रीकान्त ने महान घोर तपस्वी, उग्रोग्रमहातपश्चरणा और भीषण दुर्द्धर परिषहों के सहन करने से अग्नि-दाह से झूलसे वृक्ष के समान उन मुनिराज की क्षीण काया को देखकर कहा, यह चाण्डाल है। इस प्रकार महानिन्ध पापमय वचन कहे। इन कुवाक्यों से उत्पन्न पाप के फलस्वरूप इस भव में चाण्डालों द्वारा आपको चाण्डाल घोषित किया गया। अतः तपस्वियों के प्रति कभी भी दुर्वचन नहीं बोलना चाहिए। तपः पूत साधु-शरीर क्षीण और जललमल्ल मुक्त होने पर भी रत्नत्रय से परम-पावन होता है। उसे देखकर ग्लानि भी नहीं करना चाहिए फिर कटुवचन का तो दुष्परिणाम होगा ही ॥२६ से ३२॥

इत्यादिकं दुराचारं प्रभोर्मत्वा तदा द्रुतम् ।

श्राविकाकाऽपि शुद्धात्मा, सती गुणवती भृशम् ॥३३॥

आगत्य श्रीमतीं प्राह भो देवि त्वत्पतिर्वृथा ।

मिथ्यासङ्गेन संत्यज्य जैनधर्मं जगद्धितम् ॥३४॥

तथा पीडां मुनोद्गाणां चक्रे दुःखशतप्रदाम् ।

एवं सर्वदुराचारं पत्युः श्रुत्वा महासती ॥३५॥

श्रीमती जिनसद्धर्मसंस्क्ता वा मुनेर्मतिः ।

जगावित्थमहोगेहावासो वैषयिके सुखे ॥३६॥

भूतूर्मपापिनो मूर्ध्निवज्रं पततु निश्चितम् ।

धिग् राज्यं धिक् कुराजानं धिग् भोगान् दुःखदायकान् ॥३७॥

प्रातरुत्थाय जैनेन्द्रीं बीक्षां दुष्कर्म नाशिनीम् ।

ग्रहिष्यामीति चोद्वेगं चकार गुणशालिनी ॥३८॥

अन्वयार्थ - (प्रभो) राजा के (इत्यादिकम्) उपर्युक्त प्रकार (दुराचारम्) दुष्चरित्र को (मत्वा) जातकर (काऽपि) कोई एक (शुद्धात्मा) सम्यग्दृष्टी (सती) शीलवती (गुणवती) गुणमण्डिता (तदा) तब (भृशम्) अत्यन्त (द्रुतम्) वेग से (आगत्य) आकर (श्रीमतीम्) श्रीमती से (प्राह) कहा (भो देवि!) हे देवि! (वृथा) व्यर्थ ही (त्वत्पतिः)

तुम्हारे पति ने (मिथ्यासङ्गनेन) मिथ्यादृष्टियों की सङ्गति से (जगद्धिनम्) संसार का हित-कारी (जैनधर्मम्) जिनधर्म को (संत्यज्य) छोड़कर (दुःखशतप्रदाम्) सैकड़ों दुःखों को देने वाला (भुनोन्द्राणाम्) मुनिराजों को (पीडाम्) दुःख (चक्रे) दिया (तथा) उस प्रकार (पत्युः) पति का (सर्वदुराचारम्) सम्पूर्ण दुराचार को (श्रुत्वा) सुनकर (जिनसद्धर्मसंस्क्ता) उत्तम जिनधर्म में लीन (महासती) परमसती (श्रीमती) श्रीमती (वा) मानों (मुनेर्मतिः) मुनिराज की बुद्धि, (इत्थम्) इस प्रकार (जगौ) ओली (अहो) आश्चर्य है (मे) मेरा (भर्तुः) पति (पापिनः) पापी (गृहावासः) यह गृहनिवास है क्या ? (निश्चितम्) निश्चय ही (वैषयिके) विषयजन्य (मुखे) मुख के (मूर्च्छितं) शिर पर (वज्रम्) वज्र (पततु) गिरे इस (राज्यम्) राज्य को (धिक्) धिक्कार (कुराजानम्) दुराचारी राजा को (धिक्) धिक्कार (दुःखदायकान्) दुःख देने वाले (श्रीपालम्) भोगों को भी (धिक्) धिक्कार (प्रातः) सबेरे (उत्थाय) उठकर (दुष्कर्मनाशिनोम्) पापकर्म विध्वंशिनी (जैनेन्द्रीम्) जैनेश्वरी (दीक्षाम्) दीक्षा को (गृहिष्यामि) धारण करूँगी (च) और (इति) इस प्रकार विचार कर (गुणशालिनी) गुणगण मण्डिता वह (उद्वेगम्) पीडित (चकार) हुयी ।

भावार्थ—हे नृप ! उस भूपति के इन अत्याचारों और दुराचारों को ज्ञात कर एक सती भव्यात्मा सम्यक्त्व मण्डिता श्राविका ने उसकी पत्नी श्रीमती रानी से सम्पूर्ण कुकर्म प्रकट किये । उसने कहा, हे सखि तुम्हारा पति मिथ्यास्त्वियों की सङ्गति से मूढ़ हो पापाचार कर रहा है । हे देवि ! वह निर्दोष वीतराग संयमों के प्रति दुर्व्यवहार करता है, उसने जिनधर्म छोड़ दिया, व्रतों का त्याग कर दिया । संसार का हितकारक धर्म छोड़ दुर्गति के कारण अधर्म का सेवक हो गया । नाना प्रकार दिगम्बर गुरुओं को पीडा देना, दुर्वचन बोलना आदि कुकर्म करने में लगा है । इस प्रकार अपने पति के दुराचारों को सुनकर श्रीमती महारानी संज्ञाशून्य सा हो गई । जिनधर्म में रक्त, सम्यक्त्व से युक्त, मुनिराज की परमपावन बुद्धि समान निर्मल चारित्र्य गुण से विभूषित वह सती कहने लगी, अहो यह जगवास, गृहवास ही त्यागने योग्य है । फिर यदि उस घर में पति ही विधर्मी हो, अनाचारी हो तो कहना ही क्या है ? उससे प्रयोजन ही क्या ? इन पञ्चेन्द्रिय जन्य विषयों से क्या लाभ ? इनके भोग से भी क्या ? इन विषयजन्य भोगों के शिर पर वज्र पड़े, विजली गिरे, मुझे कोई मतलब नहीं । मैं तो प्रातः होते ही इसका त्याग करूँगी । इस राज्य वैभव को धिक्कार है, ऐसे कुमार्गी राजा को धिक्कार और दुःखों के उत्पादक इन विषयभोगों को भी धिक्कार है । ये महा कष्टदायो हैं । अब मुझे इनका त्याग ही श्रेयस्कर होगा । अस्तु, इस प्रकार विचार कर वह गुण शीलवती महादेवी अत्यन्त दुःखी और विरक्त हुयी । उसने दृढ निश्चय किया कि प्रातःकाल सकल दुःखों की नाशक, कर्म विधातक जैनेश्वरी—दिगम्बर दीक्षा धारण करूँगी । आर्यिका व्रत धारण कर तपश्चरण करूँगी । सत्य है वे व्यसन भी मित्र हैं जिनके आघात से वैराग्य प्राप्त हो जावे ॥३३ से ३८॥

तदा म्लानमुखां देवीं क्वचित् भृत्यो निरक्षत ।

आसाद्यनृपमित्याख्यद् देव त्वं धर्ममुत्सृजन् ॥३६॥

महाघोरतमं पापं करोषि दुष्ट सङ्गतः ।

तच्छ्रुत्वा पट्टराज्ञी ते तरां शोकाकुलाजनी ॥४०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब उस समय (क्वचित्) कोई समय (भृत्यः) सेवक ने (म्लानमुखम्) खिन्नमुख (देवीम्) महिषी को (निर्दक्षत) देखा (तथा) और (नृपम्) राजा को (असाद्य) प्राप्त कर (पास जा) (इति) इस प्रकार (आख्यत्) सूचना दी कि (नृप देव !) हे राजन् (त्वम्) तुम (धर्मम्) धर्म को (सृजन्) छोड़कर (महाघोरपापम्) महाभयङ्कर पाप (करोषि) कर रहे हो (दुष्टसङ्गतः) दुर्जन की संगति से (तत्त्वच्छ्रुत्वा) यह सब सुनकर (ते) आपकी (पट्टराज्ञी) पट्टरानी (शोकाकुला) अत्यन्त दुःखी (अजनी) हुयी है ।

भावार्थ—पति के धर्मविरुद्ध आचरण को ज्ञात कर महादेवी रानी अत्यन्त शोकाकुलित हुयी । सत्य ही है पतिव्रता नारियों को पति ही परमेश्वर होता है उसके सुख दुःख और भलाई-बुराईयों में उसे भी सुख दुःख का अनुभव होता है । अर्थात् पति का शुभ और अशुभ ही वह अपना अच्छा-बुरा मानती है । उसे खिन्न और उदास देखकर उसका कोई प्रिय भक्त सेवक राजा के पास आया और कहा, हे देव ! आपकी पट्टदेवी अत्यन्त शोकाकुल है । उसने आपके जिनधर्म का त्याग और कुरुङ्गति स्वीकार तथा उससे किये पापों को सुनकर वह पीडित है । आपके घोर पापों को सुनकर वह बहुत ही शोकाकुल है, संसार से उद्विग्न हो गई है । उसकी स्थिति देखी भी नहीं जाती ॥३९, ४०॥

श्रीकान्तोऽपि स भूपालो विद्याधर नराधिपः ।

तां विलोक्य सतीं शोककुर्वन्तीं दुःखभूरिशाम् ॥४१॥

सञ्जगाद महादेवि कथं शोको विधियते ।

त्वयेत्याकर्ण्य सा प्राह भूपतिं प्रति कोपितर ॥४२॥

भो राजन् गृह्वासेनाशा काचिन्न पूर्यते ।

संयमं संगृह्णामि प्रातरेव सुखप्रदम् ॥४३॥

भोगा रोगोपमास्सर्वे त्याज्यन्ते पाप कारिणाम् ।

इत्यादिकं समाकर्ण्य मत्वा तस्या मनोगतम् ॥४४॥

राजा जगाद भो भार्ये मा त्वया क्रियतां च शुच ।

मया दुःसङ्गयोगेन त्यक्त्वा जैन व्रतानि च ॥४५॥

चक्रे महामुनीन्द्राणां पीडा पाप प्रदायिनी ।

यन्निर्मितं कर्म तत्सर्व क्षमस्वत्वमनुग्रहात् ॥४६॥

अद्य प्रभृति चेज्जैन धर्मं न पालयाम्यहम् ।

ततो मत्कुल भूपानां मध्ये निद्यो भवाम्यहम् ॥४७॥

अतः परं जिनप्रोक्तं धर्मं शर्मकरो महान् ।
 समाराध्यो मया सत्यं पापं संत्यज्यते ध्रुवम् ॥४८॥
 संयमं मा गूहाण त्वं सतीवृन्द शिरोमणो ।
 गुरोः पार्श्वे शुभे त्वं मे प्रायश्चित्तं प्रदापय ॥४९॥
 इत्युक्ते सा प्रसन्नाभूत् सती सद्धर्मवत्सला ।
 अहो प्रभो तदा सोऽपि श्रीकान्तः शान्त मानसः ॥५०॥
 भक्त्या गत्वा तया सार्धं श्रीमत्या जिनमन्दिरम् ।
 सुन्दरं ध्वजमालाद्यै जिनविम्बैर्मनोहरम् ॥५१॥
 त्रिपरीत्येत्य भक्त्याशु प्रविश्यान्तर्महोत्सवैः ।
 पूजयित्वा जिनानुच्चैर्जलाद्यैस्सार वस्तुभिः ॥५२॥
 तत्र श्रीचरुत्ताख्यं मुनिं नत्वा जगौ प्रभुः ।
 भो मुने ! पापकर्माहं परित्यज्य जिनोदितम् ॥५३॥
 धर्मव्रतानि च स्वामिन् कुसङ्गतिं वशीकृतः ।
 पीडाचाऽपि मुनीन्द्राणां कृतमज्ञान भावतः ॥५४॥
 त्वं पिता बन्धुरत्रोच्चैस्त्वं गुरुस्सर्वतारकः ।
 त्वं सार्धसर्धविद् भट्ट्यः जनपद्य प्रभाकरः ॥५५॥
 येन नश्यन्ति तत्पापं भवेन्मेऽत्रोत्तमा गतिः ।
 तत् किञ्चित् त्वं व्रतं देहि दण्डं वा शुद्धिकारणम् ॥५६॥

अन्वयार्थ — (विद्याधर नराधिपः) विद्याधर राजा (सः) वह (भूपालः) नृपति (श्रीकान्तः) श्रीकान्त (अपि) भी (ताम्) उस (शोककुर्वतीम्) शोक करती हुयी (दुःख-भूरिणाम्) अत्यन्त दुःखिनी (सतीम्) सती को (विलोक्य) देखकर (सञ्जगाद) बोला (महादेवि !) हे प्रिये ! (कथम्) कैसे (शोकः) शोक (विधीयते) धारण किया है ? (त्वया) तुम्हारे द्वारा (इति) इस प्रकार (साकर्ण्य) सुनकर (सा) वह रानी (कोपिता) कुपित हुयी (भूपतिप्रति) राजा से (प्राह) बोली । (भो राजन्) हे नृपते ! (गूहवासेन) घर में रहने से (काचित्) कोई भी (आशा) इच्छा (न) नहीं (पूर्यते) पूरी होती है अतः (प्रातरेव) प्रातः काल ही (संयमम्) संयम (संगृह्णामि) धारण करूँगी (सर्वे) सम्पूर्ण (भोगाः) भोग (रोगोपमा) रोग समान (पापकारिणाम्) पाप के कारण (त्याज्यन्ते) त्यागे जाते हैं (इत्यादिकम्) आदि बातें (समाकर्ण्य) सुनकर (तस्या) उसके (मनोगतम्) मन के भावों को (मत्वा) समझकर (राजा) भूय (जगाद) बोला (भो) हे (भार्ये) प्रियतमा ! (त्वया)

भावार्थ—सेवक द्वारा महादेवी की दुर्दशा और शोकनीय दशा का समाचार सुनकर राजा श्रीकान्त अदिलम्ब अपनी प्राणप्रिया के सन्निकट आये । तदनुसार उसे शोकाकुलित, मलिन मुख देखकर उसे सान्त्वना देकर बोले, हे प्राणवल्लभे क्यों दुःखी हैं, मलिन दशा का क्या कारण है ? इतना सुनते ही महादेवी का कोप उग्र हो उठा । वह क्रोधित होकर बोली भो राजन् ऐसी गृहस्थी से कभी भी कोई आशा पूरी नहीं हो सकती यह जञ्जाल है । अतः इसका त्याग कर मैं प्रातःकाल जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी । सुख को देने वाला संयम ही मुझे एक मात्र सहारा है । पञ्चेन्द्रियों के भोग रोग हैं । दुःखी का रोगी क्यों क्यों खुजलाता है और क्षणिक सुख को पाता है पुनः तीव्र वेदनानुभव कर व्याकुल होता है उसी प्रकार इन भोगों को भोगने में क्षणिक अल्प सुख सा दृष्टिगत होने लगता है परन्तु दूसरे ही क्षण घोर पीडा और परभव में असह्य यातनाओं को भोगना पड़ता है । इसलिए पापकर्मों का कारण यह गृहवास छोड़ने ही योग्य है । इनका त्यागना ही सुख का कारण है । मैं अब इसी मार्ग को अपनाऊँगी ।

इस प्रकार रानी की विज्ञप्ति सुनकर और उसके मन की भावना को परख कर वह श्रीकान्त विद्याधर कहने लगा, हे प्रिये ! तुम शोक मत करो । मैंने दुष्टजनों की सङ्गति से जिनधर्म को छोड़ा, उन्हीं के सहयोग से अज्ञानवश अमृतसम सुखकारी व्रतों का परित्याग कर दिया । कुसङ्गवश ही, हे प्रिये ! पापवर्द्धक, दुःखदायी नाना प्रकार की पीडा मुनिराजों को उत्पन्न की हैं । इससे महापाप उपार्जन किया है भो प्राणवल्लभे तुम इन सभी कुकर्मों को क्षमा करो । मैं सत्य कहता हूँ आज से कभी भी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा । भो भामिनी ! यदि अब से मैं जिनधर्म का पालन न करूँ तो मेरी कुलपरम्परा के समस्त राजाओं में मैं निच-नीच समझा जाऊँ । अर्थात् मुझे मेरे पूर्वजों की शपथ है मैं कभी भी विधर्म व कुधर्म का सेवन नहीं करूँगा । आज से निश्चय ही मैं सर्वमान्य जैनधर्म ही पालन करूँगा, जिनशासन का सेवन ही मेरा जीवन उद्देश्य रहेगा । हे प्राणप्रिये ! तुम संयम धारण मत करो । हे सतियों में शिरोमणि ! तुम अपने श्रीगुरु के समीप चलो । मेरे दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त दिलवाओ । हे शोभने ! मैं पाप पङ्क से निकल सकूँ वही तुम करो ।

इस प्रकार पति के वचन सुनकर वह रानी अत्यन्त प्रसन्न हुयी । धर्मात्माजन पाप से ग्लानि करते हैं पापी से नहीं । अतः राजा ने पापों का त्याग कर दिया बस धर्मवत्सला रानी का द्वेष भी समाप्त हो गया । उस समय वह श्रीकान्त भूपाल भी शान्त चित्त हो गया । पुनः अपनी प्रिया के साथ भक्ति से वह राजा जिनालय में गया । जिनमन्दिर अनेकों ध्वजाओं से शोभित था । घण्टानाद हो रहा था, अनेकों प्रकार की मालाएँ लटक रही थीं । वेदी में अत्यन्त मनोहर और विशाल जिनबिम्ब विराजमान थे । उन दोनों ने श्रद्धाभक्ति से नम्रीभूत हो तीन परिश्रमा लगायीं, महामहोत्सवों सहित अन्दर प्रवेश किया । नाना प्रकार के शुभ, सुन्दर और पवित्र अष्टद्रव्यों से पूजा की । उत्तम द्रव्यों से अर्चना कर स्तुति की । पुनः मुनिवसतिका में श्री वरदत्तनाम के मुनिराज विराजमान थे । उनके दर्शन किये, नमस्कार कर यथास्थान बैठ गये । करबद्ध राजा ने प्रार्थना की कि हे भगवन् ! भो मुने ! दुष्ट पापकर्मों के उदय से मैंने श्री जिनोदित धर्म और व्रतों को धारण कर छोड़ दिया । यही नहीं दुर्जनों की कुसङ्गति से निर्दोष वीतराग दिगम्बर मुनिराजों को अनेक प्रकार की यातनाएँ भी दी हैं । अज्ञान भाव से

इन दुष्कर्मों का कठोर फल मुझे भोगना न पड़े इस प्रकार का मार्गदर्शन कीजिये, जिससे मेरा कल्याण हो। आप विश्व बन्धु हैं, आप ही पिता हैं, पालक हैं, आप ही आता है आप ही सब के गुरु हैं, सर्वज्ञाता हैं, सबका हित करने वाले हैं। भव्य रूपी कमलों को प्रबुद्ध-खिलाने वाल अपूर्व सूर्य हैं। हे गुरुवर ! आप कहणा सागर हैं। आप ऐसा व्रत दीजिये जिससे कि मेरे पापों का नाश हो और उत्तमगति की प्राप्ति हो। अथवा कोई भी दण्ड दीजिये जिससे मैं दुर्गति से बच सकूँ। और पापों का नाशकर आत्मशुद्धि करने में समर्थ हो सकूँ। अब, आप ही मुझे शरण हैं, आप पतित उधाहरण हैं ॥४१ स ५॥

सोऽपि श्रीवरदत्ताख्यो मुनिः सद्ज्ञान लोचनः

श्रावकानां व्रतान्युच्चैस्तस्मै दत्त्वा पुनर्जगौ ॥५७॥

श्रूयतां भो प्रभो लोके सर्वपाप प्रणाशकृत् ।

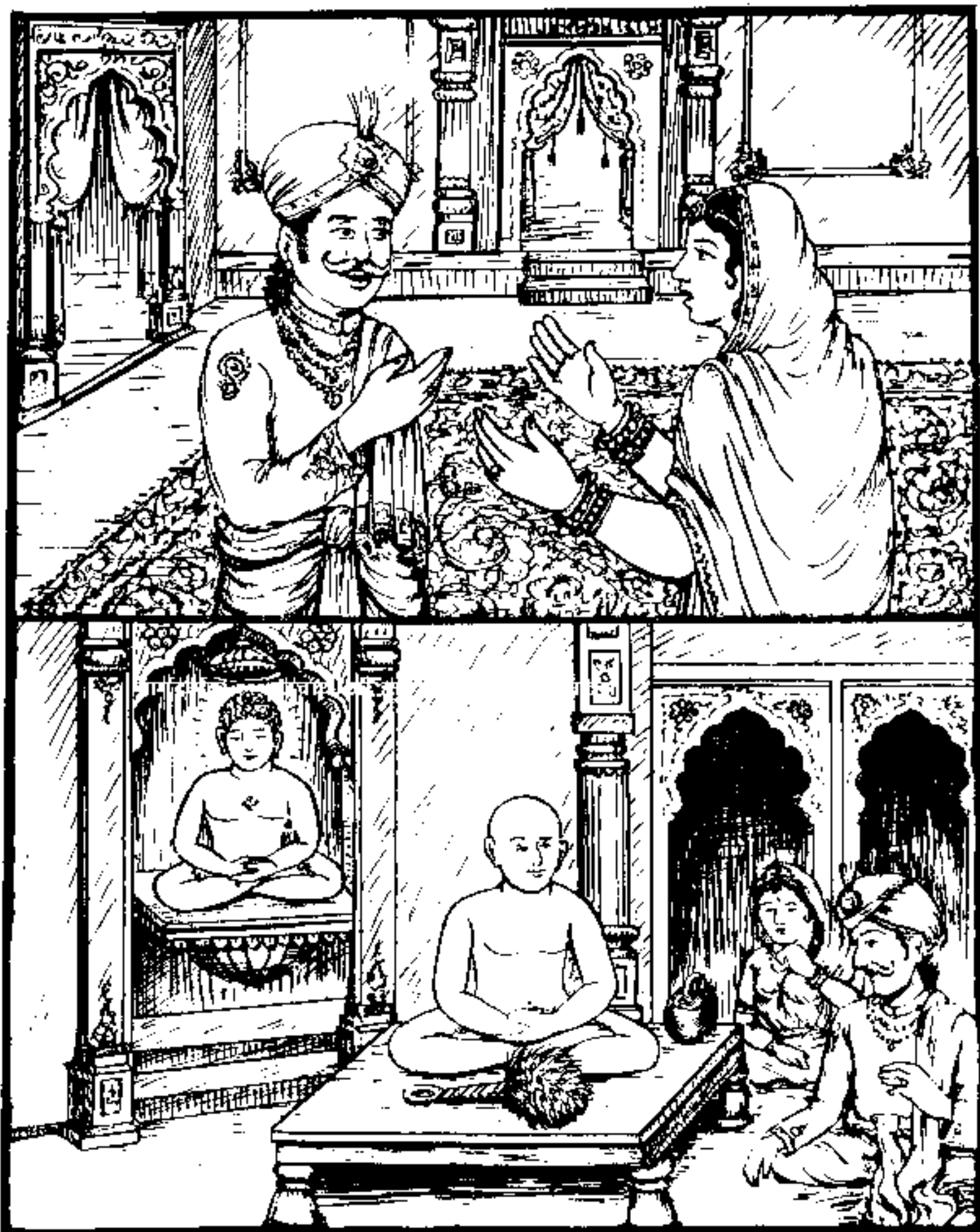
सिद्धचक्रव्रतं पूतं सर्वसिद्धि विधायकम् ॥५८॥

कुरु त्वं पापनाशाय सत्सुखाय च शान्तये ।

व्रतेनैतेन भो राजन् जायन्ते भूरिसम्पदः ॥५९॥

अन्वयार्थ—श्रीकान्त नरेश की प्रार्थना सुनकर श्री मुनिराज उसे सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। (सद्ज्ञानलोचनः) सम्यग्ज्ञान नेत्रधारी (सः) वे (श्रीवरदत्ताख्य) श्रीवरदत्त नामक (मुनिः) मुनिराज (अपि) भी (तस्मै) उसके लिए (उच्चैः) उत्तम (श्रावकानाम्) श्रावकों के (व्रतानि) व्रत (दत्त्वा) देकर (पुनः) पुनः (जगौ) बोले (भो प्रभो) हे राजन् (श्रूयताम्) सुनो (लोके) संसार में (सर्वपापप्रणाशकृत्) सम्पूर्ण पापों का नाशक (सर्वसिद्धिविधायकम्) सम्पूर्ण सिद्धियों का सिद्धिकारक (सिद्धचक्रव्रतम्) सिद्धचक्रव्रत (पूतम्) पवित्र व्रत को (त्वम्) आप (पापनाशाय) पाप नष्ट करने को (सत्सुखाय) उत्तम सुख प्राप्त्यर्थ (च) और (शान्तये) शान्ति पाने के लिए (कुरु) करो (भो राजन्) हे राजन् ! (एतेन) इस (व्रतेन) व्रत से (भूरिसम्पदः) अनेक सम्पत्तियाँ (जायन्ते) प्राप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—श्रीकान्तराजा ने निर्विकार बालवत् अपने समस्त अपराध, दोष गुरुदेव श्रीवरदत्त मुनिराज के समक्ष निवेदन कर दिये। श्री वरदत्त मुनिराज सम्यग्ज्ञान रूपी लोचन से उसके सरल परिणाम और यथार्थ आलोचना को समझ गये। वीतरागी गुरु सर्वहितैषी होते हैं। उन्होंने उसे धैर्य बंधाते हुए मार्गदर्शन किया। उन्होंने सर्वप्रथम उसे पवित्र श्रावक के व्रत धारण कराये। पुनः बोले ! हे नृप ! सुनो, संसार में समस्त पापों को क्षणभर में नष्ट करने वाला तथा सकल मनोकामनाओं का पूर्ण करने वाला सिद्धचक्र विधान है। इस व्रत से भव-भव के पातक उस प्रकार विलीन हो जाते हैं जैसे सूर्योदय से रात्रिजन्य सधन तिमिर विलीन हो जाता है। सम्पूर्ण मनोकामनाएँ स्वयमेव पूर्ण हो जाती हैं। सिद्धियाँ आकर्षित हो दीड आती हैं। इसलिए तुम पातक हर, सुखवर्द्धक, शान्तिदायक महापवित्र सिद्धचक्र व्रत को धारण करो। भो राजन्, इस व्रत से अनेकों संकट टल जाते हैं और नाना सम्पदाएँ खिन्नी चली आती



ऊपर--महाराजा श्रीकान्त के बड़े विरह आचरण से महारानी कुपित हो प्रसन्न करती हुई ।

नीचे--श्रीकान्त महाराज एवं उनकी रानी मुनिराज श्री शरदत्त जी के पास परामर्श कर
पुनः वर्मानुकूल प्रत लेते हुए ।

हैं । अतएव पाप निवृत्ति के लिए, सुख और शान्ति के लिए यह व्रत परमौषधि और अमोघ मन्त्र है ॥५७॥ से ५९॥

चिन्तामणिः तथा कल्पतरोश्चापि सुखप्रदम् ।

सिद्धचक्रव्रतं पूज्यं देव देवेन्द्र सज्जनैः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(चिन्तामणिः) चिन्तामणिरत्न (तथा) एवं (कल्पतरोः) कल्पवृक्ष (अपि) भी (सुखप्रदम्) सुखदायी होना है (च) और (सिद्धचक्रव्रतम्) सिद्धचक्रव्रत तो (देव देवेन्द्रसज्जनैः) सुर असुर, इन्द्र और नरेन्द्र आदियों से भी (पूज्यम्) पूज्यनीय है ।

भावार्थ—चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष तो सुख देने वाले ही माने जाते हैं परन्तु उनकी पूजा कोई नहीं करता । परन्तु यह सिद्धचक्रव्रत तो महान पूज्य है । सुरेन्द्र, नरेन्द्र क्या अहमिन्द्र सभी पूजते हैं । यह त्रैलोक्य पूज्य व्रत है ॥६०॥

श्रीकान्तस्तां निशम्याह गृहीत्वा श्रावकव्रतम् ।

भो स्वामिस्तद्व्रतं देहि, विधिञ्च ब्रूहि मे सुधीः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(श्रीकान्तः) नृपति श्रीकान्त (तम्) गुरुवाणो (निशम्य) सुनकर (श्रावकाव्रतम्) श्रावक के व्रत (गृहीत्वा) धारण कर (आह) बोला, (भो) हे (स्वामिन्) भगवन् (तद्व्रतम्) उस सिद्धचक्रव्रत को भी (देहि) दीजिये (च) और (मे) मुझे (विधिम्) उसकी विधि को (सुधीः) हे ज्ञानिन् (ब्रूहि) कहिये ।

भावार्थ—श्री वरदत्त मुनिराज के मुखारविन्द से अपने पूर्व भव का सकल वृत्तान्त सुन रहा है श्रीपाल । वे वक्षता रहे हैं कि राजन् उस श्रीकान्त महीपति ने गुरुवाणी को सुनकर पुनः शुद्धमन, वचन, काय से श्रावक के व्रत धारण किये । पुनः श्री सिद्धचक्र महाव्रत को धारण करने की प्रार्थना की और उस व्रत की विधि पूछी । तदनुसार करुणासागर श्रीगुरु उस व्रत विधान को सविस्तार उसे समझाते हैं ॥६१॥

स्वामी श्री वरदस्ताख्यो मुनिस्सम्प्राह तद्व्रतम् ।

आषाढे कार्तिकेमासे फाल्गुने च सिताष्टमीम् ॥६२॥

आद्यां कृत्वा महाभक्त्यैः प्रातः प्रारभ्यते शुभम् ।

तत्र श्रीमज्जिनागारे कृत्वा शोभा ध्वजादिभिः ॥६३॥

पञ्चधारस्तन संचूर्णैः कृत्वा तन्दोशवरोचितम् ।

मण्डलोद्वर्तनञ्चारु भज्यानां चित्तरञ्जनम् ॥६४॥

पीठं संस्थाप्य तत्रोच्चैः कृत्वा स्तपनमुत्तमम् ।

श्रीजितप्रतिमानां च सारपञ्चामृतैर्हितैः ॥६५॥

तथा श्रीसिद्धचक्रस्य यन्त्रस्याऽपि महोत्सवः ।

सर्वसंघयुतैर्भव्यैर्भोराजन् परया मुदा ॥६६॥

एवं च तद्द्वयं प्रीत्या स्नापयित्वा जगद्धितम् ।

मण्डले च चतुर्विधं चतस्रः प्रतिमा शुभाः ॥६७॥

ग्रन्थार्थ - (श्रीवरदत्ताख्यः) श्रीवरदत्तनामा (स्वामी) मुनीन्द्र (मुनिः) मुनिराज ने (तद्वृत्तम्) वह सिद्धचक्र वृत्त (ग्राह) उसे बतलाया, (आषाढे) आषाढ (कार्तिके) कार्तिक (च) और (फाल्गुने) फाल्गुन महीने में (सिता) शुक्लपक्ष (अष्टमी) अष्टमी को (आद्याम्) प्रथम (कृत्वा) करके (महाभयैः) अत्यन्तभक्त भव्यों द्वारा (प्रातः) प्रातःकाल (शुभम्) शुभवृत्त (प्रारम्भ्यते) प्रारम्भ किया जाता है । (तत्र) उस समय सर्वप्रथम (श्रीमज्जिनागारे) श्रीजिनमन्दिर में (ध्वजादिभिः) फताका, तोरण, घण्टा, मालादि द्वारा (शोभा) शोभा (कृत्वा) करके (पञ्चधारतनसञ्चूर्णैः) पाँच प्रकार के रत्नों के चूर्णों से (नन्दीश्वरोचितम्) नन्दीश्वर द्वीपसमान (भव्यानाम्) भव्यों के (चित्तरञ्जनम्) मन को हर्षित करने वाला (च) और (चाह) सुन्दर (मण्डलोद्धर्तनम्) मण्डल की रचना (कृत्वा) करके (पीठम्) सिंहासन (संस्थाप्य) स्थापित कर (तत्र) वहीं (उच्चैः) विशेषरूप से (श्रीजिनप्रतिमानाम्) श्रीजिनविम्बों का (हितैः) हित करने वाले (सारपञ्चामृतैः) शुद्ध उत्तम पञ्चामृतों से (उत्तमम्) उत्तम (स्नपनम्) महाभस्मकाभिषेक (कृत्वा) करके (च) और (श्रीसिद्धचक्र-स्ययन्त्रस्याऽपि) श्रीसिद्धचक्र यन्त्र की भी (तथा) उसी प्रकार (महोत्सवैः) महा उत्सव सहित (परया) अत्यन्त (मुदा) आनन्द से (सर्वसंघयुतैः) चतुर्विधसंघ सहित (भव्यैः) भव्यजनों सहित (भो राजन्) हे भूपाल ! (एवं) इस प्रकार (च) और भी (जगद्धितम्) जगत के हितकारी (एतद्द्वयम्) इन दोनों-प्रतिमा और यन्त्र को (प्रीत्या) हर्ष से (स्नापयित्वा) अभिषेक करके (च) और (मण्डले) मण्डल पर (चतुर्विधं) चारों दिशाओं में (शुभाः) कल्याणकारी (चतस्रः) चार (प्रतिमाः) विम्ब (स्थापयित्वा) स्थापित करके—

भावार्थ—श्रीगुरु वरदत्त मुनिराज ने राजा के अभिप्रायानुसार उस श्रीकान्त राजा को सिद्धचक्रवृत्त दिया और उसकी विधि इस प्रकार बतलायी, भो राजन् यह वृत्त एक वर्ष में तीन बार करना चाहिए । आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन महीने में शुक्लपक्ष की अष्टमी से इसे प्रारम्भ करना चाहिए । सर्वप्रथम प्रातःकाल श्री जिनमन्दिर की शोभा ध्वजा, वन्दनवार, घण्टा, चमर माला आदि से करें । पुनः पाँच प्रकार के रत्नों का चूर्ण लेकर भव्यों का मन हरने वाला सुन्दर नन्दीश्वर द्वीप सदृश मण्डल रचना करे । पुनः सारभूत शुद्ध उत्तम पञ्चामृतों से श्रीजिनविम्बों और यन्त्र का महा अभिषेक करें । हे राजन् यह महाभिषेक परमआनन्द और भक्ति से करना चाहिए । अभिषेक हो जाने पर मण्डल के चारों ओर चारों दिशाओं में जिनविम्ब स्थापित करें । यन्त्र भी स्थापित करके पूजा करें । सर्वसङ्घ-चतुर्विधसंघ और परिजन-पुरजन सबके साथ महानन्द से भो राजन् पूजा करना चाहिए ॥६६ से ६७॥

स्थापयित्वा जिनेन्द्राणां सिद्धचक्रं च सिद्धिदम् ।

कर्पूरवासित स्वच्छतोयैः पाप प्रणाशनैः ॥६८॥

क्रियते चन्दनैः पूजा दुःख सन्ताप नाशनैः ।
 कर्पूरागुरुकाश्मीर मिश्रितैः शर्मदायिभिः ॥६६॥
 अक्षतानां महापुञ्जैः पुण्यपुञ्जैरिवामलैः ।
 जाति चम्पक पद्मादिशतपत्र शतोत्करैः ॥६७॥
 पञ्चप्रकार पक्वान्तैर्नाना नैवेद्यराशिभिः ।
 यज्जर्जरज्जनैश्चापिसुवासितदिगन्तकैः ॥६८॥
 रत्नकर्पूर महीपैर्नमोष्णान्त ह्रैः पङ्क्तैः ।
 धूपैः कालागरुत्पन्नैः भाग्य सौभाग्य दायकैः ॥६९॥
 फलेनारङ्ग जम्बीरैर्नालिकेरास्रमोचकैः ।
 मातुलिङ्गरदिभिर्दिव्यैस्सार मुक्ति फलप्रदैः ॥७०॥
 पूजयित्वा जिनानुचरैस्सिद्धांस्त्रैलोक्य सम्मदान् ।
 अर्घ्येनाऽपि महामर्घ्यैस्समाराध्यस्सुभक्तितः ॥७१॥
 स्वर्णपात्रेषुनः कृत्वा महार्घ्यं जयमालया ।
 प्रदक्षिणा प्रदातव्या भीतवादित्रसम्भ्रमैः ॥७२॥
 स्तुतिं श्रीसिद्धचक्रस्य कृत्वा पापप्रतारिणीम् ।
 मन्त्रस्योपरि दातव्यो अष्टोत्तरशतप्रमाः ॥७३॥
 जाप्यं एकाग्रचित्तेन जाति पुष्पेण धी धनैः ।
 अथवाश्चेतिसौगन्ध्यं सुमनोभिर्मनोहरैः ॥७४॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्राणाम्) जिनविम्बों (च) और (सिद्धिदम्) सिद्धि देने वाले (सिद्धचक्रम्) सिद्धचक्र को (स्थापयित्वा) स्थापित करके (कर्पूर वासित) कर्पूर से सुगन्धित, (पापप्रणाशनैः) पापों की नाशक (स्वच्छतोयैः) निर्मल जल से, (दुःख सन्ताप नाशनैः) दुःख, दारिद्र्य, पीडा नाश करने वाली, (शर्मदायिभिः) शान्ति प्रदायक (कर्पूरागुरु काश्मीर) कर्पूर, अगुरु, चन्दन से (मिश्रितैः) मिले हुए (चन्दनैः) चन्दन से पूजा (क्रियते) की जाती है । इसी प्रकार (पुण्यपुञ्ज) पुण्यसमूह (इव) समान (अमलैः) पवित्र (अक्षतानाम्) अक्षतों के (महापुञ्जैः) महा पुञ्जों से, (जाति चम्पक पद्मादि) जाति, चम्पा, कमल, गुलाब, चमेली आदि (शतपत्र) सौदल वाले (शतोत्करैः) सैकड़ों पुष्पों से (पञ्चप्रकार) पाँच प्रकार के (पक्वान्त) मिठाईयाँ (रज्जनैः) खुरमा पुष्पा, खीरादि (च) और (अपि) भी (सुवासित-दिगन्तकैः) दिशाओं को सुवासित करने वाली (नाना नैवेद्यराशिभिः) अनेकों प्रकार की नैवेद्यों पूड़ी, पकौड़ी, खाजादि ताजाओं से, (मनोश्चान्त) मन के मोहतम (हरैः) नाशक

(परैः) उत्तम (रत्नकर्पूरसद्दीपैः) रत्नमय दीप में कर्पूर ज्योतिर्युक्त दीपकों से (कालागरु-
स्पन्तैः) कालागरु से बनाई गई (भाग्य सौभाग्य दायकैः) पुण्य और सम्पदा देने वाली (धूपैः)
धूप से (मुक्तिफलप्रदैः) मुक्तिफल को देने वाली (नारङ्गजम्बीरैः) सन्तरा, विजोरा, (नालि-
केराअमोचकैः) थोफल, आम, मोचफलों से (मातुलिङ्गादिभिः) विजौरादि (दिव्यैः) उत्तम,
सुपक्व मनोहर (सारफलैः) उत्तम फलों से (जिनान्) जिन भगवान् (त्रैलोक्यसम्भटान्) तीनों
लोकों में शान्तिकर (सिद्धान्) सिद्धों को (उच्चैः) विशेषमहात्म्य से (पूजयित्वा) पूजा कर
(महाभक्त्यैः) आसन्नभव्यों द्वारा (अर्घ्येनाऽपि) अर्घ्य से भी (सुभक्तितः) अत्यन्तभक्ति से
(समाराध्य) आराधना करके (पुनः) फिर (स्वर्गपात्रे) सुवर्ण के पात्र में (महार्घ्यम्) महा
अर्घ्य (कृत्वा) करके (जयमालया) जयमाला पहते हुए (प्रदक्षिणा) तीन परिक्रमा (प्रदा-
तव्या) देना चाहिए पुनः (गीतगादिश्रमभक्तैः) गीत गादिष्ट उद्धित उत्तम और उमङ्ग से
(श्री सिद्धचक्रस्य) श्री सिद्धचक्र की (पापप्रतारिणीम्) पाप नाशक (स्तुतिम्) स्तुति को
(कृत्वा) करके (यन्त्रस्योपरि) यन्त्र के ऊपर (अष्टोत्तरशतप्रमाः) एक सौ आठ बार (एका-
ग्रचित्तेन) एकाग्र मन से (धी धनैः) वृद्धि हो है धन जिनका उनको (जातिपुष्पेन) नमेली के
पुष्पों से (अथवा) या (मनोहरैः) चित्तरञ्जक (च) और भी (सौगन्ध्य) सुगन्धित (सुम-
नोभिः) सुन्दर पुष्पों से (जाप्यम्) जाप (दातव्यम्) देना चाहिए

आवार्थ—मण्डल तैयार कर जिनचिम्ब और सिद्धचक्र यन्त्र का विधिवत् पञ्चा-
मृताभिषेक करके श्री मण्डल पर प्रतिमाजी और यन्त्र जी को स्थापित करें। चारों और जिन-
चिम्ब विराजमान करके पुनः निर्मल, पवित्र, सुगन्धित कर्पूर, इलायची आदि सुगन्धित द्रव्यों
प्रासुक स्वच्छ जल से पूजा करे। यह जलपूजा पापों का नाश कर जन्म, जरा, मरणा के दुःखां
से बचाने वाली है। कर्पूर, अगुरु, चन्दन आदि सुवासित केशरादि से श्री जिनभगवान् और
सिद्धयन्त्र की चन्दन से पूजा करनी चाहिए। यह गन्धपूजा दुःख, सन्ताप, पीडादि का नाश
करती है। संसार ताप को नष्ट करती है। महापुण्य पुञ्ज समान, निर्मल, स्वच्छ, अखण्ड
अक्षतों से, पूजा करें। अक्षत पुञ्जरूप मुट्ठीभर कर शिखराकार पर चढ़ाना चाहिए। यह अक्षय
सुख प्रदायिनी हैं। जाति, मल्लिका, जुही, शतपत्र, सप्तच्छद, पाटलादि से श्री जिनप्रभु की
पूजा करने से विकार और कुविषय वासनाओं का नाश होता है मनोहर और सुगन्धित सुमनों
से पूजा करना चाहिए। नाना प्रकार घृतादि से निर्मित सुगन्धित और स्वादिष्ट मिष्ठान्न एवं
व्यञ्जनों से, दिशाओं को सुगन्धित करने वाला अनेको शुद्ध और ताजा पक्वान्नों से श्री जिने-
न्द्रादि की पूजा करे, रत्नों के दीपकों में कर्पूरादि की ज्योति जगाकर सुवर्णमय दीपों से
पूजा-अर्चना करना चाहिए। अगुरु, चन्दन गुग्गुल आदि से निर्मित सुगन्धित धूप से पूजा करें।
दीप पूजा मोहरूपी अन्धकार को नाशक होती है उसी प्रकार धूप पूजा भाग्य-सौभाग्य की
प्रदायिनी होती है। धूप अग्नि में ही खेना चाहिए। क्योंकि धूप कर्म नो कर्म स्थानीय है और
अग्नि तप स्थानीय है। ईंधन को भस्म कर अग्नि स्वयं शुद्ध रहती है उसी प्रकार तपाग्नि
कर्मादि विकार रूप ईंधन को जलाकर आत्मा को शुद्ध बनाती है। सन्तरा, जम्बीर, मौसमी,
विजोरा, अनार, अंगूर, केला, सेव आदि सुपक्व, ताजा, सुन्दर, सुस्वादु उत्तम फलों से, दिव्य
फलों से भव्यात्मा वृद्धिमान श्रावक श्राविकाओं को जिन पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार
अष्टद्रव्यों से श्री जिनेन्द्र भगवान् और सिद्धचक्र की पूजा करनी चाहिए। अत्यन्त भक्ति और

विनय से पूजा होने पर पुनः एक महाअर्घ्य भी चढ़ावें । तदनंतर पुनः स्वर्णमाल में अष्टद्वयों को संजोकर-मिलाकर महाअर्घ्य लें, गीतवादित्र नृत्यादि करते हुए, जयमाला पहते हुए तीन प्रदक्षिणा दें । उत्साह और उमङ्ग से गीतादि द्वारा स्तुति पढ़ें । पाप को नाश करने वाला श्री सिद्धचक्र का स्तवन करें । पुनः १०८ जाति पुष्प लेकर यन्त्र के ऊपर १०८ जाप करना चाहिए । जातिपुष्प नहीं मिले तो अन्य, सुगन्धित, चमेली, जुही आदि कोई भी मनोहर चित्तरञ्जक पुष्पों से जाप देना चाहिए । इस प्रकार बुद्धिमानों को आठों दिन श्री सिद्धचक्र विधान करना चाहिए ॥६८ से ७७॥

तथा श्रुतं जिनेन्द्रोक्तं गुरुणां पादपङ्कजम् ।
समाराध्य जगत्सार सम्पदां सुखदायकम् ॥७८॥
एवं विधि विधायोर्ध्वरष्टम्यां च दिने-दिने ।
पूर्णिमादिनपर्यन्तं विधिरेष विधीयते ॥७९॥

अन्वयार्थ—(तथा) उसी प्रकार (जिनेन्द्रोक्तम्) जिनदेव कथित (श्रुतम्) आगम को (जगत्सार) ससार का सारभूत (सुखदायकम्) सुख को देने वाली (सम्पदाम्) सम्पत्ति देने वाले (गुरुणाम्) गुरुओं के (पादपङ्कजम्) चरण कमलों को (समाराध्य) आराधना करके (अष्टम्यां) अष्टमी से (च) और (पूर्णिमापर्यन्तम्) पूर्णिमा तक (दिने-दिने) प्रति-दिन (एवं) इस प्रकार (विधिम्) विधि (विधाय) करके (उर्ध्वः) विशेषरूप से (एषः) यही विधि (विधीयते) करना चाहिए ।

भावार्थ—इसी प्रकार सुख सम्पदा प्रदान करने वाले तथा ज्ञान के प्रकाशक श्री जिनेन्द्र भगवान का आगम और गुरु चरणारविन्द भी समाराधनीय है । इस प्रकार अष्टमी से प्रारम्भ करके पूर्णिमा पर्यन्त प्रति दिन उपर्युक्त विधि से विधि-विधान करना चाहिए । प्रति दिवस विशेष-विशेष उत्साह और आनन्द से करना चाहिए । पुनः क्या करना चाहिए वह आगे बताते हैं ॥७८, ७९॥

कार्यं जागरणं रात्रौ पूर्णिमायां च सज्जनैः ।
महा सङ्घेन संयुक्तं दानिभान् महोत्सवैः ॥८०॥
उपवासैरिदं कार्यमष्टभिर्वृतमुत्तमम् ।
एकान्तरेण वा प्रोक्तं यथाशक्ति च सूरिभिः ॥८१॥
अष्टौ दिनानि संधायै ब्रह्मचर्यं सुनिर्मलम् ।
सचितं वर्जनीयं चारम्भस्त्यज्यते बुधैः ॥८२॥
प्रतिपदिद्यसे सिद्धचक्रं प्रपूज्य भक्तितः ।
बहुद्रव्यैर्महाध्यै पक्वान्नेश्च मुक्तये ॥८३॥

पात्रदानं विधायोर्च्चनिधानं सार सम्पदाम् ।

दीनादिभ्यस्ततो युक्त्या दातव्यं वसनादिकम् ॥८४॥

सज्जनैस्सह कर्त्तव्यं भोजनं परमोदयैः ।

वृतं श्रीसिद्धचक्रस्य शुभमेतज्जगद्धितम् ॥८५॥

अन्वयार्थ - (च) और (पूर्णिमायाम्) पूनम की (रात्री) रात में (सज्जनैः) सत्पुरुषों को (महासङ्घेन संयुक्तैः) चतुर्विध संघ सहित (जागरणम्) जागरेण (कार्यम्) करना चाहिए (दान मान महोत्सवैः) दान, सम्मानादि महाउत्सव पूर्वक (इदम्) यह व्रत (अष्टभिः) आठ (उपवासीः) उपवासों सहित (उत्तमम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत है (वा) अथवा (एकान्तरेण) एकान्तर उपवास करे (सूरिभिः) आचार्यों ने (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार करने को (प्रोक्तम्) कहा है । (च) और (अष्टौ) आठों (दिनाभि) दिनों में (सुनिर्मलम्) महापवित्र (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्यव्रत (सन्धार्यम्) धारण करना चाहिए (बुधैः) विद्वद्-जन (सचित्तम्) सचित्त वस्तु का (वर्जनीयम्) त्याग करें (आरम्भम्) आरम्भ भी (त्यज्यते) त्याग करते हैं (प्रतिपदिवसे) एकम के दिन (मुक्तये) मुक्ति के लिए (बहुद्रव्यैः) बहुत द्रव्यों से (महाधनैः) अमूल्य वस्तुओं (च) और (पक्वान्नाः) नानाविध सुन्दर नैवेद्यों से (भक्तितः) अत्यन्त भक्ति से (सिद्धचक्रम्) सिद्धचक्र की (प्रपूज्य) पूजा करके, (सारसम्पदाम्) उत्तम सम्पदा का (निधानम्) भाण्डार (पात्रदानम्) उत्तम सत्पात्रदान (उर्च्चैः) विधिवत् (विधाय) देकर (ततो) पुनः (युक्त्या) युक्ति पूर्वक (दीनादिभ्यः) दीन अनाथों को यथायोग्य (वसनादिकम्) वस्त्र, भोजन आदि (दातव्यम्) देना चाहिए । पुनः (सज्जनैस्सह) सार्धमियों के साथ (भोजनम्) भोजन-पारणा (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए । (एतत्) यह (जगद्धितम्) संसार का हित कारक (शुभम्) शुभरूप (परमोदयैः) परम उदय का कर्त्ता (श्रीसिद्धचक्रस्य) श्रीसिद्धचक्र विधान का (व्रतम्) व्रत है ।

भावार्थ - अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक खूब ठाट-बाट, नृत्यगान, वाद्य सहित, शुद्ध, उत्तम अनेक विध सामग्रियों से श्री जिनभगवान और श्रीसिद्धचक्र यन्त्र की अपार भक्ति से पूजा करें । पुनः पूर्णिमा की रात्रि को चतुर्विध संघ सहित-साधर्मि नर-नारियों को आमन्त्रित कर जागरण करें । इस समय भजन, कीर्तन, नृत्य आदि करें । आगत जनों को दान-सम्मान कर सन्तुष्ट करें । आचार्यों ने आठ दिन उपवास करना उत्तम विधि कही है, एक उपवास एक पारणा करना मध्यम रीति बतलाई है फिर भी यथाशक्ति पालन करने को अनुज्ञा दी है । आठ दिन एकाग्रता भी कर सकते हैं, आठों दिन निर्मल शुभ भावों से ब्रह्मचर्यव्रत पालन करें । विद्वानों को इन दिनों में सचित्त वस्तुओं का यथा कच्चा पानो, बिना उबालो तरकारी-आदि का त्याग करना चाहिए । सर्वप्रकार के आरम्भ व्यापार-धन्ये का त्याग करना चाहिए । प्रतिदिन महान् भक्ति से श्रीसिद्धचक्र विधान की पूजा करनी चाहिए । पूजा में अमूल्य रत्नादि, सुन्दर, शुद्ध प्राशुक फलादि, व्यञ्जनादि एवं अनेक प्रकार उपकरणादि चढ़ाना चाहिए । मुक्ति प्रदाता यह पूजा भव्यों को महाहितकारी और सुखकारी है । तदनन्तर प्रतिपदा के दिन श्रीसिद्धचक्रपूजा महावैभव से करें । पुनः चार प्रकार का, उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को प्राशुक, शुद्ध दान

देवें । दान लौकिक सारभूत सम्पदा को देने वाला है परम्परा से मुक्ति का दाता है । इसके बाद दीन, अनाथ आदि जनों को भोजन, वस्त्र आदि देना चाहिए । तदनन्तर अपने साधर्मीजनों को, बन्धु-बान्धवों को साथ लेकर स्वयम् पारणा करें । अर्थात् भोजन करें । इस प्रकार महान् कल्याण का करने वाला यह श्रेष्ठतम सिद्धचक्र व्रत महाफल देने वाला है । संसार का हितैषी है । विश्व का संरक्षक है । अनेकों विपत्तियों का नाशक है । परम्परा मोक्षलक्ष्मी का वरण कराने वाला है ॥८० से ८५॥

उत्कृष्टेन विधिश्चैष सर्वोत्कृष्टफलाप्तये ।

द्विषड्वर्षाविधिर्दक्षैः कर्त्तव्यं शक्ति भक्तितः ॥८६॥

वर्षे-वर्षे त्रिवारञ्च नन्दीश्वर महोत्सवे ।

षड्वर्षे मध्यमं ज्ञेयं जघन्येन त्रिवार्षिकम् ॥८७॥

पश्चाद्युद्यापनं प्राहुर्मुनयः परमागमे ।

तत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ॥८८॥

अन्वयार्थ—(सर्वोत्कृष्टफलाप्तये) सर्वोत्तम, श्रेष्ठतम फल की प्राप्ति के लिए (उत्कृष्टेन) उत्कृष्ट रूप से (एषा) यह (विधि) विधि (दक्षैः) चतुर पुरुषों द्वारा (शक्ति भक्तितः) शक्ति प्रमाण, भक्ति सहित (द्विषड्वर्षाविधिः) बारह वर्ष पर्यन्त (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए (वर्षे-वर्षे) प्रतिवर्ष (नन्दीश्वरमहोत्सवे) नन्दीश्वर महापर्व में (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए (च) और (मध्यमम्) मध्यम रूप से (षड्वर्षे) छह वर्ष (जघन्येन) जघन्यरूप से (त्रिवार्षिकम्) तीनवर्ष का (ज्ञेयम्) जानना चाहिए (पश्चात्) व्रत पूर्ण होने पर (पर-) मागमे) परमागम में (मुनयः) आचार्यों ने (उद्यापनम्) उद्यापन (प्राहुः) कहा है । (तत्र) उद्यापन इस प्रकार करे (श्रीमज्जिनेन्द्राणाम्) श्रीमज्जिनेन्द्रप्रभु का (शर्ममन्दिरम्) सुख शान्ति का निलय (मन्दिरम्) जिनालय ।

कारयित्वा महाभव्यैर्ध्वजाद्यैस्सर्वमुन्दरैः ।

भव्यं भव्यजनानन्द बीजमुक्तिपदं प्रदम् ॥८९॥

अन्वयार्थ—(महाभव्यैः) अत्यन्त मनोरम (ध्वजाद्यैः) ध्वजादि से (सर्वमुन्दरैः) सुसज्जित (भव्यम्) रमणीक (भव्यजनानन्दम्) भव्यजनों को आनन्द दायक (मुक्तिपदम्) मोक्षपद को (प्रदम्) देने को (बीजम्) बीज स्वरूप (कारयित्वा) बनवाकर ।

रत्नस्वर्णमयीश्चारु प्रतिमाश्च मनोहराः ।

तत्प्रतिष्ठा प्रकर्त्तव्या महती शास्त्रयुक्तितः ॥९०॥

अन्वयार्थ—(चारु) सुन्दर, सौम्य (मनोहराः) वीतरागद्विविमुक्त (रत्नस्वर्णमयी) रत्नों की व सुवर्ण को (प्रतिमा) जिनविम्ब कराकर (च) और पुनः (शास्त्रयुक्तितः) शास्त्रोक्त प्रतिष्ठा विधि से (तत्प्रतिष्ठा) उनकी प्रतिष्ठा (महती) विशेषरूप से उत्सव पूर्वक (प्रकर्त्तव्या) करनी चाहिए ।

भाषार्थ—आचार्य श्री इस महापर्व में किये जाने वाले महान सिद्धचक्र विधान का उत्तम, मध्यम, जघन्य काल भेद से भेद बतलाते हैं । उत्कृष्ट समय बारह वर्ष तक प्रतिवर्ष तीन-तीन बार नन्दीश्वर पर्व में उपर्युक्त विधि से करे । यह सर्वोत्तमफल को प्रदान करता है । शक्ति और भक्ति पूर्वक करना चाहिए । मध्यम छह वर्ष और जघन्य तीन वर्ष पर्यन्त करना चाहिए । व्रत पूर्ण होने पर यथायोग्य उत्तम विधि से शक्तिपूर्वक सम्पादन करे । परमागम में उद्यापन की विधि इस प्रकार बतलाई है कि अत्यन्त उन्नत, मनोहर, भव्यों को मनोनयन आनन्दकर जिनालय निर्माण कराये । घवजा, कलश, माला, तोरणादि से उसे सुसज्जित करावे । जो वास्तव में सुख और शान्ति का निलय हो । भव्यजनों के दुःख दैन्य, ताप को हरने वाला हो । पुनः उसमें सुरम्य वेदी निर्माण करावे । रत्नों, सुवर्णों के जिनविम्ब बनवावे । जा सौम्य, चित्ताकर्षक, आगमोक्त विधि से वीतरागता की झलक से शोभित हों । तदनन्तर धूम-धाम से पञ्चकल्याणक महाप्रतिष्ठा अत्यन्त वैभव से कराना चाहिए । आगमानुसार पञ्चकल्याण प्रतिष्ठा द्वारा श्रुतादि मिथ्यादर्शित का भी सम्यक्त्व लाभ हो सकता है । अतएव इस रीति से विधि विधान, दान सम्मान करना चाहिए कि मिथ्यात्वी लोग प्रशंसा करें, आश्चर्य चकित हों और जैनधर्म के वैशिष्ट्य प्रभावित हो दर्शनमोह को वान्त कर सम्यक्त्व रस का पान करने में समर्थ हों जायें । बाह्य प्रभावना अङ्ग है यह, जो अन्तरङ्ग आत्म प्रभावना का समर्थ निमित्त कारण है ॥८६ ६०॥

चतुर्विध महासङ्घं दानमान शतैरपि ।

प्रतिष्ठान्ते जिनेन्द्राणां सारपञ्चामृतोत्करैः ॥८१॥

कृत्वा महाभिषेकश्च देयं दानं जगद्धितम् ।

चन्दनागरुकाश्मीरं स्थापयेच्च श्रीजिनालये ॥८२॥

अन्वयार्थ—(प्रतिष्ठान्ते) प्रतिष्ठाकार्य होने पर (दान मानशतैः) सैकड़ों दान सम्मान पूर्वक (चतुर्विधमहासङ्घैः) मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका सहित (जिनेन्द्राणाम्) श्री जिन प्रतिमाओं का (सारपञ्चामृतोत्करैः) उत्तम पञ्चामृतरसों से (जगद्धितम्) संसार हितकर (महाभिषेकम्) महामस्तकाभिषेक (कृत्वा) करके (च) और (चन्दनागरुकाश्मीरम्) चन्दन, अगुरु, काश्मीरादि (स्थापयेत्) स्थापित करे (अपि) पुनरपि (श्रीजिनालये) श्री जिनमन्दिर में (दानम्) दान (देयम्) देना चाहिए ॥८१, ८२॥

भाषार्थ—अपार प्रभावना ओर आश्चर्यचकित करने वाली प्रतिष्ठा विधि समाप्त हो जाने पर पुनः मुनि, आर्यिका श्राविका, श्रावक चतुर्विधमङ्घ की उपस्थिति में नानाविध दान सम्मान पूर्वक श्री जिन विम्बों का सुन्दर शुद्ध उत्तम महापञ्चामृत रसों-दूध, दही, घी,

इक्षुरस, सबौषधि आदि से महामस्ताभिषेक करें । पुनः अगुरु, चन्दन, काश्मीर आदि सुगन्धित द्रव्यों को स्थापित कर उद्धर्तन करें अर्थात् लेपन करें । सुगन्धित धूप खेंवें । पुनः जलाभिषेक कर जिनविम्बों का अङ्गुलीनादि कर विराजमान करें । तथा श्रीजिनमन्दिर में अनेक प्रकार के उपकरण दान में दें । क्या क्या देना चाहिए आगे उसका विवरण यथायोग्य करते हैं ॥६१॥ ॥६२॥

धौत वस्त्राणि चित्राणि शर्मकारिणि भूरिशः ।

घण्टा कन्तल सत्ताल कलशचक्रचामरः ॥६३॥

भृङ्गाराण्यत्रपीठानि चन्द्रोपकमुखानि च ।

धूपस्यदहनान्युच्चैरासनानि पृथक्-पृथक् ॥६४॥

द्वादशेव प्रमाणानि दीयन्ते जिनमन्दिरे ।

मुनिभ्यः पुस्तकान्युच्चैर्जनसिद्धान्तसिद्धये ॥६५॥

तथा कमण्डलूत्कृष्ट पिच्छकादीनिशर्मणे ।

तथा कालानुसारेण यथायोग्यं च दीयते ॥६६॥

वस्त्राणि ब्रह्मचारिभ्यरार्थिकाभ्यो विशेषतः ।

न पीतानि पवित्राणि सारसूक्ष्माणि शर्मणे ॥६७॥

श्रावक श्राविकानां च महाविनय पूर्वकम् ।

भोजयित्वा महाभोज्यं वस्त्रताम्बूलचन्दनैः ॥६८॥

कृत्वा सम्माननं तेषां याचकानां च तर्पणम् ।

एवं कृत्वा विधातव्यमुद्योतं जिनशासने ॥६९॥

उत्कृष्टेन समादिष्टमुद्यापनमिदं शुभम् ।

यथाशक्ति च कर्तव्यं शान्तिकान्तिकं सुत्तमम् ॥१००॥

स्तोत्रेणापि कृतो धर्मः स्वभावेन जगद्धितः ।

करोति विपुलं सौख्यं तस्मात् तत्क्रियते सदा ॥१०१॥

सर्वथा नो भवेच्छक्तिस्तदा द्विगुणमाचरेत् ।

व्रतं श्रीसिद्धचक्रस्य सर्वथा सुख कारणम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ उद्यापन में श्रीजिनालय में (शर्मकारिणि) सुखप्रदायक, (भूरिशः) बहुत से (चित्राणि) नाना प्रकार (धौतवस्त्राणि) सफेद वस्त्र (घण्टाः) घण्टे (कन्तलाः) कालर-भाँभ (सत्ताला) मंजोरा (कलशाः) कलशे (चक्राः) धर्मचक्र (चामरः) चेंवर (भृङ्गाराणि) भारियाँ (पीठानि) सिंहासन, (चन्द्रोपकमुखानि) चन्द्रोपकादि प्रमुख उपकरण (च)

और (धूपस्य) धूप खेमे के (दहनानि) धूपदान (उच्चैः) विनाल (आसनानि) आसन, पाटा चटाई आदि प्रत्येक (पृथक्-पृथक्) भिन्न-भिन्न (द्वादश प्रमाणानि) बारह-बारह संख्या में (जिनमन्दिरे) जिनालय में (दीयन्ते) देना (जैनसिद्धान्तसिद्धये) जैनसिद्धान्त का पारगामी होने के लिए (मुनिभ्यः) मुनियों के लिए (उच्चैः) उत्तम (पुस्तकानि) शास्त्र (तथा) इसी प्रकार (शर्मणो) शान्ति के लिए (उत्कृष्ट) उत्तम (कमण्डलुः) कमण्डलु (पिच्छिकादीनि) पिच्छी आदि (तथा) एवं (कालानुसारेण) समयानुसार (विशेषतः) विशेष रूप से (आर्यिकाम्यो) अजिका माताओं को (न पीतानि) पीत नहीं अपितु (पवित्राणि) शुद्ध लज्जा निवारण योग्य (शर्मणो) शान्ति के लिए (च) और (ब्रह्मचारिभ्यः) ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियों को भी यथायोग्य (सारसूक्ष्माणि) अनुकूल योग्य सूक्ष्म (वस्त्राणि) वस्त्र (दीयते) देना चाहिए । (च) और (महाविनय पूर्वकम्) अत्यन्त नम्रता से (आवक-आविकानाम्) आवक और आविकाओं को (महाभोज्यम्) बृहद्भोज (भोजयित्वा) कराकर (वस्त्र, ताम्बूल, चन्दनैः) वस्त्र, पान, चन्दनादि द्वारा (तेषाम्) उनका (सम्माननम्) सम्मान (च) और (याचकानाम्) याचकजनों को तर्पणम् (कृत्वा) करके (एवम्) इस प्रकार (कृत्वा) सर्वविधि करके (उद्योतम्) उद्यापन (विधातव्यम्) करना चाहिए । (जिनशासने) जिनागम में (इदम्) यह (शुभम्) शुभ (उद्यापनम्) उद्यापन विधि (उत्कृष्टेन) उत्कृष्ट रूप से (समादिष्टम्) कहा है (शान्तिकान्तिकम्) शान्ति और कान्ति देने वाले (उत्तमम्) उत्तम उद्यापन व व्रत को (यथाशक्ति) शक्ति अनुसार (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए (च) और (स्वभावेन) स्वभाव से (जगद्धितः) जगत का हितकारक (धर्मः) धर्म (स्तोत्रेणापि) स्तुतिमात्र भी (कृतः) किया गया (अपि) भी (विपुलम्) महान (सौख्यम्) सुख को (करोति) करता है (तस्मात्) इसलिए (तत्) वह (सदा) हमेशा (क्रियते) किया जाता है (सर्वथा) पूर्णतः ही (शक्तिः) योग्यता-उद्यापन की शक्ति (नोभवत्) नहीं होवे तो (तदा) तब (सर्वथा) (पूर्णतः) पूर्णरूप से (सुखकारणम्) सुख के हेतु (श्रीसिद्धचक्रस्यव्रतम्) श्रीसिद्धचक्र व्रत को (द्विगुणम्) दूना (आचरेत्) करे ।

भावार्थ—अनेक प्रकार के शुभ वस्त्र-धोती, दुपट्टा, सूती, रेशमी (शुद्ध रेशम) चीन-पट्ट आदि, अनेक प्रकार के घण्टा, भाँक, मंजोरा करतालादि चढ़ावे, झालर, चँवर, कलश, धर्मचक्र, भारी, पीठ, स्वास्तिक, चंदोवा प्रधान रूप से बंधवावे, धूपदानी, उच्चासन-चौकी, पाटा, बाजौटा, आदि उपकरण भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्येक बारह-बारह चढ़ाना चाहिए । जिनालय में चढ़ाने को देना चाहिए । इसी प्रकार मुनिराजों को जैन सिद्धान्त की सिद्धि के लिए शास्त्र दान देना चाहिये । समयानुसार उन्हें सुखकारी पिच्छी तथा कमण्डलु प्रदान करना चाहिए । आर्यिकामाताजी एवं क्षुल्लिका माताओं को उनके योग्य शुद्ध, शुभ्र, सूक्ष्म साड़ी, चादर आदि सफेद वस्त्र प्रदान करना चाहिए । इसी प्रकार ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियों को उनकी योग्यतानुसार पीत व शुभ्र वस्त्रादि से सम्मानित करे । सुखदायक, लज्जानिवारक वस्त्र देने से धर्मध्यान की वृद्धि होती है । महाविनय से आवक-आविकाओं को नानाविधि प्रीतिभोज देना चाहिए । जीमन कराकर, पान, इलायची, सुपारी, सौंफ आदि प्रदान कर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य देवे । इसप्रकार उनका यथोचित सम्मान कर पुनः याचकों को तृप्ति-कारक भोजन-वस्त्रादि दान करे । इसप्रकार उद्यापन करना जिनागम में उत्कृष्ट विधि कही गई है । शान्ति-कान्ति प्रदायक उद्यापन करने की इतनी शक्ति न हो तो यथाशक्ति मध्यम व

जघन्य रूप में उत्तम रीति से करे । श्रीजिनेन्द्रभगवान् व श्री सिद्धचक्र समूह का स्तोत्रमात्र भी जगत् का हितकरने वाला अपूर्व धर्म है अतः स्वभावतः दुःखनाशक सुखकारक, आत्मशोधक स्तोत्रादि सतत करना चाहिए । यह परम्परा से विपुल सौख्य प्रदान करता है । यदि उच्चापन की सर्वथा ही शक्ति न हो तो द्विगुण-अर्थात् चौबीस वर्ष पर्यन्त व्रत करना चाहिए । यह श्रीसिद्धचक्र व्रत सर्वथा सुखदायी है, भव्य प्राणियों को श्रद्धा भक्ति से यथाशक्ति करना चाहिए ॥६३ से १०२॥

देवेन्द्रादिपदं यस्माद्भव्या सम्प्राप्य निर्मलम् ।

लभन्ते शाश्वतं स्थानं सद्भूतं प्रतिपालनात् ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) इस (सद्भूतम्) उत्तम व्रत को (प्रतिपालनात्) प्रतिपालन करने से (निर्मलम्) पवित्र-निर्दोष (देवेन्द्रादिपदम्) इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदों को (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (भव्याः) भव्यजन (शाश्वतम्) स्थायी (स्थानम्) स्थान को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—इस सिद्धचक्र महाविधान का अद्भुत माहात्म्य है । यह सर्वोत्तम व्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रीति से विधिवत् पालन करने पर इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्रादि उत्तम पदों को प्राप्त कराकर अक्षय अविनाशी सुखस्थान मुक्ति में पहुँचा देता है । अर्थात् भव्य श्रावक-श्राविका इस श्रेष्ठतम व्रत के प्रभाव से लौकिक सर्वोत्तम सुखों को भोगकर परम-पद मुक्तिपद को भी प्राप्त करते हैं ॥१०३॥

व्रतेनैतेन भो राजन् सिद्धचक्रस्य भूतले ।

अनन्तास्ते शिवं प्राप्ताः प्रयास्यन्ति च भूरिशः ॥१०४॥

ततो भव्यैर्घृतं पूतं समाराध्यामिदं शुभम् ।

शक्तितो भक्तितो नित्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥१०५॥

नन्दीश्वर विधानस्य महिमा भुवनातिगः ।

वसिंतुं शक्यते नैव फणीन्द्राद्यैरपि प्रभो ॥१०६॥

एवं श्रीशिवरदत्ताख्य मुनीन्द्रेण सुखाकरम् ।

व्रतं सिद्धचक्रस्य प्रोक्तं श्रुत्वा तदा हि तम् ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(भो) हे (राजन्) नृपते ! (एतेन) इस (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र के (व्रतेन) व्रत से (भूतले) पृथ्वीतल पर (अनन्ताः) अनन्तों (शिवम्) मोक्ष (प्राप्ताः) हो गये (च) और (भूरिशः) बहुत से (ते) वे व्रती (प्रयास्यन्ति) प्राप्त होंगे । (ततः) इस-लिए (भव्यैः) भव्यों द्वारा (घृतम्) घारण किया गया (इदम्) यह (पूतम्) पवित्र (शुभम्) शुभ व्रत (नित्यम्) नित्य ही (स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्) स्वर्ग और मोक्ष सुख देने वाला (शक्तितः)

शक्ति अनुसार (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (समाराध्यम्) सम्यक् आराधन करने योग्य है, (प्रभो) हे राजन् (नन्दीश्वरविधानस्य) नन्दीश्वर विधान की (महिमा) महिमा (भुवनातिगः) लोका-
हीत (फणीन्द्राद्यैः) धरणेन्द्रादि द्वारा (अपि) भी (वर्णितुम्) वर्णन करने में (शक्यते)
शक्य (नैव) नहीं है (एवं) इस प्रकार (श्रीवरदत्ताख्यमुनीन्द्रेण) श्री वरदत्तनामा आचार्य
द्वारा (सुखाकरम्) सुख का सागर (सिद्धचक्रव्रतम्) सिद्धचक्र का व्रत (प्रोक्तम्) कहा
गया (तदा) तब (हि) निश्चय ही (तम्) उस व्रत को (श्रुत्वा) सुनकर ।

स श्रीकान्तो महाराजो विद्याधर महोपति ।

श्रीमत्यासह सन्तुष्टो मुनिं नत्वा तमुत्तमम् ॥१०८॥

लात्वा व्रतं जगत्पूज्यं गृहे गत्वा प्रमोदतः ।

विधाय विधिना धीमानुद्यापन समन्वितः ॥१०९॥

ततोऽन्ते विधिनादाय सन्यासं स्वर्ग मोक्षदम् ।

परमेष्ठी पद ध्यानात् कृत्वा प्राण विसर्जनम् ॥११०॥

एकादशं नाकेऽभूद् विश्वऋद्धयेककुलालये ।

श्रीकान्तसौ शतारेन्द्र सिद्धव्रत फलोदयात् ॥१११॥

श्रीमती व्रतपुण्येन तस्येन्द्रस्याभवच्छ्रुत्वा ।

दिव्यरूपागुरोः पूर्णा पुण्य कर्मकरा परा ॥११२॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (विद्याधरमहोपतिः) विद्याधर भूपति (श्रीकान्तः) श्रीकान्त
(महाराजः) महाराज (सन्तुष्टः) प्रसन्न हुआ (श्रीमत्यासह) श्रीमतीसहित (तम्) उन
(उत्तमम्) उत्तम (मुनिं) मुनिराज को (नत्वा) नमस्कार कर (जगत्पूज्यम्) विश्ववन्द्य
(व्रतम्) व्रत को (लात्वा) लेकर (प्रमोदतः) आनन्द से (गृहे) घर में (गत्वा) जाकर
(धीमान्) बुद्धिमान ने (विधिना) विधिपूर्वक (उद्यापन समन्वितः) उद्यापन सहित (विधाय)
करके (ततः) अनन्तर (अन्ते) मरण काल में (विधिना) विधि के अनुसार (स्वर्गमोक्षदम्)
स्वर्ग मोक्ष देने वाला (सन्यासम्) समाधि (मरण) (आदाय) लेकर (परमेष्ठीपदध्यानात्)
पञ्चनमस्कारमन्त्र का ध्यान करते हुए (प्राणविसर्जनम्) मरण (कृत्वा) करके (विश्व-
ऋद्धयेककुलालये) विविध ऋद्धियों के आलयस्वरूप (एकादशनाके) ग्यारहवें स्वर्ग में (असौ)
वह (श्रीकान्तः) श्रीकान्तराजा (सिद्धव्रतफलोदयात्) सिद्धचक्रव्रत के फल से (शतारेन्द्रः)
शतारेन्द्र (अभूत्) हुआ (श्रीमती) रानी श्रीमती (व्रतपुण्येन) व्रत के पुण्य प्रभाव से (दिव्य-
रूपागुरोः) सुन्दर रूप गुराों से (पूर्णा) पूर्ण (पुण्यकर्मकरा परा) शुभकर्मों का करने में तत्परा
(तस्य) उस शतारेन्द्र की (शक्तिः) इन्द्राणी (अभवत्) हुयी ।

भावार्थ—वरदत्तमुनीश्वर बतला रहे हैं कि हे विद्याधराधिपति यह श्री सिद्धचक्रव्रत
अद्वितीय महात्म्य का प्रतीक है । इसलोक और परलोक को सिद्धि कराने वाला है । हे राजन्

सुनों संसार में अनन्तों भव्यात्मा इसके प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं और अनेकों ही निरन्तर शिव श्री के पात्र होंगे अतः मोक्षाभिलाषी भव्यों को शक्ति भक्ति के अनुसार इस महापवित्र, स्वर्ग, मोक्ष दायक शुभवृत की आराधना यथासमय करना ही चाहिए । नन्दीश्वर महापर्व की महिमा लोकातीत है । मनुष्य की क्या बात इसका माहात्म्य धरणेन्द्र और साक्षात् बृहस्पति भी वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते । इस प्रकार इस महावृत का स्वरूप, विधि और गरिमा श्रीगुरु से सुनकर वह राजा श्रीकान्त अपनी प्रिय प्रिया श्रीमती के साथ अत्यन्त हर्षित हुआ । श्रीमति-राज वरदत्तस्वामी को नमस्कार कर श्रद्धा और भक्ति से दोनों ने शुभवृत धारण किया । सन्तुष्ट हो वृत लेकर घर आये । संसार पूज्य वृत को लाकर उन्हें अपार आनन्द हुआ । जिस प्रकार विविध गुरुदेव ने कही थी तदनुसार विधिवत् वृतपालन कर उत्तम विधि से उच्चापन भी किया । आयु के अवसान समय स्वर्गमोक्ष दायक समाधि धारण की । पञ्चपरमेष्ठीवाचक महामन्त्र णमोकारमन्त्र का स्मरण करते हुए साम्यभाव से शान्ति पूर्वक आत्मचिन्तन करते हुए प्राणविसर्जन किये । वृत के फलोदय से महाराज श्रीकान्त महर्द्धिकधारी ग्यारहवें स्वर्ग में उत्तमशतारेन्द्र उत्पन्न हुए और उनकी महारानी श्रीमतीदेवी उस इन्द्रराज की महामुन्दरी, पुण्यकर्मतत्परा परमप्रिय शचि-इन्द्राणी हुई ॥१०४ से ११२॥

श्रीपद्मविभक्तौ सौम्यासां लोचनलायां विशेषतः ।

अन्तर्मुहूर्तमात्रेण सम्पूर्णं नखयौवनः ॥११३॥

देवाङ्गवस्त्र संयुक्तो दिव्याभरण भूषितः ।

ससत् किरीट माणिक्य प्रभानिजितभास्करः ॥११४॥

सुख स्वभाव निर्दोषो जंगमो वा सुरद्रुमः ।

किमिवं स्थानकं दिव्यं महासन्तोष दायकम् ॥११५॥

कोऽहम् कस्मात् समायातो दिव्यरत्न महीतले ।

इत्यादिकं स्मरणचित्ते हर्ष निर्भर बिग्रहः ॥११६॥

तदा जाताबधिर्मत्वा सर्वं पूर्वं भवार्जितम् ।

दानपूजा तपः शीलं परोपकृति संयुतम् ॥११७॥

पुनः पुनः प्रशस्योच्चैश्शासनं श्रीजिनेशिताम् ।

सप्तधातु विहीनस्सन् वात पित्तादिर्बजितः ॥११८॥

स तत्रस्थे सुधाकुण्डे स्नात्वा रीत्या प्रमोदतः ।

तत्रस्थ श्रीजिनेन्द्राणां स्वर्गचैत्यालयाविषु ॥११९॥

शश्वतीः पञ्चरत्नानां प्रतिमाः पापनाशनाः ।

संकल्पमात्र सम्प्राप्तैः सार गन्धादि वस्तुभिः ॥१२०॥

पूजयामास पूतात्मा चकार स्तुतिमुत्तमाम् ।

स्वर्गादि सुख सम्पत्ति दायिनी भव्य देहिनाम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(विशेषतः) आतिशायीरूप से (कोमलायाम्) कोमल (ग्रीवपादिक) उपपाद (शैयायाम्) शैयापर (अन्तर्मुहूर्तमात्रेण) अन्तर्मुहूर्त में ही (नवयौवनः) नवीन यौवन (सम्पूर्णः) अवस्था प्राप्त (दिव्याभरण भूषितः) दिव्य अलङ्कारों से मण्डित, (देवाङ्गवस्त्र-संयुक्तः) देवशरीर के योग्य वस्त्र सहित (माणिक्यप्रभालसत्) माणिक्यरत्न की कान्ति से शोभायमान् (निजितभास्करः) सूर्य को जोतने वाला (किरोटः) मुकुटवाला, (सुखस्वभावः) स्वभाव से सुखकारो (निर्दोषः) दोष रहित (वा) मानों (जङ्गमः) जीवन्त (सुरद्रुमः) कल्प-वृक्ष हो हो, (महासन्तोषदायकम्) अत्यन्त सन्तोष दायक (दिव्यम्) दिव्य-अपूर्व (स्थानकम्) स्थान (इदम्) यह (किम्) कौन है ? (अहम्) मैं (कः) कौन हूँ (दिव्यरत्नमहीतले) इस अपूर्व रत्नभूमि पर (कस्मात्) कहाँ से (समायातः) आया हूँ ? (इत्यादिकम्) इत्यादि (स्मरणचित्ते) विचार से जातिस्मरण होने पर (तदा) तब (हर्षनिर्भरविग्रहः) हर्ष से पुल-कितशरीर (जातः) हुआ (अवधिः) अवधि ज्ञान (जातः) हो गया, (दान पूजातपः) दान, पूजा, तप (शीलम्) शीलाचार (परोपकृति) परोपकार (संयुतम्) सहित (सर्वम्) सम्पूर्ण (पूर्व भवार्जितम्) पूर्व भव में उगार्जन किया यह फल है (भत्वा) समझ कर (श्रीजिनेश्वरिणाम्) श्रीजिनभगवान् के (शासनम्) शासन को (पुनः पुनः) बार-बार (उच्चैः) अत्यन्त (प्रशंस्य) प्रशंसा करता हुआ, (वातक्लितादिवर्जितः) वात पित्त कफादि विकार रहित (सप्तधातुविही-नस्सन्) सप्तधातु रहित शरीरी होता हुआ (सः) उसने (तत्रस्थे) वहीं स्थित (अमृतकुण्डे) अमृतभरे सरोवर में (रीत्या) विधिवत् (स्नात्वा) स्नान करके (प्रमोदतः) आनन्द से (तत्रस्थ) स्वर्ग में स्थित (स्वर्गवैत्याज्यादिषु) सुवर्ग के चैत्यालयों में (श्रीजिनेन्द्राणाम्) श्रीजिनभगवान् की (शाश्वतोः) अकृत्रिम (पञ्चरत्नानाम्) पाँच प्रकार के रत्नों की (पाप-नाशनाः) पाप नाशक (प्रतिमाः) बिम्बों को (संकल्पमात्रसम्प्राप्तेः) चिन्तनमात्र से प्राप्त (सारगन्धादिभिः) उत्तम वस्तुओं से (पूजयामास) पूजा की (तथा) तथा (पूतात्मा) उस पवित्रात्मा ने (भव्यदेहिनाम्) भव्य प्राणियों को (स्वर्गादिसुखसम्पत्तिदायिनीम्) स्वर्गादि के सुख सम्पत्ति को देने वाली (उत्तमाम्) उत्तम (स्तुतिम्) स्तुति (चकार) की ।

भावार्थ—सन्यास मरणकर श्रीकान्तमहाराज, अत्यन्त सुकोमल उपपाद शैया पर अन्तर्मुहूर्त मात्र में पूर्ण यौवनवान होकर उठा । मानों निद्रा से उठा हो । उसका वैक्रियिक शरीर अपूर्व सुन्दर था, अद्भुत वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित था । चमकता हुआ मुकुट पहने था । उसमें मणि की प्रभा निकल रही थी । माणिक्य प्रभा सूर्यबिम्ब की कान्ति को जोत रही थी । शरीर सौन्दर्य भास्कर को भी निरस्कार करने वाला था । स्वभाव से ही वह शरीर सुखद था, प्रिय था, दोषों-व्याधि व्याधियों से रहित था, उसे देखने से प्रतीत होता था मानों कल्पवृक्ष ही जीवन्तरूप धारण कर प्रकट हुआ है । स्वयं वह इस रूपलावण्य भरे स्थान को देखकर विचार करता है "यह अलौकिक स्थान कौनसा है ? कितना सन्तोष दायक है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से यहाँ आया हूँ ? क्यों आया ? इस रत्नमयी भूमि पर आने का कारण क्या है ? इस प्रकार

चित्त में सोचते-सोचने उसे अपार आश्चर्य और हर्ष हो रहा था । उसी समय उस इन्द्रराज को अवविज्ञान प्रकट हो गया । पूर्वभव चलचित्र की भाँति ही उसके सामने घूमने लगा । वह विचार रहा है ठीक है मैंने पूर्वभव में सत्पात्रदान दिया, श्रीजिनभगवान की पूजा की थी, सिद्ध चक्र आराधना व्रत, उद्यापन किया, शीलपालन किया, परोपकार कुशल था, उसी सबका यह फल है । इस प्रकार निश्चय कर वह बार-बार जिनशासन के महात्म्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा । धन्य है धर्म का प्रभाव, व्रत की महिमा अपार है । यद्यपि उसका शरीर सप्तधातु विहीन था तो भी नियोगानुसार, विधिवत् वहाँ स्थित अमृत बाणिका में स्नान किया । वस्त्रालङ्कार धारण किये । स्वभाव से चिन्तन मात्र से प्राप्त गन्ध, पुष्प, चर, दीप, धूप आदि पूजा द्रव्यों को लेकर उस विमान में स्थित अकृत्रिम चैत्यालय में गया । वह सुवर्ण निर्मित जिनालय था । उसमें पञ्चवस्त्रों की अकृत्रिम विष्णुल जिनप्रतिमाएँ विराजमान थी । उस नव इन्द्र ने अपार श्रद्धा भक्ति से उन तीनलोक के नाथ जिनेन्द्र भगवान की दुःख दारिद्र्य, पापनाशक पूजा की । तदनन्तर भव्यप्राणियों को सुखसम्पदा की प्रदाता, स्वर्गादि देनेवाली अद्वितीय स्तुति की । वस्तुतः श्रीजिनेन्द्रभगवान की पूजा भक्ति व स्तुति अद्भुत फल देने वाली होती है । भगवद् भक्ति में राग-द्वेष का क्षमन करने का जादू है । जिन पूजा दारिद्र्य नाशक है । जिनस्तवन उच्चकुल और शुभ्र यश प्रदान करती है । भव्यजीवाँ को सतत पूजा, दान व्रत, और जप, तप करने में तत्पर रहना चाहिए ॥११३ से १२१॥

सम्यग्दृष्टि भव्य स्वर्गादि वैभव पाकर भी उसमें आसक्त नहीं होता । धर्म को नहीं भूलता । भोगों में नहीं फँसता अपितु उसे धर्म का फल समझ कर और अधिक धर्म में हृदबुद्धि हो जाता है । यही आगे दिखाते हैं—

ततः सिंहासनारूढस्सन्नतान् स्व सुरान् सुधीः ।

प्रीत्या सम्मानयामास स्व वाक्यामृतवर्षणैः ॥१२२॥

अन्यथार्थ—(ततः) श्रीजिनपूजा विधानादि कर (सिंहासनारूढः) अपने शासन सिंहासन पर स्थित होते (सन्) हुए (सुधीः) उस जानी इन्द्र ने (प्रीत्या) स्नेह से (तान्) उन (सुरान्) सभाषद् देवों को (स्व) अपने (वाक्यामृत) वचन रूप अमृत (वर्षणैः) वर्षा द्वारा (सम्मानयामास) सम्मानित किया ।

रूप लावण्य सन्दोह देव वृन्दैस्तहोत्तमान् ।

स भुङ्क्ते स्म मद्भाभोगान् शब्दमात्र सुखाकरान् ॥१२३॥

देवी गणधभिर्पुक्तः कदाचिद् निज लीलया ।

साररत्न विमानस्थो ध्वजाद्यैः परिभण्डितः ॥१२४॥

गत्वा शाश्वत् सुक्षेत्रभूमिषु स्वशुभोदयात् ।

अणिभादि गुणोपेतो महाविभव संयुतः ॥१२५॥

प्रत्यक्ष केवलज्ञानभास्करान् श्रीजिनेश्वरान् ।

सुधीः सम्पूजयामास लोकलोक प्रकाशकान् ॥१२६॥

ग्रन्थार्थ—(रूपलावण्यसन्दोह) रूपलावण्य की खान (देववृन्दः) देवसमूहों के द्वारा प्राप्त (उत्तमान्) सर्वोत्तम (शब्दमात्रमुखाकरान्) शब्द सुनने मात्र से जो सुख पहुँचाने वाले हैं ऐसे (महाभोगान्) महानभोगों को (सः) वह इन्द्र (भुङ्क्ते स्म) भोगने लगा (कदाचित्) कभी-कभी (देवीगणादिभिः) देवियों के समूहों (युक्तः) सहित (निजलीलया) अपने लीलामात्र से-इच्छानुसार (ध्वजाद्यैः) ध्वजादि से (परिमण्डितः) सुशोभित (साररत्न) उत्तमरत्नों के (विमानस्थ) विमान में स्थित हो (शाश्वतसुखेत्रभूमिषु) अकृत्रिम अनाद्यनिघन उत्तम क्षेत्रों और भूमियों में (स्वशुभोदयात्) अपने पुण्योदय से (अणिमादि) अणिमा, महिमा लघिमादि (गुणोपेतः) गुणों सहित (महावैभवसंयुतः) महावैभवसहित (सुधीः) वह सम्यग्-दृष्टि भव्यात्मा (लोकालोक प्रकाशकान्) लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले (प्रत्यक्ष-केवलज्ञानभास्करान्) प्रत्यक्ष केवलज्ञानरूपी सूर्य (श्रीजिनेश्वरान्) श्रीजिनेश्वर प्रभुओं को (सम्पूजयामास) पूजा करने लगा ।

भावार्थ—वह शतारेन्द्र अपने अनेकों परिवार देव देवियों से परिवृत था । देव-देवियाँ सौन्दर्य की खान थे । एक-एक का रूप, तेज गरिमा अनूठी थी सभी अपार सौन्दर्य, रूप लावण्य की वापिकाएँ थीं । उसकी शब्दमात्र सुनने से प्रवीचार-काम वासना शान्त हो जाती थी । इन्द्राणियों की मधुरवाणी, धुंधरूओं की झङ्कार, किङ्किणियों का मधुर रव सुनकर ही वह सन्तुष्ट हो जाता था । अनेकों क्रीडाएँ करता रत्न निमित्त विमान नाना प्रकार की ध्वजा, तोरण और क्षुद्र घण्टिकाओं से सुसज्जित था । उसमें बैठकर स्वेच्छानुसार उन, उपवन, हर्म्य उत्तम अकृत्रिम भोग भूमियों, क्षेत्रों में जा-जाकर क्रीडा करता था । शुभोदय से प्राप्त सुलभ भोगों में वह तल्लीन नहीं हुआ । उसने ज्ञात कर लिया था कि यह सुख सम्पदा, वैभव श्रीजिन और श्रीसिद्धचक्र पूजा, व्रत विधान का फल है । अस्तु पुनः मुझे यहाँ सम्यक्त्व पुष्टि और वृद्धि का सुपुष्ट निमित्त भूत जिनभक्ति, गुरुभक्ति करना चाहिए । अतएव वह सपरिवार भोगों में विरक्ति रखता हुआ, साक्षात् जिनेश्वर भगवानविराजमान समावशरण में जाकर वन्दना करता । केवलज्ञानरूपी भास्कर की किरणों में स्नान करता अर्थात् प्रत्यक्ष केवली भगवान की दिव्य वाणी रूप अमृतकरणों में डुबकी लगाता था । उसे अणिमा-महिमा, लघिमा, गरिमा, ईशत्व, ब्रह्मत्व प्राकाम्य आदि महाऋद्धियाँ प्राप्त थीं । वह पूर्णतः स्वतन्त्र और जिन-भक्त शिरोमणि इन भोग और ऋद्धियों को पाकर भी जल तें मित्र कमलवत् धर्मध्यान में लीन रहता था । लोकालोक को गुणपत जानने वाले श्री सर्वज्ञभगवान के साक्षात् दर्शन कर परम आनन्द और सन्तोष धारण करता था । इस समय उसने सपरिवार प्रत्यक्ष प्रभु की पूजा की ॥ १२३ से १२६ ॥

त्रैलोक्यस्थ जिनागारे मेरु नन्दीश्वरादिषु ।

महा बिम्बानि रत्नानां स स्सुधीस्सम्यगर्चयन् ॥१२७॥

कदाचित् निजदेवीभिः क्रीडया सुरसत्तमैः ।
 स्वयम्भूरमण द्वीप पर्यन्तं सञ्चरन् सुधीः ॥१२८॥
 कल्याण पञ्चके कुर्वन् सोऽर्हतां परमार्चनाम् ।
 विभूत्या परया भक्त्या नमस्कारं च योगिनाम् ॥१२९॥
 अष्टादश समुद्रायु साढं त्रिकर देहभाक् ।
 चतुर्थावन्ति पर्यन्तावधिज्ञान विलोचनः ॥१३०॥
 तत्तुल्य विक्रियद्वयादयो नानाविधविचित्रकृत् ।
 अष्टादश सहस्राब्दे गतेऽमृतं हृदाहरन् ॥१३१॥
 नव मासै र्यतिक्रान्तै र्मनागुच्छवासमाश्रयन् ।
 सप्तधातुमलस्वेदातिग दिव्यशरीरवान् ॥१३२॥
 सौधोद्यान वनाद्यादिष्वसंख्य द्वीप धाद्विषु ।
 प्रकुर्वन् स्वेच्छया क्रीडां स्वेन्द्राणोभि स्समं मुदा ॥१३३॥
 रम्यमप्सरसान् पश्यन् भृङ्गारनृत्यमूर्जितम् ।
 बुभुजे परमं सौख्यं सत्पुण्य परिपाकतः ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(सः) वह इन्द्र (सुधीः) बुद्धिमान (त्रैलोक्यस्थ) तीन लोक स्थित (जिनागारे) जिनालयों में (मेरुनन्दीश्वरादिषु) मेरु पर्वतों और नन्दीश्वरादि द्वीपों में विराजित जिनालयों में विराजमान (रत्नानाम्) रत्नों के (महाविम्बानि) विनाल जिनविम्बों को (सः) वह (सुधीः) पवित्रात्मा (सम्यक्) विधिवत् (अर्चयन्) पूजता हुआ (कदाचित्) कभी (निजदेवीभिः) अपनी देवियों के साथ कभी (सुरसत्तमैः) उत्तम देवों के साथ (क्रीडया) खेल-कूद के लिए (स्वयम्भूरमणद्वीप पर्यन्तसञ्चरन्) स्वयम्भूरमणद्वीप तक संचार करता हुआ, (सुधीः) वह विवेकी कभी (पञ्चकल्याणके) पञ्चकल्याणक (कुर्वन्) करता हुआ (सः) वह (परया) उत्कृष्ट (भक्त्या) भक्ति (विभूत्या) विभूति से (अर्हताम्) जिनेश्वरों की (परमार्चनाम्) महापूजा (च) और (योगिनाम्) वीतरागी साधुराजों को (नमस्कारम्) नमस्कार (कुर्वन्) करता था (अष्टादशसमुद्र आयुः) उसकी आयु अठारह सागर (साढंत्रिकर) साढे तीन हाथ (देहभाक्) शरीरधारी था, (चतुर्थी) चौथी (अवन्ति) पृथ्वी (पर्यन्त) तक (अवधिः) अवधिज्ञान (विलोचनः) से देखने वाला था (तत्तुल्य) उतने ही प्रमाण (विक्रियद्वयादयः) विक्रियाद्विधारी (नानाविधविचित्रकृत्) नाना प्रकार के रूप बनाने में समर्थ था, (अष्टादशसहस्राब्देगते) अठारह हजार वर्ष बीतने पर, (अमृतम्) अमृत रूप (हृद्) मानसिक (आहारन्) आहार करता हुआ, (नवमासैः) नवमहीने (व्यतिक्रान्तैः) व्यतीत होने पर (मनाक्) अल्प (उच्छवासम्) उच्छवास (आश्रयन्) लेता हुआ, (सप्तधातुमलस्वेदातिग)

सात धातु, मल, मूत्रः पसीना रहित (दिव्यशरीरवान्) दिव्य देहधारी (स्व) अपनी (इन्द्रा-
णीभिः) इन्द्राणियों (समम्) सहित (असंख्य) असंख्यात (द्वीपवाद्धिषु) द्वीप समुद्रों में
(तोद्य उद्यान वनाद्यादिषु) मङ्गल, बगीचा, वनादि में (स्वेच्छया) अपनी इच्छा से
(मुदा) आनन्द से (क्रीडाम्) क्रीडा (प्रकुर्वन्) करता हुआ (शृङ्गारनृत्यमुज्जितम्) शृङ्गार-
नृत्य में तल्लीन हुयीं (रम्यम्) सुन्दर (अप्सरसान्) अप्सराओं को (पश्यन्) देखता हुआ
(सत्पुण्यपाकतः) श्रेष्ठपुण्यविपाक से (परमम्) उत्तम (सौख्यम्) सुख को (बुभुजे) भोगने
लगा ।

भावार्थ—वह इन्द्र तीनलोक के अकृत्रिम जिनालयों की वन्दना करता था । पाँचों
मेरुओं और द्वीपों में स्थित जिनालयों के जिनविम्बों की रत्नमयी प्रतिमाओं की कर्मनाशक
पूजा, भक्ति स्तुति करता तो कभी देव-देवियों के साथ स्वयम्भूरमण समुद्र तक जा जाकर अनेक
प्रकार की क्रीडाएँ करता, हास-विलास और आमोद-प्रमोद में मग्न हो जाता । परन्तु धर्म भावना
सतत उसके हृदय में जाग्रत रहती । सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से राग-रङ्ग के साधनों के रहते
हुए भी वह कभी पञ्चकल्याणक पूजा महोत्सव करता था । नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डलगिरि द्वीप,
रुचकद्वीप आदि में जाकर प्रतिदिन जिनविम्बों का पञ्चकल्याणक महोत्सव सहित महापूजा
और महामस्तकाभिषेक करता । पाँच-पाँच सौ धनुष उतुङ्ग रत्नमयी जिनविम्बों का दर्शनकर
अपने जन्म को धन्य और सफल बनाता । परम भक्ति और अपूर्व सुन्दर दिव्य आकर्षक विविध
सामग्री लेकर जिनार्चा करता हुआ सर्वत्र सञ्चार करता था । तथा यत्र-तत्र सर्ववीतरागी,
परम दिगम्बर, महातपस्वी, चारणश्रद्धा सम्पन्न गुरुओं को भक्ति-भाव से नमस्कार कर जन्म
सफल बनाता । उसकी आयु १८ (अठारह) सागर की थी । साढ़े तीन हाथ प्रमारा दिव्यशरीर
को ऊँचाई थी । चतुर्थानरकभूमि पर्यन्त वह अपने अवधिज्ञान रूप लोचन से निहारता था
उतनी ही विक्रिया करने में समर्थ था । अर्थात् अधोलोक में विक्रिया से चौथानरक-पङ्कप्रभा
तक गमनागमन करने की सामर्थ्य में युक्त था । विविध प्रकार की विक्रिया करने में उसका
सामर्थ्य था । वह अठारह हजार वर्ष के व्यतीत होने पर मानसिक आहार करता, नौ महीने
व्यतीत होने पर थोड़ा सा उच्छ्वास ग्रहण करता, सप्तधातु वर्जित उसका शरीर था, मल, मूत्र,
पसीनादि से रहित था अर्थात् शुद्ध दिव्य शरीर था । वह अपनी इन्द्राणियों सहित स्वेच्छा से
मनानुकूल, प्रासादों, उद्यानों वापिकाओं, वन-उपवनों, असंख्यात द्वीप-सागरों में जा जाकर
नानाविध क्रीडाएँ-आमोद-प्रमोद करता था । कभी आनन्द से नाना हाव-भाव राग-रङ्ग नृत्यादि
करतो हुयीं अपनी अप्सराओं को देखता हुआ उनको नृत्य-नाट्यकलाओं का निरीक्षण करता ।
इस प्रकार अपने सातिशय पुण्य के फल को निरस्तुक भाव से भोगता था । धर्म के फल को
सम्यग्दृष्टिजीव किसानवत् धर्म का रक्षण करता हुआ ही भोगता है । इसी प्रकार यह श्रीकान्त
राजा का जोव 'इन्द्र' भी धर्माध्यान पूर्वक आनन्द से काल यापन करने लगा ॥१२७॥ १३४॥

ततश्च्युत्वा शतारेन्द्रः सद्धर्मध्यान प्रभावतः ।

जातस्त्वमीह पुण्यरत्ना चरमाङ्गो महाबली ॥१३५॥

इति राजन् महासिद्धचक्र व्रत प्रभावतः ।

बहु दुर्गतिदं पापं क्षपित्वाऽभूत्त्वमोदशः ॥१३६॥

त्वत्प्रिया सा ततश्च्युत्वा, भ्रान्त्वा काश्चिद्भवान् पुनः ।
निदान वशतस्तेऽभूत् प्रिया मदन-सुन्दरी ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद (शतारेन्द्रः) वह शतारेन्द्र (च्युत्वा) वहाँ से चय होकर (सद्धर्मध्यान प्रभावतः) थल्ल धर्मध्यान के प्रभाव से (इह) यहाँ (त्वम्) तुम (महा-वली) अति बलवान (चरमाङ्गः) चरमशरीरी (पुण्यात्मा) पुण्यात्मा (जातः) हुए हो (राजन्) हे राजन् कोटीभट, (इति) इस प्रकार (महासिद्धचक्रव्रतप्रभावतः) महा-सिद्धचक्रव्रतविधान के प्रभाव से (बहु) बहुत सी (दुर्गतिषु) दुर्गतिओं को डेरें बाँधें (पापम्) पापों को (क्षपित्वा) नाशकर (त्वम्) तुम (इदं) इस प्रकार शक्ति सौन्दर्य, यश के पात्र (अभूत्) हुए हो तथा (सा) वह इन्द्राणी (ततः) वहाँ से (च्युत्वा) चय होकर (पुनः) फिर (काश्चित्) कुछ (भवान्) भवों में (भ्रान्त्वा) भ्रमण कर (ते) तुम्हारा (निदानवशतः) निदान करने से (त्वत्प्रिया) तुम्हारी प्रिया (मदन सुन्दरी) मदनसुन्दरी (प्रिया) बल्लभा (अभूत्) हुयी है ।

भावार्थ—मुनिराज श्रीपाल कोटीभट को सम्बोधन करते हुए कहने लगे, कि मुनो राजन् वह शतारेन्द्र अपने अनेकों अभूतपूर्व सुखों को भोगकर उत्तमसद्धर्म के प्रभाव से आयु पूर्ण कर वहाँ से च्युत होकर यहाँ तुम उत्पन्न हुए हो । तुम चरमशरीरी हो, इसी भव से मुक्तिलाभ करोगे । महापवित्र पुण्यात्मा हो, महावली हो इस सबका कारण सिद्धचक्रव्रत पालन ही है । तुमने पूर्वभव में अनेकों दुर्गतिओं में मटकने का भयङ्कर पापार्जन किया था, उस समस्त पाप को उसी भव में हे राजन् महाशक्त सिद्धचक्रव्रत के प्रभाव से नष्ट कर दिया और यहाँ इस प्रकार के पुण्यात्मा, वशिष्ठ, यशस्वी और जिनचरणाम्बुज भक्त हुए हो । तुम्हारे प्रेम में आशक्त वह श्रीमती रानी का जीव निदानबन्ध कर कई भवों के बाद यह तुम्हारी प्राणप्रिया मदनसुन्दरी बल्लभा हुयी है । यह सब सिद्धचक्रव्रत का साहाय्य है ॥१३५ से १३७॥

अतोऽब्रुवन् व्रतं वक्षैः कर्तव्यं सर्वशक्तिः ।

स्वर्गं मुक्तिं करं सारं विश्वविघ्नौघघातकम् ॥१३८॥

क्षिप्तं पापं त्वया पूर्वं सिद्धचक्रप्रपूजनात् ।

तथाऽपि गन्धमाश्रं च किञ्चित्पापं त्वयि स्थितम् ॥१३९॥

श्रीकान्ताख्यभवे पूर्वं श्रावकव्रतसंग्रहात् ।

त्वया प्राप्तं पितृराज्यं लघुत्वेऽपि प्रभो शृणु ॥१४०॥

व्रतभङ्गाद्राज्यभङ्गौ मुनेः कुण्ठीति जल्पनात् ।

कुण्ठी त्वमपि सञ्जातस्सेवकैस्सह भूपते ॥१४१॥

धरदत्तमुनीन्द्रेण कृपायुक्तेन धीमता ।

प्रायश्चित्तं हि ते दत्तं तेन जातोसि सुन्दरः ॥१४२॥

मुनेस्सरसि पातेन पातितस्त्वं पयोनिधौ ।

निष्काशितो मुनिस्तस्मात्तटाकाच्च त्वयायतः ॥१४३॥

समुत्तीर्य समुद्रं त्वं पारे लग्नस्ततो ध्रुवम् ।

मुनेश्चाण्डाल वाक्येन चाण्डालो धोषितस्तर्कः ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(अतः) इसलिए (दर्शः) चतुर पुरुषों द्वारा (स्वर्गमुक्तिकरम्) स्वर्ग मोक्ष देने वाला (इदम्) यह (सारं व्रतम्) उत्तम व्रत (सर्वशक्तिः) सर्वप्रकार शक्ति प्रयत्नों से (विश्वविघ्नौघ) संसार के विघ्न समूहों को (घातकम्) नाश करने वाला (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए । (सिद्धचक्र प्रपूजनात्) सिद्धचक्र की सम्यक् पूजा करने से (पूर्वम्) पहले ही (त्वया) तुम्हारे द्वारा (पापम्) पाप (क्षिप्तेम्) नष्ट कर दिये गये (तथाऽपि) तो भी (किञ्चित्) कुछ (गन्धमात्रम्) वासनामात्र (च) और (पापम्) पाप (त्वयि) तुम में (स्थितम्) रह गये । (पूर्वम्) पहले (श्रीकान्ताख्यभवे) श्रीकान्तराजा के भव में (श्रावकव्रतसंग्रहात्) श्रावक के व्रतों का पालन करने से (त्वया) तुम्हारे द्वारा (लघुत्वेऽपि) अल्पवय रहने पर भी (पितुः) पिता का (राज्यम्) राज्य (प्राप्तम्) प्राप्त किया गया (प्रभो) हे राजन् (शृणु) सुनो (व्रतमङ्गनेन) व्रत मङ्गल करने से (राज्यमङ्गलः) राज्य अङ्ग (मुनेः) मुनि के (कुष्ठीति) कोढ़ी है इस प्रकार (जल्पनात्) बोलने से (सेवकैः) सेवकों के (सह) साथ (भूपते) हे भूप (त्वम्) तुम (अपि) भी (कुष्ठी) कोढ़ी (सञ्जातः) हुए (कृपायुक्तेन) कृपासागर (धीमता) बुद्धिमन् (वरदत्तमुनीन्द्रेण) वरदत्त मुनिराज ने (हि) निश्चय ही (ते) तुम्हें (प्रायश्चित्तम्) दण्ड (दत्तम्) दिया (तेन) उससे तुम (सुन्दरः) रूपवान (जातोसि) हुए हो । (मुनेः) मुनिराज के (सरसि) सरोवर में (पातेन) डालने से (त्वम्) तुम (पयो-निधौ) सागर में (पातितः) गिराये गये (तस्मात्) उस (तटाकान्) सरोवर से (त्वया) तुम्हारे द्वारा (मुनिः) मुनिराज (निष्काशितः) निकाल लिये गये (यतः) इससे (त्वम्) तुम (समुद्रम्) समुद्र को (समुत्तीर्य) पार कर (पारे) किनारे पर (लग्नः) आ लगे (ततो) इस के बाद (ध्रुवम्) निश्चय से (मुनेः) मुनि के प्रति (चाण्डालः) चाण्डाल (वाक्येन) वाक्य से (धोषितः) धोषित किया इसीलिए (तर्कः) उन चाण्डालों द्वारा (इदमपि) तुम भी (चाण्डालः) चाण्डाल (धोषितः) धोषित किये गये ।

भावार्थ—सिद्धचक्र व्रत के महात्म्य और विशिष्ट फल को ज्ञात कर भव्यों को, चतुर प्राणियों को शक्ति भक्ति, हर प्रकार प्रयत्न करके इस महापवित्र व्रत को धारण करना चाहिए, पालन कर अशुभ पाप कर्म समूह का नाश भी करना चाहिए और सातिशय पुण्यार्जन कर स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करना चाहिए । श्रीपाल महाराज को सम्बोधन करते हुए श्रीगुरु मुनि-

राज कहते हैं हे भूपेन्द्र ! पूर्वभव में तुमने इस सिद्धचक्रवर्त, पूजन और आराधना से बहुत से पाप को नष्ट कर दिया था । प्रभूत अधसमूह को भस्म कर दिया था तो भी कुछ छद्म समान उसकी गन्ध शेष रह गई । ठीक ही है किरमिच का रङ्ग बार-बार धोने पर भी उसकी हल्की सी लाली रह ही जाती है । आपका प्रभूत पाप जिनसिद्ध भक्ति पूजा से प्रक्षालित कर दिया गया तो भी धुंधला सा आकार मात्र तो रह ही गया । सुनिये, आपने श्रीकान्तराजा नामक पर्याय पूर्वभव में श्रावक के पवित्र व्रत धारण किये तत्फलस्वरूप आपको अतिलघुवय में पिता का राज्य प्राप्त हुआ । पुनः तुमने उन परम पावन श्रावक व्रतों को छोड़ दिया, जिसके दुर्विपाक से आपको राज्यभ्रष्ट होना पड़ा । आपने मुनिराज को अपने साधियों के साथ कुण्ठी कहा था । उसी पाप से आप और आपके साथी कुण्ठी हुए, क्योंकि आपने बीतरागी मुनिराज को कोछी कहा और इन लोगों ने भी सम्पत्ति दाह का समर्थन किया था । यद्यपि करुणासिन्धु, दयानिधान श्रीवरदत्तमुनिराज ने आपको प्रायश्चित्त किया था और घोर नरक-तिगोद के कारण-भूत भयङ्कर पापों को लघु बना दिया था इसलिए ही तुम अतिसुन्दर रूपवान हुए हो क्योंकि “पश्चात्तापात्फलच्युतिः” पश्चात्ताप करने से पापकर्म के फल की हानि हो जाती है । आपने, भी राजन् मुनीश्वर को सरोवर में फेका तत्फल स्वरूप आप अथाह सागर में गिराये गये । उन निर्पराध मुनिराज को पुनः जल से निकाल लिया था इसी से आप सागर को भुजाओं से पार कर तीर पर आ लगे । मुनिनायक को तुमने चाण्डाल भाण्ड कहा इसी से चाण्डालों द्वारा आप भी चाण्डाल या भाण्ड घोषित किये गये । ओ राजन् ! यह जीव जैसा-जैसा, जब जब कर्म करता है उसका फल भी उसे ही तदनुसार भोगना पड़ता है । संसार में मुनि भवित से बढ़कर पुण्यकर्म और मुनिनिन्दा से अधिक अन्य कोई भी पाप कर्म नहीं है । भव्यों को भूलकर भी स्वप्न में भी गुरु निन्दा व मुनिजनों का अपमानादि नहीं करना चाहिए ॥१३८ से १४४॥

आचार्य कहते हैं मुनिनिन्दा और घतभङ्ग करना महा भयङ्कर पाप है—

वरं हालाहलं भुक्तं वरं प्राण विसर्जनम् ।

असि धेनुकया राजन् अग्निपातोऽपि सुन्दरः ॥१४५॥

सिंहव्याघ्रादिभिरेषो, वरं तु पातनं जले ।

नैव निन्दा मुनीन्द्राणां शील संयम शालिनाम् ॥१४६॥

हालाहलादिकं दुःखं क्षणं प्राणविसर्जने ।

मुनीनां निन्दनं दुःखं करोत्यत्र भवे भवे ॥१४७॥

तस्माद्धी भव्य राजेन्द्र श्रीपाल सुगुणोज्ज्वल ।

प्राण त्यागेऽपि कर्त्तव्या नैव निन्दा तपस्विनाम् ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(हालाहलम्) सद्यप्राणनाशक विष (भुक्तम्) खाता (वरम्) अच्छा है (प्राणविसर्जनम्) प्राण त्याग (वरम्) अच्छा (राजन्) हे नृप ! (असिधेनुकया) गाय के

खुर से प्राप्त तलवार, (सिंहव्याघ्रादिभिः) जेर, बाघादि द्वारा (प्राणविसर्जनम्) प्राण त्यागना (वरम्) श्रेष्ठ (अग्निपातः) आग में जलना (अपि) भी (सुन्दरः) अच्छा (तु) उसी प्रकार (जलेपातनम्) जल में कूदना (वरम्) उत्तम, किन्तु (शीलसंयमशालिनाम्) शील संयमादि गुणों से युक्त (मुनीन्द्राणाम्) मुनीन्द्राजों की (निन्दा) निन्दा (नैव) श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि (हालाह्लादिकम्) हालाहलविषादिका (दुःखम्) दुःख (प्राणविसर्जने) प्राणत्याग में (क्षणम्) क्षणभर को होता है (मुनीनाम्) मुनियों की (निन्दनम्) निन्दा (भवे-भवे) भव-भव में (दुःखम्) दुःख (करोति) करती है (तस्मात्) इसलिए (भव्य) भी भव्य (गुणोज्ज्वल !) गुणों से प्रकाशित (राजेन्द्र !) भूपेन्द्र (श्रीपाल) श्रीपाल ! (अत्र) संसार में (तपस्विनाम्) तपस्वियों की (निन्दा) निन्दा (प्राणत्यागेऽपि) प्राण त्याग करने पर भी (नैव) नहीं (कर्तव्या) करना चाहिए ।

भाषार्थ—हे राजेन्द्र श्रीपाल संसार परिभ्रमण के दुःखों का मूल मुनि निन्दा है । हालाहल विष खालेना अच्छा है, गोखुर से उत्पन्न असि तलवार से आत्मघात करना कहीं अच्छा हो सकता है, सिंह व्याघ्र, सर्प व्यालादि द्वारा मारा जाय तो अच्छा है, अग्नि में जलना जल में डूबना, गर्व से झूड़ मरना अच्छा है परन्तु शील संयम रूप धन के धारक, वीतराग दिगम्बर साधुओं गुह्रों की निन्दा करना, उन्हें दोष लगाना, उनका अवर्णवाद करना कभी भी अच्छा नहीं है । क्योंकि विषादि भक्षण कर व अग्नि, जलादि द्वारा तो एक ही बार एक ही भव में मरना दुःख देता है परन्तु मुनिनिन्दा का दुष्परिणाम तो जीव को भव-भव में महा-भयङ्कर दुःख देता है । अतः मुनिनिन्दा महाघातक नरक निगोद की कारण और सकल दुःख, सन्तापों की जननी है । इसलिए हे उज्ज्वलगुणालङ्कृत राजेन्द्र, कभी भी स्वप्न में भी मुनी निन्दा नहीं करना चाहिए । प्राण जाने पर भी मुनि निन्दारूप परिणाम नहीं होना चाहिए । अभिप्राय यह है कि संसार में मुनिनिन्दा महाभयङ्कर, पाप और अभिशाप है । धर्मभीरुओं को यदि निन्दा से बचना चाहिए ॥१४५ से १४८॥

पुनः श्रीजिननाथोक्त आवकाचार पालनात् ।

स्व राज्यं हि विशेषेण त्वं प्राप्य स्मरसुन्दरीम् ॥१४६॥

एवं भवावलीं श्रुत्वा तदा श्रीपाल भूपतिः ।

श्रुतसागर नामानं मुनीन्द्रं तं प्रणम्य च ॥१४७॥

महाभक्तिभरेणाशु परमानन्द निर्भरः ।

पुनः श्रीसिद्धचक्रस्यवतं त्रैलोक्य तारणम् ॥१४८॥

सुधीर्जग्राहभव्यात्मा मनोवाक्काय योगतः ।

दुर्गत्यादि क्षयकारि स्वर्गमोक्षादि साधनम् ॥१४९॥

तत्प्रभावं समाकर्ण्य ते सप्तशत सेवकाः ।

राजानश्च परे सर्वे तथा श्रीपालनन्दनाः ॥१५०॥

कन्दर्प सुन्दरी मुख्या तस्य देव्यो मनोहराः ।
 पौरा सर्वेऽपि ते शूरास्तथा पत्तन योषिताः ॥१५४॥
 चित्र विचित्र नामानौ यौ कुमारौ खगात्मजौ ।
 श्रीपालस्यालकौ द्वौसुकण्ठ श्रीकण्ठ संज्ञकौ ॥१५५॥
 सुशीलाख्योऽथ गन्धर्वो यशोधन नृपनन्दनः ।
 विवेकशील नामानि वज्रसेन चतुस्सुताः ॥१५६॥
 हिरण्य संज्ञक स्नेहाक्षुरिभौ भूपति देहजौ ।
 स्थान कुंकुणनाथस्य सुधर्म करणोत्सुकौ ॥१५७॥
 राज्ञो मकरकेतोर्जीवन्ताख्य सुन्दरात्मजौ ।
 पितामदनसुन्दर्याः प्रजापाल नरेश्वरः ॥१५८॥
 श्रीपाल सेवितोऽन्यऽपि बहवो देशनायकाः ।
 समेत्यान्ये नरनार्योव हवस्सुगुण शालिनः ॥१५९॥
 सर्वे ते भूभुजा साद्वर्ग सिद्धचक्रस्य सद्गतम् ।
 स्वीचक्रुः परमानन्दात् यथा राजा तथा प्रजा ॥१६०॥
 हृत्य श्रीजिनसिद्धचक्र बिलसत्पूजा प्रभावोत्तमम् ।
 संश्रुत्य श्रुतसागरेण मुनिना प्रोक्तं स्वजन्मान्तरम् ॥१६१॥
 सन्तुष्टो नतमस्तको गुरुजने श्रीपालनामा नृपः ।
 लात्वा तद्गतमुत्तमं परिजनैस्संप्राप्तवान् पत्तनम् ॥१६२॥

अन्वयार्थ—श्रुत सागर आचार्य श्री श्रीपाल जी के पूर्वभव धर्मान करते हुए कहते हैं कि (पुनः) आचार्य श्री ने पुनः कहना प्रारम्भ किया (श्रीजिननाथोक्त) श्री सर्वज्ञजिनदेव कथित (श्रीधकाचारपालनात्) श्रीधक धर्तों का पालन करने से (हि) निश्चय से (स्वराज्यम्) अपने राज्य को तथा (विशेषेण) विशेषरूप से (स्मरसुन्दरीम्) मैनासुन्दरी को (स्वम्) तुमने (प्राप्य) प्राप्त किया । (एवं) इस प्रकार अपनी (भवावली) भवसम्बन्ध (श्रुत्वा) सुनकर (तदा) तब (श्रीपालभूपतिः) श्रीपालराजा ने (तम्) उन (श्रुतसागरनामानम्) श्रुतसागर नामक (मुनीन्द्रम्) मुनिराज को (प्रणम्य) नमस्कार कर (च) और (महाभक्तिभरेण) अत्यन्त भक्तिभाव से (परमानन्दनिभैरः) परम आनन्द से भरे उस राजा ने (आशु) शीघ्र ही (पुनः) फिर से (श्रीसिद्धिचक्रस्यगतम्) श्रीसिद्धचक्र के धन को जो (त्रैलोक्य तारणम्) तीनों लोकों का तारने वाला है (मनोवाक्याय योगतः) मन वचन काय से (भव्यात्मासुधीः) भव्य जानी ने (जग्राह) स्वीकार किया । (दुर्गत्यादिक्षयकारि) दुर्गतियों का नाशक (स्वर्ग-

मोक्षादिसाधनम्) स्वर्ग और मोक्षादि के साधन रूप (तत्प्रभावम्) उस व्रत के प्रभाव को (समाकर्ण्य) सुनकर (ते) वे (सप्तशतसेवकाः) सातसौ सेवक (राजानः) राजा (च) और (परे) दूसरे (सर्वे) सभी ने (तथा) एवं (श्रीपालनन्दनाः) श्रीपाल जी के पुत्रों ने (तस्य) श्रीपाल की (मुख्या) प्रधान (कन्दर्पसुन्दरी) मदनसुन्दरी आदि (मनोहराः) सुन्दरी (देव्यः) देवियों ने (तथा) तथा (ते) वे (सर्वे) सभी (पौराः) पुरजनों (शूराः) शूरवीरों ने (तथा) एवं (पत्तनयोषिताः) नगर की नारियों ने (खगात्मजौ) विद्याधरपुत्र (कुमारी) दो कुमारों (यौ) जो (चित्रविचित्रनामानौ) चित्र विचित्र नाम वालों ने (श्रीपालस्य) श्रीपाल के (सुकण्ठ श्रीकण्ठसंज्ञकौ) सुकण्ठ और श्रीकण्ठ नामक (द्वौ) दो (स्यालकी) साले (अथ) इसी प्रकार (यशोधननृपनन्दनः) यशोधन राजा के सुत (सुशीलाख्यः) सुशील (गन्धर्वः) गन्धर्व (विवेकशीलः) विवेकशील, (वज्रसेन) वज्रसेन (नामानि) नाम वाले प्रसिद्ध (चतुस्सुताः) चारों पुत्रों ने (हिरण्यसंज्ञक स्नेहालुः) हिरण्यसंज्ञक और स्नेहालु (इमौ) इन दो (भूपतिदेहजौ) राजा के पुत्रों ने (सुधर्मकरणात्सुकी) उत्तम धर्म को पालन करने के लिए उत्सुक (स्थानकुं कणनाथस्य) कुंकण स्थान का अधिपति के (आत्मजौ) पुत्रों ने (राज्ञः) राजा (मकरकेतोः) मकर केतू के (जीवन्तारव्य) जीवन्तनाम से प्रसिद्ध (सुन्दरात्मजौ) सुन्दर पुत्रों ने (मदनसुन्दर्याः) मदनसुन्दरी के (पिता) जनक (प्रजापालनरेख्वरः) प्रजापाल राजा ने (अभ्येऽपि) और भी (श्रीपाल सेविनः) श्रीपाल के आश्रित (बहवः) बहुत से (देशनायकाः) देशों के राजाओं ने, (अन्ये) दूसरे (बहवः) बहुत से (सुगुणशालिनः) उत्तम गुणवान (नरनार्याः) नर-नारियों ने (समेत्य) आकर (ते सर्वे) उन सबों ने (भूभुजा) राजा के (सार्द्धम्) साथ (परमानन्दात्) अत्यन्त आनन्द से (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्र के (सद्व्रतम्) उत्तम व्रत को (स्वीचक्रुः) स्वीकार किया। नीति है (यथा राजा तथा प्रजा) जैसा राजा हो वैसी ही प्रजा होती है।

(इत्थम्) इस प्रकार (श्रीजिनसिद्धचक्र विलसत्) श्री जिन सिद्धचक्र का चमत्कार करने वाले (पूजा) पूजा के (प्रभावोत्तमम्) प्रभाव का माहात्म्य तथा (श्रुतसागरेण मुनिना) श्रुतसागर नामक मुनिराज द्वारा (प्रोक्तम्) कथित (स्वजन्मान्तरम्) अपने भवान्तर (संश्रुत्य) सुनकर (सन्तुष्टः) प्रसन्न हुआ (गुरुजनेन तमस्तकः) गुरुजनों में नतशिर हुआ (श्रीपालनामानृपः) श्रीपालनामा राजा (तद्) उस (उत्तमम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत को (लात्वा) लाकर (परिजनैः) परिवार सहित (पत्तनम्) नगर को (सम्प्राप्तवान्) वापिस आये-प्राप्त हुए।

भावार्थ—आचार्य श्री श्रुतसागर जी महाराज श्रीपाल नृपति को पूर्वभव का विवरण देते हुए उपदेश कर रहे हैं कि हे राजन् छोड़ने के बाद तुमने श्रीगुरु के निकट जाकर प्रायश्चित्त लिया और पुनः श्रावक के व्रत धारण कर यथायोग्य पालन भी किया। इसी के फलस्वरूप तुमने अपना राज्य पुनः प्राप्त किया और रतिसमान सुन्दरी मदनसुन्दरी जैसी परम पवित्रा श्रीलक्ष्मी रानी मिली है। इस प्रकार अपनी भवावली सुनकर श्रीपाल कोटीभट अत्यन्त हर्षित हुआ। उसका आनन्द से रोमाञ्च हो गया। महान भक्ति-भाव से नतशिर हो उन श्रुतसागर गुरुराज को बारम्बार नमस्कार किया। तीनलोक का तारक भव दुःख निवारक परम मङ्गलकारक श्रीसिद्धचक्रव्रत विधान पुनः त्रियोग शुद्धिपूर्वक स्वीकार किया। परमभक्ति भाव और हर्ष से व्रत धारण कर वह परमबोध को प्राप्त हुआ। वस्तुतः यह व्रत दुर्गति का नाशक



और स्वर्ग-मोक्ष का दायक है । उभय लोक सुखकारी इस व्रत की अचिन्त्य महिमा और अपार गुणगरिमा को सुनकर श्रीपाल के साथी साथ ही लेशक राजाओं ने तथा श्री श्रीपाल के सभी पुत्ररत्नों ने, मदनसुन्दरी को प्रमुखकर समस्त अनिद्यसुन्दरी नारियों ने एवं अन्य समस्त पुरुषासिनो गुणशील मण्डिता नारियों ने भी अनेकों नागरिकों, सुभटों, वीरों ने इस व्रत को धारण किया । श्रीपाल के चित्र-बिचित्र कुमारों ने-विद्याधरीकुमारों ने, उसके साले सुकण्ठ एवं श्रीकण्ठ ने, सुशील, गन्धर्व, यशोधन, विवेकशील वज्रसेन नामक राजकुमारों ने, हिरण्य स्नेहालु राजपुत्रों ने, कुंकुणनाथ के राजा, सुधर्म करने में उत्कण्ठित मकर केतू जीवन्त नामक विख्यात, सुप्रसिद्ध राजपुत्रों ने, मदनसुन्दरी के पिता राजा प्रजापाल नरेश ने और भी अनेकों राजाओं ने जो श्री कोटोभट के आधीन थे तथा अनेकों ने सिद्धचक्र व्रत को स्वीकार किया ।

इस प्रकार व्रत की गरिमा से शोभायमान, उत्तम प्रभाव से प्रभावित, सिद्धचक्र की महिमा सुनकर तथा श्रुतसागर मुनिराज द्वारा कथित अपने पूर्वभव की कथा-वृत्तान्त सुनकर, प्रमुदित महामण्डलेश्वर महाराज श्रीपाल कोटिभट, परिजन, पुरजन सहित व्रत लेकर गुरुजनों को पुनः पुनः वन्दन नमस्कार, विनय कर अपने नगर में आये ॥ १०६ से १६१ ॥

इति श्री सिद्धचक्रपूजातिथय प्राप्ते श्रीपाल महाराज चरिते भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्रीपाल महाराज मदनसुन्दरी पुनर्धर्मश्रवणपूर्वक भवाप्तरव्यावर्णननाम नवम परिच्छेदः

॥ श्रीगुरु पञ्चपरमेष्ठिनो नमः ॥

॥ दशम परिच्छेदः ॥

अर्हद्भ्योऽनन्तसिद्धेभ्यो सर्व साधुभ्य एव च ।

धर्मायात्र शरण्येभ्यो नमःशरणा सिद्धये ॥१॥

अन्वयार्थ—(शरणसिद्धये) आश्रयरूप शरण की सिद्धि के लिए (धर्माय) आत्मस्व-
भाव पाने के लिए (अर्हद्भ्यः) अरहंत परमेष्ठी के लिए (अनन्तसिद्धेभ्यः) अनन्त सिद्धों को
(च) और (शरण्येभ्यो) शरण देने योग्य (सर्वसाधुभ्यः) सम्पूर्ण साधु-आचार्यः उपाध्याय
और साधु (एव) ही हैं उन्हें (अत्र) यहाँ (नमः) नमस्कार है ।

भावार्थ—इस संसार में भव्यात्माओं को पञ्चपरमेष्ठी ही शरण भूत हैं । क्योंकि
जो स्वयं पूर्ण स्वाधीन हो गये वे ही अन्य को अपने आश्रित रखने में समर्थ होते हैं । अतएव
इस श्लोक में मङ्गलाचरण करते हुए आचार्य श्री पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार करते हैं ।
अरहंत, सिद्ध और सर्वसाधु से यहाँ आचार्य, उपाध्याय को भी गर्भित समझना चाहिए । क्योंकि
मूल में सब बीतराग दिगम्बर यति ही हैं कार्य विशेष या कर्त्तव्य विशेषापेक्षा-आचार्य और
उपाध्याय पदों का आरोप किया जाता है । अस्तु साधु शब्द तीनों परमेष्ठियों का द्योतक है ।
अतएव कविराज ने अरहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इन पञ्चपरमेष्ठियों को
शरण प्राप्त करने के लिए नमस्कार किया है । संसार सागर में पञ्चपरमेष्ठी ही मुद्द नौका
समान सहारे हैं । इनका आश्रय लेने वाला स्वयं स्वाश्रयी हो शरण्यभूत हो जाता है ॥१॥

अथ श्रीपाल राजेन्द्रो गृहमागत्य पुण्यधीः ।

महापरिच्छदस्सार्थ सान्तः पुरस्समन्वितः ॥२॥

आष्टाह्निक महापर्वे महोत्सवमकारयत् ।

तदा चम्पापुरी मध्ये महासोभा ध्वजादिभिः ॥३॥

कारयित्वा सुधीश्चाष्टौ दिनानि विधिपूर्णकम् ।

जितेन्द्र प्रतिमानाञ्च सिद्धचक्रस्य भक्तितः ॥४॥

पञ्चामृतप्रवाहैश्च विधाय स्नपनं महत् ।

पूजामष्टौ दिनान्युच्चैस्सञ्चकार महोत्सवैः ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (पुण्यधीः) पुण्यात्मा (राजेन्द्रः) महामण्डलेश्वर

(श्रीपालः) श्रीपाल (गृहम्) घर (आगत्य) आकर (अष्टाह्निकमहापर्वे) अष्टाह्निका महापर्व में (अन्तःपुरस्समन्वितः) अपनी सब अन्तःपुर की रानियों सहित (महापरिच्छेदः) महान वैभव के (सार्थम्) साथ (सः) उस राजा ने (महोत्सवम्) महाउत्सव (अकारयत्) करवाया (तदा उस समय (चम्पापुरीमध्ये) चम्पापुरी में (ध्वजादिभिः) पताका तोरणद्वार, गृह बाजार की (महाशोभाम्) अत्यन्त साज सज्जा (कारयित्वा) करवाकर (सुधीः) विजानी श्रीपाल ने (अष्टौदिनानि) आठों दिन (विधिपूर्वकम्) विधि अनुसार (सिद्धचक्रस्य) सिद्धचक्रयन्त्र की (च) और (जिनेन्द्र प्रतिमानाम्) श्री जिनेन्द्र विम्बों का (भक्तितः) भक्तिभाव से (महत्) महान (पञ्चामृतप्रवाहैः) पञ्चामृतों के द्वारा (स्नपनम्) महामस्तकाभिषेक (विधाय) करके (अष्टौदिनानि) आठ दिन पर्यन्त (उच्चैः) (महान (महोत्सवैः) उत्सवों के साथ (पूजाम्) पूजा (सञ्चकारः) की ।

भावार्थ—श्री गुरुदेव से अपने पिछले भव श्रवण कर और पुनः श्री गुरुमुखारविन्द से धर्म श्रवण कर, महा परमपावन, त्रिलोक चूडामणि सारभूत सिद्धचक्रव्रत लेकर श्रीपाल-महामण्डलेश्वर अपनी चम्पापुरी राजधानी में प्राचा, सम्पूर्ण अन्तःपुर और परिजन-पुरजनों के साथ उसने अष्टाह्निका महापर्व में पुनः महामहोत्सव करने की घोषणा की । सम्पूर्ण नगरी नवोद्भासी सजायी गई । घर-घर द्वारे द्वारे ध्वजा तोरण लगाये गये । मङ्गल कलश स्थापित कराये । घर, गली, बाजार सर्वत्र अनुपम शोभा करायी । जिनालयों की शोभा तो अवर्णनीय थी । कलश, ध्वजा, तोरण, माला घण्टा, झालर आदि नाना प्रकार के उपकरणों से अलंकृत किये गये । अपूर्व छवि थी जिनमन्दिरों की । आठों दिन अनेक उत्सवों सहित सिद्धचक्र और जिनविम्बों का पञ्चामृतों के प्रवाह से—विशाल कलशों से महाभिषेक किया गया । विधिपूर्वक आगमानुसार पञ्चामृताभिषेक कर ही नर-नारियाँ पूजा करती थीं । इस प्रकार आठों दिन अद्भुत वैभव से यह पर्वोत्सव मनाया ॥१-३-४-५॥

सोपवासादिकं सर्वं पुनस्तद्व्रतमुत्तमम् ।

कृत्वाचोद्यापनं चक्रे महाविभवशक्तितः ॥६॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह (उत्तमम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत (सोपवासादिकम्) उपवासादि सहित (सर्वम्) पूर्णतः (कृत्वा) करके (पुनः) फिर (महाविभवशक्तितः) महान वैभव-रूप शक्ति से (च) और (उद्यापनम्) उद्यापन (चक्रे) किया ।

भावार्थ—श्रीपाल सम्राट् ने इस सिद्धचक्रव्रत को पूर्णतः उपवास के साथ किया । अर्थात् उत्तम रीति से आठ उपवास कर पूर्ण किया । भक्ति और शक्ति से पुनः उद्यापन भी क्यों न होता ? अर्थात् पूर्ववत् पूर्ण वैभव और शक्ति से आनन्द से उद्यापन किया । उद्यापन का वर्णन आचार्य करते हैं । अगले प्रकरण में निम्न प्रकार देखें ॥६॥

तत्र श्रीमज्जिनेद्राणां प्रासादानुन्मत्तान् शुभान् ।

रत्न तोरण संयुक्तान् ध्वजाद्यैः परिशोभितान् ॥७॥

कारयित्वा जिनेन्द्राणां प्रतिमास्सुमनोहराः ।
 स्वर्णरत्नमयीर्दिव्याः परमानन्ददायकाः ॥८॥
 तत्प्रतिष्ठां गरिष्ठां च महासङ्घेन संयुताः ।
 कारयामास सद्भवत्या दान मानशतैः प्रभुः ॥९॥
 पूर्वोक्त कलाशादींश्च रत्नस्वर्णादि निर्मितान् ।
 ढौकयामास भूपालो भक्तितो जिनमन्दिरे ॥१०॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उपवास हो जाने पर उद्यापन में वहाँ (रत्नतोरणसंयुक्तान्) नवरत्नों के तोरणों से युक्त (ध्वजाद्यैः) ध्वजा, कलश, मालादि से (परिशोभितान्) चारों ओर से शोभायमान (उद्यतान्) ऊँचे-विशाल (शुभान्) शुभ-भव्य रूप (श्री मज्जिनेन्द्राणाम्) श्री मज्जिनेन्द्रों के (प्रासादान्) मन्दिरों को (कारयित्वा) बनवाकर (सुमनोहराः) अत्यन्तमनोह्र (स्वर्णरत्नमयी) सुवर्ण व रत्नों से निर्मित (दिव्या) सौम्य (परमानन्ददायकाः) परम आह्लाद उत्पन्न करने वाली (जिनेन्द्राणाम्) जिनभगवान् की (प्रतिमा) विम्ब (कारयित्वा) बनवाकर (गरिष्ठाम्) बृहद् (महासङ्घेन संयुताः) महा चतुर्विध संघ सहित (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा (कारयामास) करवायी (सद्भवत्या) निर्मल भक्ति से (प्रभुः) राजा श्रीपाल ने (दानमानशतैः) सैकड़ों दान सम्मान द्वारा (पूर्वोक्त) ऊपर कथित (रत्नस्वर्णादि-निर्मितान्) रत्न और सुवर्णादि से बने (कलाशादीन्) कलाशादि को ले (भूपालः) वह धर्म-परायण (भूपालः) राजा (भक्तितः) भक्ति से भरा (जिनमन्दिरे) श्री मज्जिनमन्दिर में (भक्तितः) भक्तिभाव से भरा (ढौकयामास) आया :

चतुर्विध महासङ्घ वात्सल्यं सुमनोहरम् ।
 चकार परमानन्दात् स्वयं चापि महीपतिः ॥११॥
 दारिद्र्यं यात्रकादीनांभूरि स्वर्णादि दानतः ।
 चोदयामास भव्यात्मा जिनपूजा महोत्सवैः ॥१२॥
 सत्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां प्रतिष्ठादिषु कर्मसु ।
 सम्भवेत्पूजनं नित्यं जगज्जीवनमुत्तमम् ॥१३॥
 इत्यादिके जिनैः प्रोक्तं दानपूजादि लक्षणम् ।
 स श्रीपाल महाराजास्सदा कुर्वन् सुखं स्थितः ॥१४॥
 तथा तस्य नरेन्द्रस्य संक्षेपेण निगद्यते ।
 सम्पदः शर्मदास्सर्व सज्जनानां मनः प्रियाः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(च) और (स्वयम्) स्वतः (महीपतिः) राजा ने (अपि) भी (सुमनी-

हरम्) सुन्दर (चतुर्विधमहासङ्घवात्सल्यम्) चतुर्विधमहासङ्घवात्सल्य (चकार) किया (भूरिः) बहुत सा (स्वर्णादि दानतः) स्वर्ण आदि दान से (याचकादीनाम्) याचकों का (दारिद्र्यम्) दारिद्र्य (चोश्यामास) दूरकर दिया (सत्यम्) निश्चय ही (भवात्मा) भव्यजन (जिन पूजा महोत्सवैः) जिनदेवपूजनादि महोत्सवों द्वारा (नित्यम्) प्रतिदिन (जगज्जीवनमुत्तमम्) संसारी जोशों को उत्तम (श्री मज्जिनेन्द्राणाम्) श्री मज्जिनेन्द्र विम्बों की (प्रतिष्ठादिषु) प्रतिष्ठा आदि (कर्मसु) कार्यों में (पूजनम्) पूजा (संभवेत्) सम्भव होवे वो करें (इत्यादिकम्) उपर्युक्त धर्मकार्यों (जिनैः) जिनप्रभु से (प्रोक्तम्) उपदिष्ट (दानपूजादि लक्षणम्) दान पूजादि लक्षण भूत कार्यों को (सदा) सनत् (कृर्वन्) करता हुआ (सः) वह (श्रीपालः) श्रीपाल (महाराजः) महाप्रभु (सुखम्) सुखपूर्वक (स्थितः) रहने लगा । (तथा) इस प्रकार (तस्य) उस (नरेन्द्रस्य) नरनाथ का (गर्भमेदाः) शान्तिदेने वाला (सर्वसज्जनानाम्) सभी सत्पुरुषों को (मनः प्रिया) चित्तहारी (सम्पदः) वैभव (संक्षेपेण) संक्षेप से (निगद्यते) वर्णन करा जाता है ।

मातृवार्थ—श्रीमद् कोटिभट्ट महामण्डलेश्वर सपरिवार समस्त अन्तः पुर सहित तथा परिजन—पुरजन सहित पुनः महा परम पावन श्री सिद्धचक्रवर्त आरण्य कर आया । समयानुसार आष्टाहिक पर्व आने पर पुनः उसने आठ दिन उपवास कर उत्तम विधि से अनेकों महोत्सवों सहित सकल नर—नारियों से मण्डित हो यह अपूर्व व्रत सम्पन्न किया । पूर्ववत् उससे भी अधिक भक्ति, श्रद्धा वात्सल्य, प्रभावना युत उद्यापन किया । गगनचुम्बी श्रत्यन्त उन्नत सुमनोज, आकर्षक अनेकों जिनालयों का निर्माण कराया । उन्हें सुन्दर नानारंगों वाली अनेकों स्वर्ण रत्नमयी ध्वजाओं से, तारणों, मालाओं, कलशों आदि से सज्जित कराया । अकृत्रिम चैत्यालयों से भी प्रतिस्पर्धा करते हुए दृष्टिगत होते थे । परमानन्द विधायिनी स्वर्ण और रत्नों की अमूल्य, मन—मोहक जिन प्रतिमाएँ पञ्चकल्याण विधि से प्रतिष्ठा करवाकर विराजमान करवायी । चतुर्विध संघ की साक्षी में आपोक्त विधि से विधि-विधान कराये । स्वर्गरत्नादि निर्मित कलशारोहण व ध्वजाराहण कराया । धर्मतिमा जनों का यथा योग्य आदर-सत्कार किया । स्वयं सविभूति श्री जिनालय में आया । चतुर्विध संघ से परम वात्सल्य प्रदर्शित किया । संघ की पूजा-भक्ति, धर्मश्रवण, तत्त्व चर्चा, सेवासुश्रूषा, वैयावृत्ति आदि कर परमानन्द लाभ लिया । स्वयम् भूपेन्द्र ने याचक जनों को इतना दान दिया कि राज्य में दारिद्र्य संज्ञा भी खोजने पर न मिले अर्थात् सबको धनाढ्य बना दिया । सबके दुःख, दैन्य, ताप दूर कर दिये । जिनपूजा, प्रतिष्ठा विधि-विधानों में जितना जो-जो संभव हो सकता है वह सब कुछ उस राजा ने किया । इस प्रकार महा महोत्सवों सहित अत्यन्त सुख से वह महीधर श्रीपाल राजेन्द्र कालयापन करने लगा । प्रतिदिन, दानपूजादि षट्कर्मों का पालन करने लगा । अपार वैभव के साथ उसकी जिन भक्ति और जिनागमनरुचि तथा गुरुभक्ति भी उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती गई । इस प्रकार उसका आनन्द से लौकिक जीवन व्यय होने लगा और पारलौकिक जीवन का पूर्ण विकास की आधार शिला सुदृढ़ होने लगी । आचार्य श्री १०८ सकलकीर्ति जी पाठकों को पुण्यकार्यों में उत्साहित करने के लिए अब उस महानुभाव श्रीपाल के वैभव का संक्षिप्त वर्णन करते हैं ॥६ से १५॥

साद्धं मदनसुन्दर्या मुख्यया तस्य सम्मदा ।

साधिकाष्ट सहस्राणि, देव्यो भुवि गुणोज्ज्वलाः ॥१६॥

अबन्ध्याश्शुभगास्सर्वा वस्त्राभरण मण्डिताः ।

स्वपदे शर्मदा नित्यं सत्या कल्पलतोपमाः ॥१७॥

दान पूजाव्रतोपेताः किं वर्ण्यन्ते हि तद्गुणाः ।

यास्सत्यो निजपुण्येन जाता वा धर्ममूर्तयः ॥१८॥

पुत्रा मदनसुन्दर्याश्चत्वारो गुणभूषिताः ।

पृथ्वीपालोऽथ भूपालास सारधिक्षित्रको भवत् ॥१९॥

तथा मदनमञ्जूषा सासूत सुत सप्तकम् ।

बभूवुर्गुणमालायां पञ्चपुत्रास्सुविक्रमाः ॥२०॥

द्वादशैव सहस्राणि शतान्यष्टौ च शर्मदाः ।

पुत्रास्तस्य कुलोद्योतकारिणः प्रविरेजिरे ॥२१॥

अन्वयार्थ—(मुख्यया) प्रधान (मदनसुन्दर्या) मदनसुन्दरी सहित (तस्य) उसके (सम्मदाः) यौवन के मद से युक्त (भुवि) संसार में (गुणोज्ज्वलाः) गुणों से उज्ज्वल (अष्ट-सहस्राणि) आठ हजार (देव्यः) देवियाँ (साधिका) उस मदनसुन्दरी से अतिरिक्त थीं (सर्वाः) वे सभी (शुभगाः) सुन्दरी (वस्त्राभरणमण्डिताः) अद्भुतवस्त्राभरणों से अलंकृत (अबन्ध्या) पुत्रवन्ती (नित्यम्) नित्य ही (स्व पदे) अपने पद में (शर्मदा) शान्ति दायक (सत्याः) निश्चय ही (कल्पलतोपमाः) कल्पलता स्वरूप (दानपूजा व्रतोपेताः) दान, पूजा, व्रतों से सहित (हि) निश्चय ही (तद्गुणाः) उनके गुणों का (किं) क्या (वर्ण्यन्ते) वर्णन करें ? (या) जो (सत्याः) सतियाँ (निजपुण्येन) अपने-अपने पुण्य से (वा) मानों (धर्ममूर्तयः) धर्म की साकार प्रतिमा (जाता) अवतरित हुयी । (मदनसुन्दर्याः) मदनसुन्दरी के (गुणभूषिताः) गुणों से विभूषित (चत्वारः) चार (पुत्राः) पुत्र थे (पृथ्वीपालः) प्रथम पृथ्वीपाल (भूपालः) भूपाल, (सारधिः) सारधी (अथ) एवं (क्षित्रकः) क्षित्रक (अभवन्) हुए (तथा) उसी प्रकार (सा) उस (मदनमञ्जूषा) मदनमञ्जूषा ने (सप्तकम्) सात (सुत) पुत्र (असूत) स्वपन्न किये (गुणमालायाम्) गुणमाला से (सुविक्रमाः) पराक्रमी (पञ्चपुत्राः) पाँचपुत्र (बभूवुः) हुए (च) और अन्य (द्वादशैव) बारह ही (सहस्राणि) हजार (अष्टौ) आठ (शतानि) सौ (तस्य) उसके (कुलोद्योतकारिणः) कुल को प्रकाशित करने वाले (शर्मदाः) सुखदायी (पुत्राः) पुत्र (प्रविरेजिरे) विशेषरूप से शोभित हुए ।

भावार्थ—श्रीपाल कोटीभट्ट महाराज के यौवनरूपी लावण्य से भरी सुख-शान्ति देने वाली, संसार में अपने गुणों से समुज्ज्वल, मदमाती अनिष्ट सुन्दरी, रूपराशि आठ हजार आजाकारिणी रानियाँ थीं । इनमें प्रमुख पट्टमहिषी-पटरानी मदनसुन्दरी थी । यह गुण, रूप

और चातुर्य में अद्वितीय थी । साक्षात् धर्म की प्रतिमा ही थी । सभी पुत्रवन्ती थीं । कोई भी बन्ध्या नहीं थी । सभी सुन्दर, मनोहर वस्त्र और अलंकारों से शोभायमान थीं, सभी अपने-अपने पदानुसार कर्तव्यनिष्ठ और विनयशीला थीं । अन्योन्य के साथ प्रीति और वात्सल्य भाव संयुक्त थीं । सजो धजी वे प्रत्यक्ष कल्पलता सी प्रतीत होती थीं । दान, पूजा, व्रत, उपवास, त्याग आदि गुणों से तो वे ऐसी मालूम होती थीं मानों धर्म ही साकार रूप धारण कर आ गया है । वस्तुतः यह पुण्य का ही प्रभाव है । अपने-अपने पुण्य से वे साकार धर्म की पुतलियाँ थीं । मदनमुन्दरी के चार पुत्र अपूर्व सुन्दर और गुणज्ञ थे । वे क्रमशः १. पृथ्वीपाल, २. भूपाल ३. सारधि और ४. चित्रक नाम वाले विख्यात हुए । इसी प्रकार मदनमञ्जूषा ने सात पुत्रों को जन्म दिया, गुणमाला ने बीरों में बीर महासुभट पाँच पुत्र उत्पन्न किये । अन्य रानियाँ से भी अनेक गुणमण्डित बारह हजार आठ सौ (१२८००) पुत्र हुए । ये सभी कुल के प्रकाशक सुन्दर प्रदीप थे । सभी गुण, कला, विजानी और शक्तिशाली थे । प्रेम, वात्सल्य और स्नेह के आगार थे । पारस्परिक स्नेह से एक सूत्र में गुम्फित रत्नमाला समान शोभायमान होते थे । महाराजा श्रीपाल को अपूर्व गौरव और अपार आनन्द था ॥१६ से २१॥

भूपती नां सहस्राणि सेवन्ते स्म सुभक्तितः ।

श्रीपालं तु महाराजं किरीटादियुतानि च ॥२२॥

द्वादशोरु सहस्राणि गजाः प्रोत्तुङ्ग विग्रहाः ।

सर्वं वस्तुशतैः पूर्णं रथाः पूर्णं मनोरथाः ॥२३॥

नानादेश समुत्पन्ताः पञ्चवर्णे विराजिताः ।

आश्वा द्वादश लक्षाणि तस्याभवन् महीपतेः ॥२४॥

कोटयो द्वादश प्रोक्तास्तस्योच्चैस्सुभटोत्तमाः ।

शत्रूणां प्राशने तूराः क्रूराः वा यम दूतकाः ॥२५॥

तथा देश सहस्राणि ग्रामकोटि युतानि च ।

सर्वं वस्तु भूतान्युच्चैर्निधाना नीवरेजिरे ॥२६॥

सारसद् रत्न माणिक्य स्वर्णमुक्ता फलानि च ।

वर्ण्य ते केन तस्याऽत्र सागरस्येव पुण्यतः ॥२७॥

इत्यादि सम्पदां सारं स्सश्रीपालो महाप्रभुः ।

निष्कण्टकं महाराज्यं प्रकुर्वन् पालयन् प्रजाः ॥२८॥

सार भोग समान्युच्चैः प्रमदावृन्द सेवितः ।

भुञ्जानः पुण्यपाकेन चक्रवर्तीव निश्चलः ॥२९॥

श्रीमज्जिनेन्द्र चन्द्रोक्तं पवित्रं क्षेत्र सप्तकम् ।

सिञ्चयामास पूतात्मा सद् दानामृत वर्षणैः ॥३०॥

इत्यादिकं जिनैर्प्रोक्तं धर्मं कुर्वन्तमुत्तमम् ।

तं भूपतिं समालोक्य तत्प्रजा च तथा करोत् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(किरीटादियुतानि) मुकुटवद्ध (भूपतीनां सहस्राणि) हजारों राजा (सुभक्तितः) उत्तमभक्ति से (श्रीपालं महाराजम्) श्रीपालमहाराज को (सेवन्ते स्म) सेवा करते थे च) और (प्रोत्तुङ्गविग्रहाः) उन्नत विशालकाय (द्वादशोरुसहस्राणि) बारह हजार विशाल (गजाः) हाथी, (सर्ववस्तुशतैः) सैकड़ों प्रकार की अनेक वस्तुओं से (पूर्णाः) भरे हुए (पूर्णमनोरथाः) मनोरथ को पूर्ण करने वाले (रथाः) रथ, (पञ्चवर्णविराजिताः) पञ्चवर्णों वाल शोभायमान (नानादेश समुत्पन्नाः) भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न (द्वादशलक्षारिण) बारह लाख (अश्ववाः) घोड़े (तस्य) उस (महोपतेः) श्रीपालराजा के (अभवन्) हुए । (शत्रुगाम्) शत्रुओं के (प्राशने) नाश करने में (तूराः) उत्साही (वा) मानों (यमदूतकाः) यम के दूत (क्रूराः) कौर्यशाली (उच्चैः) महाशक्ति से (सुभटोत्तमाः) वीरों में श्रेष्ठतम सुभट (तस्य) उसके योद्धा (द्वादशकोटयोः) बारह करोड़ (प्रोक्ताः) कहे गये हैं (तथा) उसी प्रकार (सर्ववस्तुभूतानि) नाना वस्तुओं से भरे हुए (कोटिश्राम युतानि) करोड़ों ग्रामों से सहित (देशसहस्राणि) हजारों देश थे वे (उच्चैः) महान (निधानानि) खजानों के (इव) समान (रेजिरे) शोभायमान थे । (सारसद्रत्न) उत्तम रत्न (माणिक्य) माणिक (स्वर्ण) सुवर्ण 'मुक्ता-फलानि) मोतियाँ (च) और भी अनेकों रत्न (तस्य) राजा के (पुण्यतः) पुण्य से (अत्र) यहाँ इसके राज्य में (सागरम्) समुद्र (एव) ही हो इसको (केन) किसके द्वारा (वर्ण्यते) वर्णित किया जाय ? (इत्यादि) और भी (सम्पदाम्) सम्पत्ति (सारैः) सारभूत वैभव द्वारा (श्रीपालः) श्रीपाल (महाप्रभुः) महोपति (निष्कण्टकं) शत्रुविहीन (महाराज्यम्) विशाल राज्य को (प्रकुर्वन्) करता हुआ (प्रजाः) प्रजा को (पालयन्) पालन करता हुआ (प्रमदा-वृन्दसवितः) महादेवियों से सेवित (उच्चैः) महान (सारभोगसमानि) उत्तम भोगों को (पुण्यपाकेन) स्व पुण्योदय से (चक्रवर्ती) चक्री (इव) समान (निश्चलः) अखण्ड रूप से (भुञ्जानः) भोगता था ।

(श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तम्) श्रीमज्जिन भगवान् द्वारः कथित (पवित्र) पावन (क्षेत्र-सप्तकम्) सात क्षेत्रों में (पूतात्मा) पवित्रात्मा राजा (सद्दानामृतवर्षणैः) उत्तमसत्पात्र दान रूपी अमृत की वर्षा द्वारा (सिञ्चयामास) सिंचित करता था (च) और (इत्यादिकम्) दान, पूजादि कार्यों को (जिनैर्प्रोक्तं) जिनभाषित (उत्तमम्) उत्तम (धर्मम्) धर्म को (कुर्वन्तम्) करते हुए (तम्) उस (भूपतिम्) राजा को (समालोक्य) देखकर (तत्प्रजा) उसकी प्रजा भी (तथा) उसी प्रकार (अकरोत्) करती थी ।

भावार्थ—यहाँ श्रीपालमहामण्डलेश्वर के वैभव का वर्णन किया है । हजार मुकुट-वद्ध राजा उसकी सेवा करते थे । अन्य राजाओं की गिनती क्या ? सभी राजा महाराजा परम

भक्ति और प्रीति से उसकी आज्ञा को शेषावत् मस्तक पर धारण करते हैं । कारण कि वे धर्म प्रेम की डोर से बंधे थे । श्रीपाल का शासन आतङ्क रहित था । किसी को भी आधि-व्याधि, दैहिक तप-सन्ताप नहीं था । वह स्वयं धर्मानुरागी था इसलिए प्रजा भी धर्मानुगामिनी थी । उसकी सेना में विशाल उन्नतकाय मदीन्मत्त बारह हजार गज (हाथी) थे । नाना प्रकार की उत्तमोत्तम वस्तुओं से भरपूर मनोरथपूर्ण करने वाले बड़े-बड़े उत्तरे ही रथ थे । उनकी शोभा देखते ही बनती थी । क्षुद्र घण्टियों का रव मन को मुग्ध कर लेता था । अनेकों विभिन्न देशों में उत्पन्न पञ्चवर्णीय सुन्दर तीव्रगतिवाले, चञ्चल, हींसते हुए बारह लक्ष उम महीपति के घोड़े थे । सुन्दर, सुडौल, युद्धकला में प्रवीण नाना क्रीडाओं में निपुण ये अश्व अति मनोहर और आकर्षक थे । जिनके नाम श्रवण मात्र से शत्रु दल कांप उठे, ऐसे यमराज के समान पराक्रमी थे । विजयपताका फहराने वाले महापराक्रमी, शत्रुओं के लिए महा क्रूर और भयङ्कर संहारक बारह करोड़ उत्तमोत्तम सुभट थे । हजारों देश इसके आधीन थे । एक-एक देश के करोड़ों-करोड़ों ग्राम थे । ये सभी गारभूत जन अन्धश्रुति पशुओं में भरपूर थे । कुबेर का खजाना ही मानों भूतल पर आ गया है । बाजारों, सड़कों दूकानों में हीरा, माणिक, पन्ना, मोती, सुवर्ण, लाल, मणियों के ढेर के ढेर लगे रहते मानों सागर ने ही उसके पुण्य से अपना सारा वैभव उसके चरणों में अर्पण कर दिया है । सर्वत्र सुख-शान्ति और निर्भयता की त्रिवेणी बहती थी । किसी को भी किसी प्रकार का अभाव नहीं था । याचक संज्ञा ही मानों वहाँ नहीं थी । दाताओं का ही तांता था । ददा ही सुनाई पड़ता लाला का कोई नाम लेने वाला नहीं था । इस प्रकार अपूर्व वैभव, अपार जन समूह पाकर वह श्रीपाल कोटिभट पूर्ण निष्कण्टक राजशासन करता अमनचैन से प्रजा का पालन करता था । प्रजा के लिए वह राजा ही नहीं था, अपितु पिता, बन्धु, स्वामी, ईश्वर और गुरु भी था । वह सबका श्रद्धा और प्रेम का पात्र था । उसका अन्तःपुर अलकापुरी को मात करता था । रानियाँ एक-से-एक सुन्दर, गुणवती, पतिभक्ता, स्नेहालु और धर्मज्ञा थीं । उनके साथ नाना प्रकार के मनोवाञ्छित भोगों को चक्रवर्ती समान भोगता था । परन्तु काम पुरुषार्थ की सिद्धि धर्मपुरुषार्थ की सिद्धिपूर्वक ही करता था । श्रीमज्जिमेन्द्र-चन्द्र भगवान ने दान देने के लिए सप्तक्षेत्रों का उल्लेख किया है (इनका विवरण पहले आ चुका है) वह धर्मनीतिज्ञ अपने सम्यक् दानरूप मेघामृत से इनका निरन्तर सिञ्चन करता रहता था । आर्य परम्परानुसार समस्त लौकिक क्रियाओं का सम्पादन करता था । फलतः उसकी प्रजा के लोक-आवाल वृद्ध सभी नर-नारी तदनुसार उसका अनुकरण करते थे । क्योंकि नीति है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।

लोकारस्तनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ।।

अर्थात् राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजा भी धर्मपरायण होती है, पापी राजा की प्रजा भी अन्यायी पापात्मा हो जाती है । समानरूप-पाप पुण्य दोनों रूप प्रवर्तन करने वाले राजा की प्रजा भी उसी समान होती है क्योंकि लोक अनुकरणशील होते हैं । जैसा राजा वैसी प्रजा यह सर्व साधारण नियम है । तदनुसार श्रीपाल का राज्य था ॥२२ से ३१॥

ब्राह्मणा क्षत्रियाः वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
 तस्य राज्ये तदा सर्वे चक्रुः धर्मं दयायुतम् ॥३२॥
 सद्धर्मं विजयी राजा श्रीपालो जितधर्मभूत् ।
 दान पूजादिकं कुर्वन् परोपकृतिं तत्परः ॥३३॥
 विधाय सुचिरं राज्यं प्राज्यं गम्भीरमानसः ।
 प्रतापनिजितारातिस्सज्जनानां सुवत्सलः ॥३४॥
 इत्याद्याप्त सुसामग्र्या भुञ्जानः परमं सुखम् ।
 कालं बहुतरं पुण्यात् सोऽनयत् सुखलीलया ॥३५॥
 एकदा च बने वीक्ष्य स, दयालुः प्रभावतः ।
 तटाके कर्दमे मूढं मृत्तं मातङ्गमुन्नतम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस श्रीपाल के (राज्ये) राज्य में (तदा) उस समय (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण, (क्षत्रियाः) क्षत्रिय (वैश्याः) वैश्य ये (त्रयो) तीनों (वर्णा) वर्णोंवाले (द्विजातयः) द्विजाति (सर्वे) सर्वजन (दयायुतम्) दयापूर्ण (धर्मम्) धर्म को (चक्रुः) पालन करते थे (जितधर्मभूत्) जित धर्म को धारण करने वाला (सद्धर्मविजयी) सम्यक् धर्म पर विजय पाने वाला (श्रीपालः) श्रीपाल (राजा) भूप (परोपकृतितत्परः) परोपकार में तत्पर (दानपूजादिकम्) दान, पूजादि (कुर्वन्) करता हुआ (गम्भीरमानसः) गम्भीर आशयी (प्रतापनिजिताराति) प्रभुत्व से शत्रु समूह को जीतने वाला, (सज्जनानाम् सुवत्सलः) सज्जनों का प्रीतिपात्र (सुचिरम्) बहुतकाल (प्राज्यम्) विशाल (राज्यम्) राज्य को (विधाय) पालन करते हुए (इत्यादि) उपर्युक्त (सामग्र्या) उत्तम सामग्री (आप्तः) पाने वाला (परमम्) उत्तम (सुखम्) सुख (भुञ्जानः) भोगता हुआ (स) उसने (पुण्यात्) पुण्य से (बहुतरम्) बहुत सा (कालम्) समय (सुखलीलया) सुख से लीला करते हुए (अनयत्) व्यतीत किया (च) श्री- फिर (एकदा) एक समय (बने) वन में (प्रभावतः) स्वभाव से (दयालुः) कृपालु (सः) वह (तटाके) सरोवर तट पर (कर्दमे) कीचड़ में (मृत्तम्) फंसकर (मृत्तम्) मरे (उन्नतम्) विशाल (मातङ्गम्) हाथी को (वीक्ष्य) देखकर ॥३२ से ३६॥

सुधो सं-चिन्तयामास स्वचित्ते भव्यसत्तमः ।
 अहो महागजेन्द्रोऽयं यथा मग्गोऽत्र कर्दमे ॥३७॥
 तथा सर्वो जनो मूढो निर्मग्नो मोहकर्दमे ।
 मे मे कुर्वन् तथा मूढो मग्नः स्त्रीकायकर्दमे ॥३८॥
 कामज्वराति संतप्ता यास्यन्ति यमभन्दिरम् ।
 यमः स एव हन्तव्यो यो नयत्यङ्गिनो बलात् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(सुधीः) बुद्धिमान भूपति (भव्यसत्तमः) भव्यात्मा (स्वचित्ते) अपने मन में (सं-चिन्तयामास) बार-बार विचारने लगा (अहो) आश्चर्य है (यथा) जिस प्रकार (अथ) यहाँ (कदमे) कीचड़ में (अयम्) यह (महागजेन्द्रः) विशालकाय हाथी (भग्नः) डूब गया (तथा) उसी प्रकार (मोहकदमे) मोहरूपी कीचड़ में (सर्वः) सर्व (मूढः) मूर्ख (जनः) लोग (निर्मग्नः) डूब गये, (तथा) उसी प्रकार (कामज्वरातिसन्तप्ता) कामज्वर की दाह से सन्तप्त (मूढः) अज्ञानी (मे मे कुर्वन्) मेरा-मेरा करते हुए (स्त्रीकायकदमे) स्त्रीके शरीर-रूपी कीचड़ में (भग्नः) फंस (यममन्दिरम्) मृत्युमहल को (यास्यन्ति) चले जायेंगे अतः (यः) जो (अङ्गिनः) प्राणियों को (बलात्) बलपूर्वक (नयति) ले जाता है (सः एव) वही (यमः) यमराज-मृत्यु (हन्तव्यः) नष्ट करनी चाहिए ।

भावार्थ—उस श्रीपाल महास्वामी के राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये द्विजातीय उसी के समान दयाधर्म का पूर्णतः सावधानी से पालन करते थे । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का दो बार संस्कार होता है इसलिए ये द्विजातीय कहलाते हैं । प्रथम इनका जन्म संस्कार होता है तथा पुनः आठ वर्ष, ११ वर्ष में पुनः यज्ञोपवीत संस्कार होता है । अतः ये तीनों वर्ण द्विज् कहे जाते हैं । द्विज् ये द्विजातीय सम्यक् दत्ता है । वे सभी अहिंसाधर्म का यत्नतः पालन करते थे । जिनधर्म धारी राजा स्वयं जिनधर्म की ध्वजा धारण कर दयाधर्म विजयी हो दान, दया, पूजा करता हुआ परोपकार में संलग्न रहता था । उसने अपने तेज और प्रताप से समस्त शत्रुओं को मित्र बना लिया था । सर्वत्र विजय पताका फहरा विशाल साम्राज्य का अधिकारी हुआ सज्जनजनचित्तवल्लभ वह नाना सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त कर बहुत काल तक सुख-



पूर्वक राज्य करता रहा । तीव्र पुण्योदय से सुखमग्न उसका समय नीलामात्र में गुजर गया । कितना समय व्यतीत हो गया यह विचार ही नहीं आया । एक दिन वह वन विहार को गये । वहाँ क्या देखा ? एक सुन्दर विशाल सरोवर के किनारे एक महा विशालकाय हाथी पङ्क में फंसा और मर गया । अचानक इस घटना को देखकर महाराज श्रीपाल का हृदय भयभीत हो गया । संसार की क्षणभंगुरता उनके समक्ष साकार हो उठी । वह अपने मन में चिन्तन करने लगे, "अहो यह महाशक्तिशाली गजराज जिस प्रकार भीषण पङ्क में फंसा कर यमराज का आस बन गया, उसी प्रकार संसारों मूढ़ प्राणी कामज्वर की दाह से सन्तप्त हो स्त्रियों के अशुभ रूप शरीर रूपी कीचड़ में फंसेकर जीवन को खो देते हैं । मोहरूपी कर्दम में निमग्न अज्ञानी जन 'मेरा मेरा' का राग अलापते हुए यमराज के शिकार हो जाते हैं । यह यम महा निर्दय है । कामज्वर सन्तप्त जन उस ज्वाला की शान्ति के लिए नारेशरीर कर्दम में प्रविष्ट होते हैं और यह घातक यम अपना दाव पूरा कर लेता है अर्थात् ये सब उसके यहाँ जायेंगे मैं अब ऐसा उपाय करूँ कि इस सर्वभक्षी यम को ही समाप्त कर दूँ । "अभिप्राय यह है कि श्रीपाल को वैराग्य जाग्रत हुआ और उसने यह मृत्यु ही मारने योग्य इसे ही मारना चाहिए ऐसा निर्णय किया । मरण ही जीवग का और जीवन-जन्म ही मृत्यु का कारण है । मृत्यु की मृत्यु करने से जन्म का नाश स्वाभाविक है । इसलिए धर्मात्मा सत्पुरुषों को मृत्यु पर विजय करना चाहिए ॥३२ से ३६॥ यह मृत्यु-यम वलात् जीवों को ले जाता है इसी को परास्त करना-शाश्वत सुख का उपाय है । उसके लिए—

रत्नत्रयेषु सन्धानैस्तपश्चापाङ्कितैर्बुधैः ।

निर्वाणद्वीप सम्प्राप्त्यै ह्यारोहन्तु शिवार्थिनः ॥४०॥

अस्मिन् अनादि संसारे धन्यास्ते पुरुषोत्तमाः ।

मोहं शत्रुं विनिजित्य ये प्रापुः परमं पदम् ॥४१॥

अध्रुवं दृश्यते सर्वं यत्किञ्चित् परमार्थतः ।

धनं धान्यं सुवर्णं च मणि मुक्ताफलादिकम् ॥४२॥

अन्वयार्थ - (शिवार्थिनः) मुक्ति मोक्ष के चाहने वाले (बुधैः) भव्यजानी जनों द्वारा (रत्नत्रये) रत्नत्रय में (तपश्चापाङ्कितैः) तपश्चरणरूप धनुष से अङ्कित (सन्धानैः) वाणों से (हिं) निश्चय से (आरोहन्तु) आरोहण करें (अस्मिन्) इस (अनादिसंसारे) अनादि संसार में (ते) वे (पुरुषोत्तमाः) उत्तम पुरुष धन्य हैं (ये) जिन्होंने (मोहशत्रुं) मोहरूप अरिको (विनिजित्य) जीतकर (परमम्) उत्तम (पदम्) पद-मोक्ष को (प्रापुः) प्राप्त कर लिया, (अत्र) यहाँ संसार में (धनम्) गौ, अश्व गजादि (धान्यम्) गेहूँ, जौ मूँग मटरादि (सुवर्णम्) रुपया, गिन्नी सोना चाँदी प्रभृति (मणिमुक्ताफलादि) मणि, मोती आदि (यत् किञ्चित्) जो कुछ है (परमार्थतः) निश्चयनय से (सर्वम्) वह सब (अध्रुवम्) नश्वर (दृश्यते) दृष्टिगत होता है ।

भावार्थ—श्रीपालमहाराज संसार की नश्वरता का चिन्तन करते हैं कि यह असार



पुनः वे अशरण भावना—द्वितीयभावना का चिन्तन करते हैं—

शरणं नास्ति संसारे जन्तूनां दुःखसागरे ।

इन्द्रो वा धरणेन्द्रो वा चक्री वा कः परो नरः ॥४६॥

सम्प्राप्ते मरणो घोरे विद्यमाने च सज्जने ।

लोहं वा चुम्बकं कर्म जीवं नीत्वा प्रयान्त्यलम् ॥४७॥

सिंहस्थाग्रे मृगस्येव पति तस्यापि कानने ।

संसृतौ शरणं नास्ति जीवानां सरतां परम् ॥४८॥

वर्शनं ज्ञानचारित्र्यं पवित्रं भुवनत्रये ।

केवलं शरणं जन्तोर्नान्यं मान्यं बुधोत्तमैः ॥४९॥

अन्वयार्थः—(दुःखसागरे) दुःख का समुद्र रूप (संसारे) इस संसार में (जन्तूनाम्) प्राणियों का (इन्द्रः) इन्द्र (वा) अथवा (धरणेन्द्रः) धरणेन्द्र (वा) अथवा (चक्रीः) चक्रवर्ती भी (शरणम्) रक्षक (नास्ति) नहीं है (पूरः नरः) दूसरे आदमी का (कः) क्या

कहना ? (सज्जने विद्यमाने) बड़े-बड़े सत्पुरुषों के विद्यमान रहने पर भी (घोरे) भयङ्कर (मरणे) मरण के (सम्प्राप्ते) उपस्थित होने पर (कर्म) कर्म राजा (चुम्बकम्) चुम्बक (वा) जिस प्रकार (लोहम्) लौह को खींचता है उसी प्रकार (जीवम्) जीव-प्राणी को (नीत्वा) लेकर (प्रयास्ति) चले जाते हैं (अलम्) इससे अधिक क्या ? (कानने) वन में (सिंहस्य) शेर के (अग्रे) आगे (पतितः) गिरे हुए (मृगस्य) हरिण का (इव) जिस प्रकार कोई (अपि) भी (शरणम्) बचाने वाला (नास्ति) नहीं है तथा (संसरताम्) जन्म मरण करते संसारी जीवों का (संसृतां) संसार में (परम्) दूसरा कोई भी (शरणम्) शरण-रक्षक (नास्ति) नहीं है (बुधोत्तमैः) भेद विज्ञानियों के द्वारा (भुवनत्रये) तीनों लोकों में (जन्तोः) प्राणों का (केवलम्) एकमात्र (पवित्रम्) निर्मल (दर्शनज्ञानचारित्र्यम्) सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र्य ही (शरणम्) रक्षकशरणभूत (मान्यम्) माना गया है (अन्यः) अन्य कोई (न) नहीं है ।

भावार्थ—यहाँ विरक्त श्रीपाल भूपेन्द्र संसार में कोई शरण नहीं है । मरण से कोई नहीं बचा सकता, इस प्रकार अशरण भावना का चिन्तन कर रहे हैं । ये महान वैभवशाली इन्द्र अनेकों विभूतियों का अधिपति धरणेन्द्र, सुर-असुर, षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती क्या किसी को मरण से बचा कर रख सकते हैं ? ओह स्वयं ही ये बेचारे कर्माधीन हैं, आयुष्यपूर्ण होते ही उस यमराज के ही चङ्गुन में फँसने वाले हैं, फिर अन्य की तो बात ही क्या ? जो स्वयं अरक्षित है वह दूसरे का प्रतिपालक भला कैसे हो सकता है ? इस दुःख सागर संसार में जीव का कोई शरण नहीं है । जिस प्रकार भीषण-सघन-गहन-निर्जन वन में सिंह के आगे पड़े हरिण को बचाने में कोई समर्थ नहीं होता उसी प्रकार मृत्यु के सर्वभक्षी विशाल फटे मुख में आये प्राणियों को संसार में कोई भी बचाने वाला नहीं है । मरण समय आने पर कितने ही मणिमन्त्र, तन्त्र रहें, वैद्य, डाक्टर, सर्जन, सज्जन-दुर्जन, शत्रु-मित्र, प्रियबन्धु बान्धवों का समूह क्यों न इकट्ठा हो, परन्तु सबके देखते-देखते कर्मराज प्राणियों को उसी प्रकार खींच ले जाता है, जिस प्रकार चुम्बक लोहे को बरबस खींच लेता है । मरण से बचाने वाला इस संसार में गति से गत्यन्तर जाते हुए भ्रमण करते हुए जीवों को कोई शरणदाता नहीं है । कारण कि संसारी समस्त जीव स्वयं शरणागत हैं शरण्य कौन किसका हो ? आगे श्रीपाल निर्णयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं कि तीनों लोकों (ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक) में यदि कोई शरण है तो रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ही है । यही आत्मा का स्वरूप है । यही धर्म है । इसी को भेद-विज्ञानियों ने मोक्ष मार्ग कहा है । इसके अतिरिक्त कोई भी मृत्यु से बचाने वाला नहीं है । यह, आत्मा का स्वरूप ही ध्यातव्य है । अब मैं इसी की शरण लूँगा । आत्मा ही आत्मा का प्रतिपालक-रक्षक है, किन्तु इस अदृष्टा को प्राप्त करने के लिए वीतरागी गुरु ही सच्चे मार्ग-दर्शक हैं, वे स्वयं इस विकराल अजेय मृत्यु पर विजय पाने को बद्धकच्छ हैं और अन्य भव्या-त्माओं को भी समर्थ बनाने में सफल समर्थ निमित्त कारण हैं अतः उन्हीं की शरण में जाना चाहिए । यही सनातन-समीचीन मार्ग है—॥४६ से ४६॥

अब तीसरी संसार भावना का ध्यान करते हुए श्रीपाल नरेश—इस संसार का नक्शा उतारते हैं । यह संसार सर्वत्र असहनीय यातनाओं से खचाखच भरा हुआ है । तिलःतुष मात्र भी इसमें शान्ति का स्थान नहीं—

संसारो दुःसहो ज्ञेयश्चतुर्गति समन्वितः ।

यत्र जीवाः स्व कृत्येन संसरन्ति निरन्तरम् ॥५०॥

छेदनं भेदनं शूलारोहणं ताडनादिकम् ।

नारकाणां महादुःखं कविवाचामगोचरम् ॥५१॥

पशूनां वध बन्धादि दुःख संवर्तते सदा ।

क्षुधा तृणोष्णशीतोत्थं पापतः परवश्यकम् ॥५२॥

इष्टानां च वियोगेन दुष्ट संयोगतस्तथा ।

रोगशोकादिकं दुःखं मनुष्याणां विशेषतः ॥५३॥

देवानामपि संसारे जायते दुःख मुत्कटम् ।

इन्द्रादीनां समालोक्य विभूतिं मानसं दुःखम् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(चतुर्गति समन्वितः) चार गतिस्वरूप (संसारः) संसार (दुःसहो) असहनीय (ज्ञेयः) जाना गया है (यत्र) जहाँ संसार में (जीवाः) प्राणिगण (स्वकृत्येन) स्वोपाजित कर्मानुसार (निरन्तरम्) सतत (संसरन्ति) घूमते रहते हैं (नारकाणाम्) नरक में उत्पन्न नारकियों के (छेदनं-भेदनं) शूल काँटों से छेदना तलवारादि से भेदन-चिरना (शूलारोहणम्) फाँसी पर चढ़ाना, शूली चढ़ाना (ताडनादिकम्) कोड़े डण्डे आदि से पीटनादि (कविवाचामगोचरम्) कवियों के द्वारा भी जिनका वर्णन न किया जा सके ऐसे (महादुःखम्) महान् दुःखों को (पशूनाम्) तिर्यञ्चों के (वध) कोड़े आदि से मारना (बन्धादि) रस्सी, सिकड़ी लोहे की चैनादि से बाँधा जाना (क्षुधातृणोष्णशीतोत्थम्) भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी से उत्पन्न (पापतः) पापोदय से (परवश्यकम्) पराधीनता के कारण (सदा) हमेशा (दुःखम्) दुःख (संवर्तते) होता ही रहता है (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के (विशेषतः) विशेष रूप से (इष्टानाम्) इष्टजनों का (वियोगेन) वियोग होने से (च) और (दुष्टसंयोगतः) दुर्जन या अनिष्ट वस्तु के संयोग से (तथा) उसी प्रकार (रोग शोकादिकम्) रोग-शोक आदि (दुःखम्) दुःख (जायते) होता है (संसारे) संसार में (देवानामपि) देवों के भी (मुत्कटम्) उत्कृष्ट (दुःखम्) दुःख (इन्द्रादिनाम्) इन्द्र आदि की (विभूतिम्) विभूति को (समालोक्य) देख-देख कर (मानसदुःखम्) मानसिक पीडा (जायते) होती है ।

भावार्थ—संसार भावना का आश्रय लेकर श्रीपाल भूपेन्द्र विचार कर रहे हैं । 'यह संसार चारों गतियों से निर्मित है संसारी प्राणी कर्माधीन हो इन चारों गतियों में विविध दुःखों को भोगता हुआ निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है । पापकर्म के तीव्र उदय से नरक गति में जाकर पड़ता है वहाँ काँटों से छेदना, वन्धों से चिरना, फटना, भेदन किया जाना, शूली पर चढ़ना, फाँसी पर लटकना, घनों से पीटना, ताडनादि अनेकों भीषण, दुर्दान्त, घोर दुःखों को सहन करता है, आँखें फोड़ना जिह्वा-

च्छेदना, गरम-गरम जलती पुतलियों से चिपटाया जाना आदि कवियों की वाणी से भी अगोचर दुखों को सहता है। संसार में कहावत है “जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि” अर्थात् जिस विषय-पदार्थ को रवि रश्मियाँ भी प्रकाशित नहीं कर सकती उनका भी निरूपण कविजन अपनी सूक्ष्म प्रतिभा से कर देते हैं” वे कविराज भी नरकों की असीम यातनाओं का वर्णन करने में समर्थ नहीं होते। ऐसे दुःसह कष्टों को यह जीव सहन करता है नरकों में। इसी प्रकार तिर्यञ्च गति के दुख हैं जो प्रत्यक्ष देखने में आते हैं बध्न-बन्धन के कष्ट तो है ही नाक-कान छेदन, नाल ठोकना, बधिया करना आदि मर्मभेदी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। शीत-उष्ण की कितनी भयङ्कर वेदना सहते हैं। ग्रीष्मकाल में चिलचिलाती धूप में बँधे हैं, काम कर रहे हैं, हल चलाना गाड़ी खींचना आदि कार्य में बलात् जोते जाते हैं। समय पर न पानी का ठिकाना है न चारा का। इसी प्रकार शीतकाल में खुले मैदान में रहना आदि कष्ट उठाते हैं। भाषा न होने से अपनी पीड़ा, दुःख सुख-प्यास आदि को अभिव्यक्त भी नहीं कर सकते। मूक होने से भयंकर मानसिक पीड़ा होती है और विचारे पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, लट-पिपील, सिंह-व्याघ्रादि सभी निरन्तर दुःखानुभव करते रहते हैं। पाप बाहुल्य होने से हर समय ये पीड़ित रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य गति में भी दारुण कष्ट होते हैं। इष्ट अनु-कूल सामग्री नहीं मिलने पर अथवा प्राप्त वस्तु का विधोग हो जाने पर मनुष्य को तज्जन्य कष्ट सहन करना पड़ता है इसी प्रकार अनिष्ट वस्तु, जिसे मानव नहीं चाहता और बलात् वह आकर चिपट जाये, प्राप्त हो जाये तो भी मन वाकुल-व्याकुल होकर क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पा सकता ? अर्थात् मानव जीवन के गुंथे हुए (इष्ट पदार्थ) अभिलक्षित पदार्थों के चले जाने पर अनिष्ट संयोजक आर्त-पीड़ा होती है। इस सबको जीव भोगता है और यथायोग्य फल भी भोगना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त रोग, शोक, आधि व्याधि, दैन्य तापादि जीव को भोगने ही पड़ते हैं। विशेष रूप से ये मानव पर्याय के कष्ट हैं। कभी पुण्य विशेष किया तो स्वर्गधाम पा जाता है। वहाँ क्या है ? यहाँ सञ्चित किया पुण्य और पाप। पुण्य विशेष कल्पवासी भी देव हो गया तो भी इन्द्रादि को विभूति देख कर हाय-हाय कर-कर रोता है। मरणकाल में आर्त परिणाम कर स्वयं ही स्वयं के पापों के सञ्चय का उपाय कर बैठता है। इस अवसर पर कौन रक्षा करे ? और किसे दुःख का साथी बनायें। मन्दारमाला मुझने पर मरणकाल निकट जान हाय-हाय करता है। ये सुख छूटने वाले हैं अब क्या करूँ ? इस प्रकार पश्चात्ताप कर रोता है ? और पुनः यहाँ आ टपकता है। अधिक क्या ? देवपर्याय से ऐकेंद्री तक हो जाता है। इस प्रकार चारों ही गतियाँ विविध प्रकार के दुःखों से संकीर्ण हैं। यह संसार दुःख ही है। इस प्रकार विचार कर मुमुक्षुप्राणी को पञ्चमगति-मोक्ष पाने का सतत उपाय करना चाहिए। इस प्रकार संसार भावना का चिन्तन करने में श्रीपाल पृथ्वीपति तल्लीन हो गये ॥५० से ५४॥

पुनः एकत्व भावना का विचार करते हैं। उसका स्वरूप निम्न प्रकार समझना चाहिए —

एको जीवोऽत्र पापेन दुःखमग्नाति नित्यशः ।

एक स्वर्गादिकं सौख्यं स्वपुण्य परिपाकतः ॥५५॥

गत्यन्तरं प्रयात्येको जीवत्ये कोऽपि कहिचित् ।

नापरः कोऽपि तस्यास्ति निश्चयेन द्वितीयकः ॥५६॥

रत्नत्रयं समासाध्य कोऽपि भव्यमतल्लिका ।

कर्मक्षयं विधायोच्चैरेको यात्येव तत्पदम् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(अत्र) संसार में (पापेन) पापकर्म के उदय से (एकः) अकेला (जीवः) जीव (नित्यज्ञः) निरन्तर (अति) अत्यन्त (दुःखमग्न) दुःख में डूबता है (स्वपुण्यपाकतः) अपने पुण्योदय से (एकः) अकेला ही (स्वर्गादिकम् सौख्यम्) स्वर्गादि के सुख को पाता है (एकः) अकेला (गत्यन्तर) एक गति से दूसरी गति को (प्रयाति) जाता है (कहिचित्) कोई (अपि) भी जीव (एकः) अकेला ही (जीवति) जीता है (निश्चयेन) निश्चय से (कोऽपि) कोई भी (अपरः) दूसरा (तस्य) उसका (न) नहीं (अस्ति) है (द्वितीयकः) दूसरा (कोऽपि) कोई भी (भव्यः) भव्य (मतल्लिका) श्रेष्ठजीव (एकः) अकेला (एव) ही (रत्नत्रयं) रत्नत्रय को (समासाध्य) प्राप्त कर (कर्मक्षयं विधाय) कर्मों का क्षय करके (उच्चैः) परमोत्कृष्ट (तत्पदम्) उस मोक्ष पद को (यातिः) प्राप्त करता है—जाता है ।

भावार्थ—जिनशासन में प्रत्येक जीव सम शक्तियुक्त है । प्रत्येक भव्यात्मा अपने-अपने कर्मानुसार और पुरुषार्थानुसार दुःख-सुख अकेला ही भोगता है । अकेला शुभाशुभ कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भी भोगता है । पापकर्मों में रत होकर अशुभ कर्म उपार्जित करता है उसका फल नरक-निगोदादि के दुःख भी स्वयं वही एक पाता है । स्वयं ही जीव पुण्य कर्मों का सम्पादन करता है पुनः उनका फल स्वर्गादि विभूति का भोगोपभोग भी वही स्वयं अकेला भोगता है । कोई भी अन्य साथी-सङ्गी बँटा नहीं सकता । स्वयं ही यह जीव अपने सत्पुरुषार्थ के बल पर पुण्य-पाप का नाश करने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य को धारण कर वीतराग भावना के बल से सकलकर्म नाश कर सर्वोत्कृष्ट, शाश्वत परमपद मोक्ष स्थान को पाकर सदा को अनन्त चतुष्टय-अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य का धारी हो जाता है । चिरसुखभागी अकेला ही बनता है । संसार और मोक्ष का अधिकारी अकेला ही जीव है । अतः मैं स्वयं ही अपने बन्धन और मोक्ष का पूर्ण जिम्मेदार हूँ । अब मुझे मुक्तिमार्ग ही आश्रयनीय है । इस प्रकार श्रीपाल अपने वैराग्यभाव का पोषण करने लगे । पुनः वे अन्यत्त्व भावना का चिन्तन करते हैं ॥५५ से ५७॥

अन्यो जीवो यमत्युच्चैः सर्वत्र मिलितोऽपि च ।

नीचोच्चसर्वदेहेषु पाषाण स्थित हेमवत् ॥५८॥

स्व शक्त्या चेति जानीते भव्यात्मा जिनभाषितम् ।

संसाराम्बुधिमुत्तीर्य स प्रयाति शिवास्पदम् ॥५९॥

अन्यत्वं चात्मनो नित्यं ततो भव्यं जिनोत्तमैः ।

सावधानैर्विरागेण चिन्तनीयं स्व चेतसि ॥६०॥

अन्वयार्थ—(नीचोच्चसर्वदेहेषु) नीच और ऊँच कुलों में प्राप्त शरीरों में (सर्वत्र) सब जगह (मिलितोऽपि) मिलने पर भी (जीवः) आत्मा (पाषाणस्थितहेमवत्) पाषाण में स्थित सुवर्ण के समान (उच्चैः) पूर्णतः (अन्यः) भिन्न ही (यमति) स्थित रहता है (इति) इस प्रकार (भव्यात्मा) भव्यजीव (जिनभाषितम्) जिनेन्द्र कथित तत्त्व को (स्वशक्त्या) अपनी शक्ति के अनुसार (जानीते) जानता है (सः) वह (संसाराम्बुधिमुत्तीर्य) संसार सागर को पार कर (च) और (शिवास्पदम्) मुक्तिस्थान (प्रयाति) प्रयाण करता है (ततो) इसलिए (जिनोत्तमैः) जितेन्द्रिय (भव्यैः) भव्य द्वारा (सावधानैः) सावधानी से (च) और (विरागेण) विरक्तभाव से (नित्यम्) निरन्तर (आत्मनः) आत्मा का (अन्यत्वम्) अन्यत्वपना (स्व) अपने (चेतसि) मन में (चिन्तनोपम्) चिन्तन करना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँ श्रीपाल नृपति अन्यत्व भावना भा रहे हैं । यह आत्मा निग्निराला है । जल में रहकर भी कमल उससे भिन्न रहता है । खान में पड़ा किट्टिकालिमा से समा-मिला हुआ भी सुवर्ण अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता । स्वयं उस (पाषाणादि) से भिन्न रहता है उसी प्रकार यह स्वभावसिद्ध अनादि आत्मा कर्मकालिमा के तथा ऊँच नीच कुलों में प्राप्त विभिन्न सुन्दर-असुन्दर शरीरों में जा जाकर-उनमें घुल-मिलकर भी स्वयं अपने स्वभाव में स्थित रहता है । अर्थात् चेतनत्व स्वभाव को-ज्ञानदर्शन गुण को नहीं छोड़ता है । यह जिनागम का सार है । जो भव्यात्मा जिनकथित इस तथ्य को पूर्ण सावधानी से जान लेता है और अपने को तद्रूप (शुद्धरूप) में चिन्तन करता है वह भव्यज्ञानो-भेदविशानी शीघ्र ही उस अचिन्त्य, अखण्ड, चिद्रूप, नित्यस्वरूप उस आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिए भव्य, बुद्धिमान प्राणियों को सतत सावधानी से आत्मा के अन्यत्व स्वभाव का पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए । जैसा कि कहा है “नवतत्त्वगतेस्त्वऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति” अर्थात् नव तत्वों के बीच घूम कर भी अपने एकत्व स्व-स्वभाव को नहीं छोड़ता है । परमाणु मात्र भी ऐसा नहीं यानि आत्मा का नहीं और आत्मा भी परमाणुमात्र का नहीं । आत्मा अपने स्वभाव में अपने स्वरूप स्थित रहता है । यही बार-बार चिन्तन करना अन्यत्व भावना है । इसके चिन्तन से निजस्वभाव में स्थिर होता है ॥ ५८ से ६० ॥

अशुचित्वं शरीरस्य भावयामास शुद्धीः ।

सप्तधातुमलैर्युक्तं शरीरं तापकं सदा ॥६१॥

चन्दनागरुकर्पूरधौतवस्त्रादिकं शुभम् ।

पुष्पदामादिकं शीघ्रं यत्सङ्गात्तादृशं भवेत् ॥६२॥

कथं सन्तः प्रकुर्वन्ति प्रीतिमत्र शरीरके ।

चर्मास्थि संभवे नित्यं चाण्डालगृह सन्निभे ॥६३॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध धीः) पवित्र बुद्धिधारी (सदा) निरन्तर (सप्तधातुमलैः) सात धातुरूप मलों से (युक्तम्) भरा हुआ (शरीरम्) शरीर (तापकम्) कष्टदायी (शरीरस्य)

शरीर का स्वभाव (अशुचित्वम्) अपवित्रता ही है (भावयामास) चिन्तवन करें (यत्सङ्गात्) जिसके साहचर्य से (चन्दनागुरु कर्पूरधौतवस्त्रादिकम्) मलयागिर चन्दन, अगरू, कर्पूर, सफेद सुन्दर वस्त्रादि (शुभम्) शोभायमान (पुष्पदामादिकम्) पुष्पमाला, गन्ध, इत्र आदि सुगन्धित उत्तम वस्तुएँ (शीघ्रम्) तत्काल (तादृशम्) उस शरीर के समान अपवित्र धिनावनी (भवेत्) हो जावे (अवशरीरके) ऐसे इस शरीर में (चर्मास्थिसंभवे) चमड़ा, हड्डियों से निर्मित (नित्यम्) नित्य ही (चाण्डालगृहसन्निभे) चाण्डाल-मातङ्ग के घर के समान शरीर में (सन्तः) सन्तपुत्र (कथम्) कैसे (प्रीतिम्) राग (प्रकुर्वन्ति) करते हैं ? अर्थात् नहीं करते ।

भावार्थ -- महाप्रभु वैराग्य से युक्त श्रीपाल छठवीं अशुचि भावना भाते हैं । "यह शरीर मल में उत्पन्न मल से ही निर्मित है । हाड़, मांस, चाम, मज्जा, कालेय, पीवादि सात धातुओं से भरा है । इन्हीं से निर्मित है निरन्तर ये ही मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ सब ओर से बहते रहते हैं । हमेशा ही यह रोगादि का पिढारा होने से दुःख और संताप का कारण बना रहता है । महादुःखदाता है । इस प्रकार मुमुक्षुओं को निरन्तर भावना करनी चाहिए । इतना ही नहीं वह शरीर महादुर्जन समान है इसे कितनी ही सुन्दर-सुरभित, अमूल्य अमर-तगर, कर्पूर, मलयागिर चन्दन, केशर आदि से लिप्त करो परन्तु अपनी गन्दगी को नहीं छोड़ता इसके विपरीत इन पदार्थों को भी अपने रूप परिणाम लेता है । पुष्पमाला, सुरभित पुष्प, स्वच्छ वस्त्र, नवीन-नवीन चमकदार पोशाक, आभूषण आदि उत्तम वस्तुओं को अल्प समय में ही मलान कर डालता है । दुर्गन्धयुक्त बना देता है । इस प्रकार के निष्कृष्ट-तुच्छ शरीर में भला सन्तपुत्र प्रीति कर सकते हैं क्या ? यह सज्जनों को प्रिय हो सकता है ? कभी नहीं आदायि नहीं । वे इसे भङ्गी मातङ्ग के घर के समान अशुष्य, हेय और त्याज्य समझते हैं । साथ ही नाना जीवों और रोगों से भी यह संकुल-भरा है ; अतः भेदविज्ञानी हितैक्षु, आत्मार्थी भव्य इस कृतघ्न शरीर में कैसे प्रीति करे ? अर्थात् नहीं करते ॥ इस प्रकार चिन्तवन करने से वैराग्य पुष्ट होता है । महाराज श्रीपाल भी अपने शरीर मोह त्याग को परिपक्व करने के लिए बार-बार इस अशुचि भावना का चिन्तवन कर रहे हैं ॥६१ से ६२॥

आस्रवाः कर्मणां जन्तोर्जायन्ते दुःखदायकाः ।

मिथ्यात्वपञ्चकैः कण्ठैरवतैर्द्वादश प्रमैः ॥६४॥

कषायैः पञ्चविंशत्या योगैः पञ्चदशात्मकैः ।

भग्न नौरिष जीवोऽसौ नीयते तै रसातलम् ॥६५॥

अन्वयार्थ -- (मिथ्यात्वपञ्चकैः) पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों द्वारा (द्वादशप्रमैः) बारह प्रकार के (कण्ठैः) कण्ठदायक (अवतैः) अविरतियों से (पञ्चविंशत्याकषायैः) पच्चीस कषायों से (पञ्चदशात्मकैः) पन्द्रह प्रकार के (योगैः) योगों द्वारा (जन्तोः) जीव के (कर्मणाम्) कर्मों का (आस्रवाः) आस्रव (जायन्ते) होते रहते हैं (असौ) यह (जीवः) प्राणी (तः) उन आस्रवों से (भग्नैः) सद्भिद्र नीका के (इव) समान (रसातलम्) संसार सागर के मध्य-रसानल में (नीयते) ले जाया जाता है ।

भाषार्थ—यहाँ आस्रव भावना का स्वरूप कहते हैं । आस्रव का अर्थ है आना अर्थात् आत्मा में कर्मों का प्रविष्ट होना । कारणपूर्वक ही कार्य होता है । आस्रव के भी पाँच कारण हैं—१. मिथ्यात्व २. अविरति ३. कषाय ४. योग और ५. प्रमाद । यहाँ कषाय में प्रमाद को अन्तर्भूत कर चार ही मुख्य कारण लिए हैं । मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं—

१. एकान्त—अनेक धर्मात्मक वस्तु को किसी एक धर्म से युक्त ही कहना यथा वस्तु क्षणिक ही है । नित्य ही है । सामान्य ही है । विशेष ही है । भेदरूप ही है । अभेदरूप ही है इत्यादि । चूँकि वस्तु में अपेक्षाकृत उपर्युक्त सभी धर्म विद्यमान हैं, किन्तु एकान्तवादी किसी एक रूप ही कथन करते हैं यही एकान्त मिथ्यात्व है ।

२. विपरीत मिथ्यात्व हिंसा में धर्म मानना । परमात्मा का अवतार मानना । अदेव को देव, कुशास्त्र को शास्त्र, कुगुरु को गुरु मानना इत्यादि विपरीत मान्यता विपरीत मिथ्यात्व है ।

३. विनय मिथ्यात्व—सूखे-खोटे, सत्य-असत्य, हेय उपादेय का विचार न कर सभी धर्मों, धर्मात्माओं आदि का समान रूप से आदर-सत्कार करना अर्थात् मिथ्यात्वो गुरु आदि और सम्यग्दृष्टियों का एक समान विनय करना विनय मिथ्यात्व है ।

४. संशयमिथ्यात्व—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित तत्त्व सही हैं या नहीं । सूक्ष्मतत्त्व समझ में नहीं आता । परलोक, आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग-मोक्ष आदि हैं या नहीं इस प्रकार की बुद्धि का होना संशय मिथ्यात्व है ।

५. अज्ञान मिथ्यात्व—आत्मा को अज्ञान रूप मानने, अथवा अज्ञान ही सुख का कारण है । अज्ञान से ही मोक्ष होता है इत्यादि भ्रमपूर्ण सिद्धान्त अज्ञान मिथ्यात्व है । ये पाँचों प्रकार के मिथ्यात्व संसारद्वन्द्वक छोटे आस्रव के कारण हैं ।

दूसरा आस्रव का हेतु अविरति है । इसके १२ भेद हैं । षट्काय जीवों के रक्षा नहीं करना ये ६ प्रकार और पाँच इन्द्रियों और मन को वश नहीं करना ये ६, इस प्रकार सब १२ भेद हो जाते हैं ।

जो आत्मा को कषे-पीडा दें वे कषाय हैं । इनके २५ भेद हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार । अप्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार, प्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, सञ्ज्वलन-क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार । इस प्रकार सर्व १६ कषाय तथा, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, और नपुंसक वेद, ये नव कषाय हैं । इस प्रकार २५ कषाएँ आस्रव के कारण हैं ।

योग के १५ भेद हैं । मन के चार—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय । वचन के—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय । काय योग के ७ भेद हैं—औदारिक काय, योग, वैक्रियक काय योग, आहारक काय योग, औदारिक मिश्र योग, वैक्रियक मिश्र, आहारक मिश्र और कार्मण काय योग इस प्रकार सब १५ योग हैं ये भी कर्मास्रव के कारण हैं । ये शुभरूप परिण-

नष्ट करते हैं तो मुश्किल होता है और अशुभ रूप परिणाम करे तो अशुभ आस्रव होता है । इस प्रकार विचार करना कि ये आस्रव ही संसार के बर्द्धक हैं, दुःख के हेतु हैं, दुःख स्वरूप हैं इस प्रकार विचार कर आस्रव के कारणों से विरक्त होना चाहिए । यह आस्रव भावना है । इसके चिन्तन से मन संयमित—स्थिर होता है । जिस प्रकार नाव में छिद्र हो जाने से नाव में पानी भर जाता है और धीरे-धीरे वह नाव को डुबो देगा । उसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्यात्वादि ५७ आत्मा रूपी नौका के छिद्र हैं । इन छोदों से कर्मास्रव—कर्म जल भर कर आत्मा को संसार सागर में डुबो देते हैं । अतः बुद्धिमानों को इन छिद्रों को बन्द करने का प्रयास करना चाहिए ॥६४—६५॥

संवरोऽपि भवेन्नित्यं भव्यानां शर्मकारणम् ।

निर्जितेषु तथा तेषु मिथ्यात्वादिकशत्रुषु ॥६६॥

तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन जैन तत्त्व विदाम्बरैः ।

जित्वा नानास्रवानांशु संवरः संविधीयते ॥६७॥

अन्वयार्थ—(तेषु) उन (मिथ्यात्वादिक शत्रुषु) मिथ्यात्व आदि शत्रुओं के (निर्जितेषु) सम्यक् प्रकार जीत लेने पर (भव्यानाम्) भव्य जीवों के (नित्यम्) निरंतर (शर्मकारणम्) सुख-शान्ति दायक (संवरः) संवर (अपि) भी (भवेत्) होता है (तस्मात्) इसलिए (जैनतत्त्वविदाम्बरैः) जैनतत्त्व के ज्ञाताओं को (आशु) शीघ्र ही (तथा) उस प्रकार के (नाना) अनेकरूप (आस्रवान्) आस्रवों को (जित्वा) जीतकर (संवरः) संवर (संविधीयते) का विधान करना चाहिए ।

भावार्थ—उपर्युक्त आस्रव के हेतु मिथ्यात्वादि का नाश करने से संवर होता है । आते हुए कर्मों का रोक देना ही संवर है । कारण के अभाव में कार्य स्वयं रुक जाता है । नाव में छिद्र होने से पानी आने लगा, छिद्र बन्द कर लिया जाय तो जल प्रवेश रुक जायेगा तथा नाव यथा स्थित रह सकेगी । इसी प्रकार आस्रव के रुकने पर आत्मा का भार अधिक नहीं होगा सुख और शान्ति की अनुभूति जागृत हो सकेगी । अतः तत्त्वज्ञ पुरुषों को सुदृढ़ प्रयत्न पूर्वक संवरतत्त्व को अपनाने की चेष्टा करना चाहिए । शीघ्र ही संवर द्वारा नवीन कर्मास्रवों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए । इस प्रकार संवर भावना भावे ॥६६—६७॥

निर्जरा कर्मणः कार्या तपोभिर्द्वादशात्मकैः ।

वाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां जिनोक्तैः शर्मकारिभिः ॥६८॥

पञ्चेन्द्रियाणि निर्जित्य ये कुर्वन्ति जिनोदितम् ।

तपस्ते संसृतौ धन्या मनुष्याः परमार्थिनः ॥६९॥

अब निर्जरा भावना का स्वरूप देखिये—

अन्वयार्थ—(जिनोक्तैः) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित (वाह्याभ्यन्तरभेदाभ्याम्)

वाह्य और आभ्यन्तर भेद वाले (द्वादशात्मकैः) बारह प्रकार के (अभेकारिभिः) शान्ति, सुख दायक (तपाभिः) तपों द्वारा (कर्मणः) कर्म (निर्जरा) निर्जरा (कार्या) करना चाहिए (ये) जो मानव (पञ्चेन्द्रियाणि) पाँचों इन्द्रियों को (निजित्य) जीत कर (जिनोदितम्) जिन भगवान् द्वारा कथित (तपः) तपश्चरण को (कुर्वन्ति) करते हैं (संवृत्तौ) संसार में (ते) वे (परमार्थिनः मनुष्याः) मानव मोक्षाभिलाषी (धन्याः) धन्य हैं ।

भावार्थ—अरहंत, सर्वज्ञ जिनभगवान् ने निर्जरा का हेतु तप कहा है । वह तप दो प्रकार का बताया है १ वाह्य और २ आभ्यन्तर । पुनः प्रत्येक के ६-६ भेद हैं । इस प्रकार बारह प्रकार का तप कहा है । जो वाह्य में देखने में आ सके वह वाह्य तप है “अनशनानवमोदर्य-वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा वाह्यं तपः ।”

(१) अनशनः—चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है ।

(२) अवमोदर्य तपः—अर्द्धपेट या भूख से कम आहार करना अवमोदर्य तप है ।

(३) वृत्तिपरिसंख्यानः—चर्या (आहार) के लिए जाते समय अवग्रह करके निकलना और उस नियमानुसार भिक्षा आहार मिलने पर ही आहार लेना वृत्तिपरिसंख्यान-व्रत है ।

(४) रसपरित्याग तपः—दुग्ध, दही, घी, नमक, तेल और मीठा ये छः रस कहे जाते हैं । इनका त्याग करना अथवा इनमें से यथाशक्ति एक, दो, चार, पाँच आदि रसों को छोड़कर आहार ग्रहण करना रसपरित्याग तप है ।

(५) विविक्त शय्यासनः—तपश्चरण, साधना, मनोबल और धैर्य की वृद्धि के लिए तथा कर्मों को निर्जरा हेतु इस विविक्त शय्यासन तप को करते हैं । अर्थात् एकान्त, निरापद वन, गुफा, पर्वत, जिनालय आदि में सोना, बैठना, ध्यान, अध्ययन करना विविक्त शय्यासन तप है ।

(६) कायक्लेशः नाना प्रकार आसन लगाना, मुद्राएँ बनाना, घण्टों एक ही आसन से बैठकर आत्मस्वरूप चिन्तन करना, एक पैर पर खड़े रहना आदि करना कायक्लेश है । नाना प्रकार प्रतिमास्थानं, शरीर को स्थिर करना, आतापनादि तप करना ये सब काय क्लेश तप है । इस प्रकार आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं—यथा ‘प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य-स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२० त. सू. अ. ६ ॥

(१) प्रायश्चित्त—(अपराध होने पर गुरुमाक्षी में उनका निराकरण करना ।)

(२) विनय—मानसिक, वाचनिक, कायिक और शीपचारिक इन चार प्रकार के विनयों का पालन करना । तप, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र के प्रति भक्ति, श्रद्धा रखना विनय तप है ।

(३) वैयावृत्ति तपः—“आचार्योपाध्यायतपस्विश्रीव्यञ्जन गणेशसङ्ग बाधुमनो-

ज्ञानाम् ॥२४॥” अर्थात् १. आचार्य २. उपाध्याय, ३. तपस्वी ४. शैक्ष ५. ग्लान, ६, गण ७. कुल, ८. सङ्घ, ९. साधु, और १०. मनोज्ञ ये १० प्रकार के साधु हैं इनकी यथावसर, यथा-योग्य सेवा सुश्रुषा परिचर्या करना वैयावृत्ति तप है ।

(१) पाँच प्रकार आचार्यों का जो स्वयं आचरण करें और शिष्यों को भी करावे तथा शिक्षा दीक्षा देकर शिष्यों का अनुग्रह, निग्रह करें वे आचार्य कहलाते हैं ।

(२) जिनके सांनिध्य में साधुगण आगम का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं ।

(३) जो मासोपवास, पक्षोपवास, अष्टोपवास, तेला वेला, षष्ठोपवासादि करने में संलग्न रहते हैं वे तपस्वी कहलाते हैं ।

(४) जो निरन्तर धृत की आराधना में तत्पर रहते हैं सतत व्रतभावना निपुण होते हैं अर्थात् आत्मज्ञान की वृद्धि में सदा तत्पर रहें वे शैक्ष्य कहलाते हैं ।

(५) असाता कर्मोदय से जो प्रायः रुग्ण-रोगी रहते हैं पर आत्मबल से युक्त हों वे ग्लान कहलाते हैं ।

(६) गण—स्थविरों की संतति को गण कहते हैं ।

(७) कुल—दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्यपरम्परा के साधु समूह 'कुल' कहलाते हैं ।

(८) सङ्घ—यति, मुनि, ऋषि और अनगार इन चारों प्रकार के साधुओं के समूह को सङ्घ कहते हैं ।

(९) साधु—बहुत समय के दीक्षित साधु कहलाते हैं ।

(१०) मनोज्ञ—सुन्दर रूपलावण्य सहित—सर्वप्रिय सग्त मनोज्ञ कहलाते हैं ।

इस प्रकार इन दस प्रकार के साधुओं का रोगादि, जीत उपाणादि परीषद् आदि आने पर यथायोग्य सेवादि करना वैयावृत्ति तप है । अन्तरङ्गभक्ति, त्याग भावना होने पर ही यह तप होना संभव है । अतः यह भी अन्तरङ्ग तप है ।

(४) स्वाध्याय—पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना—१. वाचना २. पृच्छना ३. अनुप्रेक्षा ४. आम्नाय ५. धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं । इनका निरन्तर अभ्यास करना स्वाध्यायतप है ।

(५) व्युत्सर्ग—शरीर से ममत्त्व त्यागना व्युत्सर्गतप है ।

(६) ध्यान—आत्मस्वरूप का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना ध्यान है । अर्थात् एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान कहलाता है । ये छहों तप अन्तरङ्ग हैं । ये तप कर्म निर्जरा के हेतु

हैं। इनकी सिद्धि पाँचों इन्द्रियों के दमन करने से होती है। विषय-कषायों के त्याग से होती है। इस प्रकार बार-बार विचार करना निर्जराभावना है। ऐसा जिनदेव ने कहा है। जो भव्यात्मा सांसारिक विषय कषायों को त्याग आत्मकल्याण के मार्ग पर दृढ़ होकर चलते हैं वं हो धन्य है ॥६८, ६९॥

आगे लोक भावना का स्वरूप कहते हैं—

लोकोऽयं पुरुषाकारो वर्तते शाश्वतस्सदा ।

न केनाऽपि कृतश्चास्य हन्तानेव कदाचन ॥७०॥

सप्तरज्जुरधोभागे मध्ये रज्जुप्रमप्रथुः ।

ब्रह्मान्ते पञ्चरज्जुश्च मस्तके रज्जुमानभाक् ॥७१॥

पूर्वापर विभागेन भेदोऽयं समुदाहृतः ।

दक्षिणोत्तरयो रज्जु सप्तकसर्वतोमतः ॥७२॥

चतुर्दशभिरुत्सेधो रज्जुभिः परिकीर्तितः ।

षडभिः जीवादिभिः द्रव्यैः संभृतश्चाष्ट भूमिभाक् ॥७३॥

त्रिचत्वारिंशतासार्धं रज्जूनां च शतत्रयम् ।

घनाकारेण संज्ञेयश्चिभिः चातश्चवेष्टितः ॥७४॥

सप्तश्च भ्रेषु पापेन पच्यन्ते नारकास्सदा ।

सन्तिमध्ये मनुष्याद्याः स्वर्गेषु सुरसत्तमः ॥७५॥

मस्तकेतस्य तिष्ठन्ति सिद्धास्त्रलोक्य मङ्गलाः ।

दुष्टाष्टकर्मनिमुक्ता प्रसिद्धाष्ट गुणोज्ज्वलाः ॥७६॥

येषां स्मरणमात्रेण पाप सन्ताप सञ्चयः ।

तमो वा भास्करेणोर्ध्वः क्षयं यान्ति क्षणाद्धृतः ॥७७॥

प्रातः परमलोकश्च सर्वं शून्य स्वभायकः ।

अनन्तानन्तको वीरस्वामिना सम्प्रकीर्तितः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(सदा) सतत् (शाश्वतम्) निरस्थायी (अयम्) यह (लोकः) लोक (पुरुषाकारो) पुरुषाकार (वर्तते) रहता है (अस्य) इस लोक का (केनाऽपि) कोई भी (कृतः) करने वाला (न) नहीं (च) और (न) नहीं (एव) ही (कदाचन) कोई भी (हन्ता) नष्ट करने वाला है। यह (अधोभागे) अधोभाग में (सप्तरज्जुः) सात राजू है (मध्ये) मध्य

लोक में (रज्जुप्रमप्रथु) एक राजू प्रमाण चौड़ा (ब्रह्मान्ते) ब्रह्मलोक के अन्त में (पञ्चरज्जुः) पाँच राजू (च) ओर (मस्तके) अन्त में (रज्जुमानभाक्) एक राजू प्रमाण है (अयम्) यह (भेदः) मापभेद (पूर्वापर) पूर्व-पश्चिम (विभागेन) विभाग की अपेक्षा (समुदाहृतः) उद्धृत किया है (दक्षिणोत्तरापर) दक्षिण-उत्तर अपेक्षा (सर्वत्र) सर्वत्र (रज्जुसप्तकः) सात रज्जु प्रमाण (मतः) माना गया है (उत्तेश्वरः) ऊँचाई (चतुर्दशभिः) चौदह (रज्जुभिः) राजू (परिकीर्तितः) कहा गया है (अष्टभूमिभाक्) आठ भूमि वाला यह (च) और (षड्भिः) छह (जीवादिभिः) जीवादि (द्रव्यैः) द्रव्यों से (सम्भृतः) भरा हुआ (त्रिचत्वारिंशत्) तेतालीस (सार्द्धम्) सहित (शतत्रयम्) तीन सौ (रज्जुनाम्) राजू का (घनाकारेण) घनाकार रूप से (च) और (त्रिभिः) तीन (वार्तः) वायुओं से (वेष्टितः) घिरा हुआ (संज्ञेयः) जानना चाहिए (च) और (सप्तश्वभ्रेषु) सात नरकों में (नारकाः) नारकी जीव (सदा) हमेशा (पापेन) पाप द्वारा (पच्यन्ते) पकते हैं—दुःखी होते हैं (मध्य) मध्यलोक में (मनुष्याः) मनुष्य एवं तिर्यञ्च (स्वर्गेषु) स्वर्गों में (सुरसत्तमः) श्रेष्ठ देव (तस्य) उस लोक के (मस्तके) अग्रभाग पर (दुष्टाष्टकनिरमुक्ताः) दुष्ट आठ कर्मों से रहित (प्रसिद्धाष्टगुणोज्ज्वलाः) नित्य प्रसिद्ध आठ गुणों से शोभायमान (त्रैलोक्यमङ्गलाः) तीनों लोकों में मङ्गल स्वरूप (सिद्धाः) सिद्ध भगवान् (तिष्ठन्ति) निवास करते हैं (येषाम्) जिनके (स्मरणः) स्मरण मात्र से (पापसन्तापसञ्चयः) पाप और संताप का समूह (क्षणार्द्धतः) निमेष मात्र में (वा) जिस प्रकार (भास्करेण) सूर्य द्वारा (उच्चैः) घोर (तमः) अन्धकार (क्षयम्) नाश को प्राप्त (यान्ति) हो जाते हैं (अतःपरम्) इस लोक के बाहर (सर्वशून्यस्वभावकः) पूर्णशून्य स्वभाव वाला (च) और (अनन्तानन्तकः) अनन्त विस्तार वाला (अलोकः) अलोकालकाकाश (वीरस्वामिना) महावीर भगवान् द्वारा (सम्प्रकीर्तितः) सम्यक् निरूपण किया गया है ।

भावार्थ—लोक भावना में ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक का स्वरूप आकारादि का विचार करना चाहिए । यह लोक अधोभाग में पूर्व-पश्चिम में सात राजू चौड़ा है, कम होता हुआ मध्यलोक में एक राजू प्रमाण रह जाता है पुनः विस्तृत होता हुआ ब्रह्मलोक के अन्त में पाँच राजू हो गया है, पुनः घटकर लोकाग्र भाग में मात्र एक राजू रह गया है । मोटाई सर्वत्र सात राजू है । ऊँचाई चौदह राजू है । इस प्रकार इसका आकार पुरुषाकार हो जाता है । अर्थात् दोनों पाँच आजू-बाजू फैला कर, दोनों हाथों को मोड़ कर कटिप्रदेश पर रखे, इस प्रकार पुरुष का जो आकार-आकृति होगी वही तीन लोक का आकार जानना चाहिए । सर्वत्र यह घनाकार है । अतः ७ राजू चौड़ा, सर्वत्र ७ राजू मोटा और चौदह राजू ऊँचा है । अतः घनाकार $7 \times 7 \times 7 = 343$ राजू प्रमाण है । यह लोकस्वभाव सिद्ध है । अनादि अनिधन है । अकृत्रिम है । इसका न कोई कर्ता है और न कोई संहारक है । इसमें जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों द्रव्य भरे हैं । सर्वत्र इन द्रव्यों का वास है । अधोलोक में सात नरक भूमियाँ हैं । ये पापियों को पापकर्म का कटुफल भोगने को जेलखाने स्वरूप हैं । भयंकर दुःखों से व्याप्त हैं । पाप से जीव यहाँ-नरकों में पचते रहते हैं अर्थात् अनेकविध भोगण दुःख भोगते हैं । मध्यलोक में मनुष्य और तिर्यञ्चों का वास है । स्वर्गों में उत्तम देवगण अपने पुण्य के फल का उपभोग करते हैं । लोक शिखर पर अष्टकर्मों के नाश करने वाले सिद्ध परमात्मा

अनन्त सुख का अनुभव करते हुए अनन्तकाल निवास करते हैं । दुष्ट अष्टकर्मों के उच्छेद से परमोज्ज्वल आठ गुण प्रकट हो जाते हैं । उन सम्पत्ति, ज्ञान वंशण आदि गुणों के प्रकट हो जाने से सिद्धपरमात्मा परमानन्दस्वरूप विद्वत्तन्त्र में निमग्न रहते हैं । इसका स्मरण-ध्यान करने से पाप और संतापों का अनन्तपुञ्ज क्षणमात्र में उस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार घनघोर तमतोम रवि के उदय होने के साथ ही विलीन हो जाता है । इस लोकाकाश के परे बाहर सर्वत्र अलोकाकाश है वहाँ अनन्त शून्यस्वरूप आकाश ही आकाश है । इसका प्रमाण अनन्तानन्त हैं । इस प्रकार लोक और अलोक का विभाग कर उनका स्वरूप श्री जिनेन्द्र-सर्वज्ञ भगवान् वीर प्रभु ने निरूपित किया है । यद्यपि यह लोकालोक अनादि है अनन्तकाल से अनन्त तीर्थङ्करों ने इसी रूप में इसका स्वरूप वर्णन किया है परन्तु वर्तमान काल में श्री वीर भगवान् का शासन चल रहा है । इसी से वीर प्रभु ने बताया ऐसा कहा है । इस प्रकार लोक स्वरूप का वर्णन चिन्तन करना लोकभावना है । पृथक् पृथक् घनफल निकालने पर निम्न प्रकार होता है ।

अधोलोक का प्रमाण—

लोक के नीचे ७ राजू है : भूमि

ऊपर जाकर १ राजू है = मुख

“मुखभूमि जोगदलेपदगुणिजे” इत्यादि सूत्रानुसार— $7 + 1 = 8 \div 2 = 4$ पद दक्षिण उत्तर ७ राजू है सर्वत्र । अतः $4 \times 7 = 28$ व. रा. क्षेत्रफल हुआ । इसे अधोलोक की ऊँचाई ७ राजू से गुणा करना $= 28 \times 7 = 196$ घन राजू अधोलोक का घनफल हुआ ।

इसी नियम से इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक का घनफल निकालना चाहिए । ऊर्ध्वलोक के दो भाग हो जाते हैं । अतः प्रथम आधे ऊर्ध्वलोक का घनफल निकालना—

मुख—१ राजू

भूमि—५ राजू

$1 + 5 = 6 \div 2 = 3$ इसको पद ७ राजू से गुणा करो $3 \times 7 = 21$ वर्ग राजू क्षेत्रफल हुआ । ऊँचाई $3 \frac{1}{2}$ राजू है $\frac{7}{2}$ गुणना अर्थात् $21 \times \frac{7}{2} = \frac{147}{2}$ घन राजू इसको दूना करना $= \frac{147}{2} \times 2 = 147$ घन राजू ऊर्ध्व लोक का घनफल है । दोनों का योग 196 घ. रा. + 147 घ. रा. = 343 घन राजू हुआ ।

तीनों लोकों का विभाग द्वादशानुप्रेक्षा में निम्न प्रकार किया है—

मेरुस्स हिट्ठभाए सत्त वि रज्जु हवेड अह—लोओ ।

उड्ढम्मि-उड्ढ-लोओ मेरु समो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अर्थ—मेरुपर्वत के नीचे ७ राजू अधोलोक है । ऊपर अर्थात् मेरु के ऊपर ऊर्ध्व-

लोक है। मेरु प्रमाण अर्थात् १ लाख ४० योजन प्रमाण मध्यलोक है। सातवीं पृथ्वी के नीचे १ राजू में निगोब है।

मेरुपर्वत १००० योजन पृथ्वी के अन्दर है एवं ६६ हजार बाहर है तथा ४० योजन की चूलिका है। चूलिका के ऊपर एक बाल प्रमाण अन्तर छोड़कर सौधमें स्वर्ग है।

यहाँ प्रश्न होता है कि लोक की ऊँचाई १४ राजू है। उसमें से सात राजू प्रमाण अधोलोक बतलाया है और सात राजू प्रमाण ही ऊर्ध्वलोक बतलाया है, इस दशा में मध्यलोक की ऊँचाई १ लाख ४० योजन अधोलोक में सम्मिलित है या ऊर्ध्वलोक में अथवा दोनों से भिन्न है ?

इसका उत्तर निम्न प्रकार है—

मेरुपर्वत के तल से नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक है और तल से ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। अतः मध्यलोक की ऊँचाई ऊर्ध्वलोक में ही सम्मिलित है। सात राजू की तुलना में १ लाख ४० योजन प्रमाण तो पर्वत के सामने राई के बराबर है। अतः ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई १ लाख ४० योजन कम सात राजू है।

सम्पूर्ण लोक ३४३ व्रत राजू प्रमाण ५ प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीवों से सर्वत्र भरा है परन्तु व्रस जीव व्रसनाली के अन्दर ही होते हैं। व्रसनाली का आकार छाल लपेटी लकड़ी के समान बताया है। इसी में व्रस जीव रहते हैं।

यहाँ शङ्का—क्या व्रसनाली में सर्वत्र जीव रहते हैं ?

उत्तर—सामान्यापेक्षा यह कथन है। तिलोपपण्णत्ति में विशेष रूप से कथन किया है —

लोय बहुमञ्जु देसे तरुम्मि सारं व रज्जूपदर जुदा ।

तेरस रज्जूसेहा किचूणा होदि तसणाली ॥६॥ द्वि. अधि. ॥

अर्थ—वृक्ष में उसके सार की तरह लोक के ठोक मध्य एक राजू लम्बी एक राजू चौड़ी और कुछ कम १३ राजू ऊँची व्रसणाली है।

शङ्का—व्रसणाली को कुछ कम १३ राजू कैसे कहा ?

अर्थ—सातवीं पृथ्वी ८ हजार योजन मोटी है (त्रि. सा. गा. १७४) उसके ठोक मध्य में नारकियों के बिले बने हुए हैं। उन बिलों की मोटाई $\frac{४}{३}$ यो. है। इस मोटाई को समच्छेद कर पृथ्वी की मोटाई में से घटाने पर $\frac{२४०००}{३} - \frac{४}{३} = \frac{२३९९६}{३}$ योजन शेष बचा।

इसको आधा किया तो $\frac{२३९९६}{३} = २ = \frac{२३९९६}{३} \times \frac{१}{२} = \frac{११९९८}{३}$ योजन इसके कोष बनाना

$\frac{११६६८}{३} \times ४ = \frac{४७६६२}{३}$ कोश पुनः धनुष बनाना $\frac{४७६६२}{३} \times २००० = \frac{९५३२४०००}{३} =$
 $३१६६४००० \frac{२}{३}$ धनुष कम हुआ। यह अधोलोक सम्बन्धी हिसाब हुआ। अब ऊर्ध्वलोक के
 विषय में विचार करें। सर्वार्थसिद्धि विमान से ऊपर १२ योजन पर ईषत् प्राग्भार नाम की
 नवीं गृध्री है। यह ८ योजन मोटी है।

सर्वार्थसिद्धि के ऊपर १२ यो. है।

$१२ \times ४ = ४८$ कोश, $४८ \times २००० = ९६०००$ धनुष हुए।

८ योजन मोटी आठवीं भूमि है $= ८ \times ४ = ३२$ कोश $\times २००० = ६४०००$ धनुष
 पुनः धनोदधि वातवलय का बाहुल्य २० कोश $\times २००० = ४००००$ धनुष वनवातवलय का बाहुल्य
 है १ कोश $\times २००० = २०००$ धनुष तनुवातवलय का बाहुल्य १५७५ धनुष।

सबको धनुष जोड़ने पर $९६००० + ६४००० + ४००० + २००० + १५७५ =$
 १६७५७५ धनुष ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी।

अधोलोक सम्बन्धी $३१६६४००० \frac{२}{३}$ धनुष दोनों का योग $१६७५७५ +$
 $३१६६४००० \frac{२}{३} = ३२१६२२४१ \frac{२}{३}$ धनुष कम करने से शेष त्रसनाली में त्रसजीव रहते हैं
 इस प्रकार विवेचन करने पर $३२१६२२४१ \frac{२}{३}$ धनुष कम १३ राजू प्रमाण त्रसनाली में
 त्रसजीव रहते हैं।

इस प्रकार लोक स्वरूप का चिन्तन करना लोक भावना है ॥ ७० से ७८ ॥ अब
 बोधि दुर्लभ भावना का वर्णन सुनिये श्रीपाल भूपाल भा रहे हैं—



बोधि स्याद्दर्शनं ज्ञान चारित्र्यप्राप्तिरञ्जसा ।

सा दुर्लभाऽत्र संसारसागरे सरतां नृणाम् ॥७६॥

यथा चिन्तामणोः प्राप्तिश्शर्म सन्दोहदायिनी ।

मत्वेति च समाराध्यं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(दर्शनज्ञानचारित्र्यप्राप्तिः) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य का पाना
 (बोधिः) बोधि (स्यात्) है (अत्र) यहाँ (संसारे) संसार में (सरताम्) भ्रमण करते हुए
 (नृणाम्) मनुष्यों को (अञ्जसा) सहसा (सा) वह बोधि (दुर्लभा) कठिन साध्य है (यथा)
 जिस प्रकार (शर्मसन्दोहदायिनी) सुख समूह को देने वाली (चिन्तामणोः) चिन्तामणि रत्न
 का पाना (इति) इस प्रकार (मत्वा) समझकर (च) और (अखण्डितम्) अखण्ड (रत्नत्रयम्)
 रत्नत्रय (समाराध्यम्) आराधने योग्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार संसार में चिन्तामणि रत्न प्राप्त होना दुर्लभ है। उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करते हुए मनुष्यों को रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति महान कठिन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की प्राप्ति का नाम बोधि है। यह सहसा जीव को प्राप्त नहीं होता। महान प्रयत्नों से और अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होती है। अतः भव्यात्माओं को निरन्तर यथाशक्ति यथानुरूप उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए ॥७६८०॥

आगे अन्तिम धर्मभावना का विवेचन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि बैराग्य जाग्रत श्रीपाल विचारते हैं—

धर्मश्चापि जिनेन्द्राणां दुर्लभो भुवनत्रये ।

क्षमादि दशधा नित्यं सुरासुर समर्चितः ॥८१॥

योददात्पुत्तमं सौख्यं लोकद्वय हितंकरः ।

सोऽत्र भव्यैस्समाराध्यो भाविमुक्तिवधूवरैः ॥८२॥

रत्नत्रय भवेद्धर्मो धर्मोऽपि दशधा स्मृताः ।

धर्मो वस्तुस्वभावश्च जीवानां रक्षणं च सः ॥८३॥

अन्वयार्थ—(नित्यम्) निरन्तर (सुरासुरसमर्चितः) सुर और असुरों से पूज्य (दशधाः) दशप्रकार का (क्षमादि) उत्तम क्षमादि रूप (जिनेन्द्राणाम्) जिनेन्द्र कथित (धर्मः) धर्म (अपि) भी (भुवनत्रये) तीनों लोकों में (दुर्लभः) दुर्लभ है (यः) जो धर्म (लोकद्वयहितंकरः) उभय लोक में हितकारी (उत्तमम्) सर्वोत्तम (सौख्यम्) सुख को (ददाति) देता है (सः) वह धर्म (अत्र) संसार में (भाविमुक्तिवधूवरैः) भाविष्य में मुक्ति-रूपी वधू-कन्या को वरण करने वाले (भव्यैः) भव्य मनुष्यों द्वारा (समाराध्यः) आराधने योग्य है। (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय (धर्मः) धर्म (भवेत्) होता है, (दशधाः) दश प्रकार का (अपि) भी (धर्मः) धर्म (स्मृतः) स्मरणीय है, (च) और (वस्तुस्वभावः) वस्तु का स्वभाव (धर्मः) धर्म है (च) और (जीवानाम्) जीवों का (रक्षणम्) रक्षण करना (सः) वह भी धर्म है।

भावार्थ—जिस प्रकार बोधि का पाना अतिशय कठिन है उसी प्रकार उत्तमक्षमा, मादंश, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आक्रिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन उत्तम धर्मों का पाना भी दुस्साध्य है। यह धर्म देव असुर, नागेन्द्रादि से सतत पूज्यनीय, सेवनीय और आराधनीय है। उभय लोक में अर्थात् इस लोक में और परलोक में भी यह धर्म ही एक मात्र जीव को सुख-शान्ति देने वाला है। सर्वोत्तम-आत्मोत्थ मुक्ति सुख देने में यही-धर्म ही समर्थ है। तीनों लोकों में इसका पाना और पाकर तदनु रूप आचरण करना उत्तरात्तर दुर्लभतर है। भविष्य में जो भव्यात्मा पुरुष मुक्तिवधू को वरण करना चाहते हैं उन्हें सम्यक् प्रकार इस सच्चे धर्म की आराधना, उपासना और भक्ति करना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य धर्म है, उत्तम क्षमादि भेद से दश भेद वाला धर्म है, वस्तु का स्वभाव भी धर्म

है और प्राणियों का रक्षण करना धर्म है । ये सभी परिभाषाएँ आत्म-स्वभाव में ही अन्तर्गत हो जाती हैं । रत्नत्रय आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार उत्तम धर्मादि भी आत्मा के ही गुण हैं । जीवन रक्षण अहिंसा है और प्रमाद रहित आत्मा ही प्राणिबध से रहित होता है इसलिए "अत्तामेव अहिंसा" कहा है । इससे जीवानां रक्षण यह भी आत्म-स्वभाव ही हुआ । इससे सिद्ध होता है कि ये सभी परिभाषाएँ आत्म-स्वभाव के ही द्योतक हैं । इस प्रकार धर्म स्वरूप का चिन्तन करना धर्म भावना है ॥८१-८२-८३॥ और भी संसार शरीर भोगों की निस्सारता का विचार करता है जानी—

यावदायुः क्षयं नागादिन्द्रियाणि पटु न भो ।

जरा न ग्रसते कालं सोद्यमोस्ति शुभामतिः ॥ ८४ ॥

तावन्मोहभटं हृत्वा त्रैलोक्यजयिनं खलम् ।

दक्षैर्वैराग्य खड्गेन दीक्षादेया यमापहा ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक (आयुः) आयुष्य (क्षयम्) नाश को (न आगात्) प्राप्त न हो (इन्द्रियाणि) पाँचों इन्द्रियाँ (पटुः) अपने-अपने विषय में दक्ष-समर्थ हैं (जरा) वृद्धावस्था (न) नहीं हुयी (कालम्) मृत्यु (नग्रसते) नहीं निगलती (भो) हे आत्मन् ! (तावत्) तब तक (त्रैलोक्य-जयिनम्) तीनों लोकों को जीतने वाले (खलम्) दुष्ट (मोहम्) मोह रूपी (भटम्) सुभट को (दक्षैः) भेद विज्ञानी जनों द्वारा (वैराग्य खड्गेन) वैराग्य रूपी तलवार से (हृत्वा) नाशकर (सोद्यमः) उद्यमपूर्वक (शुभमतिः) सम्यग्ज्ञानी पुरुष को (यमापहा) यमराज नाशक (दीक्षा) देवम्बरी दीक्षा (आदेया) ग्रहण करना अर्थात् दीक्षा ग्रहण करना योग्य (अस्ति) है ।

साम्बार्थ जब तक आयु पूर्ण न हो, इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हैं, जरा-वृद्धावस्था रूपी-डायन जब तक अर्जरित नहीं बनाती, यह निर्दयी काल नहीं निगलता, तब तक उद्यमशील शुभमति-सम्यग्ज्ञानी पुरुष को मोह रूपी महासुभट को मारने का सत्प्रयत्न करना चाहिए । यह मोहभट महादुर्जेय है । तीनों लोक इसने अपने वशी बना रखे हैं । अतएव चतुर पुरुष को वैराग्य रूपी खड्ग से मोह जत्रु के नाश के लिए जैनेश्वरी दीक्षा धारण करना चाहिए । तथा—

देहोऽयं शस्यते क्वाहो सप्तधातुमयोऽशुभः ।

रोगोरग निवासोऽत्र सर्वदुःख निबन्धनः ॥ ८६ ॥

क्षुत्तृड्ढक् काम कोपाग्नयो ज्वलन्ति निरन्तरम् ।

यत्रकायकुटीरेऽस्मिंस्तत्र कः स्थातुमिच्छति ॥ ८७ ॥

जात्वाऽग्नेदशविधंकायं तन्ममत्वं विहाय भो ।

कुर्वन्ति सत्तपोदक्षाः अकायपद सिद्धये ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य ! (अयम्) यह (देहः) शरीर (सप्तधातुमयः) सात धातुओं से निर्मित (अणुभः) अणुभ रूप (रोगोरगनिवासः) रोगरूपी सर्पों का वासस्थान-घर (अत्र) संसार में (सर्वदुःखनिबन्धनः) समस्त दुःखों का बीज इसे (क्व) किस प्रकार (शस्यते) प्रशंसा योग्य कहा जाये ? यह निश्च है (यत्र) जहाँ (काय कुटीरे) इस शरीर रूपी कुटी में (क्षुत्तृड्कृक्कामकोपाग्नयो) भूख, प्यास, राग, विषय-वासना, क्रोधादिकषायें रूप अग्नियाँ (निरन्तरम्) सतत (ज्वलन्ति) जला रही हैं (अस्मिन्) इस (कायकुटीरे) शरीर रूपी भोंपड़ी में (तत्र) वहाँ (स्थातुम्) ठहरने को (कः) कौन (इच्छति) चाहता है ? कोई नहीं (इदंशत्रिधम्) इस प्रकार स्वभावी (कायम्) शरीर को (ज्ञात्वा) जानकर (वक्षः) चतुर पुरुष (भो) हे आत्मन् (अत्र) इस शरीर में (ममत्वम्) ममकार बुद्धि को (विहाय) छोड़कर (अकायपदसिद्धये) शरीर रहित पद सिद्धि के लिए (सत्तपः) सम्यक् तप (कुर्यन्ति) करते हैं ।

भावार्थ—शरीर वैराग्य को सुदृढ बनाने के लिए अशुचिकर दुर्जन शरीर का स्वरूप विचारना आवश्यक है । यह शरीर अतिजय अपावन है क्योंकि इसकी रचना अपवित्र सात धातुओं से हुयी है । रोग रूपी व्याधियों (सर्पों) की यह घासी-घर है । एक आंख के जितने स्थान में ६६ बें रोग हैं । पूरे शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निम्नानवें हजार पाँच सँ चौरासी (५६८६६५८४) रोग शरीर में होते हैं । सारा शरीर चलनी के छेदों समान रोगों के घरों से भरा है । संसार में जितने इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग जन्य दुःख हैं उन सबका हेतु-कारण यह शरीर ही है । इस प्रकार के निवृष्ट शरीर को कौन प्रशंसा करेगा ? अर्थात् कोई भी सत्पुरुष इसे अच्छा नहीं कह सकता । प्रीति भी नहीं कर सकता । यही नहीं पुरानी भोंपड़ी है शरीर । इसमें चारों ओर क्षुधा (भूख) तथा (प्यास) रोग-पीड़ा, आदि, व्याधि संताप, विषयवासना, क्रोध, मानादि अग्नियाँ निरन्तर धाँध धाँध जला रही हैं ऐसी ज्वालाओं के मध्य भला कौन विवेकी ठहरना चाहेगा ? अर्थात् एक क्षणमात्र भी स्थित रहना नहीं चाहेगा । इस प्रकार संसार भीरु विवेकशील पुरुष शरीर के स्वभाव को पहिचान कर समझ कर इससे मोह ममता छोड़कर कायरहित-अशरीरी सिद्धपद पाने के लिए कठोर, उत्तम सम्यक् तप तपते हैं । अर्थात् निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर आत्मशुद्धि का प्रयत्न करते हैं सिद्ध होने का उपाय करते हैं ॥८६ से ८८॥

आमे भोग्य—भोग वैराग्य की वृद्ध्यर्थ असार भोगों का चिन्तन करते हैं—

कामज्वरप्रकोपोत्थ ये भोगाः पापवर्तिनः

वपुः कदर्थिनाज्जाता धीमांस्तान्कस्समीहते ॥८९॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (भोगाः) भोग (कामज्वरप्रकोपोत्थ) कामरूपी ज्वर की दाह-वेदनारूप क्रोध से उत्पन्न हैं । (पापवर्तिनः) पाप में परवर्तन कराने वाले (वपुः) शरीर (कदर्थिनात्) मथन-पीड़ा से (जाताः) उत्पन्न होते हैं (तान्) उन वीभत्स दुःखदायी भोगों को (कः) कौन (धीमान्) बुद्धिमान (समीहते) चाहता है ?

भावार्थ भोगों की उत्पत्ति का कारण काम है । कामज्वर है । इसकी वेदना के

प्रतिकाररूप में भोगेच्छा जागृत होती है, पापवर्द्धन की कारण है, इसके उपशमन को उत्पन्न भोग चाह की दाह पैदा करते हैं। शरीर पीड़न से ये उत्पन्न होते हैं। भला ये भोग कभी सुखदाता हो सकते हैं ? कभी नहीं। फिर भला ऐसे अधिर, कष्टदायी भोगों-को कौन बुद्धिमान आकांक्षा करेगा ? कोई नहीं। कहा भी है “भोग दुरे भव रोग बढावें, बैरी हैं जग जीके। बेरस होय विपाक समय अति सेवत लागें नीके ॥” अर्थात् भोग मयङ्कुर शत्रु हैं, संसार रोग बढाने वाले हैं, देखने में भी जुगुप्सा के कारण हैं। यह भोग भोगते समय इन्द्रायण फलके सदृश रम्य प्रतीत होते हैं किन्तु विपाक समय—फलकाल में सब प्राणहारा, नीरस हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ठगने वाले इन आत्मघातक वञ्चकों को कौन विवेकी चाहेगा ? अर्थात् जानी-जन इन्हें दूर ही से त्याग देते हैं। वस्तुतः ये सर्वथा त्याज्य ही हैं ॥८६॥

और भी कहते हैं —

यंभोगवस्तुभिर्भुवतेस्तृप्तिर्नात्मैति जातु भो ।

वर्धतेऽस्यातितरां तृष्णा किं साध्यन्ते सतामिह ॥८७॥

विज्ञायेति द्रुतं त्यक्त्वा भोगान् शत्रूनिवाखिलान् ।

भार्यादि वस्तुभिस्सार्धं गृह्णन्ति संयमं बुधाः ॥८८॥

इत्यादि चिन्तनादाप्य वैराग्यं द्विगुणं नृपः ।

त्यक्तुं राज्यादिलक्ष्मीं चादातुं संयममुद्ययो ॥८९॥

अन्वयार्थ — (यैः) जिन (भोगवस्तुभिः) भोग सामग्रियों से (भुवतेः) भोगने से (आत्मा) पुरुष (जातु) कभी भी (तृप्तिः) सन्तोष (न) नहीं (ऐति) पाता है (भौ) हे जीव ! इसके विपरीत (अतितराम्) अत्यन्त (अस्य) इस जीव के (तृष्णा) लोलुपता (वर्धते) बढ़ती है (सताम्) सज्जन (इह) संसार में (किम्) क्या (साध्यन्ते) सिद्ध करते हैं ? कुछ नहीं (इति) इस प्रकार (विज्ञायः) ज्ञातकर (शत्रून्) शत्रु (इव) समान (अखिलान्) समस्त (भोगान्) भोगों को (भार्यादि वस्तुभिः) स्त्री आदि वस्तुओं के (सार्धम्) साथ (द्रुतम्) शीघ्र ही (त्यक्त्वा) छोड़कर (बुधाः) विद्वान्जन (संयमम्) संयम (गृह्णन्ति) धारण करते हैं। (इत्यादि) उपर्युक्त प्रकार (चिन्तनात्) चिन्तन करने से (नृपः) नृपति श्रीपाल (द्विगुणम्) दूना (वैराग्यम्) वैराग्य (आग्य) प्राप्त कर (राज्यादिलक्ष्मीं) राज-वैभवादि को (त्यक्तुम्) छोड़ने (च) और (संयमम्) संयम को (आदातुम्) ग्रहण करने को (उद्ययो) उद्यत हुए। सन्नद्ध हुए।

भावार्थ—उत्तमोत्तम, रमणीय कहे जाने वाले भोगों को बार-बार भोग लेने पर भी मानव की कभी भी किसी प्रकार तृप्ति नहीं होती, संतोष की छाया भी नहीं पा सकता अपितु उत्तरोत्तर तृष्णा ही बढ़ती जाती है। भला उन निस्सार भोगों से सत्पुरुष क्या सिद्ध करते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं। उन्हें सारविहीन और दुःखदायक समझ कर सर्वथा छोड़ ही देते हैं, ये त्याज्य और हेय ही हैं। इस प्रकार सम्यक् ज्ञातकर प्रबल शत्रु समान जान कर इन घातक

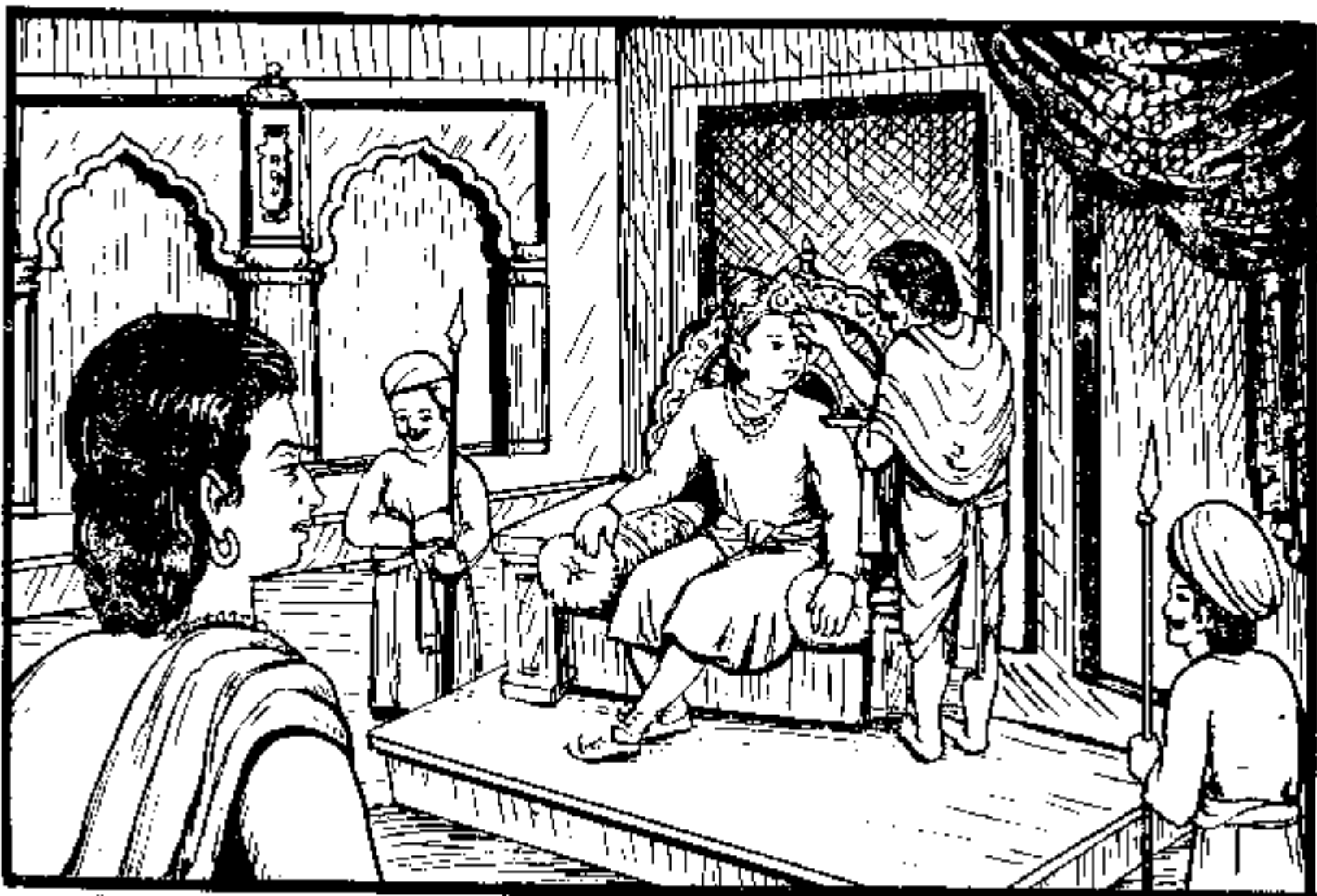
भोगों को विजानी महापुरुष स्त्री, पुत्र, परिवार के साथ-साथ अतिशीघ्र त्याग कर उत्तम हितकारी संयम को ग्रहण करते हैं। अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों को आमूलचूल त्याग परमपावन वीक्षा धारण करते हैं। इस प्रकार तुच्छ भोगों का बार-बार चिन्तन करते हुए महाराज श्रीपाल का वैराग्य दिगुणित हो गया। सोचते-सोचते वह राज्य सम्पदा का सर्वथा त्यागकर संयम धारण करने को पूर्ण सन्नद्ध-कटिवद्ध हो गया। दृढ़ निश्चय राजा आत्म-कल्याण में तत्पर हुआ ॥ ६०-६१-६२ ॥

ततो दत्त्वा महीपालः तुजे राज्यं श्रियासमम् ।

जगाम तपसे भूपसुव्रताचार्य सन्निधिम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(ततो) शिपकव वैराग्य होने पर (श्रियासमम्) लक्ष्मी के साथ (राज्यम्) राज्य को (महीपालतुजे) महीपाल पुत्र को (दत्त्वा) देकर (भूपः) श्रीपाल राजा (तपसे) तपश्चरण करने के लिए (सुव्रताचार्यसन्निधिम्) श्री १०८ सुव्रत आचार्य श्री के सान्निध्य में (जगाम) चला गया।

भावार्थ—द्वादश भावनाओं का चिन्तन कर, संसार, शरीर और भोगों को ग्रसारी को ज्ञात कर राजा श्रीपाल का वैराग्य अन्तिम सीमा को प्राप्त हो गया। उसी समय



उसने अपना समस्त राज्य वैभव, सम्पदा का भार अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र महीपाल को प्रदान कर दिया । स्वयं विनिरूप होकर श्री १०८ सुव्रताचार्य श्री सुव्रत स्वामी के सान्निध्य में संयम लेकर तपश्चरण करने को जा पहुँचा । वस्तुतः वैराग्य ही अभय है । महामण्डलेश्वर राज्य वैभव को तृणवत् छोड़कर दुर्द्धर तप की शरण में आ गया ॥६३॥

प्रणम्य तं गुरुं भक्त्याऽशिव ध्वस्तं जगद्धितम् ।

त्यक्त्वा बाह्याभ्यन्तरान् सङ्गान् त्रिशुद्ध्या शिवसिद्धये ॥६४॥

जग्राह परमां दीक्षां बहुभिर्भूमिपैस्समम् ।

संवेग धारिभिर्दक्षैस्स श्रीपालनरेश्वरः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(अशिवध्वस्तम्) संसार के नाशक (जगद्धितम्) जग का हित करने वाले (तम्) उस-उन (गुरुम्) गुरु श्री १०८ सुव्रताचार्य को (भक्त्या) भक्तिभाव से (प्रणम्य) नमस्कार करके (त्रिशुद्ध्या) मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक (बाह्याभ्यन्तरान्) बाह्य और आभ्यन्तर (सङ्गान्) परिग्रहों को (त्यक्त्वा) छोड़कर (संवेगधारिनिर्दक्षैः) वैराग्य धारण करने में चतुर-संसारभीत (बहुभिः) बहुत से (भूमिपैः) राजाओं के (समम्) साथ (शिव-सिद्धये) मुक्ति की सिद्धि के लिए (श्रीपालनरेश्वरः) श्रीपाल भूपेन्द्र ने (परमाम्) परमो-ज्ज्वल उत्तम (दीक्षाम्) वीतराग, भगवती दीक्षा (जग्राह) धारण की ।

भावार्थ—महामण्डलेश्वर पृथिवीपति राजा श्रीपाल राज्यकार्य का भार पुत्र को समर्पण कर निराकुल हो गये । वे उद्यान में विराजे श्री १०८ सुव्रताचार्य श्री के पदपङ्क्तियों में अमरवत् जा पहुँचे । वे आचार्य परमेष्ठी समस्त सांसारिक अकल्याणों को विध्वंस करने में तत्पर थे, समस्त संसार का हित चाहने वाले समदर्शी थे । महान वीतरागी परमगुरु का सान्निध्य प्राप्त कर संवेग और वैराग्य से ओत-प्रोत श्रीपाल महाराज हर्ष से विभोर हो गये । परमभक्ति से सविनय नमस्कार कर उनकी चरणरज मस्तक चढ़ायी । तदनन्तर १० प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग किया । वे परिग्रह हैं—धन, धान्य, दासी-दास, क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, कुप्य-भाण्ड । इनके साथ ही अन्तरङ्ग परिग्रह, मिथ्यात्व, (राग-द्वेष) कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवैद, पुरुषवैद और नपुंसक वैद । तीनों वैद एक साथ ग्रहण करने पर राग-द्वेष दो भेद ग्रहण करना चाहिए अन्यथा उन्हें मिथ्यात्व में ही समाहित समझना इस प्रकार १० बाह्य और १० अन्तरङ्ग कुल २० प्रकार के अशेष परिग्रह का नव कोटि-मन, वचन, काय - कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग कर दिया । संसार से भयभीत-संवेग युक्त, वैराग्यभाव परिणत अनेकों भूपों के साथ आत्मसिद्धि के लिए अर्थात् शिव की प्राप्ति के अर्थ परम त्रिशुद्ध परमेश्वरी दीक्षा धारण की । पूर्ण संयमी वन दिगम्बर भेषधारी हो गये ॥६४-६५॥

राश्यो मदनसुन्दर्याद्याभव्योः भूभुजा सप्तम् ।

एक शार्ङ्गं बिना संगोस्त्यक्त्वादुस्तपोद्भुतम् ॥६६॥

अनुशीला महासती मदनसुन्दरी आदि रानियों ने भी दीक्षा धारण की ।

अन्वयार्थ—(भव्यो) भव्यात्मा (राग्यो) रानियाँ (मदनसुन्दर्याद्या) मदनसुन्दरी, मदनमञ्जूषा गुणमाला आदि ने भी (एकशाटीम्) एकमात्र साडी के (विना) बिना शेष (सङ्गान्) परिग्रहों को (त्यक्त्वा) छोड़कर (अद्भुतम्) आश्चर्यकारी (तपः) तपश्चरण (भूभुजा) राजा के (समम्) साथ (आदितुः) धारण किया ।

भावार्थ—पतिदेव के सकल संयमी होने पर अर्थात् दिगम्बर दीक्षा धारण करने पर उनको परमप्रिया, भोगलालिता ललनाओं ने भी एक साडी मात्र परिग्रह रख समस्त बाह्या-



भ्यन्तर परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर आर्यिका दीक्षा धारण की । पतिपथ का अनुकरण कर भारतीय वीराङ्गनाओं ने धर्मध्वजा के साथ आत्मकल्याण की ध्वजा को फहराया । आदर्श महिलास्त्रियों का यही धर्म है जितनी भोग के क्षेत्र में सुकुमारी, कोमलाङ्गी होती हैं उतनी ही संयम के पथ पर कठोर भी । अतः अद्भुत तप धारण कर श्रमणी हो गईं ॥६६॥

सत्यं विवाकराणामा प्रभातस्थ्यापि नित्यशः ।

किं त्यजन्ति न लोकेस्मिन् भव्याश्चासन्नमूर्तयः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(सत्यम्) सत्य ही (दिवाकराणाम्) सूर्यों की (प्रभा) कान्ति (नत्यशः) सतत (तस्थ्यापि) उसी में ही रहती है उसी प्रकार (अस्मिन्लोके) इस संसार में (आसन्नभवामूर्तयः) निकट भव्यजन (किम्) क्या (त्यज्यन्ति) स्वस्वभाव छोड़ते हैं। (न) नहीं त्यागते।

सावार्थ—ठीक ही है। आचार्य कहते हैं कि सूर्य निरन्तर ही अपनी प्रभा को अपने ही में समेट कर रखता है। कभी नहीं छोड़ता उसी प्रकार आसन्नभव्य मानव अपने भव्यत्व-स्वभाव को क्या त्याग सकते हैं? नहीं। महारानियाँ जिस प्रकार राज्यावस्था में राजा के साथ भोगों में साथ-साथ रहीं उसी प्रकार इस समय वैराग्य पथ पर आने पर भी उसी का अनुशरण कर प्रवज्या से विभूषित हो तपश्चरण में लीन हो गई। भला भव्यजन अपना स्वभाव क्यों तजे? अर्थात् निरन्तर निजस्वभाव में ही रहते हैं ॥६७॥

कुर्वस्तपश्चरं कालं श्रीपालो मुनिसत्तमः ।

यथा राज्यं कृतं पूर्वं मुक्तिराज्यं कृतोद्यमः ॥६८॥

साररत्नत्रयं धृत्वा शक्तियञ्जानुत्तरम् ।

मोहारातिं निराकर्तुं स स्वामी सुभटो यथा ॥६९॥

धर्मध्यानं चतुर्भेदं महासैन्यं चकार च ।

पक्षमासोपवासादि तपन्नाह्वमुदह्न ॥७०॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (पूर्वं) पहले गृहस्थावस्था में (राज्यम्) राज्य शासन (कृतम्) किया था उसी प्रकार (मुक्तिराज्यम्) मोक्षरूपी राज्य को (कृतोद्यमः) करने में उद्यमशील हो (श्रीपालः) श्रीपाल (मुनिसत्तमः) मुनिपुङ्गव (चिरंकालम्) बहुत काल (तपः) तपश्चरण (कुर्वन्) करते हुए (हि) निश्चय से (यत्र) जिसमें (अनुत्तरम-शक्तिः) अलौकिक शक्ति है उस (साररत्नत्रयम्) सारभूतरत्नत्रय को (धृत्वा) धारण कर (सः) उस श्रीपाल स्वामी मुनिराज ने (मोहारातिम्) मोह शत्रु को (निराकर्तुम्) नाश करने के लिए (च) और (पक्षमासोपवासादितपन्) पन्द्रह व एकमास के उपवासों को करते हुए तपोजन्म (आह्वम्) संग्रामभूमि को (उदहन्) वहन करते हुए (चतुर्विधम्) चार प्रकार धर्मध्यानम्) धर्मध्यान रूप (महासैन्यम्) विशाल सेना को (चकार) तैयार की (सुभटो यथा) एक महावीर योद्धा के समान (महासैन्यम्) बृहद् सेना (चकार) तैयार की।

सावार्थ—परमपावन जिनदीक्षा धारण कर अब श्रीपाल कोटिभट महामुनीश्वर हो गये। जिस प्रकार श्रावक अवस्था में राज्य शासन की व्यवस्थापूर्ण-वीरता और न्याय से बी थी उसी प्रकार अब मोक्षराजधानी के शासक बनने को भी उद्यमशील हो धीरे तप तपने लगे। पक्षोप-वास, मासोपवादि कर घोर तप में संलग्न हुए। जिस प्रकार समराङ्गण में एक शूरवीर विशाल सेना लेकर सन्नद्ध हो युद्ध करता है शत्रु को परास्त करता है उसी प्रकार मोक्षरूपी सेना को परास्त करने के लिए ये मुनिपुङ्गव तपश्चरणरूप संग्रामभूमि में चार प्रकार के धर्मध्यानमयी

पताकिनी सेना तैयार की। जिसमें अलौकिक शक्ति है ऐसे रत्नत्रय कवच को धारण किया। वे पूर्ण दलबल के साथ कर्मरातियों से युद्ध करने लगे। लोकोत्तर राज्य करने के अभिलाषी वे धीर-वीर मुनि आत्मशक्ति को विकसित करने में पूर्ण सन्नद्ध हुए ॥१६८ से १००॥

त्रिकाल योगमालम्ब्य महामन्त्राणुगो महान् ।

संजातः स्व-परोत्पत्तः दयादत्तिविशारदः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(महान्) महात्मा श्रीपाल मुनि (त्रिकालयोगम्) तीनों ऋतुओं के योग को (मालम्ब्य) धारण कर (महामन्त्राणुगः) महामन्त्र णमोकार का अनुचिन्तन करने वाला (व्यक्तः) प्रत्यक्ष रूप से (स्व परः) अपने और पर के प्रति (दयादत्तिविशारदः) दयादान दाता (संजातः) हुआ।

भावार्थ—श्रीपाल महामुनिराज धीर तपारूढ हो गये। वर्षाऋतु में वृक्ष मूल योग धारण करते, शरदऋतु में शुभ्रावकाश योग अर्थात् खुले चौपट-स्थान में खुले-निर्मल आकाश तले ध्यान लगाते, गरमों में पर्वतीय चट्टानों पर सूर्य की ओर मुख का आतापनयोग धारण कर आत्मध्यान करने में तल्लीन होते। इस प्रकार तीनों कालों में स्थिर हो एकाग्रचित्त से दुर्द्धर तप तपते थे। स्पष्ट प्रतीत होता था कि बाह्य क्रियाओं-आवागमन अधिक का त्याग कर वे जीवसंघात का त्याग कर दिये और आत्मलीनता से विषय-कषायों से आत्मा की रक्षा कर रहे थे। अर्थात् स्व अपनी दया और परजीवों को भी दया में तत्पर हुए। निश्चय ही जो अपने पर दया करता है वह पर का रक्षक होता ही है। वे निरन्तर महामन्त्र णमोकार का अनुसरण करते थे। अर्थात् स्वशुद्ध स्वभाव से च्युत होने पर पञ्चपरमेष्ठी स्वरूप चिन्तन में आरूढ हो जाते। दुर्धर्मा उनसे दूर भाग चुके थे। शुभध्यान में ही सतत प्रवृत्त हो रहे थे ॥१०१॥

महाव्रतानि पञ्चोच्चैः कृत्वा सामन्तसत्तमान् ।

विधाय समितीः पञ्च सज्जनानां च सङ्गतिम् ॥१०२॥

पञ्चेन्द्रिय मनोऽन्तस्थ वैरि षड्वर्गसञ्चयम् ।

तिष्ठोगुप्तीः सुगुप्तीश्च स चक्रे मुनिपुङ्गवः ॥१०३॥

षडावश्यक कृद्कर्म, वस्त्रं हृदं यतीश्वरः ।

परमागम शस्त्रोद्यमलसन् कर्मशत्रुके ॥१०४॥

तथा लोचमचेलत्वमस्नानं भूमिनिद्रया ।

अदन्तधावनं नाम स्थिति भोजनमेककः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(सः) वह श्रीपाल (मुनिपुङ्गवः) मुनि श्रेष्ठ ने (पञ्च) पाँच (महाव्रतानि) महाव्रतरूपी (सामान्तसत्तमान्) उत्तम सामन्तों को (उच्चैः) पूर्णरूप से (कृत्वा)

धारण कर, (पञ्च) पाँच (समितिः) समितियाँ रूपी (सज्जनानाम्) सत्पुरुषों की (सङ्गतिम्) सङ्गति, मित्रता (विधाय) करके (च) और (पञ्चेन्द्रियमनः) पाँचों इन्द्रियों और मन इन (वैरिपद्वर्गक्षयम्) छह वैरियों के समूह को (अन्तस्थ) वशीकर (च) और (तिस्रो गुप्तीः) तीनों गुप्तियों को (सुगुप्तीः) सम्यक्प्रकार गुप्त कर (षडावश्यककृतकर्म) छह आवश्यक कृत कर्मों रूप (वस्त्रम्) वस्त्र को (दृढम्) मजबूत (कृत्वा) करके (यतीश्वरः) उनयतीपुङ्गव ने (सत्सन्) प्रधानभाग (कर्माण्युक्तेः) कार्यरूपी शत्रु के विनाश के लिए (परमागमशस्त्रौघ) परमागमकथित शस्त्र समूह को (तथा) एवं (लोचम्) केशोत्पादन (अचेलत्वम्) वस्त्रत्याग (अस्नानम्) स्नानत्याग (भूमिशयनम्) भू शयन (अदन्तधावनम्) दातुन नहीं करना (स्थितिभोजनम्) एक जगह खड़े हो आहार लेना (तथैव) उसी प्रकार (एककः नाम) एक ही बार भोजन आहार लेना इन शस्त्रों को (चक्रं) तैयार किया ।

भावार्थ उन मुनि पुङ्गव श्रीपाल महाराज ने अपने अनादिकाल से पीछे लगे कर्म-शत्रु को आमूल नाश करने का दृढ़ निश्चय किया । संयमरूपी संग्रामभूमि में युद्ध करने के लिए उन्होंने अठ्ठाईस (२८) मूलगुणों को सुदृढ़ सेना और शस्त्र तैयार किये । विजय का इच्छक सुभट आश्वस्य का त्याग कर सतत सावधानी से शत्रु पर बार बार अपनी रक्षा करता हुआ उसे परास्त कराता है । इसी प्रकार श्री १०८ श्रीपाल यतीश्वर जी ने प्रमाद का त्यागकर आगमानुसार अपनी सेना और शस्त्र एवं कवच तैयार किये । उन्होंने महान्, श्रेष्ठतम, सुदृढ़-सुभट स्वरूप पञ्चमहाव्रत रूपी सामन्तों को तैयार किया । पाँच समितियाँ—१ ईर्ष्यासमिति (चार हाथ आगे देखकर जीवरक्षा करते हुए साधारण गमन करना २. भाषा—(प्रिय, हित, मित वचन बोलना) ३. एषणा (छियालीस दोष टाल कर शुद्धकुल में यथाविधि आहार करना) ४. आदाननिक्षेपण समिति (भूमि और वस्तु को देख शोभकर रखना या उठाना—पिच्छिका से परिमार्जन कर धरना-लेना) ५. व्युत्सर्ग (निष्छिद्र, जीव जन्तु रहित, प्रकाशयुक्त, भूमि में मल मूत्रादि क्षेपण करना) । इन पाँच समितियों को साथी बनाया । अर्थात् इनकी सङ्गति की । सज्जन की सङ्गति से दुस्साध्य भी कार्य सुसाध्य हो जाते हैं । अतः समितिरूपी सज्जनों का साथ लिया । राज्य के षड्वर्ग शत्रु होते हैं उसी प्रकार मुक्तिराज्य भी छह शत्रु हैं ५. इन्द्रियाँ और ६. मन । उन श्रीपाल मुनीश्वर ने इन छहों शत्रुओं का पूर्णतः दमन किया अपने आधीन कर लिया । तीनों-मन, वचन, काय को सम्यक् प्रकार वश कर तीनगुप्तियों को प्राप्त किया । षडावश्यक क्रियारूपी शस्त्र धारण किये । पाँच महाव्रत, पाँचसमिति और तीनगुप्ति ये कृतिकर्म कहलाते हैं इनको धारण पालन और संयमन किया । तथा शेषगुण १. लौच करना—(अपने हाथों से मस्तक के केश, दाढ़ी-मूँछ के केशों को उखाड़ना) २. अचेलत्व—(वस्त्रमात्र का सर्वथा त्याग—नग्न रहना) ३. अस्नान (स्नान नहीं करना) ४. भूमिशयन (पिछली रात्रि में एक ही करबट से भूमि में सोना) ५. अदन्तधावन—(दातुन नहीं करना-दन्त धावन नहीं करना) ६. स्थितिभोजन—(एक ही स्थान पर खड़े होकर आहार ग्रहण करना) ७. एक भुक्तिदिन (एक ही बार निरन्तराय आहार ग्रहण करना) । इस प्रकार परमागम में कर्मसंहार के लिए ये २८ मूलगुण ही परमपैने शस्त्रसमूह कहे गये हैं । इन मुनिराज ने इनको प्रमाद रहित होकर तत्परता से सज्चित किया और पूर्ण वीरत्व के साथ कर्मशत्रुओं का संहार करने लगे । १०२ से १०५॥

सर्वान् शीलगुणान्धुच्चं परीषहजयैस्सह ।

महासुभट सन्दोहान् विधाय विधि पूर्वकम् ॥१०६॥

महासत्त्वगजारूढः सत्त्वमतिपधारणः ।

सद्यशश्चामरोपेतो विजयी दोष सञ्चये ॥१०७॥

सम्यक्त्वघातिघातसप्त प्रकृतिः प्रकृतीरिव ।

आयुस्त्रयेणसंयुक्ता मिथ्यात्वादिक संज्ञकाः ॥१०८॥

विनिजित्य महाशूर सत्तमोमुनिनायकः ।

क्षपक श्रेणिमारूढो मुक्तेश्च श्रेणिकामिव ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(उच्चः) महा (परीषहजयैः) परीषहों के जय के (सह) साथ (सर्वान्) सम्पूर्ण (शीलगुणानि) शीलगुणों रूपी (महासुभटसन्दोहान्) महासुभट समूहों को (विधि-पूर्वकम्) विधिवत् (विधाय) धारण कर अर्थात् प्राप्तकर (महासत्त्वगजारूढः) विशिष्टधर्म रूपी गज पर सवार हुआ (सत्त्वमतिपधारणः) उत्तमसम्यक् धर्मरूपी छाता लगाये (सद्यशश्चामरोपेतः) निष्कलङ्क यशस्व चामरों से युत (दोषसञ्चये) दोषसमूह को (विजयी) विजय करने वाला (प्रकृतिः) स्वभाव से (इव) ही (आयुस्त्रयेण) आयु तीन के (संयुक्ता) सहित (मिथ्यात्वादिसंज्ञकाः) मिथ्यात्व आदि नाम वाली (सम्यक्त्वघातिघातः) सम्यग्दर्शन की घातक (सप्तप्रकृतिः) सात प्रकृतियों को (विनिजित्य) पूर्णतः जीतकर (महाशूरसत्तमः) महान वीर (मुनिनायकः) मुनियों के अधिपति ने (मुक्तैः) मोक्ष की (श्रेणिकामिव) नसेनी के समान (क्षपकश्रेणिमारूढः) क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया ।

भावार्थ—उन वीरातिवीर उग्रेश तपस्वी श्रीपाल महामुनिराज ने बाईसपरीषहों—
१. क्षुधा २. तृषा, ३. शीत ४. उष्ण ५. डंसमशक ६. नग्न ७. अरति ८. स्त्रीपरीषह ९. चर्या १०. शैया ११. आसन १२. आक्रोश, १३. बध, १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. मल १९. सत्कार—पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान और अदर्शन को विजय किया । अर्थात् परीषहरूपी सेना को परास्त कर दिया । फलतः उनके १८००० शील के गुण प्रकाशित—प्रकटित होने लगे । उन गुणों से शोभित वे अतिवीर सुभट की भांति प्रतीत हो रहे थे । उनके गुणसमूहरूप सुभट विधिवत् सन्नद्ध होने लगे । वे धीर-वीर सत्त्वगज पर आरूढ़ हुए । सम्यक्-सत्यधर्मरूपछत्र धारण किया । निर्मल—निर्दोष चामर हुलने लगे, दोष समूह पर विजय हो विजय पताका फहराने लगी । उन्होंने सम्यग्दर्शन की घातक मिथ्यात्व आदि नाम-वाली सात प्रकृतियों को जड़मूल से नष्ट कर दिया । अथत्नसाध्य तीन आयुओं को भी उड़ा दिया । क्षायिक सम्यग्दर्शित हो अप्रमत्त दशा में जा विराजे । निर्विकल्प दशा प्राप्त कर अपने में अविचल होते ही चरित्र मोहनीय को भी क्षय करने वाली क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया मानों मुक्तिनगरी में चढ़ने के लिए ही सिद्धियाँ ही हों । अर्थात् अथः प्रवृत्त परिणामों द्वारा दुर्द्धर कर्मों की शक्तियाँ क्षीण होने लगी । ठीक है सूर्योदय होने पर तमोराशि कहाँ रह सकती

है ? नहीं ठहर सकती । उसी प्रकार ध्यानानल की ज्वाला में कर्मरूप ईंधन कैसे बच सकता है ? नहीं बच सकता । पुनः क्या हुआ ? सुनिये, किस प्रकार कर्मवष्टियाँ भस्महु यीं ॥१०६॥

ततोऽसौ नवमे स्थित्वा गुणस्थाने महामुनिः ।

षट्त्रिंशत्प्रकृतिः क्षिप्त्वा शुक्लध्यानेन पूर्णतः ॥१०७॥

गुणस्थाने तथा सूक्ष्मसाम्पराये यतीश्वरः ।

लोभं संज्वलनं हत्वा ततोऽसौ निर्मलाय सः ॥१११॥

गत्वा क्षीणकषायोरु भूमिभागे समुन्नतम् ।

शुक्ल ध्यानाश्रिताशीध्रं द्वितीयेन पराक्रमी ॥११२॥

मोहनीय रिपुं जित्वा धार्तित्रितय संयुतम् ।

केवलज्ञान साम्राज्यं सम्प्राप्तः परमोदयम् ॥११३॥

त्रिषष्टी प्रकृतिरेवं निराकृत्य मुनिश्वरः ।

सञ्जात केवलज्ञानी स श्रीपालो जगद्धितः ॥११४॥

अन्वयार्थ—(ततो) इसके बाद (असौ) यह (महामुनिः) योगीराज (नवमे) नीमे (गुणस्थानेः) गुणस्थान में (स्थित्वा) स्थित होकर (शुक्लध्यानेन) शुक्ल ध्यान से (षट्त्रिंशत्प्रकृतिः) ३६-प्रकृतियों को (पूर्णतः) आमूलबूल (क्षिप्त्वा) क्षय कर, तथा उसी प्रकार (सूक्ष्मसाम्पराये) सूक्ष्मसाम्पराय (गुणस्थाने) गुणस्थान में (यतीश्वरः) मुनीश्वर (सञ्ज्वलनं) संज्वलन (लोभम्) लोभ को (हत्वा) नाशकर (असौ) यह (ततो) पुनः (निर्मलाय) निर्मलता के लिए (सः) वह मुनिराज (समुन्नतम्) अति उन्नत (ऊरुः) विस्तृत (क्षीणकषायः) क्षीण कषाय वारहवें गुणस्थान रूपा (शुक्लध्यानाश्रिता) शुक्लध्यान के आश्रित (भूमिभागे) भूमिप्रदेश में (गत्वा) जाकर (पराक्रमी) पराक्रमी ने (द्वितीयेन) दूसरे शुक्लध्यान से (धार्तित्रितय संयुतम्) धार्तिया तीनों के साथ (मोहनीय रिपुम्) मोहनीय शत्रु को (जित्वा) जीतकर (परमोदयम्) उदय की असीम सीमाधारी (केवलज्ञानसाम्राज्यम्) केवलज्ञान साम्राज्य को (सम्प्राप्तः) प्राप्त कर लिया (एवं) इस प्रकार (त्रिषष्टीप्रकृतिनिराकृत्य) त्रेसठ प्रकृतियों को नष्ट कर (सः) वह (श्रीपालः) आपाल (मुनिश्वरः) मुनिराज (जगद्धितः) विश्वहित-कारी (केवलज्ञानी) केवली भगवान (सञ्जातः) हो गये ।

भावार्थ— महामुनि श्री श्रीपाल स्वामी आठवें गुणस्थान को पार कर नवमें गुणस्थान अनिवृत्तिकरण क्षपक में जा विराजे यहाँ अन्तर्मुहूर्त में ३६ प्रकृतियों को सत्ता से नष्ट कर दिया । इस गुणस्थान के ९ भाग हैं उनमें से प्रथम भाग में १६ प्रकृतियों की— (१. नरक गति, २. नरकगत्यानुपूर्वी, ३. तिर्यञ्च गति, ४. तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, ५. विकलत्रय ८. स्त्यान-मृद्धि, ६. निद्रानिद्रा, १०. प्रचला-प्रचला, ११. उद्योत, १२. आतम, १३. एकेन्द्रिय, १४. स्थावर, १५. साधारण, १६. सूक्ष्म) सत्ता व्युच्छिन्न की ।

दूसरे भाग में ८ (अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ और प्रत्याख्यान क्रोधादि ४) तीसरे भाग में १ नपुंसकवेद । चौथे भाग में १ स्त्रीवेद । पाँचवें भाग में ६ (हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा और शोक) । छठवें भाग में १-पुरुषवेद । सातवें भाग में १ संज्वलन क्रोध । ८ वें भाग में १ संज्वलन मान और नवमें भाग में १ संज्वलन माया । इस प्रकार १६ + ८ + १ + १ + ६ + १ + १ + १ + १ = ३६ प्रकृतियों का समूल नाश किया । शुक्लध्यान की शक्ति ही अलौकिक है । तदनन्तर वे महाध्यानी १०वें सूक्ष्मसाम्यपराय गुणस्थान में प्रविष्ट हुए । यहाँ १ मात्र लोभ का संहार किया । क्षपकराज निर्द्वन्द्व बड़ रहे थे अस्तु सूक्ष्मसंज्वलन लोभ के नष्ट होते ही सीधे १२ वें गुणस्थान में जा पहुँचे । क्षपकथेणी आरोहक भारहवें गुणस्थान में नहीं जाता । यह नियम है क्योंकि यहाँ से नियमपूर्वक पतन होता है । क्षपक श्रेणि वाला गिरता नहीं । उपशम श्रेणी में पतन अवश्यम्भावी है । अतः क्षापकपाय बारहवें गुणस्थान में पदार्पण कर उन यतीश्वर ने १६ प्रकृतियों की सत्ता व्युच्छिन्न कर डाली—५ ज्ञानावरणी ४ दर्शनावरणी, ५ अन्तराय की और निद्रा, प्रचला = १६ । इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त ६३ प्रकृतियों का आमूल नाश किया—चौथे में १ (नरकायु) + पाँचवें में १ (तिर्यञ्चायु) + सातवें में ८ (अनन्तानुबन्दी ४ देवायु, दर्शन, मोहनीय की ३ = ८) + आठवें में कुछ नहीं + नवमें में ३६ + १ + १६ = ६३ प्रकृतियाँ नाश कर अन्तर्मुहूर्तमात्र समय में सयोग केवली १३ वें गुणस्थान में जा विराजे । उपर्युक्त ६३ प्रकृतियों का नाश और केवल ज्ञानरूपी भास्कर का उदय एक साथ हुआ । अतः श्री १०८ श्रीपाल मुनिराज केवली भगवान् हो गये । उन्हें आर्हत् अवस्था प्राप्त हुयी । संसार का हित करने वाला पूर्णज्ञान प्रकट हो गया ॥११० से ११४॥

तत्प्रभावमहावात कम्पितासन सञ्चयाः ।

देवेन्द्राद्यास्सुरास्सर्वे समागत्य प्रमोदतः ॥११५॥

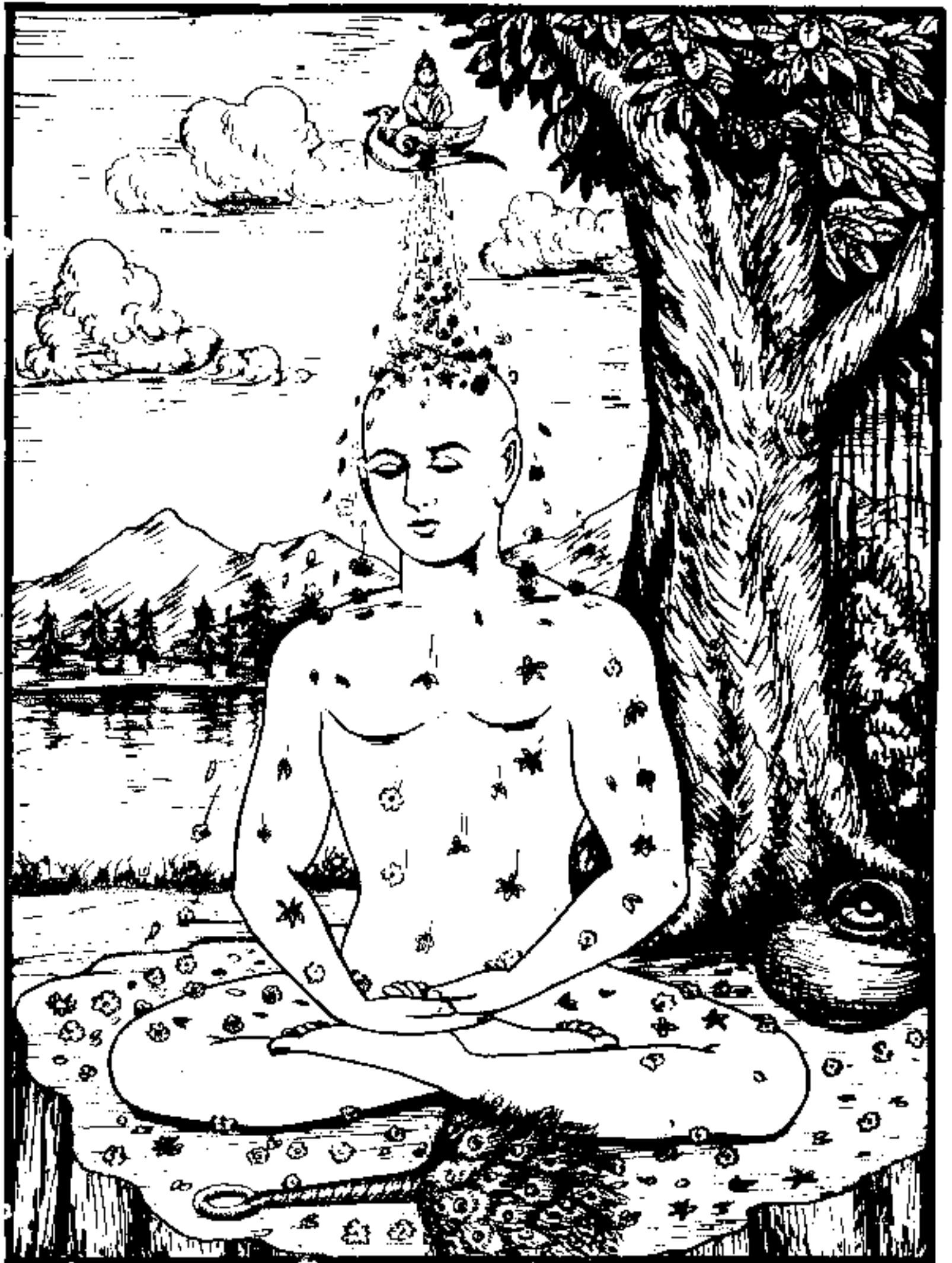
योग्यगन्धकुटीं कृत्वा सिंहासन समन्वितः ।

छत्रमेकं तथा दिव्यचामर द्वयमुज्ज्वलम् ॥११६॥

विद्याधरैर्नरैस्सार्द्धं जय कोलाहलस्वनैः ।

पुष्पवृष्टिं विधायोच्चैः पूजयन्तिस्म भक्तितः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस केवल ज्ञान के (प्रभावमहावात) प्रभुत्वरूपी प्रचण्ड पवन से (कम्पितासन) कम्पायमान हुए आसन वाले (देवेन्द्रादि) इन्द्र आदि (सर्वे) सम्पूर्ण (सुरा) देवता (सञ्चयाः) समूह (प्रमोदतः) आनन्दातिरेक से (समागत्यः) आकर (सिंहासनसमन्वितः) सिंहासन सहित (योग्य गन्धकुटीं) योग्य गन्धकुटी को (कृत्वा) बना कर (एकम्) एक (छत्रम्) छत्र (तथा) एवं (उज्ज्वलम्) स्वच्छ (द्वयम्) दो (दिव्यचामर) दिव्य चामर (कृत्वा) लगाकर (विद्याधरैः) विद्याधर (नरैः) मनुष्यों के (सार्द्धम्) साथ (जयकोलाहलस्वनैः) जय जय ध्वनि, (पुष्पवृष्टिम्) पुष्पवर्षा (विधाय) करके (उच्चैः) विशिष्ट (भक्तितः) भक्ति से (पूजयन्तिस्म) पूजा की ।



भावार्थ—परम केवली हो गये श्री श्रीपाल मुनि । केवलज्ञान रूपी तूफानी वायुवेग से चारों निकाय के देवों के आसन कम्पायमान हो गये । सभी सुरा-सुर देवेन्द्रों ने अपने-अपने अवधिज्ञान से ज्ञात कर लिया कि श्री श्रीपालजी केवल ज्ञानी-सर्वज्ञ हो गये हैं । हमें अपने कर्त्तव्य की सूचना के लिए ही यह हमारा आसन चलायमान हुआ है । ज्ञानपवन का यह माहात्म्य है । बस क्या था तत्क्षण सभी देव-देवियों सुधर्मा सभा में आकर समन्वित हो गये । सौधर्मन्द्र ने जुलुस बढ़ने की आज्ञा घोषित की । स्वयं आगे चला । पलक मारते यथायोग्य गन्धकुटी-भव्यजनों का सभामण्डप तैयार हो गया । उनके शिर पर एक छत्र शोभित हुआ । परमोज्ज्वल दिव्य दोनों और दो चँवर दुराये गये । मध्य सिंहासन पर केवलीप्रभु विराजमान हुए । विद्याधर नृपों के साथ देवी देवताओं ने जय-जय ध्वनि करते हुए महाभक्ति और हर्ष से अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की । इस प्रकार सुर, नर, इन्द्रों ने उनकी भक्ति-भाव से पूजा की ।

नोट—सामान्य केवली का समवशरण नहीं होता, तीन छत्र और चौसठ चँवर नहीं होते । ये तीर्थंकर केवली का विशिष्ट वैभव होता है । अतः श्रीपाल जी सामान्य केवली थे इसलिए उनके एक ही छत्र और दो ही चमर थे । गन्धकुटी थी । (इसमें १२ सभाएँ थीं) सभी अपनी-अपनी शक्ति-भक्ति अनुसार पूजा कर घर्मोपदेश श्रवण कर संसार ताप के नाश का उपाय करते हैं ॥११५ से ११७॥

घातिकर्म क्षये स्वामी पश्यति स चराचरम् ।

घनाहाये यथा भानुर्भवेत् स्वपर भाषकः ॥११८॥

तदाऽसौ सर्वभव्यानां केवलज्ञान भास्करः ।

सञ्जगाद द्विधा धर्मं मुनिश्च श्रावकोचितम् ॥११९॥

अन्वयार्थ—(घातिकर्मक्षये) घातिया कर्मों के क्षय होने पर (सः) वह (स्वामी) श्रीपालकेवली (चराचरम्) चर और अचर लोक को (पश्यति) देखता है (यथा) जैसे (घना-हाये) बादलों के हटने पर (भानुः) सूर्य (स्व-पर भाषकः) स्वयं को और जगत के पदार्थों का भा प्रकाशक (भवेत्) होता है (तदा) सर्वज्ञता पाने पर (असौ) वह (केवलज्ञानभास्करः) केवलज्ञानसूर्य (सर्वभव्यानाम्) सम्पूर्ण भव्यों का हितकारी (धर्म) धर्म को (मुनिः) यति (च) और (श्रावकोचित्) श्रावक के भेद से (द्विधा) दो प्रकार का (सञ्जगाद) निरूपित किया ।

भावार्थ—चारों घातिया कर्मों के नाश होने पर सम्पूर्ण चराचर जगत उन्हें प्रति-भाषित हो रहा है । जिस प्रकार सूर्य पर आच्छादित मेघसमूह दूर होने पर वह भास्कर स्व और पर पदार्थों को सम्यक् प्रकार प्रकाशित करता है उसी प्रकार उन केवलीस्वामी ने समस्त विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को अनन्तपर्यायों सहित एक साथ ज्ञात कर प्रकाशित किया । उन्होंने सप्तस्त भव्यजोषों को द्विविध धर्म का स्वरूप बतलाया । धर्म दो प्रकार है—१. यति या मुनि-धर्म और २. श्रावक धर्म । इनका स्वरूप पूर्व परिच्छेद में विशदरूप से वर्णित हो चुका है । पुनः उनका उद्देश आगे प्रकार हुआ ॥११८—११९॥

जीवादिसप्त तत्त्वानि पुण्यं पापं च तत्फलम् ।
 षड्द्रव्याणि तथा कालत्रयं प्राह जगद्धितम् ॥१२०॥
 कर्मणां प्रकृतिश्चापि चतस्राऽपि गतिजिनः ।
 पञ्चास्तिकाय भेदोऽद्यान् जगौ लेस्याश्च षड्विधा ॥१२१॥
 त्रैलोक्यस्य स्वरूपं च सम्प्रकाश्य स्वभावतः ।
 सम्बोध्य सकलान् भव्यान् साररत्नत्रयोदितान् ॥१२२॥
 दीर्घकालञ्च नानाश्च मोहजालं निहत्य सः
 नानादेशान्विवहरत्योचैस्सुरासुर समर्चितः ॥१२३॥
 दशनज्ञानचारित्रं मोक्षमार्गं सुखास्पदम् ।
 द्योतयित्वा स्व बोधेन पुनश्चान्ते जिनेश्वरः ॥१२४॥
 चतुर्दशगुणस्थानप्रान्ते च समय द्वये ।
 चतुर्थेन तथा शुक्ल ध्यानेनैव सुनिश्चलः ॥१२५॥
 अघाति कर्मणां पञ्चाशीति प्रकृति सञ्चयम् ।
 हत्वा सम्प्राप्तवान् मोक्षं जरामरण वर्जितम् ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(जगद्धितम्) विप्रवहितकर (जीवादिसप्त तत्त्वानि) जीव आदि मात तत्त्व (पुण्यम्) पुण्य (पापम्) पाप (च) और (तत्फलम्) पुण्य-पाप का फल (षड्द्रव्याणि) छह द्रव्य (तथा) एवं (कालत्रयम्) भूत, वर्तमान, भविष्य तीन काल (प्राह) कहे (च) और (कर्मणाम्) कर्मों की (प्रकृतिः) प्रकृतियाँ (अपि) भी (चतस्रोऽपि गतिः) चारों गतियाँ भी, तथा (पञ्चास्तिकाय) पाँच अस्तिकाय के (भेदोऽद्यान्) भेदों का समूह (च) और (षड्लेश्याः) छह लेश्याएँ (जगौ) वर्णित की (स्वभावतः) स्वयंसिद्ध (त्रैलोक्यस्यस्वरूपम्) तीन लोक का स्वरूप (सम्प्रकाश्य) सम्यक् प्रकार प्रकाशित कर (साररत्नत्रयोदितान्) उत्तम रत्नत्रययुक्त (सकलान् भव्यान्) सम्पूर्ण भव्यों को (सम्बोध्य) सम्बोधित कर (दीर्घकालम्) बहुत समय तक (नानादेशान्) अनेकों देशों में (विवरत्य) विहार कर (नानामोहजालम्) भव्यों के नानाविध मोह जाल को (निहत्य) नष्ट कर (सः) वह (सुरासुरसमर्चितः) सुर और असुरों के पूजित (जिनः) जिनदेव (स्वबोधेन) अपने केवल ज्ञान द्वारा (सुखास्पदं) सुख के स्थान (दशनज्ञानचारित्रं मोक्षमार्गम्) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग को (द्योतयित्वा) प्रकाशित करके (च) और (पुनः) फिर (जिनेश्वरः) जिनभगवान ने (चतुर्दशगुणस्थान-प्रान्ते) चौदहवें गुणस्थान के अन्त में (चतुर्थेन) चौथे (शुक्लध्यानेन) शुक्लध्यान द्वारा (एव) ही (समयद्वये) (द्विचरम और चरम इन दो समयों में (अघातिकर्मणाम्) अघातिया कर्मों की (पञ्चाशीति) पचासी (प्रकृतिसञ्चयम्) प्रकृति समूह को (हत्वा) नाश कर (च) और

(निश्चलः) निश्चल (जरामरणवर्जितम्) वृद्धापन, मरण रहित (मोक्षम्) मुक्ति की (सम्प्राप्तवान्) प्राप्त किया ।

भावार्थ—सकलज्ञ परम वीतरागी श्रीपाल जिनकी देशना प्रारम्भ हुयी । गन्धकुटी में विराजमान जिनने षट्प्रकार द्रव्यों के साथ सप्त तत्त्वों का निरूपण किया । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व, पुण्य-पाप और उनका शुभाशुभ फल, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । तथा भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल इन सबका विस्तृत रूप से निरूपण किया । भव्य प्राणियों के हितार्थ आठ कर्म और उत्तर १४८ प्रकृतियों को निरूपित किया । चार प्रकार की गतियों का तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय, छह लेश्याएँ—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल इन छह लेश्याओं को उन जिनैन्द्र ने सम्यक् प्रकार उपदिष्ट किया । इस प्रकार उन प्रभु ने तीनों लोकों का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन कर रत्नत्रय का स्वरूप बतलाया । रत्नत्रयधारी भव्यात्माओं को सम्बोधित करते हुए चिरकाल तक नाना दिग्देशों में विहार किया तथा भव्यों के भयङ्कर मोह और अज्ञान जाल को नाश करते हुए सुरासुरों से पूजित हुए । रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग को बतलाया । अचल, चिरमुख देने वाला मुक्तिमार्ग प्रकाशित करते हुए वे प्रभु चौदहवें गुणस्थान में जा पहुँचे । अपने ज्ञान का प्रसार कर यहाँ शुक्लध्यान के चौथे पाये व्युच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति को लेकर अधातिया कर्मों की पच्चासी (८५) प्रकृतियों का सफाया किया । द्विचरम समय में ७२ और चरम समय १३ प्रकृतियों को बिध्वस्त कर शिवालये में पदार्पण किया जहाँ न जरा है न मरण । क्योंकि इनके कारण है कर्म और कर्मों को जड़ से जला कर भस्म कर दिया फिर बिना कारण कार्य कहाँ से हो ? कारण के अभाव में कार्य भी नहीं होता । द्विचरम समय में विनष्ट होने वाली प्रकृतियाँ—५ शरीर, ५ बंधन, ५ सङ्घात, ६ संहनन, ३ आङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, प्रणस्त-अप्रणस्त-विहायोगति, दुर्भग निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, साता या असाता में से कोई एक और नीच गोत्र । चरम समय में नष्ट होने वाली १३ प्राकृतियाँ—साता-असाता में कोई एक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय, सुभग, त्रस, वादर, पर्याप्त, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर, मनुष्यायु, उच्च गोत्र और मनुष्यागत्यानुपूर्वी । इन ८५ प्रकृतियों का नाश कर जीव, अचल, अविनाशी, अनन्त सुखरूप स्थान शिवपुर में वास करता है । वहीं जा पहुँचे कर्मयोगी श्रीपाल ज्ञानयोगी बन कर द्रव्यकर्म भाव और नो कर्म समूह को मूलोन्मूलन कर ॥ १२० से १२६॥

एके न समयेनोच्चैरुर्ध्वगामी स्वभावतः ।

सम्यक्त्वादि गुणोपेतस्त्रैलोक्यशिखरे स्थितः ॥१२७॥

तत्र भुङ्क्ते निराबाधं सौख्यं वाचाम गोचरम् ।

अनन्तं शाश्वतं स्वात्मजं वृद्धिहासद्वरगम् ॥१२८॥

संसिद्धो मे समाराध्यो विशुद्धो विश्ववन्दितः ।

पारंप्राप्तेभवाम्बोधेः प्रदद्यात् सिद्धिमुत्तमम् ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध्वगामोऽस्वभावतः) स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला वह विशुद्धात्मा (एकेनसमयेन) एक ही समय में (सम्यक्त्वादिगुणोपेतः) सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त (त्रैलोक्यशिखरे) तीन लोक के शिखर पर (स्थितः) विराजमान हो गये । (तत्र) यहाँ शिवलोक में (निरावाधम्) अव्याबाध (वाचामगोचरम्) वचन के अगोचर (अनन्तम्) अनन्त (शाश्वतम्) चिरस्थायी (स्वात्मजम्) आत्मोत्थ (वृद्धिह्रासदूरगम्) कमी-वैशी रहित (सौख्यम्) सुख का (भुक्ते) भोगने लगे । (संसिद्धः) सिद्धिप्राप्त (समाराध्यः) आराधनीय (विशुद्धः) कर्मकलङ्क रहित (विश्ववन्दितः) संसार से नमस्करणीय (भवाग्भाधे) संसार सागर के (पारंप्राप्ते) तट को प्राप्त हुए श्रीपालसिद्धात्मा (मे) मेरे लिए (उत्तमम्) उत्तम (मिद्धिम्) सिद्धि को (प्रदद्यात्) प्रदान करें ।

भावार्थ—सर्वकर्म विप्रमुक्त वे केवलीभगवान् १. रसम्यक्त्व २. अनन्तज्ञान ३. अनन्तदर्शन ४. अनन्त वीर्य ५. सूक्ष्मत्व ६. अवगाहनत्वम् ७. अगुरुलघुत्व और ८. अव्याबाधत्व इन आठ गुणों से मण्डित हो एक समय मात्र में ऊर्ध्वस्वभावी होने से तीनलोक के शिखर पर जा स्थित हुए । मोहनीयकर्म का क्षय होने से परमावगाह सम्यक्त्व प्रकट हुआ । ज्ञानावरणी कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान । दर्शनावरणी कर्म के संक्षय से केवलदर्शन । अन्तरायकर्म के नाश होने से अनन्तवीर्य, नामकर्म के विनाश से सूक्ष्मत्व गुण । आप्तकर्म विध्वस्त होने से अवगाहनत्व गुण । गोत्रकर्म संहार से अगुरुलघु गुण तथा वेदनीय कर्म का सर्वथा उन्मूलन करने से अव्याबाध सुख उन्हें प्राप्त हुए । मोक्ष में जाने पर वहाँ वे वचनातीत अर्थात् जो वचनों द्वारा कथन करने में नहीं आवे, जिसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है, जो अनन्त-असीम है, चिरन्तन है, आत्मोत्थ-स्वस्वभावजन्य है, एवं वृद्धि और ह्रास अर्थात् बढना-घटना जिसमें नहीं होता ऐसा सुख अनुभव करने लगे अर्थात् मुक्ति में इस प्रकार का सुख विशुद्धात्मा भोगता है । यहाँ आचार्य श्री १०८ सकलकीर्तिजी महाराज उसी सुख की अभिलाषा से सिद्धपरमेष्ठी श्रीपाल जी से प्रार्थना करते हैं कि जो स्वयं सिद्ध हो चूके, संसार सागर को जिन्होंने पार कर लिया, परमविशुद्ध हो चूके हैं अर्थात् त्रिविध कर्ममलकलङ्क से रहित हो गये, तीन जगन से वन्दनीय-नमस्करणीय, समाराध्य वे श्रीपालसिद्ध भगवन्त मुझे भी सिद्धि प्रदान करें । अर्थात् उनको भक्ति पूजा आराधना से मैं भी उन्हीं के समान अपने आत्मगुणों को प्रकट कर उन्हीं के समान सिद्ध हो जाऊँ ॥१२७ में १२६॥

तथा तपश्चिरं कृत्वा सती मदनसुन्दरी ।

छित्वा स्त्रीलिङ्गकाकण्ठं धर्मध्यानेन पुण्यतः ॥१३०॥

महाशुक्ले सुरेन्द्रोऽभून्महाविभवसंयुतः ।

सुखं भुक्त्वा चिरं तत्र समागत्य महोत्तले ॥१३१॥

नरत्वं दिव्यमापाद्य तपः कृत्वा पुनः सुधीः ।

स हत्वा कृत्स्नकर्माणि क्रमाद्यास्यति निर्वृतिम् ॥१३२॥

केचिन्नृपास्त्रयः काश्चित् स्त्रीत्वंछित्वा सुदर्शनात् ।

जग्मुः स्वर्गं यथायोग्यं तपोभिर्जनितं शुभात् ॥१३३॥

काश्चिन्तार्यास्तपः कृत्वा तत्फलेनाभन्दिवि ।

सौधर्माद्यच्युतान्त्यैव देव्यो रूपादि भूषिताः ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(तथा) श्रीपाल जी के समान (सतीमदनसुन्दरी) शीलव्रती मदन सुन्दरी ने (चिरम्) बहुत काल (तपः) तपश्चरण (कृत्वा) करके (धर्मध्यानेन) धर्म ध्यान से उत्पन्न (पुण्यतः) पुण्य से (स्त्रीलिङ्गिकाकण्टम्) स्त्रीपर्यायजन्य कण्ट को (छित्वा) छेदकर (महाविभवसंयुतः) महान् वैभव सम्पन्न (महाशुक्र) महाशुक्र नाम के स्वर्ग में (सुरेन्द्रः) इन्द्र (अभूत) हुयी (तत्र) वहाँ (चिरम्) दीर्घकाल (सुखम्) सुख (भुक्त्वा) भोगकर (महीतले) मध्यलोक में (समागत्य) आकर (दिव्यम्) उत्तम (नरत्वम्) नरपर्याय (आपाद्य) प्राप्त कर (पुनः) फिर (तपः) तप (कृत्वा) करके (सुधीः) बुद्धिमान (सः) वह (क्रमात्) क्रम से (कृत्स्नकर्माणि) सम्पूर्ण कर्मों को (हत्वा) नाश कर (निर्वृतिम्) निर्वाण (यास्यति) जायेगी (काश्चित्) कुछ (स्त्रियः) रानियाँ या अन्य (स्त्रीत्वम्) स्त्रीपर्याय को (सुदर्शनात्) सम्यग्दर्शन से (छित्वा) नाश कर (च) और (केचित्) कुछ (नृपाः) राजा-तपस्वी (तपो-भिजनितम्) अपने-अपने तप से उत्पन्न (शुभात्) पुण्यकर्म से (यथायोग्यम्) यथायोग्य (स्वर्गम्) स्वर्ग को (जग्मुः) गये (काश्चित्) कुछ (नार्याः) तपस्विनियाँ (तपः) तपश्चरण (कृत्वा) करके (तत्फलेन) उस तप के फल से (सौधर्माद्यच्युतान्त्यैव) सौधर्म स्वर्ग से ले अच्युतस्वर्ग पर्यन्त ही यथायोग्य स्वर्ग में (रूपादिभूषिता) रूप लावण्य से सुशोभित (देव्याः) देवियाँ (अभवन्) हुयी ।

साधारण्य—महासती मदनसुन्दरी आर्यिका दीक्षाधारण कर निर्वाञ्छ तप तपने लगीं । जिस प्रकार एक विशिष्ट आविका धर्म का पालन किया उसी प्रकार अब यति धर्म पालन में पूर्ण सन्नद्ध हुयी । बहुत काल सम्यक्त्वपूर्वक उग्रतपश्चरण किया । अन्त में कषाय और शरीर सल्लेखना पूर्वक पार्थिव शरीर का त्याग किया । भयङ्कर कण्टदायिनी निन्द्य स्त्रीपर्याय—स्त्री-लिङ्ग का छेदन कर धर्मध्यान पूर्वक महाशुकनामा दशवें स्वर्ग में 'इन्द्र' उत्पन्न हुयी । उपपाद जन्म से अन्तर्मुहूर्त काल में ही सौम्य, सर्वाङ्ग सुन्दर, सर्वाभूषण सज्जित मनोहर इन्द्र हो गई । कुछ अधिक १६ सागर प्रमाण आयु पर्यन्त स्वभाव से प्राप्त विषय सुखों को भोगकर वहाँ च्युत हो मर्त्यलोक में वहाँ पुरुष पर्याय धारण कर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो मुनिदीक्षा धारण करेगी । घोर तपबल से कर्मराशियों को नष्ट कर मुक्ति प्राप्त करेगी । क्रमशः शिवपद पावेगी । श्रीपाल के साथ दीक्षित कुछ राजा-महाराजा, और कुछ रानी-महारानी (स्त्रीलिङ्ग छेदन कर) सम्यग्दर्शन पूर्वक तपश्चरण कर तपानुसार अपने-अपने पुरुषार्थ के अनुसार यथा-योग्य स्वर्गों में देव हुए । तप से उत्पन्न कर्मफल भोगने लगे । कुछ दीक्षित महिलाएँ अल्प तप बल से प्राप्त पुण्यानुसार सुन्दर रूप लावण्यमयी, दिव्याभरणभूषिता मनोहरा देवियाँ हुयी । जिनागम में प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपने-अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता होता है और स्वयं ही मोक्ष पुरुषार्थ कर शिवालय में जा विराजमान होता है ॥१३० से १३४॥

यथा श्रीपालराजोऽयं सिद्धचक्रव्रतोत्तमम् ।

कृत्वाक्रमेण सम्प्राप्तो मोक्षं सौख्यनिकेतनम् ॥१३५॥

तथाभव्याः करिष्यन्ति ये सिद्धव्रतचक्रजम् ।

तेऽपि राज्यादिकं प्राप्य मुक्तिं यास्यन्ति शाश्वतीम् ॥१३६॥

एवमुक्त्वा बुधैर्नित्यं जैनधर्म परायणैः ।

एतद्व्रतं जगत्सारं समाराध्यं सुयत्नतः ॥१३७॥

सर्वसिद्धिकरं पूतं सिद्धचक्रार्चनं व्रतम् ।

सेवितं सर्वभव्यानां कुर्यात्सारश्रियं शुभम् ॥१३८॥

ग्रन्थार्थ—(यथा) जिस प्रकार (अयम्) यह (श्रीपालराजा) श्रीपाल भूपति (उत्तमम्) उत्तम (सिद्धचक्रव्रतम्) सिद्धचक्र व्रत को (कृत्वा) करके (क्रमशः) क्रम से (सौख्यनिकेतनम्) सुख का धाम (मोक्षम्) मोक्ष को (सम्प्राप्तः) प्राप्त हुए । (तथा) उसी प्रकार (ये) जो (भव्याः) भव्यजन (सिद्धचक्रजम्) सिद्धचक्र से उत्पन्न (व्रतम्) व्रत को (करिष्यन्ति) करेंगे (ते) वे (अपि) भी (राज्यादिकम्) राज्यादिसम्पदा (प्राप्य) प्राप्तकर (शाश्वतीम्) चिरस्थायी (मुक्तिम्) मोक्ष को (यास्यन्ति) जायेंगे । (एवम्) इस प्रकार (उक्त्वा) कथनकर (जैनधर्मपरायणैः) जैनधर्म में उत्पर (बुधैः) विद्वानों द्वारा (जगत्सारम्) संसार में सार भूत (एतत्) यह (व्रतम्) व्रत (सुयत्नतः) सम्यक् प्रयत्न से (समाराध्यम्) आराधनीय है । (सर्वभव्यानाम्) सर्वभव्यों से (सेवितम्) सेवित (सर्वसिद्धिकरम्) सम्पूर्ण सिद्धियों को करने वाला (पूतम्) पवित्र (सिद्धचक्रार्चनं व्रतम्) सिद्ध समूह की पूजनयुतव्रत (शुभम्) कल्याणकारी (सारश्रियम्) उत्तम मोक्ष लक्ष्मी को (कुर्यात्) प्रदान करे ।

भावार्थ—इस महापवित्र, पुण्यवद्धक, पाप प्रणाशक, मुक्तिसाधक शास्त्र को परि-समाप्ति करते हुए आचार्य श्री आशीर्वादात्मक अन्त्यमङ्गल करते हैं तथा यह ग्रन्थ सर्वहित-कारी और लोकप्रिय हो यह भावना प्रकट करते हैं । जिस श्रीपालकोटीभट महामण्डलेश्वर नृपति ने परम पवित्र, महा अतिशयवान, चमत्कारी श्रीसिद्धचक्रव्रत को विधिवत् श्रद्धाभक्ति से स्वीकार कर एवं पूर्णपवित्र भावों से पालन कर क्रमशः दिगम्बर हो, तपश्चरण कर अनन्तसुख का परमस्थानमोक्ष प्राप्त किया । उसी प्रकार अन्य भव्यजन भी इसी प्रकार यथाविधि धारण पालन, उद्यापन करने में प्रवृत्त होंगे वे भी अनन्तचतुष्टय रूप सारभूत शाश्वत लक्ष्मी एवं सुख प्राप्त करेंगे । अर्थात् मोक्ष जायेंगे । सांसारिक चक्रवर्त्यादि पद, देवेन्द्रादि पदों के सुख भोग क्रमशः वह सुख पायेंगे "यत्रनासुखम्" जहाँ से फिर दुःख होगा ही नहीं । इस प्रकार वर्णनकर आचार्य श्री कहते हैं कि जैनधर्मपरायण विद्वदजन विश्वविख्यात और सारभूत इस सिद्धचक्र-महाव्रत की सम्यक् प्रकार प्रयत्न पूर्वक आराधना करने में उत्पर हों । सम्पूर्ण सिद्धियों को करने वाला, परमपावन, सर्वभव्यात्माओं से सेवित यह सिद्धचक्रव्रत परम पावन, सारभूत अक्षयलक्ष्मी प्रदान करें । अर्थात् मुक्तिश्री देवे ॥१३५-१३६-१३७-१३८॥

इत्यादि कोमलैर्वक्यैः पूर्वाचार्यक्रमेण च ।

तुच्छं बुद्धयावबोधार्थं श्रीपालनृपतेहितम् ॥१३९॥

चरितं सर्वं भव्यतां मया चक्रे स्वशक्तितः ।

यन्नयूनं जिनवाग्देवी, क्षमां कर्तुं त्वमर्हसि ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(इत्यादि) उपर्युक्त प्रकार (कोमलः) सरल (वाक्यैः) श्रावयों द्वारा (च) और (पूर्वाचार्यक्रमेण) पूर्व आचार्यों की परम्परानुसार (सर्वभव्यानाम्) सम्पूर्ण भव्यों के (अवज्ञाधर्मम्) ज्ञान कराने के लिए (तुच्छबुद्ध्या) अल्पबुद्ध वाले (मया) मेरे द्वारा (श्रीपालनृपतेः) श्रीपालराजा के (हितम् चरित्रम्) हितकारी चरित्र को (स्वशक्तितः) अपनी शक्ति के अनुसार (चक्रे) वर्णित किया गया (यत्) इसमें जो (न्यूनम्) कमो हो तो (जिनवाग्देवी) जिनवाणीमाता (त्वम्) आप (क्षमां) क्षमा (कर्तुम्) करने को (अर्हसि) समर्थ हो, योग्य हो ।

भावार्थ—यहाँ आचार्य श्री अपनी उदारता, मधुरता और अल्पज्ञता प्रकट करते हैं । हे जिनवाणी माँ, मैंने (सकलकीर्ति आचार्य ने) बहुत ही सरल मधुर वाक्यों में इस महान चरित्र को रचने का प्रयास किया है । यह श्रीपालकोटीभट्ट का चरित्र सागरवत् विस्तृत है और मेरी अल्पबुद्धि बिन्दु समान है । मैंने जो कुछ भी भव्यात्माओं को इस चरित्र से अवगत कराने का प्रयास किया है वह सब पूर्वाचार्यों की महती कृपा का फल है । अर्थात् पूर्वाचार्य-परम्परानुसार यह लिखा है मेरी तरफ से कुछ नहीं है । इस प्रयास में जब्द, अक्षर, मात्रा, व्यञ्जन, अर्थसङ्गति में यदि कोई त्रुटि हो गई हो तो सरस्वती शारदादेवी, जिनवाणी माँ क्षमा प्रदान करें । माँ सर्व कल्याणकारिणी, हितकारिणी होती है । अतः वागेश्वरी क्षमामूर्ति क्षमा करने योग्य है । यहाँ आचार्यपरम्परा कहने से यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ मूल है, प्रामाणिक और यथार्थ है । जिनवाणी माता से क्षमा याचना कर आचार्य श्री ने सम्यग्ज्ञान की गरिमा प्रदर्शित की है और अपनी छत्रस्थ अवस्था बतला कर अहंभाव का निषेध किया है । निष्कल और सरल भाव प्रदर्शित किया है ॥१३, १४०॥

ये पठन्ति महाभव्याश्शास्त्रमेत्सुखप्रदम् ।

पाठयन्ति परानुच्चर्ये लिखन्ति विवेकिनः ॥१४१॥

लेखयन्ति धनं दत्त्वा पात्रेभ्यो वितरन्ति च ।

संभावयन्ति ये चित्ते तेषां सिद्धिं पदे-पदे ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (महाभव्या) महान भव्यात्मा (एतत्) इस (सुखप्रदम्) सुखदायक (शास्त्रम्) शास्त्र को (पठन्ति) पढ़ते हैं (परान्) दूसरों को (पाठयन्ति) पढ़ाते हैं (ये) जो (विवेकिनः) विवेकी (उच्चर्ये) सावधानों से (लिखन्ति) लिखते हैं (च) और (धनम्) धन (दत्त्वा) देकर (लेखयन्ति) लिखवाते हैं (पात्रेभ्यो) मुनिआयिका, श्रावक-श्राविकाओं को (वितरन्ति) वितरण करते हैं (च) और (ये) जो (चित्ते) मन में (संभावयन्ति) सम्यक् भावना करते हैं (तेषाम्) उनकी (सिद्धिः) कार्यसिद्धि (पदे-पदे) पग-पग पर (भवति) होती है ।

भावार्थ—आचार्य श्री इस परमपावन महाग्रन्थ का महत्त्व प्रकट करते हुए कहते हैं । जो भव्य नर-नारी इस सुख-शान्ति प्रदायक ग्रन्थ को पढ़ते हैं—पढ़ाते हैं अर्थात् दूसरों को पढ़कर

सुनाते हैं, विशेष भक्ति से लिखते हैं, यथाशक्ति द्रव्य खर्च कर लिखवाते हैं—प्रकाशित करवाते हैं, प्रकाशित कर भव्यपात्रों को वितरण करते हैं, करवाते हैं एवं पुनः पुनः मन में इस चरित्र का चिन्तन करते हैं—स्मरण करते हैं उनकी वाञ्छित सिद्धियाँ सतत होती रहती हैं । सिद्धपरमेष्ठी का ध्यान चिन्तन सकल विघ्नों का नाशक और समस्त कार्यों की सिद्धिकारक होता है । इस पवित्र चरित्र का इसलिए लोकोत्तर महत्व है क्योंकि इसमें सिद्धभक्ति का अपूर्व प्रभुत्व और फल निरूपित है ॥१४१, १४२॥

इत्थं श्रीजिनधर्मकर्म निरतः श्रीपालनामानृपः ।

कृत्वेदं व्रतमुत्तमं शुभकरं रोगापहं शर्मदम् ॥

सम्प्राप्य प्रभुतां जिनेन्द्र तपसाकृत्वा क्षयं कर्मणाम् ।

येनाप्तं परमंपदं जिनपतिः कुर्यात् सदा मङ्गलम् ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (शुभकरम्) कल्याणकारी (रोगापहम्) भीषण रोगनाशक (शर्मदम्) सुखकारक (उत्तमम्) उत्तम (इदं) यह सिद्धचक्रव्रत (कृत्वा) करके (तपसा) तप द्वारा (कर्मणाम्) कर्मों का (क्षयम्) क्षय (कृत्वा) करके (जिनेन्द्र) जिन भगवान की (प्रभुताम्) महात्म्य को (सम्प्राप्य) प्राप्त कर (परमम्) श्रेष्ठतम मुक्तिपद (प्राप्तः) प्राप्त किया गया (सः) वह (श्रीजिनधर्मकर्मनिरतः) श्री जिनप्रणीत धर्मकर्म में तल्लीन (श्रीपालनृपः) श्रीपाल राजा (जिनपतिः) जिन भगवान (सदा) सदैव (मङ्गलम्) मङ्गल (कुर्यात्) करे ।

भावार्थ—क्रमिक विकास करने वाले श्रीपाल भूपाल शिवरमणी भरतार हो गये । प्रथम श्रावकधर्म का सम्यक् प्रकार पालन किया । जिनधर्म-कर्म में निरत रहे । उत्तम शुभ-कारक, भीषण, असाध्य रोगनाशक, सुख-शान्तिदायक इस परमोत्कृष्ट सिद्धचक्रव्रत को असीम श्रद्धा और भक्ति से धारण-पालन किया । राज्य वैभव भोग भोगे पुनः संसार, शरंर, भोगों, से विरक्त हो घोर दीक्षा-दिगम्बर वेष धारण किया । उग्रतपश्चरण किया । ठीक ही है 'जे नम्मे शूरः ते धम्मे शूरः' उन महामनीषी ने राजकीय आरातियों को जिस प्रकार परास्त किया था उसी प्रकार अब पूर्ण साधना और परमध्यान के बल पर कर्माशक्तियों पर विजय प्राप्त की । सकलकर्मों का संहार कर डाला । परमपद मुक्तिराज्य में विजय पताका जा फहराई । चिरन्तन सुख प्राप्त कर अनन्तज्ञानादि गुणों का धारी बना । इस प्रकार अतीन्द्रिय, अलौकिक सम्पत्ति के धनी जिनपति श्रीपाल भूपाल जिनप्रभु सदैव मङ्गल करें ॥१४३॥

मन्वेतीह बुधाः कुरुध्वममलं श्रीसिद्धचक्रव्रतम् ।

ह्यतीति गुणार्णवं निरूपमं विश्वैक शर्माकरम् ॥

रोगाद्येष पिशाच चोर कुनृपारात्यग्नि दुष्टात्मभिः ।

सन्तप्ताखिल दुःखनाश जनकं सर्वार्थ संसिद्धये ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (इति) उपर्युक्त यह व्रत (अति) अत्यन्त (निरूपमं) अनूपम (गुणार्णवम्) गुणों का सागर (विश्वैक) संसार में एकमात्र (शर्माकरम्) शान्ति-

कारक (एषः) यह (रोदादिपिशाचचोरकुम्भारात्यग्निदुष्टात्मभिः) कुष्ठादिरोग-पिशाच, डाकू-चोर, अन्यायी दुष्ट राजा, शत्रु, अग्नि, दुर्जनादि द्वारा (सन्तप्ताखिलदुःखनाशजनकम्) पीड़ित किये जाने से उत्पन्न सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने वाला (इह) इस लोक में (सर्वार्थसंसिद्धये) सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि करने के लिए (अमलम्) निर्मल (श्रीसिद्धचक्रव्रतम्) श्रीसिद्धचक्रव्रत है (इति) ऐसा (मत्वा) मानकर (बुधाः) विवेकीजन इसे (कुरुध्वम्) करें ।

भावार्थ—आचार्य श्री सांसारि भव्य मानवों को कष्टापहारी, चिरसुखकारी सिद्ध-चक्र विधान व्रत अनुष्ठान करने की प्रेरणा दे रहे हैं । यह पावन व्रत गुणों का आकर, अनुपम, एकमात्र शान्ति और सुख का उत्पादक है । इससे कुष्ठादि रोग नष्ट हो जाते हैं यह प्रत्यक्ष कोटीभट के जीवन से स्पष्ट है । भयङ्कर रोगों की रामबाण औषधि है । भूत, पिशाच, शाकिन्यादि से उत्पन्न बाधाएँ इससे क्षणभर में विलीन हो जाती हैं । चोर, डाकू अन्यायी दुष्ट राजा, शत्रु, अग्नि, दुर्जन आदि द्वारा प्रवृत्त सन्ताप नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् तत्कर भय नहीं होता । डाकू भी इसके प्रभाव से करता छोड़कर भाग जाते हैं । अन्यायी राजा भी परास्त हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाते हैं । अग्नि शीतल हो जाती है । दुर्जन सज्जन हो जाते हैं । ये समस्त घटनाएँ महानुभाव श्रीपालजी के जीवन में घटित हुयीं यह इस ग्रन्थ के अध्येताओं को स्वयं अवगत है । राज्य त्याग, वननिवास, गलितकुष्ठ, दस्युओं से युद्ध, वरवरों से संग्राम, सागर की लहरों से खिलवाड़, शूलारोपण, भांडविगोवा, आदि घटनाओं—कष्टों की निवृत्ति का कारण क्या था ? एकमात्र सिद्धचक्र आराधना । कञ्चन सी काया होना, तत्करों को अकेले ही परास्त करना, स्थितिगत जहाजों को निमिष मात्र में चला देना, जलदेवी को वश करना, अथाह-असीम सागर को भुजाओं से पार करना, सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र कपाट खुलना, शूली आरोहण का संकट टरना, आदि चमत्कारी घटनाओं से इस व्रत का माहत्म्य स्पष्ट हो जाता है । यह महान पवित्र और जीवन शोधक व्रत है । यही नहीं समस्त संकटों से छुटकारा दिलाकर यह मोक्षसुख को प्रदान कराता है । परम कल्याणकारी चारों पुरुषार्थों का क्रमिक विकास कर सिद्धिप्रदान करने वाला यह व्रत समस्त भव्यजीवों को धारण करना चाहिए ॥१४४॥

एवं सर्वसुरासुरेन्द्रमहितः श्रीवर्द्धमानव्रतम् ।

प्राहेत्यं च जगद्धितं शुचितरं श्रीपालभूपालकम् ॥

श्रुत्वा श्रेणिकभूपतिश्च ससभं सन्तुष्टचित्तो महान् ।

नत्वातज्जिनपं मुनीन्द्रसहितं सम्प्राप्तवान् स्वं पुरम् ॥१४५॥

ग्रन्थार्थ—(एवम्) इस प्रकार (जगत् + हितम्) संसार का हितकर (शुचितरम्) पवित्रतर (श्रीपालभूपालकम्) श्रीपालमहाराज का (व्रतम्) सिद्धचक्रव्रत (सर्वसुरासुरेन्द्र-महितः) समस्त सुर और असुरों से वन्दनीय, पूजनीय (श्रीवर्द्धमानः) श्री महावीर भगवान ने (प्राह) कहा । (च) और (इत्थम्) इसको (ससभम्) सभासहित (श्रेणिकभूपतिः) श्रेणिक-महाराज (श्रुत्वा) सुनकर (महान् सन्तुष्टचित्तः) महान आनन्द से प्रफुल्लित (मुनीन्द्र-सहितम्) गणधरादि सहित (तम्) उन (जिनपम्) जिनेन्द्र वीर प्रभु को (नत्वा) नमस्कार कर (स्वम्) अपने (पुरम्) पुर को (सम्प्राप्तवान्) आये ।

भावार्थ—श्रेणिक महाराज ने श्रीवर्द्धमान भगवान से पाप और विघ्नोघ विनाशक महापरमपावन “श्रीपाल चरित्र” पूछा था । सर्वभूत हितङ्कर परमदेव ने अपनी दिव्यध्वनि से सकलवृत्तान्त यथावत् निरूपण किया । समस्त सुर-असुर नागेन्द्र-नरेन्द्रादि १०० इन्द्रों से पूजनीय सर्वज्ञ प्रभु ने समस्त भव्यप्राणियों का हित करने वाला पवित्र यह श्रीपाल भूपाल का उत्तम चरित्र बतलाया । समस्त सभा हर्षोल्लास से झूम उठी । इस बृहद् चरित्र को श्रवणकर श्रेणिक महाराज परमानन्द को प्राप्त हुए जैसे असाध्य रोगमुक्त हुआ रोगी सुखानुभव करता है । इस प्रकार समवशरणा स्थित समस्त भव्यजन परम प्रमोद भरे अपने-अपने स्थान को गये । महाराज श्रेणिक भी मोदभरे सपरिजन-पुरजन अपनी विशाल श्रद्धाभक्ति से गणधरादि सहित श्री वीरजिनेन्द्र को पुनः नमस्कार कर अपनी राजधानी में वापिस आगये ॥१४५॥

सिद्धोऽनन्त सुखाकरो निरूपम स्सिद्धं श्रितायोगिनः ।

सिद्धेनैव विलीयतेऽघ निचयस्सिद्धाय सिद्धये नमः ॥

सिद्धाश्चास्त्यपरस्सुसिद्धिजनक स्सिद्धस्य शुद्धाः गुणाः ।

सिद्धं मे दधतोमनः प्रातिदिनं हे सिद्ध सिद्धि कुरु ॥१४६॥

अन्वयार्थ—यहाँ आचार्य श्री अन्तमङ्गलरूप सिद्ध परमेष्ठी भगवान की महिमा प्रदर्शित कर उनके गुणों का स्मरण करते हुए स्वयं सिद्धि पाने की अभिलाषा से नमस्कार करते हैं । आठों विभक्तियों का प्रयोग कर यह श्लोक चमत्कारी शक्तिशाली बना दिया है ।

(सिद्धः) सिद्धपरमेष्ठी (अनन्तसुखाकरः) अनन्तसुख के सागर (अनुपमः) उपमातीत हैं (योगिनः) योगीजन (सिद्धम्) सिद्धों को (आश्रिताः) आश्रय लेते हैं (सिद्धेन) सिद्ध द्वारा (एव) ही (अघनिचयः) पाप समूह (विलीयते) नष्ट किया जाता है (सिद्धये) सिद्धिप्राप्ति के लिए (सिद्धाय) सिद्ध परमेष्ठी को (नमः) नमस्कार है (सिद्धान्) सिद्ध से (अपरः) बढ़कर दूसरा (सुसिद्धिजनकः) सम्यक् सिद्धिकर्त्ता (नास्ति) नहीं है (सिद्धस्य) सिद्ध के (गुणाः) समस्तगुण (शुद्धाः) विशुद्ध हैं (मे) मेरा (मनः) मन (सिद्धे) सिद्ध में (दधतः) लगा रहे (हे सिद्ध) ओ सिद्धपरमेष्ठिन् (प्रातिदिनम्) प्रतिदिवस (सिद्धिम्) सिद्धि (कुरु) करो ।

भावार्थ—सिद्धभक्ति का वैभव इस ग्रन्थ में वर्णित है । सिद्ध समूह की पूजा का कितना प्रभाव किस प्रकार होता है इस शास्त्र से सम्यक् विदित हो जाता है । अस्तु आचार्य श्री अन्त में सिद्धसमूह को नमस्कार कर अपनी कृति को समाप्त करने जा रहे हैं । अपनी आत्मसिद्धि के लिए सिद्धों की आराधना परमावश्यक है । सिद्ध परमेष्ठी अनन्तसुख अनुपम सिद्धि के खजाना हैं । यह प्रथमा विभक्ति कर्त्ताकारक हुआ । योगीजन सिद्ध को आश्रय बना अपनी आत्मसिद्धि करते हैं । यह कर्म कारक (सिद्ध को) है । सिद्ध भगवान द्वारा सम्पूर्ण पापपुञ्ज नष्ट कर दिया गया । यह (सिद्ध भगवान द्वारा) तृतीया-करण कारक है । सिद्धि पाने के लिए सिद्धों को-सिद्ध प्रभु के लिए (यह चौथी सम्प्रदाय कारक है) नमस्कार है । सिद्ध से बढ़कर अन्य कोई भी सम्यक् सिद्धि करने वाला नहीं है । यह सिद्धसे-अपादान कारक है । सिद्ध भगवान के अनन्त गुण सभी परम शुद्ध और पवित्र हैं । यहाँ “सिद्ध के” यह सम्बन्ध कारक है । मेरा मन भ्रमर के समान सदा सिद्धि में ही लगा रहे । सिद्ध में-यह अधिकरण

कारक हुआ । भौ सिद्ध—प्रभो ! प्रतिदिन मुझे सिद्धि प्रदान करिये । “भो सिद्ध” सम्बोधन है । इस प्रकार इस श्लोक से सभी कारकों का प्रयोग्य कविराज लेखक आचार्य श्री के सूक्ष्म गम्भीर और सरल प्रतिभा का परिचायक है । आत्मोपलब्धि के पिपासु आपने अभेद कारक रूप आत्मा के शुद्ध स्वरूप का भेद-व्यवहार रूप में बड़ा ही मार्मिक एवं यथायोग्य वर्णन किया है । इस प्रकार स्वयं अपनी आत्मा में सिद्ध स्वरूप का आरोप कर विचार करने से भेद से अभेद रूपता की प्राप्ति सरलता से उपलब्ध हो जाती है । अतः भेद और अभेद रूप कारकों द्वारा सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए । क्रमशः अभ्यास द्वारा भेद से अभेद प्राप्त करना चाहिए ॥१४६॥

इदं पवित्रं व्रतमाचरन्ति ये दृष्टिशुद्धा नृमुरादि सौख्यम् ।

भुक्त्वाचिरात् सिद्धिपदं व्रजन्ति श्रीपालवच्चाखिलकीर्तिमत्ताम् ॥१४७॥

अन्वयार्थ—(ये) जो मानव (दृष्टिशुद्धा) निर्मल सम्यग्दृष्टि (इदम्) इस (पवित्रम्) पुनीत (व्रतम्) व्रत को (आचरन्ति) पालन करते हैं (ते) वे (अखिलकीर्तिमत्ताम्) सम्पूर्णशशस्वी (नृमुरादि सौख्यम्) मनुष्य, देवादि के सुख को (भुक्त्वा) भोगकर (श्रीपालवत्) श्रीपाल नृपति के समान (अचिरात्) शीघ्र ही (सिद्धिपदम्) मुक्तिपद को (व्रजन्ति) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य श्रावक-श्राविका शुद्ध-निर्दोष अर्थात् पच्चीस दोष रहित और अष्ट अङ्ग सहित सम्यग्दर्शन धारण कर इस परम पवित्र सिद्धचक्रव्रत को यथायोग्य विधिवत् धारण कर पालन करते हैं वे भव्यात्मा मनुष्य और देवादि उत्तमगतियों के सारभूत सुखों को भोग शीघ्र ही श्रीपाल भूपाल की भाँति अजर-अमर मुक्तिपद को प्राप्त हो जाते हैं । जहाँ अनन्त काल तक अनन्त आत्मोत्थ आनन्द-सुख में लीन रहेंगे । अतः संसार भीत भव्य जीवों को यह व्रत परम श्रद्धा, भक्ति से यथाशक्ति आचरणीय है ऐसा आचार्य श्री का आदेश है । यह व्रतप्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है । सर्वोपकारी है ॥१४७॥

“इति श्रीपालभूपालचरितेभट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्री सिद्धचक्र पूजातिशय सम्प्राप्ते श्री परिनिर्वाणगमन वर्णन नाम दशम परिच्छेदः ।”

॥इति श्री मुनिसुव्रततीर्थसन्तानकालोत्पन्न श्रीपालनृपवर चरितं सम्पूर्णम् ॥

शुभमस्तु ॥ श्री पञ्चगुरुर्यो नमः ॥

भाद्रपदमास कृष्णपक्ष एकादशी, रविवार ता० २७-८-८६ दिन हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुयी ।

स्थान—श्री १००८ महावीर जिनालय, इच्छलकरजी

अनन्तसिद्धों की जय, परमपूज्य तपोधन १०८ आचार्य श्री आदिसागर, महावीर कीर्तिजी महाराज (शिक्षागुरुराज) की जय, श्री १०८ आ० श्री विमलसागरजी (दीक्षागुरुमहाराज) की जय । परम्पराचार्य श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज की जय

२०वीं शताब्दी में सर्वप्रथम गणिनीपदालङ्कृता ग. आ. १०५ विजयामती माताजी द्वारा हिन्दी टीका रचना सम्पूर्ण हुयी ।